राजनीतिक-विज्ञान
के
सिद्धान्त

अनूपचंद कपूर, एम. ए., पी. एच. डी.
महेन्द्र कालेज, पटियाला
पी. डी. गुप्ता, एम. ए.
आचार्य तथा अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग,
एन. आर. ई. सी. कालिज, खुर्जा

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी
फव्वारा : : दिल्ली

भूमिका

भारतीय विश्वविद्यालयों तथा शिक्षा बोर्डों में शिक्षा एवं परीक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषा हिन्दी हो जाने से विभिन्न विषयों में उत्कृष्ट पुस्तकों की आवश्यकता महसूस होने लगी है। राजनीतिक विज्ञान में बी० ए० परीक्षा की इस आवश्यकता-पूर्ति के लिए हमने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की है जो उत्तर-भारत के विश्वविद्यालयों की बी० ए० परीक्षा के पाठ्य-क्रमानुसार संयोजित किया गया है। जहां तक पाठ्य सामग्री की मौलिकता का संबंध है हमें इतना ही कहना है कि हमने प्रामाणिक लेखकों के सिद्धांतों एवं मतों के आधार पर इसे यथासंभव विस्तृत एवं उपयोगी बनाने का यत्न किया है। इसके अतिरिक्त राज्य, सरकार के रूप और संविधान आदि विभिन्न विषयों पर चर्चा के साथ-साथ हमने आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों पर भी तुलनात्मक विचार किया है। संदर्भ-स्थलों पर भारतीय संविधान का भी हमने विशेषतः तुलनात्मक अध्ययन किया है। और अन्ततः गांधी जी द्वारा प्रतिपादित—अहिंसा-सत्य-सत्याग्रह—गांधीवाद पर विचार किया गया है, जो निकट भविष्य में विश्वशांति के साथ-साथ विश्व-राष्ट्रों की अनेकानेक जटिल समस्याओं के समाधान का प्रशस्त मार्ग सिद्ध होगा।

यद्यपि यह पुस्तक मुख्यतः विद्यार्थियों के लिए तैयार की गई है तथापि राजनीतिक विज्ञान के सामान्य पाठकों के लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगी। हमें विश्वास है विद्यार्थी विशेषतः एवं सामान्य पाठक हमारे इस प्रयास का यथोचित स्वागत करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक को भविष्य में अधिक उपयोगी बनाने के लिए कतिपय सुझावों का लेखक कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करेंगे। —लेखक

विषय-क्रम

अध्याय : : १

राजनीतिक विज्ञान की प्रकृति और क्षेत्र

(Nature & Scope of Political Science)

परिभाषा—अरस्तू (Aristotle) एक साधारण सत्य का कथन करता है, जब वह कहता है कि:—

"वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रह सकता अथवा जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह अपने में पूर्ण है, अवश्य ही या तो पशु है अथवा परमात्मा।" इसका अर्थ हुआ कि मानव एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में जन्म लेता है और समाज में रहता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि कोई मनुष्य स्वय में पूर्ण नहीं है। उसकी आवश्यकताएँ विविध और उद्देश्य असंख्य हैं। अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति और अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उसे अपने साथियों से मिलना-जुलना होता है, और उनका सहयोग भी प्राप्त करना ही होता है।

किन्तु, मिल-जुल कर जीवन बिताने और एक-दूसरे से सहयोग करने के लिए नियमानुकूल व्यवहार का समन्वय आवश्यक होता है। सामाजिक आचरण का सर्वप्रथम और सब से अधिक महत्वपूर्ण नियम यह है कि "दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसे व्यवहार की उनसे अपने प्रति तुम आशा करते हो।" इस का अर्थ हुआ कि दूसरों को जीवनयापन की वह परिस्थितियां प्रदान करूँ जिनकी स्वयं अपने लिए इच्छा करता हू। जब मैं दूसरों को वही प्रदान करता हूं जिसकी मैं स्वय अपने लिये इच्छा करता हूं तब मैं अपने कर्तव्य को मान्यता प्रदान करता हू, और अपने अधिकारों की स्थापना करता हूं। इस तथ्य का ज्ञान मानवीय आचरण को संयत करने का एक ढंग है।

किन्तु समाज में समस्त आचरण, व्यवहार के कुछ साधारण नियमों के अनुकूल ही होना चाहिए।

इसके लिये समाज का विधिवत संगठन आवश्यक है। संगठित समाज प्रादेशिक दृष्टि से सुस्थिर होना चाहिए। कोई भी जन समष्टि (People) तबतक हितों की समता नहीं प्राप्त कर सकती, जबतक उनका जीवन सुस्थिर न हो और वह एक निर्धारित निश्चित भूखण्ड पर निवास न करती हो। इसके अतिरिक्त संगठित समाज के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें कुछ ऐसे व्यक्ति हों, जो नियमों का निर्माण करें और उनका पालन करायें।

इस प्रकार के संगठित समाज को राज्य (State) कहते हैं। वह नियम जो सामाजिक आचरण को निर्धारित करते हैं, राज्य के विधि (Laws), और वह व्यक्ति जो नियमों का निर्माण करते और उनका पालन कराते हैं "सरकार" (Government) कहलाते हैं। वह शास्त्र, जो राज्य (State) और सरकार (Government) का विवेचन करता है, राजनीति विज्ञान (Political Science) कहलाता है।

राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार यह हो सकती है कि वह अपने को प्रशासित करने के प्रयास में संलग्न मानव का अध्ययन है।

क्षेत्रः—राजनीति विज्ञान की अध्ययन-वस्तु के विषय में मतभेद है। कुछ लेखक राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को केवल 'राज्य' (State) के अध्ययन तक ही सीमित मानते हैं। उदाहरणतः, विख्यात फ्रांसीसी विद्वान ब्लूंस्चली (Bluntschli) राजनीति विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार करता है : "वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध 'राज्य' (State) से है, जो राज्य की मूल परिस्थिति में, उसके आवश्यक स्वभाव, उस के विविध रूपों और उसकी प्रगति का अध्ययन करता है।" गैरिज (Garies) और गार्नर (Garner) भी इसी विचार के हैं। वे सरकार (Government) के अध्ययन को राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र से बाहर मानते हैं।

किन्तु कुछ दूसरे लेखक हैं, जैसे डाक्टर स्टीफेन लीकॉक,[1] जिनका मत है कि राजनीति विज्ञान केवल 'सरकार' (Government) का ही विवेचन करता है। शब्द 'राज्य' (State) उनकी परिभाषा में कहीं आता ही नहीं। लास्की[2], गैटिल[3] और गिलक्राइस्ट[4] (Laski, Gettell and Gilchrist) के विचार अधिक वास्तविकता लिए हुए हैं और उनका निश्चित मत है कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत राज्य और सरकार (State and Government) दोनों का ही अध्ययन है।

हम भी इसी साधारणतया मान्य-मत के समर्थक हैं। यथार्थ में 'सरकार' के बिना कोई 'राज्य' हो ही नहीं सकता। 'राज्य' एक सुनिश्चित प्रदेश में निवास करने वाली विधिवत संगठित जनसमष्टि है।

वह आज्ञा प्रदान करता है और उनके भंग के लिए हमें दंड देता है। किन्तु कोई भी राज्य स्वयं ही कार्य नहीं कर सकता। कुछ एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह प्रत्येक राज्य में ऐसे होना आवश्यक है जो राज्य की ओर से आज्ञाएं प्रदान करे तथा यह भी देखें कि उन आज्ञाओं का ठीक प्रकार पालन किया जा रहा है।

वह अभिकरण (agency) जो राज्य की ओर से कार्य करती है 'सरकार' (Government) कहलाती है। 'सरकार' (Government) राज्य (State) का एक अविभाज्य अंग है। अतएव राज्य के किसी विवरण के अन्तर्गत सरकार के ढांचे, उसके कर्त्तव्यों, उसके विविध रूपों और उससे सम्बन्धित अन्य संस्थाओं का अध्ययन भी सम्मिलित होगा ही।

फिर भी 'राज्य' (State) हमारे अध्ययन का मुख्य विषय है क्योंकि 'सरकार' की पूरी यन्त्र-व्यवस्था उसीके चारों ओर घूमती है। इस प्रकार राजनीतिक विज्ञान के विद्यार्थी के लिए 'राज्य' एवं उसके मौलिक तत्वों को प्राप्त करना अति आवश्यक है।

---

१. लीकॉक, स्टीफ़ेन—एलीमेन्ट्स आफ पोलिटिकल साइन्स, पृष्ठ ३
२. लास्की, एच० जे०—दी डेंजर आफ बिइना ए जेन्टिलमैन पृष्ठ ३३-३४
३. गैटिल, आर. जी०—इन्ट्रोडक्शन टु पोलिटिकल साइंस, पृष्ठ ४
४. गिलक्राइस्ट, आर० एन०—प्रिन्सिपल्स आफ पोलिटिकल साइन्स, पृष्ठ २

'राज्य जैसा वर्तमान में है', 'राज्य जैसा पहले रहा है', 'राज्य जैसा होना चाहिए', इन सभी का अध्ययन इसमें सम्मिलित है ।

'राज्य वर्तमान में जैसा है' 'राज्य' के वर्तमान स्वरूप और ढाचे से सम्बन्धित है, और साथ ही उसमें वर्तमान सरकारों के सिद्धान्तों और परिपाटियों का भी विवेचन सम्मिलित है। किन्तु 'राज्य' क्या है इसका सर्वोत्तम ज्ञान, राज्य पहले क्या रहा है यह जानने पर ही हो सकता है। हम अतीत का ज्ञान प्राप्त किये बिना वर्तमान का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसकी प्राप्ति के लिए राज्य की उत्पत्ति और विकास का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है और साथ ही उस यन्त्र-व्यवस्था के विकास का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है जिसके द्वारा राज्य कार्य करता है। किन्तु राज्य और सरकार के अतीत और वर्तमान का अध्ययन ही राजनीतिक विज्ञान की इतिश्री नहीं है। हमें यह भी देखना आवश्यक है कि राज्य का वर्तमान ढाचा कहां तक मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता और उसके कल्याण की व्यवस्था करता है। अतीत और वर्तमान का सम्यक् ज्ञान हमें भविष्य के लिए अधिक ज्ञानवान बना देता है और हम अपनी राजनीतिक संस्थाओं को अपनी आकांक्षाओं के अनुसार सुधार सकते हैं। इस सब का सम्बन्ध 'राज्य कैसा होना चाहिए' सम्बन्धी अध्ययन से है। यहां राजनीति विज्ञान का स्वरूप विवेचनात्मक हो जाता है और हम विभिन्न राजनीतिक विचारकों द्वारा निर्मित 'राज्य' और 'सरकार' के सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं और उन्हें युक्तिसगत ठहराते हैं। सारांश में "राजनीति विज्ञान राज्य अतीत में कैसा रहा है इसको एक ऐतिहासिक खोज, राज्य वर्तमान में क्या है, इसका एक विश्लेषणात्मक अध्ययन और राज्य को क्या होना चाहिए, इसकी राजनीतिक एवं नैतिक विवेचना है।"

नाम-विभेद

(Terminological Distinctions)

राज्य और सरकार के इस विज्ञान को विभिन्न नाम दिये गये हैं यद्यपि हम इसे राजनीति विज्ञान के नाम से ही सम्बोधित करना पसद करते हैं। कुछ इसे राजनीति के नाम से पुकारते हैं और कुछ राजनीतिक सिद्धान्त (Political Theory) और कुछ अन्य राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) के नाम से सम्बोधित करते हैं। कोई सर्वमान्य नाम (Term) के अभाव के कारण बहुत विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। राज्य सम्बन्धी बहुत-सी समस्याओं के समझने में कठिनाई होती है। इसलिए अपने अध्ययन विषय को ठीक नाम देने के लिए प्रत्येक शब्द का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना अति आवश्यक है।

राजनीति:—(Politics) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू (Aristotle) ने अपनी राज्य सम्बन्धी पुस्तक के शीर्षक के रूप मे किया था। (Politics) (राजनीति) शब्द की व्युत्पत्ति (Polis) शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है नगर। यूनानियों के नगर ही 'राज्य' था और नगर-राज्य (City State) से सम्बन्धित विषय को उन्होंने (Politics) नाम प्रदान किया। इस अर्थ मे (Politics) शब्द का प्रयोग आपत्तिरहित है।

किन्तु वर्तमान प्रयोग में (Politics) शब्द का सर्वथा भिन्न अर्थ लिया जाता है। अब साधारणतया इसका अर्थ है वह सब वर्तमान राजनीतिक समस्याएं जो किसी देश और उसकी सरकार के सम्मुख उपस्थित हों। गिलक्राइस्ट का कथन है कि शब्द "राजनीति" (Politics) का अभिप्राय आजकल सरकार की वर्तमान समस्याओं से होता है जो बहुधा वैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिक ढंग की होने की अपेक्षा आर्थिक ढंग की अधिक होती हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति (Politics—राजनीति) में अधिक अभिरुचि रखता है तो हमारा अभिप्राय होता है कि वह व्यक्ति वर्तमान समस्यायों में, उदाहरणतः, आयात-निर्यात-कर प्रश्न (Tariff question), श्रम समस्या, व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी (Legislative and Executive)। वस्तुतः किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में, जिसके प्रति देश के विधि निर्माताओं को ध्यान देना चाहिए, अथवा ध्यान देना ठीक हो, अभिरुचि रखता है।

इस व्याख्या के प्रसंग में एक देश की (राजनीति) 'पालिटिक्स' दूसरे देश से भिन्न होती है। भारत और ब्रिटेन की पालिटिक्स' (राजनीति) एक-सी नहीं है। यहां तक कि एक दलकी राजनीति दूसरे दल की राजनीति से भिन्न होती है। उदाहरणतः, इंग्लैंड में श्रमिक दल और अनुदार दलोंमें उनके देश के सम्मुख उपस्थित राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के निराकरण के ढंग के विषय में मौलिक मतभेद है। इसी प्रकार अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी दल और भारतीय साम्यवादी दलों की राजनीति भी एक-दूसरे से भिन्न है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि राजनीतिज्ञ एक वह व्यक्ति है, जो अपने देश अथवा किसी राजनीतिक दल की राजनीति में अभिरुचि रखता है। वह राजनीति विज्ञान का विद्यार्थी नहीं है। राजनीतिक विज्ञान राज्य के स्वरूप, अवस्थाओं, उद्गम और विकास का विवेचन करता है किन्तु राजनीतिज्ञ को इन सब समस्याओं से कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार अपने अध्ययन-विषय को 'पालिटिक्स' (राजनीति) नाम से सम्बोधित करना अत्यधिक अस्पष्ट एवं भ्रमपूर्ण है।

सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक राजनीति (Theoretical and Applied Politics):—जैलिनेक, जैनेट, सिज्विक और पोलक आदि कुछ आधुनिक लेखक अब भी इस विज्ञान को 'पोलिटिकल साइंस' (राजनीतिक विज्ञान) की अपेक्षा पालिटिक्स (राजनीति) के नाम से ही सम्बोधन करना पसन्द करते हैं। यद्यपि वह इसे दो भागों में विभक्त करते हैं: (१) सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) और (२) प्रयोगात्मक अथवा राजनीतिक राजनीति (Applied or Political Politics)। पहले के अन्तर्गत वे शुद्ध एवं सरल ढंग से राज्य की आधारभूत विशेषताओं का अध्ययन सम्मिलित करते हैं किन्तु उनके विचार से राज्य के कार्य-कलाप और उन साधनों से, जिनके द्वारा राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है, विज्ञान की इस शाखा को कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) राज्य की उत्पत्ति, उसकी प्रकृति एवं स्रोतों तथा लक्ष्यों का अध्ययन करती है और उसमें राजनीतिक संगठन एवं प्रशासन के सिद्धान्तों का भी समावेश है।

इसके विपरीत प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक राजनीति (Applied or

Practical Politics) का सम्बन्ध सरकार (Government) के वास्तविक कार्य से है अर्थात् वह राज्य के क्रियाशील रूप से सम्बन्धित है, वह राज्य का एक ऐसी क्रियाशील संस्था के रूप में अध्ययन करती है, जो समय की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को बदलती रहती है।

सर फ्रेडरिक पोलक इस प्रकार इस विज्ञान को विभाजित करते हैं :—

सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics)	प्रयोगात्मक राजनीति (Applied Politics)
(१) राज्य के सिद्धान्त (उस की उत्पत्ति-सरकार के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण एवं राज्य-सत्ता)	(१) राज्य (सरकार के वर्तमान रूप)
(२) सरकार के सिद्धान्त (संस्थाओं के प्रकार, कार्यपालिका विभाग, स्वीकारात्मक (Positive) विधि का क्षेत्र और उस की सीमायें)	(२) सरकार (संविधानिक विधि और परिपाटियां, सभात्मक-व्यवस्थाएं, सेना, नौसेना, पुलिस, मुद्राचलन, बजट और व्यापार)
(३) विधि निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त (विधि निर्माण के उद्देश्य, विधि अथवा साधारण न्याय सम्बन्धी दर्शन, विधि की स्वीकृति और उसका ढंग, व्याख्या और प्रशासन, विधि निर्माण की यान्त्रिकता)	(३) विधि और विधि निर्माण (विधि निर्माण की प्रणाली, न्यायालय और उन की यन्त्र-रचना, न्याय सम्बन्धी उदाहरण और अधिकारी)
(४) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धान्त (दूसरे राज्यों तथा मनुष्यों की संस्थाओं से संबंध, अंतर्राष्ट्रीय विधि (कानून)	(४) व्यक्ति रूप में राज्य (कूटनीति, शांति और युद्ध, सम्मेलन, सन्धियां और रूढ़ियां, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते)

निस्सन्देह यह एक उपयोगी विभाजन है क्योंकि राज्य के सभी विभिन्न पहलुओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत आ जाता है। किन्तु आज अधिकांश लेखक सैद्धान्तिक राजनीति एवं प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक राजनीति शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा राजनीतिक विज्ञान शब्द का प्रयोग अधिक उत्तम समझते हैं।

राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) :—कुछ लेखक हमारे अध्ययन विषय को राजनैतिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं और इस शब्द के प्रयोग के समर्थन के बहुत से कारण बतलाते हैं। कुछ अंग्रेज राजनीति-लेखक यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि राज्य का अध्ययन अखिल विश्व के अध्ययन का ही एक भाग है और दर्शन मुख्यतः उसी से सम्बद्ध है। यह विचार "इस धारणा पर आधारित है कि दर्शन को सब प्रकार के ज्ञान का संयोजक होने के नाते राज्य के अध्ययन को मापना ही एक अंग मानना चाहिए" किन्तु हम इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं।

कुछ अन्य यह मत प्रतिपादित करते हैं कि राज्य के अध्ययन की प्रकृति अपेक्षाकृत अधिक सैद्धान्तिक और विवेचनात्मक है। संस्थाओं के आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन

किन्तु वर्तमान प्रयोग में (Politics) शब्द का सर्वथा भिन्न अर्थ लिया जाता । अब साधारणतया इसका अर्थ है वह सब वर्तमान राजनीतिक समस्याएं जो किसी श और उसकी सरकार के सम्मुख उपस्थित हों। गिलक्राइस्ट का कथन है कि शब्द राजनीति" (Politics) का अभिप्राय आजकल सरकार की वर्तमान समस्याओं होता है जो बहुधा वैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिक ढंग की होने की अपेक्षा आर्थिक ग की अधिक होती हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति (Politics—राजनीति) में अधिक अभिरुचि रखता है तो हमारा अभिप्राय होता है कि वह व्यक्ति वर्तमान मस्यायों में, उदाहरणतः, आयात-निर्यात-कर प्रश्न (Tariff question), श्रम समस्या, व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी (Legislative and Executive)। स्तुतः किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में, जिसके प्रति देश के विधि निर्माताओं को ध्यान ना चाहिए, अथवा ध्यान देना ठीक हो, अभिरुचि रखता है।

इस व्याख्या के प्रसंग में एक देश की (राजनीति) 'पालिटिक्स' दूसरे देश से भिन्न होती है। भारत और ब्रिटेन की पालिटिक्स' (राजनीति) एक-सी नहीं है। यहां तक कि एक दलकी राजनीति दूसरे दल की राजनीति से भिन्न होती है। उदाहरणतः, इंग्लैंड में श्रमिक दल और अनुदार दलोंमें उनके देश के सम्मुख उपस्थित राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के निराकरण के ढंग के विषय में मौलिक मतभेद है। इसी प्रकार अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी दल और भारतीय साम्यवादी दलों की राजनीति भी एक-दूसरे से भिन्न है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि राजनीतिज्ञ एक वह व्यक्ति है, जो अपने देश अथवा किसी राजनीतिक दल की राजनीति में अभिरुचि रखता है। वह राजनीति विज्ञान का विद्यार्थी नहीं है। राजनीतिक विज्ञान राज्य के स्वरूप, अवस्थाओं, उद्गम और विकास का विवेचन करता है किन्तु राजनीतिज्ञ को इन सब समस्याओं से कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार अपने अध्ययन-विषय को 'पालिटिक्स' (राजनीति) नाम से सम्बोधित करना अत्यधिक अस्पष्ट एवं भ्रमपूर्ण है।

सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक राजनीति (Theoretical and Applied Politics):—जैलिनेक, जैनेट, सिज्विक और पोलक आदि कुछ आधुनिक लेखक अब भी इस विज्ञान को 'पोलिटिकल साइंस' (राजनीतिक विज्ञान) की अपेक्षा पालिटिक्स (राजनीति) के नाम से ही सम्बोधन करना पसन्द करते हैं। यद्यपि वह इसे दो भागों में विभक्त करते हैं: (१) सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) और (२) प्रयोगात्मक अथवा राजनीतिक राजनीति (Applied or Political Politics)। पहले के अन्तर्गत वे शुद्ध एवं सरल ढंग से राज्य की आधारभूत विशेषताओं का अध्ययन सम्मिलित करते हैं किन्तु उनके विचार से राज्य के कार्य-कलाप और उन साधनों से, जिनके द्वारा राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है, विज्ञान की इस शाखा को कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) राज्य की उत्पत्ति, उसकी प्रकृति एवं स्रोतों तथा लक्ष्यों का अध्ययन करती है और उसमें राजनीतिक संगठन एवं प्रशासन के सिद्धान्तों का भी समावेश है।

इसके विपरीत प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक राजनीति (Applied or

Practical Politics) का सम्बन्ध सरकार (Government) के वास्तविक कार्य से है अर्थात् वह राज्य के क्रियाशील रूप से सम्बन्धित है, वह राज्य का एक ऐसी क्रियाशील संस्था के रूप में अध्ययन करती है, जो समय की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को बदलती रहती है।

सर फ्रेडरिक पोलक इस प्रकार इस विज्ञान को विभाजित करते हैं :—

सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics)	प्रयोगात्मक राजनीति (Applied Politics)
(१) राज्य के सिद्धान्त (उस की उत्पत्ति-सरकार के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण एवं राज्य-सत्ता)	(१) राज्य (सरकार के वर्तमान रूप)
(२) सरकार के सिद्धान्त (संस्थाओं के प्रकार, कार्यपालिका विभाग, स्वीकारात्मक (Positive) विधि का क्षेत्र और उस की सीमायें)	(२) सरकार (संविधानिक विधि और परिपाटियां, सभात्मक-व्यवस्थाएं, सेना, नौसेना, पुलिस, मुद्राचलन, बजट और व्यापार)
(३) विधि निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त (विधि निर्माण के उद्देश्य, विधि अथवा साधारण न्याय सम्बन्धी दर्शन, विधि की स्वीकृति और उसका ढंग, व्याख्या और प्रशासन, विधि निर्माण की यान्त्रिकता)	(३) विधि और विधि निर्माण (विधि निर्माण की प्रणाली, न्यायालय और उन की यन्त्र-रचना, न्याय सम्बन्धी उदाहरण और अधिकारी)
(४) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धान्त (दूसरे राज्यों तथा मनुष्यों की संस्थाओं से संबंध, अन्तर्राष्ट्रीय विधि (कानून)	(४) व्यक्ति रूप में राज्य (कूटनीति, शान्ति और युद्ध, सम्मेलन, सन्धियां और रूढ़ियां, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते)

निस्संदेह यह एक उपयोगी विभाजन है क्योंकि राज्य के सभी विभिन्न पहलुओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत आ जाता है। किन्तु आज अधिकांश लेखक सैद्धान्तिक राजनीति एवं प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक राजनीति शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा राजनीतिक विज्ञान शब्द का प्रयोग अधिक उत्तम समझते हैं।

राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) :—कुछ लेखक हमारे अध्ययन विषय को राजनैतिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं और इस शब्द के प्रयोग के समर्थन के बहुत से कारण बतलाते हैं। कुछ अंग्रेज राजनीति-लेखक यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि राज्य का अध्ययन अखिल विश्व के अध्ययन का ही एक भाग है और दर्शन मुख्यतः उसी से सम्बद्ध है। यह विचार "इस धारणा पर आधारित है कि दर्शन को सब प्रकार के ज्ञान का संयोजक होने के नाते राज्य के अध्ययन को मापना ही एक अंग मानना चाहिए" किन्तु हम इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं।

कुछ अन्य यह मत प्रतिपादित करते हैं कि राज्य के अध्ययन की प्रकृति अपेक्षाकृत अधिक सैद्धान्तिक और विवेचनात्मक है। संस्थाओं के आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन

करना राजनीतिक विज्ञान का ध्येय है न कि संस्थाओं का अध्ययन। तदनुसार इस विषय का क्षेत्र है राज्य का उद्गम, उसकी प्रकृति, अधिकार और कर्तव्य; राजनीतिक सत्ता की प्रकृति और अन्य सम्बन्धित समस्याएं। यह सब ज्ञान हमें राजनीतिक विचार से प्राप्त होता है। सिजविक (Sidgwick) के मतानुसार 'राजनीति' के अध्ययन का सम्बन्ध यही संज्ञा इसे प्रदान करती है—"मुख्यतः कुछ मनोवैज्ञानिक आधारों पर ऐसी सम्बन्धित व्यवस्थाका निर्माण करना है जो सभ्य मानवों में, (जैसाकि उन्हें हम जानते हैं) एवं शासन करने वाले व्यक्तियों के बीच और उनके और प्रशासित व्यक्तियों के बीच स्थापित होनी वांछनीय है।"

यह सत्य है कि राजनीतिक दर्शन और राजनीतिक विज्ञान में बहुत कुछ समता है और दोनों को विभाजित करने वाली कोई दृढ़ रेखा नहीं खींची जा सकती। वस्तुतः राजनीतिक दर्शन राजनीतिक विज्ञान से प्रथम स्थान लेता है और उसको आधार प्रदान करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों में कोई भेद नहीं है। राजनीतिक दर्शन का क्षेत्र संकुचित है जब कि राजनीतिक विज्ञान अधिक विस्तृत है। हमारा राजनीतिक संस्थाओं के आधारभूत सिद्धान्तों से भी उतना ही सम्बन्ध है जितना कि स्वयं राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक कार्य से। हमारा अध्ययन प्रगतिशील है और उसी प्रकार राजनीतिक संस्थाएं भी। यदि हम इस पहलू को दृष्टि में न रखें तो हम वास्तव में राज्य के अभिप्राय की ही उपेक्षा कर देंगे।

इसलिये हमारे अध्ययन में वे सब समस्यायें सम्मिलित होनी ही चाहियें जिनका संबंध राज्य के कर्त्तव्यों, उसके वर्गीकरण, सरकार के संगठन और कर्त्तव्यों आदि से है। अन्ततः राजनीतिक विज्ञान में अर्थ और व्याख्या की सुनिश्चित स्थिति है जो राजनीतिक दर्शन में प्राप्य नहीं है क्योंकि उसमें केवल सैद्धांतिक पहलू पर ही बल दिया जाता है।

राजनीतिक विज्ञान (Political Science) इस प्रकार उस विषय का वैज्ञानिक नाम है जो राज्य और सरकार का अध्ययन करता है। इसमें वह सारा ज्ञान सन्निहित है जिसका संबंध मानव के राजनीतिक प्रशासन से है। एक प्रख्यात फ्रांसीसी लेखक पॉल जैनेट के अनुसार "राजनीतिक विज्ञान सामाजिक विज्ञान की वह शाखा है जो राज्य के आधारों और सरकार के सिद्धांतों का अध्ययन करती है।" राज्य के आधारों और सरकार के सिद्धांतों की जड़ अतीत से संबद्ध है। राज्य का वर्तमान भवन उन्हीं आधारों पर निर्मित है और उसमें भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु परिवर्तन की यथेष्ट गुंजाइश है। राजनीतिक विज्ञान, इस प्रकार राज्य कैसा था, राज्य कैसा है, और राज्य को कैसा होना चाहिये, का एक सुव्यवस्थित अध्ययन है। इसमें सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक राजनीति दोनों ही सन्निहित हैं।

क्या राजनीतिक विज्ञान वस्तुतः एक विज्ञान है?

अब तक हमने अपने अध्ययन विषय को विज्ञान ही माना है। अरिस्टोटल "राजनीति" (Politics) को पूर्ण अथवा सर्वोच्च विज्ञान मानते हैं। बोडिन (Boden), हॉब्स (Hobbes), सिजविक (Sidgwick), ब्लूंशिली (Bluntschli), ब्राईस (Bryce) तथा अन्य अनेक लेखकों का भी यही

मत है। किन्तु बकले (Buckle) और काम्टे (Comte) सरीखे कुछ लेखक राजनीतिक विज्ञान को यह अधिकार नही देते। उनका पक्ष है कि इसमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं हो सकती कि जिसमे राज्य के परिघटन (Phenomena) का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय। यहां तक कि मेटलेंड ने (Maitland) ने भी कहा है, "जब मैं राजनीतिक [illegible] , तो मुझे प्रश्नों [illegible] रक पोलक का विश्वास है कि "जिस प्रकार, नैतिकता का विज्ञान है उसी भाव में और उसी अथवा लगभग उसी सीमा तक राजनीति भी विज्ञान है।"[2]

किन्तु सपूर्ण प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि विज्ञान की हमारी क्या कसौटी है ? क्या एक विज्ञान में केवल विधिवत् तर्क का समावेश होता है अथवा वहां तर्कपूर्ण एवं निष्कर्षों की स्पष्टतया व्याख्या होनी चाहिए, और प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों की भांति उसमें अपवाद की कोई गुंजायश नही होनी चाहिए ?

इसके अतिरिक्त, क्या राजनीति विज्ञान का विज्ञान कहलाने का अधिकार इस बात पर निर्भर है, कि उसमें राजनीतिक भविष्य की भविष्यवाणी करने की शक्ति का समावेश हो ?

यह सत्य है कि राजनीतिक विज्ञान न तो पूर्ण विज्ञान है, और न ही यह राजनीतिक घटनाओं के भविष्य की भविष्यवाणी करने का दावा कर सकता है। भौतिक विज्ञानो के निष्कर्ष—भौतिक एवं रसायन की तरह—सब समयों और अवस्थाओं के लिए निश्चित एवं सत्य होते है। उनके परिणामो मे किसी प्रकार की भिन्नताए नहीं हो सकती। यदि कोई हो, तो उसकी जाच हो सकती है और निश्चित समाधान भी; किन्तु राजनीतिक विज्ञान में इस प्रकार की कोई बात नही हो सकती। हमारा तो यह सामाजिक विज्ञान है, जो मनुष्य के शासन के साथ सबध रखता है। मनुष्य की समस्याए जटिल एव भिन्न है, जो अन्य वस्तुओं में, उसकी क्रियाओं एव भावनाओं द्वारा प्रभावित होती है। मनुष्य की क्रियाएं और भावनाए, बदले में, उन परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है जिनमें वह रहता है। ये सब राजनीतिक सस्थाओ पर क्रिया एव प्रतिक्रिया करते है। इससे भी अधिक, मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील है। उसकी राजनीतिक सस्थाओं का सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार रूप परिवर्तन होना चाहिए, अत: यह मानवी अंश ही है, कि जो राजनीतिक विज्ञान को अपूर्ण एव अनिश्चित बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है।

पुनश्च, मनुष्य और उसकी बनाई हुई राजनीतिक सस्थाओ के साथ परीक्षण करना कठिन, और यहां तक कि भयावह भी है। परिणामत: न तो हम पूर्णतया निश्चय कर सकते है और न ही विश्वास के साथ कोई भविष्यवाणी कर सकते है। यही कारण है कि काम्टे (Comte) ने इस मत का प्रतिपादन किया कि राजनीतिक परिघटन में विकास की तारम्यता का अभाव होता है। लार्ड ब्राईस (Lord

1. F. W. Maitland, Collected Papers, Vol. III, p. 302
2. Op. citd, p. 2

Bryce) ने राजनीतिक विज्ञान की अन्तरिक्ष-विद्या जैसे अविकसित एवं अपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान के साथ उसी प्रकार तुलना की है, जैसे कि डा. एल्फ्रैड मार्शल ने ज्वार-भाटे के विज्ञान के साथ अर्थशास्त्र की तुलना की थी।

यदि हमारी विज्ञान की धारणा अन्तर्सबंधित समस्याओं के एक समूह का विधिवत् अध्ययन है, तब तो राजनीतिक विज्ञान का दावा भी ठीक है। राजनीतिक विज्ञान का विद्यार्थी अपने सम्मुख उपस्थित होनेवाली समस्याओं के साथ वैज्ञानिक ढंग से व्यवहार करने की चेष्टा करता है। वह अपने तथ्यों को व्यवस्थित करने, कारण एवं प्रभाव को स्पष्टतया विश्लेषण करने और सिद्धांतों को प्रकट करने तथा सामान्य प्रवृत्तियों को खोजने की चेष्टा करता है। यह सत्य है कि हम मनुष्य और राजनीतिक परिघटन के साथ परीक्षण नहीं कर सकते। राजनीतिक विज्ञान के लेखक भी, तथ्य रूप से अपनी प्रणालियों, सिद्धांतों और निष्कर्षों के बारे में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। ये सब राजनीतिक कल्पनाओं और भविष्यवाणियों को असंभव नहीं तो कम-से-कम कठिन अवश्य बना देते हैं। किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों का संचय और राजनीतिक संस्थाओं की कार्यकारिता के समकालीन सिद्धांत हमें सामान्य सिद्धांतों का परीक्षण, संग्रह और वर्गीकरण करने योग्य बनाने के लिए पर्याप्त हैं। राज्य का परिघटन एक निश्चित क्रम, नियमितता और उनके अनुक्रम की शृंखला को प्रदर्शित करता है कि जो नियत नियमों की प्रक्रिया का फल है। विज्ञान का दर्जा पाने के लिए राजनीतिक विज्ञान के दावे को ठीक ठहराने के लिए इतना ही पर्याप्त है। जो भी हो, यह तो स्पष्टतया कहा जायगा कि राजनीतिक विज्ञान सब सामाजिक विज्ञानों में सर्वाधिक अनिश्चित है।

राजनीतिक विज्ञान की प्रणालियाँ

इस प्रकार राजनीतिक विज्ञान, एक संगठित ज्ञान की समष्टि है, जिसके तथ्यों का विधिपूर्वक वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण उपरान्त संग्रह एवं वर्गीकरण किया गया है। इन तथ्यों से उन निराकरणों अथवा नियमों के क्रम को निर्मित और प्रमाणित किया जाता है कि जो विज्ञान का आधार बनते हैं और जिन्हें अधिक खोज के लिए आधार रूप में प्रयुक्त किया जाता है। जो हो, अन्वेषणकर्त्ता का कार्य सहज नहीं है। उसे उन मर्यादाओं और कठिनाइयों का ज्ञान होना चाहिए जिनके अधीन यह वैज्ञानिक अन्वेषण किया जाता है।

यह केवल १९वीं शताब्दी की ही बात है कि राज्य के परिघटन को वैज्ञानिक खोज के लिए उचित क्षेत्र के रूप में मान्यता दी गई। तब से लेकर अनेक प्रणालियों को प्रस्तावित एवं नियोजित किया गया है। आगस्ट काम्टे (Auguste Comte) ने अन्वेषण की तीन मुख्य प्रणालियों को प्रस्तावित किया, अर्थात् परीक्षण, प्रयोग और तुलना; ब्लूंश्चिली (Bluntchli) के मत से केवल दो ही प्रणालियां हो सकती थीं, दार्शनिक और ऐतिहासिक। जान स्टुअर्टस मिल (John Stuarts Mill) ने चार प्रणालियां मानीं : (१) रासायनिक अथवा प्रयोगात्मक, (२) रेखा-गणित अथवा अमूर्त प्रणाली, (३) (Abstract method) भौतिक या निष्कर्षात्मक और (४

ऐतिहासिक प्रणाली। मिल का मत था कि पहले दो तो असत्य हैं, जबकि बाद के दो सत्य हैं।

हाल ही के एक फ्रांसीसी विद्वान दसलेंद्रे (Deslandres) ६ प्रणालियां मानते हैः (१) सामाजिक (२) तुलनात्मक (३) सैद्धांतिक (४) न्याय के विभाजन अनुसार (५), सहजबुद्धयात्मक विधि और (६) ऐतिहासिक। कुछ लेखक जीव-विज्ञान पर आधारित (Biological) और मनोवैज्ञानिक (Psychological) विधियों पर बल देते हैं। राजनीतिक खोज की सामान्य स्वीकृत विधियां अब ये हैं: (१) प्रयोगात्मक प्रणाली, (२) तुलनात्मक प्रणाली, (३) ऐतिहासिक प्रणाली, (४) निरीक्षण की प्रणाली और (५) दार्शनिक प्रणाली।

प्रयोगात्मक प्रणाली वहां सर्वोत्तम रहती है, जहां प्रदत्त-परिघटन को अव्यवस्थित संस्थाओं से बाहर करके अन्वेषण के लिए अनुकूल अवस्थाओं के अधीन उसका अध्ययन किया जा सकता है। यह स्वसंगठित अवस्थाओं के अधीन निरीक्षण है। इस प्रकार की वैज्ञानिक परीक्षा राजनीतिक विज्ञान में सभव नहीं, क्योंकि यह मनुष्य और उसकी राजनीतिक सस्थाओं के साथ व्यवहार करना है। लूई (Lewis) का कहना है, "हम राजनीति में वैसा नहीं कर सकते, जैसा कि रसायन विद्या में एक अन्वेषक प्रयोग करते हुए करता है।........हम समाज के एक अश को अपने हाथ मे नहीं ले सकते, जैसा कि ब्राब्डीगेंग (Brobdigang) के राजा ने गुलीवर को अपने हाथ में ले लिया था, जिससे कि उसके भिन्न पहलुओं को देखें और सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने के लिए उसे भिन्न स्थितियों में रखे और अपनी कल्पनाशील ज्ञान-पिपासा को शांत करें।" भौतिक विज्ञानों के प्रयोगों को उस समय तक बार-बार किया जा सकता है, जबतक कि अन्तिम इच्छित परिणाम नहीं प्राप्त हो जाता। दूसरी ओर, राजनीतिक विज्ञान के प्रयोगों को कदापि दोहराया नहीं जा सकता। मनुष्य की कल्पना-शक्ति समान अवस्थाओं को पुनः उत्पन्न नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त, हमारे अध्ययन के विषय मे भविष्यवाणी केवल सभावना-मात्र है और निश्चय नहीं। उदाहरण के लिए, प्रत्येक देश में राजनीतिक सस्थाएं उसके लोगों तथा उनकी आवश्यकताओं के तर्क मात्र हैं। हम अंग्रेजी सस्थाओं का प्रतिरूप भारत में नहीं कर सकते। न ही उनकी सफलता के विषय में हम प्रतिज्ञा कर सकते हैं।

जो भी हो, इस किंवदती में कुछ सत्य है कि अनुभव के बाद मनुष्य बुद्धिमान बनता है। भौतिक विज्ञानों की भांति हम राजनीतिक विज्ञान में प्रयोग नहीं कर सकते किंतु राजनीतिक सस्थाओं में जाने अथवा अनजाने निरन्तर क्रियात्मक प्रयोग होते रहते हैं। प्रत्येक सरकार जब नयी नीति अपनाती है अथवा नया नियम (कानून) लागू करती है, तब वह प्रयोग करती है। यदि नीति और नियमों की सार्वजनिक उपयोगिता अधिकांशतः प्रमाणित नहीं होती, तो सरकार की नीति में परिवर्तन हो जाता है, और नियमों में संशोधन या सुधार किया जाता है। यह सब परीक्षण एवं प्रगति के उद्देश्य से किया गया एक प्रयोग ही तो है। भारत सरकार के १९१९ के अधिनियम (Act) के अधीन प्रांतों में द्वैधशासन (Dyarchy) का प्रयोग किया गया था। इसकी कार्यकारिता ने शीघ्र ही सरकार तथा जनता को इस प्रयोग के स्वाभाविक दोषों को प्रकट कर दिया।

फलतः, भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम (Act) के अधीन इसे दोहराया नहीं गया। मुनरो (Munro) अंग्रेजी संविधान (British Constitution) को संविधानों तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट को व्यवस्थापिका संसदों (Parliaments) की जननी मानते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि इंग्लैंड ने पहले जो प्रयोग किया था, अन्यदेशों ने उसकी नकल की। तव प्रयोगात्मक प्रणाली का अर्थ हुआ वह प्रणाली जो निरीक्षण (observation) एवं अनुभव (experience) पर आधारित है।[2]

तुलनात्मक प्रणाली (The Comparative Method)—राजनीतिक विज्ञानमें खोज की तुलनात्मक प्रणाली अरिस्टोटल के काल से चली आती है। कहा जाता है कि उन्होंने १५८ संविधानों का अध्ययन किया था। इन संविधानों की कार्यकारिता का विश्लेषण एवं तुलना करने के वाद, अरिस्टोटल अपने निजी निष्कर्षों पर पहुंचे थे। आधुनिक काल में मांटेस्क्वी (Montesquieu), डिटॉकविली (De-Tocqueville), लाबाऊले (Laboulaye), ब्राईस (Bryce) तथा अन्यों ने तुलनात्मक प्रणाली को अपनाया है।

तुलनात्मक प्रणाली के अध्ययन का लक्ष्य "वर्तमान राजनीतियों को अथवा उन्हें, कि जो भूतकाल में विद्यमान थीं, एक निश्चित विषय-समूह में संग्रहित करना है, कि जिस में अन्वेषक (investigator) चयन, तुलना और लोप (elimination) द्वारा राजनीतिक इतिहास के आदर्श, प्रकारों तथा उत्तरोत्तर बढ़ने वाली शक्तियों की खोज कर सकें।"[3] तुलना द्वारा हम विषय को संग्रहित करते हैं, उसको क्रमबद्ध करते हैं, और उसका वर्गीकरण करते हैं और सहयोग एवं छांटने की विधि से उसके परिणामों का सार निकालते हैं। यह हमें अतीत एवं वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सामान्य कारणों तथा प्रभावों को निश्चित करने योग्य वनाता है। लार्ड ब्राईस ने भिन्न देशों के लोकतंत्र (Democracy) की कार्यकारिता की तुलना की और शासन (सरकार) के रूप में उसके गुणों तथा अवगुणों का विवेचन किया। भारतीय संविधान सभा (Indian Constituent Assembly) को तुलनात्मक विधि से बहुत लाभ हुआ। भारत सरकार के वैधानिक परामर्शदाता (Constitutional Adviser) ने लगभग सभी पश्चिमी देशों का दौरा किया, उनकी राजनीतिक संस्थाओं की कार्यकारिता का अध्ययन किया, और संविधान सभा के समक्ष अपने निष्कर्षों को उसके विचार-कार्य में पथ-प्रदर्शन के लिए उपस्थित किया।

किंतु तुलनात्मक विधि का उपयोग करने के लिए वहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। जब हम राजनीतिक संस्थाओं में निहित सामान्य सिद्धांतों की खोज की दृष्टि से तुलना करते हैं, तो हमें संबंधित देशों अथवा तुलना अधीन समाजों की सामाजिक (Social), नैतिक (Moral), बौद्धिक (Intellectual), स्वाभावगत (Temperamental), राजनीतिक (Political), और

1. Munro, W. B.: The Government of Europe, p. 1.
2. Lewis, op. citd., Vol., I, p. 173.
3. Garner, op. citd., p. 23.

आर्थिक (Economic) अवस्थाओं के अन्तरों को भी दृष्टि में रखना होगा। अधिक या न्यून समान अवस्था के देशों में तुलना से सर्वाधिक लाभ होता है। अब यह सामान्यतः विश्वास किया जाता है कि उत्तरदायी ढंग की सरकार, जैसी कि इंग्लैंड में हैं, उन्हीं आधारों पर भारत में कार्य नहीं कर सकती। यह मुख्यतः लोगों के स्वभाव तथा बुद्धि-विकास, उनकी आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाओं, नैतिक और वैध-स्तरों (Legal Standards), राजनीति प्रशिक्षण तथा प्रशासन में अनुभव के अन्तरों के कारण है।

ऐतिहासिक विधि (The Historical Method)—प्रयोगात्मक एवं तुलनात्मक दोनों विधियों का ही तबतक कोई लाभ नहीं, जबतक उनका ऐतिहासिक आधार न हो। लास्की के मतानुसार राजनीति का अध्ययन "राज्यों[1] के इतिहास में अनुभव के परिणामों को लेखाबद्ध करने का प्रयास ही होना चाहिये।" राजनैतिक संस्थाओं का निर्माण नहीं होता वरन् वे विकसित होती हैं। वह इतिहास की उपज हैं और उन के वास्तविक रूप को जानने के लिये हमें विकास की उन शक्तियों को भलीभांति समझना आवश्यक है जिन्होंने उन्हें यह रूप प्रदान किया है। इसलिये हमारे निष्कर्ष यदि ऐतिहासिक विश्लेषण पर आधारित नहीं हैं, तो अनिश्चित ही रहेंगे, और न हम भविष्य के लिये बुद्धिमान बन पायेंगे। केवल अतीत और वर्तमान का सम्यक ज्ञान प्राप्त करके ही हम आगामी कल को आदर्श संस्थाओं का आयोजन करसकते हैं। लास्की ने ठीक कहा है कि "वह जो कुछ है और यह ऐसा क्यों है, इसका कारण इसका इतिहास ही है। यह ऐसा हो जाना इसके अस्तित्व की ओर संकेत है और उस अस्तित्व में हमें उसका रहस्योद्घाटन करना होगा।[2]" सारांश हमारी परिपाटियों और हमारी संस्थाओं निर्धारण हमारे लिये हमारा अतीत ही करता है। हम उन परिपाटियों और उन संस्थाओं के परिणाम हैं जिनका निर्माण हमने नहीं किया और जिनमें हम केवल आंशिक परिवर्तन ही कर सकते हैं। इस प्रकार इतिहास का अवलम्ब राजनीति के विद्यार्थियों के लिये एक बहुमूल्य सहायता है।

सीले (Seeley) और फ्रीमैन (Freeman) तथा लास्की (Laski) ऐतिहासिक विधि के उत्साही समर्थक हैं। किन्तु सिजविक (Sidgwick) तथा अन्य दार्शनिक विचार-धारा (School of thought) के अनुयायी दो कारणों से ऐतिहासिक विधि को गौण-स्थान देते हैं। प्रथमतः यह कि उनके विचार में ऐतिहासिक प्रणाली हमारी वर्तमान एवं भविष्य की समस्याओं को सुलझाने में कोई उपयोगी सहायता नहीं प्रदान करती, क्योंकि वह केवल इसके अनुभव से संबंधित है कि राजनीतिक संस्थाओं का अतीत में क्या रूप रहा है। उनका कहना है

1. Laski: The Danger of Being a Gentleman, p 36.

2. Ibid—Refer to what Frederick Pollock says, "The Historical method seeks an explanation of what institutions are and are tending to be, more in the knowledge what they have been and how they came to be what they are, than in the analysis of them as they stand." An Introduction to the History of the Service of Politics, p. 11.

प्राप्त करना है, किन्तु ऐसा करते समय हमें अपनी कल्पना में इतना उतावला और जल्दबाज़ नहीं हो जाना चाहिए। 'क्या होना चाहिए' का, यथासंभव, 'क्या हो सकता है', के साथ समन्वय होना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion):—इसलिए, राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन अनुमानात्मक (inductive) और निष्कर्षात्मक (deductive) दोनों विधियों में से प्रस्फुटित होता है। निष्कर्षात्मक और अनुमानात्मक असंगत विधियां नहीं हैं; वे, जिस प्रकार ऐतिहासिक और दार्शनिक विधियां साथ-साथ चलती हैं, एक दूसरे की पूरक हैं। वास्तविकता में आदर्शवादिता की पुट होनी चाहिए। यदि वास्तविकता में आदर्शवादिता का अंश नहीं तो हम आदर्श राज्य के लक्ष्य की दिशा में नहीं बढ़ सकते और हमारे अध्ययन का शक्तिमान स्वरूप नष्ट हो जाता है। गिलक्राइस्ट ठीक ही कहते हैं कि "सच्चे इतिहासज्ञ को दर्शन का मूल्य स्वीकार करना चाहिए, और उसी प्रकार सच्चे दार्शनिक को इतिहास से परामर्श लेना चाहिए। इतिहास के प्रयोगों तथा परिघटनों को आदर्शों के प्रकाश से चमत्कृत करना चाहिए।"[1]

राजनीतिक विज्ञान का अन्य विज्ञानों से संबंध (Relations of Political Science to other Sciences)—राजनीतिक विज्ञान संगठित राजनीतिक इकाइयों के रूप में मानवता के साथ व्यवहार करता है। मनुष्य सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। उसके राजनीतिक संगठन के बिना समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है। तदनुसार, उस संबंध को जानना अत्यावश्यक है कि जो मनुष्य के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के बीच विद्यमान रहता है। फ्रांसीसी विद्वान पाल जेनट (Paul Janet) ने यह कहकर इस नग्न सत्य को प्रकट किया कि राजनीति विज्ञान का "राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था अथवा सम्पत्ति-शास्त्र से, विधि से— (चाहे वह नैसर्गिक हो अथवा स्वीकृत्यात्मक—जो मुख्यत: नागरिकों के पारस्परिक संबंधों से सम्बद्ध है), इतिहास से —(जो उसे वह तथ्य प्रदान करता है, जिनकी राजनीति शास्त्र को आवश्यकता है), दर्शन से और विशेषत: नैतिक आचरण शास्त्र से— (जो उसे अपने कुछ सिद्धांतों का अंश प्रदान करता है)" बहुत घनिष्ट संबंध है। जैलिनेक एवं कुछ और लेखकों ने राजनीतिक विज्ञान का संबंध भूगोल, मानव-शरीर-रचना, नृ-वंशविद्या, मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान और यहां तक कि आंकड़ों के साथ भी बताया है। सिजविक अधिक उदार दृष्टि अपनाते हैं और कहते हैं कि जांच के किसी विषय को उचित रूप से समझने और "स्पष्टतया यह देखने के लिए कि अपने तर्क के लिए इसे उनसे क्या अंश लेने होते हैं और बदले में यह उन्हें क्या दे सकता है," अन्य विज्ञानों के साथ इसका संबंध स्थापित करना सदैव लाभप्रद है।

राजनीति और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान में बहुत-कुछ समानता है। समाजशास्त्र उस समाज का विज्ञान है, जो व्यक्तियों के समूह के रूप में है अथवा "यह मनुष्यों की सम्मिलित विधि में उनका विज्ञान है।" यह मनुष्यके साथ मानव-समाज और मानव संस्कृति के, विशेपकर सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की दिशा में, उद्गम, संगठन और विकासमें सामाजिक प्राणी के रूप में व्यवहार करता है। इसलिए,

1. Ibid.

समाजशास्त्र उन सब सामाजिक विज्ञानों का जन्मदाता है कि जिनका मनुष्य के अध्ययन के साथ संबंध है, और राजनीतिक विज्ञान उनमें से एक है। दोनों विज्ञानों का इतना निकट संपर्क है कि "राजनीतिकता सामाजिकता में गड़ी हुई है," और यदि राजनीतिक विज्ञान समाजशास्त्र से भिन्न रह जाता है, तो इसका कारण विशेषज्ञ के लिए क्षेत्र का विस्तार होगा, न कि इस कारण कि उसे समाजशास्त्र से पृथक् करने के लिए किसी-प्रकार की निश्चित सीमाएं है।[1] यह दोनों पारस्परिक रूप में पूरक हैं। राजनीतिक विज्ञान समाजशास्त्र को राज्य के संगठन और कृत्यों के बारे मे तथ्य प्रदान करता है और उससे राजनीतिक सत्ता तथा नियमों के स्रोत का ज्ञान प्राप्त करता है कि जो समाज पर नियंत्रण करते हैं। प्रारम्भिक चरणों में राज्य राजनीतिक व्यवस्था की अपेक्षा सामाजिक अधिक था, और प्रो. गिडिंग्स (Prof. Giddings) का मत है कि समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को राज्य के सिद्धांतों की शिक्षा देना, न्यूटन के गति के नियमों से अपरिचित व्यक्तियों को खगोल विद्या और उष्णता तथा यन्त्र विद्या से संबंधित शास्त्र (Thermodynamics) की शिक्षा देने के तुल्य है।[2] एक राजनीतिक वैज्ञानिक को समाजशास्त्री होना चाहिए और एक समाजशास्त्री को राजनीतिक वैज्ञानिक।

समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान में इस प्रकार का सुदृढ़ संपर्क होने पर भी दोनों विज्ञानों का अध्ययन सर्वथा भिन्न है और उनकी समस्याएं भी समान नहीं हैं। गिडिंग्स ने ठीक ही कहा है कि राजनीतिक विज्ञान का प्रदेश "समाज की खोजों" के साथ साझे रूप में फैला हुआ नहीं, "प्रत्युत उनमें विभाजन की रेखाएं खींची जा सकती हैं।"[3]

समाजशास्त्र मनुष्य के विभिन्न सामाजिक संबंधों और सभी प्रकार के मानवी समुदायों का अध्ययन करता है। इसका अध्ययन मनुष्य के केवल एक पहलू तक ही सीमित नहीं। दूसरी ओर राजनीतिक विज्ञान मनुष्य के राजनीतिक शासन का अध्ययन है और, इसलिए, समाजशास्त्र की यह एक विशिष्ट शाखा है, अतएव इसका अध्ययन-क्षेत्र अधिक संकुचित और सीमित है। द्वितीयतः, मनुष्य का राजनीतिक जीवन उसके सामाजिक जीवन से कहीं बाद में प्रारम्भ होता है, अतएव समाजशास्त्र को राजनीतिक विज्ञान की अपेक्षा प्राथमिकता मिलनी ही चाहिये। तृतीयतः, समाजशास्त्र में संगठित और असंगठित समाजों तथा मनुष्य की चेतन और अचेतन क्रियाओं का अध्ययन सन्निहित है। राजनीतिक विज्ञान का प्रदेश राजनीतिक रूप से संगठित समाज और मनुष्य की चेतन राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन है। अन्ततः, राजनीतिक विज्ञान का लक्ष्य मानवता के राजनीतिक संगठन के अतीत, वर्तमान और भविष्य का निश्चय करना है, जब कि समाजशास्त्र उन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है, जो हमारे बीच विद्यमान है अथवा विद्यमान थीं।

राजनीतिक विज्ञान एवं नृवंश विद्या (Anthropology)—नृवंशविद्या वह

1. Garner, op. citd., p. 291.
2. Giddings, Principles of Sociology, p 37,
3. Giddings, Principles of Sociology, p. 37.

प्राप्त करना है, किन्तु ऐसा करते समय हमें अपनी कल्पना में इतना उतावला और जल्दबाज नहीं हो जाना चाहिए। 'क्या होना चाहिए' का, यथासंभव, 'क्या हो सकता है', के साथ समन्वय होना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion):—इसलिए, राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन अनुमानात्मक (inductive) और निष्कर्षात्मक (deductive) दोनों विधियों में से प्रस्फुटित होता है। निष्कर्षात्मक और अनुमानात्मक असंगत विधियां नहीं हैं; वे, जिस प्रकार ऐतिहासिक और दार्शनिक विधियां साथ-साथ चलती हैं, एक दूसरे की पूरक हैं। वास्तविकता में आदर्शवादिता की पुट होनी चाहिए। यदि वास्तविकता में आदर्शवादिता का अंश नहीं तो हम आदर्श राज्य के लक्ष्य की दिशा में नहीं बढ़ सकते और हमारे अध्ययन का शक्तिमान स्वरूप नष्ट हो जाता है। गिलक्राईस्ट ठीक ही कहते हैं कि "सच्चे इतिहासज्ञ को दर्शन का मूल्य स्वीकार करना चाहिए, और उसी प्रकार सच्चे दार्शनिक को इतिहास से परामर्श लेना चाहिए। इतिहास के प्रयोगों तथा परिघटनों को आदर्शों के प्रकाश से चमत्कृत करना चाहिए।"[1]

राजनीतिक विज्ञान का अन्य विज्ञानों से संबंध (Relations of Political Science to other Sciences)—राजनीतिक विज्ञान संगठित राजनीतिक इकाइयों के रूप में मानवता के साथ व्यवहार करता है। मनुष्य सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। उसके राजनीतिक संगठन के विना समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है। तदनुसार, उस संबंध को जानना अत्यावश्यक है कि जो मनुष्य के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के बीच विद्यमान रहता है। फ्रांसीसी विद्वान पाल जेनट (Paul Janet) ने यह कहकर इस नग्न सत्य को प्रकट किया कि राजनीति विज्ञान का "राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था अथवा सम्पत्ति-शास्त्र से, विधि से— (चाहे वह नैसर्गिक हो अथवा स्वीकृत्यात्मक—जो मुख्यत: नागरिकों के पारस्परिक संबंधों से सम्बद्ध है), इतिहास से —(जो उसे वह तथ्य प्रदान करता है, जिनकी राजनीति शास्त्र को आवश्यकता है), दर्शन से और विशेषत: नैतिक आचरण शास्त्र से— (जो उसे अपने कुछ सिद्धांतों का अंश प्रदान करता है)" बहुत घनिष्ट संबंध है। जैलिनेक एवं कुछ और लेखकों ने राजनीतिक विज्ञान का संबंध भूगोल, मानव-शरीर-रचना, नृ-वंशविद्या, मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान और यहां तक कि आंकड़ों के साथ भी बताया है। सिजविक अधिक उदार दृष्टि अपनाते हैं और कहते हैं कि जांच के किसी विषय को उचित रूप से समझने और "स्पष्टतया यह देखने के लिए कि अपने तर्क के लिए इसे उनसे क्या अंश लेने होते हैं और बदले में यह उन्हें क्या दे सकता है," अन्य विज्ञानों के साथ इसका संबंध स्थापित करना सदैव लाभप्रद है।

राजनीति और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान में बहुत-कुछ समानता है। समाजशास्त्र उस समाज का विज्ञान है, जो व्यक्तियों के समूह के रूप में है अथवा "यह मनुष्यों की सम्मिलित विधि में उनका विज्ञान है।" यह मनुष्यके साथ मानव-समाज और मानव संस्कृति के, विशेपकर सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की दिशा में, उद्गम, संगठन और विकासमें सामाजिक प्राणी के रूप में व्यवहार करता है। इसलिए,

1. Ibid.

समाजशास्त्र उन सब सामाजिक विज्ञानों का जन्मदाता है कि जिनका मनुष्य के अध्ययन के साथ संबंध है, और राजनीतिक विज्ञान उनमें से एक है। दोनों विज्ञानों का इतना निकट संपर्क है कि "राजनीतिकता सामाजिकता में गड़ी हुई है," और यदि राजनीतिक विज्ञान समाजशास्त्र से भिन्न रह जाता है, तो इसका कारण विशेषज्ञ के लिए क्षेत्र का विस्तार होगा, न कि इस कारण कि उसे समाजशास्त्र से पृथक् करने के लिए किसी-प्रकार की निश्चित सीमाएं हैं।[1] यह दोनों पारस्परिक रूप में पूरक हैं। राजनीतिक विज्ञान समाजशास्त्र को राज्य के संगठन और कृत्यों के बारे में तथ्य प्रदान करता है और उससे राजनीतिक सत्ता तथा नियमों के स्रोत का ज्ञान प्राप्त करता है कि जो समाज पर नियंत्रण करते हैं। प्रारम्भिक चरणों में राज्य राजनीतिक व्यवस्था की अपेक्षा सामाजिक अधिक था, और प्रो. गिडिंग्स (Prof. Giddings) का मत है कि समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को राज्य के सिद्धांतों की शिक्षा देना, न्यूटन के गति के नियमों से अपरिचित व्यक्तियों को खगोल विद्या और उष्णता तथा यन्त्र विद्या से संबंधित शास्त्र (Thermodynamics) की शिक्षा देने के तुल्य है।[2] एक राजनीतिक वैज्ञानिक को समाजशास्त्री होना चाहिए और एक समाजशास्त्री को राजनीतिक वैज्ञानिक।

समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान में इस प्रकार का सुदृढ़ संपर्क होने पर भी दोनों विज्ञानों का अध्ययन सर्वथा भिन्न है और उनकी समस्याएं भी समान नहीं हैं। गिडिंग्स ने ठीक ही कहा है कि राजनीतिक विज्ञान का प्रदेश "समाज की खोजों" के साथ साझे रूप में फैला हुआ नहीं, "प्रत्युत उनमें विभाजन की रेखाएं खींची जा सकती हैं।"[3]

समाजशास्त्र मनुष्य के विभिन्न सामाजिक संबंधों और सभी प्रकार के मानवी समुदायों का अध्ययन करता है। इसका अध्ययन मनुष्य के केवल एक पहलू तक ही सीमित नहीं। दूसरी ओर, राजनीतिक विज्ञान मनुष्य के राजनीतिक शासन का अध्ययन है और, इसलिए, समाजशास्त्र की यह एक विशिष्ट शाखा है, अतएव इसका अध्ययन-क्षेत्र अधिक संकुचित और सीमित है। द्वितीयतः, मनुष्य का राजनीतिक जीवन उसके सामाजिक जीवन से कहीं बाद में प्रारम्भ होता है, अतएव समाजशास्त्र को राजनीतिक विज्ञान की अपेक्षा प्राथमिकता मिलनी ही चाहिये। तृतीयतः, समाजशास्त्र में संगठित और असंगठित समाजों तथा मनुष्य की चेतन और अचेतन क्रियाओं का अध्ययन सन्निहित है। राजनीतिक विज्ञान का प्रदेश राजनीतिक रूप में संगठित समाज और मनुष्य की चेतन राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन है। अन्ततः, राजनीतिक विज्ञान का लक्ष्य मानवता के राजनीतिक संगठन के अतीत, वर्तमान और भविष्य का निश्चय करना है, जब कि समाजशास्त्र उन विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है, जो हमारे बीच विद्यमान हैं अथवा विद्यमान थीं।

राजनीतिक विज्ञान एवं नृवंश विद्या (Anthropology)—नृवंशविद्या वह

1. Garner, op. citd, p 291.
2. Giddings, Principles of Sociology, p. 37,
3. Giddings, Principles of Sociology, p. 37.

विज्ञान है जो मानव के जातिविभागों, उसके भौतिक आचरण, उसके भौगोलिक ।..
उसके वातावरण विषयक एवं सामाजिक संबंधों तथा उसके सांस्कृतिक विकास से ..
है। नृवंशविद्या ने राजनीतिक विज्ञान को बहुत कुछ प्रदान किया है। जातीय विभाग, प्रवृत्तियों, रिवाजों और प्रागैतिहासिक मानव के संगठनों के संबंध में की गई आधुनिक खोजों से राज्य की वास्तविक उत्पत्ति और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के विकास का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। दो साधारण किंवदन्तियां नृवंशविद्या और राजनीतिक विज्ञान के निकट संबंध को सिद्ध करती हैं। पहली यह है कि "मानव के रक्त से भी कुछ विदित होता है" और दूसरी यह है कि "मानव परिस्थिति और वातावरण के हाथ का खिलौना है।" मनुष्य के जातीय विकास और उस वातावरण, का जिसमें कि वह रहता है, उस पर अति व्यापक प्रभाव पड़ता है। हिटलर द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता का सिद्धांत तथा आर्य जाति की उच्चता संबंधी उसकी निश्चित धारणा आधुनिक राजनीतिक विचार की कतिपय गुत्थियों को सुलझा देती है। अन्ततः, जातीय एकता राष्ट्रीयता की एक दृढ़तम कड़ी है। इस प्रकार नृवंशविद्या राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रदान करती है।

राजनीति और इतिहास—राजनीतिक विज्ञान और इतिहास के बीच बहुत निकट एवं घनिष्ट संबंध है। सर जान सीले ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है।

"राजनीतिक विज्ञान के बिना इतिहास का कोई फल नहीं, \
इतिहास के बिना राजनीतिक विज्ञान का कोई आधार नहीं।"

सीले का कथन यद्यपि अतिशयोक्ति पूर्ण है तथापि दोनों विद्वानों की अन्तर्निर्भरता से किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि राज्य और राजनीतिक संस्थाएं बनाने के स्थान पर उत्पन्न होती हैं। वे इतिहास की उत्पत्ति हैं और उन्हें पूर्णतया समझने के लिए हमें उनके विकास की विधि को जानना चाहिए ; कैसे उन्होंने अपना वर्तमान रूप धारण कर लिया, और किस सीमा तक उन्होंने अपने मौलिक उद्देश्य को पूर्ण किया है। अतएव हमारी सभी राजनीतिक संस्थाओं का ऐतिहासिक आधार है। साथ ही, इतिहास हमें तुलना और विवेचन के लिए वह सामग्री प्रदान करता है, जिसकी सहायता से हम अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप आदर्श राजनीतिक ढांचे का निर्माण कर सकते हैं। ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में हमारा राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन निश्चित रूप से अत्यधिक काल्पनिक अथवा प्राथमिक रूप का हो जायगा। राजनीतिक विज्ञान, जिसके अध्ययन का आधार प्राथमिक है, लास्की के मतानुसार "निश्चय ही विफल हो जायेगा क्योंकि हम कभी रिक्त पट्ट पर लिखने की स्थिति में नहीं होते।"

... बदले में, इतिहास को भी राजनीतिक विज्ञान से बहुत-कुछ ऋण लेना होता है ... घटनाओं ... गतियों के परिणामों का पर्याप्त रूप में अ...
नहीं ... ज्ञान अर्थहीन है। १९-वीं सदी के योरो...
होगा, जबतक कि राष्ट्रवाद, सा...
का पूर्ण महत्व प्रकट नहीं
तर्कशून्य हो जायेगा, ...

भारतीय राष्ट्रीय कार्यक्रम के उत्कर्ष के राजनीतिक परिणामों की सम्यक् रूप से व्याख्या न करें; पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए मुसलमानों की मांग या भारत सरकार के १९०९ के अधिनियम के दयापूर्ण स्वेच्छाचारी राज्य, माटेंगू की अगस्त १९१७ की घोषणा, १९१९ के सुधार और द्वैध-शासन का प्रयोग, साइमन कमीशन की सिफारिशों, गोलमेज कान्फ्रेंस के विचार-विमर्श, साम्प्रदायिक घोषणा, भारत सरकार का १९३५ का अधिनियम, एटलांटिक घोषणा-पत्र की धाराओं, १९४२ का 'भारत छोड़ो आन्दोलन', क्रिप्स के प्रस्तावों, शिमला सम्मेलन, लार्ड वेवल और पैथिक लारेंस की घोषणा, मंत्रिमंडल योजना, ३ जून, १९४७ की घोषणा, और १९४७ के स्वतन्त्रता अधिनियम का उल्लेख न करें।

इस प्रकार, राजनीतिक विज्ञान और इतिहास, दोनों परस्पर आदान-प्रदान करनेवाले तथा पूरक हैं। दोनों का इतना घनिष्ठ सबंध है कि सीले (Seelay) ने कहा है, "जो राजनीति इतिहास द्वारा उदार नहीं बनाई गई, वह अधम है, और इतिहास के जब राजनीति से अपने संबंध विस्मृत हो जाते है, तो वह केवल साहित्य-मात्र बनकर धुंधली पड़ जाती है।" बर्गेस (Burgess) कहता है कि उन्हें एक-दूसरे से अलग कीजिए तो उनमें से एक, शव न सही, पंगु तो अवश्य ही हो जाता है और दूसरा दल-दल में पड़े हुए जुगनू की चमक-मात्र रह जाता है।

जो भी हो, इस सबका यह तात्पर्य नहीं कि राजनीतिक विज्ञान इतिहास के द्वार का भिखारी है। न ही इसका यह अर्थ है, जैसा कि फ्रीमैन कहता है: "इतिहास भूतकाल की राजनीति है अथवा राजनीति वर्तमान इतिहास है।" राजनीतिक विज्ञान निःसंदेह, अपनी सामग्री के लिए इतिहास पर आश्रित है, किन्तु वह उसकी सामग्री का केवल एक अंग प्रदान करता है। इतिहास तो घटनाओं का क्रम-बद्ध विवरण है, जिसमें युद्ध, क्रांतियां, फौजी कार्यवाहियां, आर्थिक उथल-पुथल, धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन, तथा अन्य बातें सम्मिलित होती हैं। इस सारी सामग्री की राजनीतिक विज्ञान को आवश्यकता नहीं। राजनीतिक वैज्ञानिक का मुख्य विषय राजनीतिक संस्थाओं के विकास तथा राज्य पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाले तथ्यों का अध्ययन करना है। इस तरह, राजनीतिक विज्ञान इतिहास में से तथ्यों का चयन कर लेता है। इंग्लैंड में, १६८८ की क्रांति की घटनाओं से हमें कोई दिलचस्पी नहीं, क्योंकि हमारी दिलचस्पी तो उस देश में सीमित राजतंत्र (Monarchy) के उदय तथा उत्तरदायी शासन के आरम्भ में है। इसी प्रकार, राजनीतिक विज्ञान के विद्यार्थी के नाते, द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण तथा लड़ने वाली शक्तियों के सैनिक-महत्व में हमारी दिलचस्पी नहीं। हमारी दिलचस्पी यह अध्ययन करने और खोजने में है कि क्या द्वितीय विश्व-युद्ध वस्तुतः लोकतंत्र बनाम तानाशाही (Democracy vs. Dictatorship) का युद्ध था और क्या उससे वह उद्देश्य पूर्ण हुआ, जिसके लिए वह किया गया था। साथ ही इस बात में भी हमारी दिलचस्पी है कि युद्धोत्तर काल में, इस युद्ध के परिणाम स्वरूप, विश्व के राजनीतिक आकार में क्या परिवर्तन होने को है।

इससे भी अधिक, इतिहास ठोस और वस्तु-तथ्यों की सामग्री से व्यवहार करता

का कागजी मुद्रा-चलन राज्य के केन्द्रीय या रिजर्व बैंक द्वारा जारी किया जाता है। केन्द्रीय बैंक या तो राज्याधीन बैंक हो सकता है अथवा निजी व्यवसाय का परिणाम। किंतु चाहे जो भी हो, एक विशेष अधिनियम द्वारा केन्द्रीय बैंक की रचना परमावश्यक है। इसके अलावा, प्रत्येक देश की आर्थिक समृद्धि उसके बैंकिंग संगठन की दृढ़ता पर निर्भर है। तदनुसार, आवश्यक नियमों द्वारा बैंकों को नियमित रूप में चलाना राज्य की कानूनी सीमा के अन्तर्गत है।

सर्वाधिक व्यग्र करने वाली समस्या, जो प्रत्येक देश के सम्मुख आती है, वितरण की है। अर्थशास्त्र में, वितरण के शीर्षक के अधीन, हम अध्ययन करते हैं कि उत्पादन के क्षेत्र में जमींदार, मजदूर, पूंजीपति और संगठनकर्त्ता—प्रत्येक को उसके कार्य के लिए किस प्रकार भुगतान किया जाता है। पूंजीवादी समाज, जिसमें हम रहते हैं, की उत्पादन एवं वितरण व्यवस्था ने द्रव्य के वितरण में विषमता उत्पन्न कर दी है। समाजवाद के सिद्धांत का लक्ष्य समाज के उस राजनीतिक ढांचे का निर्माण करना है, जहां देश की राष्ट्रीय संपत्ति सर्वाधिक समान रूप से विभाजित हो तथा जहां समाज का एक वर्ग दूसरे की कीमत पर मौज नहीं उड़ाता। वस्तुतः, व्यक्तिवाद और साम्यवाद के सिद्धान्त, अन्य किसी की अपेक्षा, राजनीतिक विज्ञान और अर्थशास्त्र की अन्तर्क्रिया (inter-action) का अधिक उत्तम प्रदर्शन करते हैं।

इसलिए, राजनीतिक और आर्थिक अवस्थाएं, एक-दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करती हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि अनेक आर्थिक समस्याओं का हल राजनीतिक संस्थाओं द्वारा ही ढूंढ़ा जाना चाहिए और प्रत्येक राज्य की मुख्य समस्याएं स्वरूप में आर्थिक होती हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध को तानाशाही के विरुद्ध लोकतंत्र के युद्ध का रूप दिया गया था। किंतु वस्तुतः युद्ध के कारण आर्थिक थे। नाजीवाद के उत्कर्ष का कारण भी प्रथम महायुद्ध के उपरान्त विजेता शक्तियों द्वारा जर्मनी का आर्थिक रूप से कुचला जाना था। राष्ट्र मंडल (League of Nations) की असफलता के विषय में कहा जा सकता है कि वह आर्थिक उपेक्षा एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता की नीति थी, जिसे प्रथम विश्व-युद्ध के बाद प्रत्येक सदस्य-राज्य ने दृढ़ता से अपनाया। इंग्लैण्ड की राजनीतिक नीति, जिसका उसने भारत में अनुसरण किया, और भारतीयों को स्वतंत्रता प्रदान करने की उसकी अनिच्छा राजनीतिक लाभ की अपेक्षा आर्थिक हित के लिए अधिक थी। आज की राजनीति के उत्तेजनापूर्ण प्रश्न, अर्थात्, उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण, उद्योगों के साथ राज्य का संबंध, श्रम और पूंजी के प्रति उनका दृष्टिकोण, तथा अन्य ऐसी ही कतिपय समस्याएं, सभी आर्थिक प्रश्न हैं, जो राजनीतिक मामलों में उलझे हुए हैं। इस बात की मांग ने, कि राजनीतिक लोकतंत्र से पूर्व आर्थिक लोकतंत्र होना चाहिए, प्रत्येक राज्य के राजनीतिक ढांचे में क्रांति-पूर्ण परिवर्तन कर दिया है। कोई भी यह कह सकता है कि सरकारी प्रशासन का संपूर्ण सिद्धान्त उसके रूप की दृष्टि से अधिकांशतः आर्थिक है।

राजनीतिक विज्ञान और आचार शास्त्र (Political Science & Ethics)–आचार शास्त्र का सम्बन्ध नैतिकता से है और वह ऐसे नियमों का निर्माण करता है जो समाज में रहते हुए मनुष्य के आचरण को प्रभावित करें। यह मनुष्य के आचरण के

औचित्य तथा अनौचित्य और उन आदर्शों की, जिनकी दिशा में उसे यत्नशील होना चाहिए, खोज करता है। राजनीतिक विज्ञान और आचार शास्त्र के बीच विभाजन की रेखा पर्याप्त रूप से स्पष्ट है यद्यपि राजनीतिक विज्ञान एवं आचार शास्त्र दोनों ही का लक्ष्य मनुष्य का उत्तम और साधुतापूर्ण जीवन है। पहला मुख्यतः, मनुष्य के राजनीतिक शासन का अध्ययन करता है और दूसरा मनुष्य के आचरण तथा नैतिकता से संबंध रखता है। वह उसके आचरण को भी न्याय्य ठहराता है और अन्ततः इस बात की शिक्षा देता है कि वह आचरण कैसा होना चाहिए। राजनीतिक विज्ञान का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। राज्य के कानून केवल जीवन का ढंग निर्धारित करते हैं और मनुष्य की बाह्य क्रियाओं से ही सम्बन्धित हैं। अन्ततः नैतिक प्रविधि उचित और अनुचित एवं न्याय्य और न्याय-विरुद्ध विषयक आधिक मान-दंड निर्मित करती है। किन्तु राज्य के कानूनों के मापदंड परिस्थिति के अनुकूल ही होते हैं। जो कानून द्वारा वर्जित है, हो सकता है वह अनैतिक कार्य हो।

किंतु राजनीतिक आदर्श को आचार शास्त्र के आदर्श से अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य, राज्य में रहते हुए ही, अपने नैतिक ध्येयों का अनुसरण कर सकता है।

. . . .

. . . .

. . . .

रहता है। इसलिए, अच्छा जीवन राज्य का लक्ष्य है। जो नैतिक दृष्टि से गलत है, वह राजनीतिक दृष्टि से सही नहीं हो सकता, क्योंकि वह अच्छा राज्य नहीं हो सकता, जहां आचार शास्त्र के गलत आदर्श प्रचलित हों।

राजनीतिक विज्ञान और आचार नीति के बीच इतना निकट संबंध है कि प्लेटो और अरिस्टोटल ने दोनों के बीच कुछ भी अन्तर नहीं देखा। इन ग्रीक दार्शनिकों ने राज्य के नैतिक पक्ष पर अधिक जोर दिया है। प्लेटो की रिपब्लिक (जनतंत्र) में आचार शास्त्र का भी उतना ही अध्ययन है, जितना कि राजनीतिक विज्ञान का। सर्वप्रथम मेकियावेली (Machiavelly) ने दोनों के बीच भेद करते हुए राजनीतिक विज्ञान को आचार शास्त्र से स्वतंत्र किया। उन्होंने सार्वजनिक नैतिकता और निजी नैतिकता के बीच भी अंतर बतलाया। अंग्रेज दार्शनिक, हाब्स (Hobbes) ने मेकियावेली के तर्कों तथा युक्तियों का अनुसरण किया।

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान तथा आचार शास्त्र में गहरा संबंध है। जब कि राज्य का लक्ष्य ऐसे वातावरण की सृष्टि करना है जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया विकास प्राप्त कर सके, तो राज्य के उचित क्षेत्र को नैतिक मान्यताओं के बिना निश्चित नहीं किया जा सकता। प्रो. आइवर ब्राऊन (Prof. Ivor Brown) कहते हैं, "राजनीति केवल-मात्र आचार शास्त्र का आज्ञा-पत्र है। आचार शास्त्र का सिद्धान्त राजनीतिक सिद्धान्त के बिना अपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और बिलकुल अकेले नहीं रह सकता, राजनीतिक सिद्धान्त आचार शास्त्र के सिद्धान्तों के बिना बेकार है, क्योंकि इसका अध्ययन और इसके परिणाम हमारे नैतिक मूल्यों की योजना तथा सही एवं गलत की हमारी धारणा पर आधार रूप में निर्भर करते हैं।" इसके

अलावा, राजनीतिक विज्ञान का संबंध इससे भी है कि राज्य को कैसा होना चाहिए। लार्ड एक्टन (Lord Acton) के शब्दों में, "महान प्रश्न यह खोज करना नहीं कि सरकारें क्या व्यवस्था करती हैं, प्रत्युत यह है कि सरकारों को क्या व्यवस्था करनी चाहिए।" हमे राज्य के कार्यों की न्याय्यता को उन नैतिक मूल्यों से आंकना है, जिन्हें प्राप्त करने में यह हमारी मदद करता है और जिन्हें आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे हमें प्रदान करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि राजनीतिक विज्ञान आचार शास्त्र द्वारा प्रभावित होता है। जो भी हो, दोनों विज्ञानों में मुख्य सामग्री स्पष्ट है।

राजनीतिक विज्ञान एवं मनोविज्ञान (Political Science & Psychology)—मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में मनुष्य के आचरण पर प्रकाश डालता है। इसकी प्रवृत्ति यह विश्लेपण करने की होती है कि मनुष्य प्रवृत्ति, तर्क, युक्ति, उत्तेजना, आवेश एवं भावना आदि के प्रभाव के अधीन कैसा आचरण करता है। राजनीतिक विज्ञान, जो मानव प्राणियों के राजनीतिक संबंधों पर प्रकाश डालता है, मनोवैज्ञानिक प्रभावों की उपेक्षा नहीं कर सकता। राज्य और उसकी राजनीतिक संस्थाएं मानव-मस्तिप्क की उपज हैं और उन्हें मानव-मस्तिप्क के अध्ययन द्वारा सर्वोत्तम रीति से समझा जा सकता है। वारकर (Barker) का कहना है, "मानवी क्रियाकलापों की पहेलियों को मनोवैज्ञानिक दृप्टि से सुलझाना-वस्तुतः, आज के दिन का चलन बन गया है। यदि हमारे पूर्वजों ने प्राणी विज्ञान की दृप्टि से सोचा था, तो हम मनोवैज्ञानिक दृप्टि से सोचते हैं।" आधुनिक काल में राजनीतिक विज्ञान एवं मनोविज्ञान के सान्निव्य पर अधिक वल दिया गया है। टार्डे (Tarde), लि वां (Le Bon), मैकडूगल (Mc Dougall), वालास (Wallas) एवं वाल्डविन (Baldwin) आदि प्रख्यात लेखकों ने लगभग सभी राजनीतिक समस्याओं का मनोवैज्ञानिक हल प्रस्तुत किया है। वे राज्य की एकता को मनोवैज्ञानिक कारणों पर ही निर्भर मानते हैं और वे किसी देश की सरकार के स्वरूप एवं वहां प्रचलित कानूनों को देशवासियों की स्वभावगत आदतों का परिणाम ही मानते हैं। उनका मत है राजनीतिक संस्थाएं और परिपाटियों का स्वरूप मानवी मस्तिप्क ने ही निर्धारित किया है।

वेगहॉट (Bagehot) ने भी अपने ग्रंथ 'फिजिक्स एण्ड पॉलिटिक्स' (Physics and Politics) में ग्रेट ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था की सफलता की व्याख्या वहुत सीमा तक मनोवैज्ञानिक आधारों एवं उस देश के निवासियों की स्वभावगत वुद्धि के आधार पर की है। डाक्टर गार्नर के मतानुसार "सरकार के स्थायित्व एवं उसकी लोकप्रियता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें उन लोगों के मस्तिप्क के विचार और नैतिक भावनायें प्रतिलक्षित हों, जो उसकी सत्ता के आधीन है", सारांश में उसका उन भावनाओं से पूर्ण समन्वय होना चाहिए जिन्हें लि वां (Le Bon) जाति के मनोवैज्ञानिक संविधान का नाम प्रदान करता है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सव राजनीतिक समस्याओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्याएं की जा सकती हैं। मनोवैज्ञानिक विधि की अपनी निजी मर्यादायें हैं। यह इस वात पर प्रकाश नहीं डालती कि उसे क्या होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक की नैतिक मूल्यों में कोई दिलचस्पी नहीं होती। यह आचार शास्त्र और राजनीतिक

विज्ञान का क्षेत्र है। राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन शक्तिमय है और राजनीतिक संस्था का स्पष्टीकरण मानव-मन की शक्तिमय भिन्नताओं में सर्वोत्तम रीति से समझा जा सकता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक "जीवन की व्याख्या आदिम प्रवृत्तियों के रूप में करना चाहता है और सामाजिक मनोविज्ञान निम्नतर द्वारा उच्चतर का स्पष्टीकरण करता है।" इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि मैकडूगल (Mc Dougall) तथा अन्य मनोवैज्ञानिक समाज में कार्य करने वाली प्रवृत्तियों के स्रोत की भी व्याख्या करते हैं। जो भी हो, वे इस बात की व्याख्या नहीं करते कि समाज में ये प्रवृत्तियाँ कैसे और क्यों उत्पन्न होती हैं।

राजनीतिक विज्ञान और भूगोल (Political Science & Geography)—कतिपय लेखकों ने इस बात का समर्थन किया है कि भौगोलिक और भौतिक अवस्थाएँ लोगों के चरित्र और राष्ट्रीय जीवन तथा राजनीतिक संस्थाओं पर महान प्रभाव डालती हैं। अरिस्टॉटल का मत था कि भूगोल के बिना न तो राजनीतिक और न ही सैनिक दृष्टि से रणकौशल-विषयक विवेक (Strategical wisdom) आगे बढ़ सकता है। बोडिन (Bodin) पहला आधुनिक लेखक था, जिसने राजनीतिक विज्ञान और भूगोल के परस्पर संबंध पर चर्चा की थी। रूसो (Rousseau) ने जल-वायु-विषयक अवस्थाओं तथा सरकार के रूपों के बीच संबंध स्थापित करने की चेष्टा की। उसका तर्क था कि उष्ण जलवायु स्वेच्छाचारी शासन की वृद्धि करने वाला है, शीत जलवायु बर्बरता उत्पन्न करने वाला है और सम जलवायु अच्छी समाज-व्यवस्था का जन्मदाता है। एक अन्य फ्रांसीसी विद्वान् मांटस्क्यू (Montesquieu) ने भी सरकार के रूपों तथा लोगों की स्वतन्त्रता पर भौतिक वातावरण के प्रभाव का समर्थन किया है। किन्तु बकल (Buckle) इन सब से आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ "हिस्ट्री आफ सिविलाइज़ेशन" में लिखा है कि "मनुष्यों की क्रियाएं, और फलत: समाजों की क्रियाएं मन और बाहरी परिघटन के बीच पारस्परिक अन्तर्क्रिया द्वारा निश्चित होती हैं।" उन्होंने विशिष्ट रूप से इस बात का समर्थन किया है कि व्यक्तियों तथा समाजों की क्रियाएं, भौतिक वातावरण विशेषत: जलवायु, खाद्य, धरती, और "प्रकृति के सामान्य अंगों" द्वारा प्रभावित होती हैं।" यह सत्य सिद्ध है कि राज्य की आधाररेखाओं के निर्माण में उसकी भौगोलिक परिस्थिति का एक महत्वपूर्ण स्थान है। और वह उसकी राष्ट्रीय नीति और राजनीतिक संस्थाओं पर बहुत बड़ा प्रभाव डालती है। किसी राज्य की शक्ति और दुर्बलता भी बहुत सीमा तक उसके भौतिक साधनों पर निर्भर करती है। किन्तु राजनीतिक विज्ञान भूगोल का दास नहीं। इसका एक पृथक् अस्तित्व है, यद्यपि इसके निष्कर्ष और समस्याएं अनेक अंगों का परिणाम है, और भूगोल उनमें से एक है।

राजनीतिक शास्त्र और प्राणी शास्त्र (Political Science and Biology)—हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) राज्य की प्राणीशास्त्र-विषयक धारणा के सबसे महत्वपूर्ण समर्थक हैं, यद्यपि यह सिद्धान्त प्लेटो के अनुरूप हो पुरातन है। इसका संक्षिप्त एवं सरल स्पष्टीकरण यह है कि राज्य अपनी सारी अनिवार्यताओं की दृष्टि से एक जीवधारी के सदृश है। यह विकास की उपज है और जन्म, वृद्धि तथा विनाश के नियमों के अधीन है। जिस प्रकार जीवधारी के अंगों की पारस्परिक निर्भरता

होती है, ठीक उसी प्रकार राज्य के बनाने वाले व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता होती है। स्पेंसर ने जीवधारी के तीन अंशों की तरह—अवलंबीय (Sustaining), वितरक और नियामक प्रणालियां—राज्य में भी तीन प्रणालियों का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास किया है।

राजनीतिक विज्ञान और प्राणी शास्त्र के बीच संबंध के विषय में दो मत हैं। कुछ लेखकों का कथन है कि राज्य एक जीवधारी है और दूसरों के मत में राज्य जीवधारी के समान है। इस बात से कोई भले ही इंकार करे कि राज्य एक जीव-धारी है, किन्तु यह मानना होगा कि राज्य अपनी एकता (unity) में जीवधारी के समान है। जीव-धारी के रूप में, राज्य का सामूहिक जीवन होता है। जो भी हो, यह समानता इस सीमा से पार नहीं जानी चाहिए, ताकि लार्ड एक्टन के शब्दों में हमें कहीं उस दुःख की दलदल में न फंसना पड़े, जिसमें ये तुल्यता, रूपक और सादृश्यताएं सामान्यतः ले जाती हैं।

अध्याय : : २

राज्य

(The State)[१]

राज्य का अर्थ (Meaning of the State)—राजनीतिक विज्ञान में "राज्य" शब्द का वैज्ञानिक अर्थ होता है। जिस अस्थिरता और अनिश्चय के साथ एक सामान्य आदमी उसका प्रयोग करता है, वैसा हम नहीं करते। वह बहुधा, किन्तु अशुद्ध रूप में, 'राष्ट्र', 'समाज', 'सरकार' आदि के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु इन सब शब्दों के राजनीतिक विज्ञान में अपने निजी निश्चित अर्थ होते हैं। राज्य शब्द, समाज की सामूहिक क्रिया को व्यक्त करने के लिए, सरकार के संगठन द्वारा, व्यक्तिगत क्रिया से भिन्न रूप में सामान्यतया प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, जब कभी हम "राज्य प्रबन्ध," "राज्य नियम", "राज्य सहायता" आदि की चर्चा करते हैं, तो हम वस्तुतः सरकार के लिए राज्य शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार, जब हम भारतीय राष्ट्र संघ की इकाइयों की चर्चा करते हैं—पंजाब या दिल्ली राज्य अथवा उत्तर प्रदेश, हैदराबाद या काश्मीर—अथवा उन ४८ राज्यों की, जिनसे यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका बना है, तो हम इस शब्द के वैज्ञानिक अर्थ को ग्रहण नहीं करते। वास्तविक दृष्टि से इनमें से कोई भी राज्य (State) नहीं।

वैज्ञानिक अर्थ में राज्य शब्द मानवों के उस समूह का संकेत करता है, जिसने ऐसी संगठित सरकार के अधीन एक निश्चित प्रदेश पर अधिकार किया हो, जिस पर कोई बाहरी नियंत्रण न हो। हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और उसे अपने ही समान अन्यों के साथ रहना होगा। साथ ही, यह मानव स्वभाव है कि वह निश्चित और संगठित जीवन बिताए, जिससे कि अन्यों के साथ रहते हुए हर कोई अपने जीवन का उत्तम उपयोग कर सके। जब मानव व्यवस्थित जीवन व्यतीत करता है और उसका एक निश्चित प्रदेश पर निवास होता है, और अपने को उन नियमों की अधीनता में रखता है, जो उसके व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तो वह राज्य का निर्माण करता है। राज्य इस प्रकार एक प्रादेशिक समाज है जो प्रशासन और शासित में विभाजित है। इस प्रकार सरकार राज्य के अंतर्गत ही मानवों का एक समूह है जो राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति करते हैं।

किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रत्येक आदमी समाज में रहते हुए अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता है। वह साधारणतः दूसरों के साथ सुख-दुःख का भागीदार होते हुए भी अपने व्यक्तित्व को खोना नहीं चाहता। वह समाज की पूर्ण इकाई के रूप में रहना चाहता है। इसी तर्क का अवलंबन लेते हुए प्रत्येक समाज, जो अपने को एक विशिष्ट प्रदेश में संगठित करता है, अपने व्यक्तित्व को उसी रूप में संगठित हुई अन्य समाजों से भिन्न रखेगा। उनके पारस्परिक समागम हो सकते हैं, किंतु यह समागम अधीनता का होने की अपेक्षा समानता का होना चाहिए। प्रत्येक स्वतः इकाई है और

जब हम राजनीतिक दृष्टि से संगठित समाज की इकाई को स्वीकार कर लेते हैं, तब हम कहते हैं कि प्रत्येक इकाई अन्यों के नियंत्रण से मुक्त है, अथवा यह स्वतंत्र सत्ताधारी (Sovereign) है। राजसत्ता राज्य का सर्वाधिक आवश्यक और विभेदक स्वरूप है, उसके विना राज्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जायगा कि राज्य एक स्वाभाविक एवं आवश्यक संस्था है। यह स्वाभाविक इस कारण है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम है। यह एक आवश्यक संस्था है, क्योंकि मनुष्य विना राज्य में रहे अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया विकास नहीं कर सकता। मानव को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की संतुष्टि एवं विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु समय की आवश्यकता है। अरिस्टोटिल के अनुसार "जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं में राज्य का जन्म होता है और अच्छे जीवन के लिए उसका अस्तित्व वना रहता है।" हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानव-शरीर के लिए खाद्य का जो महत्व है, वही मनुष्य के लिए राज्य का है। दोनों ही उसके अस्तित्व एवं विकास के लिए अपरिहार्य हैं। राज्य एक सार्वभौम संस्था है। जहां भी कहीं मनुष्य संगठित समाज में रहा है, वहीं इसका अस्तित्व रहा है, भले ही उसका रूप कितना ही सरल एवं प्रारंभिक रहा हो। राज्य के संगठन का विषय महान् परिवर्तनों का है, समय और लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार निःसंदेह, इसमें भिन्नताएं और समन्वय होते रहे हैं। परिवर्तन की यह सामान्य विधि सरलता से जटिलता और समानता से असमानता की दिशा में रही है। किन्तु इसके विकास के सभी स्तरों में कुछ सामान्य अंश हैं, और वे राज्य के स्वत्व का निर्माण करते हैं।

राज्य की परिभाषा (Definition of the State)—कोई भी दो लेखक राज्य की परिभाषा पर एक मत नहीं हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि राज्य की इतनी परिभाषाएं हैं जितनी कि राजनीतिक विज्ञान पर पुस्तकें लिखी गई हैं। प्रत्येक लेखक ने अपने निजी दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की है। निम्न परिभाषाओं के परीक्षण से यह अन्तर वहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा।

अरिस्टोटल की परिभाषा के अनुसार राज्य "परिवारों और ग्रामों का वह संघ है, जिसका लक्ष्य पूर्ण एवं आत्म-निर्भरता का जीवन है अर्थात् सुखद एवं सम्मानित जीवन"। हालैण्ड (Holland) राज्य की इस रूप में व्याख्या करते हैं, "साधारणतया एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले मनुष्यों के उस संगठन को राज्य कहते हैं जहां वहुमत या मनुष्यों के एक वर्ग-विशेष की इच्छा अपने विरोधियों पर वहुमत या वर्ग की शक्ति के द्वारा शासन-सूत्र का संचालन करती है।" हाल मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय नियम की धारणा के रूप में राज्य को देखते हुए कहते हैं "स्वतंत्र राज्य के चिन्ह ये हैं कि इसे निर्मित करने वाला समाज राजनीतिक लक्ष्य के लिए स्थायी रूप से स्थापित किया गया है, उसके अधिकार में एक निश्चित प्रदेश है, और वह वाहरी नियंत्रण से सर्वथा स्वतंत्र है।" वर्गेस इसे "एक संगठित इकाई के रूप में देखा जाने वाला मानव समूह का एक विशिष्ट भाग" परिभापित करते हैं। ब्लूंश्चली भी ऐसी ही परिभाषा करते हुए कहते हैं, "एक निश्चित प्रदेश के राजनीतिक दृष्टि से संगठित लोग राज्य हैं।" वस्तुतः, वुडरो विल्सन हमें सही

परिभाषा देते हैं। वे कहते हैं कि राज्य "एक निश्चित प्रदेश के अन्तर्गत विधान के लिए संगठित लोगों" का रूप है।[5]

हमारे निजी समय में राज्य की परिभाषा में एक निश्चित परिवर्तन हुआ है। मैकाइवर (Maciver) के शब्दों में "शक्तिशाली सरकार के द्वारा घोषित नियमों के अनुसार कार्य करते हुए उन सब को राज्य कहते हैं जो एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले समुदाय के अंदर सामाजिक व्यवस्था की सम्पूर्ण बाह्य अवस्थाओं को स्थिर रखता है।"[6] प्रो० हैरोल्ड जे० लास्की राज्य की परिभाषा इस तरह करते हैं, "एक प्रादेशिक समाज, जो सरकार और प्रजा में विभाजित है, और जो अपने नियत भौगोलिक क्षेत्र में, अन्य सब व्यवस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता रखती है।" डा० गार्नर एक लंबी किन्तु बहुत सुलझी हुई परिभाषा देते हैं। उनकी राय में, "राज्य राजनीतिक और सार्वजनिक कानून की धारणा (मान्यता) के रूप में, अधिक या कम संख्या के व्यक्तियों का एक समाज है, जिसने स्थायी रूप से प्रदेश के एक निश्चित भाग पर अधिकार किया हुआ है, जो बाहरी नियंत्रण से स्वतन्त्र अथवा लगभग वैसा है, और जिसमें ऐसी संगठित सरकार अविकृत है, जिसके प्रति निवासियों की बहुसंख्या स्वाभाविक आज्ञाकारिता प्रकट करती है।" जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) कहते हैं, राज्य "सदस्यों का वह सम्पूर्ण समाज है, जिसे संगठित सामाजिक एकता के रूप में माना जाता है।"[9]

राज्य के मूल-तत्त्व (Elements of the State)

ये सब परिभाषाएं एक-दूसरे से बहुत ही भिन्न हैं और उस दृष्टिकोण से प्रभावित हैं कि जिससे राज्य का विचार उत्पन्न होता है। किन्तु राज्य के मूलतत्त्वों की अपेक्षा, राज्य क्या है, इसमें अधिक अंतर है। इस विषय में सब एकमत हैं कि प्रत्येक राज्य में निम्न मूलतत्त्व होने चाहिएं :—

१. जनसंख्या।
२. प्रदेश।
३. राजनीतिक संगठन या सरकार।
४. राजसत्ता।

१. जनसंख्या (Population)—राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुष्य का मिल कर रहने का स्वभाव है और इसके आविर्भाव का कारण मानव-जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं हैं। तदनुसार, यह मानवी व्यवस्था है, जो मनुष्य के अच्छे जीवन के लिए विद्यमान बनी रहती है। इसलिए, हम जनसंख्या के बिना राज्य का निर्धारण नहीं कर सकते। किन्तु जनसंख्या पर्याप्त संख्या में होनी चाहिए। एक अकेले परिवार के सदस्यों से राज्य नहीं बनता। वहां तो परिवारों का एक लंबा क्रम होना चाहिए। राज्य-निर्माण करनेवाले लोगों की संख्या पर कोई पाबंदी नहीं लगाई जा सकती। अन्य बातें समान रहते हुए, जनसंख्या राज्य के रूप में कोई भेद उत्पन्न नहीं करती, यद्यपि राज्य की जनसंख्या का क्या आकार होना चाहिए, तद्विषयक मत समय-समय पर भिन्न-भिन्न रहा है।

प्लेटो और अरिस्टोटल राज्य की जनसंख्या पर निश्चित मर्यादाएं लगाते हैं। उनका आदर्श एथेन्स और स्पार्टा जैसे ग्रीक-राज्य थे। प्लेटो ने ५०४० नागरिकों की

संख्या नियत की है। अरिस्टोटल का कहना है कि न तो १० हजार और न ही एक लाख से अच्छा राज्य बन सकता है। ये दोनों ही संख्याएँ प्रारम्भिक एवं अंतिम रूप में हैं, अतएव ठीक नहीं हैं। उन्होंने सामान्य सिद्धान्त बनाया कि संख्या न तो बहुत बड़ी होनी चाहिए और न ही बहुत छोटी। यह आत्मनिर्भरता के लिए पर्याप्त बड़ी होनी चाहिए और इतनी छोटी होनी चाहिए कि भली प्रकार शासित हो सके। रूसो (Rousseau) ने, जो प्रत्यक्ष लोकतंत्र का बड़ा उपदेष्टा है, एक राज्य के लिए आदर्श संख्या दस हजार निश्चित की है।

आधुनिक प्रवृत्ति ऐसे राज्यों के पक्ष में है, जिनमें बहुत बड़ी जन-संख्या हो। इस बात का समर्थन किया जाता है कि राज्य की जनशक्ति का विस्तार होना चाहिए, क्योंकि किसी देश की जन-संख्या युद्ध एवं शक्ति का साधन समझी जाती है। हिटलर और मुसोलिनी की सरकारों ने एक निश्चित अल्पतम संख्या के ऊपर बच्चे पैदा करने वाले दम्पति को सरकारी सहायताएं दी थीं। निःसंतान और अविवाहित व्यक्तियों पर टैक्स लगाए गए थे। रूस ने भी अपनी जन-संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया है। स्टालिन का विधान वृहद् परिवारों की माताओं तथा अविवाहित माताओं को राज्य सहायता का वचन देता है। जो मातायें दस या उससे अधिक बच्चों को जन्म देती हैं, उन्हें वीर-माता (Heroine Mother) की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया जाता है।[1] भारत में देश की निरंतर बढ़ने वाली जन-संख्या पर रोक लगाने की समस्या है, क्योंकि यहां की जन-संख्या तथा उसकी जीविका के साधनों में असाम्य है।

किन्तु जनसंख्या का आकार राज्य का सिद्धान्त नहीं। मोनाको (Monaca) और रूस राज्य के रूप में समान हैं। यद्यपि उनकी जनसंख्या में बहुत बड़ी असमानता है। इस प्रकार, जनसंख्या में वृद्धि या क्षय उसके राजत्व में कोई अंतर नहीं उत्पन्न करते। सैद्धांतिक अथवा प्रयोगात्मक, कोई भी अनुबंध राज्य की जनसंख्या पर नहीं लगाया जा सकता। इतने पर भी, राज्य के संगठन को स्थिर रखने के लिए जनसंख्या पर्याप्त होनी चाहिए, और यह न तो प्रदेशीय क्षेत्र से बड़ी होनी चाहिए और न ही राज्य की पालन की क्षमता के साधनों से अधिक।

२. प्रदेश (Territory)—एक समूह तबतक राज्य का निर्माण नहीं करता, जब तक वह एक निश्चित प्रदेश पर निवास नहीं करता। बेघर-बार कबीले (Nomadic tribes), जो एक जगह से दूसरी जगह मारे-मारे फिरते हैं, राज्य का निर्माण नहीं करते। राज्य के लिए प्रदेश एक अपरिहार्य तत्त्व है, क्योंकि एक ही भूमि पर निवास करना लोगों को सामान्य स्वार्थ के आधार पर एकता के सूत्र में बांधता है और वह बंधुत्व की भावनाओं के लिए शक्तिमय प्रेरणा है। यहूदियों ने उस समय तक राज्य का निर्माण नहीं किया था, जब तक कि वे निश्चित रूप से पैलस्टाइन में बस नहीं गए थे।

वर्तमान में, समस्त विश्व में कुछ राज्य हैं, किन्तु क्षेत्रफल सबके विभिन्न हैं। यूनाइटिड स्टेट्स ऑफ अमेरिका तथा रूसी राष्ट्र संघ के मुकाबिले में, जो ३,७३५,२२३

1. Article, 122.

तथा ८,३४८,३८९ वर्गमील क्रमश के हैं, सान मेरिनो (San Marino) का क्षेत्रफल केवल ३८ वर्गमील है।

इस प्रकार जनसंख्या की भांति ही राज्य के प्रदेश के विषय में भी कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। यद्यपि छोटे और बड़े राज्यों की उपयोगिता के बारे में मत-भेद हैं तथापि वृहद् राज्यों के साथ छोटे राज्य विद्यमान हैं। प्लेटो ने सु-निर्मित मनुष्य के डील-डौल तथा मानान्य राज्य के आकार के बीच निकट समानता बतलाई है। अरिस्टोटल भी मध्यम-आकार के राज्यों के पक्षपाती थे। रूसो (Rousseau) ने प्लेटो की समानता में से संकेत लिया और उसने सुशासित राज्य के आकार की निश्चित सीमाएं स्थापित कीं। उनका पक्ष था कि सामान्य रूप में "वृहद् राज्य की अपेक्षा छोटा राज्य आनुपातिक रूप में बलवान होता है।" माटेस्क्यू (Montesquieu) ने जब यह कहा था कि राज्य के आकार तथा उसमें अपनाई गई सरकार के बीच अनिवार्य संबंध है, तो रूसो उनके पूर्वगामी थे।

छोटे राज्यों की उपयोगिता (Utility of Small States)—यह कहा जाता है कि लोकतंत्र के लिए छोटे राज्य सर्वाधिक उपयुक्त हैं। छोटे राज्य में जनसंख्या सीमित होती है और लोगों को संगठित होने तथा अपने मत प्रकाशन का उत्तम अवसर होता है। छोटे राज्य की अवस्था में, अधिक सतर्कता बरती जा सकती है, जो लोकतंत्र का वास्तविक मूल्य है।

डि टाकेविले (De Tocqueville) ने कहा था, "विश्व-इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि एक बड़े राष्ट्र ने चिरकाल तक जनतंत्री सरकार के रूप को स्थिर रखा हो। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि महान् जनतंत्र की सत्ता छोटों की अपेक्षा सदा ही कहीं अधिक महान् आपत्तियों में ग्रस्त होगी..... सभी भावावेश, जो जनतंत्री संस्थाओं के लिए सर्वाधिक घातक हैं, प्रदेश की वृद्धि के साथ फैलते हैं, जब कि उनके सम्मान की रक्षा करने वाले गुण उसी अनुपात से विस्तृत नहीं होते।"[1] प्रत्यक्ष लोकतंत्र भी, जिसके लिए रूसो को इतना आकर्षण था, केवल छोटे राज्यों में ही फल-फूल सकता है और स्विट्ज़रलैंड को इसका जीवित उदाहरण दिया जाता है। इससे भी आगे कहा जाता है कि छोटे राज्य में अधिक एकता एवं देशभक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह लोगों का एक संगठित वर्ग होता है, जो सहयोगपूर्ण जीवन बिताते हैं। प्रत्येक सब के लिए और सब प्रत्येक के लिए होते हैं; और अपनी शक्तियों को सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिए सामूहिक रूप में केन्द्रीभूत करते हैं।

छोटे राज्यों की त्रुटियां (Defects of Small States)—किन्तु हर फूल के साथ कांटे भी होते हैं। छोटे राज्य अपेक्षाकृत कम सुरक्षित होते हैं। वह सहज ही बड़े राज्यों के शिकार हो जाते हैं, जो अक्सर आक्रांता होते हैं। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछलियों को हड़प जाती है, उसी प्रकार बड़े राज्य छोटों को हड़प जाते हैं। हिटलर ने थोड़े ही काल में पोलैंड तथा मध्यवर्ती योरोप के देशों को पद-दलित कर दिया था। जापान ने भी सुदूरपूर्व में यही कुछ किया था। इसलिए, वर्तमान मत, असंदिग्ध रूप में

1. Democracy in America (translated by Reeves), Vol. I, p. 170.

वृहत्तर राज्यों के पक्ष में है। जर्मन दार्शनिक, ट्रिट्श्के (Trietschke) ने अपने ग्रंथ "पालिटिक" (Politik) में, जो प्रथम विश्वयुद्ध से कुछ ही काल पहले प्रकाशित हुआ था, घोषणा की थी कि "राज्य शक्ति है" और राज्य के लिए लघु आकार का होना पाप है। उन्होंने कहा था कि छोटे राज्य का विचार तक "उसकी दुर्बलता के कारण हास्यास्पद है, जो स्वतः निंदनीय है, क्योंकि यह शक्ति का ढोंग करती है।"[1] और आगे कहा गया है कि वृहद् राज्य आर्थिक दृष्टि से उच्च हैं, क्योंकि उसके पास अधिक वृहद् साधन होते हैं। प्रत्येक राज्य के लिए आर्थिक आत्म-निर्भरता की आधुनिक प्रवृत्ति है। आर्थिक आत्मनिर्भरता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि राज्य के प्रदेश का विस्तार इतना हो कि उसमें विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक साधन प्रचुरता से हों। इसके अतिरिक्त इस प्रतिद्वन्द्वी विश्व में छोटे राज्यों की एक बड़ी संख्या को अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए भय कहा जाता है। ट्रिट्श्के (Trietschke) के कथनानुसार वृहद् राज्य आध्यात्मिक संस्कृति के विकास में वृद्धि करने के लिए छोटे राज्यों की अपेक्षा अधिक अनुकूल है।"

राष्ट्र के उपलब्ध साधन, उसके सदस्यों की स्वभावगत योग्यता, एवं प्राप्य कुशलता उसकी सांस्कृतिक प्रगति में सहायक होते हैं और परिणामतः सभ्यता की भी वृद्धि होती है। यह एक छोटे राज्य में सम्भव नहीं है। लार्ड एक्टन छोटे राज्यों के दोषों का सार रूप में वर्णन करते हुए कहते हैं कि छोटे राज्यों की प्रवृत्ति एकाकी और अपने "अधिवासियों को जुदा रखने तथा उनके दृष्टिबिन्दुओं को संकुचित करने; और उनके विचारों को अनुपाततः कुछ सीमा तक छोटा करने की होती है। जन मत अपनी स्वाधीनता और पवित्रता को इस प्रकार की छोटी सीमाओं में सुरक्षित नहीं रख सकता, और वृहद् समाजों की दिशा से आने वाले प्रवाह उस संकुचित क्षेत्र को बहा ले जाते हैं।......."ये राज्य मध्यकालीन युगों के लघुतर समाजों की भांति वृहद् राज्यों में स्व-शासन की सुरक्षाओं तथा विभाजनों के निर्माण द्वारा एक उद्देश्य पूर्ण करते हैं; किन्तु वह उस समाज की प्रगति के लिए बाधा होते हैं कि जो उन्हीं सरकारों के अधीन जातियों के मिश्रण पर निर्भर करता है।[2]"

जब इन दो अन्तिम किनारों के बीच हमारा मत प्रवाहित होता है, तो राज्य के प्रदेश की सीमा के बारे में जो कुछ कहा जा सकता है, वह यह है कि उसकी जन-संख्या और प्रदेश के बीच कोई अनुपात अवश्य होना चाहिए। यदि दोनों के बीच कोई प्रत्यक्ष असमानता है, तो राज्य को राजनीतिक और आर्थिक अयोग्यताओं से पीड़ित होना होगा, जो उसकी प्रगति को अवरुद्ध कर सकती हैं।

३. सरकार (Government)—एक निश्चित क्षेत्र में स्थायी रूप से बसे हुए लोग एक राज्य का निर्माण नहीं करते। सामाजिक इकाई के रूप में, उनके जीवन का उद्देश्य राजनीतिक संगठन की मांग करता है। सरकार राज्य का संगठन है और यही वह संस्था है, जिसके द्वारा राज्य अपनी सामूहिक इच्छा का निर्माण, प्रकाशन और प्रयोग करता है। वस्तुतः सरकार एक निश्चित प्रदेश में आवासित लोगों

---

1. Garner,..........op. citd., 97.
2. History of Freedom and other Essays, p. 295.

के मान्य उद्देश्य की दृष्टि-बिन्दु है, क्योंकि यही वह माध्यम है जिसके द्वारा सामा नीतियां, निश्चित होती हैं, समान मामलों को नियमित किया जाता है और समान हि को उन्नत किया जाता है। सरकार के अभाव में सामूहिक सक्रिय साधनों के बिना समस्त जन-संख्या का रूप केवल कानूनी भर होगा। इसलिए, सरकार राज्य का अत्यावश्यक मूलतत्व है, यद्यपि सरकार का कोई ऐसा एक रूप नहीं, जो सब राज्यों के लिए समान हो।

४. राजसत्ता (Sovereignty)— राज्य की राजसत्ता सर्वाधिक आवश्यक और विभेदक रूप है। एक प्रदेश के निश्चित भाग में रहने वाले तथा सरकार सम्पन्न लोग अनिवार्यतः राज्य का निर्माण नहीं करते। वे सत्तावान भी होंगे। राज्य की राजसत्ता से हमारा तात्पर्य यह है कि यह आतरिक रूप में उच्चतम और बाहरी नियंत्रण से मुक्त होनी चाहिए। आतरिक राजसत्ता (प्रभुता) एक व्यक्ति, समूह या दल में निहित हो सकती है, जिसे राज्य के प्रदेश की सीमाओं के अन्तर्गत सब नागरिकों तथा समुदायों पर उच्चतम (Supreme) तथा असीमित कानूनी अधिकार होता है। उच्चतम शक्ति के पास सब व्यक्तियों और समुदायों के लिए कानून बनाने तथा लागू करने के साधन होते हैं और उनकी अवज्ञा के लिए दंड का विधान होता है। बाहरी प्रभुत्व से हमारा तात्पर्य यह है कि राज्य पर किसी प्रकार का बाहरी नियंत्रण नहीं। यदि इस पर किसी अन्य अधिकारी का नियंत्रण है, जिसकी प्रवृत्ति, प्रत्यक्षतः उसकी या अप्रत्यक्षतः, शक्तियों को मर्यादित करने की है, तो वह राज्य नहीं है। राजसत्ता (प्रभुता) के विषय पर विस्तारपूर्वक आगे के अध्याय में विचार किया जायगा।[1]

निष्कर्ष (Conclusion)— फलतः, प्रत्येक राज्य में, उसकी जन-संख्या, एक निश्चित-प्रदेश, नियमतः स्थापित सरकार तथा राजसत्ता होनी चाहिए। इनमें से किसी एक मूलतत्व के अभाव में उसे राज्यत्व का दर्जा प्राप्त नहीं हो सकता। तदनुसार, काश्मीर, हैदराबाद, या भारतीय गण राज्य (Indian Republic) की अन्य इकाइयों अथवा उन ४८ राज्यों के लिए कि जिनसे यूनाइटिड स्टेट्स ऑफ अमेरिका बना है, सामान्य "राज्य" शब्द का जो प्रयोग किया जाता है, वह गलत है, क्योंकि उनमें से कोई राजसत्ता-युक्त नहीं। उनमें राज्य का निर्माण करने वाले पहले तीन तत्व है, किन्तु वास्तविक रूप में उनमें से कोई भी राजसत्ता-युक्त नहीं और राजसत्ता (प्रभुता) राज्य का सार है। और इसका उनमें अभाव है।

राज्य और सरकार (State and Government)

राज्य और सरकार में भिन्नता (Distinction between State and Government) शब्द राज्य और सरकार बहुधा एक-दूसरे के लिए प्रयोग किये जाते हैं मानों कि इन दोनों में कोई अन्तर न हो। इंगलैंड के स्टुअर्ट शासक दोनों में अपनी निरंकुशता को न्याय्य सिद्ध करने के लिये दोनों में कोई भेद नहीं मानते थे। फ्रांस के सम्राट् लुई चौदहवें कहा करते थे "मैं राज्य हूं।" हाब्स जैसे राजनीतिक दार्शनिक भी राज्य और सरकार को एक ही अर्थ में प्रयोग करते थे किन्तु ऐसा नहीं है। सरकार और राज्य

1. Chapter. VI

एक नहीं है। राज्य एक राजनीतिक रूप से संगठित जन-समुदाय है जो एक निश्चित भूभाग में निवास करता है। उसके अस्तित्व का उद्देश्य मानव का उत्तम जीवन है और उसी ध्येय की पूर्ति के लिये निरन्तर उसका अस्तित्व बना रहता है। राज्य का संगठन ही, जो उसका एक आवश्यक अंग है, सरकार है। इसीके द्वारा राज्य की इच्छा का निर्माण, प्रकाशन और कार्यान्विति होती है।

इस प्रकार 'सरकार' 'राज्य' का एक अंग है जो यद्यपि उसके अस्तित्व के लिये आवश्यक है किंतु फिर भी उसे राज्य का पर्यायवाची नहीं कहा जासकता। वह केवल राज्य का कार्यवाहक यंत्र है और उसके दर्जे की तुलना एक(ज्वाइंट स्टाक कम्पनी) संयुक्त व्यावसायिक संस्थान के संचालकमंडल से की जा सकती है। जिस प्रकार संचालक मंडल भागीदारों द्वारा नाम निर्देशित होता है और वह निकाय की ओर से कार्य करता है उसी प्रकार राज्य के अन्तर्गत सरकार है।

इसलिए, सरकार राज्य की संपूर्ण जनसंख्या का एक छोटासा-अंश है और उसे वह उद्देश्य पूर्ण करने का काम सौंपा गया है जिसके लिए राज्य का अस्तित्व होता है। राज्य एक सारभूत सत्ता है जब कि सरकार एक सुदृढ़ वास्तविकता का रूप है। तात्पर्य यह कि यह राज्य का एक यंत्र है। राज्य का यंत्र होने के कारण इस की शक्तियां प्राप्त की जाती हैं और मौलिक नहीं होतीं। मौलिक शक्तियां केवल राज्य द्वारा क्रियान्वित होती हैं जो स्वयं सत्तावान (Sovereign) है। सरकार सत्तावान नहीं है। यह सत्ता-शक्ति (Sovereign Power) की प्रतिनिधि है और "उसके पास अधिकार का केवल पट्टा है, जो सत्तावान (राज्य) द्वारा नष्ट किया जा सकता है।" परिणाम-स्वरूप उसे श्रेष्ठ—अपने स्वामी के सम्मुख नतमस्तक होना होगा जो उसकी स्वीकृत शक्तियों को लौटा सकता है।

इसके अतिरिक्त, राज्य का स्वरूप स्थायित्व ओर निरन्तरता का है। सरकारें परिवर्तनशील हैं अथवा नष्ट-प्राय हैं। इंग्लैंड में राजा उस देश की सरकार का एक अंश है, किन्तु अंग्रेजी संविधान (English Constitution) का यह सिद्धांत: सूत्र है: "राजा मर गया राजा चिरजीवी हो।" इसका अर्थ यह है कि जार्ज पंचम की जनवरी १९३६ में मृत्यु हुई और उनकी मृत्यु की घोषणा के साथ ही "एडवर्ड अष्टम चिरजीवी हो" के राज्यारोहण की घोषणा की गई। इस प्रकार, सरकार के यंत्र के एक भाग ने नये को स्थान दे दिया, किन्तु राज्य के अस्तित्व पर किसी प्रकार के प्रभाव के बिना। सरकारें प्रत्येक देश में निरंतर क्रांति के फलस्वरूप अथवा नियमित विधि के द्वारा बदलती रहती हैं, तिस पर भी राज्य बिना क्षीण हुए और बिना प्रभावित हुए जारी रहता है। नवीनतम उदाहरण लीजिये। सम्राट् फारूक के पदत्याग का अर्थ मिश्र के राज्य में कोई परिवर्तन नहीं था वरन् केवल सरकार बदल गई। अब मिश्र एक गणतंत्र हो गया है और सम्राट्शाही का अन्त कर दिया गया है। यह केवल सरकार का परिवर्तन मात्र है, जिससे मिश्र के राज्य के दर्जे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

जो भी हो, इसका आशय यह नहीं कि राज्य अविनाशी है। राजसत्ता राज्य का सार है और जब तक वह राज्य सत्ता के स्वरूप को बनाए रहता है, वह राज्य बना रहता है। राजसत्ता के विलोप से उसका राज्यत्व (Statehood) का स्वरूप

नष्ट हो जाता है। एबिसीनिया के राज्य के अस्तित्व का तब अंत हो गया था, जब कि १९३५ में वह इटली द्वारा विजित था। यह आस्ट्रिया, पोलैंड तथा अन्य केंद्रीय योरोपीय देशों के विषय में भी सत्य है कि जब द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में वह जर्मनी द्वारा जीत लिये गए थे, १९४५ में मित्र-राष्ट्रों को आत्मसमर्पण करने के बाद, जर्मनी, इटली और जापान राज्य नहीं रह गए थे। एक राज्य उस समय भी अपना अस्तित्व नष्ट कर लेता है जब उसकी संपूर्ण जनसंख्या नष्ट होजाती है। लोगों के बिना किसी भी राज्य का अस्तित्व नहीं रहता।

राज्य और समाज

राज्य और समाज में भेद (Distinction between the State and Society):—हमें राज्य और समाज के बीच स्पष्ट भेद कर लेना होगा, क्योंकि राजनीति को सामाजिक के साथ मिलाना महान भ्रम उत्पन्न करने का दोषी होना है, जो समाज या राज्य—दोनों को ही समझ सकने में पूर्णतया अवरोधक है।[1] समाज के साथ राज्य की समता करना मानव-जीवन के सभी अंगों में राज्य के हस्तक्षेप को न्याय्य ठहराना है। अरिस्टोटल का राज्य सर्वांगीण राज्य था, क्योंकि उन्होंने राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं किया। एक अधिनायक (Dictator) भी इसी भेद के प्रति बहुत कम ध्यान देगा। क्योंकि जीवन का कोई भी क्षेत्र नहीं, जो अधिनायक के राज्य के अन्तर्गत न हो। हिटलर और मुसोलिनी के लिए राज्य से ऊपर, उसके पार और उसके पार्श्व में कुछ भी नहीं था।

समाज (Society) मानव-संगठन का सर्वाधिक सामान्य रूप है और "एक जाति के अन्तर्गत संगठित सभाओं तथा संस्थाओं की जटिलता" के रूप में इसकी व्याख्या की जा सकती है। यह मनुष्य की सम्मिलन के लिए प्रवृत्यात्मक इच्छा की उपज है, जो सामान्य हितों के लिए परस्पर संगठित ऐक्य-सूत्र में बद्ध व्यक्तियों में अनुरूपता की चेतना" द्वारा अभिव्यक्त हो सकती है। जो लोग साथ रहते हैं, वह समानतः सोचते हैं, एक दूसरे से मिलते हैं और समान उद्देश्य या योजना के लिए सामान्य चेष्टाएं करते हैं। समाज को बनाने वाली सभा के सदृश राज्य भी है। यद्यपि इसके अपने निजी विशिष्ट रूप हैं। मेकाईवर (MacIver) के शब्दों में राज्य, "समाज के अन्तर्गत विद्यमान होता है, किन्तु समाज का रूप तक नहीं होता।"[२] राज्य से पहले समाज है और उसमें सब जातियां (समूह—Communities) संगठित या असंगठित समाविष्ट होती हैं।[३] संगठन एक समाज का अनिवार्य चरित्र नहीं है। किन्तु राज्य को अनिवार्यतः संगठित होना चाहिए।

1. MacIver, op. citd, p. 5.
2. Ibid.
३. "प्रारंभिक युगों में, शिकारियों, मछली पकड़नेवालों, कन्दमूल खोदनेवालों तथा फल-संग्राहकों के सामाजिक समूह थे, जो राज्य के विषय में प्रायः कुछ भी नहीं जानते थे। आज भी ऐसे सरल लोग हैं, जैसे एस्किमो लोगों के कतिपय समूह, जिनका स्वीकृतियोग्य राजनीतिक संगठन नहीं है।" Ibid

कवायली क्षेत्र (Tribal Area) के पठान, जो अब पाकिस्तान की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हैं, राज्य नहीं हैं, क्योंकि वे राजनीतिक रूप में संगठित नहीं, यद्यपि प्रत्येक कवीला एक स्पष्ट सामाजिक इकाई है।

राज्य निश्चित रूप में एकप्रदेशीय संगठन है। एक समाज एक विशिष्ट प्रदेश तक सीमित नहीं भी हो सकता। यह अपने क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है, इससे भी अधिक एक समाज में मनुष्य का संपूर्ण जीवन और वे सब सामाजिक बंधन समाविष्ट होते हैं, जो मनुष्यों को परस्पर बांधे रहते हैं। जैसे परिवार, जाति, धर्म और क्लब आदि। राज्य का संबंध केवल उन सामाजिक संबंधों से है, जो सरकार द्वारा अपने-आपको व्यक्त करते हैं। इसका अन्यों के ऊपर कोई कानूनी अधिकार नहीं। मेकाईवर (MacIver) ने इस अन्तर को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "परिवार या धर्म या क्लब जैसे समाज के रूप विद्यमान हैं, जिनकी उत्पत्ति या प्रेरणा का स्रोत समाज नहीं है और रीति-रिवाज या प्रतिद्वंद्विता जैसी सामाजिक शक्तियां हैं, जिनकी राज्य रक्षा कर सकता है या सुधार कर सकता है, किन्तु वस्तुतः जिनकी रचना नहीं करता, और मित्रता या ईर्षा जैसे सामाजिक प्रेरक भाव हैं जो ऐसे अत्यन्त, घनिष्ठ और वैयक्तिक संबंध स्थापित करते हैं, जो राज्य के महान यंत्र के द्वारा नियंत्रित नहीं हो सकते।[1]

राज्य सत्तावान है, और वह आज्ञा-सूचक (Imperative) प्रणालियां निर्मित करता है। यदि इन आज्ञाओं या नियमों की कोई अवज्ञा करता है, तो वह दंडित हो सकता है। किन्तु समाज को दमन-शक्ति का अधिकार नहीं। यह सत्य है कि प्रत्येक समाज अपने नियमों के अनुसार कार्य करता है, तिस पर भी ये नियम आदेशात्मक अथवा आज्ञासूचक नहीं। वे केवल आचरण के नियम मात्र हैं, जिनके पालन की समाज के सदस्यों से आशा की जाती है। उसे अपनी आज्ञाओं को विवश करके कराने का अधिकार नहीं है और न ही अवज्ञा करनेवाले सदस्यों को वह शारीरिक दंड दे सकता है। समाज अपने नियमों का पालन कराने के लिए अपने सदस्यों की सद्भावना के प्रति प्रेरणा और आग्रह कर सकता है। वार्कर ने सत्य ही कहा है, "समाज का क्षेत्र स्वतः सहयोग का है, इसकी शक्ति सद्भावना (Goodwill) है, और इसकी विधि लोचपूर्ण (elasticity), है जब कि राज्य का क्षेत्र यांत्रिक-क्रिया है, इसकी शक्ति दमन है और इस की विधि कठोर है।"

यद्यपि राज्य समाज के अनुरूप नहीं है, तब भी राज्य सामाजिक व्यवस्था के ढांचे को प्रदान करता है। लास्की के कथनानुसार राज्य मानव-आचरण को नियमित करने का एक मार्ग है। "इसके चरित्र का कोई भी विश्लेषण आचरण के निर्दिष्ट सिद्धांतों की विधि के रूप में इसे स्पष्ट करता है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन को नियमित करे।"[2] समाज के सब आचरण राज्य के नियमों द्वारा स्वीकृत जीवन-विधि के अनुकूल होने चाहिएं, क्योंकि राज्य अपने नियमों की नियमों के हेतु रक्षा नहीं करता, प्रत्युत इसलिए कि व्यक्तिगत जीवन के साथ उनका संबंध होता है।

1. Ibid.
2. An Introduction to Politics, p. 15.

इस प्रकार, राज्य सामाजिक संगठन के उच्चतम रूप का प्रतिनिधित्व करता है और इसका अस्तित्व सामाजिक संबधों को नियमित एवं जोड़ने का होता है। यह लोगों का परस्पर गठन करता है और उन्हें आचरण के *कतिपय सर्वमान्य नियमों* को पालन करने का आदेश करता है, जिनके बिना हम सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन की आशा नही कर सकते ।

जो भी हो, इस बात पर पुनः जोर दिया जा सकता है "कि राज्य वह आकार है, जो समाज का न तो समवयस्क है और न ही सम-विस्तार वाला है, किन्तु विशिष्ट ध्येय *की प्राप्ति के लिए निश्चित व्यवस्था के रूप में उसके अन्तर्गत निर्मित होता है*।"[1] राज्य का लक्ष्य उन अवस्थाओं को उत्पन्न करना है जिनके बिना मनुष्य की प्रसन्नता प्राप्य नही। राज्य सर्वोत्तम ढग से किस प्रकार इन परिस्थितियों को उत्पन्न कर सकता है। यह इसके अधिकार-क्षेत्र का निर्धारण समाज से इसे स्पष्टत: विभेदित करने के लिये आवश्यक बनाता है। यदि समाज और राज्य को बराबर मान लिया जाये तो वह मानव के समस्त जीवन को समाविष्ट कर लेगा और *व्यक्तियों की प्रसन्नता की गौरव और सम्पन्नता* के नाम पर बलि दे दी जायेगी। समाज की व्यवस्था को बनाने वाले मनुष्यो के समस्त क्रियाकलाप सरकार की दया पर छोड दिये जायेंगे, जिस यत्रके द्वारा राज्य अपनी इच्छाओं को क्रियात्मक रूप देता है। वह अपनी इच्छानुसार चाहे कुछ भी निर्धारित कर सकता है। इसका हस्तक्षेप व्यापक हो सकता है, जिससे व्यक्ति की उस प्रसन्नता की बलि होगी जो राज्य का लक्ष्य है।

राज्य और समुदाय
(State & Association)

राज्य और समुदाय में अन्तर (Distinction between State and Association)—समाज केवल व्यक्तियों का एक यौगिक समूह मात्र नही है, वरन व्यक्ति-समूहों का एक सग्रह है। यह सभी समुदाय मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक और प्रमोदात्मक एवं अन्य बहुत-सी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये बनाता है। यह सभी समुदाय मानव की सम्मिलनात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त करते और उसका विकास करते हैं।

प्रारम्भ में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएँ बहुत कम थी और तदनुसार सामाजिक समुदाय संख्या में सीमित थे। किन्तु आज के जटिल-जीवन मे सामाजिक आवश्यकताएं असीम रूप से बढ़ गई हैं। और आज का समाज वस्तुत ऐसे समुदायों का जाल है। बार्कर का मत है, "हम समाज को सामान्य जीवन बिताने वाले कुछ व्यक्तियों के रूप में उतना नही देखते जितना कि हम उसे व्यक्तियो के उस समुदाय के रूप में देखते हैं जो पहले से ही ऐसे विभिन्न समूहों में सगठित है, जिनमें प्रत्येक का एक अप्रतर एव उच्चतर समुदाय में एक अग्रतर और उच्चतर सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपना एक सामान्य जीवन है।"

1. MacIver op citd., p. 40

कवायली क्षेत्र (Tribal Area) के पठान, जो अव पाकिस्तान की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हैं, राज्य नहीं है, क्योंकि वे राजनीतिक रूप में संगठित नहीं, यद्यपि प्रत्येक कवीला एक स्पष्ट सामाजिक इकाई है।

राज्य निश्चित रूप में एकप्रदेशीय संगठन है। एक समाज एक विशिष्ट प्रदेश तक सीमित नहीं भी हो सकता। यह अपने क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है, इससे भी अधिक एक समाज में मनुष्य का संपूर्ण जीवन और वे सव सामाजिक वंधन समाविष्ट होते हैं, जो मनुष्यों को परस्पर वांधे रहते हैं। जैसे परिवार, जाति, धर्म और क्लव आदि। राज्य का संवंध केवल उन सामाजिक संवंधों से है, जो सरकार द्वारा अपने-आपको व्यक्त करते हैं। इसका अन्यों के ऊपर कोई कानूनी अधिकार नहीं। मेकाईवर (MacIver) ने इस अन्तर को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "परिवार या धर्म या क्लव जैसे समाज के रूप विद्यमान हैं, जिनकी उत्पत्ति या प्रेरणा का स्रोत समाज नहीं है और रीति-रिवाज या प्रतिद्वंद्विता जैसी सामाजिक शक्तियां हैं, जिनकी राज्य रक्षा कर सकता है या सुधार कर सकता है, किन्तु वस्तुतः जिनकी रचना नहीं करता, और मित्रता या ईर्षा जैसे सामाजिक प्रेरक भाव हैं जो ऐसे अत्यन्त, घनिष्ठ और वैयक्तिक संवंध स्थापित करते हैं, जो राज्य के महान यंत्र के द्वारा नियंत्रित नहीं हो सकते।[1]

राज्य सत्तावान है, और वह आज्ञा-सूचक (Imperative) प्रणालियां निर्मित करता है। यदि इन आज्ञाओं या नियमों की कोई अवज्ञा करता है, तो वह दंडित हो सकता है। किन्तु समाज को दमन-शक्ति का अधिकार नहीं। यह सत्य है कि प्रत्येक समाज अपने नियमों के अनुसार कार्य करता है, तिस पर भी ये नियम आदेशात्मक अथवा आज्ञासूचक नहीं। वे केवल आचरण के नियम मात्र हैं, जिनके पालन की समाज के सदस्यों से आशा की जाती है। उसे अपनी आज्ञाओं को विवश करके पालन कराने का अधिकार नहीं है और न ही अवज्ञा करनेवाले सदस्यों को वह शारीरिक दंड दे सकता है। समाज अपने नियमों का पालन कराने के लिए अपने सदस्यों की सद्भावना के प्रति प्रेरणा और आग्रह कर सकता है। वार्कर ने सत्य ही कहा है, "समाज का क्षेत्र स्वतः सहयोग का है, इसकी शक्ति सद्भावना (Goodwill) है, और इसकी विधि लोचपूर्ण (elasticity), है जव कि राज्य का क्षेत्र यांत्रिक-क्रिया है, इसकी शक्ति दमन है और इस की विधि कठोर है।"

यद्यपि राज्य समाज के अनुरूप नहीं है, तव भी राज्य सामाजिक व्यवस्था के ढांचे को प्रदान करता है। लास्की के कथनानुसार राज्य मानव-आचरण को नियमित करने का एक मार्ग है। "इसके चरित्र का कोई भी विश्लेपण आचरण के निर्दिष्ट सिद्धांतों की विधि के रूप में इसे स्पष्ट करता है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन को नियमित करे।"[2] समाज के सव आचरण राज्य के नियमों द्वारा स्वीकृत जीवन-विधि के अनुकूल होने चाहिएं, क्योंकि राज्य अपने नियमों की नियमों के हेतु रक्षा नहीं करता, प्रत्युत इसलिए कि व्यक्तिगत जीवन के साथ उनका संवंध होता है।

1. Ibid.
2. An Introduction to Politics, p. 15.

र, राज्य सामाजिक संगठन के उच्चतम रूप का प्रतिनिधित्व करता है और
स्तित्व सामाजिक संबंधों को नियमित एवं जोड़ने का होता है। यह लोगों
पर गठन करता है और उन्हें आचरण के कतिपय सर्वमान्य नियमों को पालन
का आदेश करता है, जिनके बिना हम सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन की आशा
र सकते ।

जो भी हो, इस बात पर पुनः जोर दिया जा सकता है "कि राज्य वह आकार है
समाज का न तो समवयस्क है और न ही सम-विस्तार वाला है, किन्तु विशिष्ट ध्येय
प्राप्ति के लिए निश्चित व्यवस्था के रूप में उसके अन्तर्गत निर्मित होता है।"[1] राज्य
लक्ष्य उन अवस्थाओं को उत्पन्न करना है जिनके बिना मनुष्य की प्रसन्नता प्राप्य नहीं।
ज्य सर्वोत्तम ढग में किस प्रकार इन परिस्थितियों को उत्पन्न कर सकता है। यह इसके
धिकार-क्षेत्र का निर्धारण समाज से इसे स्पष्टतः विभेदित करने के लिये आवश्यक
नाता है। यदि समाज और राज्य को बराबर मान लिया जाये तो वह मानव के समस्त
जीवन को समाविष्ट कर लेगा और व्यक्तियों की प्रसन्नता की गौरव और सम्पन्नता
के नाम पर बलि दे दी जायेगी। समाज की व्यवस्था को बनाने वाले मनुष्यों के समस्त
क्रियाकलाप सरकार की दया पर छोड़ दिये जायेंगे, जिस यत्रके द्वारा राज्य अपनी इच्छाओं
को क्रियात्मक रूप देता है। वह अपनी इच्छानुसार चाहे कुछ भी निर्धारित कर सकता है।
इसका हस्तक्षेप व्यापक हो सकता है, जिसमें व्यक्ति की उस प्रसन्नता की बलि होगी
जो राज्य का लक्ष्य है।

राज्य और समुदाय

(State & Association)

राज्य और समुदाय में अन्तर (Distinction between State and Association)—समाज केवल व्यक्तियों का एक यौगिक समूह मात्र नहीं है, वरन
व्यक्ति-समूहों का एक सग्रह है। यह सभी समुदाय मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं,
सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक और प्रमोदात्मक एव अन्य बहुत-सी आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिये बनाता है। यह सभी समुदाय मानव की सम्मिलनात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त
करते और उसका विकास करते हैं।

प्रारम्भ में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और तदनुस
सामाजिक समुदाय सख्या में सीमित थे। किन्तु आज के जटिल-जीवन में सामाजि
आवश्यकताएं असीम रूप से बढ़ गई हैं। और आज का समाज वस्तुतः ऐसे समुदायों
जाल है। बार्कर का मत है, "हम समाज को सामान्य जीवन बिताने वाले कुछ व्यक्ति
के रूप में उतना नहीं देखते जितना कि हम उसे व्यक्तियों के उस समुदाय के
रूप में देखते हैं जो पहले से ही ऐसे विभिन्न समूहों में सगठित है, जिनमें प्रत्येक का
अग्रतर एव उच्चतर समुदाय में एक अग्रतर और उच्चतर सामान्य उद्देश्य को
लिये अपना एक सामान्य जीवन है।"

1. MacIver op cit., p. 40

कबायली क्षेत्र (Tribal Area) के पठान, जो अब पाकिस्तान की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हैं, राज्य नहीं है, क्योंकि वे राजनीतिक रूप में संगठित नहीं, यद्यपि प्रत्येक कबीला एक स्पष्ट सामाजिक इकाई है।

राज्य निश्चित रूप में एकप्रदेशीय संगठन है। एक समाज एक विशिष्ट प्रदेश तक सीमित नहीं भी हो सकता। यह अपने क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है, इससे भी अधिक एक समाज में मनुष्य का संपूर्ण जीवन और वे सब सामाजिक बंधन समाविष्ट होते हैं, जो मनुष्यों को परस्पर बांधे रहते हैं। जैसे परिवार, जाति, धर्म और क्लब आदि। राज्य का संबंध केवल उन सामाजिक संबंधों से है, जो सरकार द्वारा अपने-आपको व्यक्त करते हैं। इसका अन्यों के ऊपर कोई कानूनी अधिकार नहीं। मेकाईवर (MacIver) ने इस अन्तर को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "परिवार या धर्म या क्लब जैसे समाज के रूप विद्यमान हैं, जिनकी उत्पत्ति या प्रेरणा का स्रोत समाज नहीं है और रीति-रिवाज या प्रतिद्वंद्विता जैसी सामाजिक शक्तियां हैं, जिनकी राज्य रक्षा कर सकता है या सुधार कर सकता है, किन्तु वस्तुतः जिनकी रचना नहीं करता, और मित्रता या ईर्षा जैसे सामाजिक प्रेरक भाव हैं जो ऐसे अत्यन्त, घनिष्ठ और वैयक्तिक संबंध स्थापित करते हैं, जो राज्य के महान यंत्र के द्वारा नियंत्रित नहीं हो सकते।[1]

राज्य सत्तावान है, और वह आज्ञा-सूचक (Imperative) प्रणालियां निर्मित करता है। यदि इन आज्ञाओं या नियमों की कोई अवज्ञा करता है, तो वह दंडित हो सकता है। किन्तु समाज को दमन-शक्ति का अधिकार नहीं। यह सत्य है कि प्रत्येक समाज अपने नियमों के अनुसार कार्य करता है, तिस पर भी ये नियम आदेशात्मक अथवा आज्ञासूचक नहीं। वे केवल आचरण के नियम मात्र हैं, जिनके पालन की समाज के सदस्यों से आशा की जाती है। उसे अपनी आज्ञाओं को विवश करके पालन कराने का अधिकार नहीं है और न ही अवज्ञा करनेवाले सदस्यों को वह शारीरिक दंड दे सकता है। समाज अपने नियमों का पालन कराने के लिए अपने सदस्यों की सद्भावना के प्रति प्रेरणा और आग्रह कर सकता है। बार्कर ने सत्य ही कहा है, "समाज का क्षेत्र स्वतः सहयोग का है, इसकी शक्ति सद्भावना (Goodwill) है, और इसकी विधि लोचपूर्ण (elasticity), है जब कि राज्य का क्षेत्र यांत्रिक-क्रिया है, इसकी शक्ति दमन है और इस की विधि कठोर है।"

यद्यपि राज्य समाज के अनुरूप नहीं है, तब भी राज्य सामाजिक व्यवस्था के ढांचे को प्रदान करता है। लास्की के कथनानुसार राज्य मानव-आचरण को नियमित करने का एक मार्ग है। "इसके चरित्र का कोई भी विश्लेषण आचरण के निर्दिष्ट सिद्धांतों की विधि के रूप में इसे स्पष्ट करता है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन को नियमित करे।"[2] समाज के सब आचरण राज्य के नियमों द्वारा स्वीकृत जीवन-विधि के अनुकूल होने चाहिएं, क्योंकि राज्य अपने नियमों की नियमों के हेतु रक्षा नहीं करता, प्रत्युत इसलिए कि व्यक्तिगत जीवन के साथ उनका संबंध होता है।

1. Ibid.
2. An Introduction to Politics, p. 15.

समुदाय की परिभाषा "ऐसे व्यक्तियों अथवा सदस्यों के समूह के रूप में की गई है, जो एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये मतैक्य में संयुक्त और संगठित हैं।"[1] कोल ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है : समुदाय "मनुष्यों का कोई भी वह समूह है जो ऐसी सहकारी क्रियाओं द्वारा, जो एकाकी क्रिया से अधिक हों, किसी समान उद्देश्य, व्यवस्था, अथवा उद्देश्यों के सामूहिक योग की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हो और इस कार्य के लिये किसी साधारण विधि पर सहमत होकर सामान्य क्रियाओं विषयक नियम बनाये, चाहे इन नियमों का स्वरूप कितना ही प्रारम्भिक एवं सूत्ररूप क्यों न हो।"[2]

फलतः समुदाय में ऐसे लोगों का समावेश होता है जिनके एक या अनेक सामान्य उद्देश्य होते हैं, जिनके लिये वे परस्पर सम्मिलित एवं संगठित होते हैं। केवल व्यक्तियों के एक समूह से ही समुदाय नहीं बन जाता। प्रथम तो प्रत्येक समुदाय के, पूर्त्ति हेतु, एक या उससे अधिक निश्चित उद्देश्य होते हैं। द्वितीयतः, वे व्यक्ति, जो उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सम्मिलित हों, संगठित होने चाहियें। बिना संगठन के वह एक समूह या भीड़ मात्र होगी। असंगठित भीड़ की अपनी कार्य करने और उद्देश्य-प्राप्ति की कोई प्रणाली नहीं होती, क्योंकि उनके मध्य कोई सामान्य अनुबंध अथवा ऐक्य नहीं होता।

अब यह विश्वास किया जाता है कि राज्य अन्य भिन्न समुदायों जैसा एक समुदाय है। राज्य और स्वचालित समुदाय दोनों स्वभावतः एवं स्वेच्छा से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की अभिव्यक्ति हैं। अपने-अपने कार्यकलापों के क्षेत्र के अन्तर्गत, मनुष्य की प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए, कार्य करते हुए सब एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। राज्य तथा स्वयंचालित समुदायों के बीच इस निकट गठबंधन के बावजूद, दोनों के बीच मौलिक अन्तर है। इस अन्तर की मुख्य बातें ये हैं।

१. राज्य प्रदेशीय रूप में संगठित समुदाय है औरइसका प्रदेश पूर्णरूप से स्पष्टतया रेखांकित होगा। इसका नियमित अधिकार इस की प्रदेशीय सीमाओं से पार नष्ट हो जाता है। किन्तु स्वयंचालित समुदाय एक निश्चित प्रदेश में सीमित नहीं होते। उनमें से कई के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र भी होते हैं; जो संसार भर में फैले होते हैं और अनेक राज्यों के नागरिक उनके सदस्य होते हैं।

२. राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है। हर किसी को किसी-न-किसी राज्य का सदस्य होना होगा; उसके लिये अन्य कोई विकल्प नहीं है। किन्तु अन्य समुदायों की सदस्यता ऐच्छिक एवं वैकल्पिक है। यह प्रत्येक व्यक्ति को निर्णय करना होता है कि वह इस या उस समुदाय का सदस्य बने या नहीं। हर कोई एक ही समय में एक या अनेक समुदायों का सदस्य बन सकता है। यह उसका निजी विकल्प है। वह किसी भी समुदाय में से, जब कभी वैसा करने की उसकी इच्छा हो, पृथक् होने के लिए स्वतन्त्र है। यह सर्वथा उसी की इच्छा पर निर्भर है।

1. MacIver, op. citd; p. 6
2. Social Theory, p. 37

३. राज्य स्थायी और निरंतर रहने वाला समुदाय है। यह अविनाशी है। सरकारें

तत्काल उन उद्देश्य की प्राप्ति हो जाने पर, जिन के लिए उनका जन्म हुआ था, समाप्त हो जाता है। कुछ समुदाय आन्तरिक मतभेद के कारण लोप हो जाते हैं।

४. प्रत्येक समुदाय विशिष्ट उद्देश्य या उद्देश्यों के लिए बनाया जाता है और उनके कार्यकलाप उन हितों की प्राप्ति तक ही सीमित होते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक स्वचालित समुदाय के कार्यकलाप का क्षेत्र भली भांति परिमापित होता है। दूसरी ओर, राज्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत और उसके कार्यकलाप बहुरूपी होते हैं। इन पर विशिष्ट हितों की अपेक्षा सामान्य का दायित्व होता है। मैकाइवर (MacIver) कहते हैं कि राज्य "अत्यावश्यक रूप में व्यवस्था की रचना करने वाला संगठन है। इसका अस्तित्व व्यवस्था स्थापित करना, निःसंदेह, केवल व्यवस्था के लिए ही नहीं प्रत्युत जीवन की सब संभावनाओं के लिए होता है, जिनके लिये व्यवस्था के उस आधार की आवश्यकता होती है।"

५. राज्य सत्ता है और इसलिए उस के पास अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने की शक्ति होती है। स्वयचालित समुदाय के पास दमन की कानूनी शक्ति का अधिकार नहीं होता। यदि किसी समुदाय के सदस्य उसके नियमों की अवज्ञा करते हैं, तो उन्हें शारीरिक दंड नहीं दिया जा सकता। इसके पास आज्ञाओं को मनवाने तथा क्रिया-न्वित कराने का साधन नहीं। यह दोषियों की नैतिक रूप में निंदा कर सकता है, यद्यपि यह मानना होगा कि कुछ अवस्थाओं में शारीरिक दंड की अपेक्षा नैतिक निंदा अत्यधिक बुरी होती है।

६. राज्य के पास सब स्वयंचालित समुदायों के कार्य-कलापों को नियंत्रित करने की शक्ति होती है। वह किसी समुदाय के अस्तित्व तक पर प्रतिबंध लगा सकता है, यदि यह धारणा हो कि उसने इस प्रकार का कोई कार्य किया है अथवा करने वाला है जिसमें सार्वजनिक शांति एवं सुरक्षा के भंग होने की आशंका हो। वस्तुस्थिति यह है कि कोई भी राज्य, अपनी प्रदेशीय सीमाओं के अन्तर्गत किसी समुदाय को अपराधी अथवा अनैतिक उद्देश्यों के लिए अथवा ऐसे किसी समुदाय को, जिन के उद्देश्य स्व-घोषित रूप में राज्य की सार्वजनिक नीति के विरोधी हैं, निर्मित होने या अस्तित्व में बने रहने की मंजूरी नहीं देगा। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जब सरकार की आज्ञा से समुदायों को कानून-विरुद्ध घोषित किया गया अथवा उन्हें भंग कर दिया गया। भारत सरकार ने अभी हाल ही में, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को कानून विरुद्ध समुदाय ठहराया था और उसके कार्यकलापों पर रोक लगा दी थी, यद्यपि बाद में यह रोक हटा ली गई थी।

७. अन्ततः, राज्य को कई समुदाय बनाने तथा उनके कार्यों को निर्धारित करने का अधिकार है। प्रत्येक देश में राज्य के नियमों द्वारा विश्वविद्यालयों की रचना की जाती है और उनके कार्य स्पष्ट रूप से परिमापित होते हैं।

राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता

(State, Nation and Nationality)

राष्ट्र (Nation)—राजनीतिक विज्ञान में कुछ अन्य शब्द भी हैं, जिन्ह राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता के रूप में उसी अस्पष्टता के साथ प्रयोग में लाया जाता है। कई लेखकों ने राष्ट्रीयता के अर्थ में राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है, जब कि दूसरे राज्य के साथ मिला देते हैं। जिस ढीलेपन से उनका उपयोग किया जाता है, उसके कारण वहुत भ्रांति और भ्रम हो गया है।

नेशन (राष्ट्र) शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द 'नेशियो' (Natio) से हुई है, जिसका अर्थ है "पैदा होना"। यह इसे वंशीय अथवा नृवंशीय अर्थ प्रदान करता है। फलतः, व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक राष्ट्र से अभिप्राय वह लोग हैं, जिनका निकास एक नस्ल से हो। इस अर्थ में प्रयोग किये जाने पर राष्ट्र का अर्थ होता है, ऐसे लोग, जो रक्त-संबंधों द्वारा एक राजनीतिक समाज में परस्पर संवद्ध हों। वर्गेस (Burgess) और ली कॉक (Leacock) वंशीय (racial) भाव में राष्ट्र की परिभापा करते हैं, यद्यपि वर्गेस सामान्य वंश-परम्परा को आवश्यक तत्व नहीं समझते। उनकी दृष्टि में राष्ट्र "भौगोलिक एकता वाले एक प्रदेश में वसी हुई नृ-वंशीय ऐक्यता (ethnic unity) वाली "जनसंख्या" है। नृ-वंशीय ऐक्यता से उनका तात्पर्य उस जनसंख्या से है, जिस की सामान्य भापा और साहित्य, सामान्य परम्परा और इतिहास, सामान्य रीति-रिवाज उचित एवं अनुचित की सामान्य चेतना है।" काल्वो (Calvo) अपनी "अन्तर्राष्ट्रीय नियम" नामक रचना में इस वात पर जोर देते हैं कि राष्ट्र का विचार स्रोत या जन्म, वंश के समुदाय, भापा के समुदाय, आदि के साथ जुड़ा हुआ है। समकालीन राजनीति-वैज्ञानिक लीकाक असंदिग्ध रूप में कहते हैं कि "यद्यपि, 'राष्ट्र' (Nation) शब्द का प्रयोग वहुधा ढीलेपन से किया जाता है, तथापि वंशीय या नृ-वंश संवंधी महत्व के रूप में उस पर उचित ढंग से विचार किया जाना चाहिए।"[1] यह लोगों के एक समूह का निर्देश करता है, जिनकी एकता सामान्य वंश-परम्परा और सामान्य भापा पर आधारित है।

किन्तु वंश और राष्ट्र दो नितांत भिन्न शब्द हैं। हम रक्त की पवित्रता को प्रमाणित नहीं कर सकते और जैसा कि सिजविक कहते हैं, मुख्य आधुनिक राष्ट्रों में से कुछ "प्रत्यक्षतः मिश्रित वंशों के हैं।"[2] आधुनिक काल की देश परिवर्तन (migration) और समागम (intercourse) की अवस्थाओं से परिचित विद्यार्थी को रक्त की शुद्धता का दावा कुछ काल्पनिक-सा जान पड़ता है। एक राज्य की जनसंख्या, जैसे कि यूनाइटिड स्टेट्स आफ अमेरिका की है, कई नस्लों अथवा मिश्रित रक्त की वनी हो सकती है। राष्ट्र की, इस तरह, वंशीय महत्ता कुछ भी नहीं। लोगों के जिस एक समूह से राष्ट्र वनता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वंश, भापा या धर्म की समानता हो। यह चेतना अथवा विचारों की समानता का भाव है। यह सत्य है कि भापा और धर्म

1. op. citd., p. 15
2. Sidgwick: The Elements of Politics, p. 223

लोगों को परस्पर जोड़ने के लिए महत्वपूर्ण अंग है, किन्तु यह स्पष्ट है कि धर्म और भाषा की एकता तथा राष्ट्रीय-भावना की समानता आवश्यक रूप से सबंधित नहीं है। स्विस लोगों का उदाहरण लीजिए। न तो वह एक भाषा बोलते है, न उनका एक धर्म है, तिस पर भी वह एक राष्ट्र में निर्मित है। निःसंदेह, सामान्य धर्म की धारणा शक्तिशाली राष्ट्र बनाने की शक्ति है और राष्ट्रों का विघटन करने के लिए भी शक्तिशाली है; किन्तु सभ्यता के इतिहास में से इस चरण का अब लोप हो गया है, यद्यपि भारत में मुस्लिम लीग ने अपने राष्ट्र-सिद्धांत और फलतः पाकिस्तान की अपनी मांग के लिए धर्म को अपना मुख्य आधार बनाया था।

फलतः, जो बंधन लोगों को एक राष्ट्र बनाने के लिए जोड़ते हैं, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक है। वे चेतनापूर्ण भावनाएं हैं, जो सामान्य इतिहास की स्मृतियों द्वारा जोड़ी जाती है, विशेषकर विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध सामान्य संघर्ष और मिलकर रहने की इच्छा तथा समृद्धि के लिए उनका सामान्य उत्तराधिकार को प्रवाहित करता। ये विचार लोगों को देशभक्ति की भावनाओं वाला समुदाय बनाते है और यही राष्ट्र शब्द का अर्थ है डा. गार्नर के कथनानुसार, "एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का एक सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक (Psychic) जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में एक ही समय चेतन एवं दृढ़निश्चयी है।"[1]

अब अधिकांश लेखक, राष्ट्र शब्द का प्रयोग, राजनीतिक संगठन का विचार प्रकट करने में करते हैं। यह ऐसे लोगों का संकेत करता है, जो सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप में एक दूसरे के अपनत्व से चैतन्य है और एक सरकार के अधीन संगठित हैं। यह कहा जाता है कि राजनीतिक एकता के बिना, राष्ट्र नहीं हो सकता। इसलिए, राष्ट्र को राज्य (state) के समान देखा जाता है। उदाहरण के लिए गिलक्राईस्ट कहते है कि राष्ट्र अर्थ के रूप में राज्य अत्यधिक निकट है। "यह राज्य और उसमें किसी आम चीज का योग है, राज्य को किसी एक खास दृष्टिकोण से देखा जाता है, अर्थात् एक राज्य में संगठित लोगों की एकता की दृष्टि से।"

राज्य और राष्ट्र के बीच अन्तर (Distinction between State & Nation)—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एक राष्ट्र, एक राज्य अथवा राज्यों के निर्माण का सिद्धांत आत्म-निर्णय के अधिकार (*self-determination*) के सिद्धांत पर क्रियात्मक नीति बन गया। तदनुसार, नवीन राष्ट्र राज्य बनाए गए और राष्ट्र (Nation) राज्य (State) शब्दों का समान अर्थ में प्रयोग होना शुरू हो गया। हम बहुधा सुनते और पढ़ते है कि देशों का राष्ट्रों के रूप में वर्णन किया जाता है, जब कि वस्तुतः उनके लिए राज्य शब्द का प्रयोग होना चाहिए। उदाहरण के लिए, अर्जेन्टाइन जनतंत्र के संविधान को "अर्जेन्टाइन नेशन" (अर्जेन्टाइन राष्ट्र) का नाम दिया गया है। इसी प्रकार, यूनाइटिड नेशन्ज आर्गेनाइजेशन (United Nations Organization)—संयुक्त राष्ट्र संघ का नाम भी गलत है, क्योंकि यह राजसत्ता पूर्ण राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। हम राज्य और राष्ट्र को समानार्थक

1. *op. citd., p. 112*

राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता
(State, Nation and Nationality)

राष्ट्र (Nation)—राजनीतिक विज्ञान में कुछ अन्य शब्द भी हैं, जिन्ह राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता के रूप में उसी अस्पष्टता के साथ प्रयोग में लाया जाता है। कई लेखकों ने राष्ट्रीयता के अर्थ में राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है, जब कि दूसरे राज्य के साथ मिला देते हैं। जिस ढीलेपन से उनका उपयोग किया जाता है, उसके कारण बहुत भ्रांति और भ्रम हो गया है।

नेशन (राष्ट्र) शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द 'नेशियो' (Natio) से हुई है, जिसका अर्थ है "पैदा होना"। यह इसे वंशीय अथवा नृवंशीय अर्थ प्रदान करता है। फलतः, व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक राष्ट्र से अभिप्राय वह लोग हैं, जिनका निकास एक नस्ल से हो। इस अर्थ में प्रयोग किये जाने पर राष्ट्र का अर्थ होता है, ऐसे लोग, जो रक्त-संबंधों द्वारा एक राजनीतिक समाज में परस्पर संबद्ध हों। बर्गेस (Burgess) और ली कॉक (Leacock) वंशीय (racial) भाव में राष्ट्र की परिभाषा करते हैं, यद्यपि बर्गेस सामान्य वंश-परम्परा को आवश्यक तत्व नहीं समझते। उनकी दृष्टि में राष्ट्र "भौगोलिक एकता वाले एक प्रदेश में बसी हुई नृ-वंशीय ऐक्यता (ethnic unity) वाली "जनसंख्या" है। नृ-वंशीय ऐक्यता से उनका तात्पर्य उस जनसंख्या से है, जिस की सामान्य भाषा और साहित्य, सामान्य परम्परा और इतिहास, सामान्य रीति-रिवाज उचित एवं अनुचित की सामान्य चेतना है।" काल्वो (Calvo) अपनी "अन्तर्राष्ट्रीय नियम" नामक रचना में इस बात पर जोर देते हैं कि राष्ट्र का विचार स्रोत या जन्म, वंश के समुदाय, भाषा के समुदाय, आदि के साथ जुड़ा हुआ है। समकालीन राजनीति-वैज्ञानिक लीकाक असंदिग्ध रूप में कहते हैं कि "यद्यपि, 'राष्ट्र' (Nation) शब्द का प्रयोग बहुधा ढीलेपन से किया जाता है, तथापि वंशीय या नृ-वंश संबंधी महत्व के रूप में उस पर उचित ढंग से विचार किया जाना चाहिए।"[१] यह लोगों के एक समूह का निर्देश करता है, जिनकी एकता सामान्य वंश-परम्परा और सामान्य भाषा पर आधारित है।

किन्तु वंश और राष्ट्र दो नितांत भिन्न शब्द हैं। हम रक्त की पवित्रता को प्रमाणित नहीं कर सकते और जैसा कि सिजविक कहते हैं, मुख्य आधुनिक राष्ट्रों में से कुछ "प्रत्यक्षतः मिश्रित वंशों के हैं।"[२] आधुनिक काल की देश परिवर्तन (migration) और समागम (intercourse) की अवस्थाओं से परिचित विद्यार्थी को रक्त की शुद्धता का दावा कुछ काल्पनिक-सा जान पड़ता है। एक राज्य की जनसंख्या, जैसे कि यूनाइटिड स्टेट्स आफ अमेरिका की है, कई नस्लों अथवा मिश्रित रक्त की बनी हो सकती है। राष्ट्र की, इस तरह, वंशीय महत्ता कुछ भी नहीं। लोगों के जिस एक समूह से राष्ट्र बनता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वंश, भाषा या धर्म की समानता हो। यह चेतना अथवा विचारों की समानता का भाव है। यह सत्य है कि भाषा और धर्म

1. op. citd., p. 15
2. Sidgwick: The Elements of Politics, p. 223

परस्पर जोड़ने के लिए महत्वपूर्ण अंग है, किन्तु यह स्पष्ट है कि धर्म और भाषा ना तथा राष्ट्रीय-भावना की समानता आवश्यक रूप से संबंधित नहीं है। स्विस का उदाहरण लीजिए। न तो वह एक भाषा बोलते हैं, न उनका एक धर्म है, फिर वह एक राष्ट्र में निर्मित है। निःसंदेह, सामान्य धर्म की धारणा शक्तिशाली बनाने की शक्ति है और राष्ट्रों का विघटन करने के लिए भी शक्तिशाली है; किन्तु ता के इतिहास में से इस चरण का अब लोप हो गया है, यद्यपि भारत में मुस्लिम ने अपने राष्ट्र-सिद्धांत और फलतः पाकिस्तान की अपनी माग के लिए धर्म को ना मुख्य आधार बनाया था।

फलतः, जो बंधन लोगों को एक राष्ट्र बनाने के लिए जोड़ते हैं, मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक है। वे चेतनापूर्ण भावनाएं हैं, जो सामान्य इतिहास की स्मृतियों द्वारा जोड़ी जाती हैं, विशेषकर विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध सामान्य संघर्ष और मिलकर रहने की इच्छा तथा समृद्धि के लिए उनका सामान्य उत्तराधिकार को प्रवाहित करना। ये विचार लोगों की देशभक्ति की भावनाओं वाला समुदाय बनाते हैं और यहां राष्ट्र शब्द का अर्थ है डा. गार्नर के कथनानुसार, "एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का एक सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक (Psychic) जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में एक ही समय चेतन एवं दृढ़निश्चयी है।"[1]

अब अधिकांश लेखक, राष्ट्र शब्द का प्रयोग, राजनीतिक संगठन का विचार प्रकट करने में करते हैं। यह ऐसे लोगों का संकेत करता है, जो सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप में एक दूसरे के अपनत्व में चैतन्य हैं और एक सरकार के अधीन संगठित हैं। यह कहा जाता है कि राजनीतिक एकता के बिना, राष्ट्र नहीं हो सकता। इसलिए, राष्ट्र को राज्य (state) के समान देखा जाता है। उदाहरण के लिए, गिलक्राईस्ट कहते हैं कि राष्ट्र अर्थ के रूप में राज्य अत्यधिक निकट है। "यह राज्य और उसमें किसी आम चीज का योग है, राज्य का किसी एक खास दृष्टिकोण से देखा जाता है, अर्थात् एक राज्य में संगठित लोगों की एकता की दृष्टि से।"

राज्य और राष्ट्र के बीच अन्तर (Distinction between State & Nation)—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एक राष्ट्र, एक राज्य अथवा राज्यों के निर्माण का सिद्धांत आत्म-निर्णय के अधिकार (self-determination) के सिद्धान्त [illegible] क्रियात्मक नीति बन गया। तदनुसार, नवीन राष्ट्र राज्य बनाए गए और रा[illegible] (Nation) राज्य (State) शब्दों का समान अर्थ में प्रयोग होना [illegible] हो गया। हम बहुधा सुनते और पढ़ते हैं कि देशों का राष्ट्रों के रूप में वर्णन [illegible] जाता है, जब कि वस्तुतः उनके लिए राज्य शब्द का प्रयोग होना चाहिए। उदा[illegible] के लिए, अर्जेन्टाइन जनतंत्र के संविधान को "अर्जेन्टाइन नेशन (अर्जेन्टाइन रा[illegible] का नाम दिया गया है। इसी प्रकार, यूनाइटेड नेशन्स आर्गेनाइजेशन (Un[illegible] Nations Organization)—संयुक्त राष्ट्र संघ का नाम भी गलत है, क्योंकि [illegible] राजसत्ता पूर्ण राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। हम राज्य और राष्ट्र का समा[illegible]

[1] ... op. cit., p. 112

नहीं कह सकते। राज्य वह है, जिसमें लोग एक निश्चित प्रदेश के अन्तर्गत नियम के लिए संगठित हुए हों।

एक सरकार के अधीन लोगों का केवल संगठन मात्र उन्हें राष्ट्र नहीं बनाता। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी राज्य था, न कि एक राष्ट्र। वह विभिन्न चरित्र के लोगों द्वारा आवासित था और राजनीतिक बंधनों को छोड़ कर उन्हें एक साथ गूंथ सकने वाली अन्य कोई बात न थी। इसके बाद राजसत्ता राज्य का सर्वाधिक आवश्यक रूप है, जब कि लोग एक राष्ट्र के रूप में बने रह सकते हैं, भले ही उन्होंने राजसत्ता के स्वरूप को प्राप्त न भी किया हो। जर्मनी और जापान १९४५ में युद्ध-समाप्ति के बाद अब राज्य नहीं रह गए, यद्यपि जर्मन और जापानी तब भी राष्ट्र (nations) थे। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व पोलैंड और फिन्लैंड राष्ट्र थे यद्यपि राज्य नहीं थे। राष्ट्र शब्द मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भावनाओं द्वारा प्रेरित एकता की चेतनता को प्रकट करता है। इसलिए, यह चेतनापूर्ण है जब कि राज्यत्व (statehood) बाहरी (objective) एवं राजनीतिक है।

जो भी हो, यह स्मरण रखना होगा कि १९२० से लेकर राज्य के साथ राष्ट्र (Nation) को समानता देने की प्रवृत्ति हो गई है। आधुनिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को एक पृथक् राज्य निर्मित करना चाहिए; प्रत्येक राज्य में एक अकेला राष्ट्र होना चाहिए। आज प्रायः प्रत्येक राष्ट्र अपने निजी एक राज्य में संगठित है। एक-राष्ट्रीय राज्य के सिद्धान्त ने अधीनस्थ राष्ट्रों में विद्रोह का पृष्ठ-पोषण किया। यह प्रैसिडेंट विल्सन के राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार (rights of self-determination) का अनुमोदन करता है, जिसका एटलांटिक घोषणा-पत्र (Atlantic Charter) द्वारा समर्थन हुआ। निःसंदेह, एक-राष्ट्रीय राज्य के बहु-राष्ट्रीय राज्य की अपेक्षा कतिपय स्पष्ट लाभ हैं। किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अनेक राष्ट्रीय राज्यों की विद्यमानता होने पर अन्तर्राष्ट्रीय जटिलताओं में वृद्धि होगी और विश्व-शांति को नष्ट करने वाली पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धाओं को भड़कने में सहायता मिलेगी। लार्ड एक्टन का मत था कि भिन्न राष्ट्रों का समूहीकरण, सभ्य जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है कि जितना एक समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्तियों का समूहीकरण। एक्टन ने बहु-राष्ट्रीय राज्य का समर्थन किया है।

राष्ट्रीयता (Nationality)—अभी हाल तक राष्ट्र और राष्ट्रीयता शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के बदले किया जाता था। अब उन्हें दो भिन्न शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है किन्तु यहां तक कि वे, जिन्होंने उनमें अंतर कर लिया है, "उस अंतर के विषय में किसी प्रकार सहमत नहीं।" इस तथ्य का स्पष्ट कारण यह है कि 'नेशन' (राष्ट्र) और 'नेशनैलिटी' (राष्ट्रीयता), दोनों को उसी विशेषण रूप का भागीदार होना पड़ता है और दोनों की व्युत्पत्ति "नेटस" (Natus) से हुई है, जो जन्म या वंश के विचार का संकेत करता है। किन्तु अब राष्ट्र का निश्चित रूप से राजनीतिक अर्थ हो गया है। इसका अर्थ है राजनीतिक एकता—अन्यों से भिन्न ऐसे लोगों का एक समुदाय, जिनका अपना निजी राजनीतिक गठ-बंधन हो। राष्ट्रीयता का राजनीतिक एकता से कोई संबंध नहीं। यह लोगों के उस समूह का संकेत करती है, जो स्रोत, वंश, भाषा या सामान्य परंपरा

या इतिहास की समानता से संबद्ध हुए हैं। इसलिए, राष्ट्रीयता अपने सामान्य जन्म के व्युत्पत्ति अर्थ पर जोर देती है। यही है वह प्रकरण जिसमें लार्ड ब्राईस राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हैं। वह कहते हैं, "एक राष्ट्रीयता वह जनसंख्या है, जो कतिपय बंधनों द्वारा ऐसे ढंग से संगठित होती है, उदाहरण के रूप में, भाषा और साहित्य, विचारों, रीतियों, और परंपराओं द्वारा, कि वह अपनी सबद्ध एकता का अन्य उन जनसंख्याओं से भिन्नता अनुभव कर सकती है, जो उसी तरह अपने निजी समान बंधनों से संगठित होती हैं।" ब्राईस के कथनानुसार एक राष्ट्र वह राष्ट्रीयता है, जिसने अपने को या तो स्वतन्त्र अथवा स्वतंत्रता की इच्छा से राजनीतिक समूह में संगठित किया है। मिल की राष्ट्रीयता की धारणा लगभग ब्राईस जैसी ही है। मिल कहते हैं, "मनुष्यों के एक भाग को राष्ट्रीयता का निर्माण करने वाला कहा जा सकता है क्योंकि वह उन समान सहानुभूतियों द्वारा परस्पर सबद्ध हुए हों, जो उनके तथा अन्यों के बीच विद्यमान नहीं हैं—जो उन्हें अन्य लोगों की अपेक्षा एक-दूसरे के साथ अधिक इच्छापूर्वक सहयोग में लाती है, एक ही सरकार के अधीन रहने की इच्छा प्रदान करती है, और यह इच्छा प्रदान करती है कि उन्हीं की अथवा विशिष्ट रूप से उन्हीं में से एक अंग की सरकार होनी चाहिए।"[1]

इस प्रकार, राष्ट्रीयता कुछ समान गठबंधन वाले लोगों में समान आध्यात्मिक अथवा मनोवैज्ञानिक भाव का दिग्दर्शन करती है। यह अत्यावश्यक रूप में एकता की एक भावना है, जो निम्न अनेक शक्तियों का परिणाम हो सकती है—समान नस्ल और भाषा, समान धर्म, समान आवास, विजयों और निर्मित परंपराओं का समान इतिहास और समान राजनीतिक प्रेरणाएं। ये सब अंग राष्ट्रीयता के आधार हैं। जब सब अथवा इन में से कुछ तत्त्व लोगों में विद्यमान होते हैं, तो उनमें रक्त-संबंध (kinship) का भाव उत्पन्न होता है जो उन्हें एकत्व (oneness) में बांधता है। "वे अपनी अनुरूपता (समानता) को पहचान लेते हैं और अन्य मनुष्यों से अपने अंतर पर बल देते हैं। उनकी सामाजिक बपौती (heritage) भिन्न रूप में उनकी निजी हो जाती है, जिस प्रकार कि एक आदमी अपने मकान को निजी विलक्षण स्वरूप प्रदान कर देता है। वे एक कला, एक साहित्य को जन्म देते हैं जो प्रत्यक्षतः अन्य राष्ट्रों से भिन्न होता है। इसी आधार पर इग्लैंड शेक्सपियर और डिकन्स को उत्पन्न कर सका था, इसी भांति वोल्टेयर (Voltaire) और कांट के गुण हैं, जिनमें फ्रांस और जर्मनी के राष्ट्रवाद (Nationalism) का चित्रण होता है।"[2]

राज्य और राष्ट्रीयता में अन्तर (Distinction between State and Nationality) जब समान बंधनों द्वारा संबद्ध लोग एक राज्य में राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो जाते हैं, तो वह आधुनिक सिद्धान्त और परिपाटी के अनुसार एक राष्ट्र का रूप बन जाते हैं। हेस (Hayes) का कथन है, "एक राष्ट्रीयता, एकता और राजसत्तापूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने पर एक राष्ट्र बन जाती है।" यहूदियों (Jews) का उदाहरण लीजिए, जिन्होंने हाल ही में पेलस्टाइन में नवीन इजराइल राज्य (Israel State) स्थापित किया है। अबतक यहूदी एक राष्ट्रीयता (Nationality) थे, अब वे एक

1. Representative Government, ch. 16
2. Grammar of Politics, op. citd., 220

राष्ट्र हैं। तदनुसार राष्ट्रीयता को एक बनते हुए राष्ट्र के रूप में वर्णित कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक राष्ट्रीयता या तो एक राज्य रहा होगा (जैसे कि स्काट), अथवा राज्य होने की इच्छा होगी, भले ही वह नवीन राज्य हो अथवा पूर्वतः विद्यमान राज्य का पुनर्निर्माण हो (जैसे कि महान् युद्ध से पूर्व पोल या चैक थे)।[1] राष्ट्रीयता तो तब भी हो सकती है, भले ही वह राज्य बनने की इच्छा न करती हो। हिंदू और मुस्लिम दो राष्ट्रीयताएं हैं किंतु भारतीय गणतंत्र की राजसत्ता में एक राष्ट्र हैं। ब्रिटिश राष्ट्र (Nation) के अन्तर्गत वेल्स (Welsh) और स्काच (Scotch) दो भिन्न राष्ट्रीयताएं हैं, यद्यपि अपने निजी राज्य बनाने की कोई इच्छा नहीं है। फलतः, राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बीच राजनीतिक संगठन का अंतर नहीं है। जहां एक राष्ट्र भिन्न सामाजिक—नृ-वंश समूहों का बना हो, उनमें से प्रत्येक समूह को राष्ट्रीयता कहा जा सकता है।

राष्ट्रीयता के मूल तत्त्व
(Elements of Nationality)

वह शक्तियां, जो लोगों को आध्यात्मिक भावना के एकत्व में संबद्ध करती हैं, अनेक और विभिन्न हैं—समानवंशीय स्रोत, समान भाषा, परंपराएं और संस्कृति, समान धर्म, समान आवास, समान हित और समान राजनीतिक प्रेरणाएं। इन सब अंशों ने, इस अथवा उस चरण में, विशिष्ट एकता के उस भाव को विकसित होने में योग प्रदान किया है कि लास्की के कथनानुसार, "उनको जुदा कर देता है जो शेष मानव में से उसमें भागीदार होते हैं।" आइए, हम प्रत्येक अंश के उस कार्य पर विचार करें कि जो राष्ट्रीयता के बंधन में लोगों को परस्पर बांधता है।

(1) **नस्ल की एकता** (Unity of Race)—वंशगत एकता राष्ट्रीयता का प्रबलतम बंधन है। आधुनिक सिद्धान्त, जो राष्ट्र से राष्ट्रीयता को अलग करता है, राष्ट्रीयता को व्युत्पत्ति विषयक अर्थ प्रदान करता है। किन्तु वंशगत एकता राष्ट्रीयता के मूल-तत्त्व के लिए आवश्यक नहीं रह गई, क्योंकि कोई भी वंश अपनी मौलिक पवित्रता का दावा नहीं कर सकता। अधिकांश वंशों का मिश्रित स्वरूप है और विभिन्न-वंशों के संचार के फलस्वरूप निर्मित हुए हैं। यूनाइटिड स्टेट्स आव् अमेरिका, कैनेडा, स्विट्ज़रलैंड आदि उल्लेखनीय उदाहरण हैं, जो वंशों के मिश्रण के सिद्धान्त को प्रमाणित करते हैं। यहां तक कि अंग्रेज़ भी रक्त की पवित्रता का दावा नहीं कर सकते। वह सैल्टों (Celts), ट्यूटनों (Teutons), और डेनों (Danes) का मिश्रण हैं। स्वतः, समान वंशगत स्रोत राष्ट्रीयता का सूत्र भी नहीं है। अंगरेज़ और आस्ट्रेलियन वंश-दृष्टि से एक ही हैं, किंतु अब उनके भिन्न राष्ट्र हैं।

इसलिए, वंश की एकता से हमारा तात्पर्य यह हो सकता है कि समान स्रोत की एक धारणा चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक। वस्तुतः, प्रत्येक राष्ट्रीयता की अपनी अनैतिहासिक आदि-स्रोत की पौराणिक कथाएं हैं, जिनसे लोग अपने आदि-स्रोतों की भिन्न-रूपता को भूलने में समर्थ होते हैं। यदि वंशों का भली भांति विलय हुआ हो, तो स्रोत संबंधी अन्तरों का लोप हो जाता है और वह हितों का समुदाय बन जाते हैं। जब

1. Gilchrist, op. citd. p. 26

कभी लोगों का एक समूह विश्वास कर लेता है कि वह एक वंश के हैं, तो उन्हें समान कल्याण के समान बंधनों में सबद्ध करना आसान हो जाता है। वंश की एकता की और अधिक शर्त यह है कि समान भाषा, समान इतिहास, समान परंपराएँ और समान संस्कृति हो।

(८) भाषा परम्पराओं और संस्कृति की एकता (Unity of Language, Tradition and Culture):—लोगों को एकता सूत्र में बांधने में भाषा का प्रभाव भी कम नहीं है। बहुधा यह मान लिया जाता है कि भाषा और नस्ल में बहुत निकटता है क्योंकि "भाषा का स्वरूप और उसकी कोटि उन लोगों के विचारों का स्वरूप और कोटि निर्धारित करती हैं जो उस भाषा को प्रयोगमें लाते हैं।" जर्मनों के नस्ल सम्बन्धी सिद्धान्त अधिकांश में इन गलत मान्यताओं पर आधारित हैं। किन्तु इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि भाषा की एकता से अधिक कोई अन्य कारण ऐसा नहीं जो विभिन्न नस्लों को सुगमता से एकता के सूत्र में बांध सके। भाषा ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा लोग अपने को व्यक्त करते और पारस्परिक आदान-प्रदान को स्थिर रखते हैं। भाषा की एकता विचारों, परम्पराओं और सांस्कृतिक एकता की स्थापना में सहायता करती है। "इस माध्यम का अभाव लोगों को कुछ इस तरह अलग करता है जैसे पूर्वकाल में पर्वतों और समुद्रों की रोक पृथक् करती थी। यह अभाव उन्हें एक-दूसरे को जानने तथा पहचानने नहीं देता और इस तरह समान चेतनता तथा आदर्शों की समानता के विकसित होने में कठिनाई उत्पन्न करता है, जो वास्तविक राष्ट्रीयता के निर्माण करने के लिए आवश्यक है।"[1] फिश्टे (Fichte) का कथन है कि राष्ट्रीयता आध्यात्मिक है, परमात्मा के हृदय की अभिव्यक्ति है और उनकी एकता का मुख्य बंधन समान भाषा है। बोहिम (Boehm) कहते हैं, "मातृ-भाषा की धारणा ने भाषा को वह स्रोत बना दिया है जिसमें से सब मानसिक तथा आध्यात्मिक अस्तित्व प्रवाहित होते हैं। मातृ-भाषा आध्यात्मिक व्यक्तित्व की सर्वाधिक उपयुक्त अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती है।"

किंतु केवल भाषा ही राष्ट्रीयता के सूत्र की निर्णायक नहीं है। अंगरेज और अमरीकी—दोनों ही अंगरेजी बोलते हैं और तिस पर भी वह दो पृथक् राष्ट्र हैं। यहां तक कि एक ही देश में रहने वाले लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा के अंतर भी राष्ट्रीयता के तत्त्व को नष्ट नहीं करते। स्काटों की एक राष्ट्रीयता है, यद्यपि उनमें से कुछ गायलिक और कुछ अंगरेजी बोलते हैं। कैनेडा में भी दो भाषाएं बोली जाती हैं, अंगरेजी और फ्रेंच। स्विस भी एक राष्ट्र है, यद्यपि भाषा की दृष्टि से वह विभाजित है और वहां तीन भाषाएं बोली जाती हैं—फ्रेंच, जर्मन और इटैलियन। तिस पर भी, भाषा का साम्य लोगों को राष्ट्रीयता में ढालने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंशों में एक है। जब हम वंश की परंपरा को प्रमाणित नहीं कर सकते, तो लोगों को राष्ट्रीयता का रूप देने के लिए वंश के समानता की अपेक्षा भाषा की एकता को अधिक महत्त्वपूर्ण अंश समझा जाता है।

(९) भौगोलिक एकता (Geographic Unity)—भौगोलिक एकता एक अन्य महत्वपूर्ण अंश है, जो राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ करता है। यह वांछनीय है कि एक राष्ट्रीयता में निर्मित होने वाले लोग एक नियत प्रदेश पर अधिकृत हों जिसके भाग मिले

1. Garner, op citd. p. 118

हुए हों। एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले लोगों की स्वभावतः निजी संस्कृति, समान प्रयोग और हित होंगे जो राष्ट्रीयता की चेतना के लिए अत्यावश्यक हैं। किंतु जब समुदाय में एक बार राष्ट्रीय भावना का विकास हो जाता है, तो उसे जारी रखने के लिए समान प्रदेश में आवास करना आवश्यक नहीं होता। देश-परिवर्तन द्वारा राष्ट्रीयता नष्ट नहीं हो जाती। यहूदी, अंगरेज, अमरीकन आदि विश्व भर में फैले हुए हैं और इतने पर भी उनका राष्ट्रीय स्वरूप बना हुआ है।

(५) धार्मिक एकता (Unity of Religion)--राज्य को विकसित एवं दृढ़ता प्रदान करने में धर्म ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्रारंभिक समाज में समान धर्म की धारणा ने ही लोगों को परस्पर संबद्ध किया था। वस्तुतः धर्म और राजनीति का इतना अधिक अन्तर-संबंध है कि उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। फलतः, एक समय धर्म को राष्ट्रीयता का चिह्न माना जाता था। यहां तक कि अब भी कुछ देशों में इसे राष्ट्रीयता निर्माण का आधार माना जाता है। "अन्य वस्तुएं समान होने की दशा में, राष्ट्रीय एकता वहां दृढ़ एवं चिरस्थायी नहीं हो पाती जहां विश्वास के विषय में आधारमूलक मत-भेद हों, जैसे ईसाइयत और इस्लाम के बीच।"[1] श्री जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त और धार्मिक मतभेदों के कारण हम अपने निजी देश में राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण नहीं कर सके जिसे धार्मिक मतभेद का आश्रय प्राप्त हुआ एवं जिसके कारण अन्ततः देश का विभाजन हुआ। इतिहास में धार्मिक मत-भेदों के कारण विभाजित लोगों से बने हुए राज्यों के विघटन के उदाहरणों का अभाव नहीं है। १८३१ में बैल्जियम और हालैंड के विभाजन का कारण अंशतः धार्मिक फूट थी। वस्तुतः, राष्ट्रीय भावना के लिए धर्म एक सुदृढ़ प्रलोभन है, और इसीलिए वह एकत्व की सहयोगी भावनाओं को संगठित करने में सशक्त अंश है।

किंतु, वर्तमान में राजनीति का धर्म से संबंध-विच्छेद हो चुका है और ऐसे उदाहरण भी अनेक हैं जब कि गम्भीर धार्मिक मतभेद किसी प्रकार भी राष्ट्रीयता की एकता में बाधक नहीं हुए। कुछ अन्य अंश हैं, जो लोगों को परस्पर जोड़ते हैं। धर्म ने राष्ट्रीय एकता के तत्व के रूप में अपनी अधिकांश शक्ति खो दी है। धार्मिक स्वतंत्रता के विश्वास एवं सहिष्णुता की भावना ने विभिन्न धार्मिक दलों के समाजों में राष्ट्रीय एकता की भावना को जन्म दे दिया है। इस प्रकार भिन्न धर्मों वाली राष्ट्रीयताएं हो गई हैं, किंतु वे एक राज्य में परस्पर मिली हुई हैं। यूनाइटिड स्टेट्स आफ अमेरिका, जहां कई धर्मों में बंटा हुआ है, वहां वह सुदृढ़ राष्ट्र का सर्वोत्तम उदाहरण भी है। फलतः, हम डा. गार्नर के कथन के साथ इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि "यद्यपि कुछ अवस्थाओं में धार्मिक साम्य राष्ट्रीयता के विकास में शक्तिशाली और राष्ट्रीय एकता के बंधनों को सुदृढ़ बनाने वाला तत्व रहा है, और यद्यपि कुछ अवस्थाओं में उसके अभाव में राज्यों का विघटन भी हुआ है, तथापि, सहिष्णुता की आधुनिक भावना का कृतज्ञ होना चाहिए जिसके कारण राष्ट्रीयता निश्चित करने के लिए अब इसे अत्यावश्यक अथवा महत्वपूर्ण तत्व नहीं माना जाता।"[2]

(६) राजनीतिक प्रेरणाओं की एकता (Unity of Political Aspirations)—राजनीतिक प्रेरणाओं की एकता को अब राष्ट्र-निर्माण के लिए अत्यधिक

1. Gilchrist, op. citd., p. 30
2. Garner, op. citd. p. 121

शक्तिशाली अंग स्वीकार कर लिया गया है। अधिकांश राष्ट्रीयताएं या तो स्वाधीनता की इच्छा के रंग मे रग गई है और अपने निजी राज्य चाहती हैं, अथवा सरकार के मामले में वह विशाल स्वायत्तता की भावना से ओतप्रोत हो गई है। "चाहे अतीत की हो अथवा भविष्य के लिए हो, राष्ट्रीयता के लिए राजनीतिक एकता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, और यह इतनी महत्वपूर्ण है कि विभिन्न इकाइयों में से प्रायः केवल इसी को ही अत्यावश्यक कहा जा सकता है।"[1] भले ही, कितने भी भिन्न दृष्टिकोणों और भावनाओं वाले लोग हो, यदि वह चिरकाल तक एक ही सरकार की अधीनता में रहते हैं, तो उनमें एकत्व की राष्ट्रीय-भावना की प्रवृत्ति विकसित होकर ही रहेगी। यदि सरकार विदेशी हो, तो एकता की विधि और भी तीव्रगामी हो जाती है। लोग विदेशी अधिकार से छुटकारा पाने के लिए संगठित हो जाते हैं। क्योंकि शासन करने वाला राष्ट्र प्रजा के कल्याण की अपेक्षा निजी हित के लिए शासन करता है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, "कु-शासन राष्ट्रीयता का जन्मदाता है।"[2]

समान राजनीतिक प्रेरणाओं का एक अन्य अंग भी है। जब भिन्न रूपों की जनसंख्या चिरकाल तक एक राज्य में रहती है, और राज्य अपनी नीति में सब के प्रति सहिष्णु होता है, तो समय बीत जाने पर, भिन्न रूपों के तत्त्व, एक राष्ट्रीयता में लीन हो जाते हैं। "उनके बच्चे, राजनीतिक दृष्टि से अर्ध-जातीय बन जाते हैं, और तीसरी तथा चौथी पीढ़ी में वह अपने पैतृक पक्षपातों से मुक्त हो जाते हैं", और एक-मात्र राष्ट्रीयता के अग-प्रत्यग बन जाते हैं। यूनाइटिड स्टेट्स आफ अमेरिका के लोग पहली पीढ़ी में या तो अंगरेज़, जर्मन, पोल अथवा चैक थे। उनकी समान राजनीतिक प्रेरणाओं ने उन्हें एकता के बंधनों में बाध दिया और सब भिन्न राष्ट्रीयताएं अमरीकी राष्ट्रीयता के सूत्र में बध गईं। मिल कहता है कि "राष्ट्रीय इतिहास की विद्यमानता और तद्जन्य सामान्य स्मृतियां, सामूहिक मान और अपमान, प्रसन्नता और शोक, जिनका भूतकाल में एक ही घटना के साथ संबंध हो," ये सर्वाधिक शक्तिशाली अग राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने वाले हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रीय एकता के भाव का उदय भारतीयों में तबतक नहीं हुआ जबतक कि वह ब्रिटिश प्रशासन दृढ नियंत्रण के अधीन न हो गये।

(७) स्वार्थों की एकता (Unity of Interest)—समान आर्थिक एवं रक्षात्मक स्वार्थ एकता के बंधनों को अधिक शक्तिशाली बनाने के हेतु है। आर्थिक और रक्षात्मक समस्याएं भिन्न रूपों के तत्त्वों को मिलाने तथा एक संघ निर्माण करने में सहायक होने के लिए अत्यावश्यक है। किंतु वह "संघ की आधार-मूलक प्रतिनिधि होने की अपेक्षा संघ को सुदृढ़ बनाने की दिशा में सहायक का कार्य करती हैं।"[3]

निष्कर्ष (Conclusion)—अब यह सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया है कि यद्यपि उपरोक्त सब तत्त्व राष्ट्रीयता के विकास के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं अथवा हैं, तथापि उनमें से कोई भी नितांत अनिवार्य नहीं। इस प्रकार राष्ट्रीयता शब्द अब सब बाहरी व्यर्थ की बातों से मुक्त हो गया है। यह निश्चित रूप से आध्यात्मिक और सांस्कृतिक

1. Gilchrist, op cit., p. 31
2. Ibid.
3. Ibid., p. 32

बन गया है। समान वंश, भाषा, धर्म या आवास सरीखे लक्षित तत्त्व, जो लोगों को राष्ट्रीयता के लिए प्रभावित करते हैं, महत्वहीन और यहां तक कि अनान्य समझे जाते हैं। राष्ट्रीयता को अब स्वार्थों और आदर्शों की एकता के रूप में स्वीकार किया जाता है। समाज-शास्त्री (Sociologists) इसे विचारों की समानता कहते हैं। यह "पारस्परिक सहानुभूति है, जो निरंकुश सरकार के लम्बे शासनकाल में समान अधीनता द्वारा सहन किये दमन तथा बुराइयों, और महान ऐतिहासिक संघर्षों में श्रेय की समान हिस्सेदारी, और समान उत्तराधिकार की विद्यमानता तथा गीतों और लोक-कथाओं में व्यक्त समान परंपराओं की चेतना से उत्पन्न होती है।"[1]

राष्ट्रीयता, इस प्रकार, आध्यात्मिक रूप धारण कर लेती है। प्रो. जिम्मर्न (Zimmern) का कहना है, "यह एक देश से संबंधित विलक्षण तीव्रता, आत्मीयता और सम्मान की संयुक्त भावना का रूप है।"[2] सार रूप में राष्ट्र और राष्ट्रीयता, दोनों सांस्कृतिक हैं और "उनमें से एक यदि शरीर का रूप है, तो दूसरा उस शरीर की आत्मा है।" तदनुसार राष्ट्रीयता, "एक शिक्षा विषयक धारणा है; यह लोगों को एक राष्ट्र बनने, एक राष्ट्र अनुभव करने तथा एक राष्ट्र बनाने की शिक्षा प्रदान करती है।"[3]

राज्य का स्वरूप (Nature of the State)

राज्य के स्वरूप के विषय में और राज्य तथा व्यक्ति के बीच संबंधों की बाबत अनेक कल्पनाएं हैं। जो भी हो, चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनमें प्रथम वेदान्ती (Monistic) सिद्धान्त है। वेदान्ती सिद्धान्त के समर्थकों का तर्क है कि उन व्यक्तियों का, जो राज्य का निर्माण करते हैं, स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता "प्रत्युत संपूर्ण समूह में वह केवल आणविक इकाइयों के रूप में होते हैं, प्रत्येक अन्य पर और प्रत्येक संपूर्ण पर अपने निरंतर अस्तित्व के लिए आश्रित होता है।"[4] उनका अपना निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता और जो कुछ वे हैं और जो कुछ उनके पास होता है, उनका वह सब उस समाज का होता है, जिसके वे अंग हैं। इसके बिलकुल विपरीत नितांत एकाकीपन (Monaduistic) या शुद्ध व्यक्तिवादी सिद्धान्त है, जो व्यक्तियों के केवल एकत्रीकरण के रूप में समाज की धारणा करता है, "उनमें से प्रत्येक अधिकांश रूप में अपने साथियों से एकाकी और स्वतंत्र रहता है, जो बलवान के आक्रमण के विरुद्ध दुर्बल की रक्षा के लिए सामूहिक अवरोध मात्र की न्यूनतम सीमा से परे राज्य की सहायता के बिना जीवित और यहां तक कि संपन्न होने की भी क्षमता रखता है।"[5] इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर इकाई है और एक की दूसरे पर निर्भरता नहीं होती। वह राज्य की सहायता के बिना जीवित रह सकता है और यहां तक कि संपन्न भी हो सकता है। बलवान के आक्रमण के विरुद्ध दुर्बल को रक्षा प्रदान करने में राज्य की आवश्यकता की उत्पत्ति हुई। तदनुसार, राज्य पुलिस-राज्य है और वह "रक्षा एवं अवरोध के लिए होता है, न कि पोषण और वृद्धि के लिए।"

1. Garner, op. citd., p. 121
2. Zimmern: Nationality and Government, p. 52
3. Ilyas Ahmad: The First Principles of Politics, pp. 138-39
4. Garner, op. citd., p. 211
5. Ibid, pp. 211-12

इसके बाद द्वैतवादी (dualistic) सिद्धान्त है; जो वेदान्ती (monistic) और एकाकीपन (monaduistic) के बीच समझौता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी जीवन बिताता है, किन्तु उनमें से प्रत्येक, एक रूप में, अपने कल्याण के लिए अन्यों पर निर्भर होता है। इसका अस्तित्व न तो उस सपूर्ण में विलय होता है, न ही वह अपने सामाजिक वातावरण से पूर्णतया स्वतंत्र और एकाकी किया जाता है। अन्ततः, हमारा जीवधारी सिद्धान्त है, जो राज्य को उसी एकता के समान देखता है जो जीवधारी रचना का स्वरूप होता है।

-राज्य का जीवधारी रचना का स्वरूप

जीवधारी सिद्धान्त की व्याख्या (Organic theory explained)—राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के सम्मिलन को ठीक वैसा ही बताया गया है जैसा कि प्राकृतिक जीवधारी के विभिन्न अंगों का सम्मिलन होता है। जिस प्रकार एक जीवधारी के, चाहे पशु हो या पौधा, कई भाग होते हैं जो एक दूसरे पर तथा सपूर्ण ढांचे पर अन्तर्निर्भर होते हैं, इसी प्रकार राज्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा बना होता है, जो एक दूसरे के साथ इस ढग से सबंधित होते हैं कि प्रत्येक अन्य पर, और अन्ततः, समाज पर निर्भर होता है। इस तरह, जीवधारी सिद्धान्त प्राणि-शास्त्र की धारणा के अनुसार है जो राज्य को "प्राकृतिक विज्ञान" के अनुसार वर्णन करता है। "उसे बनाने वाले व्यक्तियों को पौधे या पशु के जीवाणुओं के समान देखता है, और उनमें तथा उस समाज में अन्तर्निर्भरता के सबंध का पक्षपाती है जो जीवधारियों तथा जीवधारी रचना के अगों तथा सपूर्ण ढांचे में विद्यमान होता है।" दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार पशु का शरीर, जीवाणुओं से बना होता है, इसी तरह राज्य अनेकों व्यक्तियों से बना होता है और "शरीर के साथ हाथ का अथवा पेड़ के साथ पत्ती का जो और जैसा संबंध होता है, वही समाज के साथ मनुष्य का होता है। वह उसमें विद्यमान होता है और वह इसमें।"[1] इसलिए, राज्य एक जीवधारी ऐक्य है—"एक प्राणमय जीवधारी।"

इस सिद्धांत का इतिहास (History of the theory)—जीवधारी सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितनी स्वतः राजनीतिक विचारधारा। प्लेटो ने महान आकार के राज्य की मनुष्य के साथ तुलना की है, और उनके कृत्यों की समता का निर्धारण किया है। उनका कहना है कि "सर्वोत्तम व्यवस्थित समान-तन्त्र (Commonwealth) वह था, जिसका आकार-विषयक सगठन निकटतर रूप में व्यक्ति के सिद्धान्त के अनुरूप जान पड़ता था।" सिसरो (Cicero) भी इसी विचारधारा का पक्षपाती था और राज्य के मुखिया को मानव-शरीर पर शासन करने वाली आत्मा की उपमा देता था। मध्य युगीन तथा प्राचीन काल के लेखकों में से, जिन्होंने इस सिद्धांत का समर्थन किया था, उन में मुख्य ये हैं : जॉन ऑफ सैलिसबरी (John of Salisbury) मार्सिग्लियो (Marsiglio), अल्थूसियस (Althusius) तथा कई अन्य। हॉब्स और रूसो ने भी इसका समर्थन किया, यद्यपि उनकी विवेचनाएं एवं तुलनाएं थोथी थीं।

1. Leacock, op. cit., p. 75

बन गया है। समान वंश, भाषा, धर्म या आवास सरीखे लक्षित तत्त्व, जो लोगों को राष्ट्रीयता के लिए प्रभावित करते हैं, महत्वहीन और यहां तक कि अमान्य समझे जाते हैं। राष्ट्रीयता को अब स्वार्थों और आदर्शों की एकता के रूप में स्वीकार किया जाता है। समाज-शास्त्री (Sociologists) इसे विचारों की समानता कहते हैं। यह "पारस्परिक सहानुभूति है, जो निरंकुश सरकार के लम्बे शासनकाल में समान अधीनता द्वारा सहन किये दमन तथा बुराइयों, और महान ऐतिहासिक संघर्षों में श्रेय की समान हिस्सेदारी, और समान उत्तराधिकार की विद्यमानता तथा गीतों और लोक-कथाओं में व्यक्त समान परंपराओं की चेतना से उत्पन्न होती है।"[1]

राष्ट्रीयता, इस प्रकार, आध्यात्मिक रूप धारण कर लेती है। प्रो. जिम्मर्न (Zimmern) का कहना है, "यह एक देश से संबंधित विलक्षण तीव्रता, आत्मीयता और सम्मान की संयुक्त भावना का रूप है।"[2] सार रूप में राष्ट्र और राष्ट्रीयता, दोनों सांस्कृतिक हैं और "उनमें से एक यदि शरीर का रूप है, तो दूसरा उस शरीर की आत्मा है।" तदनुसार राष्ट्रीयता, "एक शिक्षा विषयक धारणा है; यह लोगों को एक राष्ट्र बनने, एक राष्ट्र अनुभव करने तथा एक राष्ट्र बनाने की शिक्षा प्रदान करती है।"[3]

राज्य का स्वरूप (Nature of the State)

राज्य के स्वरूप के विषय में और राज्य तथा व्यक्ति के बीच संबंधों की बावत अनेक कल्पनाएं हैं। जो भी हो, चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनमें प्रथम वेदान्ती (Monistic) सिद्धान्त है। वेदान्ती सिद्धान्त के समर्थकों का तर्क है कि उन व्यक्तियों का, जो राज्य का निर्माण करते हैं, स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता "प्रत्युत संपूर्ण समूह में वह केवल आण्विक इकाइयों के रूप में होते हैं, प्रत्येक अन्य पर और प्रत्येक संपूर्ण पर अपने निरंतर अस्तित्व के लिए आश्रित होता है।"[4] उनका अपना निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता और जो कुछ वे हैं और जो कुछ उनके पास होता है, उनका वह सब उस समाज का होता है, जिसके वे अंग हैं। इसके बिल्कुल विपरीत नितांत एकाकीपन (Monaduistic) या शुद्ध व्यक्तिवादी सिद्धान्त है, जो व्यक्तियों के केवल एकत्रीकरण के रूप में समाज की धारणा करता है, "उनमें से प्रत्येक अधिकांश रूप में अपने साथियों से एकाकी और स्वतंत्र रहता है, जो बलवान के आक्रमण के विरुद्ध दुर्बल की रक्षा के लिए सामूहिक अवरोध मात्र की न्यूनतम सीमा से परे राज्य की सहायता के बिना जीवित और यहां तक कि संपन्न होने की भी क्षमता रखता है।"[5] इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर इकाई है और एक की दूसरे पर निर्भरता नहीं होती। वह राज्य की सहायता के बिना जीवित रह सकता है और यहां तक कि संपन्न भी हो सकता है। बलवान के आक्रमण के विरुद्ध दुर्बल को रक्षा प्रदान करने में राज्य की आवश्यकता की उत्पत्ति हुई। तदनुसार, राज्य पुलिस-राज्य है और वह "रक्षा एवं अवरोध के लिए होता है, न कि पोषण और वृद्धि के लिए।"

1. Garner, op. citd., p. 121
2. Zimmern: Nationality and Government, p. 52
3. Ilyas Ahmad: The First Principles of Politics, pp. 138-39
4. Garner, op. citd., p. 211
5. Ibid, pp. 211-12

इसके बाद द्वैतवादी (dualistic) सिद्धान्त है; जो वेदान्ती (monistic) और एकाकीपन (monaduistic) के बीच समझौता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी जीवन बिताता है, किन्तु उनमें से प्रत्येक, एक रूप में, अपने कल्याण के लिए अन्यों पर निर्भर होता है। इसका अस्तित्व न तो उन सपूर्ण में विलय होता है, न ही वह अपने सामाजिक वातावरण से पूर्णतया स्वतन्त्र और एकाकी किया जाता है। अन्ततः, हमारा जीवधारी सिद्धान्त है, जो राज्य को उसी एकता के समान देखता है जो जीवधारी रचना का स्वरूप होता है।

५-राज्य का जीवधारी रचना का स्वरूप

जीवधारी सिद्धान्त की व्याख्या (Organic theory explained)—राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के सम्मिलन को ठीक वैसा ही बताया गया है जैसा कि प्राकृतिक जीवधारी के विभिन्न अगों का सम्मिलन होता है। जिस प्रकार एक जीवधारी के, चाहे पशु हो या पौधा, कई भाग होते हैं जो एक दूसरे पर तथा सपूर्ण ढांचे पर अन्तर्निर्भर होते हैं, इसी प्रकार राज्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा बना होता है, जो एक दूसरे के साथ इस ढंग से सबधित होते हैं कि प्रत्येक अन्य पर, और अन्ततः, समाज पर निर्भर होता है। इस तरह, जीवधारी सिद्धान्त प्राणि-शास्त्र की धारणा के अनुसार है जो राज्य को "प्राकृतिक विज्ञान" के अनुसार वर्णन करता है। "उसे बनाने वाले व्यक्तियों को पौधे या पशु के जीवाणुओं के समान देखता है, और उनमें तथा उस समाज में अन्तर्निर्भरता के सबध का पक्षपाती है जो जीवधारियों तथा जीवधारी रचना के अगों तथा सपूर्ण ढांचे में विद्यमान होता है।" दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार पशु का शरीर, जीवाणुओं से बना होता है, इसी तरह राज्य अनेकों व्यक्तियों से बना होता है और "शरीर के साथ हाथ का अथवा पेड़ के साथ पत्ती का जो और जैसा सबध होता है, वही समाज के साथ मनुष्य का होता है। यह उसमें विद्यमान होता है और वह इसमें।"[1] इसलिए, राज्य एक जीवधारी ऐक्य है—"एक प्राणमय जीवधारी।"

इस सिद्धांत का इतिहास (History of the theory)—जीवधारी सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितनी स्वतः राजनीतिक विचारधारा। प्लेटो ने महान आकार के राज्य की मनुष्य के साथ तुलना की है, और उनके कृत्यों की समता का निर्धारण किया है। उनका कहना है कि "सर्वोत्तम व्यवस्थित समान-तन्त्र (Commonwealth) वह था, जिसका आकार-विषयक सगठन निकटतर रूप से व्यक्ति के सिद्धांत के अनुरूप जान पड़ता था।" सिसरो (Cicero) भी इसी विचारधारा का पक्षपाती था और राज्य के मुखिया को मानव-शरीर पर शासन करने वाली आत्मा की उपमा देता था। मध्य युगीन तथा प्राचीन काल के लेखकों में से, जिन्होंने इस सिद्धांत का समर्थन किया था, उन में मुख्य ये हैं : जॉन ऑफ सेलिसबरी (John of Salisbury) मार्सिगलियो (Marsiglio), अल्थूसियस (Althusius) तथा कई अन्य। हॉब्स और रूसो ने भी इसका समर्थन किया, यद्यपि उनकी विवेचनाएं एवं तुलनाएं थोथी थी।

1. Leacock, op. citd., p. 75

जिस सामाजिक अनुवंध (social contract) के सिद्धान्त का उन्होंने समर्थन किया था, उसकी राज्य के जीवधारी सिद्धान्त के साथ कोई भी समता नहीं हो सकती।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक भाग में सामाजिक अनुवंध के सिद्धान्त का पतन होने के साथ राज्य के जीवधारी स्वरूप के सिद्धान्त को नवीन एवं शक्तिमय अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। प्राचीन और मध्ययुग के लेखकों ने राज्य और जीवधारी के बीच केवल तुलना मात्र उपस्थित की थी। उनका कहना था कि राज्य जीवधारी रचना से मिलता-जुलता है। किंतु १९वीं सदी के लेखकों ने राज्य को जीवधारी रचना माना। यहां तक कि इस जीवधारी धारणा के विषय में राज्य को वहुधा व्यर्थ विस्तार भी दिया गया, जैसे उस काल में उसे प्रारंभिक प्रणाली, स्नायविक प्रणाली, परिभ्रामक प्रणाली आदि भी कहा जाता था। वस्तुतः, जीवधारी तुलनाओं और समानताओं के साथ इस सिद्धान्त का आकर्षण इतना विस्तार पा गया था कि राजनीति विज्ञान को एक समय तो यहां तक भय हो गया था कि कहीं प्राकृतिक विज्ञान ही उसे हड़प न कर जाय।[1]

इस नये सिद्धान्त ने, कि राज्य जीवधारी रचना है, जर्मनी में अपनी जड़ें जमाईं और वहां इसका भारी समर्थन हुआ। किन्तु ब्लूंश्चिली के लेखों में यह सिद्धान्त पराकाष्ठा तक पहुंच गया था। उनका मत था कि राज्य "मानव जीवधारी रचना की मूर्त्ति" ही है। उनका कहना था कि जिस तरह "एक तैल-चित्र तेल के मात्र विंदुओं के समूह से कुछ अधिक वस्तु होता है, जिस प्रकार एक पुस्तक मूर्त्ति संगमरमर के संगठित टुकड़ों से अधिक श्रेष्ठ है, जिस प्रकार एक मनुष्य जीवाणुओं मात्र के परिमाण तथा रक्त-जीवाणुओं की अपेक्षा उच्च होता है, इसी प्रकार राष्ट्र केवल नागरिकों के यौगिक की अपेक्षा कुछ अधिक होता है, और राज्य वाहरी नियमों के केवल एकत्रीकरण की अपेक्षा कुछ अधिक होता है।" उन्होंने अपनी जीव-धारी तुल्यता को इस हद तक आगे वढ़ाया कि राज्य को यौन के साथ जोड़ दिया और उसे पुरुष का व्यक्तित्व वर्णित किया।

स्पेंसर द्वारा अनुमोदित जीवधारी सिद्धांत (Organic theory as expounded by Spencer)—राज्य के जीवधारी रचना के सिद्धान्त का अंगरेज विद्वान् हर्वर्ट स्पेंसर ने सर्वाधिक वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उन्होंने समर्थन किया कि समाज एक जीवधारी रचना है और इसका जीवधारी रचना के अन्य आवश्यक सिद्धान्तों से कोई अन्तर नहीं। एक जीवधारी और समाज के गुण समान होते हैं और उनके भिन्न भागों के बीच जो स्थायी संबंध होते हैं, वह समान हैं। दोनों की विकास-विधि एक ही है। स्पेंसर का मत था कि पशु और सामाजिक संस्थाओं का आरंभ कीटाणुओं के रूप में होता है, उन सब का आकार समान और सरल होता है। जैसे-जैसे वे वढ़ते जाते हैं और विकसित होते हैं, वह आकार में असमान और जटिल हो जाते हैं। दोनों की अवस्थाओं में विकास की विधि एक ही होती है। वे समानता और सरलता से असमानता और जटिलता की दिशा में वढ़ते हैं। "जिस प्रकार निम्नतम दर्जे का पशु समस्त पेट, श्वास लेनेवाला सपाट अंग-सा होता है, इसी प्रकार प्रारंभिक समाज समष्टिरूप में योद्धा, शिकारी, झोंपड़ियां वनाने वाला या औजार वनानेवाला होता है। जैसे-जैसे समाज जटिलता में उन्नत होता है,

1. Garner, op. citd.

श्रम-विभाजन की उत्पत्ति होती है, अर्थात् भिन्न कृत्यों के साथ नये अंग प्रकट होते हैं, जो आधार-मूलक लक्षण की दृष्टि से पूर्णतया समान हो जाते हैं।

प्रत्येक अवस्था में भागों की पारस्परिक निर्भरता होती है। जिस प्रकार हाथ बाहु पर निर्भर करता है और बांहु शरीर और सिर पर निर्भर करती है, इसी प्रकार सामाजिक जीवधारी रचना के भाग एक दूसरे पर आश्रित होते हैं।" प्रत्येक जीवधारी रचना अपने जीवन और अपने कृत्यों को पूर्ण करने के लिए इकाइयों के उचित सहयोग और अन्तर्संबध पर निर्भर रहती है। जिस प्रकार एक अंग की रुग्ण अवस्था अन्य अंगों के स्वास्थ्य और उचित कृत्यों को प्रभावित करती है। यही दशा समाज बनाने वाले व्यक्तियों की है, जो एक दूसरे से सर्वोत्तम की प्राप्ति के लिए अभिन्न रूप में सम्बद्ध होते हैं। एक दूसरे पर इतना निर्भर होता है कि एक का दुःख बाकी समस्त समाज को निर्जीव कर देता है। "यदि सामाजिक जीवधारी रचना मे लुहार काम करना छोड़ देता है, अथवा खान में काम करने वाला काम बंदकर देता है, अथवा खाद्य उत्पन्न करने वाला काम नही करता, अथवा समाज की अर्थ-नीति में विभाजन का काम करने वाला अपने स्वाभाविक कृत्य को पूर्ण नही करता, तो इसका आघात सभी को सहना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जैसे पशु जीवधारी रचना को उसके सदस्यों के कृत्य पूर्ण न करने की दशा में सहना होता है।" इससे आगे यह कहा गया है कि समाज और जीवधारी रचना—दोनों का क्षय-विक्षय होता है और उसके बाद पुनर्निर्माण। जिस प्रकार पशु जीवधारी रचना में छिद्र और रक्त-जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और उनकी जगह नये डाले जाते हैं, इसी प्रकार रुग्ण व्यक्ति मर जाते हैं और नये पैदा हुए व्यक्तियों के लिए जगह कर देते हैं।

इसके बाद, स्पेंसर समाज और जीवधारी रचना के बीच कुछ आकार विषयक सादृश्यताएं उपस्थित करता है। उसका कहना है कि समाज में भी जीवधारी रचना में जीवित रहने की प्रणाली, विभाजक प्रणाली, और नियामक प्रणाली के आनुक्रमिक रूप में तीन प्रणालियां है। शरीर मे जीवित रहने की प्रणाली मे मुंह, पेट, अतड़िया और गला समाविष्ट है। इसी प्रणाली के साधन से खाद्य का पाचन होता है और सम्पूर्ण शारीरिक-यंत्र जीवित रहता है। समाज की अपनी निजी जीवित रहने की प्रणाली है और यह उत्पादनशील प्रणाली है, जिसमे निर्माण करने वाले खंड तथा कृषि क्षेत्र सम्मिलित है। जीवधारी रचना की विभाजक प्रणाली मे रक्त-शिरा, दिल, नसें और नाड़ियां हैं और वे संपूर्ण शरीर में रक्त का सञ्चरण करती हैं। सामाजिक ढांचे में सुवाहन और यातायात के साधन जीवधारी रचना की विभाजक प्रणाली के अनुरूप हैं। नसों और नाड़ियों का मानव-देह के लिए जो अर्थ है, समाज के लिए सड़कों, रेलों, डाक और तार का भी वही अर्थ है।[1] अन्ततः, नियामक प्रणाली मोटर यंत्र की तारों जैसी है, जो

१. स्पेंसर ने सन् १८६० मे 'वेस्टमिनिस्टर रीव्यू' में एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने समाज में यत्र-तत्र वस्तुओं को पहुंचाने वाली रेल की ऊपर की ओर जाने वाली तथा नीचे की ओर आने वाली लाईनों की तुलना जीव की धमनियों और शिराओं से की, द्रव्य जिस समाज में रक्त-जीवाणु के तुल्य है और तारें स्नायु रूप में है।

संपूर्ण देह को नियमित रखती हैं। राजनीति रूपी देह में, सरकार व्यक्तियों को नियम पर चलाती है और उनके कार्यकलापों का नियंत्रण करती है, और इस प्रकार यह नियामक प्रणाली के अनुरूप है।

इन समान वातों से, स्पेंसर ने नतीजा निकाला कि राज्य एक जीवधारी रचना है। किन्तु उन्होंने स्वतः स्वीकार किया है कि दोनों के वीच समानता पूर्ण नहीं है। सर्व-सामान्य मनुष्य के आकार तथा पशु जीवधारी रचना में एक "अति असमानता" विद्यमान है। उन्होंने कहा कि पशु जीवधारी रचना का आकार ठोस है, अर्थात् उसकी इकाइयां निकट संपर्क से परस्पर जुड़ी हुई हैं। उनके द्वारा एक ठोस आकार वनता है। और इसके विपरीत सामाजिक शरीर खंडित (discrete) है। इसके भाग जुदा हैं और स्पष्ट हैं, अथवा स्पेंसर के कथनानुसार, सामाजिक शरीर की इकाइयां स्वतन्त्र हैं, और "अधिक या कम विस्तृत रूप में छितरी हुई हैं।"

स्पेंसर ने भी जीवधारी रचना और सामाजिक संस्था के वीच एक अन्य अन्तर वताया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि यह अन्तर इसलिए वहुत अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि "सामाजिक संगठन द्वारा लक्ष्य प्राप्ति की हमारी इच्छा अत्यधिक प्रभावित करता है।" उन्होंने वताया कि सामाजिक शरीर में "स्नायविक चेतना" (Nerve Sensorium) नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवित शरीर की भांति समाज में चेतनता का कोई एक केंद्र नहीं होता। जीवधारी रचना में संपूर्ण के एक निश्चित भाग में चेतनता केन्द्रीभूत होती है; किंतु समाज में यह फैली होती है अथवा संपूर्ण में छितरी होती है। समाज में प्रत्येक व्यक्तिगत सदस्य की अन्यों से स्वतन्त्र अपनी निजी चेतना और कार्य होते हैं।

किंतु राज्य रूप जीव के और जीवधारी पशु की रचना के वीच इन "आधार मूलक" मतभेदों के होने पर भी स्पेंसर अपने इस मत से डिगे नहीं कि राज्य एक जीवधारी रचना है। वस्तुस्थिति यह है कि, उन भेदों के आधार पर उन्होंने अपने व्यक्तिवाद के सिद्धांत (Theory of Individualism) की रचना की। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति को अपने निजी कल्याण के लिए मुक्त छोड़ दे, क्योंकि "समाज का अस्तित्व उसके सदस्यों के लाभ के लिए है, न कि उसके सदस्य समाज के लाभ के लिए।" जो भी हो, हर्वर्ट स्पेंसर ने यह अनुभव नहीं किया कि उनका निष्कर्ष राज्य के जीवधारी स्वरूप को अस्वीकार करता है।

जीवधारी सिद्धांत के अन्य समर्थक (Other Advocates of the Organic Theory)—आस्ट्रियन लेखक, एल्वर्ट शैफल (Albert Schaffle) के वाद जीवधारी सिद्धांत का महत्व नष्ट हो गया। उन्होंने समाज और पशु शरीर के वीच शरीर विच्छेद पर दार्शनिक, प्राणि शास्त्र और मनोवैज्ञानिक संवंधी समताओं का विस्तार के साथ समर्थन किया है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया है कि समाज एक जीवधारी रचना है जिसका जीवन-तत्व या इकाई मनुष्य है, जो एक में तो राज्य या सरकार है और अन्य में अनुक्रम से मस्तिष्क है।" अन्य, जिन्होंने जीवधारी सिद्धांत का प्रवल समर्थन किया है, फ्रांसीसी लेखक हैं, जिन में उल्लेखनीय हैं : आगस्टे

कामटे (Augaste Comte), फाऊली (Fowllee), रेनें वार्म्स (Rene Worms)। कामटे ने मानव-समाज को जीवधारी विकास का सर्वोच्च सोपान बताया," जिनमें संगठन और क्रिया की उस प्राकृतिक समानता का सर्वाधिक पूर्ण विकास सम्मिलित होता है........"[1] रेनें वार्म्स का कथन है कि "शारीरिक चीरा-फाड़ी, दर्शन और समाज के रोग-निदान तथा जीवित प्राणी के आकार, कृत्य और शारीरिक चीराफाड़ी के बीच समानताएं हैं।" किन्तु समाज और जीवित जीवधारी रचनाओं में "पारिभाषिक" समस्याएं प्रकट करने की चेष्टा अब छोड़ दी गई है। वर्तमान में तो राज्य की जीवधारी धारणा (महत्वहीन अपवादों के साथ) केवल हेगलियन (Hegelian) रूप में जीवित रह गई है। राज्य स्वयमेव एक लक्ष्य है; इसके विकास का इसके निजी नियम नियन्त्रण करते हैं। इसके कार्यकारी विभिन्न भाग, जो अन्तर्निर्भर और जुदा होने योग्य नहीं, संयुक्त राष्ट्रीय-जीवन के शक्तिमान जीवन के लिए विद्यमान होते हैं और उसपर निर्भर करते हैं।"[2]

जीवधारी सिद्धांत का विकास (Evolution of the Organic Theory)—राज्य की जीवधारी प्रवृत्ति के विषय में दो दृष्टिकोण हैं। जीवधारी सादृश्य में निस्सदेह लाभदायक अर्थ सिद्ध होता है क्योंकि यह राज्य की एकता पर बल देता है। राज्य, असंदिग्ध रूप में, केवल लोगों का एकत्रीकरण नही होता। यह सामाजिक एकता है। मनुष्य एकाकी जीवन नही बिता सकता। उसका मूल मनोविज्ञान पर निर्भरता है, और व्यक्ति एक दूसरे पर निर्भर होते है और राज्य पर सपूर्ण रूप में। प्रत्येक का कल्याण सब के कल्याण में समाविष्ट है। उसे समाज से जुदा नहीं किया जा सकता, ठीक ऐसे कि जैसे हाथ या टाग को उसके महत्व को नष्ट किये बिना जुदा नही किया जा सकता। राज्य का जीवधारी-रचना के रूप में सामूहिक जीवन होता है, इसलिए, समान उद्देश्य की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने कार्य अथवा कर्त्तव्य के उचित पालन करने पर निर्भर रहती है। प्रत्येक नागरिक के अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने पड़ौसी के प्रति और उस समाज के प्रति सामाजिक दायित्व होते है, जिसकी वह इकाई है।

जिस सीमा तक यह प्रस्ताव है, हम इससे सहमत है और इसे स्वीकार करते है कि राज्य एक जीवधारी के समान है। किन्तु इससे अधिक जितना ही इन समानताओं को प्रकट किया जाता है, उतना ही यह भ्रमपूर्ण हो जाती हैं और अन्तत. राज्य जीवधारी रचना का समीकरण बन जाता है। इसे हम निम्न आधारो पर स्वीकार करने में सकोच करते हैं:

अनेक बातों में तुलना अत्यधिक काल्पनिक है। जीवधारी रचना के जीवाणु तथा समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के बीच कोई समानता नहीं। छिद्रों का अपना निजी कोई स्वतन्त्र जीवन नही। वे भौतिक पदार्थ के यांत्रिक टुकड़े हैं। प्रत्येक को अपने स्थान पर नियत किया गया है, "जिस में विचारने या इच्छा की कोई शक्ति नहीं,

1. Coker: Recent Political Thought, p. 410.
2. Ibid, p. 411.

और जिसका अस्तित्व केवलमात्र संपूर्ण के जीवन की सहायता और स्थिर रखने के लिए होता है।" व्यक्ति स्वतन्त्र, विवेकशील और नैतिक प्राणी हैं, और वह यंत्र की भांति कार्य नहीं करते। उनका शारीरिक जीवन संपूर्ण से स्वतन्त्र होता है। वह अपना भाग्य स्वयं बनाते हैं। यह सत्य है कि मनुष्य अपने को समाज से स्वतन्त्र रखकर अपना कल्याण नहीं कर सकता, तिसपर भी वह समाज के बिना अपना निजी जीवन बिता सकता है। दूसरी ओर, जीवधारी रचना के भाग अपने जीवन के लिए संपूर्ण पर आश्रित होते हैं। यदि भागों को उनके मूल शरीर से काट दिया जाता है, तो उनका अन्त हो जाता है। एक पेड़ की शाखा को जुदा कीजिए और मानव शरीर के एक अंग को काटिए, तो देखिए कि दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। किन्तु व्यक्ति राज्य से अलग रह सकते हैं और अपने अन्तःकरण के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकते हैं। राज्य के अन्दर रहकर वह अपने कृत्यों के ऊपर नियंत्रण कर सकते हैं परन्तु विचार एवं प्रेरणाओं पर नहीं।

यह सत्य है कि राज्य समता और सरलता से असमता और जटिलता की दिशा में उन्नत हुआ है किन्तु इस समान हेतु के होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जीवधारी रचना के समान ही इसके जन्म, उन्नति और पतन की विधि है। दो जीवधारी रचनाओं के मेल से एक जीवधारी रचना का अस्तित्व प्रकट होता है। किन्तु राज्य के जन्म की यह प्रणाली नहीं है। इसके अतिरिक्त इनके उन्नत होने की विधियां भी समान नहीं है। वह "अचेतन रूप में, इच्छा-शक्ति से स्वतन्त्र, केवलमात्र अपने वातावरण और प्राणी-विषयक विश्व के प्राकृतिक नियमों पर निर्भर रहते हुए बढ़ते हैं।"[1] दूसरी ओर, राज्य लोगों की परिवर्तित आवश्यकताओं और मांगों के अनुसार अपना समन्वय करने के लिए परिवर्तन करता है। और यह सारा परिवर्तन सदस्यों की इच्छा और चेतन यत्नों के परिणामस्वरूप होता है। "इसकी उन्नति, यदि इस रूप में इसे कहा जा सकता है, अधिकांशतः इसके व्यक्ति-सदस्यों के चेतन कार्य का परिणाम होती है और अधिकतर आत्म-संचालित होती है"।[2] तब जीवधारी रचना की मृत्यु हो जाती है। किन्तु राज्य की मृत्यु नहीं हो सकती। यह स्थायी है; यह निरन्तर जीवित रहता है। सार रूप में, हम जैलीनेक (Jellinek) के शब्दों को दोहराते हैं, "उन्नति, पतन और मृत्यु राज्य-जीवन की आवश्यक रीतियां नहीं है, यद्यपि जीवधारी रचना के जीवन से उन्हें जुदा नहीं किया जा सकता। राज्य एक पौधे या पशु की तरह अपनी उत्पत्ति अथवा पुनर्रचना नहीं करता।"

पुनः, जीवधारी सिद्धांत, राज्य को क्या करना चाहिए, हमारे इस व्यग्रतापूर्ण प्रश्न का निराकरण करने में सहायक नहीं होता। वस्तुतः, जीवधारी सिद्धांत को व्यक्तिवाद से ले कर समाजवाद तक राज्य के क्षेत्र का समर्थन करने की दृष्टि से प्रयोग किया गया है। हर्बर्ट स्पैंसर मनचाहे सिद्धांत के आधार के लिए इसका प्रयोग करते हैं और राज्य के कार्यों को केवल हिंसा तथा धोखे से बचाने तक सीमित करते हैं। स्पैंसर के अनुसार,

1. Gettell, op. citd., p. 88.
2. Garner, op. citd., p. 220.

राज्य को अपने कार्यकलापों को उन विशिष्ट कृत्यों तक सीमित रखना चाहिए जिनके लिए उसका जन्म हुआ हो। सामाजिक संगठन के "विवेकशील" स्वरूप से वह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व केवल अपनी निजी अच्छाई के लिए होना है और सम्पूर्ण के सुख के लिए नहीं। स्पेंसर के व्यक्तिवाद सिद्धान्तों के प्रतिकूल बहुत से जर्मन लेखकों का मत है कि "राज्य, उच्चतम जीवधारी रचना के रूप में, महत्वपूर्ण इकाई है और सामूहिक कार्यकलाप सामाजिक प्रगति का आदर्श है।" वह राज्य को चतुर्दिशी क्षेत्र प्रदान करता है। इस प्रकार जीवधारी सिद्धांत के समर्थक उग्र समाजवाद और राज्य के निरंकुशवाद का अनुमोदन करते हैं।

निष्कर्ष—हर्बर्ट स्पेंसर का यह निष्कर्ष कि व्यक्ति को एकाकी छोड़ दिया जाय, एक जबर्दस्ती है। सब समताओं के साथ जीवधारी सिद्धांत, जिस रूप में वह बहुधा प्रकट किया जाता है, भीषण परिणामों से भरा हुआ है। "इनमें से कुछ प्राणी विषयक तुलनाएं चातुर्यपूर्ण हैं और उनका अच्छी तरह वर्णन किया गया है। कई लेखकों को वह आकर्षक एवं लुभावनी लगी है, कुछ दूसरों ने उस राज्य के सिद्धांत के लिए उन्हें तर्क का आधार बनाया है, जो समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान करेगा।" इस सिद्धांत का यह तर्कपूर्ण निष्कर्ष है क्योंकि इसका केंद्रीय विचार व्यक्ति और राज्य को मिलाकर एक करना है। इस विषय में हम लीकॉक (Leacock) के शब्दों को दोहराते है, "शरीर के साथ हाथ का अथवा पेड़ के साथ पत्ती का जो संबंध है, वही संबंध समाज के साथ मनुष्य का है। उसका अस्तित्व इसमें है और इसका उसमें।" तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक सामाजिक इकाई है और जिस तरह जीवधारी रचना में भागों को संपूर्ण शरीर से अलग नहीं किया जा सकता, इसी तरह राज्य में व्यक्ति स्पष्ट इकाई नहीं है। वे सम्पूर्ण के अंग प्रत्यंग है और संपूर्ण के अधीनस्थ होने के कारण उनके हितों को सम्पूर्ण के कल्याण के लिये बलि दी जा सकती है। हिटलर और मुसोलिनी के इटली में मनुष्य का व्यक्तित्व जितना ही जीवित रहा हो, किन्तु इतिहास का तो अपना निजी निर्णय है। तदनुसार, जैलीनेक ने प्रस्ताव किया है कि "हमारे लिए अच्छा तो यही है कि हम पूर्णतया इस सिद्धांत को रद्द करें अन्यथा समता की इसकी वृहद् राशि उस अच्छाई को नष्ट कर देगी जो थोड़ी-सी सचाई के रूप में इसमें विद्यमान है।"

Suggested Readings

Barker E.—Political Thought in England, Spencer to Present Day, pp. 175—183.

Follet, M. P.—The New State, Chapters I—IV (1934)

Garner, J. W.—Introduction to Political Science, Chapters III—IV (1810).

Garner, J.W.—Political Science and Government, Chapters IV—VII.

Gettell, R. G.—Introduction to Political Science, Chapters II—IV.

Gilchrist, R.N.—Principles of Political Science, Chapter II.
Jenks, E.—The State and the Nation, pp. 6-7.
Laski, H. J.—Grammar of Politics, Chap. VI (1938).
Laski, H. J.—The State in Theory and Practice, Chap. II.
Leacock, S.—Elements of Political Science, Chap. I.
MacIver, R. M.—The Modern State, Introduction (1926).
Muir, R.—Nationalism and Internationalism, Chap. II (1918).
Sidgwick, H.—The Elements of Politics, Chap. XIV (1908).
Wilson, W.—The State, pp. 27-30 (1918).
Zimmern, A. E.—Nationality and Government.

अध्याय : : ३

राज्य की उत्पत्ति

(Origin of the State)

भूमिका (Introduction)—पहले अध्याय में राज्य का परिचय देते हुए हमने कहा था कि इसकी उत्पत्ति केवल जीवन की आवश्यकताओं से हुई है, और मनुष्य के अच्छे और उन्नत जीवन के लिए इसका अस्तित्व जारी रहता है। किन्तु राज्य की उत्पत्ति एक रहस्य से घिरी हुई है और हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि कब और कैसे इसका आविर्भाव हुआ। मनुष्य शरीर रचना विज्ञान (Anthropology), नृवंश विज्ञान (Ethnology), और तुलनात्मक भाषा विज्ञान (Philology) की हाल ही की खोजों ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है, किन्तु यह सब राज्य की उत्पत्ति की तर्कपूर्ण व्याख्या के लिये पर्याप्त नहीं। इसके बाद, कल्पना का ही केवल विकल्प रह जाता है। और इसमें, समय समय पर उपस्थित किये गए कतिपय सिद्धांतों का आलोचनात्मक परीक्षण करना आवश्यक हो जाता है। उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण ये हैं :

१. सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त (The Theory of Social Contract)
२. दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत (The Theory of Divine Origin)
३. बल का सिद्धांत (The Theory of Force)
४. पितृपक्ष या मातृपक्ष से सबंधित सिद्धांत (The Patriarchal and Matriarchal Theories)
५. ऐतिहासिक या विकासशील सिद्धान्त (The Historical or Evolutionary Theory)

वर्तमान में ऐतिहासिक अथवा विकासशील सिद्धांत को राज्य की उत्पत्ति के सही सिद्धान्त के रूप में सर्वमान्यतया स्वीकार किया जाता है। पहले चार सिद्धान्त क्रियात्मक रूप में रद्द किये जा चुके हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी क्रियात्मक उपयोगिता नहीं। इन भ्रमपूर्ण सिद्धांतों में से प्रत्येक में कुछ न कुछ सचाई का अंश है और इस प्रकार इनसे सही निर्णय तक पहुंचने में सहायता होती है।

काल्पनिक सिद्धान्तों का मूल्य (Value of Speculative Theories)—काल्पनिक सिद्धांत इन दोनों आधारमूलक प्रश्नों को सुलझाने की चेष्टा करते हैं कि कैसे और क्यों राज्य का जन्म हुआ और उनमें से हर एक ने जो व्याख्या की है उसमें कुछ सत्य का अंश है। भ्रमपूर्ण सिद्धांत की परीक्षा करना और उसे रद्द करना सचाई तक पहुंचने का एक साधन है, क्योंकि केवल अंधकार में भटक कर ही तो हम प्रकाश तक पहुंचने की आशा करते हैं। इसके अतिरिक्त काल्पनिक सिद्धान्त उन युगों पर प्रकाश डालते है, जिनमें वे फैले हुए थे। वे मनुष्यों, उनकी विचारधारा, वातावरण तथा उनके विकास की क्रमवार सूची है। हम निश्चयपूर्वक तबतक राजनीतिक संस्थाओं के जन्म और विकास

Gilchrist, R.N.—Principles of Political Science, Chapter II.
Jenks, E.—The State and the Nation, pp. 6-7.
Laski, H. J.—Grammar of Politics, Chap. VI (1938).
Laski, H. J.—The State in Theory and Practice, Chap. II.
Leacock, S.—Elements of Political Science, Chap. I.
MacIver, R. M.—The Modern State, Introduction (1926).
Muir, R.—Nationalism and Internationalism, Chap. II (1918).
Sidgwick, H.—The Elements of Politics, Chap. XIV (1908).
Wilson, W.—The State, pp. 27-30 (1918).
Zimmern, A. E.—Nationality and Government.

: अध्याय : : ३

राज्य की उत्पत्ति

(Origin of the State)

भूमिका (Introduction)—पहले अध्याय में राज्य का परिचय देते हुए हमने कहा था कि इसकी उत्पत्ति केवल जीवन की आवश्यकताओं से हुई है, और मनुष्य के अच्छे और उन्नत जीवन के लिए इसका अस्तित्व जारी रहता है। किन्तु राज्य की उत्पत्ति एक रहस्य में घिरी हुई है और हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि कब और कैसे इसका आविर्भाव हुआ। मनुष्य शरीर रचना विज्ञान (Anthropology), नृवंश विज्ञान (Ethnology), और तुलनात्मक भाषा विज्ञान (Philology) की हाल ही की खोजों ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है, किन्तु यह सब राज्य की उत्पत्ति की तर्कपूर्ण व्याख्या के लिये पर्याप्त नहीं। इसके बाद, कल्पना का ही केवल विकल्प रह जाता है। और इसमें, समय समय पर उपस्थित किये गए कतिपय सिद्धांतों का आलोचनात्मक परीक्षण करना आवश्यक हो जाता है। उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण ये हैं :

१. सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत (The Theory of Social Contract)
२. दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत (The Theory of Divine Origin)
३. बल का सिद्धांत (The Theory of Force)
४. पितृपक्ष या मातृपक्ष से संबंधित सिद्धांत (The Patriarchal and Matriarchal Theories)
५. ऐतिहासिक या विकासशील सिद्धांत (The Historical or Evolutionary Theory)

वर्तमान में ऐतिहासिक अथवा विकासशील सिद्धांत को राज्य की उत्पत्ति के सही सिद्धान्त के रूप में सर्वमान्यतया स्वीकार किया जाता है। पहले चार सिद्धांत क्रियात्मक रूप में रद्द किये जा चुके हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी क्रियात्मक उपयोगिता नहीं। इन भ्रमपूर्ण सिद्धांतों में से प्रत्येक में कुछ न कुछ सचाई का अंश है और इस प्रकार इनसे सही निर्णय तक पहुचने में सहायता होती है।

काल्पनिक सिद्धान्तों का मूल्य (Value of Speculative Theories)—काल्पनिक सिद्धांत इन दोनों आधारमूलक प्रश्नों को सुलझाने की चेष्टा करते हैं कि कैसे और क्यों राज्य का जन्म हुआ और उनमें से हर एक ने जो व्याख्या की है उसमें कुछ सत्य का अंश है। भ्रमपूर्ण सिद्धांत की परीक्षा करना और उसे रद्द करना सचाई तक पहुचने का एक साधन है, क्योंकि केवल अंधकार में भटक कर ही तो हम प्रकाश तक पहुचने की आशा करते हैं। इसके अतिरिक्त काल्पनिक सिद्धांत उन युगों पर प्रकाश डालते हैं, जिनमें वे पनपे हुए थे। वे मनुष्यों, उनकी विचारधारा, वातावरण तथा उनके विकास की क्रमवार सूची है। हम निश्चयपूर्वक तबतक राजनीतिक संस्थाओं के जन्म और विकास

को नहीं जान सकते, जबतक हम उस काल की क्रियाशील शक्तियों से भली भांति परिचित न हों। अन्ततः, काल्पनिक सिद्धांत उस काल की भावना को प्रदर्शित करते हैं जब वे जारी किये गए थे। इसलिए इन सिद्धांतों का विस्तार के साथ परीक्षण करना व्यर्थ यत्न नहीं कहा जा सकता है। ली कॉक ने सही तौर पर कहा है कि "भूत काल के काल्पनिक सिद्धांतों में जो असत्य है, उसे रद्द करने से, शेष के आधार पर सत्य की स्थापना के लिए अधिक शुद्ध निर्णय प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।"

सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त
(Theory of The Social Contract)

सिद्धान्त की व्याख्या (The Theory Explained)—ऐतिहासिक महत्व में सब से मुख्य सामाजिक अनुबंध (Social Contract) का सिद्धांत है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि राज्य की उत्पत्ति उस समझौते या अनुबंध का परिणाम है, जो जाने-बूझे तथा स्वेच्छा से उन आदमियों के बीच होता है जो प्राकृतिक दशा में रहते थे। कुछ लेखकों का मत है कि प्राकृतिक दशा (State of Nature) पूर्व-सामाजिक है। कुछ का मत है कि यह पूर्व-राजनीतिक (pre-political) है। किन्तु जो भी यह थी, प्राकृतिक दशा "सरकार की संस्था पूर्वगामिनी थी। प्राकृतिक दशा (State of Nature) राजनीतिक रूप में संगठित समाज नहीं था। प्रत्येक आदमी अपना निजी जीवन व्यतीत करता था, उस पर किसी प्रकार के मानवी बंधनों के नियमों का नियंत्रण नहीं था। न ही वहां कोई मानवी अधिकारी था जो अन्यों के साथ उसके संबंधों को नियमित रूप देता। प्रकृत दशा में रहने वाले मनुष्यों पर केवल वही नियम लागू होते थे, जो उनके लिए प्रकृति द्वारा बनाने की आशा की जा सकती थी। नियमों की इस विधि को, जो प्राकृतिक दशा में मनुष्य के आचरण का पथ-दर्शन करती थीं, प्रकृति का नियम अथवा प्राकृतिक नियम का नाम दिया गया।

प्रकृत दशा में प्रचलित अवस्थाओं की दृष्टि से सामाजिक अनुबंध सिद्धांत (Social Contract Theory) पर कोई भी दो लेखक सहमत नहीं हैं। कुछ ने इसे "आदर्श सरलता और परमसुख" का राज्य कहा है। कुछ अन्यों ने इसे अंधकारपूर्ण और कष्टपूर्ण चित्रित किया है और इसे "जंगली हिंसक" रूप का राज्य कहा है, जहां जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत चरितार्थ होती थी। कुछ औरों के विचार में यह" अरक्षा की दशा थी, जो यद्यपि जंगलीपन की नहीं थी, और जिस से कुछ स्पष्ट असुविधाएं होतीं थीं।" किन्तु जो-कुछ भी यह था, सब लेखक इस बात से सहमत हैं कि जो लोग प्रकृत दशा में रहते थे, उन्हें अन्ततः, एक अथवा अन्य कारणों से, उसे छोड़ना पड़ा और उसकी जगह नागरिक समाज अथवा सर्वसामान्य मनुष्य को स्थान देना पड़ा, जिसमें प्रत्येक अपने साथी मनुष्यों के साथ संघ-जीवन बिताता था। प्रकृति के नियम को, जो प्रकृत दशा के राज्य में रहने वाले मनुष्यों के आचरण को नियमित करता था, मनुष्य-प्रणीत नियमों द्वारा स्थानापन्न किया गया।

नागरिक समाज का उद्गम पारस्परिक अनुबंध का परिणाम था, मनुष्यों ने उन नियमों का पालना अपना कर्त्तव्य मान लिया जिनके द्वारा नव संगठित समुदाय

अथवा राजनीतिक सस्था के सदस्यों की सुरक्षा सुनिश्चित हो गई। इन नियमों को पारस्परिक स्वीकृत अधिकार द्वारा बनाया गया था। इस प्रकार, प्राकृतिक नियम की जगह मानवनियम स्थापित किया गया और बदले में प्राकृतिक अधिकारों के लिए प्रत्येक व्यक्ति ने देखा कि वह "सामाजिक अधिकारों द्वारा परिवेष्ठित है।" यह अधिकार पारस्परिक रूप से मान्य सत्ता द्वारा घोषित एवं सुनिश्चित किये गये।

विधान की यह सारी विधि अनुबंध के फलस्वरूप थी, अथवा "व्यक्ति के निजी स्वार्थों द्वारा किया हुआ सौदा था, जिसमें सुख-सुविधाओं के बदले दायित्वों का विनिमय किया गया था।" उस अनुबंध की शर्तें क्या थीं, अनुबंध में कौन-कौन दल थे, और राजनीतिक निकाय राज्य (Body politic) के नियमों को लागू करने वाले नियत अधिकारों की शक्ति सीमा क्या थी, इन सब तथ्यों पर मतभेद [illegible] है। इस सिद्धान्त के पक्षपाती उनके मतान्तरस्वरूप विचार से सर्वसम्मत हैं कि राज्य विचार-पूर्वक बनाई हुई मानव रचना है—अर्थात् अनुबंध का परिणाम।

सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त का इतिहास (History of the Social Contract Theory)—सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त राजनीतिक विचार की तरह ही पुरातन है और पूर्व तथा पश्चिम दोनों में ही इसे सम्यक् समर्थन प्राप्त हुआ है। चन्द्रगुप्त मौर्य के सचिव कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख किया है। वे लिखते हैं, "बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को हड़प जाती हैं," इस कहावत के अनुसार अराजकता से पीड़ित लोगों ने सर्वप्रथम मनु को अपना राजा चुना, और अपने उत्पादित अनाज का $\frac{1}{6}$ अंश तथा अपनी व्यापारिक वस्तुओं का $\frac{1}{10}$ भाग राजसत्ता का दायित्व स्वीकार किया। इस भुगतान की सहायता द्वारा राजाओं ने अपने प्रजाजनों की सुरक्षा और शान्ति को स्थिर रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।"[1] ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने अपनी क्राईटो (Crito) और रिपब्लिक (Republic) रचनाओं में इस विषय पर लिखा है। दूसरी ओर, अरिस्टोटल अनुबंध सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि राज्य एक प्राकृतिक अवस्था है, किन्तु रोम के न्याय-शास्त्री भी इस अनुबंध की धारणा के पक्ष में थे। जागीरदारी प्रथा के आधीन भी इसे कुछ समर्थन प्राप्त हुआ क्योंकि मालिक और दासों के बीच अनुबंध के कतिपय आधार थे। गिर्जाघरों के पादरियों ने भी अपने प्रारम्भिक लेखों में इस सिद्धान्त का समर्थन किया था, यद्यपि बाद में उन्होंने इसका परित्याग कर दिया। यह केवल मध्य युगों तथा बाद की बात है कि सामाजिक अनुबंध के विचार ने राजनीतिक लेखकों के विचार-विनिमय में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। मेनगोल्ड (Manegold) इस मत का समर्थन करते हैं कि राजा को हटाया जा सकता था यदि "वह उस समझौते को भंग करता है जिस के अनुसार उसे चुना गया था......"[2]

सोलहवीं और १७वीं सदियों में इसके समर्थकों ने वृद्धि की और न्यूनाधिक इस सिद्धान्त को सर्वमान्य स्वीकृति हो गई थी। हूकर (Hooker) सर्व

1. Arthshastra, Bk. I, ch. XIII
2. As quoted by Sabine, A History of Political Theory p. 211.

वैज्ञानिक लेखक थे, जिन्होंने सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत की तर्कपूर्ण व्याख्या की थी यद्यपि उन्होंने गिर्जे की सत्ता की रक्षा के लिए विरोधियों के आक्रमणों के विरुद्ध इसका प्रयोग किया था। डच न्यायाधीश, ह्यूगो ग्राट्स के लेखों से भी इस सिद्धांत का पृष्ठ-पोषण हुआ। किन्तु इसका वास्तविक समर्थन हाब्स, लॉक (Locke) और रूसो ने किया। सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत पर विचार करते हुए हमारा मुख्य संबंध इन तीन लेखकों के राजनीतिक दर्शन से है, जिन्हें सामूहिक रूप में अनुबंध का रचयिता कहा जाता है।

हाब्स (Hobbes)—टामस हॉब्स (१५८८–१६७९) ने १६५१ में अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' (Leviathan) प्रकाशित की थी। इंग्लैंड के चार्ल्स द्वितीय के ये शिक्षक भी रहे थे। इस पुस्तक में सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत पर उन्होंने उल्लेखनीय व्याख्या की है। जो भी हो, यह स्मरण रखना चाहिए, कि हाब्स की राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत को हमें देने की कोई इच्छा नहीं थी। सामाजिक अनुबंध के तर्क का उसने पूर्ण सरकार के लिये रक्षा-यंत्र के रूप में और स्टुअर्ट के अनियंत्रित राज्यतंत्र की न्याय्यता के रूप में प्रयोग किया था। उनके जीवन-काल में इंग्लैंड १६४२-५१ के घरेलू युद्ध के संघर्षों से निकल रहा था। चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक होने के कारण उनके व्यक्तिगत हित शाही-दल से संबद्ध थे और वे सचाई के साथ विश्वास करते थे कि राजशाही ढंग की सरकार सर्वाधिक स्थिर और नियमित है और वही इंग्लैंड में शांति और व्यवस्था ला सकती है। इसलिए, उनका मत राजतंत्र (Monarchy) की पूर्ण शक्तियों का समर्थन और रक्षा करना था।

हाब्स के कुछ आलोचकों ने उसे स्टुअर्टस का पिट्ठू कहकर कलंकित किया है। निःसंदेह, यह उनकी ज्यादती है। जो भी हो, यह सत्य है कि उन्होंने राजाओं के असीमित अधिकार के सिद्धांत का उस काल में समर्थन किया और साथ दिया जब कि इस प्रकार के अधिकार के विरुद्ध जबरदस्त विरोध था। फलतः, हॉब्स के सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत का तभी सहज ज्ञान हो सकता है जब इस वातावरण को दृष्टिगत रखते हुए उसकी परीक्षा की जाय। अर्थात् हॉब्स के लेखों पर घरेलू युद्ध की छाप थी और उनकी इच्छा राजा के पक्ष को प्रभावित करने की थी क्योंकि उनका विश्वास था कि देश का हित सरकार की एक पूर्णतया स्वतन्त्र प्रणाली में निहित है।[1]

हाब्स अपने सिद्धांत का प्रारम्भ प्रकृत दशा से करते हैं। किन्तु इस सिद्धांत की वास्तविक नींव उनके द्वारा मनुष्य की प्रकृति के उस स्वरूप का मूल्यांकन है जो सामाजिक जीवन की स्थापना से पूर्व था। हाब्स का प्रकृत दशा वाला मूलतः स्वार्थी स्वार्थरत और अहंकारी है। उसकी सभी क्रियायें उसके निजी स्वार्थों के विचार से अभिप्रेत हैं, दूसरों के हितों के विचार का उसमें समावेश नहीं है। इस प्रकार उस में एक स्थायी और आकुल कामना, अपनी इच्छाओं एवं भूख की संतुष्टि के लिये विद्यमान है और साथ ही गौरव

1. "His (Hobbes') principles were at least as contrary to the pretensions of the Stuarts whom he meant to support as to those of the revolutionists whom he meant to refute and more contrary to both than either royalist or Parliamentarian was to the other. The friends of the king might well feel that Hobbes's friendship was as dangerous as Cromwell's enmity," Sabine, op. citd; p. 456.

की लालसा भी है जो उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त होती है। वह दया एवं सहानुभूति से अनभिज्ञ है। वस्तुतः यह दोनों उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है और यदि कभी भी वह कोई परोपकार का कार्य करता है तो वह उसके "शक्ति-प्रेम (Love of power) और शक्ति के प्रयोग से उत्पन्न प्रसन्नता का परिणाम है।" मानव-स्वभाव के इस विश्लेषण से हाब्स इस परिणाम पर पहुंचे कि मनुष्य तनिक भी सामाजिक नही है। निस्सन्देह वह "अपने साथियों के साहचर्य शोक के अतिरिक्त और कुछ नही पाता" जो सब के सब लगभग समान रूप से स्वार्थी, स्वार्थग्रस्त, चालाक, दम्भी, पाशविक, लोभी और आक्रामक है। अतएव हाब्स के अनुसार प्रकृत दशा अनवरत युद्ध की स्थिति है जिसमें प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक मनुष्य का शत्रु है।

हॉब्स द्वारा निर्धारित प्रकृत दशा का ऐसा अधकारपूर्ण चित्र है। उनका कहना है है कि प्रकृत दशा के मनुष्य भूखे भेड़ियों की मानिन्द है जिनमे से हर एक दूसरे को फाड़ डालना चाहता है। जिन प्राकृतिक अधिकारों से व्यक्ति सपन्न होते है, वह पशु-बल से किसी भी दशा मे कम नही। हाब्स के शब्दों मे प्राकृतिक स्वाधीनता इससे अधिक कुछ भी नही कि "प्रत्येक आदमी के पास जो स्वाधीनता है, वह केवल अपने निजी स्वभाव को रक्षित करने की निजी शक्ति के प्रयोग के लिए है।" ऐसी परिस्थिति मे सच या झूठ के बीच, न्याय या अन्याय के बीच, कोई भी अन्तर नहीं, क्योंकि जीवन का नियम यह है "प्रत्येक आदमी का केवल वही अपना होगा कि जिसे वह पा सकता है; और वह भी तब तक के लिए, जब तक वह उसे रख सकता है।" आदमियों के बीच स्वार्थों का निरन्तर और अनिवार्य सघर्ष है, तो उद्योग, नौचालन, कृषि, भवन-निर्माण, कला या भाषा कुछ भी नही हो सकता। तब हाब्स इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि ऐसी अवस्थाओं ने मनुष्य के जीवन को एकाकी, दीन, निकम्मा, जगली और अल्प बना दिया।

नि सदेह, जीवन की ऐसी अवस्थाए असहनीय है और अनिश्चित काल तक जारी नहीं रह सकती। मनुष्य ने जीवन की इन अवस्थाओ के लिए सदा भार लिया है जो उसके जीवन और सपत्ति का सकट म डालती है। हाब्स की प्रकृत दशा मे न तो जीवन की सुरक्षा थी और न ही सपत्ति की और तदनुसार उसके अधिवासियो ने आपस मे समझौता किया कि अनवरत सघर्ष और अरक्षा की ऐसी अवस्थाओ का अन्त किया जाय, और प्रकृत दशा की जगह नागरिक समाज का स्थान दिया जाय। इस प्रकार निर्मित नागरिक समाज मनुष्यो को सुनिश्चितता एव सुरक्षा पूर्ण जीवन प्रदान करती। उसका जीवन तदनन्तर एकाकी न रहता वरन् ऐक्य और सहयोग का जीवन होता। ऐक्य और सहयोग के जीवन की माग है एक सर्वमान्य सत्ता की आधीनता। सर्वमान्य सत्ता की आधीनता भले ही वह कितनी ही स्वेच्छाचारी हो, प्रकृत दशा के पारस्परिक सघर्ष से अच्छी समझी गई थी। नागरिक समाज की रचना इस प्रकार विचारपूर्वक पारस्परिक समझौतेके फलरूप की गई। इसलिये हाब्स के अनुसार यह अनुबध प्रत्येक का सब के साथ और सब का प्रत्येक के साथ था। यही है सामाजिक अनुबध के कीटाणु कि जब प्रत्येक आदमी ने हर अन्य आदमी से कहा :

"मै इस आदमी या आदमियों के इस सघ को, इस शर्त पर अधिकार देता हूं,

और अपने आपको शासित करने के अपने अधिकार को छोड़ता हूं, कि आप भी उसे अपना अधिकार दे दें और इसके सब कार्यों को उसी रूप में अधिकृत करें........, यह उस महान् दैत्य अथवा यदि हम अधिक सम्मान के शब्दों का प्रयोग करें, उस नाशवान प्रभु की वंशावलि है कि जिस अविनाशी प्रभु के अधीन हम शांति और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी हैं।"

इस प्रकार व्यक्तियों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों को किसी विशिष्ट आदमी या आदमियों की सभा को समर्पित कर दिया। व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की सभा, जिसे उन्होंने अपने प्राकृतिक अधिकारों को समर्पित किया था, राजसत्ता से विभूषित हुए और समर्पण करने वाले व्यक्तियों को, जिन्होंने राजसत्ता के अधिकार को मानना उसकी प्रजा हो गये। वह राजसत्ता उस अनुबंध में किसी दल के रूप में नहीं थी और उसका अधिकार सीमित था। हाब्स का अभिमत है कि राजसत्ता के प्रति प्रत्येक और सबकी निर्विवाद वचनबद्धता द्वारा ही एक वास्तविक सुदृढ़ सर्वतंत्र की स्थापना हो सकती थी, उसके अनुसार किसी प्रकार की "शर्तें" लगाने से अनिश्चय और अविश्वास की संभावना हो सकती थी जिसके फलस्वरूप फिर ऐसे झगड़ों की उत्पत्ति हो जाती जिनका निपटारा संभव न होता और तब अराजकता (anarchy) तक फैल जाती। इस संबंध में निम्न बातों को दृष्टि में रखा जा सकता है :

१. यह सामाजिक अनुबंध है और सरकारी अनुबंध नहीं और फलतः, राजसत्ता अनुबंध में सम्मिलित नहीं। राजसत्ता (Sovereign) अनुबंध की रचना है, अथवा डनिंग (Dunning) के कथनानुसार "एक प्रभु-शक्ति या, राजसत्ता का केवल संधि के गुण से ही अस्तित्व होता है, और उससे पूर्व नहीं।" प्रकृत दशा में रहने वाले व्यक्ति, स्वभावतः समान थे, उन्होंने एक दूसरे के साथ समझौता किया कि वह एक सर्वमान्य अधिकारी को अपने प्राकृतिक अधिकारों को सौंप देते हैं और यह सर्वमान्य अधिकारी उस तथ्य से उनकी प्रभुशक्ति (Superior) बना किन्तु वह प्रभुशक्ति अथवा सत्तावान स्वतः उस अनुबंध में सम्मिलित नहीं था।

२. अनुबंध में कोई पक्ष न होने के कारण राजसत्ता का अधिकार स्वतन्त्र और असीमित था, क्योंकि यह किसी शर्त के साथ नहीं सौंपा गया। राजसत्ता के पास असीमित अधिकार और निर्बाध विवेक होता है, जिससे वह उन लक्ष्यों की पूर्त्ति कर सके कि जिन्होंने नागरिक समाज की रचना की आवश्यकता को उत्पन्न किया, अर्थात्, शांति और प्रकृत दशा की बुराइयों से मुक्ति। हाब्स का कथन है, "ऐसी सर्वमान्य शक्ति की स्थापना का केवल यही उपाय है...............कि उनकी सारी शक्ति या बल को एक आदमी या आदमियों की एक सभा को दे देना, कि जो उनकी इच्छाओं को, जो वाणियों की अनेकता से बनती है, एक इच्छा का रूप दे दे।"

३. वह अनुबंध संपूर्ण समूह पर सतत सामाजिक बंधन के रूप में अटूट प्रतिज्ञा का रूप धारण कर लेता है, क्योंकि व्यक्तियों ने आत्म-स्थिरता के सिवा अपने लिए कोई अधिकार नहीं छोड़ा होता। अनुबंध की शर्तों से निकलने का तात्पर्य यह है कि पुनः विवशता से उसी प्रकृत दशा की अवस्थाओं में लौटा जाय कि जिनमें से निकलने के लिए उन्होंने अनुबंध किया था।

जा सकता है। किन्तु राजतंत्र के लिए उनकी प्राथमिकता माना हुआ तथ्य है। उनकी राय में, राजतंत्र (Monarchy) ही केवल सरकार का उचित रूप नहीं है, किन्तु यह रूप सर्वोत्तम है। इसके सरकार के अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक लाभ हैं और त्रुटियां न्यून ।

हॉब्स के सिद्धान्त की आलोचना

हाब्स प्रथम अंग्रेज है, जिसने राजनीतिक दर्शन की तर्कपूर्ण प्रणाली को उपस्थित किया । उन्होंने अपनी राजनीतिक प्रशासन की विधि में प्रचलित राजनीतिक विचारों को इतनी चतुराई से सम्मिलित किया और अपने उद्देश्यों को व्यवस्थित किया कि वह तत्काल ही राजनीतिक विचारकों की प्रथम श्रेणी में आ गए और "उनका सिद्धांत प्रकट होने के क्षण से लेकर प्रवल विवाद का केंद्र वन गया तथा संपूर्ण पश्चिमी योरोप में उसका विस्तृत प्रभाव छा गया।" हाब्स की कड़ी आलोचना की गई है। उनके विचार, जो सुदृढ़ वैज्ञानिक विधि द्वारा निर्मित थे, उनके अपने काल के थे, और, वर्तमान में वह समय के विपरीत हैं। तिस पर भी, उनकी दार्शनिकता वेकन (Bacon) के कथन को चित्रित करती है कि, "भ्रम की अपेक्षा भूल में से सत्य अधिक सहज भाव से प्रकट होता है।"

जहां तक कि सामाजिक अनुवंध का प्रश्न है इस वात का रंचमात्र भी प्रमाण नहीं मिलता कि कोई ऐसी घटना हुई हो। उसका सिद्धान्त तर्क-रहित है, क्योंकि अनुवंध आरंभ नहीं प्रत्युत समाज का अंत है। वस्तुतः, समाज वस्तु-स्थिति (status) से अनुवंध की ओर वढ़ा है, और हाब्स के कथनानुसार अनुवंध से वस्तु-स्थिति की ओर नहीं। न ही मनुष्य स्वभावतः इतना स्वार्थी, मतलवी और आततायी रहा है, जैसा कि हाब्स ने उसे दर्शाया है। मनुष्य सुधारवादी और सामाजिक प्राणी है। हाब्स का यह मत कि मनुष्य स्वभावतः असामाजिक है, और "अपने जैसों का शत्रु है", यह अरिस्टोटल के इस मत के सर्वथा विपरीत है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज का स्वभाव और आवश्यकता द्वारा अस्तित्व है और यह तव से विद्यमान है, जवकि मनुष्य इस पृथ्वी-तल पर प्रथमतः प्रकट हुआ था। मनुष्य सामाजिक होने के कारण, एकाकी जीवन नहीं विता सकता। उसकी सामाजिकता उसे सुधारवादी वनाती है और, इसलिए, अपने साथी मनुष्यों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण ।

हाब्स अपनी प्रकृत दशा का पूर्व-सामाजिक और पूर्व-राजनीतिक के रूप में वर्णन करते हैं। साथ ही वह कहते हैं कि मनुष्य प्रकृत दशा में प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। अधिकार हमेशा समाज में उत्पन्न होते हैं। यदि समाज ही न हो, जैसाकि हाब्स की प्रकृत दशा है, तो फिर वहां अधिकार ही कैसे मौजूद थे ? इसके वाद प्रत्येक अधिकार के साथ आनुक्रमिक दायित्व होता है किंतु हाब्स के प्रकृत दशा के मनुष्य के साथ कोई दायित्व ही नहीं था। हाब्स के अनुसार अधिकारों का समर्पण हुआ। किन्तु यह विश्वास करना सामान्य वुद्धि के विपरीत है कि मनुष्य अपने सव अधिकार सौंप देगा। हाब्स स्वयं उस समय असंगत हो जाता है जव वह यह कहता है कि मनुष्य ने अपने लिए आत्म-

रक्षा का अधिकार रख लिया ।[१] पहले तो पूर्ण आत्म-समर्पण और उसके बाद अधिकार की रक्षा, यह नहीं हो सकता है ।

अनुबन्ध सदैव दो दलों में होता है । यह एकपक्षी (one-sided) नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त अनुबन्ध का उस समय तक बंधन है, जब तक दोनों दल अनुबंध की शर्तों पर दृढ़ रहें । किन्तु हाब्स कहते हैं कि राजसत्ता अनुबन्ध में पक्ष नहीं है और वह भंग नहीं किया जा सकता । यह मानव-युक्ति के सर्वथा विपरीत है । इसके बाद, हाब्स राज्य और सरकार के बीच कोई अंतर नहीं करते । वह दोनों को समानार्थक रूप में ग्रहण करते हैं और उनका राज्य तथा सरकार के बीच भेद न करना उनके सिद्धान्त की सब से बड़ी कमी है । राजनीतिक विज्ञान का एक विद्यार्थी दोनों में बड़ा अन्तर देखता है । वह इससे भी आगे बढ़ जाता है और राज्य के लिए सरकार शब्द के गलत प्रयोग को ही सब राजनीतिक बुराइयों के लिए जिम्मेदार ठहराता है । आधुनिक युग में हाब्स ही सर्व-प्रथम थे जिन्होंने इस भूम का श्रीगणेश किया और उन्होंने अपनी राजसत्ता को असीमित अधिकारों वाला बनाया । इससे आगे वह कहते हैं कि नियम राजसत्ता का आदेश है और हाब्स के लिए राजसत्ता राजतंत्र था । वस्तुत, नियम लोगों की इच्छा की अभिव्यक्ति है और यह लोग ही हैं कि जो अन्ततः राजसत्ता है । किंतु हाब्स राजसत्ता के इस अंग को अस्वीकार करते हैं ।

लॉक (Locke)—यदि हाब्स ने राजतंत्र की पूर्ण राजसत्ता का प्रबल समर्थन किया तो एक अन्य अंगरेज राजनीतिक दार्शनिक, जॉन लॉक (John Locke) ने इंग्लैंड में सीमित राजतंत्र (Limited Monarchy) के पक्ष का समर्थन किया । वास्तव में उनके सिद्धान्त ने सन् १६८८ की राज्य क्रान्ति की और जेम्स द्वितीय के गद्दी पर से उतारे जाने को न्याय्य ठहराया । जॉन लॉक का सिद्धान्त उनकी १६९० में प्रकाशित Two Treatises of Government नामक पुस्तक में मिलता है, जिसमें उन्होंने लोगों के इस अन्तिम अधिकार का पक्ष समर्थन किया है कि राजा को उसके अधिकार से हटाया जा सकता है बशर्तेकि वह उन्हें उनकी "स्वाधीनताओं और संपत्तियों से कभी वंचित करे ।"[२] लॉक ने, वस्तुतः, जैसाकि वह स्वयं भी मानते हैं, यह चाहा था कि "हमारे वर्तमान शाह विलियम का सिंहासन स्थापित किया जाय, और लोगों की अनुमति से उनके पद को मान्यता प्रदान की जाय ।" 'लोगों की अनुमति से' इन शब्दों पर गौर

१. "यदि वास्तविक रूप में समाज में अराजकता उत्पन्न हो जाय और राजसत्ता में प्रजाजनों को वह सुरक्षा देने की शक्ति न रह जाय जो सामाजिक संधि का एकमात्र लक्ष्य है, तो सत्य रूप में राजसत्ता के प्रति उनका दायित्व समाप्त हो जाता है ।"

Dunning, op. citd p 289

२. "यदि कोई समाजके अधिकारों को नष्ट करने की चेष्टा और योजना करता है, यहां तक कि उसके विधायक भी यदि कभी इतने मूर्ख और नीच हो जाय कि प्रजाजनों की स्वाधीनताओं और संपत्तियोंके विरुद्ध चलने लगें और कार्यकरें, तो समाज (Community) अपने-आप को उनसे बचाने के लिए सर्वोच्च शक्ति बनाए रहता है ।"

Treatises of Government II, Sec. 149.

कीजिए और यही शब्द लाक के सिद्धान्त के मूलाधार हैं। लॉक के कथनानुसार, नागरिक अधिकार, अनुमति पर आधारित है।

लॉक भी प्रकृत दशा की धारणा से आरंभ करता है। किन्तु लॉक की धारणा के अनुसार प्रकृत दशा पूर्व-सामाजिक अवस्था की अपेक्षा पूर्वराजनीतिक है और तदनुसार, वह वैसी अंधकारपूर्ण स्थिति वाली नहीं जैसी कि हाब्स की थी। यह नियमहीन अवस्था नहीं कि जिसमें प्रत्येक के विरुद्ध प्रत्येक संघर्ष में लगा हुआ है। लॉक के निजी शब्दों में प्रकृत दशा वह है, जिसमें "शांति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता और स्थिरता है।" इसलिए प्रकृत दशा के आदिवासी स्वार्थी, स्वार्थरत और आततायी नहीं हैं। लॉक मनुष्य को अन्यों के प्रति सामाजिक और सहानुभूतिपूर्ण देखता है, क्योंकि इसका दृष्टिकोण प्रकृति के नियम द्वारा निश्चित होता है। "इस नियम के अधीन, जिसका परिभाषी तर्क है, मनुष्य के एक दूसरे के साथ संबंध में आधारमूलक तथ्य समानता है।"[1] प्रकृत दशा की विधि (कानून) इस प्रकार विवेक निर्धारित नियम हैं और विवेक प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों को समानता के आधार पर मान्यता प्रदान करने का निर्देश देता है।

प्रकृति के नियम की इस आधार पर लॉक प्रत्येक आदमी से संबंध रखने वाले प्राकृतिक अधिकारों के अपने सिद्धांत की रचना करता है जो समान रूप से प्रत्येक आदमी के हैं। इन अधिकारों को तीन वर्गों में बांटा गया है, अर्थात् जीवन-स्वतन्त्रता और संपत्ति,[2] सभी निवासियों द्वारा प्राकृतिक अधिकारों से अवगत होने और उनके प्रति सम्मान की भावना रखने को प्रदत्त दशा की विशेषता बताया गया है जबकि प्राकृतिक अधिकारों का अनुसरण करते हुए हर कोई अपनी रुचि के अनुकूल जीवन बिताता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हर कोई अपने साथियों की इच्छाओं की पर्वाह न करता हुआ जो चाहे, वह करता है। लॉक की प्रकृत दशा स्वाधीनता की अवस्था है, न कि आदेश-प्राप्ति की; क्योंकि इसका "शासन करने का एक नियम है जिसके प्रति हर कोई बद्ध रहता है; और व्यवस्था, जो मानव-मात्र को उस नियम की सीख देती है, जिससे उन्हें परामर्श लेना ही होगा, अर्थात् सब समान और स्वतन्त्र हैं, किसी को भी किसी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वाधीनता या अधिकारों में क्षति नहीं पहुंचानी चाहिए।"[3] दूसरे शब्दों में प्रकृत दशा के प्रत्येक आदमी को अपनी निजी स्वाधीनता का मूल्य समझते हुए कर्त्तव्य रूप में दूसरों की स्वाधीनता का सम्मान करना चाहिए।

प्रकृत दशा में प्रचलित शांति और व्यवस्था की इन अवस्थाओं के बावजूद भी कुछेक असुविधाओं का अनुभव हुआ। ये असुविधाएं या त्रुटियां संख्या में तीन थीं— प्राकृतिक नियम की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं थी; उसकी परिभाषा करने वाला कोई योग्य अधिकारी नहीं था; और कोई भी ऐसा नहीं था, जो प्रभावशाली रूप में उसे लागू

1. Dunning, op. citd., p. 346.

2. Locke epitomises all these rights under the concept of 'property'. Man......hath by nature a power......to preserve his property—that is—his life, liberty and state.

3. Treatises, II, Sec. 6.

कर पाता। इन असुविधाओं ने, प्रकृत दशा को अशान्त और कठिन बना दिया। यह प्राकृतिक नियम बुद्धि का नियम था, जिस पर भी बुद्धि के भेदों तथा स्वार्थों के संघर्ष इसकी अनुकूलता को अनिश्चित बना दिया था, क्योंकि हर कोई अपने निजी लाभ के लिए उसकी परिभाषा करता था। इस प्रकार की अवस्था में उन लोगों में भी झगड़े हो सकते थे, जो प्रकृति के नियम के प्रति वचनबद्ध थे। इसके बाद, प्रकृत दशा में ऐसा कोई न्यायाधीश नहीं था, जो इस प्रकार के भेदों का स्थापित नियम के अनुसार निश्चय कर पाता। अन्ततः गलती करने वाले को दिये दंड का समर्थन और पृष्ठपोषण करने वाली शक्ति का अभाव था। तदनुसार, इस बात की आवश्यकता महसूस की गई कि ऐसे निश्चित और स्पष्ट नियम का उदय होना चाहिए, जो व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा की प्रतिज्ञा कर सके। डनिंग के कथनानुसार, "ऐसा नियम प्राप्त करने के लिये ही नागरिक समाज की स्थापना हुई है।"[1] इस प्रकार नागरिक समाज अथवा राज्य, प्रकृत दशा में अनुभव की गई असुविधाओं के विरुद्ध उपचार के रूप में उत्पन्न हुआ। इस तरह के निर्मित नागरिक समाज ने अपने सदस्यों को सुनिश्चितता और सुरक्षा की अवस्था प्रदान की तथा अधिकारों को प्रभावशाली ढंग से लागू करने के हेतु सरकार के रूप में एक यंत्र को जन्म दिया।

लॉक का नागरिक समाज अनुबंध का परिणाम है किन्तु लॉक के अनुसार दो अनुबंध हैं, यद्यपि वह इतनी स्पष्टता से उन्हें कहता नहीं। पहला अनुबंध प्रकृत दशा का अन्त करता है और उसकी जगह नागरिक समाज को स्थिर करता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के साथ समाज या समूह में सम्मिलित होने और निर्माण करने का अनुबंध करता है। इस अनुबंध को करने का उद्देश्य "सम्पत्ति" अर्थात् जीवन, स्वतन्त्रता, जायदाद को रखना तथा सुरक्षित करना है। यह प्रथम अथवा सामाजिक अनुबंध है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा यह समझौता किया जाता है कि वह तर्क के नियम (Law of reason) के अपने प्राकृतिक अधिकार को छोड़ता है। यहां दो बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। प्रथम यह कि केवल एक ही अधिकार, अर्थात् विवेक पर आधारित नियम को लागू करने के अधिकार का ही परित्याग हुआ और सब अधिकारों का नहीं, जैसा कि हॉब्स कहते हैं। दूसरे यह कि प्राकृतिक अधिकार न तो एक आदमी या आदमियों की सभा को सौंपा गया, जैसा कि हॉब्स ने किया है, प्रत्युत समष्टि रूप में समाज अथवा समूह (Community) को सौंपा गया। "इस प्रकार निर्माण करनेवाले व्यक्तियों के कार्य से समाज को यह निश्चय करने के कृत्यों (Functions) का अधिकार मिल गया कि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कौन से अपराध हैं, और उस नियम को भंग करने के क्या दंड हैं।

प्रथम अनुबंध के हो चुकने के बाद लोगों ने अपने सामाजिक रूप में (Incorporate capacity) एक दूसरे के साथ अनुबंध किया अर्थात् सरकार विषयक अनुबंध। दूसरा अनुबंध प्रथम अनुबंध की शर्तों का पालन करने के लिए सरकार स्थापित करने के लिए था। इस अनुबंध की शर्तों के अनुसार समाज अपनी सामाजिक स्थिति के रूप में सरकार को प्रकृति के नियम के अनुरूप नियम बनाने, झगड़ों का निर्णय करने और उन्हें कार्यान्वित करने का अधिकार देता है। फलतः सरकार के अधिकार को इस शर्त के अनुसार सीमित

1. Dunning op. cit., p. 343.

ही समझना होगा कि इसका प्रयोग "स्थापित ख्यात नियमों" की क्रियान्विति के लिए होगा और पक्षपात रहित न्यायाधीशों द्वारा अमल में लाए जायेंगे। इसलिए यह स्वभावत: और युक्तियुक्त रूप में उस लक्ष्य द्वारा सीमित की गई है, जिसके लिए सरकार की स्थापना हुई है और वह लक्ष्य प्रकृत दशा की कमियों के उपचार के लिए है। इस प्रकार, द्वितीय अनुबंध उस सीमा तक प्रथम के आधीन है कि यदि सरकार सामाजिक अनुबंध की शर्तों का पालन करने में असफल रही है, तो समाज उसे बर्खास्त कर सकता है और उसकी जगह दूसरी सरकार नियुक्त कर सकता है। इस ढंग से लॉक राजतंत्र को अनुबंध का एक पक्ष बनाता है, उसके अधिकार को मर्यादित करता है, और उसके साथ ही जेम्स द्वितीय के सिंहासन च्युत होने और विलियम तथा मेरी के सिंहासन आरूढ़ होने के अधिकार को न्याय्य बतलाता है।

विस्तृत व्याख्या करते हुए लॉक सरकार के वैधानिक एवं प्रबंध विषयक कृत्यों के बीच स्पष्ट अन्तर करता है। वह दोनों के बीच अधिकारों को अलग करने का भी समर्थक है, क्योंकि उसकी राय में, अधिकारों को जुदा करने का सिद्धांत विधान सभा और प्रबंध के बीच संबंधों का निश्चय करने के लिए लाभदायक है।[1] विधायिका को कार्यपालिका से उच्च मानता है क्योंकि विधायिका वह यंत्र है जिसके द्वारा समाज की इच्छा व्यक्त होती है। राज्य का वह विभाग, जो विधि का पालन कराता है—(कार्यपालिका) आवश्यक रूप से उस विभाग के (विधायिका) आधीन होना चाहिये जो उनको बनाता है, क्योंकि इच्छा की अभिव्यक्ति पहले होती है, और उसके कार्यान्वित होने को निर्धारित करती है। यद्यपि विधायिका सर्वोच्च है तथापि वह राजसत्ता नहीं है।"[2] यदि कोई समाज या समूह के अधिकारों को नष्ट करने की चेष्टा और योजना करता है, यहां तक कि उसके विधायक भी

---

१. विधान सभा और प्रबंध के अधिकारों को जुदा करना वह महत्वपूर्ण समझते हैं, क्योंकि वह मानव दुर्बलता के उस प्रलोभन को दूर करता है कि जब जिन व्यक्तियों के हाथ में नियम बनाने के अधिकार हैं, और उन्हीं लोगों के हाथ में उसे क्रियान्वित करने की शक्ति है, जिसके कारण वह अपने द्वारा बनाए नियमों का पालन करने से अपने को मुक्त रख सकते हैं, और अपने निजी लाभ के अनुरूप नियम को बना लेंगे और अमल में लायेंगे।"

Lock, op. citd., II. Ch. XII Sec. 143.

२. "वैधानिक अधिकार, जो लोगों की अनुमति द्वारा निर्मित होता है, राजतंत्र में सर्वोच्च सत्ता बन जाता है, किन्तु वह स्वच्छंद नहीं है। शर्त के अनुसार इसका प्रजाजनों के कल्याण के लिए उपयोग होना चाहिए। सरकार एक ट्रस्ट (न्यास) के रूप में है और केवल इस प्रकार के अधिकारों से संपन्न होती है जो प्रकृत दशा के काल में उसे परिवर्तन द्वारा सौंपे गए थे, विधान सभा को स्थायी नियमों और अधिकृत न्यायाधीशों द्वारा न्याय करना चाहिए। किसी आदमी को उसकी अनुमति के बिना संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता है, और न ही लोगों अथवा उनके प्रतिनिधियों की अनुमति के बिना उनपर कर लगाए जा सकते हैं। अन्ततः विधान सभा अपने अधिकारों को किसी अन्य व्यक्ति या संस्था को नहीं सौंप सकती। यह केवल लोगों द्वारा दी गई प्रतिनिधि शक्ति है, उसे जो समाप्त भी कर सकते हैं।"

यदि कभी इतने मूर्ख और नीच हो जाय कि वे प्रजाजन की स्वाधीनताओं और सम्पत्तियों के विरुद्ध कार्य करने लगें, तो समाज अपने-आपको उनसे बचाने के लिए सर्वोच्च शक्ति द्वारा सक्षम होता है।[1] इस तरह, यह सर्वोच्च शक्ति या राजसत्ता शक्ति संयुक्त संस्था को सौंपी जाती है जो सामाजिक संधि अर्थात् समाज द्वारा निर्मित होती है।

लॉक के सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत के सारांश में निम्नलिखित मुख्य बातें लिखी जा सकती हैं :

१. लॉक की प्राकृतिक दशा [सामाजिक अवस्था के पहले के बजाय राजनीतिक अवस्था से पहले की थी।]

२. हॉब्स की प्राकृतिक दशा की तरह उसकी प्राकृतिक दशा निरन्तर संग्राम की दशा न थी। लॉक के अनुसार यह समानता तथा तर्क की दशा थी।

३. परन्तु प्राकृतिक दशा में कुछ असुविधाओं का अनुभव हुआ। ये असुविधाएं गिनती में तीन थी। तर्क के कानून के लागू होने में अनिश्चितता, स्थापित कानून के अनुसार झगड़ों को तय करने के लिये एक सामान्य न्यायाधीश की कमी और इन फैसलों को लागू करने के लिये कोई उचित सत्ता नहीं थी।

४. लॉक के अनुसार दो अनुबंध थे। सामाजिक अनुबंध तथा सरकारी अनुबंध। पहले ने प्राकृतिक दशा का अन्त किया तथा उसके स्थान पर नागरिक समाज की स्थापना की तथा दूसरा अनुबंध एक सरकार बनाने तथा शासन चुनने के दृष्टिकोण से था। परन्तु दूसरा अनुबंध प्रथम अनुबंध के आधीन था।

५. शासक इस अनुबंध में एक पक्ष था।

६. इसमें हॉब्स के समान अधिकारों का समर्पण नहीं था। यह केवल कुछ दिये गये अधिकारों का हस्तांतरण था।

७. जैसा कि हॉब्स ने कहा था कि "कानून (नियम) सत्ताधारी की आज्ञा नहीं था।" लॉक के अनुसार कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होनी चाहिए तथा वह तर्क के नियम के अनुकूल होना चाहिये।

८. लॉक ने जनता की अनुमति को सरकार के अधिकारों का स्रोत बनाया।

९. लॉक ने जनता को क्रांति का अधिकार दिया तथा इस प्रकार शासक को उन की शक्ति से वंचित किया, यदि वह अपने अनुबंध की शर्तों को पूरा करने में असफल रहा।

लॉक के सिद्धांत की आलोचना (Criticism of Locke's Theory)— लॉक के राजनीतिक सिद्धांत को जो सर्वाधिक उल्लेखनीय देन है, वह है उसका प्राकृतिक अधिकारों का मत। उसका मत है कि जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति प्रत्येक व्यक्ति का अविच्छेद्य अधिकार है। इन प्राकृतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये ही नागरिक या राजनीतिक समाज का निर्माण होता है, और इन अधिकारों की प्राप्ति सरकार की संस्था द्वारा सम्भव बनाई जाती है। तदनुसार, वह राज्य और सरकार में स्पष्ट भेद करता है और अनुमति

1. Locke, op. cit., II, Sec. 149.

के सिद्धांत को प्रचलित करता है जो प्रो. लास्की के शब्दों में, इस समय अंग्रेजी राजनीति में स्थायी स्थान ग्रहण किये है। लॉक के मतानुसार सरकार के पास शर्त के आधार पर अधिकार है और वह लोगों की अनुमति से अधिकार प्राप्त करती है कि जिसे वह अन्ततः राजसत्ता मानता है। वह वलपूर्वक कहते हैं कि "राज्य की राजसत्ता एक शासक की राजसत्ता नहीं है और राज्य की इच्छा एक शासक की इच्छा और कार्यों को सीमित कर सकती है"। लॉक के अनुसार सरकार एक ट्रस्ट (न्यास) है और सरकार के अधिकार को उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नियोजित होना चाहिये जिसके लिये नागरिक-समाज के वनने की आवश्यकता हुई। यदि सरकार उचित रीति से तथा जनता की इच्छाओं के अनुसार कार्य करने में असफल रहती है तव समाज को इसे भंग करने तथा इसके स्थान में दूसरी सरकार लाने का अधिकार है। व्यक्ति के हर्ष और सुरक्षा सरकार की स्थिरता के अनिवार्य रूप नहीं हैं, प्रत्युत वह उस लक्ष्य रूप में है कि जिसके लिए सरकार का जन्म हुआ था।"[१]

लॉक के सिद्धांत में मुख्य त्रुटि यह है कि वह वैधानिक राजसत्ता की धारणा की सर्वथा उपेक्षा करता है। गिलक्राईस्ट के शब्दों में, "हमारी परिभापा का प्रयोग करने के लिए, हॉब्स राजनीतिक राजसत्ता के अधिकार और अस्तित्व को स्वीकार किये विना वैधानिक राजसत्ता के सिद्धांत को प्रकट करता है; लॉक राजनीतिक राजसत्ता की प्रभुता को मानता है किन्तु वैधानिक राजसत्ता को पर्याप्त मान्यता नहीं देता।"[२]

रूसो (ROUSSEAU)— १८-वीं शती के महान फ्रांसीसी लेखक, जीन जैक्विस रूसो (Jean Jacques Rousseau) ने १७६२ में प्रकाशित अपनी रचना "सोशल कंट्राक्ट" में अपने सिद्धांत को प्रकट किया है।

रूसो का, अपने अंग्रेज पूर्वगामी हॉब्स और लॉक के असमान, यद्यपि कोई खास उद्देश्य नहीं था और न ही किसी निश्चित मत का वह अनुगामी था, तथापि उसकी शिक्षाओं ने १७८९ की फ्रांसीसी क्रांति को स्फूर्त्ति प्रदान की। उनका उद्देश्य था "ऐसी संस्था के निर्माण की खोज करना कि जो संपूर्ण सर्वमान्य शक्ति के साथ प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व और वस्तुओं की प्रतिरक्षा और सुरक्षा करेगी, और जिसमें प्रत्येक अपने-आपको सव के साथ मिलाते हुए भी एकाकी रूप में स्वेच्छा का पालन कर सके; और पूर्ववत् स्वतन्त्र वना रहे।" फलतः रूसो नागरिक समाज की तर्कपूर्ण व्याख्या उपस्थित करना चाहता था।

रूसो के सिद्धांत का प्रारम्भिक विन्दु प्रकृत दशा की "परम्परा" है। रूसो इस विपय में कि प्राकृतिक दशा वास्तव में क्या है, स्वयं स्पष्टतया स्थिर मत नहीं थे। उसके विपय में उन्होंने विचार किया था और चर्चा की थी, "क्योंकि उसकी सारी दुनिया उसके विपय में सोच रही थी और चर्चा कर रही थी",[३] और रूसो ने उससे सवंधित सभी विभिन्न अर्थो में लगभग उसका प्रयोग किया था। "लेकिन विचारधारा के उतार चढ़ाव में केवल मात्र एक विचार शुद्ध रूप में प्रकट होता गया, अर्थात्, मनुष्य की प्रकृत दशा

1. Dunning op. citd., pp. 364-65
2. Gilchrist, op citd, p. 61
3. Cf. Morley's Rousseau, Vol I. p. 155.

सामाजिक या नागरिक दशा से कहीं अधिक वांछनीय है, और उसे ऐसा आदर्श उपस्थित करना चाहिए कि जिसके द्वारा परीक्षण हो सके और उसे ठीक किया जा सके।"[1] उसकी पुकार थी कि पुनः प्रकृति की ओर लौटा जाय। उसका प्रारम्भिक सरलता में विचित्र विश्वास था और वह "कथित सभ्य अस्तित्व" की कृत्रिमता की निंदा करते थे। उनकी धारणा थी कि विज्ञान और कला की प्रगति की प्रवृत्ति मनुष्य की नैतिकता का पतन करने वाली है। उनके मत में नागरिक समाज में प्रचलित सब भ्रष्टाचारों तथा गिरावटों का केवल मात्र उपचार प्राकृतिक सरलता की ओर लौटना था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह नागरिक समाज को नष्ट करना चाहते थे। इसका केवल यही अर्थ है कि "समाज के मनुष्यों के लिए प्रकृति ही नियम होना चाहिए।"[2]

प्रकृत दशा में रूसो का मनुष्य "भला असभ्य" था जो कि प्रारम्भिक सरलता एवं गुणपूर्ण नीति का जीवन बसर करता था। वह स्वतन्त्र, सन्तुष्ट, आत्म तुष्ट, स्वस्थ, निर्भय और अपने साथियों तथा उन्हें पीड़ा पहुंचाने की इच्छा से मुक्त था।" यह केवल प्रारम्भिक भावना और सहानुभूति थी जिसने उसका अन्यों के साथ गठन्बधन किया। वह न तो सही को जानता था, और न ही गलत को और वह गुण और अवगुण की सब भावनाओं से अछूता था।[3] इस प्रकार, यह शुद्ध, अमिश्रित, पूर्ण स्वतन्त्रता और समानता का भोला जीवन था जिसे रूसो का आदमी प्रकृत दशा में भोगता था। उस समय तर्क नहीं था। रूसो को तर्क अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उनके विचार में "सोचने वाला मनुष्य नीच प्राणी है।"[4]

किन्तु ये अवस्थाएं चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकतीं। रूसो की प्रकृत दशा को जुदा करने के लिये दो तत्व निकाले गए। एक तो जनसंख्या की वृद्धि था और दूसरा था तर्क का उदय। जनसंख्या की वृद्धि से, आर्थिक प्रगति में गति उत्पन्न हुई। सरलता और प्राकृतिक प्रसन्नता के प्रारम्भिक जीवन का लोप हो गया। स्थिर घरों की स्थापना हो गई, परिवार और सपत्ति की व्यवस्था का जन्म हुआ, और इस प्रकार, मानवी समानता के नाद की ध्वनि गूंज उठी। मनुष्य ने मेरे और तेरे के भाव में सोचना आरम्भ किया। रूसो का कहना था कि "स्वभावतः मनुष्य बहुत कम सोचता है और जो आदमी यह प्रकट

1. Dunning, op. citd., Vol III, from Rousseau to Spencer, pp. 12-13.

2. Dunning, op. citd., Vol III, from Rousseau to Spencer, p. 13.

३. रूसो का कथन है "प्रारम्भिक मनुष्य में तब तक मेरे और तेरे का रत्ती भर भाव नहीं था, न्याय का उसे सही ज्ञान नहीं था ········न गुण—न अवगुण ········जब तक कि हम इन शब्दों को उसके निजी सरक्षण में वृद्धि करने वाले गुणों के रूप में प्रयोग न करें।"

४. यदि रूसो की युक्तियों को संक्षिप्त करना हो तो इसका अर्थ यह होगा कि "चतुराई खतरनाक है, क्योंकि वह महानता को निम्न बनाती है; विज्ञान विनाशकारी है, क्योंकि इसने अविश्वास उत्पन्न होता है, तर्क बुरा है, क्योंकि यह नैतिक सहज ज्ञान के विरुद्ध चेतना उत्पन्न करता है। महानता, विश्वास और नैतिक सहज ज्ञान के बिना न तो चरित्र होता है, और न ही समाज।" Sabine; A History of Political Theory, p. 578.

करता है, वह भ्रष्ट प्राणी है।" जब वह मेरी और तेरी के रूप में विचार करता है, तो यह निजी संपत्ति की व्यवस्था का श्रीगणेश होता है। "वह प्रथम मनुष्य ही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था जिस ने भूमि के एक टुकड़े को घेर लेने के बाद यह कहा था, कि यह मेरा है, और लोग आश्चर्यचकित होकर उसपर यकीन नहीं करते थे।" इस विकास की संपूर्ण विधि को डा. डनिंग के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: "कृषि और धातु विषयक कलाओं की खोज हो गई और उन्हें लागू करने में आदमियों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता थी। सहयोग का प्रादुर्भाव हुआ और उससे मनुष्यों की योग्यताओं को बल मिला और इस प्रकार अनिवार्य परिणाम की तैयारी हो गई। अपेक्षाकृत बलवान आदमी अधिक मात्रा में काम करता; दस्तकार को जिस का अधिक अंश मिलता। इस तरह धनी और निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ—कि जो असमानता के स्रोतों में सब से बढ़कर उपजाऊ है।[1]

इस प्रकार प्रारम्भिक दशा की समानता और प्रसन्नता जाती रही। मानव समाज शीघ्र ही हाब्स की प्रकृत दशा से मिलती-जुलती संघर्ष की दशा को पहुंच गया। युद्ध, हत्या, बुराई और आतंक, जो असभ्य दशा में अज्ञात थे, सर्वमान्य हो गए। धनी और निर्धन एक दूसरे के विरुद्ध शत्रुता करने लगे। यह व्यग्र करने वाली स्थिति थी और प्रत्येक एक दूसरे से मुक्त होना चाहता था। तब नागरिक-समाज-रचना में इस बात का छुटकारा देखा गया। प्राकृतिक स्वतन्त्रता ने सामाजिक अनुबंध द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता को स्थान दिया। इस अनुबंध के फलरूप व्यक्तियों की बहुलता से एक संघटित एका हुआ—अर्थात् एक समाज। अनुबंध ने प्रत्येक व्यक्ति को अन्यों पर पूर्ण निर्भर कर दिया—यद्यपि पूर्ण होते हुए भी वह निर्भरता पारस्परिक एवं समान थी। रूसो की राजनीतिक प्रणाली में व्यक्ति, "अपने व्यक्तित्व और अपनी सारी शक्ति को सर्वमान्य रूप में सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन को सौंप देता है और अपनी संयुक्त दशा में प्रत्येक सदस्य संपूर्ण के अविभाजित अंश के रूप में प्राप्ति करता है।"

सामान्य इच्छा (General Will)—रूसो के अनुसार केवल एक अनुबंध है, जो एक ही समय सामाजिक और राजनीतिक है। व्यक्ति अपने-आपको पूर्णतया और बिना शर्त के उस संस्था की इच्छा को सौंप देता है जिसका वह सदस्य बनता है। इस तरह की निर्मित संस्था नैतिक और सामूहिक संस्था है और रूसो इसे सामान्य इच्छा कहते हैं। सामान्य इच्छा का असाधारण अंग यह है कि वह अपने सदस्यों के निजी हितों से भिन्न रूप में सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है। चूंकि सामान्य इच्छा सबके हितों की संरक्षक है, इसलिए वह अपने सब सदस्यों की राजसत्ता शक्ति है। यह राजसत्ता है, क्योंकि यह उन लोगों की स्वतंत्र क्रिया द्वारा निर्मित होती है जो अनुबंध में सम्मिलित होते हैं और अपने सब उच्च-अधिकारों तथा शक्तियों को उसे सौंप देते हैं। तदनुसार, उनकी इच्छाएं सामान्य इच्छा में विलय हो जाती हैं और उसके अधीन हो जाती हैं। इस ढंग से निर्धारित राजसत्ता रूसो द्वारा अविच्छेद्य, अविभाज्य, असीमित और ऐसी जोकि भूल

---

1. Dunning, op. citd; 10.

नहीं कर सकती, प्रमाणित की गई है ।

"नरेश" अथवा सरकार केवल सहायक अधिकारी है और उसे केवल प्रदत्त अधिकार प्राप्त होता है जो सीमित किया जा सकता है, संशोधित किया जा सकता है अथवा लोगों द्वारा छीना जा सकता है, जो अन्ततः राजसत्ता है। राज्य समष्टि रूप में समूह को व्यक्त करता है जो सामाजिक अनुबंध द्वारा निर्मित हुआ है और अपने-आपको सर्वोच्च सामान्य इच्छा में प्रदर्शित करता है । सरकार केवल व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को व्यक्त करती है जो समूह द्वारा राजसत्ता की इच्छा को कार्य रूप में लाने के लिए बनाई गई है । इस तरह, सरकार राजसत्ता शक्ति की प्रतिनिधि है, और इसका निर्माण अनुबंध द्वारा नहीं होता, प्रत्युत राजसत्ता की आज्ञा द्वारा होता है । रूसो का कथन है कि "राज्य में केवल एक अनुबंध है और वह अन्य प्रत्येक को छोड़ देता है ।" रूसो की दृष्टि में सरकार का अर्थ प्रशासक अधिकार है । रूसो के अनुसार नियम बनाने का काम सरकार का नहीं, प्रत्युत राजसत्ता का है ।

अनुबंध का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि समूह के प्रत्येक सदस्य का जीवन और स्वतंत्रता सुरक्षित है और समष्टि रूप में समाज की सामान्य इच्छा पर संस्थापित है । उन्होंने कहा कि समानता और स्वतंत्रता स्थिर होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समूह को अपना तथा अपने सब अधिकारों का पूर्ण आत्म-समर्पण करता है । जब वह ऐसा करता है, तो वह अपना व्यक्तित्व और अधिकार राजसत्ता समूह (Sovereign Community) के अविभाज्य अंग के रूप में पुनः प्राप्त करता है । रूसो कहते हैं, "चूंकि प्रत्येक सब के लिए त्याग करता है, इसलिए वह किसी एक के लिए त्याग नहीं करता, और क्योंकि प्रत्येक सदस्य का समान अधिकार ग्रहण किया गया है कि जिसका उसने स्वतः त्याग किया होता है, फलतः जो कुछ छोड़ा होता है, उसमें से शेष को रक्षित करने की अधिक शक्ति के साथ समान रूप में लाभ हो जाता है ।" यहां यह उल्लेखनीय है कि रूसो के तर्क के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति द्विमुखी सम्बन्ध रखता है. वह राजसत्ता संस्था का एक सदस्य भी है और प्रजा भी । वह प्रभु-शासित है, क्योंकि वह स्वतंत्र समूह की सम्पूर्ण इकाई है । वह प्रजा है, क्योंकि उसे सामान्य इच्छा का पालन करना होगा और सामान्य इच्छा सब के व्यक्तित्व और सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए सार्वजनिक कल्याण के रूप में स्थिर होती है ।

रूसो उसी तर्क के आधार पर अपना मत स्थिर करते हैं कि कोई भी व्यक्ति न्याय्य रूप में सामान्य इच्छा की अवज्ञा नहीं कर सकता । सामान्य इच्छा का पालन करने में "वह अपनी आज्ञा का पालन करेगा क्योंकि वह सामान्य इच्छा का निर्माता है, न तो कोई व्यक्ति किसी दबाव की शिकायत कर सकता है । रूसो का मत है कि वास्तविक दबाव समाज में कदापि नहीं होता । एक अपराधी तक भी अपने लिए निजी दंड चाहता है ।" क्रमानुसार यह हुआ कि सामाजिक बंधन (Social compact) एक रिक्त (empty) सूत्र नहीं हो सकता, उसमें चतुराई के साथ यह संधि शामिल है ....
कि जो कोई भी सामान्य इच्छा का पालन करने से इन्कार करता है, उसे सम्पूर्ण समूह द्वारा वैसा करने के लिए मजबूर किया जायगा । इसका अर्थ और कुछ नहीं कि वह स्वतंत्र होने के लिए लाचार होगा .... केवल इसी से नागरिक संधियों का औचित्य हो जाता है कि

जो, बिना इसके, अर्थहीन, अन्यायी और भयंकरतम दुरुपयोग का कारण हो सकता है।" राजसत्ता का कोई भी कार्य दबाव का नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य इच्छा, जो राजसत्ता है, संपूर्ण समूह के हितों तथा कल्याण का कोष है। यह केवल तभी होता है जब एक आदमी व्यक्तिगत रूप में अस्थिर मत होने के कारण सामान्य इच्छा से कुछ भिन्न चाहता है, क्योंकि वह उस समय कल्याण या अपनी निजी इच्छाओं के विषय में सही-सही नहीं जानता। रूसो बारंबार दोहराते हैं कि सर्वमान्य इच्छा सदैव सही होती है, यह गलत नहीं हो सकती, क्योंकि सामान्य इच्छा सामाजिक कल्याण के लिए होती है, जो स्वतः सही होने का दर्जा है। "जो सही नहीं है, वह सामान्य इच्छा ही नहीं।" इस तरह रूसो ने व्यक्ति का राज्य में पूर्णतया विलय कर दिया।

रूसो की हॉब्स और लॉक के साथ तुलना

रूसो ने कुछ तो हाब्स से लिया है और कुछ लॉक से। वस्तुतः उसने आरम्भ तो लॉक की विधि से किया और अंत हाब्स की विधि से किया। रूसो और लॉक, दोनों इस बात से सहमत हैं कि प्रकृत दशा का मनुष्य स्वतंत्र और प्रसन्न था। नागरिक समाज की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई कि प्रकृत दशा में कतिपय अशांत अवस्थाएं उत्पन्न हो गईं। लॉक के लिए ये असुविधाओं के रूप में थीं, क्योंकि तर्क के नियम को लागू करने का अनिश्चय था, इससे उत्पन्न होने वाले झगड़ों का निपटारा करने के लिए निर्णायक का अभाव था और निर्णय को लागू करने वाले सर्वमान्य अधिकारी का अभाव था। रूसो के मतानुसार, जनसंख्या में वृद्धि और मनुष्य में तर्क का उदय स्वार्थों में संघर्ष होने के लिए जिम्मेदार थे और इस तरह, प्रकृत दशा में कलह हुआ। अनुबंध के साधन द्वारा नागरिक समाज के निर्माण को केवल छुटकारे का मार्ग समझा गया। लॉक और रूसो दोनों इस बात से सहमत हैं कि आधारमूलक सामाजिक संधि का अपना लक्ष्य और उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व और वस्तुओं की अपेक्षाकृत अधिक रक्षा होनी चाहिए। रूसो उस समय लाक के निकट ही जान पड़ते हैं, जब वे यह कहते हैं कि व्यक्ति अपने अधिकारों को समूह के प्रति अर्पित करते हैं, जिससे कि लोग अन्ततः राजसत्ता का रूप धारण करते हैं, और फलरूप वही सारे राजनीतिक अधिकार का स्रोत होते हैं। इस प्रकार रूसो ने राज्य और सरकार के बीच अन्तर किया और सरकार को लोगों पर आश्रित बनाया गया।

रूसो "ने जो कुछ कहा, वही लाक ने कहा, किंतु उसमें क्रिया का स्थान हाब्स के विचारों का है।" निःसंदेह रूसो पर हाब्स का प्रभाव स्पष्ट और एकांगी है। हाब्स की भांति रूसो का प्रकृत दशा का आदमी पूर्णतया अन्यों से स्वतंत्र था। दोनों में अंतर यही है कि रूसो के मतानुसार वह अन्यों के साथ युद्ध नहीं करता, यद्यपि अंततः, जब प्रारंभिक दशा की समानता और प्रसन्नता नष्ट हो गई तो रूसो के मानव भी निरंतर संघर्ष की दशा में हो गए और इसके लिए केवल एक अनुबंध है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने सब अधिकारों को अर्पित करता है, और जिस अधिकारी प्रभु शक्ति को इन अधिकारों को अर्पित किया जाता है, उनमें हाब्स का मत दीख पड़ता है। रूसो के लिए वह समूह या समाज है जो राजसत्ता या प्रभु शक्ति है; हाब्स के मत में वह राजा है। किंतु रूसो जब एक बार समूह में प्रभु-शक्ति की स्थापना कर लेता है, तो वह उसे उसी प्रकार पूर्ण, असीमित, चहुंमुखी, और अविच्छेद्य अधिकारों से संपन्न करता है, जैसे कि हाब्स ने अप

प्रभु-शक्ति राजा को दिये। इसी प्रकार, सामान्य इच्छा, रूसो के अनुसार, न तो गलत हो सकती है और न ही अन्यायपूर्ण। सामान्य इच्छा व्यक्तिगत इच्छा को भी अपने निजी दृष्टिकोण के लिए बाध्य कर सकती है। क्या ये निर्णय हॉब्स के अनुरूप नहीं है? इनमें अंतर केवल यही है कि हॉब्स के ये गुण राजा के है, जब रूसो के मत में ये सामान्य जन-इच्छा के है। किसी भी अवस्था में मनुष्य को प्रभु शक्ति का खिलौना बना दिया गया।

रूसो के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Rousseau's Theory)—रूसो लोकप्रिय राजसत्ता का भक्त था और उसके राजनीतिक दर्शन का रहस्य "एक राजसत्ता को स्थानापन्न करने के लिए विरोध राजसत्ता का है।"[1] उन्होंने स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध क्रांतियों को न्याय्य ठहराया और वह लोकतन्त्र के आदर्शों के अग्रणी-प्रचारक थे। सिजविक कहते हैं, रूसो का लोकप्रिय राजसत्ता का क्रान्तिकारी सिद्धान्त यह है कि वह दो या तीन सरल सिद्धान्तों पर आश्रित है। ये सिद्धान्त है: "(१) कि मनुष्य स्वभावतः स्वतन्त्र और समान है; (२) कि सरकार के अधिकार किसी सन्धि पर आधारित होने चाहिए, जिसे इन समान तथा स्वतंत्र व्यक्तियों ने स्वतन्त्रतापूर्वक किया हो; (३) कि यह मात्र सन्धि, जो एक बार व्यक्तियों के लिए न्याय्य थी, एक संस्था का अविभाज्य अंग बन जाती है, और वह संस्था अपने निजी आंतरिक संविधान और नियम-निर्धारण—प्रभुशक्तिसंपन्न लोग—को निश्चय करने का अविच्छेद्य अधिकार बनाए रहती है।"[2] इस तरह रूसो, अनुमति के विचार को मुख्य स्थिति में लाते है, और सदैव के लिए इस इच्छा की स्थापना करते है (बल नहीं) कि जो राज्य का आधार है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने वैधानिक अधिकार लोगों को सौंपकर प्रत्यक्ष लोकतंत्र का समर्थन किया। रूसो के राजनीतिक उपदेशों का अमरीका तथा फ्रांस के संविधान-निर्माताओं पर गहरा प्रभाव हुआ। डनिंग के शब्दों में रूसो की भावना और "सिद्धान्त, भले ही कितने विकृत रूप के हों, सर्वत्र दिखाई देते हैं—काल्पनिक प्रणालियों तथा उनकी मृत्यु के उपरान्त उदित होने वाले सरकार विषयक संगठनों में भी।"[3] रूसो की मृत्यु १८७८ में हुई थी।

किंतु रूसो के दर्शन में मुख्य दोष उनकी सामान्य इच्छा की व्याख्या में है। वह समष्टि रूप में उसके सदस्यों की पूर्ण शक्ति पर कोई सीमा नहीं लगाते। रूसो वास्तव में सामान्य इच्छा के विरुद्ध व्यक्तिगत इच्छा का कोई विकल्प नहीं प्रदान करते और सामान्य इच्छा (General will) न गलत हो सकती है और न अन्यायपूर्ण। रूसो के कथनानुसार नियम (कानून) सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। यदि व्यक्ति दंड से पीड़ित है, मान लीजिए मृत्यु दंड है, तो वह वस्तुत अपनी निजी फांसी की अनुमति देने वाला एक पक्ष है, क्योंकि वह उस प्रभुशक्ति-इच्छा का एक अंग है जिसने उसे दंडित करने का नियम बनाया था। यह केवल एक दार्शनिक की अस्थिरता नहीं, प्रत्युत उसमें रूसो ने राज्य के पूर्णवादी सिद्धांत (Absolutist Theory) का रास्ता बनाया, जिसने वर्तमानयुग में बहुत सी सरकारों की राजनीतिक परम्पराओं को ढाला।

सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Social

1. MacIver, op citd., p 442.
2. Sidgwick, the Development of European Polity, p. 390.
3. Dunning op. citd., Vol. III, pp. 103—110

Contract Theory)—यह सिद्धान्त कि, राज्य की उत्पत्ति अनुबंध से हुई, सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में राजनीतिक कल्पना का लोकप्रिय विषय था किंतु उन्नीसवीं सदी में इसकी कड़ी आलोचना हुई। यहां तक कि रूसो की "सोशल कंट्राक्ट" प्रकाशित होने से पूर्व, अंगरेज दार्शनिक ह्यूम ने घोषणा की थी कि अनुबंध शासकों और शासितों के बीच संबंधों के आधार के रूप में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल नहीं खाता। जेरमी बेन्थम (Jeremy Bentham) ने कहा, "मैं मौलिक अनुबंध का अभिवादन करता, और मैं इसे उन लोगों के मनोरंजन के लिए छोड़ता हूं कि जो यह सोचते हैं कि उन्हें इसकी आवश्यकता थी।" ब्लूंश्चली ने सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्तों की आलोचना इस प्रकार की, "यह अत्यधिक भयंकर है, क्योंकि यह राज्य तथा उसकी संस्थाओं को व्यक्तिगत चंचलता की उपज बनाता है।" सर हेनरी मेन का मत है कि हाब्स ने समाज और सरकार की उत्पत्ति का जो स्वरूप दिया है, उससे "बढ़कर अर्थहीन" और कुछ नहीं हो सकता।

राज्य की उत्पत्ति की परिभाषा के रूप में अब यह सिद्धान्त पूर्णतया रद्द हो चुका है। इस संबंध में आलोचना की निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए :

१. ऐतिहासिक रूप में यह सिद्धान्त कोरी कल्पना है। इतिहास के संपूर्ण क्रम में ऐसा कुछ भी नहीं जिससे प्रकट होता हो कि राज्य की रचना विचारपूर्ण ढंग से स्वेच्छापूर्ण समझौते से हुई हो। यह अनुमान करना व्यर्थ है कि लोगों ने सभ्यता के प्रारंभिक चरणों में, सरकार की कला का तनिक भी अनुभव न होने की दशा में, राजनीतिक संगठन के निर्माण की सोची हो। सरकार का निर्माण कर सकने से पूर्व आदमी को यह जानना होगा कि सरकार है क्या, किंतु सरकार की यांत्रिकता के विषय में जानना, निःसंदेह, "प्रकृत दशा को सामान्य अज्ञानता और सरलता के साथ," मेल नहीं खाता। यह सत्य है कि बहुधा १६२० के मे-फ्लावर (May flower) अनुबंध जैसे—उदाहरण इस सिद्धान्त के समर्थन में बहुधा उपस्थित किये जाते हैं कि, जब अमरीका को जानेवाले सुधारवादियों ने सर्वमान्य समझौते द्वारा राज्य की रचना की थी। उन्होंने मे-फ्लावर जहाज पर रहते हुए जिस दस्तावेज की रचना की थी और उस पर हस्ताक्षर किये थे, वह इस प्रकार था : "हम ....सब अपने को एक और पारस्परिक रूप में परमात्मा तथा एक दूसरे की विद्यमानता में उपस्थित करते हैं कि हम अपने को नागरिक राजनीतिक संगठन में आबद्ध और संगठित करते हैं, अपनी अपेक्षाकृत सुव्यवस्था और रक्षा के लिए," किंतु यह सही उदाहरण नहीं है; न ही वैसा कोई दूसरा ही उदाहरण दिया जा सकता है कि जिसमें प्रकृत दशा में रहते हुए आदमियों ने राज्य-निर्माण के अनुरूप की रचना की हो। प्यूरिटन निष्क्रान्ता ऐसे लोग नहीं थे जो राजनीतिक संगठन से अपरिचित थे। वे राजनीतिक दृष्टि से संगठित-समाज से निकले थे और सरकार के कार्य, और नागरिक समाज में नागरिक के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों से पूर्णतया परिचित थे। इसलिए मे-फ्लावर संधि का अर्थ "पहले-सी ही राजनीतिक अधिकार के अधीन मनुष्यों द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के पौधों को एक नए देश की भूमियों में लगाना था।" सूक्ष्म रूप में यह अनुबन्ध विशिष्ट राज्य की उत्पत्ति मालूम करने में लाभदायक हो सकता है परन्तु यह राज्य की उत्पत्ति के विषय में संकेत नहीं है।

२. अनुबंध सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत रक्षा

और संपत्ति की सुरक्षा के लिए अनुबंध करते है; किंतु इतिहास हमें इससे विपरीत बतलाता है। प्रारंभिक प्राचीन नियम व्यक्ति की अपेक्षा अधिक साम्प्रदायिक था और समाज की इकाई व्यक्ति नही था प्रत्युत परिवार था; "परिवार इकाई था, सपत्ति सब की सांझी थी, रीति-रिवाज से नियम बनता था, और प्रत्येक आदमी समाज में अपने दर्जे के साथ जन्मता था।"[1] समाज इस प्रकार अनुबंध की ओर गतिशील हुआ, अनुबंध से दर्जे की ओर नहीं जैसा कि अनुबंधवादियों का मत है। सर हेनरी मेन के कथनानुसार "अनुबंध प्रारंभिक नही है, प्रत्युत समाज का लक्ष्य है।"[2] प्रारंभिक समाज में जन्म प्रत्येक आदमी की स्थिति का निश्चय करता था। यह निजी इच्छा अथवा स्वेच्छापूर्वक प्रबन्ध का मामला नही था। "जो कोई दास उत्पन्न होता, उसे दास ही रहने दिया जाता; दस्तकारों के सब दस्तकार होते; पुरोहित के घर पुरोहित होता।"[3] यह है दर्जे का आदेश और हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि एक दास अनुबंध के लिए स्वतन्त्र इच्छा रखता हो। यदि वह अनुबंध के लिए स्वतंत्र इच्छा रखता है, तो वह दास नही रह जाता।

३. यदि यह भी मान लिया जाय कि राज्य अनुबंध का परिणाम है, तो सामान्य बुद्धि हमें बतलाती है कि अनुबंध में सदैव दो दल होते हैं। हाब्स की धारणा के अनुसार एकपक्षीय अनुबंध नही हो सकता। इसके अतिरिक्त, अनुबंधीय दलों में से एक की मृत्यु के उपरांत अनुबंध का अंत हो जाता है। इसे उन लोगों के उत्तराधिकारियों के लिए कानूनी बंधन नही ठहराया जा सकता कि जो अनुबंध में मूल पक्ष थे। बेंथम का मत है, "मैं इसलिए मानने को बाध्य नहीं हूं, चूंकि मेरे पड़दादा ने एक सौदा तय किया था कि जिसे वस्तुतः उन्होंने जार्ज तृतीय के पड़दादा के साथ नही किया था, प्रत्युत केवल इसलिए कि विद्रोह ने कल्याण की अपेक्षा हानि अधिक पहुंचाई है।"

४. अनुबन्ध सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा यह कल्पना की जाती है कि आदमी प्रकृत दशा में समान थे किंतु यह कल्पना अशुद्ध है। यदि प्रारंभिक समाज में मनुष्य का जन्मजात दर्जा उसकी स्थिति निश्चित करता था, तो स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि प्रकृत दशा में समानता की अपेक्षा असमानता विद्यमान थी। न ही हम उस मानव-स्वभाव को स्वीकार कर सकते हैं जैसाकि अनुबंध सिद्धान्त के समर्थकों ने उसे चित्रित किया है। मनुष्य स्वभावतः, सामाजिक और राजनीतिक दोनो ही है। वह न तो उतना बुरा ही है जैसा हाब्स का मत है और न हो वह उतना अच्छा है, जितना रूसो उसे समझते हैं

५. प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक स्वतंत्रता का विचार जैसाकि प्रकृत दशा में उसके अस्तित्व के विषय में कहा गया है, तर्कहीन है, और इसलिए भ्रमपूर्ण है। प्रकृत दशा में स्वतंत्रता का अस्तित्व नही हो सकता। नियम (कानून) स्वतन्त्रता की शर्त है। संयम अथवा निरोध के बिना स्वतंत्रता केवल स्वतन्त्रता का दुरुपयोग ही है और यह दुरुपयोग की अवस्था शुद्ध एवं सरल रूप में—अराजकता (anarchy) है। चूंकि प्रकृत दशा पूर्व-राजनीतिक और यहा तक कि पूर्व-सामाजिक है, इसलिए उसपर

1. Gettell, op. citd., p. 86
2. Maine: Ancient Law, pp 108-110.
3. Refer to Appadorai, The Substance of Politics, p 33

कोई नागरिक नियम लागू नहीं होता। साथ ही, अधिकारों की उत्पत्ति समाज में होती है और प्रत्येक अधिकार के साथ तदनुरूप दायित्व जुड़ा होता है। यदि समाज ही न हो तो हम अधिकारों के विषय में सोच ही नहीं सकते। इसलिए, समाज के उत्पन्न होने से पूर्व अधिकारों का अस्तित्व नहीं था।[1] "अंततः समाज के सदस्यों में सर्वमान्य-स्वार्थ की चेतनता के बिना अधिकार का प्रश्न नहीं हो सकता और प्रकृत दशा में सर्वमान्य चेतनता का प्रत्यक्ष अभाव था। ग्रीन कहते हैं कि सर्वमान्य चेतनता के बिना, संभव है व्यक्तियों के पास कतिपय अधिकार हो सकते हैं, किंतु अन्यों द्वारा इन अधिकारों की वह स्वीकृति नहीं होती, जिन अधिकारों से वह उन्हें कार्यकारी करने की मंजूरी देते हैं, न ही ऐसी स्वीकृति का कोई अधिकार होता है; और इस स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के अधिकार के बिना अधिकार ही नहीं होता।"[2]

६. विवेकपूर्ण विश्लेपण करने पर भी सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त स्थिर नहीं रखा जा सकता। व्यक्ति और राज्य के बीच का संबंध स्वेच्छा का नहीं है। हम में से प्रत्येक को अनिवार्यतः राज्य का होना चाहिए और वह बंधन, जो मनुष्य को परस्पर बांधते हैं, स्थायी हैं। "हम में से प्रत्येक राज्य में जन्मता है; हम राज्य के भाग हैं और राज्य हमारा अंग है।" बर्क (Burke) ने ठीक ही कहा है कि राज्य को, "काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तंबाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार के हिस्सेदारी के समझौते के समान नहीं समझना चाहिए कि जिसे अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लिया और जब दोनों पक्षों में से किसी ने चाहा तो भंग कर दिया ..... इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना होगा ..... यह हिस्सेदारी समूचे विज्ञान में है, यह हिस्सेदारी सारी कला में है, प्रत्येक गुण और समस्त पूर्णता में है। चूंकि इस प्रकार की हिस्सेदारी का लक्ष्य कई पीढ़ियों में प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए यह हिस्सेदारी न केवल उन लोगों में हो जाती है, जो जी रहे हों, प्रत्युत उनमें भी जो मर चुके हैं और उनमें भी जिन्होंने पैदा होना है।

७. यदि सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त को राज्य की सत्य उत्पत्ति मान लिया जाय, तो इससे राज्य मनुष्य का विशुद्ध हाथ का बना काम बन जायगा—एक कृत्रिम योजना। किंतु राज्य न तो मनुष्य के हाथ का बना काम है, न ही परमात्मा की रचना है, और न ही बल-प्रयोग का परिणाम है, यह वृद्धि और विकास की उत्पत्ति है।

८. अन्ततः, अनुबंध सिद्धान्त के रचयिताओं का राज्य के मूल को खोजने का कोई विचार नहीं था। उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक अधिकारी के आधार की स्थापना करना था। कतिपय परिणामों को प्रमाणित करने पर कटिबद्ध होने के कारण उन्होंने एक निजी जाल बुना और वह भी ऐसे ढंग का कि जिससे उनका उद्देश्य सिद्ध होता था।

सिद्धान्त का महत्व (Value of the Theory)—फलतः, हम इस सिद्धान्त को रद्द करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति अनुबंध से हुई और उसके साथ ही हम सिद्धान्त

1. Green: Lectures on Principles of Political Obligation with an introduction by A. D. Lindsay, p. 48, "Natural right, as, right in a state of Nature which is not a state of Society, is a contradiction." Ibid, Also, refer to p. 66.
2. Ibid p. 48.

के क्रियात्मक महत्व को भी कम नहीं कर सकते। सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त स्वीकार करता है कि सरकार लोगों की अनुमति पर निर्भर रहती है और अनुमति का सिद्धान्त राजनीतिक विचार धारा की प्रगति में एक महत्वपूर्ण अंश बन गया। राजनीतिक विचार-धारा ने इस चर्चा को दबा लिया और उसके बाद राज्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। वस्तुतः, जैसा कि गिलक्राइस्ट कहते हैं, "दैवी सिद्धान्त का मुख्य शत्रु अनुबंध सिद्धान्त था।" लाक और रूसो दोनों ने अति स्पष्ट घोषणा की थी कि राजा अपनी शक्ति परमात्मा से प्राप्त नहीं करता बल्कि लोगों से करता है और वह केवल अच्छी सरकार की शर्त के आधार पर उस पद पर बना रह सकता है। इस प्रकार, अनुबंध सिद्धान्त ने "दायित्वहीन शासकों तथा वर्गीय-हितों के अधिकारों का सामना करके अपने काल में हितकारी कार्य किया है।"

अनुबंध सिद्धान्त ने राजसत्ता की आधुनिक धारणा के विकास में सहायता की वैधानिक राजसत्ता के रचयिता आस्टिन के लिए हाब्स ने मार्ग तैय्यार किया। लॉक राजनीतिक राजसत्ता का प्रबल-प्रवक्ता था और रूसो लोकप्रिय राजसत्ता का महान उपदेष्टा था। रूसो ने प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के आदर्श को मुख्य बनाया तथा प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत अप्रत्यक्ष लोकतंत्र पर से अधिकांश विश्वास जाता रहा था। लोगों ने सरकार के काम में प्रत्यक्ष भागीदार होने के नये साधनों का प्रचार करना प्रारम्भ किया और "मत-संग्रह (Referendum) रूसो की लोगों की अविच्छेद्य राजसत्ता की धारणा का केवल सशोधित स्वरूप है।" इससे भी अधिक राज्य, और सरकार के बीच स्पष्ट पृथक्करण कर आधुनिक सिद्धान्त लॉक से हमें प्राप्त हुआ है। अन्ततः, अनुबंध सिद्धान्त एक सर्वमान्य आदमी को राजनीतिक आभा के मंच तक उठा देता है। तब नागरिकों के लिए मत-दान के समान अधिकार की आधुनिक पुकार, वस्तुतः रूसो के आदर्शपूर्ण समान राज-नीतिक अधिकारों की देन है।

Suggested Readings

Garner J. W.—Political Science and Govt., Chap. X.
Gettell, R. G.—Introduction to Political Science, Chap. VI.
Hobbes, T.—Levithan, Chapts. XIII, XIV, XVII, XVIII.
Laski H. J.—Political Thought in England from Locke to Benthame.
Leacock, S.—Elements of Political Science, Chapts. II, III.

अध्याय : : ४

राज्य की उत्पत्ति—२

(Origin of the State)

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Theory of Divine Origin)

सिद्धान्त की व्याख्या (The theory explained)—दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त एक साधारण व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि राज्य ईश्वर ने बनाया है और उस पर उसका प्रतिनिधि शासन करता है। इस प्रकार शासक एक ईश्वर-नियुक्त कार्य-कर्ता है और अपने कार्य के लिए केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। क्योंकि शासक ईश्वर का प्रतिनिधि है, अतः उसकी आज्ञा का पालन एक धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है और उसका विरोध पाप है। दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त के समर्थकों ने इस प्रकार शासक को जनता एवं विधि से श्रेष्ठ बना दिया है। पृथ्वी पर कोई शक्ति उसकी इच्छा एवं शक्ति पर प्रतिबंध नहीं लगा सकती। उसकी आज्ञा ही विधि है और उसके कार्य सदैव न्याय-पूर्ण और उदार होते हैं। शासक की सत्ता के विरुद्ध असंतोष व्यक्त करना और उसके कार्य को अन्याय-पूर्ण बताना पाप समझा जाता था, और उसके लिए ईश्वरीय दण्ड नियत था।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितना स्वतः राजनीति-विज्ञान है। सरकार के प्राचीन प्रारंभिक स्वरूपों का धर्म के साथ निकट संपर्क था और शासक पुरोहित राजा (Priest Kings) थे। एक शासक की जो शक्ति और भक्ति होती थी, वह उसके पुरोहित-रूप पर निर्भर करती थी। धर्म और राजनीति प्राथमिक समाज में इतने घुले-मिले थे कि उन्हें अलग करने के लिए दोनों के बीच विभाजन की फीकी-सी रेखा भी नहीं खींची जा सकती थी।

यहां तक कि आज का उत्पन्न नया उपनिवेश पाकिस्तान धर्म और राजनीति के बीच भेद नहीं पैदा कर सकता। पाकिस्तान के विदेश मंत्री, सर मुहम्मद जफरुल्ला खां ने पाकिस्तान संविधान सभा में ध्येय प्रस्ताव पर बोलते समय कहा था, "जो लोग धर्म और राजनीति के क्षेत्रों के बीच पारस्परिक भिन्नता की दृष्टि से अन्तर उपस्थित करना चाहते हैं, वे धर्म के कृत्यों पर अत्यधिक संकुचित मर्यादा लादते हैं।"[1] पाकिस्तान में इस्लामी सिद्धान्तों के अनुसार शासन किया जायगा, यद्यपि पाकिस्तान विशिष्ट रूप में इस्लामी राज्य के रूप में वर्णित नहीं है।[2]

इस सिद्धान्त को, कि अधिकारी धार्मिक उत्पत्ति एवं स्वीकृति रखता है, प्रत्येक

---

1. March 12, 1949, The Statesman, Northern India Ed., March 14, 1949.
२. पाकिस्तान संविधान सभा में पाकिस्तान वैधानिक-ध्येय-प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए लियाकतअली खाँ का भाषण।

धर्म के प्राचीन लेखों का स्पष्ट समर्थन प्राप्त है। महाभारत में उल्लेख है कि लोग परमात्मा के पास गए और परमात्मा से प्रार्थना की कि उन्हें ऐसा शासक दे जो उनको अराजकता तथा राज्य की अशान्त दशा से रक्षा कर सके। उन्होंने कहा कि "हे प्रभु, मुखिया के बिना हमारा विनाश हो रहा है। हमें एक मुखिया दो, जिसकी हम मिलकर पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा।"[1] इस्लामी राज्य भी ईश्वरवादी थे। जो भी हो, ईसाइयत के उदय से इस सिद्धान्त को नई प्रेरणा मिली। रोमन्स (Romans) के तेरहवें अध्याय को लेखकों ने इस सिद्धान्त के समर्थन में उपस्थित किया है। इस तरह, बाईबिल में कहा गया है, "उच्च शक्तियों के अधीन प्रत्येक मानव आत्मा को होने दो क्योंकि सिवा खुदा के कोई शक्ति नहीं है, जो शक्तियां है, वह खुदा से प्राप्त होती है। इसलिए जो कोई उस शक्ति का मुकाबला करता है, खुदा के आदेश का मुकाबला करता है : और वे जो मुकाबला करेंगे वह अपने आप से निंदक होंगे।"[2]

राजाओं का दैवी अधिकार—मध्यकालीन युगों में इस सिद्धान्त ने राजाओं के दैवी अधिकार का रूप धारण कर लिया। इंग्लैंड में स्टुअर्ट्स (Stuarts) को इस सिद्धान्त में आश्रय मिला। यह कहा गया कि राजा दैवी अधिकार से शासन करते हैं और प्रजाजन उनका विरोध नहीं कर सकते। जेम्स प्रथम ने लिखा था, "राजा लोग पृथ्वी पर भगवान की श्वास लेती हुई मूर्तियां हैं", और उनके आदेशों की अवज्ञा भगवान की अवज्ञा है। "जिस तरह परमात्मा के कृत्य का मुकाबला करना नास्तिकता और ईश्वर-निंदा है, उसी तरह एक प्रजाजन में यह भाव होना कि राजा क्या कर सकता है अथवा यह कहना कि राजा यह या वह नहीं कर सकता, असम्मानजनक है।" यहां तक कि धर्म के लिए विद्रोह करना भी धर्म की निंदा माना जाता था, क्योंकि "इस धरती पर राजतंत्र का राज्य सर्वोच्च है; क्योंकि राजा लोग धरती पर भगवान के केवल सहायक और भगवान के सिंहासन पर बैठने वाले ही नहीं, प्रत्युत स्वतः भगवान द्वारा वह भगवान के कहे जाते हैं।" जिस तरह मनुष्य परमात्मा की सतान है, इसी तरह वे राजा की सतान हो और उसी के समान राजा के भी आज्ञाकारी होना चाहिए। यह तर्क किया जाता था कि राजा के बिना नागरिक समाज नहीं हो सकता, क्योंकि लोग तो केवल "विचारहीन समूह" है, जो नियम बनाने के अयोग्य हैं। दैवी शक्ति द्वारा अपने लोगों के लिए नियम बनाने वाले के रूप में राजा ही सब नियमों का प्रदाता है। इसलिए, लोगों के लिए केवल एक ही मार्ग था कि वे राजा के अधिकार के आगे नत-मस्तक हों अथवा पूर्ण अराजकता। यह भी कहा गया था कि राजा को मानवी निर्णय के प्रति उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। वह केवल परमात्मा के प्रति उत्तरदायी है। "एक बुरे राजा का निर्णय परमात्मा द्वारा किया जायगा किन्तु उसकी प्रजा उसका निर्णय नहीं कर सकती और न ही कोई नियम बनाने वाली मानवी संस्था, जैसे कि न्यायालय आदि।"[3] यह धारणा थी कि नियम अन्ततः "राजा की छाती" में अधिवास करता है।

---

1. Refer to Ghoshal: A History of Hindu Political Theories, p. 175.
2. Romans, Xui, 1-2.
3. Sabine, op. citd., p, 395

इस प्रकार राजाओं के दैवी-अधिकार के सिद्धान्त की मुख्य-मुख्य वातों का सारांश दिया जा सकता है :

(१) राजतन्त्र दैवी-विधान है और राजा अपनी सत्ता ईश्वर से प्राप्त करता है।

(२) राजतंत्र पैतृक है और यह राजा का ईश्वरीय अधिकार है कि यह पिता से पुत्र को प्राप्त हो ।

(३) राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और,

(४) राजा की विधि-विहित शक्ति का विरोध पाप है ।

राजाओं के दैवी-अधिकार का सिद्धान्त प्रारंभ में मध्य-काल में ईसाई धर्माधिकारियों के स्वत्वों के विरुद्ध रक्षात्मक गढ़ के रूप में प्रयुक्त होता था । तदनन्तर इस सिद्धान्त को राजाओं तथा उनके सहायकों ने जनता की राजनीतिक जागृति के विरुद्ध अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयुक्त किया, जबकि प्रजा-जन दृढ़तापूर्वक कहते थे कि अन्ततः शक्ति तथा राज्य-सत्ता उन्हीं में निहित है ।

आलोचना (Criticism)—कि राज्य दैवी रचना है, इसको वर्तमान राजनीतिक विचारधारा में कोई स्थान नहीं । राज्य अनिवार्यतः मानवी संस्था है, और इसका अस्तित्व तब होता है, जब कुछ लोगों की एक संख्या, जिन्होंने एक निश्चित प्रदेश पर अधिकार किया हो, राजनीतिक रूप में सर्वमान्य लक्ष्यों के लिए पारस्परिक संगठित होती है। राज्य के नियम आदमी बनाते हैं और उन्हीं के द्वारा जारी होते हैं । फलतः, राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के जीवन की निम्नतम आवश्यकताओं से हुई और उन आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए उसका अस्तित्व बना रहता है। इसे भगवान की रचना स्वीकार कर लेना राज्य को आलोचना और परिवर्तन की स्थिति से ऊपर उठा देना है। इस प्रकार दैवी सिद्धान्त भयंकर है, क्योंकि यह शाही अधिकार के एकपक्षीय कार्य को इस आधार पर न्याय्य ठहराता है कि इस अधिकार को धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है और उसी से उसकी उत्पत्ति है और राजा लोग परमात्मा के प्रतिनिधि हैं। जब शासक को उसके कार्यों के लिए परमात्मा के प्रति उत्तरदायी बनाया जाता है और यह माना जाता हो कि नियम अन्ततः "राजा की छाती में" अधिवास करता है, तो यह निरंकुशतावाद के प्रचार के समान है और राजा को नियंत्रणहीन बनाता है। यदि यह भी मान लिया जाय कि राजा परमात्मा का सहायक प्रतिनिधि है, तो बुरे राजा के अस्तित्व को क्योंकर उचित माना जा सकता है ? बुरे और दुष्ट राजाओं के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। परमात्मा सत्यंशिवंसुन्दरम् की अभिव्यक्ति है, और इसी तरह उसका प्रतिनिधि भी होना चाहिए। तदनुसार, जेम्स प्रथम के इस सिद्धान्त को स्वीकार करना एक भद्दा तर्क है कि "राजा लोग धरती पर परमात्मा की श्वास लेने वाली मूर्त्तियां हैं।" पुरातन लेखों तक में भी इस सिद्धान्त का स्पष्ट समर्थन कहीं नहीं मिलता। बाइबिल हमें बतलाती है कि "ज़ार की वस्तुओं को ज़ार को सौंप दो, और परमात्मा की परमात्मा को।" ईसा के इस कथन से कि राज्य की दैवी उत्पत्ति का निर्णय नहीं होता। अन्ततः यह सिद्धान्त राजतंत्र के सिवा सरकार के अन्य किसी भी रूप को स्वीकार नहीं करता है, और वह भी, निरंकुश राजतंत्र को। इसलिए, यह लोकतंत्रीय आदर्श के, जोकि अनुमति को राज्य का आधार समझता है, प्रतिकूल है ।

तदनुसार, दैवी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति की परिभाषा के रूप में रद्द हो जाता है । इसके साथ ही, इस सिद्धान्त का कुछ मूल्य भी है । हम उस अंश की उपेक्षा नहीं कर सकते जो धर्म ने राज्य के विकास के लिए प्रदान किया है । प्रारंभिक शासकों ने अपने-आप को राजा और पुरोहित के कृत्यों तथा अधिकार से सम्बद्ध कर रखा था । नियम को धर्म की स्वीकृति प्राप्त थी और धार्मिक नियम प्रार्थमिक आदमी को मानवी नियम की अपेक्षा अधिक ग्राह्य था । राज्य का आज्ञा-पालन धार्मिक कर्तव्य माना जाता था और धार्मिक पूजा को सरकार का समर्थन प्राप्त था । इस तरह, सर्वमान्य धर्म मे विश्वास, सम्मिलन का एक बड़ा अंश था, जिस ने सर्वमान्य ध्येयों के लिए लोगों को सम्बद्ध किया ।" इसने लोगों को आज्ञा-पालन सिखाया जब कि वह अभी अपना शासन करने के लिए तैयार नहीं थे ।"[1] अन्त में, दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त राज्य के कृत्यों मे नैतिकता के भाव को जोड़ता है ।" राज्य को परमात्मा का कार्य मानना उसे उच्च नैतिकता का दर्जा देना है, *उसे ऐसा बनाना कि जिसके प्रति नागरिक भक्ति प्रदर्शित करे और समर्थन करे,* और उसे कुछ ऐसा बनाना कि जिसे वह मानव जीवन की पूर्णता माने ।"[2]

बल-प्रयोग का सिद्धान्त
(The Theory of Force)

सिद्धान्त का विवरण (The Statement of Theory)—बल-प्रयोग का सिद्धान्त एक अन्य सिद्धान्त है, जिसे राज्य की उत्पत्ति और उसके अर्थ की परिभाषा के रूप में उपस्थित किया गया है । एक पुरानी कहावत है कि "युद्ध राजा को उत्पन्न करता है ।" और इस सूत्र की सत्यता के आधार पर बल-प्रयोग का सिद्धान्त बलवान के आगे कमजोर की अधीनता में से राज्य की उत्पत्ति का समर्थन करता है । इस सिद्धान्त के समर्थकों का तर्क है कि मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी होने के अलावा झगड़ालू है । उसमें अधिकार के लिए भी एक लालसा है । ये दोनों इच्छाएं उसे बल-प्रदर्शन की प्रेरणा करती हैं और मानव विकास के प्रारंभिक चरणों मे, जो व्यक्ति शारीरिक बल में अन्यो से बढ़-चढ़कर होता था, वह निर्बलो को अधिकृत कर लेता और दास बना लेता । इस तरह वह अपने अनुयायियों का एक दल बना लेता, दूसरों के साथ लडता, और दुर्बलो को अधीन करता । अपने ऐसे अनुयायियो की संख्या मे वृद्धि करके, जिन पर उसका असंदिग्ध अधिकार होता था, वह एक कबीले का मुखिया बन जाता, एक जाति के विरुद्ध एक जाति लड़ती और एक कबीले के विरुद्ध एक कबीला ।' शक्तिशाली दुर्बल को जीत लेता । यह विजय और अधिकृत करने की रीति तब तक जारी रहती जब तक विजयी कबीला अपने मुखिया की छत्रछाया में पर्याप्त आकार के एक निश्चित प्रदेश पर नियंत्रण न कर लेता । लीकाक (Leacock) *वस्तुतः बल प्रयोग के सिद्धान्त की ठीक ही परिभाषा करते हैं ।* वे कहते है, "ऐतिहासिक रूप मे इसका अर्थ यह है कि सरकार मानवी अराति का परिणाम है, राज्य के प्रारंभों को आदमी द्वारा आदमी को पकड़ने तथा दास बनाने में, अपेक्षाकृत दुर्बल कबीलो को विजयी करने तथा अधिकृत करने और जिसे सामान्यतः कहा जा सकता

1. *Gettell, op. citd, p. 81*
2. *Gilchrist, op. citd. p. 74*

है कि यह श्रेष्ठ शारीरिक बल-प्रयोग द्वारा अपना प्रभुत्व हासिल करना ही है। कबीले से राज और राज से साम्राज्य की प्रगतिशील उन्नति उसी विधि का केवल क्रम मात्र है।"[1]

एक बार जब बल-प्रयोग में राज्य स्थापित कर लिया, और जिसे अब तक अन्यों को अधिकृत करने में लगाया जाता था, तब उसे आंतरिक शांति और बाहरी सुरक्षा को स्थिर रखने के लिए नियोजित किया गया। उसके बाद एक राज्य एक अन्य के विरुद्ध लड़ता और केवल वही जीवित रहते जो अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली थे। इसलिए, बल-प्रयोग का सिद्धांत विजय के फलरूप राज्य की प्रगति को प्रकट करता है, "और जिसकी लाठी उसकी भैंस के अनुसार उसके अधिकार को न्याय्य ठहराता है।"[2] किन्तु यह केवल राज्य की उत्पत्ति ही नहीं है जो कि शक्ति से संबंधित की जाती है, इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार राज्य और उसकी शक्ति का आगे संचालन शक्ति पर आधारित है। संक्षेप में इस सिद्धांत को इस प्रकार कहा जा सकता है: राज्य मानव अशांति का परिणाम है और बल-प्रयोग ने उसकी प्रगति एवं स्थिरता में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

अनेक विषयों के समर्थन में सिद्धान्त का प्रयोग (Theory used in Support of diverse Purposes)—विभिन्न लेखकों ने अपने दृष्टिकोणों का समर्थन करने के लिये इस सिद्धांत को अग्रणी बनाया है। मध्य युग में लाट पादरियों (Church-fathers) ने राज्य को बदनाम करने के लिये और गिर्जे (church) की उच्चता को स्थापित करने के लिये बल-प्रयोग के सिद्धांत का प्रयोग किया है। उनका कहना था कि गिर्जे (church) दैवी रचना है और राज्य क्रूर बल प्रयोग का परिणाम है। ग्रैगरी सप्तम ने १०८० में लिखा था, "हममें कौन इस बात से अपरिचित है कि राजाओं और नवाबों की उत्पत्ति उनमें से है जो परमात्मा को भूल कर, उद्दंडता, लूटमार, कपट, हत्या और प्रत्येक अपराध से, संसार के शासक के रूप में बुराई का प्रसार करते हुए, अपने साथी मनुष्यों पर मदांधता और असहनीय धारणा के साथ राज्य करते रहे हैं।"

आधुनिक समयों में व्यक्तिवादियों ने सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के सिद्धांत को अपनाया। उन्होंने राज्य को आवश्यक बुराई के रूप में चित्रित किया और उनका कथन था कि राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति को एकाकी छोड़ दे और उसे व्यक्ति के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था। वह "बलवान ही जीवित रहता है", इस सिद्धांत को लाये और उन्होंने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि समाज का यह स्वभाव है कि बलवान ही जीवित रहे और निर्बल का नाश हो। दूसरी ओर, समाजवादियों का कहना है कि राज्य बलवानों द्वारा कमजोरों के निर्दय शोषण की विधि का परिणाम है। यह कहा जाता है कि औद्योगिक संगठन की वर्तमान प्रणाली बल-प्रयोग पर टिकी हुई है, क्योंकि "समाज का एक अंग अपने साथियों को उन के न्यायपूर्ण पारिश्रमिक से वंचित करने में सफल हुआ है।" वे आगे यह तर्क करते हैं कि बल-प्रयोग नागरिक समाज की उत्पत्ति है और सरकार केवल दमनशील संगठन का

1. Leacock, op. citd., p. 32
2. Gettell, op. citd., p. 79.

प्रतिनिधित्व करती है जो श्रमिक वर्ग (Working class) को गिराने तथा शोषण की प्रवृत्ति रखती है। इसलिये समाजवाद का सिद्धांत राज्य के विरुद्ध विद्रोह है, क्योंकि उनके मतानुसार, राज्य बल-प्रयोग का उत्पादन है और वह बल-प्रयोग द्वारा जारी है। तदनुसार, कार्ल मार्क्स ने निष्कर्ष निकाला कि राज्य का अन्ततः "मुरझाना" होना चाहिए।

हाल ही के समयों में बल-प्रयोग का सिद्धांत जर्मन लेखकों के लिये राजनैतिक दर्शन का प्रिय विषय रहा था। अपने देश को महान जर्मनी (Greater Germany) बनाने की इच्छा से प्रेरित होकर, उन्होंने बल प्रयोग की प्रशंसा की और उसके अंधाधुंध प्रयोग को राष्ट्र की सबलता के लिये बहुत महत्वपूर्ण साधन माना था। ट्रीट्स्के (Trietschke) ने कहा कि "राज्य आक्रमण और प्रतिरक्षा की सार्वजनिक शक्ति है, जिस का पहला काम युद्ध की रचना करना और न्याय की व्यवस्था करना है।" उन्होंने कहा कि युद्ध लोगों का एकत्रीकरण करता है, प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी सापेक्ष महत्वहीनता प्रकट करता है, पक्षीय विरोधों के लोप का कारण बनता है और देश शक्ति और राष्ट्रीय आदर्शवाद की वृद्धि करता है। इस से आगे उन्होंने कहा, "इतिहास का महत्व राष्ट्रों के निरंतर संघर्ष में निहित है" और "शास्त्रों के प्रति प्रेम इतिहास के अन्त तक नियमित (valid) रहेगा।" जनरल वान बर्नहार्डी (General Von Bernhardi) का मत था कि शक्ति ही "सर्वोच्च सत्य है, और इस बात का संघर्ष कि सत्य क्या है, इसका निर्णय युद्ध की मध्यस्थता (Arbitrament) द्वारा होगा। युद्ध प्राणि-विज्ञान विषयक सत्य निर्णय प्रदान करता है, क्योंकि इसके निर्णय वस्तुओं के स्वतः स्वभाव पर निर्भर हैं।" नीत्शे (Nietzche) ने शक्ति और श्रेष्ठ मानव की इच्छा के सिद्धांत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार, वह व्यक्ति सर्वाधिक प्रशंसनीय है, जो बलवान है, जो अन्यों को अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये बाध्य करता है। नीत्शे मनुष्य की "प्रभु शक्ति" के गुणों की प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि सच्चे नैतिक व्यक्ति में "नम्रता, आत्म त्याग, दया और कोमलता के भद्दे एवं दासतापूर्ण गुणों को कोई स्थान नहीं।" हिटलर और मुसोलिनी ने इन लेखकों की शिक्षाओं को वास्तविक रूप दिया। उनके विचार में बल-प्रयोग एक राष्ट्र के मान, सांस्कृतिक प्रभाव, विश्व में व्यापारिक प्रभुता और घर में नागरिकों की राजभक्ति स्थिर रखने के लिये सामान्य साधन था। राजनीतिक अधिकारवाद (authoritarianism) का यह सामान्य मत हिटलर और मुसोलिनी के लिए "दबाव द्वारा अधिकार करने का सिद्धांत बन गया—अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में लड़ाकापन (Militancy) और घरेलू सरकार में राजनीतिक मतभेद का बल प्रयोग द्वारा दमन।"[1]

सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Theory)—वस्तुतः, बल-प्रयोग ने राज्य की उत्पत्ति और प्रगति में महत्वपूर्ण भाग लिया है। आज कुछ विशालतम साम्राज्य "रक्त-पात और शक्ति प्रयोग" द्वारा स्थापित हुए हैं। हम भविष्य में इससे भी अधिक "रक्त-पात और शक्ति प्रयोग" देख सकते हैं। वस्तुतः, बल-प्रयोग राज्य का अनिवार्य अंग है। आंतरिक रूप में, राज्य को बल-प्रयोग इसलिये चाहिये कि वह अपने आदेशों

1. Cocker : Recent Political Thought, p. 439.

राज्य का विकास हुआ। लीकाक इस विकास की विधि को वतलाते हुए कहते हैं, "पहले एक गृहस्थी, उसके वाद एक पितृ-प्रधान परिवार, उसके वाद एक वंश के लोगों का कवीला, और अन्ततः एक राष्ट्र—इस प्रकार इस आधार पर निर्मित सामाजिक क्रमों की उत्पत्ति होती है।"[1]

मेन द्वारा पितृप्रधान सिद्धांत की व्याख्या (Patriarchal Theory as explained by Maine)—इस सिद्धांत का समर्थन अरिस्टोटल के लेखों में पाया जायगा। अरिस्टोटल कहते हैं, "पहले परिवार वनता है........ जव कई परिवार जुड़ते हैं, और इस सम्मिलन का उद्देश्य नित्य की आवश्यकताओं की पूर्ति से कुछ अधिक होता है, तो ग्राम का अस्तित्व हो जाता है...........। जव कई ग्राम मिल कर एक वड़े और लगभग या पूर्णतः आत्मनिर्भर समाज में संयुक्त हो जाते हैं तो राज्य का उदय होता है।" किन्तु पितृप्रधान सिद्धांत को सर हेनरी मेन के आधुनिक काल से ही प्रवल समर्थन प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपनी दो पुस्तकों "एन्शेंट ला" (Ancient Law) और "दि अर्ली हिस्ट्री आफ इंस्टीट्यूशन्स" (The Early History of Institutions) में अपने पक्ष का समर्थन किया है। मेन ने इतिहास की गहरी खोज की थी और उन्होंने "सामाजिक राज्य के तत्वों" के विषय में तीन स्रोतों से अपना पक्ष समर्थन किया—"अपने समकालीन निरीक्षकों के कम उन्नत सभ्यताओं के विवरण से, उन आलेखों से जिन्हें विशिष्ट जातियों ने अपने प्राथमिक इतिहास के रूप में सुरक्षित रखा हुआ था," और प्राचीन नियम (कानून) से।"[2]

मेन कहते हैं कि समाज, प्रारम्भिक समयों में "वस्तुतः जिन आदमियों ने उसे वनाया, उनकी दृष्टि में......परिवारों का एकत्रीकरण" था, और व्यक्तियों का संचय नहीं था। इस तरह, प्राचीन समाज की इकाई परिवार था। तदनुसार, प्राचीन नियम को "इस रूप में वनाया गया है कि कारपोरेशन प्रणाली के साथ समन्वय किया जा सके।" ठीक जिस प्रकार कार्पोरेशन (संस्थाएं) कभी नहीं मरतीं, उसी तरह "प्राथमिक नियम" उस सत्ता के विषय में सोचता है कि जिसके साथ वह व्यवहार करता है, अर्थात् पैतृक अथवा पारिवारिक समूह को वह स्थिर और अमर रूप में देखता है।"[3] सवसे वयोवृद्ध पुरुष अपने गृहस्थ में सर्वशक्ति संपन्न था और उसका राज छत्र "जीवन और मृत्यु तक" विस्तृत होता है, और वह अपने वच्चों तथा उनके घरों में उतना ही प्रमाणित होता है जितना अपने दासों में.......।"[4] वस्तुतः उन पर उसे अनियंत्रित अधिकार होता है। वह न केवल अपने वच्चों द्वारा प्राप्त की हुई अपितु सारी संपत्ति का पूर्ण स्वामी होता था, वह दंड दे सकता था और यहां तक कि हत्या भी कर सकता था, वेच सकता था अथवा गोद लेकर परावर्तन कर सकता था, और इच्छानुसार किसी भी वच्चे का व्याह कर सकता था या तलाक कर सकता था।[5] अकेले परिवारों को तोड़ने

1. Ibid.
2. Maine : Ancient Law, p. 120.
3. Ibid., p. 126.
4. Ibid, pp. 123-24.
5. Ibid, p. 138.

से अधिक परिवार बने किन्तु सबको एक साथ रखकर पहले परिवार के मुखिया के अधिकार में रखा गया। यह कबीले का आरम्भ था। एक कबीले के कई सदस्य वहां से हटे और और नये स्थानों में बस गए। ये कबीले अब भी रक्तसंबंध के कारण जुड़े हुए थे। और सर्वमान्य उद्देश्यों के लिए मिलकर काम करते थे और अन्ततः उन्होंने राज्य का निर्माण किया। मेन विकास की इस विधि को इन शब्दों में विवित करता है: "प्रथम समूह परिवार है, जो सर्वमान्य अधीनता से वयोवृद्ध पुरुष के कारण सबद्ध है। परिवारों का एकत्रीकरण वंश या शाखा का निर्माण करता है। शाखाओं (Houses) का एकत्रीकरण कबीला बनाता है। कबीलों का एकत्रीकरण सर्वतंत्र (Commonwealth) का संगठन करता है।"[1]

मेन के सिद्धान्त की निम्न महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखा जा सकता है:

१. पितृप्रधान परिवार में पैतृकता का तत्व मुख्य तथ्य है।

२. वंशावलि केवल पुरुषों और समान पुरुखाओं से खोजी जा सकती है। स्त्री पक्ष का कोई भी उत्तराधिकारी पारिवारिक संबंध के प्राथमिक भाव में शामिल नहीं किया गया। तदनुसार, रक्त संबंध विशुद्ध रूप में एक ही पिता से उत्पन्न संतति का सिद्धांत (Agnatic) था।[2]

३. सारे अधिकार का आधार परिवार का मुखिया था और उसकी शक्ति का केंद्र अपने बच्चों और उनके घरों तथा सब उत्तराधिकारियों के अन्य संबंधियों तक, भले ही उनकी संख्या कितनी हो, विस्तृत था।

सर हेनरी मेन ने अपने वक्तव्य के समर्थन में पुरातन स्मृति लेखों के पैतृक अधिकारों का उल्लेख किया है, एथेन्स के "परिवारों" और "भाईचारों" का उदाहरण दिया है और भारत में हिन्दू संयुक्त परिवार प्रणाली का उल्लेख किया है। इसके साथ ही अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान के उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत की कबीला प्रणाली को भी विशेष रूप से जोड़ा जा सकता है। इन सब स्वरूपों से पितृप्रधान परिवार के महत्व को प्रमाणित किया जा सकता है। इसलिये, पितृप्रधान सिद्धान्त, परिवार को इकाई रूप में ग्रहण करके, "और यह कल्पना करके कि मुखियापन एक नेता से दूसरे को वसीयत किया गया, सरल सोपानों (stages) द्वारा पिता को मुखिया या राजा का रूप देता है और परिवार को नागरिक समाज का।"[3]

सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Theory)—पितृप्रधान सिद्धांत के विषय में कतिपय भीषण आपत्तियां हैं। मैक्लेनान (Mclennan) तथा अन्य इस बात से इंकार करते हैं कि प्राचीन समाज में पितृप्रधान परिवार इकाई था। उन्होंने यह साबित करने की चेष्टा की है कि प्रारम्भिक अतीत में कोई समूह नहीं था जिसका पुरुष मुखिया रूप में था और रक्त संबंध केवल स्त्रियों द्वारा खोजा जा सकता है। यह प्रतिपादित किया गया है कि पितृप्रधान प्रणाली से पूर्व मातृ-प्रधान प्रणाली थी और परिवार की अपेक्षा कबीला समाज की प्राचीनतम इकाई थी। यह भी मत है कि

1. Ibid., p. 128.
2. Ibid., pp. 148-150
3. Gilchrist, op. citd. p. 82.

जब परिवार के पुरुष सदस्य से वंशावलि की खोज की जाती है तो यह निश्चित है कि उस काल में विवाह की स्थायी व्यवस्था का अस्तित्व था। दूसरी ओर, मातृ-प्रधान सिद्धांत के समर्थक कहते हैं कि समाज के आदिकाल में विवाह स्थायी व्यवस्था नहीं थी। एक स्त्री एक की अपेक्षा अधिक के साथ विवाह करती थी और वंशावलि पिता की अपेक्षा माता द्वारा खोजी जाती थी; पिता संपूर्ण काल में अनिश्चित होता था, क्योंकि एक पत्नी और कई पति होते थे।

इसलिए, सामाजिक संगठन के प्राचीन रूप इतने सरल नहीं थे जितने पितृ-प्रधान सिद्धान्त के रचयिताओं ने प्रमाणित करने का यत्न किया है। सर जे. जी. फ्रेज़र (J. G. Frazer) ने अपने "दि गोल्डन बफ" (The Golden Bough) नामक अन्वेषण ग्रंथ में चेतावनी दी है, "जो कोई संस्थाओं के इतिहास की खोज करता है, उसे अपने दिल में इन विषयों की असीम जटिलता को निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए कि जिनसे मानवी समाज का वस्त्र निर्मित हुआ है, और उसे सारे विज्ञान के इस ख़तरे से भी सावधान रहना चाहिए—परिघटन के असंख्य रूपों को अकारण ही सरल बनाने की प्रवृत्ति कि जिसके कारण हम उनमें से कुछेक की ओर ध्यान दे लेते हैं और शेष को छोड़ देते हैं ....।"

मातृ-प्रधान सिद्धान्त (Matriarchal Theory)—मैक्लेनान, मौर्गन और जेंक्स मातृ-प्रधान सिद्धांत के प्रमुख प्रवर्तक हैं। इन सबने इस मत को पूर्णतया रद्द कर दिया है कि पितृ-प्रधान परिवार समाज का प्राचीनतम रूप था। उनका कथन है कि प्रारम्भिक समाज में मातृ-प्रधान समहों या जमघटों का अस्तित्व था और कोई सर्वमान्य पुरुष मुखिया नहीं था। रक्त संबंध केवल माता की ओर से जाना जा सकता था।

मातृ-प्रधान सिद्धांत के समर्थकों का तर्क है कि पितृ-प्रधान परिवार वहीं संभव है, जहां या तो एक विवाह या अनेक विवाह की संस्था विद्यमान हो। इस प्रकार की विवाह की संस्था समाज के प्रारम्भ में विद्यमान नहीं थी। विवाह का प्राचीनतम रूप बहुपतित्व (polyandry) था—एक पत्नी के कई पति होते थे। जहां कहीं भी विवाह की ऐसी संस्था विद्यमान होती है, वहां पति और पत्नी के सामान्य संबंध विद्यमान नहीं होते। एक आदमी, उसकी पत्नी और बच्चों से बने परिवार की जगह एक वृहद् और शिथिल सम्बन्धों वाला समूह होता है, जो विवाह उद्देश्यों के लिए संगठित होता है। समाज की इस प्रकार की अवस्था में यौन संबंधों की संकीर्णता प्रचलित होती है और रक्त संबंध स्त्रियों से होता है और पुरुषों से नहीं। मैक्लेनान मोर्गन के इस विषय में भागीदार हैं कि उन्होंने "कुल प्रणाली की खोज की, और वह कुल मातृप्रधान रूप में संगठित था, जो वंशगत (hereditary) और एक-पक्षीय (Unilateral) इकाई था। एक-पक्षीय इसलिए कि इस प्रणाली के अधीन बच्चे अपनी माता के होते थे, जिनके साथ पिता के कुल का कोई संबंध नहीं माना जाता था।"[1] पिता का कुल उसकी पत्नी से भिन्न होता था, क्योंकि कुल कबीले से बाहर ही विवाह करने की प्रथा जारी थी।

1. Dunning, op. citd., Vol. IV. Recent Times. p. 435.

जेंक्स (Jenks) ने अपने मत को आस्ट्रेलिया के आदिवासियों तथा मलयद्वीप-समूह में विद्यमान अवस्थाओं के आधार पर चित्रित किया है। वह कहते हैं, "यह आस्ट्रेलियनों तथा अन्य जंगलियों में, जो कबीलों में रहते हैं, प्रथा है; ....वस्तुतः इसे एक मंडली (pack) कहना अधिक ठीक होगा, क्योंकि सामाजिक संगठन की अपेक्षा इसका रूप शिकारी संगठन से अधिक मिलता-जुलता है। दिन भर को दौड़-धूप में जो संग्रह हो पाता है, उनमें सारे सदस्यों की हिस्सेदारी होती है, और स्वभावतः ही वे खेमे लगाते हैं और मिलकर रहते हैं।......किंतु आस्ट्रेलियनों की वास्तविक सामाजिक इकाई कबीला नहीं है प्रत्युत एक चिन्हित दल (Token Group) है।...... चिन्हित दल मुख्यतः ऐसे व्यक्तियों की एक मंडली होती है, जिसे किसी प्राकृतिक चिन्ह से अंकित करके भिन्न दिखाया जाता है, जैसे किसी पशु या पेड़ का चिन्ह गोद दिया जाता है, जिससे वह परस्पर विवाह न कर सकें। 'सर्प चिन्ह वाले का सर्प के साथ विवाह नहीं हो सकता। चिड़िया का चिड़िया के साथ ब्याह नहीं हो सकता।' यह जंगली सामाजिक संगठन का पहला नियम है।............नियम का दूसरा पक्ष भी इसी के समान प्रभावशाली है। जंगली अपनी चिन्हित जाति के अन्तर्गत तो विवाह नहीं कर सकता, किन्तु उसे अन्य उस जाति में ब्याह करना ही होगा जो विशेष रूप से उसके लिए नियत की गई है। इससे भी अधिक, वह न केवल विशिष्ट जाति में ही विवाह करता है, प्रत्युत वह उस जाति की सब औरतों का विवाह अपनी निजी संतति में भी करता है।........"

प्राचीन साहित्य के जर्मन विद्यार्थी, जे. जे. बैशोफन (J. J. Bachofen) का मत है कि प्रारम्भिक समाज में न केवल वंश परम्परा माता से होती थी और संपत्ति का अधिकार स्त्री को जाता था, प्रत्युत औरतों का सर्वसामान्य मनुष्य में वस्तुतः प्रभावशाली रूप था।"[1] इन्हीं बैशोफन को पितृ-प्रधान सिद्धान्त की खोज के लिए भी मुख्यतः जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। इससे आगे जेंक्स सर हेनरी मेन के इस वक्तव्य का खंडन करते हैं कि परिवार का विस्तार गृहों में और गृहों से कबीले में हुआ। इस तरह, मातृ-प्रधान सिद्धांत "अपने अपेक्षाकृत बड़े दल में से लघुतर की प्राप्ति करता है, न कि लघुतर से बड़ा दल।"[2] इसलिए मातृ-प्रधान सिद्धांत के विकास की निम्न विधि है:

१. पहले एक कबीला है और यह सब से पुराना और प्राथमिक सामाजिक दल है।

२. समयांतर कबीला कुलों में बंट जाता है।

३. कुल इसके बदले में गृहस्थी को स्थान देते हैं।

४. अन्ततः, एक व्यक्ति परिवार बन जाता है।

इस विकास के चरणों के विस्तार में जाना अर्थहीन-सा है। जो भी हो, व्यक्ति-परिवार का अस्तित्व तब हुआ जब आदमियों ने चरवाहे जीवन (Pastoral Life) बिताना शुरू कर दिया। चरवाही आजीविका के लिए घरेलू जानवरों को रखने की

1. Ibid.
2. Maine : Early Law and Custom, p. 200

आवश्यकता हुई। यह देखा गया कि औरतें भेड़ों तथा पशुओं की सर्वोत्तम देखभाल कर सकती थीं। इसलिए आदमियों ने अपने को अधिक श्रम के कामों में नियोजित किया। इसके कारण स्थायी मकानों तथा स्थायी विवाहों का—भले ही एक या अनेक पत्नी—उत्कर्ष हुआ। इस तरीके से परिवार अस्तित्व में आया। मातृ-प्रधान सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार पितृ-प्रधान सिद्धांत तभी पैदा हुआ जब आदमियों ने प्रारम्भिक मनुष्य के आवारा या शिकारी जीवन की जगह चरवाहा और कृषि की आदतों वाला जीवन ग्रहण कर लिया।

मातृ-प्रधान सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Matriarchal Theory)—जैसी कबीला-संबंध की प्रणाली का मातृप्रधान सिद्धांत के समर्थकों ने विवरण दिया है, वह निःसंदेह, कुछ जंगली जातियों में भूतकाल में थी, और आज भी विद्यमान है। यहां तक कि सर हेनरी मेन ने अपनी उत्तरकाल की रचनाओं में मैकलेनान के प्रमाणों के महत्व को अधिकांशतः माना है और, तदनुसार, उन्होंने इस प्रमाण को दृष्टि में रखते हुए अपने सिद्धांत का पुनः वर्णन किया।[1] अनेक पति-प्रथा (Polyandry) आज भी भारत के मलाबार के भागों तथा कांगड़ा की पहाड़ियों में विद्यमान है। किन्तु इस विषय के समर्थन में पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि मातृप्रधान प्रणाली सार्वभौम और समाज के प्रारम्भ के लिये आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, स्त्री संचारण (transmission) का साधन है। प्रकृति ने उसे क्रियाशील भाग अदा करने के लिये नहीं बनाया और शारीरिक रूप में दुर्बल होने के कारण वह ऐसी योनि (sex) द्वारा अधिकृत होगी, जो शारीरिक रूप में उससे उच्च होगी। इसलिये, मातृप्रधान सिद्धांत पितृ-प्रधान सिद्धांत का स्थान नहीं ले सकता। सत्यता यह जान पड़ती है कि इतिहास दोनों ही प्रणालियों के समान उदाहरण प्रस्तुत करता है और हम डा. लीकाक के साथ सहमत होते हुए केवल यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि "यहां तो मातृप्रधान सिद्धांत और वहां पितृ-प्रधान शासन का नियम दिखाई देता है—दोनों में से कोई भी संभवतः अन्य द्वारा स्थानान्तर किया जा सकता है।"[2] जो भी हो, दोनों सिद्धांतों से पूर्णतया यह सिद्ध होता है कि परिवार राज्य का आधार है।

ऐतिहासिक अथवा विकासात्मक सिद्धांत (The Historical or Evolutionary Theory)

हमने उन अनेक सिद्धांतों पर जो राज्य की उत्पत्ति के विषय में बतलाते हैं, विचार किया है। परन्तु कोई एक सिद्धांत पर्याप्त रूप से विषय का स्पष्टीकरण नहीं करता है। जैसा कि डा. गार्नर कहते हैं—"राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है और न उच्च कोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव अथवा सम्मेलन द्वारा बनाया गया और न परिवार का विस्तार मात्र है।" वास्तव में यह एक प्राकृतिक उत्पत्ति की संस्था है जिसका जन्म मनुष्य-जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न हुआ और अच्छे जीवन के हेतु अभी जीवित है। वह सिद्धांत जो कि राज्य की उत्पत्ति

1. Early Law & Custom (1901) Ch. VII pp. 200-228.
2. op. citd., p. 41.

के विषय में बतलाता है और जो इसका सच्चा सिद्धान्त माना जाता है, ऐतिहासिक अथवा विकासात्मक सिद्धान्त है। यह बतलाता है कि राज्य उत्पत्ति एवं विकास का परिणाम है जो विकास धीरे-धीरे एवं निरन्तर बहुत समय तक चलता रहा और अन्त में जिसने वर्तमान राज्य का जटिल रूप ग्रहण कर लिया। बर्गेस ने उचित ही कहा है कि राज्य एक "मानव-समाज का निरन्तर विकास है जिसका आरम्भ अत्यन्त अधूरे और विकृत किन्तु उन्नतिशील रूपों में अभिव्यक्त होकर मनुष्यों के एक समग्र एवं सार्वभौम संगठन की ओर बढ़ा है।"

यह बतलाना कि कब और किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया, कठिन है। अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान ही विभिन्न परिस्थितियों की सहायता पाकर और अनेक विषयों से प्रभावित होकर यह अज्ञात रूप से आविर्भूत हो गया। इतिहास, नृ-वंश विज्ञान, शारीरिक विज्ञान और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधुनिक अनुसंधानों ने राज्य की उत्पत्ति और विकास के परिज्ञान और गवेषणा में हमारी बहुत सहायता की है। तथापि राज्य के विकास का क्रम कभी एक-सा नहीं रहा। भौगोलिक परिस्थितियों, प्राकृतिक वातावरणों और दूसरी सम्बन्धित समस्याओं ने, जो कि मानवीय आचार-विचार को प्रभावित करते हैं और समाज के राजनीतिक विकास पर प्रभाव डालते हैं और स्वयं उससे प्रभावित होते हैं, उसके व्यवस्थित और क्रमिक विकास को छिन्न-भिन्न कर दिया। फिर भी उन प्रमुख प्रभावों को, जिनसे राज्य के विकास में सहायता मिली, प्रकट करना सम्भव है। ये प्रभाव निम्न हैं—

(१) रक्त-सम्बन्ध

(२) धर्म, और

(३) राजनीतिक चेतना

यद्यपि हम इन सब प्रभावों पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं तथापि यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इनमें से किसी एक ने राज्य के निर्माण में दूसरों से भिन्न रह कर कार्य किया है। उन्होंने विभिन्न समूहों में उस एकता और संगठन को बनाने में, जिनकी राज्य को आवश्यकता होती है, कार्य किया।

रक्त-संबन्ध (Kinship)—सामाजिक संगठन का प्राचीनतम रूप रक्त-सम्बन्ध पर आधारित था और रक्त-संबंध एकता का प्रथम और दृढ़तम बंधन था। लोगों को जो बात परस्पर बांधती थी और उन्हें एक दल के रूप में पास-पास लाती थी, वह सर्वमान्य उत्पत्ति में विश्वास था और परिवार प्राचीनतम तथा निकटतम रक्त-सम्बन्ध की इकाई था। निःसंदेह यह विवादास्पद प्रश्न है कि कबीला, दल या परिवार में पहले कौन हुआ। फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि परिवार राज्य का आधार है और परिवार के स्पष्ट तथा व्यस्त नियंत्रण में से सरकार का आरम्भ हुआ होगा। यहां तक कि मातृ-प्रधान सिद्धांत के समर्थक भी अन्ततः परिवार के आस-पास ही चक्कर काटते हैं और पितृ-प्रधान अधिकार को स्वीकार करते हैं।

परिवार के विस्तार से नये परिवारों की उत्पत्ति हुई। परिवारों की वृद्धि से कुल और कबीले बने। विकास की इस सम्पूर्ण विधि में रक्त सम्बन्ध ही एक ऐसा साधन था जिसके द्वारा मनुष्य एक साथ बने रहे। जो व्यक्ति रक्त के बंधन से विमुक्त थे, उन्हें गोद

जीवन राजनीतिक प्रश्नों की अपेक्षा धर्म पर अधिक विभाजित है।[1]

राजनीतिक चेतनता (Political Consciousness)—हम यह देख चुके हैं कि रक्त-संबंध और धर्म ने कैसे प्राथमिक समाज को संवद्ध किया। किन्तु इस एकता का अन्तर्निहित विचार क्या था? यह कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति थी। जब जनसंख्या बढ़ी तब सामाजिक संबंधों के नियमित करने की आवश्यकता हुई। ज्यों ज्यों पशु-चारण एवं कृषि संबंधी भूमिकाओं में संपत्ति की वृद्धि हुई, त्यों त्यों किसी न किसी प्रकार के, वस्तुओं और व्यक्तियों से संबंधित, नियमों की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी। यह अनुभव किया गया कि मनुष्यों का कोई समुदाय बिना किसी प्रकार के संगठन के स्थिर नहीं रह सकता। एक संगठित जीवन बिताने और व्यक्तियों और समूहों का एक सामान्य शक्ति के अधीन एक सामान्य संगठन के संचालन का विचार राजनीतिक चेतना का प्रभात था। वास्तव में संगठन की भावना, वुडरो विल्सन के कथनानुसार "प्राकृतिक है और मनुष्य एवं परिवार के साथ-साथ उत्पन्न हुई है।" और यह अरस्तू के इस कथन को कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, ठीक सिद्ध करता है।

आरम्भ में राजनीतिक चेतना को व्यक्त नहीं किया जाता था। यह केवल अनुभूति मात्र थी। यह भी कहा जा सकता है कि शुरू शुरू की राजनीतिक चेतनता वस्तुतः राजनीतिक अचेतनता थी, किन्तु "ठीक जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज से बहुत पहले भी प्राकृतिक शक्तियां कार्य करती थीं, इसी प्रकार राजनीतिक संगठन की भावना विकास की संपूर्ण प्रक्रिया में कुछ निश्चित नैतिक ध्येयों के प्रति अचेतन, अर्ध चेतन और पूर्ण चेतन मानव-मनों में काम कर रही थी।" जब एक दल एक दूसरे दल के संपर्क में आया तो राजनीतिक प्रदर्शन की प्रवृत्ति की दिशा ने स्पष्ट रूप धारण किया। एक समूह और दूसरे समूह के बीच शत्रुता के संबंधों ने राजनीतिक एकता की रचना का समारंभ किया। अन्यों के शत्रुतापूर्ण आयोगों के विरुद्ध सर्वमान्य प्रतिरक्षा के लिये निश्चित कार्यवाही ने समूह की एकता को शक्ति प्रदान की और उसके संगठन के अधिकार में वृद्धि की। यह कहावत "युद्ध राजा उत्पन्न करता है", गैटल के शब्दों में "कम-से-कम आधा सत्य है क्योंकि सैनिक कार्यवाही एक प्रबल शक्ति है, अधिकारी और नियम के लिये आवश्यकता की रचना करने और प्रारम्भिक परिवार संगठनों की जगह विशुद्ध राजनीतिक प्रणालियों की स्थापना करने के लिये कबीलों के सदस्यों के आपसी संघर्ष और एक कबीले के दूसरे के विरुद्ध और युद्धों ने नेतृत्व के महत्व को मुख्यतः प्रस्तुत किया। लोग ऐसे आदमी के चारों ओर जमा होते जिसके व्यक्तिगत गुणों ने उसे सम्मान और प्रभाव में उच्चतम शिखर तक पहुंचा दिया हो। वह गुण इस प्रकार के थे—सैनिक विज्ञता, मानव स्वभाव का ज्ञान, भाषण देने की योग्यता आदि। सफल युद्ध-नेता राजा होते थे। उनका अधिकार विजित कबीलों के व्यक्तियों तथा प्रदेश पर होता था और इससे राज्य को प्रदेशात्मक और राजसत्तात्मक विस्तार प्रकट करने में सहायता होती थी।

---

१. हिन्दू महासभा, जन-संघ, राम-राज्य-परिषद् और अकाली दल आन्दोलनों से संकेत है। अकाली पार्टी के प्रधान मा. तारा सिंह ने अगणित बार कहा है कि धर्म राजनीति से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही श्री जिन्ना कहा करते थे।

निष्कर्ष—इस प्रकार हमने देखा कि किस प्रकार राज्य ऐतिहासिक प्राकृतिक विकास का परिणाम है और इसकी प्रगति में कई तत्व सम्मिलित होते हैं, जिनमें से मुख्य यह थे : रक्त सम्बंध, धर्म, देश के भीतर और देश के बाहर आत्म-रक्षा के लिये आवश्यकता, वस्तुओं तथा व्यक्तियों को नियमित बनाने की आवश्यकता और वस्तुतः राजनीतिक चेतनता। सब ने मिल कर काम किया है, "कुछ ने अन्यो की अपेक्षा अधिक महत्व के साथ और सब इतिहास तथा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की शक्तियों से सहायता पाकर उस प्रणाली में प्रविष्ट हुए जिसमे असंख्य लोगों को अराजकता में से निकाला जाता है और राज्य के अधिकारी के अधीन किया जाता है।"

यह निश्चित है कि राज्य से पूर्व पारिवारिक समूह विद्यमान थे। राज्य का सरल एवं अपरिपक्व रूप पहले-पहल परिवार के विस्तार में प्रकट हुआ। सरकार विषयक संगठन के कीटाणु पारिवारिक नियंत्रण में पाए गए। धर्म ने पारिवारिक नियंत्रण को बल प्रदान किया और "क्रमशः विस्तृत नियंत्रण की रचना की जो राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक है।" रीति रिवाज पहला नियम था और प्रत्येक रीति रिवाज के पीछे धार्मिक स्वीकृति थी। जब मानवी आवश्यकताएं—आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक—भिन्न वातावरणों तथा अवस्थाओं के मेल से बढ़ी, तो राज्य का रूप जो कि भूमि पर अवस्थित हो गया और दूसरों से स्वतन्त्र एक पृथक् मानव समूह बन कर अधिक जटिल बन गया, उसके कार्यकलापों का मान अधिक सार्वभौम, मानव की आवश्यकताओं के लिये अधिक अपरिहार्य हो गया।

Suggested Readings

Frazer, J. G.—The Golden Bough (1922).
Garner, J. W.—Introduction to Political Science, Chapt. IV.
Gettell, R. C.—Introduction to Poli ical Science, Chapt. VI.
Gilchrist, R.N.—Principles of Political Science, Chapts. III, IV (1951)
Leacock, S.—Elements of Political Science, Chapts. II, III.
MacIver, R. H.—The Web of Government, Chapt. II.
Maine, H. S.—Ancient Law, Chapt. V (1890).
Maine, H. S.—Early History of Institutions (1875).
Seeley, J. R.—Introduction to Political Science, Lecture III.
Wilson, W.—The State, Chapt. I.

जब कि राज्य छोटा हो। अरिस्टोटल ने राज्य की जनसंख्या पर निश्चित सीमाएं लगाई हैं। उनका मत था कि न तो दस हजार से और न ही एक लाख से एक अच्छा राज्य बन सकता है, क्योंकि ये दोनों ही संख्याएं दोनों तरफ से अन्तिम सिरे की हैं अर्थात् एक बहुत ज्यादा है और दूसरी बहुत कम। उन्होंने एक सामान्य सिद्धांत बनाया कि संख्या न तो बहुत बड़ी होनी चाहिए और न ही छोटी। यह इतनी बड़ी होनी चाहिए कि आत्म-निर्भरता के लिए पर्याप्त हो और इतनी छोटी होनी चाहिए कि इसका भली प्रकार शासन किया जा सके।

ग्रीक नगर-राज्य स्वतन्त्रता और समान नियमों की प्राप्ति के लिए किए गए चेतन यत्न की अवस्था तक विकसित हुए थे। यह एक महान प्रयोग था, जो न केवल स्वशासन की कला में प्रत्युत गुण की खोज में भी था। ग्रीक दृष्टि में एक राज्य का नागरिक होना केवल करों को चुकाना और मतदान का अधिकार ही नहीं, "यह नागरिक और सैनिक जीवन के सब कृत्यों में प्रत्यक्ष और सक्रिय सहयोग की भावना को शामिल करता है। एक नागरिक सामान्यतया एक सिपाही, एक न्यायाधीश और शासन सभा का एक सदस्य था; और अपने सारे सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन वह सहायक द्वारा नहीं प्रत्युत व्यक्तिगत रूप में करता था, नगर के देवता उसके देवता थे; उसके उत्सवों में उसे शामिल होना पड़ता था।" इस तरह राज्य, समाज के साथ संबद्ध था। ग्रीक नगर एक ही समय में राज्य, चर्च और विद्यालय था। इसमें आदमी का संपूर्ण जीवन निहित था। चूंकि राज्य का उद्देश्य सब नागरिकों के लिए अच्छा जीवन प्राप्त करना था, इसलिए राज्य नियंत्रण के सब रूपों को उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उचित और न्याय्य माना जाता था, और राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक या आर्थिक मामलों के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता था। बर्क (Burke) ने राज्य का वर्णन इस प्रकार किया है : "सारे विज्ञान में हिस्सेदारी, सारी कला में हिस्सेदारी, प्रत्येक गुण और सारी संपूर्णता में हिस्सेदारी", ग्रीक नगर का वास्तविक जीवन था और एथन्स अपनी उच्चता के शिखर पर ग्रीक राजनीतिक विचारों की सर्वश्रेष्ठता का प्रतीक समझा जाता था।

ग्रीक के नगर-राज्य इस शब्द के आधुनिक अर्थ में, लोकतंत्र के आदर्श उदाहरण थे। डेमोक्रेसी (Democracy) शब्द की दो ग्रीक शब्दों से व्युत्पत्ति हुई है, डेमास (Demos) और क्रतिया (Kratia), पहले का अर्थ है—लोग और दूसरे का है—अधिकार। ग्रीस के सभी नागरिक प्रत्यक्षतः राज्य के शासन के साथ जुड़े हुए थे और इसका वास्तविक अर्थ लोगों की शक्ति था। किन्तु ग्रीस में सरकारों के रूपों में राजनीतिक परिवर्तनों का चक्र चलता रहा है। सरकार का पहला रूप राजतंत्र था, जो समयांतर कुलीन-तंत्र (Aristocracy) में बदला, कुलीन-तंत्र की जगह अल्प-जनतंत्र (Oligarchy) ने ली और अन्ततः, राज-धर्म और फिर लोकतंत्र की स्थापना हुई। ग्रीकों के अनुसार लोकतंत्र एक अव्यवस्थित समूह का राज्य था। इसके पश्चात राजतंत्र स्थापित हुआ। इस प्रकार राजनीतिक परिवर्तन [illegible] परिचालित होत[illegible]ा।

[illegible]गर-राज्य [illegible] रूप में प्राचीन साम्राज्यों से भिन्न थे। किन्तु ग्रीकों के

राजनीतिक जीवन में भी बाधाएं थीं। पृथक्वाद के आधार पर स्वतन्त्रता के प्रति उनके प्रेम का अन्ततः विनाशकारी परिणाम हुआ जब कि उत्तर में मैसेडन के फ़िलिप के अधीन एक शक्तिशाली राज्य का जन्म हुआ। पुनः, ग्रीकों में नम्र कहे जाने वाले गुणों का दुःखद अभाव था— धैर्य, आत्मत्याग, समझौते और सहनशीलता की भावना। यह उनकी मन-मर्जी, और नियंत्रित जीवन का अभाव था, जिनके कारण उनके नगरों में अमीर और गरीब, कुलीन और साधारण जन तथा एथन्स के मित्रों और स्पार्टा के मित्रों के बीच दलीय लड़ाइयों ने तीव्र रूप धारण किया। इसी एक कारण ने ग्रीक दार्शनिक निरन्तर इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे कि सदाचार क्या है और कैसे इसकी शिक्षा दी जा सकती है? और उन्होंने इस प्रश्न को समाज के लिए तात्कालिक और अत्यधिक महत्व का समझा। उन्होंने महसूस किया कि उनके देशवासी स्वतन्त्रता के विषय में तो अत्यधिक चिन्ता करते थे और नियंत्रण के लिए बहुत ही कम। तदनुसार, उन्होंने भविष्यवाणी की कि ऐसी मानसिक दशा के लोग ऐसी शक्ति के आगे झुकेंगे, जिसके लोग ग्रीकों की अपेक्षा अधिक नियंत्रणशील होंगे। पहले मैसेडोनियावासियों ने और बाद में रोमनों ने इस भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर दिखाया।

इसके अतिरिक्त ग्रीकों में "मानवता का अभाव" भी था। उन्होंने स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित लोगों का ही एकमात्र अधिकार बना दिया था और जिसे ग्रीक अपने लिए सर्वाधिक मूल्यवान समझते थे, उससे दासों को वंचित कर रखा था। यहां तक कि ग्रीकों में सर्वाधिक बुद्धिमान भी दासता को प्राकृतिक व्यवस्था मानता था और उन्होंने स्वप्न में भी यह कभी नहीं सोचा था कि दास-प्रथा के बिना भी सभ्य जीवन संभव है। उदाहरण के लिए, एथन्स के केवल २० हजार नागरिक थे, जो दासों की अपेक्षाकृत बृहद् संख्या को अपने सारे भद्दे काम को सौंप कर अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों से मुक्ति प्राप्त करते थे। किन्तु दासता की हमारी दृष्टि में सभ्यता के साथ बराबरी ही नहीं हो सकती, और ऐसा होने के कारण लोकतंत्र के साथ भी। लोकतंत्री समाज वह है, जिसमें सब को वर्ग-भेद के बंधनों के बिना समान अधिकार और लाभ प्राप्त हैं। इसका आधार मनुष्य का भाईचारा है और उसके सब सदस्य सर्वमान्य बंधुता में समान होते हैं। इसका अर्थ है मनुष्य के व्यक्तित्व में विश्वास।

रोमन साम्राज्य (The Roman Empire)—"रोम ने इतिहास में अपना उदय राजतंत्री नगर-राज्य के रूप में किया। उसने अपनी महत्ता गणतंत्र के रूप में प्राप्त की। अपने पतनकाल में वह साम्राज्य (Imperial) और स्वेच्छाचारी (despotic) था।" शाहीकाल रोम की स्थापना से लेकर (लगभग ७५३ ई० पूर्व) ५१० तक रहा। राज्य का नेता एक राजा था, जो एक ही समय वंशपरम्परा से आया हुआ लोगों का मुखिया, अपने समुदाय का मुख्य धर्माधिकारी और राज्य का निर्वाचित शासक था। राजा की मृत्यु पर राज्य की राजसत्ता महा-जनों की ससद् में बदल जाती थी। महा-जन ५ दिन के लिए एक अस्थायी राजा नियत करते थे, जो बदले में एक अन्य महा-जन को मनोनीत करता था। यह महा-जन वस्तुतः नये राजा का नाम इस शर्त के साथ घोषित करता था कि एकत्र हुए लोग उसका समर्थन करें। "लोगों के मत को देवताओं की स्वीकृति से परिपुष्ट किया जाता था, जैसा

जो वदले में परमात्मा का दास होता था । वे अपने उपनिवेश जागीर के रूप में प्राप्त करते थे और शर्त यह होती थी कि वह अपने मालिक के प्रति वफादार रहेंगे। इसके वाद, प्रत्येक राजा अपने उपनिवेशों को पर्याप्त वड़े अंशों में विभाजित करता था और प्रत्येक भाग को राजा के प्रति वफादारी और सेवा की शर्त पर एक सरदार को देता था और वह मुख्य क़िराएदार कहलाता था। वह अपने दायित्वों को पूर्ण करते रहने तक भूमि का मालिक वना रहता था । उसकी मृत्यु के बाद दास के अधिकार और कर्त्तव्य मालिक के उत्तराधिकारियों को चले जाते थे। मुखिये किराएदार अपनी-अपनी भूमियों की छोटी इकाइयां करते और वैसी ही शर्तों पर अपने दासों को देते। विभाजन और परावर्तन की यह विधि कई स्तरों तक जारी रहती । सभी स्तरों में दास को अपने स्वामी के प्रति स्वामीभक्ति रखनी होती थी, जिसकी वह सम्मान समारोह के अवसर पर प्रतिज्ञा करता था : "दास अपने मालिक के सामने नंगे सिर और शस्त्रहीन आया है, और वह घुटने टेक कर घोषणा करता है कि वह उसका "आदमी" हुआ। उसके वाद मालिक उसे चूमता और उसे घुटनों के वल बैठे हुए को उठाता । इसके वाद दास अपने मालिक के प्रति स्वामी-भक्ति दिखाता ।"

सामन्तवाद के स्वरूप को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है :

१. एक मालिक से दास को मिली हुई भूमि का रखना।

२. मालिक और दास के वीच निकट और व्यक्तिगत वंधनों का अस्तित्व ; और

३. राजसत्ता का पूर्ण या आंशिक अधिकार, जो जागीर का एक मालिक, उसमें रहने वाले अधिवासियों पर प्रयुक्त करता है।

मालिक की यह जायदाद, वड़ी या छोटी, जागीर या सामन्ती कहलाती थी, और इसी से सामन्तवाद की व्युत्पत्ति हुई।

अपने मालिक के प्रति दास के निम्न दायित्व थे : वर्ष भर में सैनिक सेवा—सामान्यत : ४० दिन तक सीमित थी ; मालिक को उसकी भूमि और मकान के किराए का भुगतान; मालिक के खेतों में वर्ष में कुछ दिनों के लिए काम करना ; मालिक के वड़े पुत्र को युवराज पद देने के समय, उसकी कन्या के विवाह के समय, यदि मालिक लड़ाई में वंदी हो जाय, तो उसे छुड़ाने के अवसर पर भुगतान करने; जव नया उत्तराधिकारी जागीर का स्वामी वने तो सहायता या भुगतान करने; जव दास ने किसी दूसरे पक्ष को भूमि दे दी हो तो उस समय जुर्मानों को चुकाना ; मालिक और उसके अनुयायियों का यात्रा अथवा शिकार के समय आतिथ्य-सत्कार और आवास का प्रवंध करना; और मालिक के दरवार में उपस्थिति।

मालिक के कर्त्तव्य अपने अधीनस्थ (दास) की रक्षा करना और उसकी भूलों का प्रतिकार करना; उसके अधिकारों की प्रतिरक्षा करना; और सव मामलों में उसे न्याय प्राप्त कराना था।

किन्तु सामन्ती राज्य वास्तविक अर्थ में राज्य नहीं था । उसमें न तो सर्वमान्य नागरिकता थी और न ही सर्वमान्य नियम । राज्य में कोई केन्द्रीय अधिकारी नहीं था और लोगों की स्वामी-भक्ति प्रत्येक चरण पर विभाजित थी । व्यक्ति अपने तात्का-

...लिक भू-स्वामी के प्रति वफादार थे और उसी के द्वारा राजा के प्रति । स...
"सामंती-प्रथा अपूर्ण तथा एक असंगठित गड़बड़-झाला था।"

राष्ट्र-राज्य (The Nation-State)—जो भी हो, सामन्तवा...
योरोप के लोगों को कुछ शांति और सुरक्षा प्रदान की। किन्तु यह केवल "शांति...
अस्थायी स्वरूप था।" एक सच्चा राष्ट्रीय जीवन इस पर नहीं बन सकता था। फ...
सामन्तवाद के पतन के लिए कई अंगों ने कार्य किया। लोगों के धार्मिक और र...
नैतिक विचारों में महान परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ था। जागृति और धा...
विप्लव ने इस परिवर्तन को अधिक विस्तृत रूप दिया। इंग्लैंड में ट्यूडरों (Tudors)...
इस अवसर से लाभ उठाया और योरोपीय देशों को दर्शाया कि लोग कैसे मिल सकते...
और एक दृढ़ तथा केन्द्रीय अधिकार के अधीन किस प्रकार उन्नति कर सकते है...
इंग्लैंड में एकता के बंधनों को राष्ट्रीयता की भावना द्वारा अधिक परिपक्वता प्राप्...
हुई। उसकी द्वीप-संबंधी स्थिति ने अंग्रेजों को संगठित और चैतन्यमय राष्ट्र का पूर्ण
आकार प्राप्त करने में सहायता दी। पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में, अंग्रेजों की फ्रांस को
आधीन करने की चेष्टा ने उस देश में राष्ट्रीय भावना को जागृत किया। इसी प्रकार
की जागृति, विभिन्न कारणों से, स्पेन और पुर्तगाल में हुई। १६वीं सदी में डेनमार्क और
स्वीडन के लोग भी इसी तरह संगठित हो गए थे।

इस तरह, राज्य का एक नया प्रकार उत्पन्न हुआ। राज्य की पुरानी धारणा
की जगह एक ऐसे राज्य का उदय हुआ जो राष्ट्रीयता के बंधनों के आधार पर
प्राकृतिक सीमाओं द्वारा वेष्टित था। एक राष्ट्रीय राज्य ने, जिसका अपना निजी
अलग प्रदेश था राज्यों के राजसत्ता और समानता के आधुनिक सिद्धान्तों को उत्पन्न
किया। राष्ट्रीय राज्य ने अन्तर्राष्ट्रीय नियम के उत्कर्ष को भी सहायता प्रदान की।

राष्ट्रीय-राज्य पूर्ण राजतंत्रों की भांति शुरू हुए। जब पोप सर्वशी अधिकार को
रद्द कर दिया गया, और सामंती अधिकार विदा ले रहे थे, तो यह स्वाभाविक ही था कि
लोग किसी केन्द्रीय व्यवस्था से चिपकें जिसमें उनका राजनीतिक जीवन संबद्ध हो।
लोगों में विकसित होती हुई राष्ट्रीय चेतना ने उन्हें मिल कर रहने की आवश्यकता
का भान करा दिया था परन्तु संयुक्त रूप में रहने के लिए अधिकार का किसी एक में
...न्द्रित होना आवश्यक था। पोप विरोधी प्रोटेस्टेंटों ने भी, प्रदेशीय राज्य के अधि-
...र को सीमित करते हुए, आध्यात्मिक एवं नागरिक अधिकार-शक्ति को राजा को
...प दिया था। इस काल के राजनीतिक विचार ने स्वेच्छाचार का भी समर्थन किया।
...टो राजनीतिज्ञों ने शासक को उन मर्यादाओं तक सीमित कर दिया जो सार्वजनिक
...कता द्वारा उसपर आरोपित थी। हॉब्स ने स्वेच्छाचारी राजतंत्र का सामाजिक
...बंध के सिद्धांत द्वारा बड़े जोरों से समर्थन किया। इसके बाद राजाओं के दैवी
...कार का सिद्धांत आया। यह सिद्धांत स्पष्टतया स्वेच्छाचार के समर्थन के लिए
... हुआ।

किन्तु राजाओं का स्वेच्छाचारी अधिकार भी चिरकाल तक न रह सका। राष्ट्र-
...के विकास में आगामी चरण राजा और लोगों के बीच संघर्ष का है। लोग यह
...करने लगे कि यह शक्ति अन्ततः उन्हीं की है, बशर्ते कि वह उस शक्ति को

Suggested Readings

Ashirvadam, E.—Political Theory, Chapt. IV (1952).
Dealey, J.A.—The Development of the State, Chapt. II (1909).
Fowler, W.W.—The City State of Greeks & Romans, Chapt. IV-VI. (1910)
Gettell, R.G.—Introduction of Political Science, Chapt. VI.
Jenks, E.—The State & the Nation, (1919).
Laski, H.J.—Grammar of Politics, Chapts. VII.
MacIver, R.M.—The Modern State, Chapts. I-IV.
Raleigh, T—Elementary Politics, Chapt. V (1905).
Streit, C.A.—Union Now.

अध्याय : : ६

राज्य की प्रभुता

(Sovereignty of The State)

प्रभुता का अर्थ (Meaning of Sovereignty)—आधुनिक राज्य प्रभु अथवा पूर्ण सत्ताधारी राज्य है। प्रभुता इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगभूत तत्व (Constituent element) है और यह अन्य सब मानवी संघों से राज्य को भिन्न करता है। वस्तुस्थिति यह है कि हम प्रभु-शक्ति (Sovereign power) के बिना राज्य की कल्पना नहीं कर सकते। "प्रत्येक पूर्ण स्वाधीन राज्य में कोई व्यक्ति, सभा या समूह (अर्थात्, निर्वाचक-समूह—electorate) होता है, जिसे सामूहिक इच्छा (Collective will) को नियम की दृष्टि से सन्निधान (formulating) करने और कार्यान्वित करने का सर्वोच्च अधिकार (supreme power) होता है; अर्थात् उसके पास अपने आदेशों और अधिकार को मनवाने की अन्तिम शक्ति होती है।"[1]

आन्तरिक प्रभुता (Internal Sovereignty)—प्रभुता के दो पहलू हैं; आंतरिक प्रभुता और बाहरी प्रभुता। आंतरिक प्रभुता का संबंध उस उच्च अधिकार शक्ति से है, जिसे राज्य अपने नियंत्रण के प्रदेश पर क्रियान्वित करता है। राज्य के अन्तर्गत सब व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के संघों पर इसका एकछत्र राज्य है। यह उस क्षेत्र के अन्तर्गत सब आदमियों और सब संघों (associations) को आदेश देता है; यह उनमें से किसी एक से भी आदेश प्राप्त नहीं करता।[2] राज्य की इच्छा स्वेच्छाचारी होती है और इस पर कानूनी मर्यादा की शर्त लागू नहीं होती। "राज्य का कोई भी प्रयोजन उसके इरादे की घोषणा द्वारा ही ठीक होता है।"[3] वहां राज्य के विरुद्ध किसी अधिकार का अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि राज्य सब अधिकारों का स्रोत है और यह सब दायित्वों को लागू करता है।

बाहरी प्रभुता (External Sovereignty)—बाहरी प्रभुता से हमारा तात्पर्य यह है कि राज्य अन्य राज्यों के किसी भी प्रकार के दबाव या हस्तक्षेप से स्वतन्त्र है। यदि इस की अधिकार शक्ति पर किसी संधि की शर्तें लागू होती हैं, यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय नियम के नियमों द्वारा मर्यादित है, तो राज्य का प्रभुत्व (Sovereign Status) किसी भी रूप में नष्ट नहीं होता। वहां कोई भी अधिकारी शक्ति नहीं है, जो उसे आज्ञा-पालन के लिए बाध्य कर सके। फलतः, प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों से स्वतन्त्र है। उसकी इच्छा उसकी निजी है और किसी भी बाहरी शक्ति की इच्छा से अछूती है।

---

1. Garner, op cit., p 156.
2. Laski, A Grammar of Politics, p. 44
3. Ibid.

शरण ली और मानवीय प्रतिबंधों से अपने को मुक्त रखते हुए ईश्वर की ओर से प्राप्त स्वत्वों का अधिकार जनाया। अन्त में प्रजा की विजय हुई और प्रजातंत्र अपनी प्रतिनिधि संस्थाओं के साथ किसी न किसी रूप में स्थापित हो गया। इस प्रकार राजाओं की शक्ति सीमित और विधि-विहित हो गयी। वह राज्य के अध्यक्ष के रूप में अपने स्थान पर रख लिया गया परन्तु प्रशासन के प्रत्येक विषय में उसे प्रजा के प्रतिनिधियों की अनुमति और मंत्रणा लेने के लिए बाध्य कर दिया गया। ये प्रतिनिधि उसके सचिवों की नियुक्ति और पद-च्युति, राजस्व के उगाहने एवं उसके सरकार के प्रत्येक कार्य में पथ-दर्शक होते थे। इस प्रकार वैधानिक सरकार का आगमन हुआ। राजा अतीत की परम्परा से प्राप्त शक्ति का प्रतीकमात्र रह गया।

नाम-मात्र की प्रभुता से हमारा तात्पर्य केवल नाम की अकिंचित् प्रभुता से है। यह उस राजा की सर्वोच्च शक्ति की ओर संकेत करती है जिसने कि किसी भी वास्तविक शक्ति का प्रयोग छोड़ दिया है। सैद्धांतिक रूप से वह अब भी उन प्रभु-शक्तियों का स्वामी है, जिन्हें पुराने समय के राजा उपभोग करते थे। किन्तु वास्तविक व्यवहार में कोई अन्य पुरुष अथवा पुरुषों का समूह है जो राजा के स्थान पर कार्य करता है और इस प्रभु-शक्ति का प्रयोग करता है। नाम-मात्र की प्रभुता का सबसे अच्छा उदाहरण इंग्लैंड का राजा है जो आज भी "वहां का सर्वोच्च स्वामी एवं राजा है।" वैध रूप में राजा की शक्तियाँ सर्वोपरि हैं। वह समग्र शक्ति का स्रोत है। सरकार के कार्य उसके कार्य हैं और राज्य के समस्त अधिकारी उसके सेवक हैं जो कि उसकी प्रसन्नता के आधार पर पद-च्युत और नियुक्त होते हैं। वह न्याय और विधि का भी स्रोत है परन्तु वस्तुतः यह सब सत्य नहीं है। राजा की प्रभुता अब भूतकाल में प्राप्त होने वाली वैभव-वस्तु रह गयी है। सरकार का कोई भी कार्य उसकी स्वतः प्रेरणा का परिणाम नहीं है। वास्तविक शक्ति और निर्देशन राजा के विधिवत् नियुक्त किए हुए मंत्रियों में निहित रहते हैं। लावेल ने संपूर्ण वस्तु-स्थिति का बड़े सुन्दर रूप में वर्णन किया है। उन्होंने कहा है—"संविधान के प्रारम्भिक सिद्धांतानुसार मंत्रिगण राजा के परामर्शदाता थे। उनका कार्य मंत्रणा देना और उसका कार्य निर्णय देना होता था। परन्तु अब दशा विपरीत हो गयी है। राजा से परामर्श लिया जाता है परन्तु मंत्रिगण निर्णय देते हैं। अतः राजा ने वास्तविक शक्ति का प्रयोग बन्द कर दिया है।"

वैधानिक प्रभुता (Legal Sovereignty)—राज्य की प्रभुता को दो और दृष्टियों से भी देखा जा सकता है, वैधानिक और राजनीतिक। वैध प्रभुता कानून की दृष्टि से प्रभुता की धारणा है और इसका उस व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह से संबंध है, जिन्हें कानून द्वारा अन्तिम आदेश जारी करने का अधिकार है। प्रत्येक राज्य में कोई ऐसी अधिकार-शक्ति होनी चाहिए जिसे वैध रूप में कानून बनाने का अधिकार हो और जिनका नागरिक पालन करें। इस तरह की अधिकार-शक्ति को वैध-प्रभु (legal sovereign) कहा जाता है और उसकी अधिकार-शक्ति अन्तिम है। इसलिए, वैध-प्रभु वह निश्चयात्मक अधिकार-शक्ति (determinate authority) है, जो राज्य के उच्चतम आदेशों को वैध रूप में व्यक्त करने योग्य हो। वह शक्ति ऐसी होनी चाहिए कि जो दैवी नियम के परम्परागत अधिकारों (pres-

criptions of divine law), नैतिकता के सिद्धांतों, सार्वजनिक मत की आज्ञाओं आदि का अतिक्रमण (override) कर सके।"[1] न्यायालय केवल उसी नियम को मान्यता देते हैं और लागू करते हैं, जो वैध-प्रभु-शक्ति से उत्पन्न होता है और इस तरह के नियम की अवज्ञा के साथ दंड का समावेश होता है।

एक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज में वैध-प्रभु स्थिर और निश्चयात्मक होता है। वैध-प्रभु की अधिकार-शक्ति स्वेच्छाचारी है और इसकी इच्छा असीम, अविभाज्य और अविच्छेद्य है। कोई भी उसकी प्रामाणिकता (Validity) के विषय में प्रश्न नहीं कर सकता भले ही नियम (कानून) अनैतिक, अन्यायपूर्ण, और यहां तक कि धर्म के परम्परागत अधिकारों के विपरीत हो। इसीलिए, नियम (कानून) के क्षेत्र के अन्तर्गत, जैसा कि हाब्स ने रुक्षतापूर्वक कहा है, अन्यायपूर्ण आदेश जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती। प्रभु की अधिकार-शक्ति अमर्यादित होने के कारण से वैध अधिकार है कि वह जो भी उसकी इच्छा हो, करे।[2] नागरिकों द्वारा भोग्य सभी अधिकार वैध-प्रभु-द्वारा स्वीकृत और लागू किये जाते हैं और उसके विरुद्ध कोई अधिकार नहीं हो सकते। इस स्थिति का आशय यह है कि यदि वैध-प्रभु अधिकारों की स्वीकृति दे सकता है, तो वह उन्हें वापिस भी कर सकता है अथवा उन्हें रद्द भी कर सकता है।

यह विश्लेषण प्रभुता के विषय में वकीलों के दृष्टिकोण का है। एक वकील का कानून की वर्णित-वस्तु (Content) से कोई संबंध नहीं है। वह केवल उस वैध स्रोत से संबंधित है जिसमें से वह उत्पन्न हुआ है। रिचे (Ritchie) के अनुसार, "वैध-प्रभु वकील रूप में वकील का प्रभु है, और वह ऐसा वकील-प्रभु है जिसके पार वकील और न्यायालय देखने से इंकार करते हैं।" किन्तु वैध-प्रभु के पृष्ठ में एक अन्य शक्ति है, जिससे कानून अपरिचित है। यह राजनीतिक प्रभु (Political Sovereign) है, जो राज्य की इच्छा को वैध आदेश के रूप में व्यक्त करने के लिये असंगठित और अयोग्य है। किन्तु जिसके प्रति वैध-प्रभु को अन्ततः नत होना ही होगा। जो भी हो, वैध-प्रभुता के निम्न स्वरूपों को दृष्टिगत रखना चाहिए:

१. वैध-प्रभु सदैव स्थिर और निश्चयात्मक है।

२. वैध-प्रभुता या तो राजा के व्यक्तित्व में हो सकती है, जैसा कि स्वेच्छाचारी राजतंत्र में, अथवा यह व्यक्तियों के एक दल में निहित हो सकती है, जैसा कि लोकतंत्र (Democracy) में।

३. यह स्थिर रूप में संगठित, स्पष्ट और कानून द्वारा मान्य होती है।

४. राज्य की इच्छा को वैध दृष्टि से घोषित करने का केवल इसी को अधिकार है।

५. वैध-प्रभु की आज्ञाओं की अवज्ञा का तात्पर्य शारीरिक दंड है।

६. सब अधिकार वैध-प्रभु से उत्पन्न होते हैं और वही अधिकार-शक्ति उन्हें वापिस कर सकती है या उन्हें रद्द भी कर सकती है।

---

1. Garner, op. citd, p 160
2. Laski, op citd, p 50.

७. वैध-प्रभु की अधिकार-शक्ति स्वेच्छाचारी, असीम और सर्वोच्च है। इस पर राज्य का आंतरिक या वाहरी कोई नियंत्रण नहीं हो सकता।

८ राजनीतिक प्रभुता (Political Sovereignty)— किन्तु वैध-प्रभु की स्वेच्छाचारी और असीमित अधिकार शक्ति कहीं नहीं रहती, यहां तक कि एक निरंकुश राजा (despot) भी स्वच्छन्दतापूर्वक और अन्य सब की उपेक्षा करके कार्य नहीं कर सकता। उसकी इच्छा वस्तुतः अनेक और विभिन्न प्रभावों द्वारा घड़ी जाती है, जो क़ानून के लिए अपरिचित हैं। ये सब प्रभाव वैध-प्रभु की पृष्ठभूमि में वास्तविक शक्ति हैं। डाइसी (Dicey) इसे इस रूप में प्रकट करते हैं, प्रभु-शक्ति की पृष्ठभूमि में जिसे वकील मान्यता प्रदान करता है, एक अन्य प्रभु शक्ति है जिसके आगे वैध-प्रभु को झुकना होगा। इसे राजनीतिक प्रभु-शक्ति कहते हैं और प्रो. गिलक्राइस्ट के कथनानुसार राजनीतिक प्रभु-शक्ति राज्य के उन प्रभावों का संपूर्ण योग है, जो क़ानून की पृष्ठ-भूमि में निहित हैं।[1]

चूंकि राजनीतिक प्रभु शक्ति का कानून के साथ संबंध नहीं है, यह असंगठित, अनिश्चयात्मक और यहां तक कि स्पष्ट भी नहीं है। आधुनिक प्रतिनिधि लोकतंत्रों में वैध शासक का वहुधा या तो लोगों के संपूर्ण जनसमूह के साथ तादात्म्य होता है या निर्वाचक-समूह के साथ अथवा जनमत के साथ किन्तु राजनीतिक प्रभु-शक्ति न तो निर्वाचक-समूह है, न ही लोगों के संपूर्ण जनसमूह के साथ इसका तादात्म्य है और न ही इसका जनमत के साथ तादात्म्य हो सकता है। पहले निर्वाचक-समूह पर ही विचार करें तो कोई भी प्रतिनिधि प्रणाली की सरकार में इसकी राजनीतिक शक्ति के विषय में संदेह नहीं कर सकता। विधान सभा (Legislature) इसकी इच्छा का अनादर करने का साहस नहीं कर सकती। यहां तक कि यह विधान सभा को अपनी इच्छानुसार काम कराने का आदेश कर सकती है, और सामान्यतः इसकी इच्छा का पालन किया जाता है; किन्तु निकट परीक्षण से यह मालूम हो जायगा कि निर्वाचक समूह का अपना निजी स्वतन्त्र मत नहीं होता। वे दल-नीति (Party Politics) से प्रभावित होते हैं और अपना मत-दान करते समय वह उम्मीद-वार की अपेक्षा दल को मत दान करते हैं। निर्वाचक-समूह का निर्णय प्रचार करने वाले साधनों—समाचार पत्र, प्रचारक और आन्दोलनों द्वारा प्रभावित होता है—जो प्रत्येक राजनीतिक दल को प्राप्य होते हैं। राज्य में और भी कई प्रकार के प्रभाव हैं, जिनके द्वारा निर्वाचक-समूह के निर्णय को प्रभावित किया जाता है।

न ही हम राजनीतिक प्रभुता को लोगों के जन-समूह का पर्यायवाची कह सकते हैं। सभी लोगों को मतदान का अधिकार नहीं होता। जिन्हें यह अधिकार नहीं होता, वह न तो अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग ले सकते हैं, न ही उनकी इच्छा पर ऐसे कोई वैधानिक साधन होते हैं जिनसे वे वैध-प्रभु-शक्ति के निर्णयों को दृढ़तापूर्वक प्रभावित कर सकें। यह भी संभव है कि जनता या तो पुरोहित-वर्ग या सामन्तशाही या सैनिक प्रभाव के अधीन हो। इसलिए, यह लोगों का जन-समूह नहीं है कि जो राजनीतिक प्रभु-शक्ति का निर्माण करता है, प्रत्युत लोगों का वह वर्ग है, जिन

1. op. citd., p. 93

प्रभाव में वस्तुतः वे हैं।[1] इसी प्रकार राजनीतिक प्रभुता को जनमत के साथ एक रूप नहीं किया जा सकता। जनमत का स्वरूप परिवर्तनशील है और यह विभिन्न प्रभावों को ग्रहण कर सकता है।

इसके बाद, जनमत के दो स्वरूप होने चाहिए। प्रथमतः, यह सार्वजनिक रूप का मत होना चाहिए, और दूसरे इसे यथासंभव विस्तृत रूप में जनता द्वारा ग्रहण किया होना चाहिए। किन्तु किसी को भी सदा यह निश्चय नहीं हो सकता कि जो मत वस्तुतः ग्रहण किया गया है, वह सार्वजनिक मत है। शायद सिद्धांतहीन नेता लोगों ने ही उनके लिए निर्णय किया हो। अन्ततः, प्रतिनिधि रूप की सरकार में विधान सभा सार्वजनिक मत का मापदण्ड मानी जाती है। यदि सार्वजनिक मत का राजनीतिक प्रभु-शक्ति के साथ तादात्म्य किया जाय, तो यह वैध-प्रभुत्व का राजनीतिक प्रभुत्व के साथ तादात्म्य करना भर होगा।

इस तरह, राजनीतिक प्रभुता अस्पष्ट-सी और अनिश्चयात्मक-प्रमाणित होती है। कई स्तरों पर यह भ्रमात्मक हो जाती है और "जितना ही कोई अन्तिम अधिकार शक्ति की खोज करता है, उतना ही अधिक वह उसके हाथ से छूटती जान पड़ती है।"[2] इसके साथ ही, हम उसके अस्तित्व की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। हम उसकी इस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं कि यह निर्वाचक-समूह तथा राज्य के

१. सिजविक राजनीतिक प्रभुता के स्वरूप को समझाने के लिए कुछ कल्पित उदाहरणों का आश्रय लेते हुए कहते हैं: "कल्पना करो कि एक राजा स्वभाव से अपने धर्माध्यक्ष की आज्ञाओं का पालन करता है, इस भय से नहीं कि धर्माध्यक्ष ने उसे पारलौकिक दंड दिलाने की धमकी दी है, अपितु इस भय से कि अगर उसने किसी आज्ञा का पालन न किया तो उसकी प्रजा उसे भगवान् का कोप-भाजन समझ लेगी—तो इस हालत में हमें यह मानना पड़ेगा कि उस राजा के पास सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति नहीं है। और अगर किसी धर्माध्यक्ष का राजा की प्रजा पर इतना जबर्दस्त प्रभाव हो कि जनता की बहुसंख्या का बिना किसी ननुनच के राजा की आज्ञा की अवहेलना कर अपने मुख्य धर्माध्यक्ष की आज्ञा मानती है, और इसीलिए राजा भी मुख्य धर्माध्यक्ष के आदर्शों को स्वभाव से मानता है—तब उस हालत में इससे इकार नहीं किया जा सकेगा कि धर्माध्यक्ष की राजनीतिक शक्ति राजा की शक्ति से वस्तुतः कहीं बहुत अधिक है—" The Elements of Politics पृष्ठ ६२७–२८. लीकाक संक्षेप में कहते हैं, "इस प्रकार के तर्क का अनुसरण करते हुए हमारा यह आशा करना ठीक है कि वैध और राजनीतिक सत्ता आपस में बहुत कम मिलती हैं। एक राज्य में धर्माध्यक्ष का प्रभाव दूसरे में सैनिक अधिकारियों या बड़े-बड़े भूस्वामियों का प्रभाव, और तीसरे में राजा के व्यक्तिगत सगे-साथियों का प्रभाव या राजधानी का सर्वतोव्यापक प्रभाव उस वास्तविक प्रेरकशक्ति का स्रोत होता है, जो जनता के प्रशासन का नियंत्रण करती है," Elements of Political Science, p. 60.

2. Leacock, op, cit., p 60

अन्दर जनमत का निर्माण करने वाले सब प्रभावों का योग है। प्रो. रित्शे (Ritchie) के अनुसार, अच्छी सरकार की समस्या अधिकांशत: वैध और अन्तिम राजनीतिक प्रभुता के बीच उचित संबंध की समस्या है।

वैध और राजनीतिक प्रभुता के बीच संबंध (Relation between Legal and Political Sovereignty)—प्रत्यक्ष लोकतंत्र की प्रणाली में वैध और राजनीतिक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में मिल जाते हैं। क्योंकि विधि बनाने में जनता का प्रत्यक्ष संबंध होता है। उनकी व्यक्त इच्छा केवल मत मात्र नहीं होती, प्रत्युत स्वत: कानून होता है। जो भी हो, अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में लोगों के प्रतिनिधि कानून बनाते हैं। उनका रूप वैध प्रभु-शक्ति का होता है और जो लोग अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं, उन्हें मोटे तौर पर राजनीतिक प्रभु-शक्ति कहा जा सकता है। कानून निर्वाचक-समूह की इच्छाओं के अनुरूप होना चाहिए और विधानसभा को सब निमित्तों और उद्देश्यों के लिए उनके आदेश को पालन करना चाहिए। यदि वह नहीं करता, तो निर्वाचकों तथा विधानसभा में एक दूसरे के साथ सामंजस्य नहीं होता; इससे राजनीतिक संघर्ष की उत्पत्ति होती है। वैध और राजनीतिक प्रभुता दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। वह राज्य की प्रभुता के दो पहलू हैं, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति भिन्न मार्गों से होती है। जब दोनों के बीच मतभेद होता है, तो यह अच्छी सरकार के लिए हानिकारक है। कानून लोगों की इच्छा की अभिव्यक्ति होना चाहिए और यदि वैध प्रभुत्व राजनीतिक प्रभुत्व के निर्णय को स्वीकार नहीं कर सकता, तो पूर्वकथित को नये चुनाव द्वारा पुन: संगठित और पुर्ननिर्मित किया जाना चाहिए। लास्की ने ठीक ही कहा है कि "व्यक्ति, अन्तत:, अपने आचरण का सर्वोच्च मध्यस्थ है," और "यदि राज्य को नैतिक सत्ता होना है, तो उसे अपने सदस्यों की संगठित स्वीकृति पर निर्मित होना चाहिए।"[1]

इसलिए, वैध प्रभुत्व या सत्ता राजनीतिक प्रभुत्व या सत्ता की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने का साहस नहीं कर सकती। यदि वह करती है, तो वैध सत्यता (Legal Truth) राजनीतिक असत्यता (Political untruth) बन सकती है।" दूसरे शब्दों में, राजनीतिक प्रभुत्व पृष्ठ में रहता है, और इस प्रकार, वैध प्रभुत्व को मर्यादित करता है, यद्यपि कानूनी दृष्टि से वैध प्रभु-शक्ति सर्वशक्ति संपन्न है।"[2] जो भी हो, यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि राजनीतिक प्रभुता संगठित नहीं होती। एक बार संगठित हो जाती है, तो यह वैध प्रभुता का रूप धारण कर लेती है। तदनुसार दोनों ही एक और उसी प्रभुता की अभिव्यक्ति हैं। वैध और राजनीतिक प्रभुता की द्विमुखी और विभाजित धारणा उपस्थित नहीं करती। प्रभुता एक और अविभाजित है और जब हम इसे विभाजित करने की चेष्टा करते हैं, तो हम इसे पूर्णत: नष्ट कर देते हैं।

इंग्लैंड में वैध और राजनीतिक प्रभुता (Legal and Political Sovereignty in England)—इंग्लैंड जैसे देशों में, जहां का संविधान लोचदार है, वैध और राजनीतिक प्रभुता के बीच का अन्तर अत्यधिक स्पष्ट है। इन देशों में संवैधानिक

1. Laski, op. citd. p. 62-63.
2. Gilchrist, op. citd., p. 94.

नियम (Constitutional Law) और व्यवस्थापित नियम (Statute Law) में कोई अन्तर नहीं किया जाता। दोनों एक ही स्रोत से पैदा होते हैं। इंग्लैंड में उदाहरणार्थ पार्लियामेंट (व्यवस्थापिका सभा) संवैधानिक नियम और साधारण नियम पास करने की योग्यता रखती है। विधि के अर्थ के अनुसार इंग्लैंड की पार्लियामेंट प्रभु-शक्ति धारिणी है, यह विधिपूर्वक सर्वशक्तिमान है। यह किसी भी नियम को बना या बिगाड़ सकती है और कोई भी इसकी वैधता पर आपत्ति नहीं कर सकता। जैसे ही पार्लियामेंट नियम को स्वीकार करती है और राजा उसकी अनुमति प्रदान कर देता है, तो न्यायालयों को उस नियम का अभिज्ञान (Cognisance) करना होता है। राजा की स्वीकृति अब केवल नाममात्र है क्योंकि महारानी एने (Queen Anne) के काल से स्वीकृति देने से कभी इंकार नहीं किया गया। डायसी (Dicey) कहते हैं कि ब्रिटिश पार्लियामेंट वैध रूप (legally) में इतनी सर्वशक्ति-संपन्न (Omnipotent) है कि "यह एक शिशु को पूर्ण वयस्क भी ठहरा सकती है; यह मृत्यु के बाद भी मनुष्य को राजद्रोही (treason) प्रमाणित कर सकती है; यह जारज शिशु (illegitimate) को वैध कर सकती है, अथवा यदि वह उचित समझती है, तो अपने निजी मामले में एक आदमी को उसी के मामले में जज बना देती है।[1] एक अन्य लेखक का कहना है कि इंग्लैंड में पार्लियामेंट आदमी से औरत या औरत से आदमी बनाने के अतिरिक्त सब कुछ कर सकती है।

किन्तु पार्लियामेंट की प्रभुता सीमित है, यद्यपि वैध रूप में ऐसा है नहीं। लास्की कहते हैं, "सैद्धान्तिक रूप में (Theoretically) विद्यमान, सक्रिय पार्लियामेंट्री प्रभुता टेक्नीकल अर्थ में एक मूर्खता है।" पार्लियामेंट ऐसा नियम स्वीकार करने का साहस नहीं करती, जो लोगों की इच्छा के विपरीत हो। जिन लोगों ने प्रतिनिधियों को चुना हुआ हो, उन लोगों की इच्छा की वह क्यों कर उपेक्षा कर सकते हैं? यदि वे ऐसा करते हैं, तो वह पुन. निर्वाचित नहीं हो सकते। निर्वाचकों की इच्छा वैध-प्रभु-शक्ति के पीछे नियन्त्रणकारी शक्ति (Controlling Power) है, और यह उन्हीं की आज्ञा है जिसके प्रति वैध प्रभुत्व को अन्तत: नतमस्तक होना होगा। यह राजनीतिक प्रभुता है। वकील राजनीतिक प्रभुता को मान्यता नहीं देते और न्यायालय उसकी अपेक्षा नहीं करते, और "यहां तक कि स्वत. पार्लियामेंट भी कुछ समय के लिए वैध रूप में इसका प्रतिरोध करे, किन्तु अन्त में, यदि निर्वाचक समूह आदेश-पालन के लिए बाध्य करता है, तो पार्लियामेंट को लोक-इच्छा (Popular will) के सामने झुकना होगा और उसके आदेशों को कानून में निर्धारण करना होगा। इस दृष्टि से निर्वाचक समूह प्रभु-शक्ति है, पार्लियामेंट नहीं।"[2]

लोक-प्रभुता (Popular Sovereignty)—लोक-प्रभुता का सिद्धान्त सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों की उपज है। यह राजाओं की निरंकुश अधिकार-शक्ति और उनके दैवी सिद्धान्त के अपनाने के विरुद्ध लोगों के विरोध की अभि-

1. Dicey, Law of the Constitution, p. 45

2. Garner, op. cit., pp. 163-64

व्यक्ति से उत्पन्न हुआ था। लोक-प्रभुता या सत्ता अन्ततः लोगों में प्रभुता आरोपित करती है। रूसो (Rousseau) इसके प्रवल प्रचारक थे और फ्रांसीसी क्रांति का यह नारा बन गया था। अमरीकी स्वतन्त्रता घोषणा में जफरसन ने इसका समर्थन किया था। अमरीकी संविधान के रचयिताओं ने यह उल्लेख करते हुए इसे प्रस्तावना में सम्मिलित किया था कि सरकार अपनी अधिकार शक्ति शासितों की सहमति में से प्राप्त करती है। तव से लेकर लोक-प्रभुता, ब्राइस के कथनानुसार "लोकतंत्र का आधार और संकेत वाक्य"[1] वन गई।

लोक-प्रभुता के सिद्धांत में हमारा अविचल विश्वास होते हुए भी, यह मानना होगा कि यह सार-हीन और अनिश्चयात्मक है। हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि ये प्रभु शक्ति वाले लोग हैं कौन ? क्या हमारा आशय राज्य में रहने वाले लोगों के उस संपूर्ण असंगठित जनसमूह से है, जिसमें औरतें, वच्चे, मूर्ख, दिवालिए और अपराधी भी शामिल हैं ? यदि ऐसा हो, तो जनगण की प्रभुता का सक्रिय राजनीति में कोई स्थान नहीं । लोगों के जनसमूह को संगठित नहीं किया जा सकता और लोगों का संगठन-रहित एक जनसमूह एक अव्यवस्थित भीड़ होती है, और इस तरह वह केवल हो-हल्ला मात्र है। संगठन प्रभुता का गुण है। किन्तु यदि लोग संगठित हो जायें और अपने नेताओं का अनुसरण करें, तो फिर उनकी प्रभुता कहां रह जाती है ? इसलिए, गैटल के कथनानुसार लोगों की प्रभुता राज्य की परिभाषा के ''नुसार विरोधाभास मात्र है। यदि राज्य से हमारा तात्पर्य एक निश्चित प्रदेश के न्तर्गत कानून के लिए संगठित लोगों से है, तो "कोई संगठन और सरकार की प्रणाली ध होती है, अन्यथा किसी भी राज्य का अस्तित्व नहीं हो सकता।"[2]

ऐसा कहा जाता है कि लोक-प्रभुता का निर्वाचकों की प्रभुता से संवंध है। किन्तु ार्वाचकों की प्रभुता का तव तक कोई वैध आधार नहीं जव तक वह संविधान ारा निर्धारित मार्गों से व्यक्त नहीं होती। प्रतिनिधि रूप की सरकार में मत-दाता ततः वास्तविक प्रभु-शक्ति को क्रियान्वित नहीं करते। वे अपने प्रतिनिधि चुनते , और विधान सभा के सदस्य के रूप में, उन्हीं द्वारा प्रभु-शक्ति को व्यक्त किया ाता है। फलतः, यह मनुष्यत्व, मताधिकार (Suffrage) और लोगों के तिनिधियों द्वारा विधानसभा पर नियंत्रण को स्वीकार करती है। विधान सभा ा नियंत्रण वहुसंख्या (majority) में निहित होता है और विधान सभा में हुसंख्या उन मत-दाताओं की वहुसंख्या द्वारा निश्चित होती है जो उन्हें चुनते हैं। इसलिए, लोगों की प्रभुता का अर्थ निर्वाचक-समूह की वहुसंख्या की शक्ति अधिक कुछ नहीं होता। और यह उन्हीं देशों में संभव है कि जिनमें लगभग ापक मताधिकार की प्रणाली प्रचलित है जो वैध रूप में स्थापित मार्गों द्वारा नकी इच्छा और उसे प्रसारित करने के लिए क्रियान्वित होती है।"[3] इससे अन्यथा

. Bryce, Modern Democracies., Vol. p. 143
:. Gettell, op. citd., p. 100.
i. Garner, op. citd., p. 165

मतदाताओं द्वारा व्यक्त मत, भले ही वह मत कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, तब तक वैध नहीं जब तक वह वैध रूप में न हो।

किन्तु मताधिकार ही क्रियान्वित लोक-प्रभुता का सच्चा प्रतीक नहीं है। आधुनिक लोकतन्त्री राज्य में सब लोगों को मतदान का अधिकार नहीं होता। निर्वाचक सामूहिक रूप में संपूर्ण जनसंख्या का एक छोटा भाग होते हैं और निर्वाचकों की बहुसंख्या, जो अन्ततः राजनीतिक अधिकारी होती है, संपूर्ण जनसंख्या के और भी छोटे अंश के रूप में होती है। गैटल (Gettell) के अनुसार किसी भी आधुनिक राज्य में जनसंख्या के $\frac{1}{4}$ अंश से अधिक मत-दाता नहीं होते और इस संख्या के अन्तर्गत बहुसंख्या नागरिकों के $\frac{1}{8}$ से अधिक नहीं हो सकती[1]। नागरिकों का यह $\frac{1}{8}$ अंश भी वैध रूप में प्रभु-शक्ति नहीं है।

इसलिए, लोक प्रभुता का विचार अत्यधिक भ्रमपूर्ण है। किन्तु, इसके साथ ही, हम उस लोकप्रियता की उपेक्षा नहीं कर सकते, जो इसमें है। रिची तथा अन्यों[2] ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि राजनीतिक अधिकार का अन्तिम स्रोत सर्वदा जनता में पाया जाता है। राज्य का अस्तित्व लोगों के लिए होता है और राज्य की मशीनरी अर्थात् सरकार को लोगों की इच्छाओं के अनुसार कार्य करना होगा। जब कि प्रभुता वैध रूप में लोगों के हाथों में नहीं भी होगी, तो भी वह वैध प्रभु-शक्ति पर शक्तिशाली रूप में अवरोध तो है। कोई भी वैध प्रभु-शक्ति चिरकाल तक लोगों की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकती। यदि ऐसा होता है, तो क्रान्ति की सम्भावनाएं हो जाती हैं। वस्तुतः प्रत्येक आधुनिक राज्य की प्रवृत्ति वैध प्रभुता को यथासम्भव शीघ्रतापूर्वक लोक-माग के अनुरूप बनाने की है। इन अवस्थाओं में, हम "लोक प्रभुता के बल की उपेक्षा नहीं कर सकते। जो भी हो, गिलक्राइस्ट यह कहते हैं कि "लोक नियन्त्रण लोक प्रभुता में अन्तर्निहित विचार को स्पष्ट रूप में प्रकट करता है।"[3]

5 'न्याय्य' और 'यथार्थ' प्रभुता ('De Jure' & 'De Facto' Sovereignty)—न्याय्य और यथार्थ प्रभुता के बीच भी अन्तर जान लेना चाहिए। (De Jure) न्याय्य प्रभुता वैध प्रभुता है और इसका आधार कानून में है। इसका गुण शासन और आज्ञा पालन के आदेश का अधिकार है। किन्तु ऐसा हो सकता है कि न्याय्य प्रभु-शक्ति आज्ञापालन का आदेश करने योग्य न हो, जबकि किसी अन्य का, जिसका तादात्म्य कानून द्वारा मान्य हो अथवा न भी हो, वास्तविक रूप में आज्ञापालन होता है। वह व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह जो वास्तव में शक्ति को क्रियान्वित करता है, और जो फिलहाल आज्ञापालन को जारी करने योग्य है अथवा जिसके आदेशों को लोगों की बहुसंख्या स्वेच्छापूर्वक पालन करती है, उसे यथार्थ (de facto) प्रभु-शक्ति कहा जाता है। एक यथार्थ (de facto) प्रभुत्व, वैध-प्रभुत्व नहीं भी हो सकता। प्रभुता का लक्षण (कसौटी) आदेशों का वास्तविक पालन है। लार्ड ब्राइस

1. op. cit., p. 100
2. Sidgwick: The Elements of Politics, p 630
3. op. cit., p. 95.

कहते हैं कि "व्यक्ति या व्यक्तियों का दल, जो अपनी अथवा सबकी इच्छा को प्रसारित कर सकता है, भले ही वह कानून के अनुसार हो या कानून के विरुद्ध हो; वह, अथवा वे, यथार्थ शासक हैं, जिसका वस्तुतः आज्ञापालन किया जाता है।" यथार्थ (de facto) प्रभु लुटेरा राजा या तानाशाह, या उपदेष्टा अथवा अवतार हो सकता है। "दोनों दशाओं में प्रभुता वैध अधिकार की अपेक्षा शारीरिक शक्ति या आध्यात्मिक प्रभाव पर निर्भर होती है।"

इतिहास यथार्थ प्रभुताओं के उदाहरणों से भरा पड़ा है। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, जब कि वैध-रूप में निर्मित प्रभुत्व-शक्ति क्रांति के फलस्वरूप विस्थापित की गई है अथवा किसी लुटेरे द्वारा हटाई गई है। १९१७ की क्रांति के फलस्वरूप, रूस में बोल्शेविक शासन आधुनिक काल की यथार्थ प्रभुता (De facto Sovereignty) का सर्वाधिक परिचित उदाहरण है। इसी प्रकार, बच्चा सक्का ने शाह अमानुल्ला के भाग जाने पर अफगानिस्तान के सिंहासन को हस्तगत किया। इटली की एबिसीनिया की विजय और जनरल फ्रांको का स्पेन में शक्ति हस्तगत करना भी यथार्थ प्रभुता के अन्य उदाहरण हैं। जब इंग्लैंड ने फिलस्तीन (Palestine) पर से अपना आदेशात्मक नियंत्रण हटा लिया, तो दो राज्यों का यथार्थ प्रभु-शक्ति के रूप में जन्म हुआ। जनरल नजीब द्वारा मिश्र में आकस्मिक राज्य-परिवर्तन और राजा फारुक का सिंहासन त्याग यथार्थ प्रभुता का दूसरा उदाहरण है।

यथार्थ प्रभुता तब न्याय्य हो जाती है, जब यह अपने स्थिर रहने की योग्यता दर्शाती है और वह अन्य राज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेती है। डा. गार्नर कहते हैं, "वह प्रभुत्व, जो अपनी शक्ति को स्थिर रखने में सफल होता है, समयान्तर में वैध-प्रभुत्व बन जाता है। यह क्रिया या तो लोगों की सहमति द्वारा होती है अथवा राज्य के पुनः संगठन द्वारा। कुछ-कुछ ऐसा कि निजी नियम में वास्तविक अधिकार पुरातनता द्वारा वैध स्वामित्व के रूप में परिपक्व हो जाता है।"[1] यथार्थ प्रभुता को निश्चित मान देने के लिए नये कानून बनाए जाते हैं, जिससे पूर्वतः विद्यमान न्याय्य प्रभुता का अन्त किया जा सके। इसके साथ ही, यथार्थ प्रभुत्व अपनी अधिकार-शक्ति को शारीरिक बल-प्रयोग के आधार पर अनिश्चित काल के लिए जारी नहीं रखना चाहेगा। इस विषय में ब्राइस ने ठीक ही कहा है, कि "केवल बल-प्रयोग के आधार पर शक्ति के प्रति झुकने में प्राकृतिक और स्वाभाविक विरोध" होता है।[2] इसलिए, नया प्रभु अपने यथार्थ (defacto) अधिकार को वैध अधिकार के रूप में बदलने की कोशिश करेगा, क्योंकि वैध आधार पर स्थापित और क्रियान्वित प्रभुता अधिक स्वेच्छापूर्वक आज्ञा-पालन कराती है।

आस्टिन का प्रभुता-सिद्धान
(Austin's Theory of Sovereignty)

प्रभुता के वैध सिद्धांत का ज्ञान आस्टिन की रचनाओं में सर्वोत्तम विश्लेषण

1. op. citd., p. 168
2. Bryce: Studies in History & Jurisprudence II, p. 516.

हुआ है। जान आस्टिन न्याय वेत्ताओं के प्रमुख प्रतिनिधि माने जाते हैं। उनका सिद्धात उनकी पुस्तक "लेक्चर्स आन जुरिस प्रूडेंस" (न्याय-शास्त्र पर व्याख्यान) में दिया गया है। यह ग्रंथ १८३२ में प्रकाशित हुआ था।

आस्टिन के मत अधिकांशतः हाब्स और बेंथम की शिक्षाओं पर आधारित थे। बेंथम के समान, उनका उद्देश्य कानून और नैतिकताओं के बीच, और निश्चयात्मक कानून, जिसे न्यायालय लागू करते हैं, तथा रीतियों और रिवाजों के बीच, जिन्हें परम्पराएं स्वीकार करती है, स्पष्ट अन्तर जानना था। इसलिए, उनका मुख्य ध्येय न्याय-शास्त्र विषयक (Juristic) ठीक-ठीक परिभाषा का निर्माण और सरकार के वैध अधिकारों के सगठन की स्पष्ट रूप रेखा उपस्थित करना था।[1]

प्रभुता का सिद्धात, जिसका समर्थन आस्टिन ने किया है, नियम के स्वरूप के विषय मे उसके दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। आस्टिन के अनुसार, कानून "उच्च द्वारा निम्न को दिया गया आदेश"[2] है। नियम की इस व्याख्या से वह निम्न शब्दों में प्रभुता के अपने सिद्धात का विकास करता है:

"यदि एक निश्चयात्मक श्रेष्ठ, जो किसी दूसरे श्रेष्ठ के प्रति आज्ञापालन करने की आदत वाला नही, समस्त समाज के बहुभाग से अभ्यस्त आज्ञाकारिता प्राप्त करता है, वही निश्चयात्मक श्रेष्ठ समाज मे प्रभु है, और वह समाज (श्रेष्ठ सहित) राजनीतिक और स्वतन्त्र समाज है।"[3]

आस्टिन के प्रभुता के सिद्धात को निम्न भावों मे प्रस्तुत किया जा सकता है:

(१) कि प्रत्येक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज मे कोई एक व्यक्ति या व्यक्तियों का दल होता है, जो प्रभु-शक्ति को क्रियान्वित करता है। प्रत्येक राजनीतिक समाज में प्रभु-शक्ति इसी प्रकार अनिवार्य है, "जिस प्रकार पदार्थ के एक पिंड में आकर्षण केंद्र होता है।"[4]

(२) कि प्रभु निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ है। "आवश्यक रूप मे वह अकेला व्यक्ति नही होता; आधुनिक पश्चिमी जगत में वह इस रूप में बहुत ही कम होता है; किन्तु उसमें अकेले व्यक्ति जितने गुणों का समावेश होना चाहिए कि वह

---

1. Sabine, op. citd, 654.
2. Austin says "Every positive law, or every law simply and strictly so called is set by a sovereign person or a sovereign body of persons to a member or members of the independent political society wherein that person or body is sovereign or supreme."

३. आस्टिन उससे आगे कहते हैं — "उस निश्चयात्मक श्रेष्ठ के प्रति समाज के अन्य सदस्य प्रजा हैं; अथवा उस निश्चयात्मक श्रेष्ठ पर समाज के अन्य सदस्य आश्रित होते हैं। उस निश्चयात्मक श्रेष्ठ के सम्मुख उसके अन्य सदस्यों की स्थिति अधीनस्थता अथवा निर्भरता की स्थिति होती है। पारस्परिक संबंध, जो उस श्रेष्ठ और इनके बीच स्थिर होते हैं, प्रभुत्व और प्रजा के कहे जा सकते हैं अथवा प्रभुता और अधीनता के संबंध।"

4. Maine: The Early History of Institutions, p. 349

श्चयात्मक हो।"[1] आस्टिन के लिए राज्य एक वैध व्यवस्था है, "जिसमें निश्चयात्मक धिकार शक्ति होती है, जो शक्ति के अन्ततः स्रोत के रूप में कार्य करती है।"[2] सलिए, प्रभुता रूसो की धारणा के अनुसार, सामान्य इच्छा में समाविष्ट नहीं हो सकती, ही जनता में और न ही निर्वाचिक-समूह में, क्योंकि इनमें से कोई भी निश्चयात्मक समूह हीं। प्रत्येक राज्य में निश्चयात्मक मानव प्रभु होना चाहिए कि जो आदेश जारी कर के और कानून बना सके।

(३) कि इस तरह का निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ स्वतः किसी उच्चतर अधिकारी का आज्ञाकारी नहीं होना चाहिए। सभी व्यक्तियों और समुदायों से उसकी इच्छा ऊंची है तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी के भी नियंत्रण के आधीन नहीं होती। वह अविचारपूर्वक या बेईमानी के साथ कार्य कर सकता है, अथवा, नैतिक रूप में, अन्यायपूर्ण भी, किन्तु वैध सिद्धांत के उद्देश्य के लिए उसके कार्य का चरित्र महत्वहीन है।[3] जिस समय तक वैध-प्रभुत्व से कानून उत्पन्न होते हों, वे आदेश हैं और उनका पालन होना चाहिए।

(४) कि प्रभुत्व को समाज की बहुसंख्या से अभ्यस्त आज्ञाकारिता प्राप्त होनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि आज्ञाकारिता आदत का विषय होना चाहिए और केवल यदा-कदा नहीं। किसी अधिकार-शक्ति के प्रति अल्प काल के लिए आज्ञाकारी बनना उसे प्रभु नहीं बनाता। आस्टिन का मत है कि प्रभु-अधिकारी के प्रति आज्ञाकारिता स्थिर और निरन्तर होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रभु अधिकारी के प्रति दर्शित आज्ञाकारिता अनिवार्यतः संपूर्ण समाज से नहीं होनी चाहिए। प्रभु शक्ति के उद्देश्य के लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह समाज की बहुसंख्या से आती है। जहां समाज की बहुसंख्या से अभ्यस्त आज्ञाकारिता प्राप्त नहीं होती, वह प्रभु शक्ति नहीं होती।

(५) कि आदेश कानून का सार है। जो भी प्रभु-शक्ति की इच्छा है, वह कानून है, और कानून कुछ बातों को विधिवत् कहता है और कुछ को नहीं। आदिष्ट रूप में उन्हें न मानने की दशा में, दंड का अधिकारी होना पड़ता है।

(६) कि प्रभु-शक्ति अविभाज्य है। इसलिए यह इकाई है, यह खंडित होने के अयोग्य है। प्रभुता के विभाजन का अर्थ है प्रभुता का विनाश।

आस्टिन का प्रभुता का विश्लेषण सर्वोच्च शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता है कि जो निश्चयात्मक स्वेच्छाचारी, असीमित, अविच्छेद्य, अविभाज्य, सर्वव्यापक और स्थायी है। किन्तु आस्टिन का सिद्धांत प्रभुता के विषय में एक वकील का दृष्टिकोण है। इसलिए, इसकी कड़ी आलोचना हुई।

आस्टिन के सिद्धांत की आलोचना (Criticism of Austin's Theory) —सर हेनरी मेन, अन्य ऐतिहासिक न्यायवेत्ताओं[4] सहित, प्रभुता के आस्टिनवादी सिद्धांत (Austinian Theory) के प्रबल आलोचक हैं। मेन के

1. Ibid., p. 351.
2. A Grammar of Politics, p. 50. 3. Ibid.
4. Refer to Sidgwick: Elements of Politics, Appendix (A) p. 651

अनुसार, प्रभुता निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ में नहीं रहती। उनका कहना है कि "एक विकृत मस्तिष्क वाला निरंकुश इस प्रकार की प्रभुता का एकमात्र उदाहरण है।"[1] मेन "विशाल समूह के प्रभावों" की विद्यमानता पर भी बल देते हैं कि, "जिन्हें हम संकुचित दृष्टि से नैतिक कह सकते हैं, और जो अपने प्रभु द्वारा शक्तियों की वास्तविक दिशा को निरन्तर रूप देती, सीमित करती अथवा अवरुद्ध करती हैं।"[2] वह रणजीतसिंह का उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिसे मेन ने स्वेच्छाचारी निरंकुश के रूप में चित्रित किया और जो "प्रथम दृष्टि में" आस्टिन की प्रभु-शक्ति की धारणा का पूर्ण पुतला दिखाई दिया। मेन कहते हैं, "रणजीतसिंह कुछ भी आदेश कर सकता था; उसके आदेशों की रंचमात्र अवज्ञा के फलरूप मृत्यु-दंड अथवा अंग-भंग हो सकता था।"[3] तिस पर भी रणजीतसिंह ने "एक बार भी अपने जीवन-काल में ऐसा कोई आदेश जारी नहीं किया, जिसे आस्टिन कानून कह सके। ....उनकी प्रजा के जीवन को जो नियम नियमित करते थे, वह उनके चिरकालीन रीति-रिवाजों से ग्रहण किये जाते थे और वह नियम परिवारों या ग्रामीण समाजों की घरेलू अदालतों द्वारा दिये जाते थे।"[4] . इसलिए रणजीतसिंह जैसा निरंकुशवादी भी धार्मिक आज्ञाओं, स्थापित रीतिरिवाजों और समाज की परम्पराओं के विपरीत आदेश नहीं जारी कर सकता था। उनके कानून मुख्यतः रीतियों, परम्पराओं और धार्मिक आदेशों में से ग्रहण किये जाते थे और उन्हें ग्राम पंचायतों द्वारा प्रशासित किया जाता (administered) था। किन्तु यह केवल "प्राच्य समाज" से ही संबंधित नहीं कि मेन को आस्टिन का विश्लेषण अपर्याप्त जान पड़ता हो। उनका कहना है कि "पाश्चात्य सभ्यता के विश्व" में कोई प्रभु, भले ही कितना ही निरंकुश क्यों न हो, "समाज के संपूर्ण इतिहास" की उपेक्षा नहीं कर सकता। . . अर्थात् उसके इतिहास की वह पूर्व घटनाएं, जो प्रत्येक समाज में इस बात का निश्चय करती हैं कि कैसे वह प्रभु अपनी अप्रतिहत दमनशील शक्ति का प्रयोग करेगा, अथवा उसके प्रयोग करने से बाज आयगा।" आस्टिन की निश्चयात्मक प्रभु की धारणा भी लोक-प्रभुता के स्वीकृत विचार से मेल नहीं खाती। यह सार्वजनिक मत की शक्ति की उपेक्षा करती है और राजनीतिक प्रभुता की विद्यमानता को दृष्टि में नहीं रखती जो वर्तमान में राज्य की अन्तिम प्रभु-शक्ति मानी जाती है। तदनुसार, सर हेनरी मेन निष्कर्ष निकालते हैं कि यह ऐतिहासिक तथ्य है कि प्रभुता कभी भी निश्चयात्मक नहीं हुई।

आस्टिन की कानून की व्याख्या—जो उनके प्रभुता के सिद्धांत का आधार है—स्वीकार नहीं की जा सकती। लास्की कहते हैं कि कानून को केवलमात्र आदेश सोचना, न्यायवेत्ता तक के लिए "मर्यादा सीमा तक व्याख्या को खींचना है।"[5] हम रीति-विषयक कानून के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते जो प्रत्येक देश में परम्परा के द्वारा उत्पन्न हुआ है। रीति-विषयक नियम या कानून निश्चयात्मक

1. Maine, *The Early History of Institutions*, p 359
2. Ibid. 3 Ibid , p 380 4. Ibid, 380-81
5. Laski, *op. citd* , p. 51

श्रेष्ठ का व्यवस्था-पत्र (fiat) नहीं है। समाज के प्रारम्भिक चरण में कानून अल्प थे, यदि थे भी, तो प्रभुत्व के निश्चित आदेश थे। मेन के कथनानुसार रणजीत-सिंह ने कभी आदेश जारी नहीं किया था कि जिसे आस्टिन कानून का नाम दे सकें। उन्होंने कभी कानून नहीं बनाया और रणजीतसिंह ने स्वप्न में भी उन नागरिक नियमों में, जिनमें उसकी प्रजा रहती थी, न तो परिवर्तन किया और न ही कर सकता था।"[1] यहां तक कि अंग्रेज पार्लियामेंट जैसी प्रभु विधान सभा ऐसा कानून पास करने का साहस नहीं कर सकती, जिसका लक्ष्य देश की स्थापित परम्परा को भंग करना हो। मैकाईवर (MacIver) ने ठीक ही कहा है कि "राज्य को परम्परा बनाने की किंचित शक्ति है और शायद उससे भी कम उसे नष्ट करने की, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप में यह उन अवस्थाओं में परिवर्तन के द्वारा परम्पराओं को प्रभावित करते हैं, जिनमें से वह फूटती है।"[2] रीति निश्चित संविधि नहीं है; यह युगों[3] का परिणाम है और यहां तक कि पीटर महान् जैसा निरंकुश राजा भी रीतियों का संरक्षक और दास बनेगा बशर्तेकि वह क्रांति की संभावनाओं का प्रतिरोध करने का इच्छुक हो। क्योंकि रीति, "पर जब आक्रमण होता है, तो वह बदले में कानून पर हमला करती है, और वह न केवल विशिष्ट कानून पर हमला करती है जो उसका विरोधी है, बल्कि जो उससे भी अधिक महत्वपूर्ण — कानून अनुसार आचरण की भावना है, इस पर आघात करती है।[4]

आस्टिन स्वत: रीतियों के पीछे काम करने वाली शक्ति से पूर्ण परिचित था और, तदनुसार, उसने निश्चयन कहा, "प्रभुत्व जो कुछ भी स्वीकृति देता है, वह आदेश है।" आस्टिन का तर्क है कि परंपराएं, जबतक न्यायालय द्वारा लागू नहीं की जातीं, केवल 'निश्चित नैतिकताएं' होती हैं, मतों द्वारा जारी किए नियम होते हैं। किन्तु ज्यों ही न्यायालय उन्हें जारी कर देते हैं, वह प्रभु के आदेश बन जाते हैं, जिन्हें न्यायाधीशों द्वारा प्रेषित किया जाता है, जो उसके प्रतिनिधि या सहायक होते हैं।

विश्लेषणात्मक मत (analytical school) से पूर्व 'कानून' की धारणा प्रथम आदेश के भाव को प्रेषित करती थी और उसके बाद बल-प्रयोग के भाव को। इसलिए, कानून में सब बातों से पहले आदेश निहित होता था। दूसरी ओर, विश्लेषणात्मक न्याय वेत्ता (analytical Jurists) निःसंकोच भाव से कहते हैं कि बल-प्रयोग का भाव आज्ञा के भाव पर प्राथमिकता रखता है। आस्टिन भी, बल-प्रयोग पर अत्यधिक बल देते हैं और निश्चय करते हैं कि कानून की अवज्ञा करने वाले को दण्ड दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि लोग दंड के भय से कानून का पालन करते हैं। जो भी हो, आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि हम कानूनों का पालन इसलिए नहीं करते कि उनकी अवज्ञा के साथ दंड का भाव लगा होता है, बल्कि हम उनका पालन इसलिए करते हैं कि हममें कानून के अनुरूप आचरण की भावना है। लास्की कहते हैं कि कानून में "आदेश का भाव अनिश्चित और अप्रत्यक्ष है; और दंड का विचार, घुमा-फिरा कर एक चक्कर-

1. Maine; The Early History of Institutions, p. 382.
2. op. citd., p. 160.
3. Gilchrist, op. citd., p. 114.
4. MacIver, op. citd., 161.

दार तरीके से सोचने के सिवा बिल्कुल शून्य ही है।[1] उनका मत है कि कानून का एक-स्वरता का स्वरूप होता है जिसमें आदेश का तत्त्व, क्रियात्मक रूप में, दृष्टि से ओझल रहता है।[2]

आस्टिन के सिद्धान्त की इसलिए भी आलोचना की जाती है कि यह प्रभु को स्वेच्छाचारी तथा असीमित शक्तियों के साथ नियोजित करता है। अनेकवादियों का मत है कि राज्य अन्य अनेक संस्थाओं के समान एक संस्था है, और इसलिए, प्रभु अधिकार शक्ति को असाधारण प्रभु-शक्तियों के साथ नियोजित नहीं किया जा सकता। वह एकाकी और एक-रूपित आस्टिनवादी सिद्धान्त का विरोध करते हैं और ऐसे संघों के महत्व पर जोर देते हैं जो अपने उद्देश्य के लिए उतने ही प्रभु हैं, जितना राज्य अपने उद्देश्यों के लिए है। इस कारण, प्रभुता न तो ऐक्यता है और न ही स्वेच्छाचारी। यह राज्य के अंदर और बाहर से फैली हुई एवं चारों ओर से घिरी हुई है। बाहरी रूप में आस्टिन की प्रभु-शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्वीकृति द्वारा सीमित है, अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव ने इसे और भी असंगत बना दिया है। आस्टिन का प्रभुता का सिद्धान्त अब न केवल वैध कल्पना माना जाता है, प्रत्युत घातक और भयकर सिद्धान्त भी, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय सबंधो के साहित्य में से निकाल देना चाहिए। लास्की का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष से, स्वतन्त्र प्रभु-राज्य का भाव तक भी मानवता के जीवन के लिए घातक है।

निष्कर्ष—इन अवस्थाओं में, राजनीतिक दर्शन के लिए प्रभुता के वैध सिद्धान्त को सबल बनाना असभव है। यह प्रभु के लिए ऐसी शक्तियों की स्वीकृति देता है, जिन्हें वास्तविक रूप में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। "यह आवश्यक शब्दों के अर्थों को इस सीमा तक संकुचित कर देता है कि जिन्हें यदि स्थिर रखा जाय तो समाज के अस्तित्व के लिए घातक होगा।"[3] हम कानून को जो राज्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण अंश है, विशुद्ध रूप में पूर्ण वैध नहीं मान सकते। कानून सामान्य सामाजिक वातावरण पर निर्मित होना चाहिए। इसे उन शक्तियों तथा प्रभावों से पृथक करना विधि के वास्तविक प्रयोजन को विफल करना है। जो भी हो, यह मानना होगा कि प्रभुता के वैध स्वरूप की कठोर धारणा के रूप में आस्टिनवादी सिद्धान्त स्पष्ट वास्तविक और तर्कपूर्ण है।

अनेकवाद (Pluralism)

प्रभुता का परम्परागत सिद्धान्त राज्य को स्वेच्छाचारी असीमित, अविच्छेद्य और अविभाज्य शक्ति से संपन्न करता है। प्रभु को राज्य के अन्तर्गत सब व्यक्तियों और समाजों पर सर्वोच्चता और बाहरी रूप में स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, प्रभुता का यह एकत्व (monistic) सिद्धान्त राज्य की प्रदेशीय सीमाओं के अन्तर्गत सब सघों को राज्य की उत्पत्ति मानता है और उन्हें अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए राज्य की इच्छा पर आश्रित रहना पड़ता है। जिन शक्तियों का ये सघ प्रयोग करते हैं उनकी स्वीकृति राज्य ने दे रखी होती है।

किंतु अनेकवादी प्रभुता के एकत्व सिद्धान्त को हानिकारक और निरर्थक सिद्धान्त

1. Laski, op. citd p. 52
2. Ibid
3. Ibid, p. 55.

का रूप देते हैं। लिंडसे (Lindsay) कहते हैं, "यदि हम तथ्यों पर विचार करें, तो यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि प्रभु राज्य का सिद्धान्त नष्ट हो चुका है।" प्रोफेसर लास्की, जो एकत्व सिद्धान्त के सर्वाधिक प्रबल आलोचक हैं, तर्क करते हैं कि "प्रभुता के वैध सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन के लिए कानूनी बनाना असंभव है।"[१] उनका यह निश्चित मत है कि "यदि प्रभुता की संपूर्ण धारणा का अंत कर दिया जाय तो यह राजनीतिक विज्ञान के लिए एक सदा रहने वाला लाभ होगा।"[२] अथवा जैसे कि क्रैब (Krabbe) कहते हैं, "प्रभुता के भाव को राजनीतिक सिद्धान्त में से निकाल देना चाहिए।"

अनेकवादी सिद्धांत की व्याख्या (Pluralistic Theory Explained)—लास्की कहते हैं कि प्रभुता न तो स्वेच्छाचारी है, न एकपक्षीय है। यह अनेकवादी संवैधानिक और दायित्वपूर्ण है। उनका मत है कि मनुष्य के सामाजिक स्वभाव की अभिव्यक्ति धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक, राजनीतिक और मनोरंजक-विभिन्न लक्ष्यों का अनुसरण करते हुए अनेक संघों या दलों में प्रकट होती है। इन समूहों में राज्य एक है और इन समूहों में कोई भी, अन्यों की तुलना में नैतिक या सक्रिय रूप में श्रेष्ठ नहीं है। सब संघ जो मनुष्य के जीवन में प्रवेश करते हैं, स्वभावतः और स्वतः उत्पन्न होते हैं, और सब, अपने संबंधित कार्यकलापों के क्षेत्र के अन्तर्गत, राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्र कार्य करते हैं। राज्य यद्यपि प्रमुख और सर्वाधिक महत्वपूर्ण समुदाय है, तथापि, गिलक्राइस्ट के कथनानुसार, यह केवल, अपनी बराबरी वालों में प्रथम है। यह शक्ति का एक-मात्र कोष या स्वामी भक्ति का केन्द्र नहीं है।[3] इसलिए, राज्य को उन समुदायों के प्रति जो राज्य से स्वतंत्र रूप में पैदा होते हैं और स्वयंमेव एकाकी रूप में कार्य करते हैं, अपने संबंधों के विषय में किसी भी महत्वपूर्ण अर्थ में प्रभु नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक समुदाय के अपने निजी नियम हैं, और वह राज्य से स्वतंत्र उन नियमों का पालन करा सकता है।

अनेकवादी सिद्धान्त अपनी सक्रिय व्याख्या समुदायों और समूहों के चकित कर देने वाले विविध रूपों में देखता है, जिनका अस्तित्व मनुष्य के औद्योगिक, राजनीतिक तथा अन्य हितों के लिए होता है। ये सब समूह, "पर्याप्त बृहद रूप में उसके मित्रों, उसके लिए अवसरों, उसके भावी जीवन के विषय में चुनाव करने का निश्चय करते हैं।"[४] वह संस्थाएं उसके कार्यकलापों की योजना बनाती हैं और उसे अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करती हैं।" वे उसे घटना-चक्र का स्वामी बनाना चाहती हैं ताकि वह अपने समान स्वभाव वाले मनुष्यों के साथ मिल कर अपने अभिलषित भाग्य की प्राप्ति के लिए परिस्थितियों का नियंत्रण कर सके।"[५]

आधुनिक समाज, व्यक्तियों के समुदाय की अपेक्षा समूहों का अधिकाधिक एकत्रीकरण बन गया है। अर्नेस्ट बार्कर (Earnest Barker) इस संपूर्ण प्रश्न को बहुत

1. Laski, Grammar of Politics, p. 55.
2. Ibid., p. 445.
3. Op. citd., p. 102.
4. Coker, op. citd., p. 504; also refer to Dunning, vol. IV. Political Theories, Recent Times, p. 89.
5. Laski: A Grammar of Politics, p. 256.

ही प्रबलता के साथ उपस्थित करते हैं। वह कहते हैं, "हम सर्वमान्य जीवन में व्यक्तियों के समुदाय के रूप में राज्य को कम देखते हैं; हम इसे व्यक्तियों के समुदाय के इस रूप में अधिक देखते हैं जो सर्वमान्य उद्देश्य को और भी ज्यादा प्राप्त करने के लिए पूर्वत: विभिन्न समूहों में संगठित थे।"[1] इसलिए राज्य मानवी समुदायों के अनेक रूपों में से केवल एक है और अन्य समुदायों की तुलना में व्यक्ति की राजभक्ति का इसे कोई श्रेष्ठ अधिकार नहीं है और व्यक्ति, जो इन समूहों से सबधित हैं, दोहरी भक्ति और वफादारी रखता है—एक राज्य के प्रति और दूसरी उस समूह के प्रति जिसका वह सदस्य है। राज्य और समूह, जैसा कि मेटलैंड (Maitland) कहते हैं, समान वर्ग के दो भेद हैं। इस प्रकार अनेकवादी राज्य की तो सुरक्षा करेंगे, किंतु प्रभु-राज्य की अवहेलना करेंगे। वे समाज के विभिन्न दलों के लिए अधिकतम स्वायत्तता (autonomy) का समर्थन करते हैं, क्योंकि वे मानवी स्वभाव और आवश्यकताओं के भिन्न अंगों का, प्रतिनिधित्व करते हैं। राज्य की ओर से इन संघों के स्वतंत्र अस्तित्व में किसी प्रकार का हस्तक्षेप निश्चय ही उस उद्देश्य को हानि पहुंचायेगा जिसके लिए राज्य का अस्तित्व है।

अनेकवाद (Pluralism) के केन्द्रीय विचार को गैटल के शब्दों में सार रूप में कहा जा सकता है। वे कहते हैं, "अनेकवादी इस बात से इंकार करते हैं कि राज्य असाधारण संगठन है; उनका मत है कि अन्य समुदाय भी समानरूप से महत्वपूर्ण और स्वाभाविक हैं; उनका कहना है कि इस प्रकार के समुदाय अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए उसी प्रकार प्रभु हैं, जिस प्रकार राज्य अपने उद्देश्य के लिए। वे इस बात पर बल देते हैं कि राज्य अपने अन्तर्गत कतिपय समूहों के विरोध के विरुद्ध अपनी इच्छा को सक्रिय रूप देने के अयोग्य है। वे इस बात से इंकार करते हैं कि राज्य द्वारा बल प्रयोग का अधिकार उसे किसी प्रकार का श्रेष्ठ अधिकार प्रदान करता है। वे सब समूहों के समान अधिकारों पर जोर देते हैं, जो अपने सदस्यों की वफादारी से सपन्न हैं और जो समाज में बहुमूल्य कृत्यों को पूर्ण करते हैं। फलस्वरूप, प्रभुता बहुत से समुदायों द्वारा अधिकृत होती है। यह अविभाज्य इकाई नहीं है; राज्य सर्वोच्च या असीमित नहीं है।"

अनेकवाद के सिद्धान्त का विकास (Development of the theory of Pluralism)—उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में आटो वी० गिर्क (Otto V. Gierke) तथा एफ० डब्ल्यू० मेटलैंड के अभिलेखों में अनेकवाद के सिद्धान्त का जन्म हुआ। गिर्क और मेटलैंड का सिद्धान्त है कि विभिन्न समुदाय जो समाज में विद्यमान होते हैं, मनुष्य-स्वभाव से प्रेरित होते हैं। वह काल्पनिक, कृत्रिम या अभाव से रचे हुए नहीं होते। प्रत्येक समुदाय का वास्तविक व्यक्तित्व होता है और सामूहिक चेतना और इच्छा होती है। प्रत्येक राज्य से स्वतन्त्र होता है और यहां तक कि उससे प्राथमिक होता है। गिर्क के मतानुसार ऐसे सब समुदायों के निजी अधिकार, कर्त्तव्य और कृत्य होते हैं। वह तर्क करते हैं कि राज्य को यह सर्वमान्य दृष्टिकोण स्वीकार करना चाहिए कि स्थायी समुदायों के समूह रूप में अधिकार और कर्त्तव्य हैं, राज्य ने उन्हें कार्पोरेशन रूप में स्वी-

1. Political Thought in England from Herbert Spencer to the present day pp. 175-83

कार किया हो या नहीं।"[1]

अनेक समाजशास्त्रियों (Sociologists) ने समाज के परंपरागत लोकतंत्री आकार (Democratic Structure) की भी आलोचना की है। उन के मत में मनुष्य-जीवन का राजनीतिक पक्ष और राज्य मानव-कार्यकलाप का केवल एक अंश पूर्ण करते हैं। तदनुसार, वे "समूह-जीवन और उसकी अनेक अभिव्यक्तियों पर केन्द्रीभूत" होना चाहते हैं। एमिल डरखीम (Emile Durkhiem) निश्चित रूप में स्वीकृत सार्वजनिक संगठन के रूप के प्राचीन व्यावसायिक समूहों (Ancient Occupational Groups) को पुनः जारी करने का समर्थन करते हैं। वह कहते हैं, "वर्तमान में हमारे पास न तो स्पष्ट सिद्धान्त हैं और न ही स्पष्ट न्याय सम्मत स्वीकृतियां, जिनके द्वारा नियोजितों और नियोजकों के बीच, प्रतिद्वंद्वी नियोजकों और नियोजकों या नियोजितों और जनता के बीच संबंधों का निश्चय किया जा सके।"[2] किसी भी व्यवसाय के कार्यकलापों को समूह के समाविष्ट कृत्यों और आवश्यकताओं के द्वारा ही नियमित किया जा सकता है। इसलिए, व्यावसायिक समूहों को ऐसे सब व्यवसायों की आर्थिक नियमितता प्राप्त करने के लिए और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लिए स्थापित करना चाहिए। यह प्रतिपादित किया गया है कि भौगोलिक प्रतिनिधित्व ने अपनी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक उपयोगिता को खो दिया है। भौगोलिक विभाजन की जगह व्यावसायिक विभाजन (Vocational Division) को दी जानी चाहिए जो अधिक यथार्थतापूर्वक विभिन्न सामाजिक हितों का परिचायक होगा।

कुछ ऐसे भी अन्य लेखक हैं जिन्होंने विशिष्ट समूहों के स्वायत्त अधिकारों (Autonomous Rights) पर जोर दिया है अथवा जो किसी विशिष्ट ढंग के सामाजिक संगठन का समर्थन करते हैं। वे राज्य की एकत्व-योग्यता (Omni-competence) के विरुद्ध प्रतिरोध करते हैं। डा० फिगिस (Dr. Figgis) ने आधुनिक राजनीतिक नेता के "इस प्रकार के समूहों, जैसे चर्चो, मजदूर संघों (Trade Unions), स्थानीय-समाजों और परिवार के उचित क्षेत्र में प्रवेश करने" के यत्नों की आलोचना की है। प्रोफेसर हेरल्ड जे० लास्की इस प्रकार के समुदायों के लिए पूर्ण स्वायत्तता (Autonomy) को मानते हैं। उनके तर्क के सार को उन्हीं के निजी शब्दों में प्रकट किया जा सकता है। वह कहते हैं, "केवल इसलिए कि समाज संघीय (Federal) है, इसलिए अधिकार-शक्ति भी संघीय होनी चाहिए।"[3] लास्की सिद्धान्त की नैतिक प्रबलता (Moral Validity) पर, जो राज्य को प्रभुता प्रदान करती है, आक्रमण करते हैं। उनकी राय में, राज्य को व्यक्ति की वफादारी का कोई अधिकार नहीं, सिवा इसके कि जहां तक उसकी आत्मा सहमति प्रदान करती है।" मुझ पर अधिकार शक्ति का अधिकार . . . . उसके औचित्य के नैतिक महत्व के आनुपातिक रूप पर न्यायसंगत है।"[4]

---

1. Coker, op. citd., p. 504.
2. Ibid, 506
3. Laski : A Grammar of Politics, p. 271.
4. Ibid., p. 249.

वह और आगे कहते है, "जिस एक राज्य के प्रति मैं भक्ति के लिए आबद्ध हूं, वह केवल वही राज्य है, जिसमें मैं नैतिकता की उपलब्धि करता हूं; और यदि एक राज्य उस शर्त को पूरा करने मे असफल रहता है तो मुझे अपने निजी स्वभाव के साथ दृढ रहना चाहिए, प्रयोग की चेष्टा करनी चाहिए . . . . हमारा प्रथम कर्त्तव्य अपनी आत्मा के प्रति सच्चा रहना है ।"[1] वह सपूर्ण समस्या को इन शब्दों में प्रकट करते हैं, "हम इस विशिष्ट समूह (राज्य) को विलक्षण महत्व नहीं प्रदान करते ।"[2]

इस प्रकार लास्की अन्य समुदायों के ऊपर राज्य का श्रेष्ठ अधिकार स्वीकार नही करते । वह उसकी सत्ता के आदेश-पालन पर भी शर्त लगाते हैं । उनका सामान्य विचार है कि "राज्य की प्रभु-सत्ता भी उसी प्रकार समाप्त हो जावेगी जैसे कि राजाओं के दैवी-अधिकारों का अन्त हो गया ।" राज्य केवल विभिन्न समुदायो के विभिन्न कार्यों को बिना किसी श्रेष्ठ अधिकार के प्रयोग के सचालित करता रहेगा । इस प्रकार शक्ति एक दूसरे से मिलकर चलेगी और वह श्रेणीबद्ध न होगी और शक्ति सघीय होगी ।

और भी अनेक सम-सामयिक राजनोतिक लेखक हैं जिन्होंने अनेकवाद का समर्थन किया है—मैकाइवर, लिंडजे, बार्कर, कोल, मिसफौलेट इत्यादि । उदाहरण के लिए, मैकाइवर राज्य को समाज के अन्दर दूसरे समुदायो की तरह एक समुदाय मानता है, यद्यपि यह एक विशिष्ट प्रकार के कार्य करता है । यह राज्य को कार्पोरेशन का, जिसकी "निश्चित सीमायें, निश्चित शक्तिया और निश्चित उत्तरदायित्व हैं, रूप देता है ।" मैकाइवर के अनुसार राज्य का कार्य "सामाजिक सबन्धो की संपूर्ण व्यवस्था को एकता, का रूप" देता है । बार्कर समूहों के वास्तविक स्वरूप के विचारों को स्वीकार नहीं करता परन्तु यह मानता है कि राज्य से पहिले समाज में स्थायी समूह थे और उनमे से प्रत्येक का एक संगठित रूप है और उसके अपने कार्य हैं । उनके लिए राज्य समूहों का एक समूह है और समुदायों का एक समुदाय ।

अनेकवादी सिद्धान्त को आलोचना (Pluralistic theory criticised)—अनेकवादियों का तर्क अधिकाश सीमा तक सत्य है । नि.सदेह, हमारा जीवन एक समूह जीवन है और आधुनिक समाज ऐसे सगठनो द्वारा मधु-कोष के समान बन गया है । साथ ही, इससे भी कोई इंकार नही कर सकता कि ये स्वेच्छा समूह और समुदाय लोगो के स्थानीय और राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण कार्य करते है । मनुष्य केवल एक नागरिक नहीं है; उसका अपने परिवार, अपने समाज और स्वत अपने प्रति कोई कर्तव्य है । वह उन सब समुदायों के प्रति भक्ति के लिए आबद्ध है, जो उसके कल्याण के लिए योग देते हैं ।

अनेकवादी सिद्धान्त राज्य को एक रहस्यमय उच्च पद तक पहुंचाने के प्रयत्न के प्रति विरोध-प्रकाशन है । हीगल ने उसे "पृथ्वी पर ईश्वर" माना और इसे केवल सर्वोच्च वैध-सत्ता ही नही प्रदान की वरन सर्वोच्च नैतिक सत्ता भी दी । अनेकवाद इसके कार्यों को पृथक-पृथक और सीमित करता है तथा उसके अधिकारो की व्याख्या करता है । यह

1. Ibid., p. 289
2. Laski: The "Personality of Associations," Haward Law Review, XXIX (1915-16), p. 426 and as quoted in Coker, op. citd, p. 508.

राज्य को अन्य समुदायों के बराबर मानता है और हीगल द्वारा बनाये हुए राज्य के भव्य-भवन को भूमिसात कर देता है। मिस फालेट अपनी प्रशंसनीय पुस्तक 'दी न्यू स्टेट' में अनेकवाद के गुणों के निम्नलिखित सारांश प्रस्तुत करती है :—

(१) अनेकवादी "वर्तमान राज्य के उच्चता के अधिकार के बुलबुले को फोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि राज्य ने जो मध्य काल से अपने दावों और अपूर्ण स्वत्वों के आधार पर धीरे-धीरे बन रहा है, हमारे आदर को प्राप्त नहीं किया है।"

(२) "वे समूह के मूल्य को मानते हैं और वे स्वीकार करते हैं कि हमारे सामूहिक जीवन की बहुरूपता का एक महत्व है जिसे तुरन्त ही राजनीतिक जीवन के भीतर मानना चाहिए।" वे इस विचार का भी खंडन करते हैं कि समूहों को राज्य से शक्ति मिलती है।

(३) "वे स्थानीय जीवन के बारम्बार पृथक्करण के पक्ष में हैं।" इस प्रकार अनेकवादियों का उद्देश शक्ति का विकेन्द्रीकरण है और वे अनुभव करते हैं कि हमारी अनिवार्य आवश्यकताएं "स्थानीय इकाई को जागृत करना, शक्ति देना, शिक्षा देना, और संगठन करना" हैं।

(४) "अनेकवादी कहते हैं कि अब राज्य का स्वार्थ सदैव इसके अंशों के स्वार्थ से नहीं मिलता।"

(५) अनेकवाद "भीड़ की समाप्ति का आरंभ है।"

(६) अन्तत: अनेकवाद में "भविष्य के लिए भविष्यवाणी है, क्योंकि इसने तीव्रतम दृष्टि से संघ के समुदाय की समरूपता की समस्या को पकड़ लिया है।"[1]

किंतु यह उल्लेखनीय है कि ये समुदाय केवल राज्य के ढांचे के अन्तर्गत स्थिर रह सकते हैं, समृद्ध हो सकते हैं और अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकते हैं। हम राज्य की प्रभुता के सिद्धान्त को तिलांजलि नहीं दे सकते। प्रभुता के बिना राज्य नहीं हो सकता और राज्य के बिना समुदाय नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य के सामूहिक जीवन के लिए कोई राजनीतिक संगठन होना ही चाहिये। यदि राज्य का लोप करना हो और उसकी जगह स्वायत्त समुदाय को देनी हो, तो यह "सैद्धान्तिक अराजकता की अवस्था से बहुत दूर की बात नहीं होगी, कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा अपने कार्यों की निर्णायक स्वयं होगी।"[2] डा० फिगिस राज्य का "समाजों" के समाज के रूप में वर्णन करते हैं और उसे सहयोग तथा समन्वय की प्रतिनिधि संस्था के रूप में "एक भिन्न कृत्य और एक श्रेष्ठ अधिकार-शक्ति सौंपते हैं। उनका मत है कि कई लघुतर समूहों के प्रमुख गुणों में एक इस तथ्य में निहित है कि वे राज्य के प्रति भक्ति को प्रगाढ़ करते हैं। डा० फिगिस का कथन है, "यह अधिकांशत: ऐसे समूहों को नियमित करने और यह भरोसा देने के लिए कि वे न्याय के बंधनों का उल्लंघन न करें कि राज्य की दमन-शक्ति का अस्तित्व है।"[3]

अनेकवादियों ने इन समूहों को राज्य से स्वतंत्र बनाने की चेष्टा नहीं की। ग्रिफ़ कहते हैं, राज्य "अपनी उच्च स्थिति के कारण अन्य सामाजिक संस्थाओं से भिन्न है; केवल

1. pp. 315-17
2. Gilchrist op. citd., p. 104
3. As quoted in Coker, op. citd. p. 513

राज्य के लिए उच्चतर सामूहिक अस्तित्व द्वारा कोई सीमा नही है; उसकी इच्छा सामान्य प्रभु इच्छा है; राज्य उच्चतम (Machtverband) प्रभुशक्ति पिण्ड है।"[1] पाल बेकार (Paul Bancour) राज्य को सामान्य हितों तथा राष्ट्रीय संपूर्ण हितों का एकमात्र प्रतिनिधि मानते हैं। वह राज्य को यह कर्त्तव्य भी सौपते हैं कि वह किसी भी समूह को अन्य समूहो तथा उनके सदस्यो के विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्यों से रोके। लिंडसे (Lindsay) राज्य को "संगठनों का सगठन" स्वीकार करते हैं। मिस फोल्लेंट भी अनेकवादियों के राज्य की धारणा की यह कह कर आलोचना करती है कि वह नागरिकों की वफादारी के लिए "प्रतिद्वंद्वी" है। प्रो० लास्की राज्य से सर्वथा मुक्त होने का प्रस्ताव नही करते। वह राज्य और एक समुदाय के बीच अतर को स्वीकार करते हैं और राज्य की व्याख्या का रूप देते हुए कहते हैं, "राज्य वह समुदाय है, जो नागरिको के रूप में मनुष्यों के हितों की रक्षा करने वाला हो।" वह इस बात से सहमत है कि "सर्वमान्य आवश्यकताओं को सतुष्ट करने के लिए उसे अन्य समुदायो को उस सीमा तक नियत्रित करना चाहिए जो इस प्रकार की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक सेवा की उपलब्धि करती है।" वह "राज्य की अंतिम स्थिर शक्ति" की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। लास्की अन्ततः स्वीकार करते हैं : "और हम राजनीतिक राज्य की प्रत्यक्ष प्रशासन क्षमता को चाहे जितना कम कर दें, किंतु यह तथ्य रह जाता है कि एक बार जब कि इसे उन सेवाओं की धारा से सपन्न किया जाता है जिनकी मनुष्यों को सर्वमान्य आवश्यकता होती है, तो उस के पास उनके हित विश्वास की इतनी मात्रा के साथ होते हैं कि जिसकी अन्य कोई सस्था लौकिक दृष्टि से समता नही कर सकती। यदि हम आधुनिक राज्य से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का अशरीरी नियत्रण पृथक् कर दे, तो आतरिक मामलो का शेष रहा नागरिक क्षेत्र, आकस्मिक दृष्टिपात करने पर, महत्तम जान पड़ेगा।"[2] फलत, हम इस परिणाम पर पहुच सकते हैं कि राज्य की प्रभुता के विरुद्ध विश्वासोत्पादक तर्क के होने पर भी अनेकवादी उसका लोप करने मे सफल नही हुए। प्रभुता अब भी राजनीतिक विज्ञान का सर्वाधिक भ्रमपूर्ण सिद्धान्त है। जो भी हो, अनेकवादियो ने समाज मे समुदायो और समूहो के महत्व को उभार कर बहुत हितकर कार्य किया है, और इस प्रकार हेगल (Hegel) तथा उसके अनुयायियो द्वारा निरकुशतावाद की स्थापित शक्तियों का अवरोध हो गया है।

प्रभुता की विशेषताएँ

(Characteristics of Sovereignty)

प्रभुता के स्पष्ट गुण या विशेषताए ये है : स्थायित्व, वर्जनशीलता, सर्व-व्यापिता, अविच्छेद्यता, अविभाज्यता, और स्वेच्छाचारिता।

स्थायित्व (Permanence)—राज्य की प्रभुता स्थायी है और जब तक राज्य का अस्तित्व रहता है, तब तक यह निर्बाध जारी रहती है। सरकार मे परिवर्तन होने का

1. Ibid, p. 512
2. Laski, op. citd. p. 75

अर्थ प्रभुता की समाप्ति नहीं है। सरकार वदलती है, किंतु राज्य जारी रहता है, और इसीलिए प्रभुता भी। यह "मृत्यु अथवा विशिष्ट वाहक के अस्थायी रूप में अधिकार वंचित अथवा राज्य के पुनर्निर्माण" के साथ समाप्त नहीं होती, "वल्कि त्वरित नये वाहक के हाथ में वदल जाती है, जैसे भौतिक शरीर के वाहरी परिवर्तन के समय आकर्षण का केंद्र एक अंग से दूसरे में वदल जाता है।"[1]

वर्जन-शीलता (Exclusiveness)—प्रभु-शक्ति नितांत विशिष्ट है और कोई भी उसका प्रतिद्वंद्वी नहीं। एक राज्य में केवल एक ही प्रभु-शक्ति हो सकती है, जो वैध रूप में अधिवासियों को आज्ञापालन का आदेश कर सकती है। इसे अन्यथा समझना राज्य की एकता के सिद्धान्त से इंकार करना होगा और "राज्य के अन्दर राज्य" की संभावना होगी।

सर्व-व्यापिता (All Comprehensiveness)—प्रभुता का स्वरूप व्यापक है, और यह अपनी प्रदेशीय सीमाओं के अन्तर्गत सव व्यक्तियों तथा समुदायों पर लागू होती है। यह "राज्य के अधिकार-क्षेत्र के साथ अपने कार्य में व्यापक है और राज्य के प्रदेश में सव व्यक्तियों और वस्तुओं को अपने क्षेत्र के अन्तर्गत ग्रहण करती है। आधुनिक राज्य अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत किसी Staatlos की विद्यमानता को स्वीकार नहीं करता।" न ही कोई व्यक्ति और न ही कोई संगठन ऐसा हो सकता है, भले ही कितना व्यापक हो, जो राज्य की प्रभुता को प्रभावित कर सके।

प्रभुता की व्यापकता में दूतावासों (embassies) को दिया हुआ अतिरिक्त प्रदेशीय अधिकार-क्षेत्र केवल अपवाद हैं। एक दूतावास उस राज्य के कानून के अधीन है जिसका वह झंडा फहराता है और राजदूत तथा उसका कार्यकारी-वर्ग दूतावास की चहारदीवारी के अन्तर्गत, अपने निजी देश के कानून के प्रति उत्तरदायी है। उस राज्य का कानून जिसमें दूतावास अवस्थित होता है, उन पर लागू नहीं होता। जो भी हो, यह स्मरण रखना चाहिए कि अतिरिक्त प्रदेशीय प्रभुता केवल अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य का विषय है, और इसे किसी भी अवस्था में, राज्य की प्रभुता पर मर्यादा नहीं समझना चाहिए। यदि कोई राज्य चाहे, तो वह इस सुविधा के लिए इंकार कर सकता है, और इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं।

अविच्छेद्यता (Inalienability)—राज्य की प्रभुता का छेदन नहीं किया जा सकता। लीवर के कथनानुसार "जिस प्रकार एक वृक्ष पुनः अंकुरित होने के अधिकार को, व्यक्ति अपने जीवन और व्यक्तित्व को वदलने के अधिकार को, आत्मनाश के विना संपन्न नहीं कर सकता अर्थात् ये दोनों क्रियाएं असंभव हैं, ठीक उसी प्रकार प्रभुता के भी टुकड़े-टुकड़े नहीं किए जा सकते।" राज्य और प्रभुता एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। किंतु जव राज्य अपने प्रदेश के एक भाग को छोड़ता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य की प्रभुता नष्ट हो गई है। वल्कि, दूसरी ओर, यह "राज्य की प्रभुता की कार्यकारिता का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस प्रकार अव एक राज्य के स्थान पर दो राज्य हो जाते हैं।"[2]

---

1. Garner, op citd., p. 170
2. Gilchrist, op. citd., p. 110

अविच्छेद्य होने के साथ-साथ प्रभुता को कानूनन भी नही हटाया जा सकता। इसका अर्थ है कि प्रभु-शक्ति इस प्रकार की शक्ति को क्रियान्वित न करने से कालान्तर में नष्ट नही हो सकती। डा० गार्नर कहते है, "जिस प्रकार भूमिगत सम्पत्ति प्राईवेट कानून के अनुसार नष्ट हो सकती है, उस प्रकार केवल समय बीत जाने के कारण प्रभुता का नाश नहीं हो सकता।"

अविभाज्यता (Indivisibility)—अनेकवादी प्रभुता की द्वि-विधता में विश्वास करते है। वैध-प्रभुता का लक्ष्य उसकी एकता है। यह धारणा है कि राज्य की प्रभुता अविभाज्य है और प्रभुता के विभाजन का अर्थ है प्रभुता का नाश। जैलिनेक (Jellinek) ने ठीक ही कहा है कि "विभाजित, अंशित, कम की हुई, सीमित, सापेक्ष प्रभुता" का भाव प्रभुता की नकारात्मकता है। यदि हम अनेकवादियो का दृष्टिकोण मानते है और सब समुदायों और समूहों को प्रभुता प्रदान करते है, तो वह राज्य को नष्ट करता है। कई सर्वोच्च इच्छाओं की विद्यमानता, जिनमें प्रत्येक समान रूप में आदेश करने तथा आज्ञा-पालन कराने के योग्य हो, स्पष्टतया सवर्षों की जन्मदात्री होगी और राज्य को खडित करेगी, और अन्ततः उसका अन्त हो जायगा। समग्र रूप में यह प्रभुता की अधिवासिता का प्रश्न है, किंतु जहा कही भी यह रहे, हम जान सी० कैलहौन (John C. Calhoun) के साथ सहमत है कि प्रभुता "एक संपूर्ण वस्तु है; इसे टुकड़े करना इसे नष्ट करना है। यह राज्य में सर्वोच्च शक्ति है, और जिस प्रकार हम आधे त्रिभुज का विचार नहीं कर सकते ठीक उसी प्रकार आधी प्रभुता भी विचार में नही आ सकती।"[1]

संघ में प्रभुता (Sovereignty in a Federation)—किंतु सब इस बात को नही मानते कि प्रभुता एकता है। विभाजित प्रभुता का प्रश्न तब महत्व में आया जबकि यूनाइटिड-स्टेट्स आफ अमेरिका ने सघ का रूप धारण किया। एक सघ पूर्वतः प्रभु राज्यों के बीच मिलाप का परिणाम है। सघ के अत्यावश्यक रूपों में से एक यह है कि जब मिलाप के लिए सहमति हो, तो संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयो को अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहिए। तदनुसार, प्रशासन के विषय नव-निर्मित केन्द्रीय सरकार और संघ में शामिल होने वाली इकाइयो के बीच बाटे जाते है। संविधान को स्वीकार करते समय अमरीका के तत्कालीन लेखकों का यह सामान्य मत था कि केन्द्रीय सरकार तथा सघ में शामिल होने वाली ईकाइया अपने निजी अधिकार-क्षेत्र के साथ प्रभु बनी रहें, और ऐसा होने की दशा में, प्रभुता विभाज्य होगी। इस सिद्धान्त का मिल्टन तथा मैडिसन ने प्रबल समर्थन किया था। चिसहाम बनाम जिआर्जिआ (Chisholm Vs. Georgia) के मुकदमे (१७९२) में सर्वोच्च न्यायालय ने इसकी पुष्टि की थी, जिसमें प्रतिपादित किया गया था कि "राज्यो द्वारा सरकार को जो संपूर्ण शक्तिया अर्पित की गई है, उस रूप में यूनाइटिड स्टेट्स प्रभु है, जवकि सघ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य सब सुरक्षित शक्तियो के रूप में प्रभु है।" प्रभुता के इस द्विमुखी सिद्धान्त का बडे-बडे सवैधानिक वकीलों ने पुष्ट-पोषण किया, जैसे, कूली (Cooley) और स्टोरी (Story) जजों और डि टाकविल्ले (De Tocqueville), व्हीटन (Wheaton), हर्ड

1. As quoted in Garner, op. citd. p. 173

(Hurd) तथा अन्य राजनीतिक लेखकों ने भी। हर्ड कहते हैं, "इस बात का प्रश्न नहीं है कि सब वर्गों के राजनीतिज्ञों ने, जिन्होंने युनाइटिड स्टेट्स का संविधान बनाया, यह समझा कि राजनीतिक प्रभुता अपने प्रजाजनों तथा अधिकारों के अनुसार विभाजन के योग्य है।"

किंतु संघ में प्रभुता का यह अनुमान सही नहीं है। एक संघीय तंत्र दो राज्यों की उत्पत्ति नहीं करता। यह केवल एक राज्य बनाता है, इसलिए एक प्रभुता है। संघ की इकाइयां राज्य नहीं हैं। वे कानून बनाने वाली सहायक संस्थाएं हैं, जिनके अधिकार वचन-बद्ध हैं। वे प्रभु नहीं हैं, किन्तु अधिकारों के अपने क्षेत्र के अन्तर्गत स्वायत्त हैं। संघ में, केन्द्र और इकाइयों के बीच जिस चीज का विभाजन हुआ है, वह सरकार के अधिकार हैं। सरकार के अधिकारों को बांटा जा सकता है किन्तु प्रभुता को नहीं। जो लोग प्रभुता के विभाजन में विश्वास करते हैं, वह राज्य और सरकार को गड़बड़ा देते हैं। कैल्होन (Calhoun) कहते हैं, "यह समझने में कोई कठिनाई नहीं कि प्रभुता से संबंधित शक्तियों को कैसे विभाजित किया जा सकता है और कैसे एक अंश को, एक को और दूसरे को दूसरा क्रियान्वित करने के लिए दिया जा सकता है। अथवा प्रभुता कैसे एक आदमी को या कुछ को, अथवा अनेकों को सौंपी जा सकती है। किन्तु, सर्वोच्च शक्ति—प्रभुता स्वतः कैसे बांटी जा सकती है . . . . यह निर्धारित करना असंभव है।"

निरंकुशता (Absoluteness)—राज्य की प्रभुता निरंकुश और असीमित है। आंतरिक अथवा बाहरी, इस पर वैध मर्यादाएं लागू नहीं हैं। प्रभुता के बिना कोई राज्य नहीं हो सकता। यह राज्यत्व का सर्वोच्च स्वरूप है। इसलिए प्रभुता अपनी अधिकार शक्ति पर कोई प्रतिरोध नहीं लगाती। इससे अन्यथा ग्रहण करना किसी उच्चतर शक्ति की रचना करना है जिससे प्रभु शक्ति सीमित हो जाती है। प्रभुता की निरंकुशता में व्यापकता, अविच्छेद्यता, स्थायित्व और अविभाज्यता का समावेश भी होता है।

कानून की दृष्टि से यह सब सत्य है। किंतु वैध सत्य राजनीतिक असत्य भी हो सकता है। पृथ्वी तल पर ऐसी कोई वस्तु नहीं जो स्वेच्छाचारी प्रभुता के रूप की हो। वह मानव रूपी प्रतिनिधि संस्था ही है जिसके द्वारा प्रभु-शक्ति को व्यक्त करना होता है। मनुष्य कदापि पूर्ण और स्वतंत्र नहीं हो सकता। निर्भरता उसका मूल स्वभाव है। तो फिर वह स्वेच्छाचारी रूप में प्रभु कैसे हो सकता है? यहां तक कि सर्वाधिक निरंकुश राजा भी अपनी स्वाभाविक मर्यादाओं द्वारा सीमित होता है। इसके साथ ही, जैसाकि गिलक्राईस्ट का कथन है, प्रभु-शक्ति "मानवी सहनशीलता" ("human endurance) द्वारा सीमित भी है। वह कहते हैं कि प्रभु के धर्म, शिक्षा, चरित्र और वातावरणों को उसकी क्रियाओं को भी टालना चाहिए।"[1] तदनुसार, व्यक्तित्व, औचित्य और व्यावहारिक ज्ञान की सीमाएं होती हैं।"[2] इसके अतिरिक्त कुछ लेखकों का मत है कि मनुष्य कतिपय स्वाभाविक और वंशानुगत अधिकारों का भी स्वामी होता है। ये अधिकार राज्य से स्वतंत्र रूप में विद्यमान होते हैं और कोई भी प्रभु उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। ब्लूंटश्ली कहते हैं कि राज्य तक भी, समग्र रूप में सर्व-शक्तिमान् नहीं है, क्योंकि बाहरी

1. Gilchrist, op. citd. p. 107
2. See Apte, Austinian Theory of Sovereignty,

रूप में यह अन्य राज्यों के अधिकारों द्वारा सीमित होता है और आंतरिक रूप मे अपने निजी स्वरूप तथा अपने व्यक्ति सदस्यों के अधिकारों द्वारा सीमित होता है।

यह सिद्धान्त कि राज्य स्वेच्छाचारी रूप में सर्वोच्च है, व्यर्थ और यहां तक कि भयानक है। हम पूर्वतः ही राजनीतिक प्रभुता के स्वरूप और विशाल जनगण के प्रभावों पर विचार कर चुके हैं, जो प्रभु द्वारा समाज की शक्तियों को निरंतर रूप देते, सीमित करते अथवा अवरुद्ध करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो यह कहते हैं कि प्रभुता दैवी नियम की धारणाओं द्वारा सीमित होती है। सर हेनरी मेन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रभु, किन्हीं वातावरणों के अधीन, चिरकालीन रीतियों तथा चिरकाल से स्थापित परंपराओं के विपरीत कार्य नही कर सकता। अन्ततः, ऐसी भी मर्यादाएं हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो तथा राज्य के संविधान द्वारा आरोपित हैं।

अध्याय : : सात

व्यक्ति और राज्य के बीच संबंध

(Relation Between the Individual and the State)

अधिकार और कर्त्तव्य
Rights and Duties

अधिकार के अर्थ (Meaning of the Rights)—प्रत्येक राज्य अपने द्वारा रक्षित अधिकारों से जाना जाता है। वस्तुतः, अधिकार सामाजिक जीवन की वे अवस्थाएं हैं, जिनके बिना कोई आदमी अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। यह प्रत्येक राज्य का लक्ष्य है और यह केवल अधिकारों की रक्षा ही है जिससे यह अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। इसलिए, अधिकारों की व्याख्या स्वीकृत स्वत्वों (claims), और, यदि आवश्यक हो, तो राज्य द्वारा जारी करने के रूप में की जा सकती है।

कतिपय ऐसी न्यूनतम आवश्यकताएं होती हैं, जिनके बिना आदमी अपना निज का जीवन नहीं बिता सकता। वे जीवन की मुख्य आवश्यकताओं के रूप में और सामाजिक जीवन की अपेक्षाकृत बड़ी जरूरतें कही जाती हैं। उदाहरण के लिए, एक परिवार की आवश्यकता, अपनी जीविका-उपार्जन के हित काम की आवश्यकता, अपने साथी आदमियों के साथ रहने, अपनी राय प्रकट करने, और उनके सुख और दुःख के भागी-दार होने की इच्छा। प्रकृति ने मनुष्य को अपने अभावों की पूर्ति के लिए कार्य करने की कुछेक शक्तियां प्रदान की हैं। परन्तु वे शक्तियां बुद्धिशून्य नहीं हैं। विवेक और तर्क के बिना शक्ति का एक अन्य नाम बल-प्रयोग (force) है। बल-प्रयोग का आधार शारीरिक बल है और बल अधिकार को स्वीकार नहीं करता। आदमी चूंकि एक बौद्धिक प्राणी है, इसलिए वह अपनी कार्य करने की शक्तियों को युक्ति रहित ढंग से क्रियान्वित नहीं करता। वह अपने को समाज की नैतिक इकाई मानता है और महसूस करता है कि यदि उसके पास एक काम को करने की शक्ति है, तो इसी तरह की शक्ति दूसरे के पास भी तो है। तदनुसार, समाज के सब सदस्यों के बीच अच्छे संबंध स्थापित होने चाहिएं और संबंधों की अच्छाई यह मांग करती है कि जो-कुछ हम अपने लिए चाहते हैं, दूसरों को भी वैसा करने दें। संबंधों की इस अच्छाई का, जो जीवन की सबसे पहली शर्त है, अर्थ है अधि-कारों की एक प्रणाली। फलतः, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव में से अधिकारों की उत्पत्ति होती है।

समाज की इस विधि के अधीन प्रत्येक दूसरों को मान्यता देता है और प्रत्येक दूसरों से मांग करता है कि वे उसकी, आदर्श उद्देश्यों का अनुसरण करने की शक्ति को मान्यता देंगे। अरिस्टोटल के अनुसार, "जीवन केवल जीना भर ही नहीं ह, प्रत्युत अच्छी तरह से जीवन बसर करना है।" यह अच्छे जीवन के लिए ही है कि हम जीवित रहते हैं और अच्छे जीवन के लिए कतिपय शर्तें पूरी होनी चाहिएं। सबके द्वारा सर्वमान्य लक्ष्य की यह मान्यता, अर्थात्, अच्छा जीवन, अधिकारों का सार है। यह इस बात को लक्षित

करता है कि प्रत्येक को अपनी निजी अच्छाई के लिए चेतन रहना चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए कार्य की अपनी शक्तियों को उन्नत करना चाहिए। दूसरे, उसे दूसरों के हित के लिए भी चेतन रहना चाहिए और उन दशाओं के निर्माण में उसे सहायता करनी चाहिए जिनसे दूसरो की कार्य-शक्ति बढ़े। उसे इस बात के लिए भी चेतन रहना होगा कि उसका हित दूसरों के सर्वमान्य हित के साथ प्राप्त किया जा सकता है। यही वह विषय क्रम है जिसके अनुसार-लास्की अधिकारो की व्यवस्था करते हुए कहते है, "सामाजिक जीवन की वे अवस्थाए जिनके बिना, सामान्यतः, कोई भी आदमी अपने पूर्ण-विकास की उच्चता को नही पहुच सकता।"[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव म से अधिकार उत्पन्न होते हैं। अगर समाज नहीं है, तो अधिकार भी नही हो सकते। राबिन्सन क्रूसो के लिए उस एकाकी द्वीप में कोई अधिकार नही थे। वह उस सबका स्वामी था जिसका उसने पर्यवेक्षण (survey) किया था। उसकी स्वतंत्रता या क्रियाकलापो के विषय में कोई बंधन नही हो सकता था। स्वतत्रता के लिए सीमा का प्रश्न तभी पैदा होता है, जब वैसी स्वतत्रता को कार्य में लाने वाले दूसरे हों। अपनी निजी स्वतन्त्रता पर अमल करने के लिए हर किसी को दूसरो की स्वतन्त्रता को मान्यता देनी होती है। इस तथ्य की स्वीकृति अधिकारों का आधार है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरो से सबधित इन अधिकारो का भोग करता है और यह मान्यता प्रदान करता है कि, समाज के लिए "एक अतिम हित है जिसे मनुष्य की परपरागत शक्तियों को उन्नत करने से प्राप्त किया जा सकता है।"[2]

इसे कहने का एक दूसरा ढग यह है कि प्रत्येक अधिकार का तदनुरूप एक दायित्व अथवा कर्त्तव्य है। यदि अपने जीवन-यापन के लिए मुझे काम करने और उपार्जन का अधिकार है तो दूसरो के उसी अधिकार को मान्यता देना और उनके जीवन-यापन के लिए उन्हे काम करने और उपार्जन का अधिकार देना भी मेरा कर्त्तव्य है। मैं अपने अधिकारो का प्रयोग तभी कर सकता हू, जब मैं दूसरो के अधिकारो का मान करता हूं। "वह जो काम नही करेगा, उसी की भांति अधिकारो का स्वामी नही हो सकेगा जो काम नही करना चाहेगा।"[3] अधिकारों का मेरा स्वत्व इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि मैं सर्वमान्य लक्ष्य का अनुसरण करने के लिए दूसरो का भागीदार होता हूं और सर्वमान्य लक्ष्य ही मनुष्य का सुखी जीवन है। यदि मैं अपना कर्त्तव्य पूर्ण नही करता, तो यह देखना राज्य का काम है कि मैं समाज की नैतिक इकाई के रूप में अमल करता हूं।" राज्य का अस्तित्व व्यक्तियो के भिन्न स्वत्वो को रक्षित करने तथा गठन करने के लिए होता है, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति का आधारमूलक कर्त्तव्य सरकार के रूप मे सगठित राज्य के प्रति आज्ञापालन है।"[4] अधिकार राज्य से स्वतन्त्र नहीं है। हम उन्हे प्राप्त करते हैं, क्योकि केवल राज्य मे रहने के कारण ही हम उन्हे पा सकते हैं और उनकी रक्षा कर सकते हैं।

---

1. Laski: A. Grammar of Politics, p. 91.
2. Gilchrist, op. citd., p. 132.
3. Laski, A Grammar of Politics, p. 95.
4. Gilchrist, op. citd., p. 132.

इस प्रकार, राज्य अपने नागरिकों के अधिकारों को स्थिर करता है और शृंखलाबद्ध करता है। राज्य का लक्ष्य अधिकारों की रक्षा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वे अधिकार हैं, क्योंकि उनकी उपयोगिता है। यह देखना राज्य का काम है कि प्रत्येक अपने अधिकारों का भोग करता है और उन अवस्थाओं की रचना करना जिनके बिना मनुष्य नैतिक जीवन बसर नहीं कर सकता। किन्तु अधिकारों को निर्मित किया जाना चाहिए। जब अधिकार निर्मित हो जाते हैं तो उनके पालन का राज्य के नियमों द्वारा निश्चय होता है। अधिकार उस समय अधिकार नहीं रह जाते जब प्रत्येक व्यक्ति के अपने निजी पृथक् स्वत्व होते हैं। इस तरह, उन्हें निश्चित बनाना और उनकी व्याख्या करना आवश्यक है।

अधिकारों का वर्गीकरण
(Classification of Rights)

अधिकारों को मोटे रूप में नैतिक और वैध (Legal) अधिकारों में विभाजित किया गया है।

नैतिक अधिकार (Moral Rights)—नैतिक अधिकार वह हैं जो लोगों की नैतिकता की, नीति-शास्त्र-विषयक विधि (Ethical Code) पर आधारित हैं। यह "आचरण के उस क्षेत्र पर" आच्छादित है और "उन सब कार्यों और सहिष्णुताओं का संकेत करता है जिनको बजा लाना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है।" किन्तु, एक नैतिक अधिकार का राज्य के नियमों द्वारा अनुमोदन नहीं होता। यह तो समाज की नैतिक अनुमति पर ही आधारित है। यदि कोई व्यक्ति, नैतिक अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो वैध रूप से, ऐसे दुर्दांत व्यक्ति को दंड नहीं दिया जा सकता। एक पत्नी को, अपने पति से प्यार-भरा सलूक प्राप्त करने का पूरा-पूरा हक है, किन्तु, राज्य के नियम, पति को किसी प्रकार मजबूर नहीं कर सकते कि वह अपनी पत्नी से प्यार-भरा सलूक करे। हक को, इसलिए अधिकार नहीं माना जाता, क्योंकि वह न्यायसंगत है, प्रत्युत इसलिए कि कानून का बल उसकी पीठ पर है। जब-जब हम नैतिक अधिकारों की चर्चा करते हैं, तो हमारा अभिप्राय उन हकों से होता है, जिन्हें राज्य की अनुमति प्राप्त हो जाने पर अधिकारों का रूप दिया जा सके। नैतिक हकों को, नैतिक अधिकार मान लेने पर भी, मनवाया नहीं जा सकता। गरीब-मुहताज और रोगी की सहायता करना मेरा नैतिक धर्म है, क्योंकि मुझे ऐसी परिस्थितियां पैदा करनी चाहियें कि जिनसे समस्त समाज का कल्याण हो। किन्तु, यदि मैं अपना नैतिक धर्म पालन करने में असफल रहता हूं, तो राज्य के नियम इसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

वैध अधिकार (Legal Rights)—वैध-अधिकार एक ऐसा विशेष अधिकार है, जो एक नागरिक को अन्य नागरिकों की अपेक्षा प्राप्त है और जिसे राज्य की प्रभु-शक्ति ने उसे प्रदान किया है। वैध अधिकारों को, राज्य अपने कानूनों द्वारा सुव्यवस्थित रखता है। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के वैध अधिकारों के संपूर्ण उपभोग में बाधा डालता है, तो उसे दंड दिया जाता है। राज्य के पास बाध्य करने का बल है, जिससे वैध अधिकारों को मनवाया जा सकता है।

वैध अधिकारो में, असैनिक व राजनीतिक दोनों प्रकार के अधिकार शामिल हैं।

(१) असैनिक अधिकार (Civil Rights)—असैनिक अधिकारों (Civil Rights) का संबंध, व्यक्तियों की जान और माल से है। असैनिक अधिकारो को बहुधा मौलिक माना जाता है, क्योंकि इनके द्वारा, सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक स्तर स्थापित होते हैं। इन अधिकारो के बगैर, सभ्य जीवन सभव नही, कारण, मनुष्य को अपना जीवन सुखमय बनाने की काफी सुविधाए नही मिल सकेंगी। इन असैनिक अधिकारो में, व्यक्ति के जीवित रहने, जायदाद बनाने, अनुबंध करने, धर्म व पूजा, भाषण, मत और एकत्रित होने के अधिकार शामिल है। देश और काल के अनुसार असैनिक अधिकारों में हेर-फेर भी होता रहता है। "इन अधिकारों के पाव उतने ही अधिक जमेंगे, जितनी दृढ़ता के साथ, वे तथ्यों के सामने अपने अस्तित्व को सिद्ध करते जायेंगे।" लोकतंत्र राज्यों में, मनुष्य के असैनिक अधिकारो की अन्य व्यक्तियों अथवा स्वयं सरकार द्वारा हस्तक्षेप से रक्षा की जाती है।

(२) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)—असैनिक अधिकारों से, राजनीतिक अधिकार स्पष्ट रूप में भिन्न है। प्रत्येक राज्य में विदेशियो को राजनीतिक अधिकार नही दिये जाते, हा, असैनिक अधिकार दिये जा सकते हैं। राजनीतिक अधिकार-प्राप्त नागरिक को, अपने राज्य के कार्य में भाग लेने और उसकी सुव्यवस्था में दिलचस्पी लेने का हक होता है। किन्तु, इन राजनीतिक अधिकारों को, प्रजातत्र राज्य-व्यवस्था ही में क्रियान्वित किया जा सकता है। इनमें शामिल हैं :—

(क) शातमय रूप से एकत्रित होकर सार्वजनिक समस्याओ पर विचार-विनिमय करने का अधिकार ;

(ख) सरकार से, व्यक्तिगत रूप अथवा सामूहिक रूप से, प्रार्थना-पत्र भेजकर अपनी शिकायतें दूर करवाने का अधिकार;

(ग) मत-दान का अधिकार;

(घ) चुनाव में खड़े होने का अधिकार ;

(ङ) कोई सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार ।

राजनीतिक अधिकार मौलिक गुण रखते हैं और इन्हे, प्राय राज्य के लिखित सविधान में सम्मिलित किया जाता है।

अधिकारों के सिद्धांत
(Theories of Rights)

समय-समय पर अधिकारो के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्याएं की गयी हैं। परन्तु हम केवल निम्न महत्वपूर्ण सिद्धातों पर ही विचार करते हैं.—

(१) प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धात ।

(२) अधिकारो का वैध सिद्धात ।

(३) अधिकारो का ऐतिहासिक सिद्धात ।

(४) अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धात ।

(५) अधिकारों के सामाजिक कल्याण के सिद्धात ।

कारों का वैध सिद्धांत, इस कथन की व्याख्या करता है कि अधिकारों की सृष्टि और उनका पोषण, राज्य ही करता है। एक अधिकार, वह हक है, "जिसको सिद्ध करने तथा मनवाने के लिए, न्यायालयों की आज्ञा पर, राज्य अपने बल का प्रयोग करता है।" ऐसा कोई अधिकार नहीं जिसे मनुष्य जन्म से ही साथ लाता है। ये तो राज्य द्वारा बनाए और चलाए जाते हैं। इस संबंध में, राज्य तीन कर्त्तव्य पालन करता है। प्रथम, अधिकारों का विधिपूर्वक बनाना और उनकी परिभाषा निश्चित करना; दूसरे उनके क्षेत्र को सीमाबद्ध करना, तीसरे वह संगठन स्थापित करना, जिससे अधिकारों के उपभोग की गारंटी मिले।

व्यक्ति के लिए, राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं। राज्य के विरुद्ध अधिकार रखने का तो अभिप्राय यही हुआ कि व्यक्ति के कोई अधिकार हो नहीं हैं। जब राज्य नहीं तो हमारे अधिकार भी नहीं, अलबत्ता शक्तियां जरूर हैं। शक्ति का मतलब हुआ बल-प्रयोग, न कि अधिकार। बल-प्रयोग के अत्याचार से विमुक्त होने और अधिकारों को मनवाने के लिए हमें राज्य की आवश्यकता है। फलतः, अधिकारों का स्रोत राज्य है, और व्यक्तियों को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं हैं।

आलोचना—अधिकारों के उक्त सिद्धांत से अनेकवादियों (Pluralists) का मतभेद है। लास्की का कहना है कि राज्य, अधिकारों का सृजन नहीं करता वरन्, उन्हें स्वीकार करता है। और वे फिर कहते हैं, एक व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध, कोई अधिकार नहीं हैं। राज्य को मनुष्य के अधिकारों की देख-रेख करनी चाहिये, और "राज्य को चाहिये कि वह मनुष्य के लिए ऐसी आवस्थाएं पैदा करे, जिनके बिना, उसकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती।"[1] व्यक्ति को, राज्य का नागरिक होने से ही अधिकार नहीं मिल जाते। राज्य भी, अन्य अनेक संघों की तरह है, जिस का मनुष्य एक सदस्य है, और इस प्रकार, मिलजुलकर सभी उसके कल्याण के भागीदार हैं। "जहां कहीं मनुष्य, मिलकर, एक साथ ऐसा काम करने का बीड़ा उठाते हैं, जिससे कि सबका कल्याण होता हो, तो वहीं इस संस्था के वास्तविक अधिकार हो जाते हैं, जिनको उतना ही मनवाया जा सकता है, जितना कि एक राज्य के अधिकारों को।"[2] मनुष्य के अधिकारों को सीमाबद्ध कर देना, इसलिए कि वह राज्य का एक सदस्य है, "उसके व्यक्तित्व की रक्षा न करके, उसे नाश कर देने के तुल्य है।"[3] इसके अतिरिक्त, अधिकारों का कोई ऐसा क्रम, जिसका आधार केवल कानून ही हों, स्थायी नहीं रह सकता। कानून बदला करते हैं और साथ ही, अधिकार भी। दूसरे अर्थों में अकेला कानून ही अधिकारों का स्रोत नहीं है अधिकारों का असली स्रोत है, भले और बुरे में अन्तर देख सकने की हमारी विवेचन शक्ति। प्लेमेनाज़ का कथन है, कि "अधिकारों का आधार है, बुरे के विरुद्ध, भले को होना चाहिये।"

उपरोक्त युक्तियां नितांत विश्वसनीय हैं। वैध सिद्धांत अधिकारों की संतोषजनक व्याख्या नहीं करते। परन्तु वह सब कुछ जोकि वैध सिद्धांत के प्रतिपादक कहते हैं, उपेक्षित नहीं किया जा सकता। वे अधिकार जिनका राज्य की विधि द्वारा समर्थन नहीं होता, केवल स्वत्व रह जाते हैं। साथ ही साथ कोई भी राज्य उन स्वत्वों की अवहेलना नहीं कर सकता जो मनुष्य के नैतिक उत्थान के हेतु आवश्यक

1. Ibid, p. 93. 2. Ibid, p. 97. 3. Ibid.

हैं। टामस पेन, जो कि प्राकृतिक अधिकारों का निष्ठावान् समर्थक था, कहा करता था कि प्रत्येक नागरिक अधिकार प्राकृतिक अधिकार से बनता है और वह कहता था कि प्राकृतिक अधिकार "वह है जो मनुष्य जीवन के अस्तित्व से सबंधित है। इसी प्रकार के सभी बौद्धिक तथा मानसिक अधिकार होते हैं और वे समस्त अधिकार भी होते हैं, जो अपने आराम तथा प्रसन्नता के लिए चाहता है और जो कि दूसरों के प्राकृतिक अधिकारों के बाधक नहीं हैं।[1] पेन का वास्तविक भावार्थ यह है कि जनता के प्रतिनिधियों को हमारे उन समस्त अधिकारों की जिनका कि कोई नैतिक आधार है, वैध मान्यता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। इसी प्रसंग में लास्की अपना सुप्रसिद्ध वक्तव्य देते हैं: "प्रत्येक राज्य उन अधिकारों द्वारा जाना जाता है जिनका कि वह पालन करता है।" कोई भी राज्य अधिक दिनों तक उन स्वत्वों की अवहेलना नहीं कर सकता। जो मनुष्य की प्रसन्नता में अधिकतम सहयोग देते हैं। इस प्रकार अधिकार के नैतिक तथा वैध दो पक्ष हैं।

अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त—अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि अधिकार इतिहास की उपज है। इनका आदि-मूल उन रीति-प्रचलनों में है जिन्हें समाज ने व्यवहार रूप में लाभदायक पाया और वे एक पुश्त से दूसरी पुश्त को मिलते रहने पर, अन्त में अन्तर्वर्त्ती मानें जाकर, मनुष्य के हक या अधिकार स्वीकार कर लिये गये। रिची (Ritchie) लिखता है कि "वे अधिकार, जिन्हें लोग समझते हैं कि उनके होने चाहियें, वास्तव में वही अधिकार हैं जिनके वे अभ्यस्त चले आ रहे हैं, अथवा, जो रिवाजी तौर पर (गलत या सही) उनके हो चुके हैं। रिवाज ही आदिम कानून है।" प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या करते हुए, ऐतिहासिक मतावलम्बी कहते हैं कि रीति रिवाज, इन अधिकारों की स्वीकृति है, और मनुष्य की समुन्नति के लिए ही इन्हें मौलिक माना जाता है, क्योंकि एक दीर्घकालीन रिवाज में यह बने चले आ रहे हैं

आलोचना—निश्चय ही अधिकारों के ऐतिहासिक मत में बहुत कुछ सत्य है और हमारे बहुत से अधिकारों के आदि-मूल वही आदिम रिवाज ही हैं। परन्तु, इसका यह मतलब नहीं है कि सभी अधिकारों का मूल रीति-रिवाजों में ही पाया जा सकता है। जब अधिकार, केवल रिवाजों से कसकर बंधे रहते हैं, तो समाज की गतिशीलता हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है, और साथ-साथ अधिकारों की परिवर्तनशीलता भी। देश और काल के साथ अधिकारों में परिवर्तन हो जाता है। अतः इतिहास अकेला ही अधिकारों का आधार नहीं हो सकता और सभी अधिकारों के आधार रीति रिवाजों में नहीं खोजे जा सकते।

अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त—आदर्शवादी सिद्धांत को व्यक्तिवादी सिद्धांत भी कहते हैं। इसके अनुसार अधिकार मनुष्य के आंतरिक और वास्तविक उत्थान के लिए आवश्यक वाह्य अवस्था है। तदनुसार बोज़ अधिकारों की व्यवस्था के विषय में कहता है कि यह "समस्त वाह्य अवस्था है जो कि बौद्धिक जीवन के लिए आवश्यक है"। इसी प्रकार हैनरीसी अधिकार की परिभाषा करते हैं कि यह

1. Rights of Man, pp. 32–34.

वह वस्तु है "जो कि वास्तव में मनुष्य की उन भौतिक अवस्थाओं के लिए आवश्यक है, जो कि उसके व्यक्तित्व की स्थिति और परिपूर्णता के लिए अपेक्षित है।" संक्षेप में, आदर्शवादी सिद्धांत उन अवस्थाओं की उत्पत्ति पर बल देता है जो मानव को उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायक होती हैं। इस प्रकार मानव-व्यक्तित्व की परिपूर्णता वह लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए सारे अधिकारों का प्रयोग होता है। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व का अधिकार मानव का मौलिक अधिकार है और दूसरे अधिकार उसी से निकलते हैं। उदाहरण के लिए, जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार और इसी प्रकार दूसरे प्रमुख अधिकार मानव के व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देने से जाने जाते हैं। यदि मैं इस अधिकार का दुरुपयोग करता हूं और इससे मेरे स्वयं की उन्नति में बाधा पड़ती है तो समाज को मुझे इससे वंचित रखने का अधिकार है। अधिकारों की यह व्याख्या तीन मुख्य बातें उपस्थित करती है जिनका कि इस अध्याय के आरम्भ में उल्लेख हो चुका है। पहली तो यह है कि अधिकार समाज में होते हैं, क्योंकि वे समाज में होते हैं, अतः वे मनुष्य की प्रकृति में समाविष्ट है और मनुष्य की अपनी प्रकृति अपनी भलाई चाहती है। अपनी भलाई का अर्थ है दूसरों की भलाई। क्योंकि अकेले व्यक्ति की भलाई संभव नहीं है। दूसरे प्रत्येक अधिकार का एक तत्स्थानीय (Corresponding) कर्त्तव्य है अर्थात् मेरे आत्म-विकास का अधिकार, दूसरों के विकास के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करता। अन्ततः व्यक्तिगत अधिकार मनुष्य की परिपूर्णता के मौलिक अधिकार के आधीन हैं। समाज को यह देखना है कि मेरे अधिकारों का उपभोग मेरे व्यक्तित्व की परिपूर्णता में सहायता करता है। यदि इन अधिकारों में से कोई भी अधिकार मुझे उस लक्ष्य प्राप्ति में सहयोग नहीं देता तो समाज मुझे उस अधिकार के उपभोग से वंचित कर सकता है। सारांश यह है कि कि मेरे आत्म-विकास का अधिकार अन्य के आत्म-विकास के अधिकार जैसा ही है, जिनके साथ मैं सामुदायिक जीवन व्यतीत करता हूं। इस प्रकार अधिकारों की वह व्यवस्था अनेक भावों से गठित है जोकि प्रकृति से नैतिक है और मनुष्य और समाज के उत्थान में साथ-साथ सहयोगिनी ह।

अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत मनुष्य की नैतिक एवं लोक-तंत्रीय भावना को उभारता है क्योंकि यह अधिकारों को वैधता की अपेक्षा नैतिकता से संबंधित करता है। दूसरे, यह मानव के आत्म-विकास को समाज के अधीन नहीं करता। दोनों एक-दूसरे के ऊपर प्रभाव डालते हैं। यह सिद्धांत कैण्ट के साथ मेल खाता है कि किसी मनुष्य को दूसरे के उद्देश्य का साधन नहीं समझा जायेगा। यह प्रत्येक आदमी से "यह कहता है कि मानव को अपने शरीर में खोजे और दूसरों के शरीर में एक उद्देश्य की तरह सोचे साधन की तरह नहीं।" परन्तु वास्तविक कठिनाई नैतिक स्वतन्त्रता के माप को निश्चित करने में खड़ी होती है। प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण आत्म-विकास के लिए कौन-कौन-सी परिस्थितियां आवश्यक होनी चाहिएँ? यदि व्यक्तिगत भलाई और सामाजिक भलाई में संघर्ष हो तो दोनों में किस प्रकार सामंजस्य किया जाय।

अधिकारों के सामाजिक कल्याण के सिद्धांत—सामाजिक कल्याण के सिद्धांत के समर्थक कहते हैं कि अधिकार सामाजिक कल्याण की परिस्थितियां हैं। वे समाज

द्वारा निर्मित हैं एवं रीति परम्परायें और सामाजिक अधिकार "सब समाज के हित के प्रति आत्म-समर्पण करें।" इस बात का प्रमाण कि समाज के लिए क्या लाभदायक है अधिकाधिक मनुष्यों को अधिकाधिक प्रसन्नता होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, भाषण के अधिकार को लीजिए। यह एक निरपेक्ष अधिकार नहीं है। यह एक समान समुदाय के अधिकारों में सीमित है। इसी प्रकार संपत्ति के अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि दूसरों को हानि पहुंचा कर थोड़े से लोग फलें-फूलें। उपयोगितावादी बेंथम और मिल इस सिद्धांत के वास्तविक प्रतिपादक हैं। लास्की भी अधिकारों के इस लक्षण को स्वीकार करते हैं यद्यपि केवल अपने समय की परिस्थितियों के नये प्रसंग में। वे कहते हैं कि अधिकार का माप उसका उपयोग है और अधिकार का माप समाज के समस्त सदस्यों के लिए उसका मूल्य है।[1] वह कहते हैं, वे स्वत्व जिन्हें राज्य को मान्यता देनी चाहिए "वे हैं जो कि इतिहास की दृष्टि में यदि वे पूरे न हों तो विनाश लाते हैं।" अधिकार, समाज से स्वतन्त्र नहीं हैं वरन् इसी में विद्यमान हैं। "तब हम रखते हैं .... इसको एवं अपनी सुरक्षा के लिए.............. इस प्रकार अधिकार कार्य से सुसम्बद्ध है।" इस प्रकार हमारे अधिकार हैं जिनसे हम सामान्य भलाई के लिए योग-दान कर सकें। तदनुसार मेरे अधिकार मेरे समाज की भलाई के लिए योग देने पर सिद्ध होते हैं। "मेरे जन-कल्याण के विरुद्ध कोई अधिकार नही हो सकते। क्योंकि अन्ततः मुझे उस कल्याण के विरुद्ध अधिकार देना है जो स्वयं अभिन्न रूप से मेरे कल्याण से संबंधित है।"[2] इस प्रकार अधिकार उनके व्यक्ति एवं समाज के लिए उपयोगी होने पर सिद्ध होते हैं।

अधिकारो के सामाजिक कल्याण का सिद्धांत अपनी प्रशंसा के लिए बहुत सामग्री रखता है, किन्तु यह कोई नही बता सकता कि वास्तव में सामाजिक कल्याण क्या है? निकट के गत वर्षों में सामाजिक भलाई के नाम पर मानव के व्यक्तित्व के प्रति बहुत कुछ राजनीतिक अन्याय किया गया है। सामाजिक भलाई की प्रशंसा में मनुष्य के व्यक्तित्व एवं उसके अधिकारो का बहुधा बलिदान किया गया है। कोई भी सामाजिक व्यवस्था जो व्यक्ति के व्यक्तित्व की अवहेलना करती है और सामान्य हितो की डींग मारती है, बहुत समय तक टिक नही सकती। अवश्य ही समाज के उस अंग से, जिसका व्यक्तित्व कुचल दिया जाता है और जिसके अधिकारो को हड़प लिया जाता है, विरोध को जन्म देगा।

निष्कर्ष—अधिकारों के स्वरूप की व्याख्या के लिए आदर्शवादी सिद्धांत और सामाजिक कल्याण के सिद्धांतो का समन्वय सर्वोत्तम होता है। व्यक्ति को तथा समाज की भलाई का साथ है। दोनों का विभेद नही हो सकता। समाज एक अंगभूत इकाई है। अंगो का अस्तित्व पूर्ण के आधार पर है और पूर्ण का अंगो पर। सामाजिक कल्याण व्यक्ति के कल्याण पर निर्भर है।

---

1. Grammar of Politics, p. 92.
2. Ibid p. 96.

लिए समाज से दूर हटा देना चाहिए, ताकि वह अपने को सुधार कर, अन्य सभ्य नागरिकों की नांई, समाज में अपना स्थान फिर से प्राप्त कर ले और समाज के कल्याण में योगदान कर सके।" यदि परिस्थिति अनुकूल हो, तो यह दावा किया जा रहा है कि एक सॉल भी पाल बन सकेगा। अतएव फांसी की सजा हटा देनी चाहिए और कारागारों के स्थान पर चरित्र-सुधारक जेल स्थापित किये जाने चाहियें।

जीवन के अधिकार की यह भी मांग है कि ऐसे व्यक्तियों को दंड दिया जाय, जो आत्महत्या की चेष्टा करते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति हमारे समाज का एक पूरक-अंश है। यदि आत्महत्या की अनुमति दे दी जाय तो ऐसी बहुत-सी बहुमूल्य जानें नष्ट हो जायंगी जो समाज का नैतिक बल बढ़ाने वाली सिद्ध हो सकती थीं। व्यक्ति की सुरक्षा ही क्या हुई यदि उसे अपनी जान खुद लेने की आज्ञा दे दी जाय? आत्महत्या, एक ऐसी चेष्टा है जिससे समाज के संगठन पर चोट लगती है और उसका विच्छेद होता है। अतः इसका भी दंड मिलना चाहिए।

किन्तु, जीवन का अधिकार अपनी ही इच्छा पर निर्भर नहीं है। यदि राज्य अपने नागरिकों को सुरक्षा की गारंटी देता है, तो नागरिकों के भी, राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं। जैसे युद्ध के अवसर पर अथवा अन्य किसी संकट काल में, नागरिकों का यह फर्ज है कि वे अपने प्राण देकर भी राज्य के प्रभुत्व व सत्ता की रक्षा करें और उस पर कोई आंच न आने देवें। इस प्रकार, जीवन का अधिकार, कानून की आज्ञा पालने पर निर्भर है।

स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दगमन के अधिकार (Right to Liberty & Free Movement)—स्वतंत्रता और स्वच्छंदगमन के अधिकारों का यह मतलब है कि प्रत्येक नागरिक, अपनी मानसिक व शारीरिक शक्तियों का जीवन को समुन्नत करने के लिए सम्पूर्ण स्वतंत्रता से प्रयोग कर सकता है। व्यक्ति की गति-विधि पर दूसरे व्यक्ति अथवा अधिकारियों के किसी अनुचित शासन द्वारा, कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए। "गति-विधि-विहीन जीवन निरर्थक होगा और मानसिक व शारीरिक शक्तियों के विकास के सुअवसर न रहने से जीवन, पशुओं के स्तर से ऊंचा नहीं उठ सकेगा?[1] स्वतंत्रता का अधिकार इस धारणा से पैदा होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज की भलाई में कुछ न कुछ योग देना ही है। दासता, स्वतंत्रता का व्यक्तिक्रम है, क्योंकि यह एक ऐसी सामाजिक कुरीति है जिसके कारण गुलाम या दास को अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार ढालने के स्वतंत्र अवसर नहीं मिलते।

निजी या वैयक्तिक स्वतंत्रता के और भी अर्थ हैं। जैसे, किसी व्यक्ति को, राज्य के कानूनों के विपरीत किसी भी प्रकार, बेजा तौर पर रोका, नजरबन्द या गिरफ्तार नहीं किया जा सकता; जबतक किसी व्यक्ति के विरुद्ध किसी अपराध का अभियोग लगाकर, उसे स्थापित एक न्यायालय के सामने पेश नहीं किया जाता, या उसे वहां से दंड नहीं दिया जाता, उसके शरीर को बंधन में रखना सर्वथा अनुचित है। उन देशों में जहां कि यह अधिकार मौजूद हैं, यदि किसी नागरिक की स्वतंत्रता पर स्वेच्छाचारी प्रतिबन्ध लगाया जाता है, तो उसके सामने अपनी स्वतंत्रता बहाल कराने के दो रास्ते

1. Gilchrist op. citd. P. 139.

हैं। प्रथम वह न्यायालय से, "वैयक्तिक स्वतंत्रता का शासन-पत्र" (Writ of Habeas Corpus) प्राप्त करने की प्रार्थना कर सकता है। शासन-पत्र मिलने पर, बन्दी को अदालत के सामने लाना ही पड़ेगा, जो उसकी गिरफ़्तारी या नजरबन्दी के कारणों पर विचार करके, यदि गिरफ़्तारी अवैध सिद्ध होगी, तो उसे मुक्त कर देगी। दूसरे, उक्त अभियुक्त, अपनी गिरफ़्तारी की क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है। क्षतिपूर्ति का मतलब है, यदि गिरफ़्तारी बेजा तौर पर हुई है, तो बेजा हरकत करने वाले पर अदालत में हरजाने का दावा कर सकता है या न्यायालय से उसे दंड दिला सकता है।

स्वतंत्रता और वैयक्तिक स्वच्छंदता भी असीम नहीं हैं। राष्ट्रीय संकट-काल अथवा युद्ध की अवस्था में सरकार द्वारा नागरिकों की गति-विधि पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। युद्ध तथा अन्य राष्ट्रीय संकटों का यह तकाजा है कि सरकार के पास विशाल विचारशीलता-युक्त अधिकार रहने चाहियें। तिसपर भी यह अधिकार असाधारण होने के कारण असाधारण परिस्थितियों में ही प्रयुक्त होने चाहियें, शान्ति और अमन के समय इनका सहारा न लिया जाना चाहिए।

काम करने का अधिकार (The Right to Work)—काम करने का अधिकार जीवन के अधिकार में समाविष्ट है, क्योंकि विवेक के आधार पर संगठित समाज में मनुष्य को अपने परिश्रम के पुरस्कार पर जीवन-यापन करना चाहिए। तदनुसार, यह आवश्यक है कि समाज उसे अपने कामों को सम्पन्न करने के लिए और अपने जीवन निर्वाह के लिए आजीविका उपार्जन की सुविधाएं प्रदान करे। यदि राज्य उसे ऐसा अवसर प्रदान करने में असफल रहता है तो वह उसे उन सब साधनों से वंचित करता है, जिनसे उसके व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। संघर्ष करता हुआ और भूखों मरता हुआ मनुष्य समाज पर एक लांछन है। अब इसका बड़े जोरों से समर्थन किया जा रहा है कि आधुनिक राज्य को अपने नागरिकों के लिए कार्य के अधिकार की गारंटी करनी होगी। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि किसी विशिष्ट कार्य के लिए अधिकार का वचन दिया जाय। यदि मैं बेकार हो जाता हूं तो मुझे तत्सम कार्य की प्राप्ति का अधिकार नहीं। कार्य के अधिकार का इस अधिकार से बढ़ कर अर्थ नहीं हो सकता कि मनुष्य अपने को समाज की भलाई और सेवा के कार्यों में लगाए, जिनकी उसे जरूरत है।[1]

कार्य के अधिकार में यह भी शामिल है कि हरेक कर्मचारी को उसके श्रम के लिए पर्याप्त वेतन दिया जायगा। उसे कुछ सुख-सुविधाओं सहित पर्याप्त भोजन, वस्त्र और आवास प्राप्त करने योग्य होना चाहिए। यदि उसका वेतन जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने भर को ही है, तो वह शारीरिक रूप में जर्जरित हो जायगा। मानव-यंत्र को यदि योग्यतापूर्वक कार्य करना है, तो उसे उचित परिपोषण की आवश्यकता होगी, सुख-सुविधाएं मानव-यन्त्र को केवल तरल और सरल ही नहीं बनाती प्रत्युत मोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति भर से जीवन को कुछ अधिक प्रदान करती हैं। साथ ही कर्मकर को उचित घंटों के लिए ही काम करना चाहिए। मानव-श्रम मनोवैज्ञानिक आधार पर हो सकता है और उसकी मनोवैज्ञानिक मर्यादाएं हैं। कार्य के लम्बे घंटों का अर्थ है व्यक्तित्व का ह्रास, क्योंकि कर्मकर के पास रचनात्मक कार्यों के लिए समय नहीं होगा। मनुष्य

1. Laski, *op. citd*, p. 106

को जो वस्तु नागरिक बनाती है, वह है विचार। यदि उसके पास विचार करने के लिए समय नहीं है, तो वह नागरिक के गुण को खो बैठता है। एक सद्-नागरिक का अर्थ है अच्छा राज्य। इसके बाद शक्ति की एक "नागरिक मर्यादा" (Civic Limit) है, "राज्य अपने निजी स्वार्थ के लिए उसे विस्तृत करने की स्वीकृति दे सकता है?"[1]

रूस के अलावा थोड़े ही राज्यों ने कार्य के अधिकार की वैध स्वीकृति दी है। किन्तु कोई भी राज्य चिरकाल तक इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। राज्य के सामने दो विकल्प हैं। उसे या तो प्रत्येक नागरिक को कार्य देना होगा अथवा जब तक वह बेकार रहता है, उस समय तक उसे जीवन-यापन का कोई सहारा देना होगा। दूसरे विकल्प के लिए बेकारी का बीमा इसका उपाय है। इसी प्रकार, राज्यों को हस्तक्षेप करना चाहिए और देखना चाहिए कि कर्मकर शिष्ट जीवन-मान के अनुसार पर्याप्त वेतन प्राप्त करते हैं और वह उचित घंटों के लिए काम पर लगाये जाते हैं, जिससे उन्हें अपनी मानसिक शक्तियों को विकसित करने का काफी समय मिलता है। इस लक्ष्य के लिए फैक्ट्री विधान का उपाय है।

शिक्षा का अधिकार (Right to Education)—शिक्षा के अधिकार का आशय है कि राज्य को अपने नागरिकों को शिक्षित करने के लिए पर्याप्त प्रबन्ध करने चाहिएं। शिक्षा से व्यक्ति कार्य की क्षमता से संपन्न और अच्छे नागरिक बनते हैं। "सार्वजनिक कल्याण के लिए अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार योगदान के रूप में" नागरिकता की व्याख्या की गई है।[2] स्वतंत्र वैयक्तिक विकास के लिए शिक्षा का होना बहुत जरूरी है। यह नागरिकता के कार्यों के लिए मनुष्य को योग्य बनाती है। लास्की कहते हैं, "अन्त में, शक्ति उन लोगों की है, जो विचारों का निर्माण कर सकते हैं और उसके सार को ग्रहण कर सकते हैं।"[3] एक अशिक्षित व्यक्ति न तो राजनीति को समझ सकता है न ही वह अपने हितों के लिए चौकन्ना बन सकता है। इस तरह का नागरिक दूसरों का दास होकर ही रहेगा। उसे अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया विकसित करने का अवसर नहीं होगा। "जीवन-क्षेत्र में परीक्षणों के अवसर आने पर ऐसा अधूरा मनुष्य बुद्धि से अनियंत्रित प्रवृत्तियों द्वारा ही शासित होगा।"[4]

तथापि शिक्षा के अधिकार का यह अर्थ नहीं कि सब नागरिकों के लिए समान मानसिक प्रशिक्षण हो। इसका केवल यह आशय है कि सब नागरिकों को अपनी विशेष रुचि के अनुकूल शिक्षा के क्षेत्र में समान अवसर प्राप्त हो। फिर एक अच्छा नागरिक बनने के लिए शिक्षा का एक अनिवार्य न्यूनतम स्तर होना चाहिए जिससे नीचे कोई न रह सके। प्रत्येक नागरिक को कम से कम ऐसी शिक्षा तो प्राप्त करनी ही होगी जो उसे अपने लिए, निर्णय करने, चुनने और फैसला करने के योग्य बना सके। "उसे यह अनुभव कराना होगा कि वह इस दुनिया में अपने मस्तिष्क और संकल्पशक्ति के बल पर जीवन की एक रूपरेखा बना सकता है और उसका उद्देश्य निश्चित कर सकता है।"[5]

1. Ibid, p. 111.
2. Ibid, p. 113.
3. Ibid, p. 114.
4. Ibid.
5. Ibid.

संपत्ति का अधिकार (The Right to Property)—सम्पत्ति का अधिकार प्रत्येक को अपनी चल या अचल (Movable or Immovable) संपत्ति का मुक्त प्रयोग और भोग की सुरक्षा प्रदान करता है। इसमे सपत्ति के नितात प्रयोग का अधिकार जीवन-काल मे उपहार या परिवर्तन द्वारा अलग करने का अधिकार और त्यागने का अधिकार समाविष्ट है।

हाल ही में सम्पत्ति के अधिकार के विषय मे विस्तृत चर्चा होने लगी है। इसे रखने या हटाने के लिए विभिन्न तर्क उपस्थित किये गए हैं। जो इसे रखने के पक्ष का समर्थन करते है, उनका कहना है कि सपत्ति का नीतिशास्त्र (Ethical) विपयक आधार है और यह मनुष्य के नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है।[1] यह योग्यता के लिए पुरस्कार है, और तदनुसार, यह मनुष्य के अस्तित्व के लिए किसी रूप में आवश्यक है। इसके अलवा सम्पत्ति वाला मनुष्य भूखो मरने के भय से सरक्षित होता है और वह बुद्धिमान अन्वेपक बनने के लिए पर्याप्त सुविधा प्राप्त कर सकता है और इस तरह ऐसी अवस्थायें उत्पन्न कर सकता है जिनसे मानवता की उन्नति हो सकती है। अन्ततः, इसके समर्थक यह तर्क पेश करते है कि सम्पत्ति देशभक्ति के गुणो, परिवार के प्रति स्नेह, उदारता, खोज की प्रवृत्ति और शक्ति की—जो सब समाज के क्रमिक विकास के लिए अत्यावश्यक है, पोषक है।

जो लोग इसे हटाने के समर्थक हैं, उनका कहना है कि यदि सम्पत्ति के अधिकार को जारी रहने दिया जाए, तो समानता असम्भव है। वे कहते है कि सब हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बुराइयों का कारण असमानता है। कुछ लेखक, जो निजी सम्पत्ति के वर्तमान रूप की व्यवस्था का विरोध करते हैं, उसे बनाए रहने को इस सीमा तक न्याय्य ठहराते हैं जहा तक यह मानव व्यक्तित्व को उन्नत करने के लिए दरकार है। उदाहरण के लिए, लास्की इसे पूर्णतया हटाने के पक्ष मे नही है। किन्तु वे उस सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता नही देते जो किसी के निजी श्रम का परिणाम नही है अथवा जो सामाजिक कल्याण के विरुद्ध है अथवा जो समाज मे उसके कार्य के लिए आवश्यक नही है।[2] वे स्वामित्व (Owning) और उपार्जन (Earning) मे स्पष्ट भेद करते है और उनका मत है, "जिनकी सपत्ति दूसरे मनुष्यो के यत्नो का फल है, वह समाज में परान्न-भोजी (Parasitic) हैं।[3]

रूस को छोड़ कर प्रायः प्रत्येक राज्य निजी सपत्ति के स्वामित्व को मानता है और उसकी गारटी करता है। किन्तु सम्पत्ति का अधिकार, अन्य अधिकारो की तरह, स्वेच्छाचारी नही है। इसके लिए मर्यादाए है। प्रत्येक राज्य के नियम स्वामित्व और निजी सपत्ति के परिवर्तन को नियमित करते है। इसी प्रकार, राज्य के अधिकार व्यक्ति के अधिकारो को लाघ सकते है। यद्यपि ऐसे अधिकार केवल अस्थायी होते है। द्वितीय विश्व महायुद्ध के समय ऐसा कुछ होता हमने देखा ही है जबकि सार्वजनिक उद्देश्यो के लिए सरकार ने कई मकानो, भवनो, स्थानों और कारखानों को अपने अधिकार मे ले लिया था। इसके अलावा

1. Gilchrist, op. citd. p. 141.
2. A Grammar of Politics, ch. V.
3. Ibid, p. 184.

सरकार या तो दंड के रूप में अथवा सार्वजनिक कल्याण के लिए संपत्ति को जब्त भी कर सकती है। यहां तक कि सरकार व्यक्ति की संपत्ति के कुछ भाग ही टैक्सों के भुगतान के लिए भी मांग कर सकती है।

अनुवन्ध का अधिकार (The Right to Contract)—अनुवन्ध के अधिकार का आशय है कि प्रत्येक नागरिक दूसरों के साथ समानता और अपने साथियों को प्राप्त तदनुरूप अवसरों के आधार पर कार्य करने, जीने और स्वतंत्रतापूर्वक अनुवन्ध कर सकता है। असंदिग्ध रूप में, अनुवन्ध समाज का अनिवार्य आधार है। यह व्यापार और सामाजिक संगठनों को परस्पर जोड़ता है। जो राज्य अपने नागरिकों के अनुबंध के अधिकार को सुरक्षित नहीं करता, वह सभ्य होने का दावा नहीं कर सकता, और इसलिए प्रगतिशील भी नहीं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान ने मान्यता दी है कि "अनुवन्धों के दायित्व को क्षति पहुंचाने वाला कानून" कोई भी राज्य नहीं वनाएगा। इसी प्रकार की धारा भारत के संविधान में भी रखी गई है।

किन्तु, अनुवन्धों की कुछ एक किस्में हैं जिन्हें राज्य स्वीकार नहीं करते। कोई भी राज्य दासों के व्यापार या घूसखोरी के अनुवन्ध को मान्यता नहीं देता। इसी प्रकार सार्वजनिक कल्याण के सब विरोधी अनुवंध अर्थात् अवैध उद्देश्यों के लिए किये गए अनुवन्ध औरतों का व्यापार अथवा ऐसे अनुवन्ध जिनसे राज्य की रक्षा खतरे में हो, कानून-विरुद्ध माने जाते हैं। भारत के संविधान की धारा २३ (१) मानव-प्राणियों के व्यापार की मनाही करती है। धारा २४ आदेश करती है कि १४ साल की आयु से कम का बच्चा कारखानों या खानों या अन्य शारीरिक श्रम के कार्यों में नियोजित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार राज्य केवल उन अनुवंधों का समर्थन कर सकता है, जो उस लक्ष्य के अनुरूप हैं, जिनके लिए इसका अस्तित्व है।

भाषण, समाचार-पत्र और सभा का अधिकार (The Right to Speech, Press and Assembly):—भाषण का अधिकार मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता है। ऐसा कोई समाज नहीं हो सकता, जिसमें उसके सदस्यों को अपनी राय प्रकट करने की स्वतंत्रता न हो और वह विना वाधा के विचार विनिमय न कर सकें। यह केवल भाषण का ही माध्यम है जिसके द्वारा हम दूसरों के परामर्शों और अनुभवों से लाभ उठाते हैं। स्वतंत्र सम्मति प्रकट न कर सकने के कारण समाज का विकास रुक जाता है। भाषण आत्मरक्षा का भी साधन है। जब हम अपनी राय प्रकट करने के लिए स्वतंत्र हैं, तो हम दूसरों के अत्याचार और अन्याय का विरोध कर सकते हैं, भले ही वह सरकार का अत्याचार हो अथवा किसी व्यक्ति विशेष का। इसलिए भाषण के अधिकार का अर्थ है, "सामान्य विषयों पर राय प्रकट करने की स्वतंत्रता।" इसका आशय है कि प्रत्येक व्यक्ति सरकार के किसी प्रकार के हस्तक्षेप के विना सार्वजनिक रूप में विचार करने और राय जाहिर करने के लिए स्वतंत्र है। इसमें यह भी शामिल है कि प्रत्येक व्यक्ति सरकार की नीति की आलोचना करने के लिए भी स्वतंत्र होगा। मनचाहा सोचना और सोच के अनुसार कहना, ये स्वतंत्रताएं राजनीतिक सत्य की खोज की दो अनिवार्य कुंजियां हैं।

"परन्तु अकेला सत्य ही वाणी की स्वतंत्रता का निर्देशक नहीं हो सकता।" और

इसी कारण बात कहने की स्वतंत्रता भी अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है। समाज की भलाई और दूसरों के अधिकारों के लिए मान, दोनों की यह मांग है कि वाणी की स्वतंत्रता पर कुछ संयम रखे जाय। ऐसे भाषण, जिनसे सार्वजनिक सदाचार भ्रष्ट होने की सम्भावना हो, या जो राजद्रोह फैलाकर वैधरूप से स्थापित सरकार को नीव को हिलाने के हेतु हों, राज्य के कानून द्वारा दंडनीय होते है। भाषण की स्वतंत्रता के अधिकार पर लगाए गये ऐसे नियंत्रण व्यक्ति की आजादी कम करने की नीयत से नही लगाए जाते, वरंच दूसरों की स्वतंत्रता तथा राज्य की दृढ़ता को कायम रखने के लिए इन्हें लागू किया जाता है। युद्धकाल में भाषण की स्वतंत्रता के अधिकार पर मतभेद है। किन्तु, इतना सभी को स्वीकार है कि राष्ट्रीय संकटकाल में प्रत्येक नागरिक को अपने ऊपर अधिकाधिक बंधन स्वीकार करने चाहियें। शान्ति और अमन के समय, कई बातें कह दी जाती है। किन्तु वही बातें, युद्धकाल में कहे जाने से युद्ध में सफलता प्राप्ति पर उल्टा प्रभाव डाल देंगी। अतः संकट-काल जबतक बना रहे, तबतक ऐसे भाषणों की आज्ञा नही दी जा सकती। लास्की का मत तो यह है, कि युद्ध-काल में भी सरकारों को भाषण-स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नही दिया जाना चाहिए। इनका कहना है कि सरकार की युद्ध-नीति पर जनता को अपने विचार प्रकट करने की खुली छुट्टी होनी चाहिए। आपने लिखा है कि "सरकार के प्रबन्धक-वर्ग को बाधा देने का कोई अधिकार नही, चाहे जनता का मत कुछ भी हो। नागरिको की सम्मतिया प्रकट होनी चाहिएं, ताकि सरकार को नीति पर उनका पूरा प्रभाव पडे। उक्त सम्मतियां या विचारो का दंडनीय बनाया जाना, विशेषकर ऐसे समय में जबकि नागरिकता के कार्य को सुचारु रूप से चलाए जाने के लिए यह अनिवार्य है, राज्य की नैतिक नीवों के लिए विनाशकारी सिद्ध होगा।"

भाषण की स्वाधीनता एक अमूल्य अधिकार है। भाषण का अधिकार सामाजिक उन्नति में साधक होने के अलावा, प्रजातंत्र की सफलता का आधार भी है। प्रजातंत्र का मतलब है—समालोचना द्वारा स्थापित सरकार। सरकारी नीति की आलोचना से जनता के विचारों में प्रकाश आता है। अतः आलोचना को, प्रजा की शिकायतें दूर कराने वाली प्रभावशाली शक्ति कहना होगा।

> "सच्ची स्वतंत्रता तभी कि जब उत्पन्न मनुज सर्वविध स्वतंत्र।
> जनता को परामर्श देता बातें करता होकर स्वतंत्र।"
>
> —यूरीपिडिस

भाषण की स्वतंत्रता रहने से सरकारों को भी जनता के मत से लाभ उठाने का अवसर मिलता है। जो सरकार, जनता के मतों का गला घोटती है, वह अपने पाव आप कुल्हाड़ी मारती है। प्रो. लास्की ने इस विचार को संक्षिप्त और सुन्दर रूप से यों बयान किया है: व्यक्ति को अपने सोचे के अनुसार कहने की आज्ञा दे देने का मतलब है—उसके व्यक्तित्व को विकास की एकमात्र तथा अन्तिम सुविधा देना और उसकी नागरिकता को नैतिक प्रौढ़ता प्रदान करना। इसके विपरीत चलना है—प्रस्तुत परिस्थिति (Status quo) का समर्थन करना, लोगों को अपने काम छिपाकर करने पर मजबूर करना, और इस प्रकार उन्हें खतरनाक रास्तो पर चलाना, या फिर उनको अपने [illegible]

कोड-बिल इसका उदाहरण है। शारदा ऐक्ट इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण है। इसी प्रकार, कोई राज्य अस्थायी विवाह को स्वीकार नहीं करता। बहुत से राज्यों में बहु-विवाह वर्जित हो सकता हैं। राज्य द्वारा पति और पत्नी के कुछ कर्त्तव्य तथा अधिकारों को भी स्वीकार किया जाता है। किसी भी राज्य में अल्पवयस्क की वैध स्थिति नहीं है। यद्यपि राज्य-राज्य में यह भिन्न अवश्य है, फिर भी हरेक राज्य में वयस्कता की आयु निश्चित हो चुकी है।

राजनीतिक अधिकार (Political Rights)—राजनीतिक अधिकारों में (१) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार, (२) मत-दान का अधिकार, और (३) आवेदन-पत्र देने के अधिकार सम्मिलित हैं।

सार्वजनिक पद-ग्रहण अधिकार (Right to Public Office)—भारतीय संविधान में प्रत्येक भारतवासी को, सरकारी पद ग्रहण करने में समान अवसर देने की व्यवस्था की गई है।[१] संविधान में व्यवस्था है कि धर्म, नस्ल, जाति अथवा स्त्री पुरुष के लक्षण वंश, जन्म स्थान या किसी एक आधार पर राज्य, में किसी को कोई पद ग्रहण करने से वंचित नहीं किया जायगा।[२] वास्तव में, यह व्यवस्था, प्रजातंत्र राज्य का उपहार ही है, जिसमें प्रत्येक नागरिक के लिए समानाधिकार रखे हैं। निर्धन से निर्धन भारतीय धनी-से-धनी की तरह ऊंचे-से-ऊंचा पद ग्रहण कर सकता है। इसका यह अभिप्राय है कि राज्य की न्याय, वैधानिक, शासन-सम्बन्धी तथा सभी सार्वजनिक नौकरियों के द्वार एक सामान्य नागरिक के लिए खुले हैं। शासन-सत्ता जनता के हाथों में रहने का अर्थ है कि शासन-प्रणाली की और भी निकट से कड़ी देख-भाल हो सकेगी। जान स्टुअर्ट मिल (Mill) की लोक प्रसिद्ध उक्ति "सदा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहना प्रजातंत्र का मूल्य है" का यही सार है।

मतदान का अधिकार (The Right to Vote)—मतदान के अधिकार से हमारा अर्थ यह है, कि प्रत्येक वयस्क नर-नारी नागरिक को, चुनाव के समय अपना वोट डालकर अपना मत प्रकट करना होगा कि वह किन-किन को सरकार के निर्माण में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजना चाहता है। मतदान या वोट देने का अधिकार प्रजातंत्र-राज्य की उपज है। किन्तु प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य भी, अपने प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्रदान नहीं करता। यथा विदेशियों, दीवालियों, नितांत विधर्मियों तथा कुछ अपराधियों और अवयस्कों को मत-दान के अधिकार से वंचित किया जाता है। कुछ राज्यों में, वहां का स्त्री-वर्ग मतदान के अधिकार से वंचित है। किन्तु संपत्ति, नस्ल, धर्म, सम्प्रदाय, शिक्षा या स्त्री पुरुष के भेद को किसी हालत में भी मतदान अधिकार का आधार नहीं बनाया जाना चाहिये। लास्की ने ठीक कहा है, "जब कभी मतदाताओं के समूह को सीमित कर दिया जाता है, तो समझ लीजिये के वर्जित वर्ग का कल्याण भी सबके कल्याण में सम्मिलित नहीं होता।"[३] संपत्ति-स्वामियों ही को

१. धारा १६ (१)
२. धारा १६ (२)
३. Ibid, पृ. ११५.

मताधिकार देना, अप्रजातंत्रवादी है और इससे संपत्तिहीन व्यक्तियों की सदा हानि हुई है। इसी प्रकार, किसी जाति विशेष, सम्प्रदाय अथवा रंग के आधार पर ही मतदान का अधिकार देने से, उसी वर्ग-विशेष को सुविधाएं प्राप्त होती हैं। मिल (Mill) का यह मत कि शिक्षा को मताधिकार की कसौटी मानना चाहिये, आज सर्वमान्य नहीं रहा। आज यही कहा जाता है कि मताधिकार अधिकाधिक विशाल होना चाहिये और एक आदमी के वोट का सिद्धात ही प्रजातंत्री सरकार में प्रचलित रहना चाहिए।

आवेदन-पत्र देने का अधिकार (The Right to Petition)—अपनी शिकायतें दूर कराने के लिए, इस अधिकार के अनुसार प्रत्येक नागरिक को, निजी व सामूहिक रूप से शासन-प्रबन्ध-कर्त्ता या वैधानिक अधिकारी को अर्जी देने का अधिकार है। प्रजातत्र राज्य में शासक-वर्ग को जनता की उचित शिकायतो की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा, क्योंकि इसी वर्ग में अन्तिम प्रभुत्व निहित है। अतः, सरकार को प्रजा की भावनाओ को देख कर उनकी आवश्यकताओं के अनुसार उपचार करना ही चाहिये।

अधिकारों का परिवर्तनीय स्वरूप (The Changing Contents of Rights)—सभी राज्यों में, एक से अधिकारों की सूची नही रखी जाती और न एक से अधिकारों को स्वीकार किया जाता है, और न ही अधिकारों को एक स्थिर सिद्धात रूप में माना जाता है। अधिकार तो परिवर्तनशील होते है और मनुष्य की स्थितियो तथा आवश्यकताओं के अनुसार उनमे परिवर्तन होते रहना चाहिये। जो बातें एक युग में आवश्यक रूप से आधारभूत प्रतीत होती है, वही दूसरे युग में अनावश्यक समझी जाने लगती हैं। हमारी उपयोगिता का माप-दड, समय के साथ बदलने से अधिकारो की महत्ता को समझने के ढग भी बदल जाते हैं। उदाहरणार्थ, निजी सपत्ति बनाने के अधिकार को लीजिये। आज इसके वही अर्थ नही लिये जाते, जो कि १९ वी शताब्दी में लिये जाते थे। फलतः हम अपने अधिकारो की व्यवस्था को कठोर नही बना सकते। हमारे अधिकारो के सिद्धात भी, हमारी वैयक्तिक, सामूहिक व सामाजिक आवश्यकताओ के अनुरूप होने चाहियें। अधिकारो सबधी कोई सिद्धात, जो समस्या के केवल एक ही पक्ष पर प्रकाश डालता है, निश्चय ही झगडे का कारण बनेगा। व्यक्तिवाद का पुराना सिद्धांत केवल व्यक्ति से संबद्ध होने के कारण, आज की राजनीति मे एक भूल माना जाता है किन्तु मनुष्य का कल्याण, कोई ऐसा पृथक् उद्देश्य नही, क्योंकि इस कल्याण में व्यक्तिगत, सामूहिक और अन्त में सारी जाति की भलाई निहित है।

इसलिए, अधिकारों की व्यवस्था पर पूर्ण रूप से ही विचार किया जाना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त राजनीति सक्रिय आदर्शो से ही सबंध रखती है। मनुष्य को चाहिये कि समाज के कल्याणार्थ, इन आदर्शों को क्रियाशील बनाए। मानव के आदर्शों और उसके द्वारा स्थापित सस्थाओ में समुचित समन्वय रहने से ही सामाजिक कल्याण सभव है। समता न रहने से, मानव के उच्च आदर्शों को नही प्राप्त किया जा सकता और न ही मानव को नैतिक उन्नति संभव है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुचे कि अधिकार, परिवर्तनशील है और इनमें मनुष्य की तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुसार ही परिवर्तन हुआ करता है।

कोड-विल इसका उदाहरण है। शारदा ऐक्ट इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण है। इसी प्रकार, कोई राज्य अस्थायी विवाह को स्वीकार नहीं करता। बहुत से राज्यों में बहु-विवाह वर्जित हो सकता है। राज्य द्वारा पति और पत्नी के कुछ कर्त्तव्य तथा अधिकारों को भी स्वीकार किया जाता है। किसी भी राज्य में अल्पवयस्क की वैध स्थिति नहीं है। यद्यपि राज्य-राज्य में यह भिन्न अवश्य है, फिर भी हरेक राज्य में वयस्कता की आयु निश्चित हो चुकी है।

राजनीतिक अधिकार (Political Rights)—राजनीतिक अधिकारों में (१) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार, (२) मत-दान का अधिकार, और (३) आवेदन-पत्र देने के अधिकार सम्मिलित हैं।

सार्वजनिक पद-ग्रहण अधिकार (Right to Public Office)—भारतीय संविधान में प्रत्येक भारतवासी को, सरकारी पद ग्रहण करने में समान अवसर देने की व्यवस्था की गई है।[1] संविधान में व्यवस्था है कि धर्म, नस्ल, जाति अथवा स्त्री पुरुष के लक्षण वंश,जन्म स्थान या किसी एक आधार पर राज्य, में किसी को कोई पद ग्रहण करने से वंचित नहीं किया जायगा।[2] वास्तव में, यह व्यवस्था, प्रजातंत्र राज्य का उपहार ही है, जिसमें प्रत्येक नागरिक के लिए समानाधिकार रखे हैं। निर्धन से निर्धन भारतीय धनी-से-धनी की तरह ऊंचे-से-ऊंचा पद ग्रहण कर सकता है। इसका यह अभिप्राय है कि राज्य की न्याय, वैधानिक, शासन-सम्बन्धी तथा सभी सार्वजनिक नौकरियों के द्वार एक सामान्य नागरिक के लिए खुले हैं। शासन-सत्ता जनता के हाथों में रहने का अर्थ है कि शासन-प्रणाली की और भी निकट से कड़ी देख-भाल हो सकेगी। जान स्टुअर्ट मिल (Mill) की लोक प्रसिद्ध उक्ति "सदा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहना प्रजातंत्र का मूल्य है" का यही सार है।

मतदान का अधिकार (The Right to Vote)—मतदान के अधिकार से हमारा अर्थ यह है, कि प्रत्येक वयस्क नर-नारी नागरिक को, चुनाव के समय अपना वोट डालकर अपना मत प्रकट करना होगा कि वह किन-किन को सरकार के निर्माण में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजना चाहता है। मतदान या वोट देने का अधिकार प्रजातंत्र-राज्य की उपज है। किन्तु प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य भी, अपने प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्रदान नहीं करता। यथा विदेशियों, दीवालियों, नितांत विधर्मियों तथा कुछ अपराधियों और अवयस्कों को मत-दान के अधिकार से वंचित किया जाता है। कुछ राज्यों में, वहां का स्त्री-वर्ग मतदान के अधिकार से वंचित है। किन्तु संपत्ति, नस्ल, धर्म, सम्प्रदाय, शिक्षा या स्त्री पुरुष के भेद को किसी हालत में भी मतदान अधिकार का आधार नहीं बनाया जाना चाहिये। लास्की ने ठीक कहा है, "जब कभी मतदाताओं के समूह को सीमित कर दिया जाता है, तो समझ लीजिये के वर्जित वर्ग का कल्याण भी सबके कल्याण में सम्मिलित नहीं होता।"[3] संपत्ति-स्वामियों ही को

---

१. धारा १६ (१)
२. धारा १६ (२)
३. Ibid, पृ. ११५.

मताधिकार देना, अप्रजातंत्रवादी है और इससे सपत्तिहीन व्यक्तियो की सदा हानि हुई है। इसी प्रकार, किसी जाति विशेष, सम्प्रदाय अथवा रग के आधार पर ही मतदान का अधिकार देने से, उसी वर्ग-विशेष को सुविधाए प्राप्त होती हैं। मिल (Mill) का यह मत कि शिक्षा को मताधिकार की कसौटी मानना चाहिये, आज सर्वमान्य नही रहा। आज यही कहा जाता है कि मताधिकार अधिकाधिक विशाल होना चाहिये और एक आदमी के वोट का सिद्धात ही प्रजातत्री सरकार में प्रचलित रहना चाहिए।

आवेदन-पत्र देने का अधिकार (The Right to Petition)—अपनी शिकायतें दूर कराने के लिए, इस अधिकार के अनुसार प्रत्येक नागरिक को, निजी व सामूहिक रूप से शासन-प्रबन्ध-कर्त्ता या वैधानिक अधिकारो को अर्जी देने का अधिकार है। प्रजातत्र राज्य में शासक-वर्ग को जनता की उचित शिकायतों की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा, क्योंकि इसी वर्ग में अन्तिम प्रभुत्व निहित है। अतः, सरकार को प्रजा की भावनाओं को देख कर उनकी आवश्यकताओं के अनुसार उपचार करना ही चाहिये।

अधिकारों का परिवर्तनीय स्वरूप (The Changing Contents of Rights)—सभी राज्यों मे, एक से अधिकारो की सूची नही रखी जाती और न एक से अधिकारों को स्वीकार किया जाता है, और न ही अधिकारों को एक स्थिर सिद्धांत रूप में माना जाता है। अधिकार तो परिवर्तनशील होते है और मनुष्य की स्थितियो तथा आवश्यकताओ के अनुसार उनमें परिवर्तन होते रहना चाहिये। जो बातें एक युग में आवश्यक रूप मे आधारभूत प्रतीत होती है, वही दूसरे युग में अनावश्यक समझी जाने लगती हैं। हमारी उपयोगिता का माप-दड, समय के साथ बदलने से अधिकारो की महत्ता को समझने के ढग भी बदल जाते हैं। उदाहरणार्थ, निजी सपत्ति बनाने के अधिकार को लीजिये। आज इसके वही अर्थ नही लिये जाते, जो कि १९ वी शताब्दी में लिये जाते थे। फलतः हम अपने अधिकारों की व्यवस्था को कठोर नही बना सकते। हमारे अधिकारो के सिद्धात भी, हमारी वैयक्तिक, सामूहिक व सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहियें। अधिकारो संबंधी कोई सिद्धात, जो समस्या के केवल एक ही पक्ष पर प्रकाश डालता है, निश्चय ही झगड़े का कारण बनेगा। व्यक्तिवाद का पुराना सिद्धात केवल व्यक्ति से सबद्ध होने के कारण, आज की राजनीति मे एक भूल माना जाता है किन्तु मनुष्य का कल्याण, कोई ऐसा पृथक् उद्देश्य नही, क्योंकि इस कल्याण में व्यक्तिगत, सामूहिक और अन्त में सारी जाति की भलाई निहित है।

इसलिए, अधिकारो की व्यवस्था पर पूर्ण रूप से ही विचार किया जाना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त राजनीति सक्रिय आदर्शों से ही सबध रखती है। मनुष्य को चाहिये कि समाज के कल्याणार्थ, इन आदर्शों को क्रियाशील बनाए। मानव के आदर्शों और उसके द्वारा स्थापित सस्थाओं में समुचित समन्वय रहने से ही सामाजिक कल्याण सभव है। समता न रहने से, मानव के उच्च आदर्शों को नही प्राप्त किया जा सकता और न ही मानव की नैतिक उन्नति सभव है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुचे कि अधिकार, परिवर्तनशील है और इनमें मनुष्य की तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुसार ही परिवर्तन हुआ करता है।

मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)

अधिकारों का विधेयक (The Bill of Rights)—अधिकार, जैसाकि हमने ऊपर कहा है, सापेक्ष हैं। सामाजिक कल्याण के ध्येय और दूसरों के अधिकारों ने भी इन्हें सीमित बना रखा है। फिर भी कुछ एक अधिकार–जैसे जीने का अधिकार, संपत्ति बनाने, भाषण और अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार पूजा-पाठ की स्वतन्त्रता इत्यादि—हर समय मनुष्य के अस्तित्व के लिए आधार-भूत अधिकार माने गये हैं। इन अधिकारों को राज्य की स्वीकृति मिलनी चाहिये और सरकार के किसी अधिकारी द्वारा इन पर आक्रमण होने की सूरत में इन्हें रक्षा भी मिलनी चाहिये। आज के आधुनिक प्रजातंत्र राज्य, संविधान में संरक्षण की व्यवस्था करके, नागरिकों को अपने आधारभूत अधिकारों का संपूर्ण उपभोग करने का अवसर दे रहे हैं। प्रजातंत्र सरकार का मतलब है, एक प्रतिनिधि सरकार, अर्थात् बहु-संख्यक दल की सरकार। किन्तु ऐसा संभव है, कि बहुसंख्यक पार्टी, राजनीतिक होड़बाजी अथवा किसी आवेश के प्रभाव में, ऐसा कानून पास कर डाले, जिससे अल्पसंख्यकों के प्रिय अधिकारों की हानि होती हो। अतः आधारभूत अधिकारों को, पार्टियों की राजनीतिक खींचातानी से बचाने और अल्पसंख्यकों को बहुमत के अत्याचार से सुरक्षित रखने के लिए इन्हें, संविधान का खास आश्रय देकर, अधिकारों का विधेयक, नाम दे दिया है।

अधिकारों का विधेयक (Bill of Rights) आधारभूत अधिकारों का घोषणा पत्र है। स्वाधीनता की रक्षा इसी विधि से की गई है। अधिकारों की इस घोषणा की परिभाषा यों की जा सकती है, कि यह "नियमों की ऐसी शृंखला है, जिसे प्रायः लिखित संविधान में सम्मिलित कर लिया जाता है, और नागरिकों के राजनीतिक व असैनिक आधारभूत अधिकारों की व्याख्या करते हुए, साधारण सरकार की शक्ति पर कुछ विशेष प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं जिससे उन अधिकारों का अच्छी तरह उपभोग किया जा सके।"[1] इन अधिकारों को संविधान में उपयुक्त स्थान पर रखकर विशेष बल और संरक्षण प्रदान किया जाता है। इन अधिकारों को, स्वेच्छाचारी रूप से, न तो प्रबंधकर्त्ता और न ही विधान सभा छीन सकती है। यदि कोई अतिक्रमण होता हो तो न्यायालय दखल देकर, संविधान के अधिकारों की संरक्षा करते हुए ऐसे अतिक्रमण का सरकार के अधिकारों के विपरीत (Ultra Vires) घोषित कर देता है। फलतः संविधान बहुसंख्या के जल्दबाजी में किये गए कार्यों पर रोक के रूप में हैं। प्रैसिडेंट विलियम एच. टैफ्ट ने संयुक्त राष्ट्र अमरीका के विधान का संकेत करते हुए कहा था कि संवैधानिक संरक्षण "संपूर्ण लोगों में से उन्हीं को बहुसंख्या पर अधिकारों की क्रियान्विति और अल्प-संख्या के अधिकारों के प्रति मार्गदर्शन के लिए स्वतः लगाए गए निरोध हैं .... अल्पसंख्या और व्यक्ति के अधिकारों को स्थिर रखने के लिए और अपने संवैधानिक संतुलन को स्थिर रखने के लिए हमारे यहां साहसी न्यायाधीश होने चाहिएं, जो न्याय और कानून की मांग के समय बहुसंख्या के विरुद्ध भी निर्णय दे सकें।"[2]

---

1. Appadorai, op. citd. p. 87

२. प्रैसिडैण्ट टैफ्ट का कांग्रेस को विशेष संदेश, १५ अगस्त, १९११, जिसका उल्लेख A. B. Hall के Pouplar Govt. pp.170—71 में हुआ है।

किन्तु सक्रिय रूप में आधारभूत अधिकारों की रक्षा के लिए लिखित संविधान द्वारा प्रदान किये गए संरक्षण उतने स्पष्ट नही होते, जैसे कि वे जान पड़ते हैं। अधिकारों में से कई, जो एक समय आधारभूत समझे जाते थे, समय बीतने पर अप्रचलित हो सकते हैं। किन्तु वे अप्रचलित अधिकार फिर भी स्थिर होते हैं, क्योकि वह संविधान में दिये गए होते हैं और संवैधानिक परिवर्तन करने आसान नही होते, भले ही उनके परिवर्तन की कितनी ही बड़ी जरूरत क्यों न हो।[1] इसके अतिरिक्त संविधान की व्याख्या की जरूरत होती हैं। न्याय-संबंधी परीक्षण की अमरीकी प्रणाली इसे व्यर्थ का संरक्षण प्रकट करती है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सामान्यतः ४ और ५ के अनुपात में विभाजित होते हैं। इसका मतलब यह है कि ९ में से ५ न्यायाधीशों का संविधान पर असली अधिकार है और अक्सर उनके निर्णय राजनीतिक घोषणाओं के रूप के होते हैं।

जो भी हो, हम अधिकारों के विधेयक (Bill of Rights) की राजनीतिक उपयोगिता को कम नही आक सकते। यह सच है कि केवल संवैधानिक संरक्षण लोगों को उनकी मौलिक स्वाधीनताओं के भोग का विश्वास नही दिला सकते। किन्तु आधारभूत अधिकारों के प्रतिज्ञा-वचन, जैसे कि अधिकारो के विधेयक में दिए गए है, मनुष्य के महत्व और मूल्य के विषय में राष्ट्र के विश्वास की स्पष्ट अभिव्यक्ति हैं। वे व्यक्ति को अपनी शक्ति की पूर्ण सीमा तक उन्नत होने के लिए मुक्त वातावरण की रचना करते हैं। इसके अतिरिक्त, अधिकारों की संवैधानिक धारा सरकार की शक्तियो को घेरे में रखने की चेष्टा है जिससे कि मानव-स्वतन्त्रता सरकारी कृत्यकों (Functions) के लिए गौण न हो। सरकार और नागरिको की शक्तियों और कार्यों का इस तरह सामंजस्य किया गया है कि प्रत्येक को सामाजिक व्यवस्था की माग के अनुरूप अधिकतम स्वतन्त्रता मिल सके। साथ ही, अल्पसख्यक सुरक्षित अनुभव कर सकें और इस प्रकार सर्वमान्य कल्याण के लिए सहयोग दें। भारत के संविधान में आधारभूत अधिकारो की सावधानी के साथ चयन की हुई विधि उपस्थित की गई है।[2] भारत में अल्पसख्यको के कई समूह हैं और यदि इस विविधता में से आधारभूत एकता को घड़ा जाता है, तो संविधान के रचयिताओ ने अल्पसख्यको के अधिकारो की प्राप्ति के लिए वैधानिक बहुसख्यकों की भावना पर छोड़ने के बजाय उन्हे संविधान में सम्मिलित कर देने की महान् आवश्यकता का अनुभव किया।

कर्त्तव्य (*Duty*)

कर्तव्य क्या है ? (What is duty)—कर्तव्य एक दायित्व हैं। जब एक आदमी दायित्व को पूर्ण करना चाहता हैं अथवा नही करना चाहता, तो कहा जाता है कि वह उसका कर्त्तव्य है। यह कुछ ऐसा है जिसे हम अन्य सामाजिक प्राणियो के प्रति देनदार हैं। जब हम मिलकर रहते हैं तो हमें दूसरो को भी अपने साथ रहने देना होगा। इसमें कतिपय 'हां, और 'न' अपेक्षित होती ही है। मेरे जीवन के अधिकार में यह कर्तव्य समाविष्ट हो जाता है कि मैं अपने साथियों को जीवन की समान अवस्थाओं

1. Laski, op. citd. p. 135.
2. Part. III.

की स्वीकृति दूं; किसी का अपने प्रति जो अधिकार है, वही दूसरों के लिए कर्त्तव्य का रूप है। वे एक ही वस्तु के दो रूप हैं, "वह एक ही सिक्के के पासे हैं। यदि कोई उन्हें अपने निजी दृष्टिकोण से देखता है, तो वे अधिकार हैं। यदि कोई उन्हें दूसरों के दृष्टिकोण से देखता है, तो वे कर्त्तव्य हैं।"

अधिकारों और कर्त्तव्यों का परस्पर संबंध (Co-relations of Rights and Duties)—इसका मतलव यह हुआ कि प्रत्येक अधिकार का अपने अनुरूप एक दायित्व या कर्त्तव्य होता है। कर्त्तव्यों के विना अधिकार नहीं हो सकते। न्यायोचित मांग अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही हैं। यदि समाज एक व्यक्ति को सुखी अनुभव करने तथा फूलने-फलने के अवसर प्रदान करता है, तो वह उस पर यह दायित्व भी लगाता है कि उसे दूसरों को भी सुखी अनुभव करने तथा फूलने-फलने के अवसरों को प्रदान करना चाहिए। यदि मुझे काम करने और जीविकोपार्जन का अधिकार है तो मेरा कर्त्तव्य है कि मैं दूसरों के लिए भी उसी अधिकार को मानूं और उनके लिए भी ऐसी अवस्थाएं स्वीकार करूं कि जिनमें वे कार्य करने तथा जीविकोपार्जन के अधिकार का आनन्द ले सकें। यह एक साधारण किन्तु सामाजिक आचरण का प्रारम्भिक नियम है: जिस व्यवहार की अपेक्षा आप दूसरों से चाहते हैं, वैसा आप दूसरों के प्रति कीजिए। अधिकारों के लिए मेरी मांग इस तथ्य में से उत्पन्न होती है कि मैं सर्वमान्य लक्ष्य का अनुसरण करने के लिए दूसरों का भागीदार वनता हूँ। यदि मैं उस सर्वमान्य लक्ष्य अर्थात् सामाजिक कल्याण में योग देने के लिए असफल रहता हूँ, तो यह देखना राज्य का काम है कि मैं समाज की नैतिक इकाई के रूप में कार्य करूं। चूंकि वह राज्य ही है, जो अधिकारों की रक्षा करता है और उन्हें शृंखलावद्ध रखता है, और उस वातावरण की रचना करने में सहायक होता है जिसमें मनुष्य अपने-आप की सर्वाधिक उन्नति कर सकता है, इसलिए प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य को अपने उद्देश्य में सफल होने दे। इसका मतलव यह है कि संगठित समाज के रूप में राज्य के प्रति एक नागरिक का कर्त्तव्य पूर्ण दायित्व है।

लोकतंत्री सरकार के उदय से पूर्व सामाजिक उन्नति और कल्याण के लिए पूर्व अवस्था के रूप में "मनुष्य के अधिकारों" पर ही केवल वल दिया जाता था। यहां तक कि आज भी उन देशों में, जिनमें स्वेच्छाचारी राज है, वही लोकप्रिय मांग वनी हुई है। किन्तु जिन देशों में लोकप्रिय सरकारें हैं, उनमें केवल नागरिक के अधिकारों पर ही जोर नहीं दिया जाता प्रत्युत कर्त्तव्यों पर भी। नागरिक के ऐसे कर्त्तव्य केवल राज्य के प्रति ही नहीं, वल्कि अपने परिवार, पड़ोसियों, साथी-नागरिकों और समग्र-रूप में समाज के प्रति भी हैं।

कर्त्तव्य : वैध और नैतिक (Duties: Legal & Moral)—अधिकारों की भांति कर्त्तव्य के भी दो प्रकार हैं—नैतिक और वैध। नैतिक कर्त्तव्य वह है, जो नैतिक आधार पर लोगों के ऊपर लादा जाता है। यह सच है कि नैतिक कर्त्तव्य वैध कर्त्तव्यों का आधार वनते हैं किन्तु यह भी हो सकता है कि एक नैतिक कर्त्तव्य को राज्य के कानून का समर्थन प्राप्त न हो। इसकी स्वीकृति समूह की नैतिक राय है। यदि नैतिक कर्त्तव्य भंग होते हैं, तो गलती करने वाले को वैध रूप में सजा देने वाली कोई

शक्ति नही है। गरीब, असहाय और बीमार की सहायता करना इस कारण मेरा नैतिक कर्त्तव्य है कि मैं समाज का नैतिक प्रतिनिधि हूँ। मुझे ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए कि जिनमे सामाजिक कल्याण हो। इसी प्रकार, अपने माता-पिता का आज्ञाकारी होने और उनके प्रति आदरभाव रखने के कर्त्तव्य का भी मुझ पर दायित्व है। किन्तु यदि मैं अपना कर्त्तव्य पूर्ण नही करता, तो राज्य के नियम मुझे उसके लिए दंड नहीं दे सकते। यह केवल नैतिक कर्त्तव्य है। तिस पर भी, सार्वजनिक कल्याण पर उनके प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए नैतिक कर्त्तव्यों को पालन करना ही चाहिए।

वे कर्त्तव्य, जो राज्य के नियम द्वारा नागरिक को सौंपे जाते हैं और जिन पर न्यायालयों में बल दिया जा सकता है, वैध कर्त्तव्य कहलाते हैं। वैध कर्त्तव्यों को पालन न करना दंडनीय है। राज्य के नियमों का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है; यदि मैं नही करता तो मुझे दंड दिया जा सकता है।

किन्तु नियम द्वारा आरोपित और नागरिक की अन्तरात्मा के कर्त्तव्यों के बीच मतभेद का परिणाम एक विशिष्ट नियम की अवज्ञा हो सकता है। निःसंदेह, राज्य के नियमों के विरुद्ध विरोध करना और यहां तक कि विद्रोह करना भी प्रत्येक नागरिक का अधिकार है, किन्तु नियमों की जाने-बूझे अवज्ञा करना कल्याण की अपेक्षा अधिक हानिकर हो सकता है। हालांकि वे नियम स्पष्टतया अनैतिक रूप में अभिमत होते हैं। कानूनों की जाने-बूझे अवज्ञा करना व्यवस्थित सरकार के मूल को ही हिला देना है और जब सरकार का अधिकार हिल जाता है तो वहां अव्यवस्था और गड़बड़ी फैल जाती है। मैक्नन (Maccunn) की राय है कि, "कायरता का नहीं, विवेक-बुद्धि का समर्थन करो, क्योंकि सफलता की युक्तिसंगत आशा के बिना प्रतिरोध एक राजनीतिक भूल और सार्वजनिक विनाश है, भले ही उस प्रतिरोध में बहुत ऊंचे दर्जे की व्यक्तिगत वीरता की गाथा भी हो।" यहां तक कि यदि क्रांति शक्ति हथिया लेने में सफल हो जाती है, तब भी नई सरकार को उन उद्देश्यों को पूरा करने की समस्या रह जाती है, जिन के लिए क्रांति की गई थी। इस प्रकार राज्य के दमनकारी और अनैतिक नियमों का प्रतिरोध करने का कर्त्तव्य केवल खतरे भर का प्रश्न नही, प्रत्युत क्रियात्मक बुद्धिमानी का है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अच्छे नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे नियमों का विरोध करे, किन्तु विरोध का रूप संवैधानिक और वैध होना चाहिए।

भावात्मक और अभावात्मक कर्तव्य (Positive & Negative Duties)—इससे आगे कर्त्तव्यों को भावात्मक और अभावात्मक रूप में विभाजित किया जा सकता है। जब एक नागरिक अपने अधिकारों का इस रूप में प्रयोग करता है, जिससे सामाजिक उन्नति और कल्याण की वृद्धि हो, तो वह भावात्मक कर्तव्य का पालन करता है। भावात्मक कर्त्तव्य के ये उदाहरण हैं: राज्य के नियमों की आज्ञाकारिता, देश की प्रतिरक्षा, शांति और व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए राज्य की सहायता करना, टैक्स और स्थानीय करों का भुगतान करना, अपने वोट का ईमानदारी के साथ उपयोग करना, प्रतिनिधि सभाओं में चुने जाने पर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना आदि। भावात्मक कर्त्तव्यों (Positive duties) का उद्देश्य राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति के

लिए सरकार के साथ सहयोग करना है।

जब एक नागरिक वह काम नहीं करता जिसे कानून मना करता है तो वह अभावात्मक कर्त्तव्य (Negative duty) का पालन करता है। कानून प्रत्येक नागरिक को आदेश करता है कि वह दूसरों को अपने अधिकारों का प्रयोग करने से न रोके और जब वह, इस प्रकार कानून का पालन करता है, तो यह अभावात्मक कर्त्तव्य का पालन करना है। इसलिए, अभावात्मक कर्त्तव्य में कानून द्वारा निश्चित निषेधों (dont's) के आज्ञापालन का समावेश है। किन्तु बाध्यता नागरिक को अपने कर्त्तव्यों के पूर्ण करने के लिए दीर्घकाल में सफल नहीं हो सकती। उसकी ओर से स्वयमेव ही ऐसा होना चाहिए और उन्हें न्यायानुसार तथा भक्ति के साथ पालन करने की उसमें इच्छा होनी चाहिए। फलतः, यह आवश्यक है कि कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होने चाहिएं, जिससे कि वह उन्हें बिना किसी आपत्ति के पालन कर सके।

राज्य के प्रति एक नागरिक के कुछ महत्वपूर्ण कर्त्तव्य (Some Important duties of a Citizen to the State)—राज्य के प्रति नागरिक के कर्त्तव्यों में निम्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य हैं :—

१. राज्य के प्रति निष्ठा अथवा राज-भक्ति (Allegiance to the State)—प्रत्येक नागरिक, जिस राज्य में वह रहता है, उसके प्रति उसकी निष्ठा होनी चाहिए। इसमें युद्ध और सेवा की दशा में राज्य के प्रतिरक्षा तथा राज्य की एकता को स्थिर रखने के लिए उसके प्रति वफादारी (loyalty) का समावेश हो जाता है। फलतः, प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सब शत्रुओं और खतरों के विरुद्ध राज्य की प्रतिरक्षा करे और शांति और व्यवस्था को स्थिर रखने में सहायता करे। राज्य किसी भी नागरिक को देश की प्रतिरक्षा के लिए शस्त्र उठाने का आदेश कर सकता है। संक्षेप में, आवश्यकता पड़ने पर, प्रत्येक नागरिक को राज्य की प्रतिरक्षा के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग करने और राज्य के प्रति उसकी निष्ठा में समाविष्ट कर्त्तव्यों का पालन करने को तत्पर रहना चाहिए। रूस के संविधान में व्यापक सैनिक सेवा का आदेश है और वह उसे नागरिकों का सम्मानित कर्त्तव्य मानता है। यदि रूस के नागरिकों की सैनिक सेवा सम्मानित कर्त्तव्य है, तो देश की प्रतिरक्षा उनका पवित्र कर्त्तव्य है।

२. नियमों का पालन करना (To obey Laws)—रूसी नागरिक के लिए पहला आदेश यह है कि वह संविधान और रूसी कानूनों का ईमानदारी के साथ पालन करे। प्रत्येक राज्य में नागरिकों का यह सर्वोच्च कर्त्तव्य है कि वे नियमों का पालन करें। वस्तुतः, सद्-नागरिकता अन्य किसी बात की अपेक्षा नियमों के पालन में अधिक है। कानूनों को समूह के कल्याण के लिए बनाया जाता है और जो लोग कानूनों का मान करते हैं और उनका पालन करते हैं, उनके दिल में समूह के कल्याण की भावना होती है। नियमों की अवज्ञा और उपेक्षा प्रगति को रोकेगी और तदनुसार, राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति में भी बाधा होगी।

३. टैक्सों का भुगतान (Payment of Taxes)—मनुष्य के कल्याण के लिए राज्य जिन कृत्यों को पूर्ण करने का दायित्व लेता है, उसके लिए उसे बड़ी-

बड़ी रकमें खर्च करनी होंगी। इसलिए, प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय और स्थानीय टैक्सों का भुगतान करे। यदि राज्य के पास धन नही है तो वह खर्च नही कर सकता। इसलिए टैक्सों को सब देशों में अनिवार्य अशदान माना जाता है और उन्हे देना प्रत्येक नागरिक का वैध कर्त्तव्य बन जाता है।

४. ईमानदारी के साथ मतदान का प्रयोग करना और सार्वजनिक पद को ग्रहण करना (Honest exercise of Franchise and to hold a Public Office)—एक लोकतंत्री राज्य में, कतिपय योग्यताओं की शर्त के साथ सब वयस्क नागरिक प्रतिनिधियों को चुनने और अपने आपको चुना जाने के लिए मत-दान के अधिकार का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार, अपने देश की सरकार के प्रति प्रमाणित नागरिक के कर्तव्य में मत-दान एक मौलिक और अत्यावश्यक भाग है। किन्तु यह काफी नही है। एक लोकतंत्री ढग का शासन एक-दलीय शासन (*Party Government*) होता है। एक मतदाता को, एक अथवा दूसरे में से किसी को चुनना होता है। इसलिए मत का प्रयोग न्यायत, स्वेच्छा और सचाई के साथ होना चाहिए। अच्छी सरकार तब तक हो ही नही सकती जब तक निर्वाचन-कर्ता मतदान को एक पुनीत विश्वास नही मानेंगे। इसी प्रकार, जो लोग चुने जाते हैं, उन्हे सार्वजनिक पदों (Public offices) को सेवा भाव के साथ ग्रहण करना चाहिए और उन्हें चाहिए कि वे उस विश्वास को न्याय्य प्रमाणित करें जो समाज ने उन्हें सौंपा है।

राज्य के कर्तव्य (Duties of the State)—राज्य के भी कतिपय कर्त्तव्य है। राज्य में ये कर्त्तव्य अन्तर्हित होते हैं, क्योंकि यह मनुष्य के कल्याण के लिए प्रबंध करता है। एक सेवाभाव के राज्य के आधुनिक विचार ने अपने कार्य के क्षेत्र को और भी फैला दिया है और परिणामस्वरूप उसके कर्त्तव्यों का तदनुरूप विस्तार भी हो गया है। राज्य का कर्तव्य है कि वह अपने सब नागरिकों को न केवल राजनीतिक समता और न्याय की प्राप्ति कराए, प्रत्युत देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन की भी। तदनुसार, राज्य का लक्ष्य उच्चतम राष्ट्रीय हित की प्राप्ति होना चाहिए। उसे माध्यमिक तथा प्रशिक्षण (Secondary and technical) शिक्षा की पर्याप्त सुविधाए प्रदान करनी चाहिए, वाचनालयो तथा संग्रहालयो का प्रबंध करना चाहिए, गरीबी की रोक, बेकारी, वृद्धावस्था और बीमारी तथा सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध कार्य करने के प्रबंध करने चाहिए। भारत का संविधान राज्य नीति के निर्दिष्ट सिद्धातों में दुर्बल-वर्ग के शिक्षा-विषयक तथा आर्थिक-हितों की उन्नति के लिए विशेष उल्लेख करता है।[1] आगे चलकर विधान में यह भी वर्णित है कि राज्य "अपने लोगों के लिये पोषक-तत्वो तथा जीवन-मान को उन्नत करना और सार्वजनिक स्वास्थ्य को सुधारना अपने मुख्य कर्त्तव्यो में मानेगा और विशेष रूप से औषधि-प्रयोग को छोड कर स्वास्थ्य के लिए घातक नशीली वस्तुओं की खपत को रोकने का यत्न करेगा।"[2] राज्य यथाशक्य प्रभावशाली ढग से ऐसी सामाजिक व्यवस्था की प्राप्ति और संरक्षण द्वारा लोगों के कल्याण को उन्नत करने का दायित्व

1. Article 46.
2. Article 47.

लेता है, जिसमें न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक—राष्ट्रीय जीवन की सब संस्थाओं का समावेश होगा।[1]

Suggested Readings

Bosanquet, B.—The Philosophical Theory of the State, Chap. VIII.
Burns, C. D.—Political Ideals, Chap. VII.
Catlin, G. E. G.—A Study of Principles of Politics, Chap. IV (1930).
Gilchrist, R. N.—Principles of Political Science, Chap. VI.
Green, T. H.—Lectures on Principles of Political Obligation, Sec. A.
Laski, H. J.—Grammar of Politics, Chap. III.
Lord, A. R.—The Principles of Politics, Chapts. VIII, X.
Ritchie, D. G.—Natural Rights, Chapts. XIII, XIV.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chapts. IV, VIII.

अध्याय : : ८

व्यक्ति और राज्य के बीच संबंध (२)

स्वाधीनता और समानता

(Liberty and Equality)

स्वाधीनता क्या है ? (What is Liberty)—लिबर्टी (स्वाधीनता) शब्द, लैटिन के लिबर से निकाला है, जिसका अर्थ है, स्वतन्त्र। यह शब्द निषेधार्थक है, मतलब, प्रतिरोध का अभाव। इसका प्राथमिक अभिप्राय यही हुआ, कि हर हालत में व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सके। परन्तु यह तो प्रत्यक्ष रूपेण असभव है। स्वाधीनता का यह अर्थ अर्थात् मनमानी कर सकना, चल नही सकता। साझे, अर्थात् सार्वजनिक नियम बनाए बिना हम लोग इकट्ठे नही रह सकते। हम लोग *समाजप्रिय हैं। इसी का प्रमाण यह व्यवस्था और कायदे कानून हैं। मैं, जिन लोगो के* साथ रहता हूँ, उनकी भलाई की परवाह न करते हुए, यदि मनमानी करने की ठान लू, तो समाज मे आये दिन विरोध और कलह उठ खड़े होंगे। जहा स्वार्थ आपस में टकरायेंगे, वहां न मेरे लिए और न दूसरो के लिए, स्वतन्त्र वातावरण बन सकेगा। लास्की ने लिखा है, कि "इतिहास-प्रसिद्ध अनुभवों ने, हम सब के लिए सुख-सुविधाजन्य नियम बना दिये हैं, ताकि ठीक जीवन बिताया जाय : और "उन नियमों को मनवाने के लिए मजबूर किया जाना स्वतन्त्रता पर लगाया गया एक न्याय-युक्त बधन है।"[1] इस प्रकार, स्वाधीनता का मतलब यह हुआ, कि हम सब कुछ करने में स्वतन्त्र है, बशर्ते कि दूसरो की स्वतन्त्रता की उससे कोई हानि न होती हो। इसका यह भी मतलब हुआ, कि सभी पर आवश्यक बधन लगे रहने चाहिएँ, ताकि प्रत्येक व्यक्ति की अधिकाधिक स्वाधीनता बनी रहे। और इस मतलब की स्वाधीनता मे तभी अधिकाधिक वृद्धि हो सकती है, जबकि परस्पर हितेच्छा तथा सम्मान रहे और प्रत्येक व्यक्ति इस निर्धारित सिद्धात पर अमल करे, "do unto others as you wish to be done by" दूसरों से वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि तुम चाहते हो दूसरे तुम्हारे साथ करे।" दूसरे शब्दो में, सब मनुष्यों के कामो पर ऐसे नियत्रण लगे रहने चाहियें, जो समुचित हैं, और जिनसे सभी का कल्याण होता है। ऐसे बधन स्वाधीनता विनाशक नही होते। स्वाधीनता तभी बरबाद होती है जबकि बधन अन्याय-युक्त हो। यदि बंधनो का आधार "ऐसे अनुभव है, जिन्हे मैं भली-भाति समझ सकता हू और सामान्य रूपेण मानता भी हू," तब मेरी स्वाधीनता के लिए कोई खतरा नही। वस्तुतः इससे स्वाधीनता और भी बढेगी। यदि मुझे, दूसरे को लूटने, जान से मारने अथवा उल्टे हाथ गाड़ी हांकने से वर्जित रखा जाता है, तो मेरी उत्पादक प्रवृत्तियों का ह्रास नही होगा। सारांश यह कि स्वाधीनता के लिए कानून की व्यवस्था आवश्यक है।

---

1. Laski, Grammar of Politics, p. 142.

परन्तु स्वाधीनता का यह अभावात्मक पक्ष ही नहीं है, बल्कि यह तो कहीं अधिक भावात्मक है। स्वाधीनता तभी स्थिर रह सकती है, जब कि राज्य द्वारा ऐसी परिस्थितियों को स्थापित रखा जाय जिनसे मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके। लास्की का मत है कि "उत्सुकतापूर्वक कायम रखे गए उस वातावरण को स्वाधीनता कहते हैं, जिसमें रहकर, मनुष्यों को आत्मोन्नति के सुअवसर प्राप्त हों।" इस वातावरण में, उन अधिकारों का उपभोग और उन सुयोग या अवसरों का उपलब्ध होना शामिल है, जिनकी सहायता से मनुष्य अपनी संपूर्ण उन्नति करते हुए, अपनी क्षमता को समुन्नत करके, अपने जीवन को मनचाहे सांचे में ढाल सके। तब स्वाधीनता की सच्ची परख, राज्य के कानूनों तथा उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये कार्य-क्षेत्र के विस्तार में है, जिसमें रहकर, नागरिक को अपनी क्षमताओं और गुणों को विकसित करने के अवसर मिलते हैं। स्वाधीनता तो अधिकारों की उपज है। यह वहीं पनपती है, जहां जात-धर्म, रंग अथवा प्रतिष्ठा के भेद-भाव को न मान कर सब के लिए एक-से अधिकारों की गारंटी दी गई हो।

स्वाधीनता और कानून (Liberty & Law)—व्यक्तिवादी (Individualists) अराजकतावादी, (Anarchists) और श्रमिक-वर्ग आंदोलन-कर्त्ताओं (Syndicalists) और अन्य अनेकों का भी यह मत है कि स्वाधीनता तथा कानून, दोनों को इकट्ठा नहीं मिलाया जा सकता। जहां एक का बाहुल्य है, वहां दूसरे की कमी। प्रभुत्व-शक्ति जीवन के हर पहलू पर प्रभाव डालती है, अतः पद-पद पर, मनुष्य को राज्य के कानूनों की आज्ञा माननी पड़ती है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है और उसका कार्य करने का उत्साह मारा जाता है। इसलिए, व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है (State is a necessary evil)। राज्य को शांति, अमन कायम रखने के अलावा कुछ नहीं करना चाहिये, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार उन्नति करने के बराबर सुअवसर दे देने चाहियें। अराजकतावादी दूर तक पहुंचते हैं और चाहते हैं कि समाज को राज्य के बंधनों से विमुक्त रखा जाय। इनका दावा है, कि राज्य-विहीन समाज ही में, व्यक्ति को "अपनी क्षमता के अनुसार उन्नति के सुअवसर प्राप्त हो सकते हैं।" इसी प्रकार श्रमिक-वर्ग आंदोलक भी राज्य-विरोधी हैं। दूसरी ओर, समाजवादी (Socialists) राज्य को अधिकाधिक परिमाण में उन्नत किये जाने पर बल देते हैं तथा जनता के सामान्य, आर्थिक, नैतिक व बौद्धिक विकास में राज्य के दखल को न्याय-संगत घोषित करते हैं।

इस प्रकार प्रभुत्व व स्वाधीनता में, मौलिक विरोध प्रत्यक्ष रूप से नजर आ रहे हैं। दोनों का एक दूसरे से वैर प्रतीत होता है। किन्तु संयम-विहीन स्वाधीनता चल नहीं सकती। संयम तथा बंधन-विमुक्त स्वाधीनता तो एक लाइसेंस या छूट हो गई, जिसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (might is right) की कहावत चरितार्थ होगी और अधिकार (Right) जो स्वाधीनता का अत्यावश्यक गुण (Sine qua non) है, बल (might) नहीं बनाया जा सकता। यदि राज्य के पास कमजोर की बलवान के जुल्म से रक्षा करके, शांति स्थापित करने का बल नहीं है, तो समझ लीजिये कि गड़बड़ और अराजकता फैल जायगी। ऐसा समाज, हाब्स

(Hobbes) की स्थिति का प्रतीक होगा, जिसमें जीवन तुच्छ पशु समान तथा अरुचिकर होगा।

यह तो सच्ची स्वाधीनता न हुई, जहां सबको पूरु से अधिकारों के उपभोग के अवसर नहीं मिलते। सुअवसर भी वहीं हो सकते हैं, जहांकि निर्बलों को भी अपने अपने अधिकार प्राप्त कर सकने का भरोसा हो। सबके लिए समान सुअवसरों से लाभ उठा सकने की व्यवस्था राज्य ही कर सकता है। अतः स्वतन्त्रता का सार यह निकला कि स्वाधीनता के लिए कानून अनिवार्य है। राज्य के कानून स्वाधीनता को घटाने की बजाय उसे बढ़ाते और कायम रखते हैं। यदि हत्यारे को दंड दिया जाता है तो इसका मतलब भी स्वाधीनता समझिये। कारण, जो कानून हत्यारे को दंड दिलाता है, वही जनता के अधिकारों की व्याख्या करता और उनकी रक्षा भी करता है। कुछ कानून, मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों को बढ़ाते हैं, जैसे हमें अपने बालकों को स्कूल में भेजने पर बाध्य किया जाता है, तो इसे हमारी स्वाधीनता पर बंधन नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, कारखाने के मजदूरों को, फैक्ट्री-एक्ट द्वारा अपनी स्वाधीनता अनुभव करने में सहायता मिली है। अत., राज्य का प्रभुत्व, स्वाधीनता का अभाव नहीं कराता, वरन् वास्तव में यह स्वाधीनता का साधक है।

और यह कहना भी ठीक नहीं कि राज्य द्वारा लगाये प्रत्येक नियंत्रण से, जनता की स्वाधीनता में वृद्धि होती है। यदि बंधन, आवश्यकता की सीमा को पार करके, जीवन के आनन्द का विनाश करने वाला है, तो निश्चय ही उसे मनुष्य की स्वाधीनता का घातक कहना होगा। "प्रत्येक व्यक्ति की यही कामना है, कि जिन वस्तुओं से उसके निजी जीवन की नैतिक उन्नति में प्रेरणा मिलती है, उन्हें पाने की सुविधाएं उसे प्राप्त हों। जो बंधन या नियंत्रण इस प्रेरणा को सीमाबद्ध बनाते हों, उन्हें स्वाधीनता-घातक कहना होगा।"[1] यदि मनुष्य यह अनुभव करता है, कि वह अपने मन को प्रकट नहीं कर सकता, और उसको अधिकारी-वर्ग को अपना दृष्टिकोण समझाने के साधन प्राप्त नहीं हैं, तो उसे सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। प्रजातन्त्र राज्य व्यवस्था में, अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने की आज्ञा होती है। जिस जगह व्यक्ति की इच्छा, समुदाय के दबाव में है, या जहां डिक्टेटरशिप का बोलबाला है, तो वहां किसी प्रकार की स्वाधीनता नहीं मानी जा सकती।

स्वाधीनता के भेद
(Kinds of Liberty)

"लिबर्टी" अर्थात् स्वाधीनता शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ नाना प्रकार की टिप्पणियों के साथ लिये गये हैं। मान्टेस्क्यू (Montesquieu) ने लिखा है: "ऐसा कोई दूसरा शब्द नहीं है, जिसके इतने विभिन्न भावार्थ लिये जा सकते हों और जिसने मानव-मस्तिष्क पर इतना विभिन्न प्रभाव डाला हो। अतः लिबर्टी या स्वाधीनता को भली-भांति समझने के लिए, इसके नाना प्रकार के अर्थों से परिचित कराया जाना अत्यावश्यक होगा।

(१) प्राकृतिक स्वाधीनता (Natural Liberty)—सर्वप्रथम इस प्राकृतिक

स्वाधीनता की धारणा को लेंगे। इसका प्रयोग, प्रायः मनुष्य के उस असीम अधिकार के अर्थों में किया जाता है, जो उसे, अपनी इच्छानुसार हर काम करने का है। इस प्राकृतिक अधिकार का मनुष्य ने, राज्य की संस्थापना के पहले और राज्य से अलग स्वतन्त्ररूप से भी उपभोग किया है, ऐसा माना जाता है। राज्य के अस्तित्व के साथ ही, हर काम अपनी इच्छानुसार कर सकने की मनुष्य की स्वतन्त्रता का लोप हो गया। अपने सामाजिक अनुबंध सिद्धांत (Theory of Social Contract) का विश्लेषण करते हुए रूसो (Rousseau) लिखता है, "सामाजिक अनुबंध से मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता खो देता है और हर आकर्षक वस्तु को प्राप्त कर सकने का उसका असीम अधिकार भी लुप्त हो जाता है।" किन्तु, स्वाधीनता की ऐसी धारणा असंभव है, क्योंकि यह स्वाधीनता की अपेक्षा, एक लाइसेंस अर्थात् अमर्यादित स्वतन्त्रता हो गई जिसके आधार पर एक व्यक्ति दूसरे के प्राकृतिक अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा। सच्ची स्वाधीनता का उपभोग केवल राज्य में किया जा सकता है, उसके बिना नहीं। एक आदमी स्वाधीन है, तो इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे स्वाधीन नहीं रहें। हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) के मतानुसार, स्वाधीनता का मतलब यह है, "कि जिसमें, प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानसार काम करने की स्वतंत्रता रहे, बशर्तेकि वह दूसरों की उतनी ही स्वतंत्रता का उल्लंघन न कर रहा हो।"

प्राकृतिक स्वाधीनता और प्रकृति का कानून (Natural Liberty And Law of Nature)—प्राकृतिक स्वाधीनता का सिद्धांत बहुत प्रारम्भिक होने पर भी, प्रकृति के कानून से पूरी तरह जुड़ा हुआ है, जो अनुबंधवादियों (Contractualists) के विश्वासानुसार प्राकृतिक अवस्था में प्रचलित था। लाक (Locke) ने विशेषकर प्राकृतिक कानून और स्वतन्त्रता के संबंध पर बड़ा ज़ोर दिया है। लाक के विचारों को स्वतन्त्रता के घोषणापत्र में सम्मिलित कर लिया गया था, जहां मनुष्य की समानता और स्वतन्त्रता को पूर्व स्थापित रूप से माना जा चुका है। रूसो (Rousseau) की विचार-धारा से इसको और भी पुष्टि मिली थी और फ्रेंच क्रांति (French Revolution) का आधार, यही स्वतन्त्रता व समानता बनी थीं। रूसो का राजनीतिक मान वही प्राकृतिक अवस्था थी जिसमें सब मनुष्य समान हैं। समानता की धारणा ही, प्राकृतिक स्वाधीनता का निर्धारित सिद्धांत मान लिया गया। बाद में, प्राकृतिक स्वाधीनता को कुछ ऐसे अधिकार प्रदान करने वाला माना जाने लगा है जो किसी को प्रदान नहीं किये जा सकते और जिन्हें प्राकृतिक अधिकारों का नाम दे दिया गया। कुछेक मौलिक अधिकार हैं जिन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा जा सकता है, परन्तु यह समझना भूल है, कि प्राकृतिक अधिकार मनुष्य को स्वेच्छाचारी स्वतन्त्रता के हक दे देते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकारों के साथ-साथ उतने ही कर्त्तव्य भी रहते हैं।

(२) **नागरिक स्वाधीनता** (Civil Liberty)—प्राकृतिक स्वाधीनता के विपरीत, नागरिक स्वाधीनता उस स्वाधीनता का संकेत करती है, जिसका समाज में मनुष्य भोग करता है। यह असीमित और स्वेच्छाचारी नहीं हो सकती। यह स्वरूपतः भावात्मक

और अभावात्मक, दोनों ही हैं और इसमें स्वतन्त्र कार्य और हस्तक्षेप से छूट का व्यक्ति का अधिकार शामिल है बशर्ते कि वह तदनुरूप दूसरों की स्वाधीनता में हस्तक्षेप नहीं करता। नागरिक स्वाधीनता के भोग और संरक्षण की रक्षा के लिए किसी अधिकारी की आवश्यकता है जो सबके अधिकारों को बल-प्रयोग द्वारा मनवा सके। इस तरह की अधिकारी-शक्ति राज्य है। फलतः, नागरिक स्वाधीनता का केवल-मात्र स्रोत राज्य है।

राज्य जिस नागरिक स्वाधीनता की रचना और सुरक्षा करता है, वह इस प्रकार है:

१. सरकार के विरुद्ध।

२. अन्य व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के संघों के विरुद्ध।

१. स्वाधीनता और सरकार (Liberty and Government)—सरकार के विरुद्ध स्वाधीनता प्रत्यक्षतः राज्य द्वारा प्राप्त की जाती है। सरकार एक ऐसी प्रतिनिधि संस्था है, जिसके द्वारा राज्य की इच्छा का निर्माण होता है, अभिव्यक्ति होती है, और उसकी प्राप्ति होती है। इसकी शक्तियां प्रतिनिधि रूप की होती हैं, स्वामी के रूप की नहीं। सरकार की शक्तियों का राज्य निश्चय करता है और वह निर्धारित सीमाओं को नहीं लांघ सकती। ऐसे सब सिद्धांत, जो सरकार के आचरण की व्याख्या करते हैं और उसे नियमबद्ध करते हैं, उसके व्यक्ति के विरुद्ध किये जाने वाले कार्य की मर्यादा निश्चित करते हैं, और व्यक्ति को कतिपय सुविधाएं या छूटें देते हैं, जिनमें सरकार हस्तक्षेप न कर सके। इनको आधारभूत नियम कहा जाता है। प्रत्येक राज्य के लिखित या अलिखित, अपने निजी आधारभूत नियम होने ही चाहिए और वही संविधान कहलाता है। जब संविधान निश्चित रूप से लिखा जाता है, जैसा कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में हुआ था, उसमें स्पष्टतः यह उल्लेख किया जाता है कि सरकार का संगठन कैसे होता है, उसकी शक्तियों का क्षेत्र क्या है, किस रूप में उन शक्तियों का प्रयोग किया जायगा और उसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता की सामान्य गारंटी का समावेश होता है। अलिखित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण ब्रिटिश राज्य (United Kingdom) है। वहां की सरकार का संगठन और व्यक्ति की स्वाधीनता की प्रतिज्ञा रीतियों, परम्पराओं, और रूढ़ियों आदि का परिणाम है।

प्रो. लास्की के कथनानुसार, स्वाधीनता "तब तक वास्तविक नहीं होती जब तक सरकार से जवाबतलबी नहीं की जा सकती; और उससे हमेशा तभी जवाबतलबी की जानी चाहिए जब वह अधिकारों में हस्तक्षेप करती है।" संयुक्त राष्ट्र अमरीका में नागरिकों के अधिकारों की रक्षा संघ न्यायालय (Federal Court) करता है। इस संस्था की संविधान द्वारा रचना की गई है। यदि व्यक्ति किसी समय यह महसूस करे कि उसकी स्वाधीनता की सरकार के प्रबंध या वैधानिक विभागों द्वारा क्षति होती है, तो वह अपनी शिकायत को दूर करने के लिए संघ न्यायालय (Federal Court) में जा सकता है। उसके बाद यह देखना संघ न्यायालय का काम है कि सरकार ने संविधान द्वारा सौंपे अधिकार का उल्लंघन किया है या नहीं। इस प्रकार

लिखित संविधान सरकार के विरुद्ध नागरिकों की स्वाधीनता की रक्षा करता है। इसके बाद संविधान-संशोधन का अधिकार है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता है और सरकार के सब विभागों द्वारा स्वाधीनता पर आक्रमण करने के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र अमरीका का संविधान अपने नागरिकों के लिए अन्य स्वतन्त्रताओं के अलावा धर्म और भाषण की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। संविधान सरकार को इन अधिकारों में हस्तक्षेप करने की मनाही करता है। यदि सरकार का कोई विभाग इन अधिकारों के साथ छेड़-छाड़ करने का साहस करता है, तो उसके कार्यों को अवैधानिक ठहराया जाता है, क्योंकि संविधान में संशोधन करने वाली शक्ति ही एकमात्र ऐसी योग्य अधिकारी शक्ति है, जो संविधान के परम्पराधिकारों (Prescriptions) में परिवर्तन कर सकती है।

इंग्लैंड में कोई भी अदालत पार्लियामेंट के अधिनियम (Act) को चुनौती नहीं दे सकती। यह संविधान में भी परिवर्तन कर सकती है और तिस पर भी उसके कार्यों पर वैध रूप में आपत्ति नहीं की जा सकती। इस प्रकार इंग्लैंड में व्यक्ति की स्वाधीनता के लिए वैधानिक गारंटी नहीं है। किसी संभावित हस्तक्षेप या अतिक्रमण के विरुद्ध अदालती कार्यवाही की स्वतन्त्रता और कानून के शासन का केवलमात्र संरक्षण रखा गया है। कानून के शासन (Rule of Laws) से हमारा तात्पर्य यह है कि सब व्यक्तियों पर समान रूप से, उनके दर्जे पर ध्यान न देते हुए कानून का प्रयोग हो सकता है। कानून का शासन एक अफसर और एक नागरिक में भेद नहीं करता। यदि एक सरकारी अफसर कोई ऐसा अवैध कार्य करता है, तो उस पर साधारण कानून लागू होगा और उस पर नियमित न्यायालय में मुकदमा चलाया जाता है। फ्रांस तथा अन्य योरोपीय देशों में सरकारी अफसरों पर साधारण कानून लागू नहीं होता। उनके मामलों का फैसला विशेष रूप से निर्मित की गई प्रशासन अदालतों (Administrative Courts) द्वारा होता है और उन पर लागू होने वाले कानून को प्रशासन नियम (Administrative Law) कहते हैं।

शासन के नियम के भले ही कुछ भी दोष हों, किन्तु निःसंदेह यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि कानून की दृष्टि में सबकी समानता एक बड़ी मनोवैज्ञानिक संतुष्टि है। डाइसी (Dicey) कहते हैं, "हमारी दृष्टि में प्रत्येक अफसर, प्रधानमंत्री से लेकर एक सिपाही या टैक्स संग्रह करने वाले तक, किसी भी अन्य नागरिक की तरह ऐसे प्रत्येक कार्य के लिये समान रूप से उत्तरदायी हैं, जिसकी कानून आज्ञा नहीं देता। एक अंग्रेज के लिए न्यायाधिकारी वर्ग लोगों की स्वाधीनता का अनवरत संरक्षक है और यह इसलिए है कि इंग्लैंड में कानून का शासन विद्यमान है।

२. व्यक्तिगत स्वाधीनता (Individual Liberty)—राज्य ने, अपने अस्तित्व के आरम्भिक काल में ही व्यक्तिगत स्वाधीनता की रचना और रक्षा की है। वस्तुतः राज्य मनुष्य के जीवन-यापन की न्यूनतम आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न हुआ है और उसका मुख्य उद्देश्य उसके संबंधों का उसके साथी मनुष्यों के साथ समन्वय करना और उन्हें नियमबद्ध करना था। जब राज्य की प्रभुत्व-शक्ति (So-

vereignty) अधिक निश्चित और सुव्यवस्थित बन गई, तब मनुष्य के अधिकारों का भी रूप अधिक निश्चित हो गया। सरकार द्वारा उन अधिकारों की क्रियान्विति भी अधिक निश्चित हो गई और राज्य के सब नागरिकों के लिए समान अधिकारों को विस्तृत किया गया। फलतः, स्वाधीनता राज्य की उपज है। यह उस राजनीतिक संगठन में फूल फल सकती है जो मनुष्य को किन्हीं अधिकारों का आनन्द लेने की स्वतंत्रता देता है। लास्की के कथनानुसार इन सब अधिकारों का उद्देश्य "ऐसे वातावरण को बनाए रखना है, जिसमें मनुष्यों को आत्मोत्कर्ष का सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हो।"

नागरिक स्वाधीनता उन अधिकारों और सुविधाओं में निहित है, जिनकी राज्य रचना करता है और रक्षा करता है। यह कानून द्वारा स्वीकृत और राज्य द्वारा सुरक्षित अधिकारों का संपूर्ण योग है। नागरिकों के लिए वास्तविक स्वतंत्रता केवल उन राज्यों में विद्यमान होती है, जो उन सब अधिकारों को स्वीकार करता है और उनकी गारंटी करता है, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को उन्नत करने के लिए अनिवार्य है। जो कानून अधिकारों की गारंटी करता है, वह अपने नागरिकों को इस बात की रक्षा प्रदान करता है कि "सरकार के निर्णय उस विस्तृत ज्ञान के आधार पर बनाए जाते हैं जो उसके सदस्यों के लिए खुला हुआ है। यह उस रचनात्मक भावना को विशिष्ट होने से रोकता है जो मनुष्यों के विशिष्ट चरित्र का नाश करती है। अधिकारों के बिना स्वाधीनता नहीं हो सकती, क्योंकि अधिकारों के बिना मनुष्य ऐसे नियम के अधीन होंगे जिनका व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से सम्बन्ध नहीं।"

किंतु व्यक्तिगत स्वाधीनता को राज्य के हस्तक्षेप से छूट अपेक्षाकृत हाल ही की उपज है। प्राचीन राज्यों में राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं किया जाता था और नागरिकों के सब कार्यकलापों पर राज्य का नियंत्रण होता था। सरकार की शक्ति को केवल वैधानिक राज्य के उत्कर्ष के साथ ही मर्यादित किया गया। सरकार को व्यक्तिगत स्वाधीनता में हस्तक्षेप और अतिक्रमण करने को मनाही की गई। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि राज्य में प्रतिनिधि सरकार होने पर नागरिक स्वाधीनता विस्तृत होती है और फूलती-फलती है। १५ अगस्त, १९४७ से पूर्व, भारत में नागरिक स्वाधीनता संयुक्त राष्ट्र अमरीका और ब्रिटिशराज्य की तुलना में बहुत ही संकुचित थी। मानव व्यक्तित्व की उन्नति के लिए अत्यावश्यक कई अधिकारों की हमें मनाही थी और बहुधा सरकार हमें दिये गए कुछ अधिकारों को छीनने की ज्यादती भी करती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि सरकार लोगों की वास्तविक रूप में प्रतिनिधि नहीं थी।

इसके बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि राज्य में नागरिक स्वाधीनता का विस्तार उस देश की लोकप्रिय सरकार की उन्नति का मापदण्ड होता है। निम्न महत्त्वपूर्ण अधिकारों को मनुष्य के कल्याण में वृद्धि करने वाला माना जाता है और फलतः उनका व्यक्तिगत स्वाधीनता के क्षेत्र में समावेश होता है :

१. जीवन और व्यक्ति की स्वतंत्रता।

२. निजी संपत्ति की सुरक्षा।

४. भाषण, विचार और सभा की स्वतंत्रता।
५. पूजा और अन्तरात्मा की स्वतंत्रता।
६. पारिवारिक जीवन की स्वतंत्रता।

(५) राजनीतिक स्वाधीनता (Political Liberty):—लास्की राजनीतिक स्वाधीनता की राज्य के मामलों में क्रियाशील शक्ति के रूप में व्याख्या करते हैं। इसका अर्थ यह है कि "मैं सार्वजनिक कार्यों में स्वतंत्रतापूर्वक योग दे सकता हूं। मुझे सामान्य अनुभव के योग में बिना किसी रुकावट के अपने विशिष्ट अनुभव की वृद्धि करने योग्य होना चाहिए। सामान्य बाधाओं के अतिरिक्त मेरे मार्ग में ऐसी कोई बाधाएं नहीं होनी चाहिएं जो अधिकारी स्थिति को प्राप्त करने में रुकावट सिद्ध हों। मुझे अपनी राय को घोषित करने तथा दूसरों के साथ मिलकर राय घोषित करने योग्य होना चाहिए।"[1] लीकाक राजनीतिक स्वाधीनता को वैधानिक स्वाधीनता की संज्ञा देते हैं और उसका आशय यह है कि लोगों को अपनी उस सरकार को चुनने का अधिकार है जो लोगों की सर्वमान्य संस्थाओं के प्रति उत्तरदायी हो। गिलक्राइस्ट की दृष्टि में राजनीतिक स्वाधीनता को "क्रियात्मक रूप में लोकतंत्र के समानार्थक" मानते हैं। और लोगों के जन-समूह को न केवल स्वतंत्रता का क्षेत्र प्रदान करते हैं, प्रत्युत अधिकार में हिस्सेदारी भी। इस प्रकार राजनीतिक स्वाधीनता की प्रवृति सत्ता और स्वाधीनता को समान हाथों में सौंपने की है।

जिन लोगों ने वास्तविक रूप में स्वाधीनता का नारा लगाया और जो उसके लिए लड़े, वह केवल अपने नागरिक अधिकारों की स्वीकृति प्राप्त करना चाहते थे। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया गया कि, नागरिक अधिकारों को मान लेने ही से, स्वायत्त-शासन से उनकी काफी रक्षा नहीं हो सकेगी। चुनांचे इस विचार का समर्थन हो गया, कि जनता के पास सरकार को अपना दृष्टिकोण मनवाने की शक्तियां होनी चाहिएं और अन्त में, यदि सरकार लोगों के इच्छा के विरुद्ध अमल करती ही जाय, तब उसे बदल डालने की क्षमता भी होनी चाहिए। इस प्रकार के प्रभुत्वशाली अधिकारियों को बदल डालने की विधि को राजनीतिक स्वाधीनता कहा गया। अतः राजनीतिक स्वाधीनता निम्नलिखित अर्थों में ली जाती है :—

(१) नागरिकों को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार। परन्तु सभी नागरिक मतदान नहीं कर सकेंगे। राजनीतिक उपयोगिता का यह तकाजा है कि राज्य के नागरिकों का कुछ अंश इस अधिकार से वंचित रखा जाय। साधारणतया, विदेशी, पागल, बालक और किसी-किसी देश में स्त्रियों को भी मतदान अधिकार से वंचित रखा जाता है। यों आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि राजनीतिक अधिकारों का अधिकारी सभी वयस्क नर-नारियों को मान लिया जाय।

(२) चुने जाने का अधिकार। अर्थात प्रत्येक वह नागरिक जिसे अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है, स्वयं भी प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकारी होगा।

(३) यदि राज्य के कानूनों की दृष्टि से, किसी में पर्याप्त योग्यता हो, तो उसे किसी भी सार्वजनिक पद पर नियुक्त होने का अधिकार होगा। अलबत्ता उसी पद पर,

1. Laski; Grammar of Politics, p. 146.

स्थायीरूप से या अनिश्चित काल तक आरूढ़ रहने का अधिकार उसे नहीं होगा। प्रतिनिधि का चुनाव निश्चित अवधि के बाद होते रहना चाहिए।

(४) नागरिकों को सार्वजनिक विषयों के बारे में अच्छा ज्ञान रखने और सरकारी नीति पर स्वतन्त्रता से आलोचना करने का अधिकार होगा। नागरिकों को, सार्वजनिक-हित-सम्बन्धी मामलों में पर्याप्त जागरूक रहना चाहिए, क्योंकि हमेशा जागरूक रहना ही स्वाधीनता का मूल्य है (Eternal Vigilance is the price of Liberty)।

तो ऐसा प्रतीत होता है, कि राजनीतिक स्वाधीनता का, प्रजातन्त्रवादी सरकारों वाले देशों में ही उपभोग हो रहा है। वास्तव में इसी को स्वराज्य कहते हैं। राजनीतिक स्वाधीनता, नागरिक स्वाधीनता की आवश्यक परिपूरक है। राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव में, नागरिक स्वाधीनता एक मृगतृष्णा है।

गिलक्राइस्ट के मतानुसार, राजनीतिक स्वाधीनता को अन्तिम ध्येय मानकर प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य नहीं है, इसे इसलिए प्राप्त करना चाहिए, ताकि मानवता का उच्च नैतिक दृष्टि से पूर्ण विकास हो सके। और धीरे-धीरे नागरिकों में सच्ची जागृति उत्पन्न हो।"[1] सच्ची राजनीतिक स्वाधीनता के लिए लास्की ने दो शर्तें आवश्यक मानी हैं।[2] सर्वप्रथम, सब के लिए यथेष्ट सुविधाएं रहनी चाहिए और प्रत्येक नागरिक को शिक्षा-प्राप्ति के समान अवसर मिलने चाहिएं। अमीरों के बालकों के लिए अलग और गरीबों के लिए अलग संस्थायें चलाकर शिक्षा देने की प्रणाली बहुत निन्दनीय है। कारण, पहले वर्ग में शासन करने की आदतें आएंगी और दूसरे वर्ग में अधीनता की। इस ढंग के विभाजन से राजनीतिक स्वाधीनता उत्पन्न नहीं हो सकती। जिन्हें, सोच-समझ कर, विशेष सुविधाएं देकर तैयार किया जायगा, उनमें शासन करने की बू भर जायगी, उधर जिन्हें कि आज्ञापालन के लिए तैयार किया गया है।[3]

राजनीतिक स्वाधीनता के लिए दूसरी शर्त है, ईमानदार और आजाद समाचार-पत्रों की मौजूदगी। पत्रों द्वारा, समाचार-सूचना तथा ज्ञान का प्रसार होता है। राजनीतिक स्वाधीनता के उपभोग के लिए यह अत्यावश्यक है कि पत्रों द्वारा, सीधे-सच्चे तथा पक्षपात-रहित समाचार प्रसारित किये जाय, ताकि, मतदाताओं तथा प्रतिनिधियों के पास, अपने निर्णयार्थ विश्वस्त आधार मौजूद हों। परन्तु वास्तव में ऐसा तो नहीं हो रहा। हमारे पत्र प्रसंगानुकूल तथ्यों को चालाकी से निकाल कर उनकी जगह, जान-बूझकर झूठे समाचार लिखते हैं। जब तथ्यों को जानबूझ कर विकृत किया जायगा और तर्क का गला घोंटा जायगा, तब हमारे विचार और निर्णय सत्य से कट जायगें। जहां की जनता को विश्वसनीय समाचार से वंचित रखा जायगा, वहां स्वतन्त्रता की जड़ें कट जायगी। "क्योंकि विकृति के मवाद भरे वायुमंडल में किया गया निर्णय, अन्त में भयानक रूप से पथ-भ्रष्ट हो जायगा।[4]

1. Op. Citd. p. 154
2. Op. Citd. p. 147
3. Ibid
4. Ibid, p. 148

को उत्पन्न हुआ मानना चाहिए। ये अधिकार और समानताएं आज भी चल रही हैं। असमानता कतिपय ऐसे मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की हुई है, जिन्होंने राज्य पर अपना प्रभुत्व रख कर, उसकी शक्तियों का प्रयोग अपने हितों के लिए किया है। इसी वर्ग ने स्वार्थ-परता-वश, अपनी स्वार्थ-सिद्धि को ही जन-साधारण के कल्याण की कसौटी बना डाला है।[1]

इसलिए समानता का सबसे पहले अर्थ यह है कि सब प्रकार की विशिष्ट-सुविधाओं का लोप कर दिया जाय। जन्म, संपत्ति, जाति, मत और रंग के सब बन्धनों को हटा देना चाहिए, जिससे कि कोई भी किसी प्रकार की सामाजिक या राजनीतिक अयोग्यताओं के कारण पीड़ित न हो। संक्षेप में, मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं होना चाहिए, और "एक व्यक्ति नागरिक होने के नाते जिन अधिकारों के योग्य है वही अधिकार मुझ में भी उसी सीमा तक और दृढ़ता के साथ होने चाहिएं।"[2] इसका आशय यह है कि मुझे उन सब सामाजिक और राजनीतिक सुविधाओं का भोग करने का अधिकार है जिनका दूसरों को हक है। प्रतिनिधियों के चुनाव में मेरा मत (Vote) उतना ही मूल्यवान और ठोस है, जितना कि दूसरों का। मैं राज्य के किसी भी पद का अधिकारी हो सकता हूं जिसके लिए मैं योग्य हो सकूंगा। किसी भी मनुष्य को अधिकारी-शक्ति की प्राप्ति के लिए इंकार करना, उसकी स्वतंत्रता के प्रति पूर्ण अस्वीकृति है, क्योंकि "जब तक मैं भी दूसरों के समान अधिकार प्राप्त करने का अधिकारी नहीं तब तक मैं विक्षिप्तता, के वातावरण में वास करता हूं।"[3] जब कोई विक्षिप्तता के वातावरण में वास करता है तो उसमें कोई भावना ही नहीं होगी। वह समाज में अपना वह स्थान स्वीकार करता है, जो उसे जन्म की घटनावश उसके जीवन की स्थायी अवस्था के रूप में प्राप्त हुआ है। यह है वह प्रकार जिसके कारण रचनात्मकता का गुण नष्ट हो जाता है और मनुष्य अथवा मनुष्यों का एक वर्ग "पशुत्व का रूप" धारण कर लेते हैं, और जिसे अरिस्टोटल ने प्राकृतिक दास की विशेषता के रूप में वर्णित किया है। उस समाज में समानता नहीं हो सकती, जब कुछ मालिक हों और बाकी दास।

स्वाधीनता की भांति समानता में भी एक विधेयात्मक तत्व होता है। इस भाव में, इसका अर्थ है पर्याप्त अवसरों की स्थापना करना। पर्याप्त अवसरों से हमारा तात्पर्य समान अवसरों का नहीं है। यह असम्भव है। प्रो. लास्की का कहना है कि "आधुनिक विश्व में अवसर पैतृक परिस्थितियों पर आश्रित हैं।"[4] पर्याप्त अवसरों की स्थापना करने का तात्पर्य यह है कि राज्य सब नागरिकों के लिए किसी प्रकार के भेद-भाव के बिना उनकी बुद्धि के पूर्ण विकास के लिए समुचित अवसर प्रदान करे। यदि किसी में आवश्यक योग्यता है तो उसकी अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं की जानी चाहिए। समानता का सिद्धांत उस समय यथार्थ हो जाता है, जब राज्य सब नागरिकों को उनकी योग्यताओं के पूर्ण विकास के लिए उचित अवसर प्रदान करता है।

---

1. Laski: A Grammar of Politics, p. 153
2. Ibid.
3. Ibid, p. 149.
4. Ibid, p. 151.

समानता का विषय (Content of Equality)—लार्ड ब्राईस चार प्रकार की समानता का उल्लेख करते हैं : (१) नागरिक समानता; (२) राजनीतिक समानता; (३) सामाजिक समानता; (४) प्राकृतिक समानता। ब्राईस के वर्गीकरण को (५) आर्थिक समानता द्वारा पूरक बनाया जा सकता है।

१. नागरिक समानता (Civil Equality):—नागरिक समानता में सब नागरिकों के समान नागरिक अधिकारों और स्वाधीनताओं का समावेश होता है। कानून की दृष्टि में सब समान होने चाहिएं। यदि कानून मनुष्यों में उनके स्तर या संपत्ति के कारण, उनके राजनीतिक मत या उनके धार्मिक विश्वासों के कारण भेद करता है अथवा, यदि कानून दूसरों की कीमत पर लोगों के एक वर्ग को लाभ पहुंचाने के लिए मंजूर किये जाते हैं, तो यह कानून की समानता नहीं। समानता चाहती है कि स्वत्वों के अधिकार के विषय में सब नागरिकों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए।

२. राजनीतिक समानता (Political Equality)—राजनीतिक समानता का अर्थ है कि सब नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार हों, सरकार में समान आवाज हो, और अधिकार के सब पदों की समान प्राप्ति हो, बशर्ते कि आवश्यक योग्यताएं पूर्ण की गई हों। यह लोकतन्त्र और वयस्क मत-दान को लागू करता है। किन्तु राजनीतिक समानता तब तक वास्तविक नहीं होती जब तक उसके साथ आर्थिक समानता

३. सामाजिक समानता (Social Equality)—सामाजिक समानता का अर्थ है कि सब नागरिक समाज की समान रूप में स्पष्ट इकाइयां हैं और किसी को भी विशिष्ट सुविधाओं का अधिकार नहीं। यह वंश, रंग, पद, वर्ग अथवा जाति के कारण लोगों के सामाजिक स्तर में कोई भेद नहीं करती। भारत में सामाजिक समानता नहीं है क्योंकि हमारा समाज जातियों में विभाजित है और विभिन्न जातियों में आदान-प्रदान एक सामाजिक निषेध (Taboo) है। वर्तमान में दक्षिण अफ्रीका में जातीय भेद-भाव का जो अनुसरण हो रहा है, वह सामाजिक समानता के सिद्धांत का उल्लंघन है। साथ ही, भिन्न वर्गों में समाज का विभाजन मालिक (employers) और कर्मकर, धनी और गरीब, कुलीन और साधारण जन—पूंजीवादी समाज का विलक्षण स्वरूप है और यह सामाजिक समानता के लिए बड़ी भारी बाधा है। जो भी हो, सामाजिक समानता राज्य के कानूनों द्वारा लोगों पर तब तक थोपी नहीं जा सकती, जबतक समानता की भावना हमारी सामाजिक आदतों और सामाजिक व्यवस्थाओं में भारी परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर देती। यदि सामाजिक समानता की भावना चतुराई के साथ रोपी गई है, तो इससे निश्चय ही उस सामाजिक न्याय की प्राप्ति के प्रति पर्याप्त वृद्धि होगी जिसके लिए

धीनता और समानता एक दूसरे की विरोधी हैं। लार्ड एक्टन का कथन है कि "समानता के आवेश ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया।" यदि स्वाधीनता से हमारा तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार संपत्ति और अधिकार के लिए अनियंत्रित स्वतंत्रता है, तो यह सत्य है। जब भी और जहां भी इस प्रकार की स्वतंत्रता रही है, तो इसका परिणाम संपत्ति के रूप में सामाजिक व्यवस्था को भ्रष्ट करना हुआ है, और फलस्वरूप अधिकार कुछ-एक लोगों के हाथों में केन्द्रीभूत हो गया। संपत्ति की महान असमानताएं कम भाग्यवान के लिए स्वतंत्रता की प्राप्ति को असंभव बनाती हैं। जो संपत्तिवान होंगे और सरकार का नियंत्रण करेंगे, वे अपने अधिकार से गरीबों का गला काटेंगे। फलतः, समानता में यह बात शामिल है कि राज्य संपत्ति और शक्ति के अधिकार की स्पष्ट भेदभावना का अन्त करे। यह संयमहीन स्वतंत्रता को सीमित करने से ही केवल संभव बनाया जा सकता है और लार्ड एक्टन के विचार में यह स्वाधीनता का आधार है।

लार्ड एक्टन के मंतव्य को रद्द करते हुए हमारा निष्कर्ष यह है कि समानता के बिना स्वाधीनता नहीं हो सकती। समानता के बिना नागरिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वाधीनता केवल धोखा है। समानता केवल तभी प्राप्त की जा सकती है, जब स्वाधीनता की अवस्थायें हों और स्वाधीनता अधिकारों की उपज है। नागरिक स्वाधीनता (Civil liberty) तभी प्राप्त की जाती है जब कानून की दृष्टि में सब समान हों। राजनीतिक स्वाधीनता सबके लिए समान राजनीतिक स्तर को स्वीकार करती है। किन्तु राजनीतिक स्वाधीनता जिसका अर्थ राजनीतिक समानता है तबतक वास्तविक नहीं हो सकती, जबतक उसके साथ वास्तविक आर्थिक समानता न हो। मैडीसन (Madison) के कथनानुसार संपत्ति का विभाजन ही केवल स्थायी मार्ग है। एक समाज, जिसमें संपत्ति-विषयक भारी असमानताएं हैं, न तो नागरिक और न ही राजनीतिक स्वाधीनता का विश्वास दे सकता है। समानता वस्तुतः पारस्परिक कार्य करने से बनती है अथवा अरिस्टोटल के कथनानुसार मित्रता में है। असमान जीवन-स्तर, शिक्षा और संस्कृति वाले मनुष्यों में मित्रता नहीं हो सकती। "यदि स्वाधीनता का अर्थ मानव-भावना की अभिव्यक्ति में शक्ति का विस्तार है, तो समान लोगों के समाज में यह बहुत कम मिलती है। जहां कहीं धनी और निर्धन-शिक्षित और अशिक्षित होते हैं, वहां हमें सदैव स्वामी और सेवक दृष्टि में आते हैं।

संपत्ति की असमानताएं स्पष्टतया व्यवहार और अधिकार की असमानताएं पैदा करेंगी। गरीब के लिए न्याय नहीं होगा, क्योंकि "न्याय में समानता न्याय की पहली शर्त है।" एक मैजिस्ट्रेट, जो गरीब चोर को दंड देता है और अमीर को बरी कर देता है, और अमीर के अपराध को स्नायविक रोग ठहराता है, वह दोनों के आर्थिक स्तर में अन्तर के कारण ही ऐसा करता है। कानून के प्रशासन में इस प्रकार के भेद "स्वतः कानून पर आश्रित नहीं होते प्रत्युत संपत्ति की असमानता के सामाजिक परिणामों पर आश्रित होते हैं।" जो बातें गरीब में बुरी नजर आती हैं, वह अमीर में बुरी नहीं लगतीं। संपत्ति की समानता की दिशा में गति ही इस तरह के अन्तरों को दूर कर सकती है। सब देशों ने, जो वास्तविक स्वाधीनता की दिशा में गतिशील हुए हैं, वस्तुतः, आर्थिक असमानताओं

को कम करने की चेष्टा की है। फलतः, स्वाधीनता और समानता एक दूसरे की पूरक हैं और परस्पर विरोधी नहीं।

स्वाधीनता के संरक्षण
(Safeguards of Liberty)

स्वाधीनता का पहला अनिवार्य संरक्षण यह है कि नागरिक अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सचेत रहें, क्योंकि जागरूक रहना स्वाधीनता का मूल्य है। यदि सरकार मनुष्यों की स्वतन्त्रता पर आघात करती है, तब मनुष्यों में उसका विरोध करने और सामना करने का साहस होना चाहिए। पुनः स्वतन्त्रता की पूर्णतया रक्षा तब ही सकती है जब राज्य और जनता में पारस्परिक सहयोग हो। पारस्परिक सहयोग को सर्वाधिक पाने के लिए तथा सरकार और जनता के मध्य अविश्वास की संभावनाओं को दूर रखने के लिए राज्यकीय संविधान में जनता की स्वतन्त्रताओं की पूरी परिभाषा की गयी है। यदि सरकार किसी समय भी नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है तो वे, संविधान के अनुसार, वैधानिक उपायों की शरण ले सकते हैं। इस प्रकार संविधान मनुष्यों की स्वाधीनता का त्राण-दाता हो जाता है। भारतीय संविधान के तृतीय खंड में जनता के मौलिक अधिकार और उनके उपभोग के लिए वैधानिक उपाय लिखे गये हैं। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान में भी अधिकारों की एक सूची है।

जिन देशों में अलिखित संविधान है वहां न्याय-विभाग जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। ब्रिटिश राज्य में मौलिक अधिकारों को संसद के द्वारा निर्मित विधियों (Acts), रीतियों, परम्पराओं, रूढ़ियों और न्याय विभाग के निर्णयों में स्वीकार किया जाता है। जब न्याय-विभाग जनता की स्वाधीनता का संरक्षक होता है, तो यह आवश्यक हो जाता है कि न्याय-विभाग स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। विधि की स्वतन्त्रता की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। यदि जनता को अविलम्ब तथा निष्पक्ष न्याय प्राप्त हो जाता है तो उनकी स्वतन्त्रता सुरक्षित है। मोण्टेस्क्यू ने सत्य कहा है कि "यह बात मुख्यतः नियम द्वारा दिए हुए दंड के स्वरूप और परिमाण पर निर्भर है कि स्वतन्त्रता स्थिर रहती है अथवा नष्ट हो जाती है।"

स्वतन्त्रता लोकतन्त्रीय सरकार के अधीन सर्वाधिक फूलती-फलती है। लोकतन्त्र में राजनीतिक शक्ति लोगों के हाथ में होती है। शासक-वर्ग उनके मनोनीत होते हैं और वे उस समय तक पदारूढ़ रह सकते हैं जब तक लोग उन्हें चाहें। यह स्वाधीनता का लाभदायक संरक्षण है किन्तु लोकतन्त्र स्वतः उस समय तक स्वयमेव ही संरक्षण नहीं, जब तक लोग सहिष्णुता का स्वभाव नहीं पा लेते और बहु-संख्यक दल अल्प-संख्यकों के हितों का आदर नहीं करता। बहु-संख्यक दल को अल्पसंख्यकों के हितों की अवहेलना करके दल-गत हितों की भावना से प्रेरित न होना चाहिए, और अल्प-संख्यकों को भी बहु-संख्यकों की भावनाओं में संदेह न करना चाहिए तथा इस प्रकार इनके साथ शत्रुता की भावना नहीं रखनी चाहिए। इनके बीच में आदान-प्रदान, सहिष्णुता तथा पारस्परिक समझौते की भावनायें होनी चाहिए।

लास्की के मतानुसार स्वतन्त्रता मनुष्यों के एक छोटे से समूह के लिए विशिष्ट

धीनता और समानता एक दूसरे की विरोधी हैं। लार्ड एक्टन का कथन है कि "समानता के आवेश ने स्वतंत्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया।" यदि स्वाधीनता से हमारा तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार संपत्ति और अधिकार के लिए अनियंत्रित स्वतंत्रता है, तो यह सत्य है। जब भी और जहां भी इस प्रकार की स्वतंत्रता रही है, तो इसका परिणाम संपत्ति के रूप में सामाजिक व्यवस्था को भ्रष्ट करना हुआ है, और फलस्वरूप अधिकार कुछ-एक लोगों के हाथों में केन्द्रीभूत हो गया। संपत्ति की महान असमानताएं कम भाग्यवान के लिए स्वतंत्रता की प्राप्ति को असंभव बनाती हैं। जो संपत्तिवान होंगे और सरकार का नियंत्रण करेंगे, वे अपने अधिकार से गरीबों का गला काटेंगे। फलतः, समानता में यह बात शामिल है कि राज्य संपत्ति और शक्ति के अधिकार की स्पष्ट भेदभावना का अन्त करे। यह संयमहीन स्वतंत्रता को सीमित करने से ही केवल संभव बनाया जा सकता है और लार्ड एक्टन के विचार में यह स्वाधीनता का आधार है।

लार्ड एक्टन के मंतव्य को रद्द करते हुए हमारा निष्कर्ष यह है कि समानता के बिना स्वाधीनता नहीं हो सकती। समानता के बिना नागरिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्वाधीनता केवल धोखा है। *समानता केवल तभी प्राप्त की जा सकती है,* जब स्वाधीनता की अवस्थायें हों और स्वाधीनता अधिकारों की उपज है। नागरिक स्वाधीनता (Civil liberty) तभी प्राप्त की जाती है जब कानून की दृष्टि में सब समान हों। राजनीतिक स्वाधीनता सबके लिए समान राजनीतिक स्तर को स्वीकार करती है। किन्तु राजनीतिक स्वाधीनता जिसका अर्थ राजनीतिक समानता है तबतक वास्तविक नहीं हो सकती, जबतक उसके साथ वास्तविक आर्थिक समानता न हो। मैडीसन (Madison) के कथनानुसार संपत्ति का विभाजन ही केवल स्थायी मार्ग है। एक समाज, जिसमें संपत्ति-विषयक भारी असमानताएं हैं, न तो नागरिक और न ही राजनीतिक स्वाधीनता का विश्वास दे सकता है। समानता वस्तुतः पारस्परिक कार्य करने से बनती है अथवा अरिस्टोटल के कथनानुसार मित्रता में है। असमान जीवन-स्तर, शिक्षा और संस्कृति वाले मनुष्यों में मित्रता नहीं हो सकती। "यदि स्वाधीनता का अर्थ मानव-भावना की अभिव्यक्ति में शक्ति का विस्तार है, तो समान लोगों के समाज में यह बहुत कम मिलती है। जहां कहीं धनी और निर्धन-शिक्षित और अशिक्षित होते हैं, वहां हमें सदैव स्वामी और सेवक दृष्टि में आते हैं।

संपत्ति की असमानताएं स्पष्टतया व्यवहार और अधिकार की असमानताएं पैदा करेंगी। गरीब के लिए न्याय नहीं होगा, क्योंकि "न्याय में समानता न्याय की पहली शर्त है।" एक मैजिस्ट्रेट, जो गरीब चोर को दंड देता है और अमीर को बरी कर देता है, और अमीर के अपराध को स्नायविक रोग ठहराता है, वह दोनों के आर्थिक स्तर में अन्तर के कारण ही ऐसा करता है। कानून के प्रशासन में इस प्रकार के भेद "स्वतः कानून पर आश्रित नहीं होते प्रत्युत संपत्ति की असमानता के सामाजिक परिणामों पर आश्रित होते हैं।" जो बातें गरीब में बुरी नजर आती हैं, वह अमीर में बुरी नहीं लगतीं। संपत्ति की समानता की दिशा में गति ही इस तरह के अन्तरों को दूर कर सकती है। सब देशों ने, जो वास्तविक स्वाधीनता की दिशा में गतिशील हुए हैं, वस्तुतः, आर्थिक असमानताओं

को कम करने की चेष्टा की है। फलतः, स्वाधीनता और समानता एक दूसरे की पूरक हैं और परस्पर विरोधी नहीं।

स्वाधीनता के संरक्षण
(Safeguards of Liberty)

स्वाधीनता का पहला अनिवार्य संरक्षण यह है कि नागरिक अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सचेत रहे, क्योंकि जागरूक रहना स्वाधीनता का मूल्य है। यदि सरकार मनुष्यों की स्वतन्त्रता पर आघात करती है, तब मनुष्यों में उसका विरोध करने और सामना करने का साहस होना चाहिए। पुनः स्वतन्त्रता की पूर्णतया रक्षा तब हो सकती है जब राज्य और जनता में पारस्परिक सहयोग हो। पारस्परिक सहयोग को सर्वाधिक पाने के लिए तथा सरकार और जनता के मध्य अविश्वास की सम्भावनाओं को दूर रखने के लिए राज्यकीय संविधान में जनता की स्वतन्त्रताओं की पूरी परिभाषा की गयी है। यदि सरकार किसी समय भी नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है तो वे, संविधान के अनुसार, वैधानिक उपायों की शरण ले सकते हैं। इस प्रकार संविधान मनुष्यों की स्वाधीनता का त्राण-दाता हो जाता है। भारतीय संविधान के तृतीय खंड में जनता के मौलिक अधिकार और उनके उपभोग के लिए वैधानिक उपाय लिखे गये हैं। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान में भी अधिकारों की एक सूची है।

जिन देशों में अलिखित संविधान है वहां न्याय-विभाग जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। ब्रिटिश राज्य में मौलिक अधिकारों को संसद के द्वारा निर्मित विधियों (Acts), रीतियों, परम्पराओं, रूढ़ियों और न्याय विभाग के निर्णयों में स्वीकार किया जाता है। जब न्याय-विभाग जनता की स्वाधीनता का संरक्षक होता है, तो यह आवश्यक हो जाता है कि न्याय-विभाग स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। विधि की स्वतन्त्रता की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। यदि जनता को अविलंब तथा निष्पक्ष न्याय प्राप्त हो जाता है तो उनकी स्वतन्त्रता सुरक्षित है। मौण्टेस्क्यू ने सत्य कहा है कि "यह बात मुख्यतः नियम द्वारा दिए हुए दंड के स्वरूप और परिमाण पर निर्भर है कि स्वतन्त्रता स्थिर रहती है अथवा नष्ट हो जाती है।"

स्वतन्त्रता लोकतंत्रीय सरकार के अधीन सर्वाधिक फूलती-फलती है। लोकतंत्र में राजनीतिक शक्ति लोगों के हाथ में होती है। शासक-वर्ग उनके मनोनीत होते हैं और वे उस समय तक पदारूढ़ रह सकते हैं जब तक लोग उन्हें चाहें। यह स्वाधीनता का लाभदायक संरक्षण है किन्तु लोकतन्त्र स्वतः उस समय तक स्वयमेव ही संरक्षण नहीं, जब तक लोग सहिष्णुता का स्वभाव नहीं पा लेते और बहु-संख्यक दल अल्प-संख्यकों के हितों का आदर नहीं करता। बहु-संख्यक दल को अल्पसंख्यकों के हितों की अवहेलना करके दल-गत हितों की भावना से प्रेरित न होना चाहिए, और अल्प-संख्यकों को भी बहु-संख्यकों की भावनाओं में संदेह न करना चाहिए तथा इस प्रकार इनके साथ शत्रुता की भावना नहीं रखनी चाहिए। इनके बीच में आदान-प्रदान, सहिष्णुता तथा पारस्परिक समझौते की भावनायें होनी चाहिए।

लास्की के मतानुसार स्वतन्त्रता मनुष्यों के एक छोटे से समूह के लिए विशिष्ट

सुविधायें होते हुए प्राप्त नहीं की जा सकती। प्रत्येक के लिए अधिकार-पदों के प्राप्त करने का अधिकार वास्तविक स्वतन्त्रता है। वे लोग जो अधिकार-पदों से वंचित है, आज्ञा-पालन का, अधीनता का स्थान प्राप्त करते हैं और जब कभी मनुष्य केवल आज्ञा प्राप्त करने वाले ही रह जाते हैं, तो वे अपने व्यक्तित्व और अपनी शक्तियों के विकास की योग्यता को खो देते हैं। वे स्वतन्त्रता का अर्थ नहीं समझ सकते और न अपने अधिकारों की सुरक्षा की बात को ही समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त जहां कुछ लोगों के अधिकार दूसरों की प्रसन्नता पर निर्भर हैं वहां स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। इसलिए कोई मनुष्य एवं मनुष्य-समूह इस स्थिति में नहीं होना चाहिए कि वह मेरे उन अधिकारों और स्वतन्त्रता का जो मेरे नागरिक होने के नाते मेरे हैं, अपहरण कर सके।

अन्ततः जब राज्य का कार्य पक्षपातरहित हो तो उस दशा में स्वाधीनता सर्वाधिक अच्छे ढंग से प्राप्त की जा सकती है और रक्षित की जा सकती है। इसका अर्थ यह है कि राज्य का यंत्र यथाविधि और पक्षपातरहित ढंग से चलाना चाहिये, उसे न तो कुछ के लाभ के लिए और न दूसरों की हानि के लिए चलाना चाहिए। जो भी हो, यह आदर्श सदैव प्राप्त किया जाना संभव नहीं। किन्तु, हम जिस बात को कई बार कह चुके हैं, उसे पुनः दुहराते हैं कि स्वाधीनता का मूल्य सदा-जागरूक-रहना (eternal vigilance) है और स्वाधीनता का रहस्य साहस है। यदि लोग अपने अधिकारों के लिए जागरूक और उत्साही हैं तो वे राज्य के किसी अवैध हस्तक्षेप और पक्षपातपूर्ण कार्य को सहन नहीं करेंगे। यदि लोगों में त्याग करने का साहस है और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सभी परिणामों के सहन करने की क्षमता है, तो उनकी स्वाधीनता नहीं छीनी जा सकती। फलतः लोगों की स्वतन्त्रता-प्रेम की भावना स्वाधीनता की सर्वाधिक सुरक्षा है।

Suggested Readings

Bryce, J.— Modern Democracies, Vol. I, Chap. VI
Cole, G. D. H. and Margaret—A Guide to Modern Politics, pp. 478—95.
Gettell, R. G.—Introduction to Political Science Chap. X.
Gilchrist, R. N.—Principles of Political Science, Chapts VI, VII.
Lacy, G.—Liberty and Law, Chapts. II, IV.
Laski, H. J.—A Grammar of Politics, Chapts. II, IV.
Laski, H. J.—Liberty and the Modern State.
Laski, H. J.—The Dangers of Obedience & other Essays pp. 207—37.
Leacock. S.—Elements of Political Science, Chap. V.
Mill, J. S.—On Liberty (1884).
Seeley, J. R.—Introduction to Political Science, Lectures V, VI.
Tawney, R.H.—Equality (1931).

अध्याय : : ९

व्यक्ति और राज्य के बीच सम्बन्ध (३)

(Relation between the Individual and the State)

कानून (Law)

कानून के अर्थ तथा प्रकृति (Meaning and Nature of Law)—ला यानी कानून शब्द के विभिन्न अर्थ लिये जाते हैं। प्रायः कार्य कारण की शृंखला के अर्थों में इसका प्रयोग होता है, यथा गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitation), कानून शब्द, उन नियमों की ओर भी संकेत करता है, जो मानव कार्यों के मार्गदर्शन के लिए आवश्यक हैं। अपने मानव-बंधुओं से झगड़ा न बढ़े, इसलिए, मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के लिए, कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य है। यदि इन नियमों का संबंध, मनुष्य के उद्देश्यों तथा विवेक-बुद्धि से हो, तो उन्हें, नैतिक नियम कहा जाता है। और यदि इनका संबंध, मनुष्य के बाह्य वस्तु-विषयक बाहरी कार्यों से हो, तो वे सामाजिक या राजनीतिक कानून कहे जाते हैं।

राजनीतिक कानूनों और सामाजिक कानूनों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझना होगा। राजनीतिक कानून बेजोड़ हैं। सामाजिक कानून की उपेक्षा करने पर, मनुष्य के कार्य को सामाजिक ढंग से नापसन्द किया जाता है। और यदि, ऐसे व्यक्ति को दंड देने की आवश्यकता हो, तो ऐसा करने के लिये कोई शक्ति नहीं है। सामाजिक कानूनों के साथ, किसी प्रकार की ऐसी व्यवस्था नहीं लगी, जिसके अनुसार दंड दिया जा सके। किन्तु, राजनीतिक कानून भंग करने वाले के लिए दंड मौजूद है। राज्य अधिकार ही, राजनीतिक कानून को लागू करता है। मेकाइवर (MacIver) लिखता है कि "राज्य का कानून ही, एक सीमा निर्दिष्ट व उन्नत समाज में प्रतिरोधी है।"[1] राजनीतिक विज्ञान, इसी प्रकार के कानून की व्याख्या करता है। इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त 'कानून' शब्द 'पौजिटिव ला' कहलाता है।

कानून के सिद्धान्त (Theories of Law)

कानून का विश्लेषणात्मक सिद्धांत (*Analytical theory of Law*)—राजनीतिक नियम का स्वरूप आज्ञा का होता है जो कुछ कार्यों के करने का आदेश अथवा निषेध करता है और जिसके उल्लंघन का अर्थ दंड है। यही कानून का विश्लेषक सिद्धान्त है, जिसे प्रायः "सनातन" (Orthodox) "रिवाजी" (Conventional) या "उच्च कोटि" का (Classical) सिद्धांत कहा जाता है। इस मत का प्रारम्भिक संबंध जॉन ऑस्टिन (John Austin) से जोड़ा गया है। इस मत के पोषक, 'ला' कानून, शब्द का प्रयोग, इसके निरपेक्ष अर्थों में करते हुए, इसे मानव-श्रेष्ठ की आज्ञा मानते हैं

1. MacIver, op. citd, p. 17.

(Command of a determinate human superior) यह "मानव-श्रेष्ठ" चाहे एक ही मनुष्य हो, चाहे मनुष्यों की समिति, जिसको किसी राजनीतिक स्वतन्त्र समाज में प्रभुत्व प्राप्त हो। निरपेक्ष कानून की प्रकृति में स्पष्ट रूप से, वल-प्रयोग या जवरदस्ती का भाव मौजूद है। राज्य के पास वल रहने से उसका आज्ञा-पालन निश्चित हो जाता है।

कानून का ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical Theory of Law)–कानून की परिभाषा पर, सर हैनरी मेन (Sir Henry Maine) तथा अन्य ऐतिहासिक सिद्धांतवादी विद्वानों ने आपत्ति की है। वे उक्त परिभाषा को संकीर्ण वतलाते हुए, यह नहीं मानते कि राज्य में कोई निश्चित प्रभुत्व संपन्न अधिकारी ही क़ानून बना सकता है। उनका दावा है, कि कानून की उत्पत्ति, विभिन्न सामाजिक शक्तियों के विकास से होती है, और कानून तीन निश्चित स्रोतों से निकलता है : वे हैं प्रथाएं, रीतियां तथा सार्वजनिक अनुमति और वह पक्का राजनीतिक अधिकारी जो कानून वनाने में सशक्त हो। राजनीतिक कानून निर्माता अधिकारी ही कानून का विधिवत स्रोत है। इसके अतिरिक्त दूसरी विशिष्ट शक्तियां भी होती हैं। जैसे रीतियां, रूढ़ियां और जनता की अनुमति, जिन्हें कानून का भौतिक (material) स्रोत कहा जा सकता है। कोई वैध कानून निर्माता अधिकारी चाहे वह कितना ही पूर्ण अधिकार क्यों न रखता हो, कानून के भौतिक स्रोत की अवहेलना नहीं कर सकता। ऐतिहासिक सिद्धांतवादियों के अनुसार, कानून का अध्ययन, परिस्थितियों पर नैतिक, धार्मिक, आर्थिक व ऐतिहासिक प्रभावों को दृष्टि में रखते हुए ही करना चाहिये। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) के शब्दों में उस कानून को लागू नहीं किया जा सकता जो "कानून निर्माता को, परिस्थितियों तथा उस राष्ट्र के विचारों द्वारा, जिसके लिए कि वह कानून वना रहा है, किसी न किसी उद्देश्य से तजवीज नहीं किया जाता।" यह सच है कि प्रथाएं, रीति-रिवाज राजनीतिक दृष्टि से तव तक कानून का रूप धारण नहीं कर सकते, जव तक कि उसे राज्य की स्वीकृति प्राप्त न हो जाय। परन्तु, ऐतिहासिक सिद्धांतवादी कहते हैं, कि कानून वनाना राज्य-कृत्य नहीं है; उसका काम है, कानून को यथार्थ रूप से समझकर उसे लागू करना। उनका दावा है, कि "कानूनों के स्रोत सर्वसाधारण अपरिवर्तनशील मानव-विचार शक्ति में भी नहीं हैं और न ही, समकालीन सरकारी महकमों में, वरंच, कानूनों का निवास है, राष्ट्रीय इच्छा शक्ति या विचारों में, जो कि किसी जाति द्वारा अपने वाकायदा व्यवहार से प्रकट किये जाते हैं।"[1] कानून की स्वीकृति ही, राज्य की दमनीय अधिकारी शक्ति नहीं है। लोग कानूनों को मानते हैं, क्योंकि उन्हें इसकी आदत हो जाती है और वे समझते हैं कि कानून उनके अधिकारों के अनुकूल हैं। इस से कानूनों की स्वीकृति को स्थायी पुष्टि प्राप्त होती है।

समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय (Sociological School)—समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय जिसके अग्रणी प्रतिनिधि डिग्विट, क्रैव और लास्की हैं, कानून के सनातन-भाव को एक व्यर्थ सत्य वतलाते हैं। वे दलील देते हैं कि कानून का निर्माण वास्तव में किसी संगठित समुदाय द्वारा नहीं किया गया। वे मानते हैं कि समाज में ऐसे सुनिश्चित

1. Cocker : op. citd., p. 523.

अभिकरण (Agencies) हैं, जो निर्णय करके आज्ञायें निकालते हैं और जिनकी आज्ञायें समाज का बहुल भाग मानता ही है। किन्तु ऐसे सभी निर्णय अथवा आज्ञायें कानून के सदृश मान्य नहीं हैं। इन नियमों को कानून का रूप देने के लिए कुछ दूसरा गुण भी होना चाहिए। डुगिट कहता है कि समाज में रहने वाले लोगों के आचरण के लिए निर्मित नियमों को कानून कहते हैं। उनका पालन इसलिए नहीं किया जाता कि वे आज्ञायें हैं या उनके साथ दण्ड भी लगा है। प्रत्युत वे सामाजिक जीवन की अवस्थाएं हैं। इन आज्ञाओं के पालन के बिना जीवन रहने योग्य नहीं है। हममें से सब जीवन के उन नियमों से जो कि समाज को जीवित रहने योग्य बनाते हैं, परिचित हैं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने स्वार्थ के कारण उनका पालन अनिवार्य है। वह अपनी अतःप्रवृत्ति अथवा अनुभव से जानता है कि साथ-साथ रहने के जीवन का क्या अर्थ है। इस बात के ज्ञान से सामाजिक, दृढ़ता आती है और राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसे नियमों का निर्माण करे। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है, कि ऐसे नियमों का पालन करे जिनसे सामाजिक दृढ़ता में सहायता मिलती है और ऐसे कार्यों से दूर रहे जो उसकी उन्नति में बाधक हैं। संक्षेप मे, कानून "मौलिक अर्थ मे मनुष्य के आचरण के वे नियम हैं, जिनके पालन से प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि समाज मे रहने वाले के सुखों में वृद्धि होती रहेगी।" डुगिट का दावा है कि क़ानून की स्वीकृति प्राथमिक रूप से मनोवैज्ञानिक है और "इसका आधार, प्रत्येक व्यक्ति की हालत में, उसका वही ज्ञान है, कि उसके व्यवहार को, मूलभूत सामाजिक नियमों ने कितना अनुकूल और कितना प्रतिकूल पाया है।"

क्रैब ने कानून की व्याख्या, उसके मूल स्रोत के आधार पर की है। कानून, उन साधारण या असाधारण नियमों का, लिखित या अलिखित, कुल जोड़ है, जो "मनुष्य के भावों या अधिकारों के अनुभव से उत्पन्न होते रहते हैं।" उन्होंने राज्य की प्रभुत्व-

और स्वतंत्र है। इस प्रकार क्रैब ने कानून की परिभाषा करते हुए इसे, "मनुष्यों द्वारा, अपने स्वभाव अथवा प्रकृति के आधार पर आंकी हुई अनेक कीमतों का व्यक्तिकरण" निश्चित किया है। इसलिए हमारे दृष्टिकोण और न्याय बुद्धि के अनुसार जो कल्याणकारी और न्यायसंगत हो, वही कानून है। यह एक मानवी तथा भीतरी मामला है, न कि बाहरी वैध-सत्ता का। कानून को माना जाता है, इसीलिए कि वह भला करने वाला और न्यायसंगत है, इसलिए नहीं कि उसकी अवज्ञा मे दंड मिलने का भय है। लास्की के अनुसार, कानून का स्रोत है व्यक्ति का स्वीकृति देने वाला मन। लोग कानून का पालन करते हैं क्योंकि वह उनकी इच्छाओं को पूर्ण करता है। आपकी राय में अच्छा कानून "वही है, जिसके परिणामस्वरूप लोगों की अधिकतम इच्छाएं पूरी होती हों। अतः अच्छे कानून के सिवा कोई दूसरा कानून, दिखावे को छोड़कर, पालन करने योग्य नहीं है।" इस प्रकार लास्की ने कानून का स्रोत वही निश्चित किया है, अर्थात् व्यक्ति का अनुमति दाता मन, जो सच्चे अर्थों में स्रोत कहा जाना चाहिये।

अधिक सामान्य हो गए। उस समय परिभाषा द्वारा रीति को पूरक करने की आवश्यकता महसूस हुई। जब कभी रीति ठीक निर्णय देने में असफल रही, अथवा संबंधित मामले के लिए उपयुक्त न हो सकी, तो कलह का सर्वमान्य दृष्टि के अनुसार निर्णय किया जाता था। इस तरह के निर्णय न्याय-विभागीय दृष्टांत बन गए। शुरू-शुरू में वे मौखिक और अलिखित थे। वे परंपरा द्वारा पीढ़ी-से-पीढ़ी को चलते गए। किंतु उन्हें अधिक निश्चित करने के लिए अनंतर काल में उन्हें लिखित कर दिया गया।

आदि-नियम की केवल यही विशेषता नहीं थी। हमारे समय में एक न्यायाधीश कानून को लागू करते हुए उसकी परिभाषा करता है, और ऐसा करते हुए वह अचेतन या चेतन रूप में उसका संशोधन करता है या विस्तार करता है। रीति-रिवाजों को भी, समाज की शक्तिशाली अवस्थाओं के अनुसार ठीक करना होता है और उनकी कठोरता को प्रगतिकारी सामाजिक शक्तियों द्वारा तरल करना होता है। लिखित नियम के रिक्त-स्थानों की भी पूर्ति करने की जरूरत होती है। यह न्यायाधीशों द्वारा किया जाता है और जस्टिस होम्स ने, इस कथन द्वारा एक नग्न सत्य को प्रकट किया है कि न्यायाधीश नियमों को बनाते हैं और उन्हें बनाने चाहियें। इस तरह, कानून अपने चारित्रिक रूप में कानून का विषय है अथवा न्यायाधीश-प्रणीत नियम है।

४. वैज्ञानिक टिप्पणियां (Scientific Commentaries)—बड़े-बड़े न्याय-वेत्ताओं के वैज्ञानिक विवादों से भी कानून का संशोधन और विकास होता है। प्रत्येक राज्य में जज और वकील दोनों ही कानून विचार-वेत्ताओं की सम्मतियों को अत्यधिक महत्व प्रदान करते हैं। न्याय-वेत्ता भूत रीतियों, निर्णयों, और कानूनों का संग्रह करते हैं और दार्शनिक रूप में उनका क्रम निश्चित करते हैं। वह वर्तमान पर विचार करते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं और जहां अस्पष्ट हो, उसे स्पष्ट करते हैं। ऐसा करते हुए, वह इस विषय में अपना मत प्रकट करते हैं कि कानून कैसा होना चाहिये और समाज पर उसका क्या प्रभाव होगा। भूत और वर्तमान कानून के आधार पर वे सामान्य सिद्धान्तों पर पहुंचने योग्य होते हैं, जो भावी विधान निर्माण का पथ-निर्देशन कर सकते हैं और मोटे रूप में उन रिक्त स्थानों का संकेत करते हैं, जिनकी पूर्ति की आवश्यकता होती है। जब न्यायाधीश न्याय-वेत्ताओं की सम्मति को स्वीकार कर लेता है, तो यह वर्तमान कानून का अंश बन जाती है। टिप्पणी-कर्त्ताओं के मत निर्णय नहीं होते। वह केवल युक्तियां होती हैं। जब इन तर्कों को बारंबार मान लिया जाता है, तो वह स्वीकृति निर्णयों का रूप धारण कर लेते हैं। संक्षेप में, "टिप्पणी-कर्त्ता सिद्धान्तों, रीतियों, निर्णयों और कानूनों को संग्रह करने, तुलना करने और तर्क की दृष्टि से क्रमबद्ध करके संभवित प्रश्नों के लिए पथ-निर्देश के सिद्धान्तों का कार्य करता है। वह त्रुटियों को दिखाता है और उन्हें शासित करने के लिए सिद्धान्तों की रचना करता है।"

५. समता (Equity)—समता शब्द का अर्थ है समानता, निष्पक्षता या न्याय्यता। एक न्यायाधीश का कृत्य न्याय करना है। किन्तु कानून प्रत्येक मामले पर कदापि संगत नहीं बैठता। कई स्थानों पर यह तटस्थ हो सकता है। जब वर्तमान कानून किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं करता, तो समता के सिद्धान्त लागू किये जाते हैं और मामलों का निर्णय सर्वमान्य दृष्टि या निष्पक्षता के अनुसार किया जाता है। इसके

अतिरिक्त, विध्यात्मक कानून, समय वीतने के साथ, नयी और परिवर्तित सामाजिक अवस्थाओं के लिए अनुपयुक्त हो जाते है। इसे उपयुक्त बनाने के लिए या तो कानून को बनाने वाली अधिकार शक्ति द्वारा परिवर्तन किया जाना चाहिये, अथवा उसे बदलने की कोई अनियमित विधि होनी चाहिये। "समता नये कानून बनाने या पुराने में परिवर्तन करने की अनियमित विधि है, जो व्यवहार की शुद्ध निष्पक्षता या समानता पर निर्भर करती है।"[1] इसलिए, समता वर्तमान कानून की सहायता के अभाव की दशा में सहायता प्रदान की प्रवृत्ति रखती है।

सर हेनरी मेन के कथनानुसार समता का कानून मे हस्तक्षेप खुला और प्रदत्त है।[2] समता कानून को केवल पूरक ही नही, प्रत्युत कानून को लोचदार भी बनाती है। यह नये कानून बनाने और पुराने को बदलने की अनियमित विधि है।[3] समता भी, न्यायाधीश-प्रणीत कानून की एक प्रकार है। किंतु दोनों के बीच एक महत्वपूर्ण अतर है। कानून-गत मामले मे, न्यायाधीश वर्तमान कानून की परिभाषा करता है। समता में वह कानून की वृद्धि करता है, जिसका उसमे अभाव होता है और परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार उसे उपयुक्त बनाने के लिए नये की रचना करता है।

[illegible] न
[illegible] त
होती है और वे प्रतिनिधि सस्थाए है। वर्तमान में कानून बनाने के अन्य सब साधन इस आधुनिक विधि ने हड़प लिये हैं। रीति और समता को निश्चित विधान निर्माण की क्रियाओं द्वारा प्रतिस्थापित किया जा रहा है। कानूनों के अनुविधिकरण ने न्यायविभागीय निर्णयों के क्षेत्र को सीमित कर दिया है और वैज्ञानिक टिप्पणिया मामलों पर विचार करने मात्र के लिए प्रयुक्त होती हैं। किंतु हम रीतियों, समता, धार्मिक चलनों और न्याय-विभागीय निर्णयो की उपयोगिता की उपेक्षा नही कर सकते। यद्यपि ये सब शक्तिया कानून की प्रत्यक्ष स्रोत नहीं रह गई है, वे निरन्तर इसके निर्माण को प्रभावित करती है।

राजनीतिक विज्ञान के अधिकारी विद्वान, वुडरो विल्सन ने कानून के विकास की विधि पर अपने सुन्दर विचार प्रकट किये है। उनका कथन है, "रीति कानून का सर्वाधिक आदि-स्रोत है किंतु धर्म समकालीन है, जो समान रूप से उपजाऊ है, और राष्ट्रीय विकास के समान चरणों मे प्राय समान स्रोत है। अधिनिर्णय स्वत अधिकार शक्ति के रूप में आता है, और अत्यधिक प्राचीन काल से समता के साथ-साथ चलता है। कानून-निर्माण, कानून का चेतन और विचारपूर्ण सगठन और वैज्ञानिक विचार-विमर्श, उसके सिद्धान्तों का तर्कसंगत विकास, केवल कानून की उन्नत विकासोन्मुख अवस्था में ही सभव है और तभी कानून बनाने में उपर्युक्त अवस्थाए प्रभावपूर्ण सिद्ध हो सकती है।"

कानून के भिन्न प्रकार

मोटे तौर पर कानून के दो स्पष्ट भेद किए जा सकते हैं—राष्ट्रीय कानून और

1. Gilchrist, op. citd., p. 161-62
2. Maine, Ancient Law, p.28.
3. Ibid.

लक्ष्य समाज में मनुष्यों की नैतिक पूर्णता और सामान्य हितों का विकास है। समाज उन नैतिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए, जो कि मनुष्य को अपने पूर्ण विकसित और उन्नत स्वरूप में लाते हैं, कायम है। संक्षेप में प्रत्येक राज्य उन भौतिक और सामाजिक अवस्थाओं के विकास के लिए प्रयत्न करता है जो कि एक स्वतन्त्र नैतिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और विकास के लिए आवश्यक है। इस प्रकार राज्य की क्रियाओं का मनुष्य के नैतिक लक्ष्य के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों के बीच इतना घनिष्ठ संबंध है कि प्राचीन लेखकों ने कानून के साथ नैतिकता को गड़बड़ा दिया है।

कानून और नैतिकता में भेद (Distinction between Law and Morality)—किंतु दोनों के बीच सीमा की निश्चित रेखा खींची जा सकती है। कानून और नैतिकता विषय, मान्यता और निश्चयात्मकता में एक-दूसरे से भिन्न हैं। नैतिकता मनुष्य के संपूर्ण जीवन को, उसके विचारों और उद्देश्यों और उसके कार्यों को परिवेष्टित करती है। कानून का मनुष्य के केवल बाहरी कार्यों से सम्बन्ध है, उसके विचारों और उद्देश्यों के साथ उसका कोई संबंध नहीं। विचारों और उद्देश्यों को जब कार्यों में व्यक्त किया जाता है, केवल तब वे कानून की परिधि में आते हैं। झूठ बोलना या क्रोध करना, निःसंदेह, अनैतिक कार्य हैं। किन्तु जब तक मैं झूठ बोल कर किसी को धोखा नहीं देता, मैं कोई अवैध कार्य करने का अपराधी नहीं। इसी प्रकार, जिस समय तक मैं अपने क्रोध को अपने ही तक सीमित रखता हूं, अथवा उसे केवल शब्दों में ही व्यक्त करता हूं, मैं राज्य के कानून के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता। किन्तु यदि मैं क्रोध के आवेश में किसी के शरीर पर कोई घाव कर देता हूं, तब मेरा कार्य राज्य के कानून के विरुद्ध है और मैं उसे भंग करने के लिए दंडित किया जा सकता हूं।

कानून राज्य द्वारा जारी किया जाता है और उसकी अवज्ञा का प्रतिहार दंड है। उसकी पीठ पर शक्ति की मान्यता है। दूसरी ओर, नैतिकता के नियम को भंग करने का अर्थ शारीरिक दंड नहीं है यद्यपि इसका तात्पर्य सामाजिक अयोग्यता हो सकता है और उसके परिणाम शारीरिक दंड से कहीं बढ़ कर भयंकर हो सकते हैं। नैतिक निंदा, संभवतः एक व्यक्ति को सामाजिक रूप में हीन कर सकती है, किंतु इसका अर्थ शारीरिक दण्ड नहीं है। नैतिकता की पीठ पर सार्वजनिक निंदा की स्वीकृति है। इस तरह, कानून शक्ति का विषय है और नैतिकता चेतनता या विवेक का। हम पसंद करें या न करें, कानून तो कानून ही रहेगा। यह तब भी कानून है यदि वह अनैतिक है और हमें उसे मानना होगा, यद्यपि कोई भी राज्य ऐसा कोई कानून जारी करने का साहस नहीं कर सकता, जो अनैतिक हो।

कानून का स्वरूप व्यापक होता है, और यह सब पर लागू होता है। नैतिकता वैयक्तिक है और आदमी से आदमी में भिन्न होती है। मेरी नैतिकता अपने बेटों से भिन्न होती है। यह व्यक्ति के हृदय या चेतना की आज्ञा है। आचार-सम्बन्धी अपील ठीक और गलत में भेद करने वाली और अन्ततः अच्छे और बुरे में भेद करने वाली व्यक्ति की विवेक-बुद्धि को की जाती है। ठीक या गलत का यह भाव "रीति और सामाजिक शिक्षण की उपज" हो सकता है "किन्तु आचरण के सिद्धान्त के रूप में यह उत्तरदायी व्यक्ति का 'आत्म-विधान करना' है, और अपने कल्याण के साधनों और लक्ष्यों के लिए अपनी निजी

स्वाधीनता की चेतनता में चुनना है।"[1] पुनः, निश्चयात्मकता और दृढ़ता में कानून नैतिकता से श्रेष्ठ है। कानून स्पष्ट और निश्चित है, क्योंकि वह व्यापक है। नैतिकता संदिग्धता और अनिश्चितता की मात्रा से कुछ भिन्न स्वरूप की है, क्योंकि इसका निजी व्यक्तित्व है।

नैतिक नियम सही या गलत, न्याय और अन्याय के पूर्ण मानदंडों की स्वीकृति देते हैं। किंतु कानून उपयोगिता के मानदण्ड का अनुसरण करता है। कानून जिसकी मनाही करता है, वह संभवतः अनैतिक कार्य न हो। बड़े शहर के तंग बाजारों में दाईं ओर गाड़ी चलाना एक सामाजिक भय है, और इसलिए उसकी मनाही है। किंतु दाईं ओर गाड़ी चलाना अनैतिक नहीं, यद्यपि यह कानून-विरुद्ध है। ऐसी भी कई बातें हो सकती हैं जो अनैतिक हैं किंतु कानून-विरुद्ध नहीं। घुड़दौड़ में दाव लगाना या क्लब में पीकर (एक प्रकार का जुआ) खेलना अनैतिक हो सकता है, किंतु दोनों में से कोई भी अवैध नहीं है। "इस प्रकार यहां वैध और साथ ही साथ नैतिक भावनायें विद्यमान हैं, और वे हमेशा ही इकट्ठी नहीं होतीं।" राज्य कानूनों को बनाता है, जो नैतिकता के मानदण्डों की अपेक्षा उपयोगिता और सुविधा पर आश्रित होते हैं। इसी प्रकार, राज्य के कानून नैतिक अधिकारों की मान्यता नहीं अपनाते। राज्य केवल नागरिक अधिकारों के भोग की गारंटी करता है। यह मेरा नैतिक कर्त्तव्य है कि मैं अपने मां-बाप की सहायता और सेवा करूं, क्योंकि मां-बाप के पास अपने बच्चों से इस सेवा को मांग करने का नैतिक स्वत्व है। यदि मैं अपने नैतिक कर्त्तव्य के प्रति जागरूक नहीं हूं और मैं कर्त्तव्यहीन पुत्र साबित होता हूं तो राज्य के कानून मुझे कर्त्तव्यनिष्ठ बनने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। वैध रूप में मेरा दमन नहीं किया जा सकता।

इस तरह यह स्पष्ट हो जायगा कि कानून नैतिकता के संपूर्ण धरातल को न तो व्याप्त करता है और न कर सकता है। "सब नैतिक दायित्वों को वैध दायित्वों का रूप देने का अर्थ नैतिकता को बर्बाद करना होगा।"[2] न ही राज्य नैतिकता का निर्देश कर सकता है, क्योंकि राज्य-निर्दिष्ट नैतिकता नैतिकता नहीं होती। उदाहरण के लिए, एक कानून जारी किया जाय कि प्रत्येक नागरिक हर सवेरे मंदिर या गुरुद्वारा जाया करे। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं मंदिर या गुरुद्वारा जाने से नैतिक प्राणी बन जाता हूं। नैतिकता अन्तरात्मा का विषय है और इसका संबंध विश्वास से है। राज्य का कोई भी कानून इसे लागू नहीं कर सकता।

कानून और नैतिकता के बीच साम्य (Affinity between law and morality)—कानून और नैतिकता के बीच ये कुछेक सुस्पष्ट अंतर हैं और कोई भी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। तिस पर भी, दोनों के बीच निकट संबंध भी है। "राज्य की स्थापना उसके नागरिकों के हृदयों में होती है और वह उनके नैतिक प्रतिनिधि होते हैं।"[3] एक बुरे नागरिक का अर्थ है बुरा राज्य और फलस्वरूप, राज्य के कानून भी बुरे ही होंगे। प्लेटो (Plato) के कथनानुसार, "सर्वोत्तम राज्य वह है, जो गुण में व्यक्ति

1. MacIver, *op. citd*, p. 155.
2. Ibid., p. 157
3. Gilchrist, *op. citd.*, p. 173.

के निकटतम है। यदि राजनीतिक संस्था का कोई अंग पीड़ित होता है, तो संपूर्ण शरीर को पीड़ा होती है।" यह राज्य का शारीरिक दृष्टिकोण है और इससे ग्रीक राजनीतिक दर्शन का निर्माण हुआ। आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त ने भी इसी दृष्टिकोण और विश्वास को स्वीकार किया है कि व्यक्ति और राज्य परस्पर घनिष्ठ संबंद्ध है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व को केवल राज्य के अन्तर्गत विकसित कर सकता है,जो व्यक्ति के नैतिक जीवन की सर्वोच्च दशा है। राज्य के कानून नैतिकता के मानदण्ड को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार, सही और गलत विचार, जो लोगों के नीति-शास्त्र-विषयक मानदण्डों का प्रतिनिधित्व करते हैं, राज्य के कानूनों को भी प्रभावित करेंगे।

मनुष्य अनिवार्यतः नैतिक प्राणी है और राज्य व्यक्ति के नैतिक जीवन की सर्वोच्च अवस्था है। इसलिए, राज्य का नैतिकता से संबंधित प्रत्यक्ष कृत्य है। यह कृत्य दो प्रकार का है: भावात्मक और अभावात्मक।[1] राज्य का भावात्मक कृत्य (Positive function) कानूनों को बनाना है, जो सामान्य प्रसन्नता और सुख की वृद्धि के लिए हैं, और समुदाय के महत्वपूर्ण भागों के नैतिक विश्वासों तथा भावनाओं के अनुरूप हैं। उदाहरण के लिए, भारत सरकार अस्पृश्यता को दूर करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है। केवल जन्म की घटनावश आदमी और आदमी के बीच अंतर करना नैतिक पाप है। इसी तरह, मद्य-निषेध करना लोगों के हित की बात है। फलतः, भारत संघ के भिन्न राज्यों द्वारा मद्य-निषेध (Prohibition) की नीति का अनुसरण करना भावात्मक कृत्य (Positive function) है। किंतु जब राज्य एक बुरे कानून को हटाता है, तो वह अभावात्मक कृत्य का पालन करता है। हमारे सही और गलत के मानदण्ड समयानुसार भिन्न-भिन्न होते हैं और राज्य के कानूनों का तदनुसार समन्वय होना चाहिये। सती और ठगी को अवैध कार्य घोषित किया गया, क्योंकि वे हमारे जीवन मूल्यों के मानदण्ड के अनुरूप नहीं थे।

इस प्रकार, कानून और नैतिकता के बीच इतनी घनिष्ठ आत्मीयता है कि "अवैध और अनैतिक के बीच का सीमान्त सदैव स्पष्ट नहीं होता।"[2] आज की अवैधता कल की अनैतिकता हो सकती है और इसके विपरीत भी। राज्य के विषय में हमारा विचार है कि यह स्वतः अपने में लक्ष्य नहीं है, किंतु लक्ष्य के लिए साधन है। "हम राज्य को नैतिकता की शर्त के रूप में मानते हैं। राज्य और कानून निरंतर सार्वजनिक मत और कार्यों—दोनों को प्रभावित करते हैं; इसके बदले में कानून सार्वजनिक मत को प्रकट करता है और इस प्रकार नैतिक उन्नति के सूचनांक (index) रूप में कार्य करता है।"[3]

कानून और सार्वजनिक मत (Law and Public opinion)—हमारे समय में विधान सभा कानून का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत है और विधान-सभा लोगों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। लोगों के प्रतिनिधि जिन्हें कानून बनाने का कर्तव्य सौंपा गया है, उनकी इच्छाओं के विपरीत कार्य नहीं कर सकते। यदि सार्वजनिक मत किसी कानून में सुधार चाहता है अथवा कोई कानून बनवाना चाहता है, तो सरकार और इसलिए विधान-सभा चिरकाल तक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। प्रतिनिधि इस बात को जानते हैं कि

1. Ibid.
2. Ibid., p. 174
3. Ibid.

उनके पद की वैध अवधि की समाप्ति पर उन्हें निर्वाचकों को अपील करनी होगी। यदि निर्वाचकों ने उनके कार्यों को पसद नही किया, तो उनके पुनः चुने जाने का अवसर नहीं होता। फलतः विधान-सभा के सदस्यों को सार्वजनिक मत के सामने झुकना होगा। वस्तुतः एक सच्ची प्रतिनिधि सरकार, किसी प्रकार के कानून को बनाने की चेष्टा करने से पहले लोगों की इच्छाओं का सदैव निश्चय कर लेती है। जब कानून सार्वजनिक मत का प्रतिनिधित्व नही करते, तो नागरिकों के दिलो में उनके प्रति आदर-भावना नही रह जाती और राज-भक्ति की आधार-शिला हिल जाती है।[1] ह्यूम (Hume) ने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि सब सरकारें भले ही बुरी हों, अपनी अधिकार-शक्ति के लिए सार्वजनिक मत पर निर्भर रहती है।

किंतु सार्वजनिक-मत क्या है और क्या स्थिर सार्वजनिक मत प्राप्त करना सभव है ? सार्वजनिक-मत शब्दावली दो बातो को प्रकट करती है। प्रथमतः, व्यक्ति के स्वरूप की अपेक्षा यह लोगों का मत होना चाहिये। व्यक्तिगत या वर्गीय मत, सार्वजनिक मत नही, क्योकि उसका लक्ष्य समग्र रूप में लोगों का कल्याण नही होता। द्वितीयतः, यह जितना भी संभव हो, विस्तृत होना चाहिये। तब तक कोई मत सार्वजनिक नही माना जा सकता, जब तक समुदाय के प्रभुत्वशील भाग ने भारी मात्रा में उसमे योग न दिया हो। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह बहुसख्या का मत होना चाहिए। न ही सार्वजनिक मत में सर्व-सम्मति की आवश्यकता है, यद्यपि अधिक सामान्यतः यह माना जाता है कि ज्यादा लोगों का मत ही सार्वजनिक मत कहा जा सकता है। वस्तुतः, अल्प सख्या के साथ प्रगति की शुरूआत होती है। जार्ज विलियम कर्टिस (George William Curtis) कहते हैं, "यह बहुसख्या को प्रेरित करके अगला कदम उठाने के कारण और लाभ दर्शाने के द्वारा पूर्ण होती है, और बहुसंख्या के विवेक की अभ्यर्थना करने से प्राप्त की जाती है।" इतिहास में इस बात को सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि किसी भी देश में आरभिक दशा में किसी भी सुधार का लोक-प्रिय स्वागत नही हुआ। अधिकाश मामलों में थोडे से व्यक्तियों ने किसी काम को उठाया और शुरू में ही बडा भारी विरोध खडा हो गया। लेकिन उनके सुदृढ यत्नों ने उन्हें सार्वजनिक मत को अपने पक्ष में करने योग्य बनाया। विलफ़ली (Willoughly) ने इस प्रश्न की बहुत ही सुन्दर शब्दो मे व्याख्या की है। वह कहते हैं, "मनुष्यों के किसी समुदाय में, जिसने सार्वजनिक मत के स्वरूप का विश्वास दिया है, उसके सब सदस्यों के मत का ही यह परिणाम नही, प्रत्युत केवल उन्ही थोड़े या बहुत व्यक्तियों के मत का परिणाम है, जो सामान्य हितों के विषय में सोचने और निर्णय करने की क्षमता रखते हे।" फलतः एक सार्वजनिक सच्चा मत वह है, जिसमे सार्वजनिक कल्याण का उचित मान निहित हो। यह तथ्यों के अध्ययन पर निर्भर करता है और यह पक्षपात या प्रभावों का परिणाम नही। अततः सार्वजनिक मत केवल बहती हुई तरग नही, प्रत्युत लोगो की सुदृढ़ राय है।

किंतु सार्वजनिक मत की सच्ची कसौटी यह है कि जहां अल्पसंख्या उसमें भागीदार नही भी हो सकती, वहा उसे भय के कारण नही, अपितु विश्वास के कारण उसे स्वीकार करना ही होगा। यदि बहुसख्या अल्पसख्या या अल्पसख्याओं के हितों की बलि द्वारा

1. MacIver, op. citd., pp. 153-54.

अपने निजी हितों की वृद्धि करने पर उतारू हो, तो उस दशा में बहुसंख्या के मत को सच्चा सार्वजनिक मत नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर, यदि अल्पसंख्या का मत सार्वजनिक कल्याण के आदर्शों द्वारा प्रेरित हो, तो वह बहु-संख्या की अपेक्षा बेहतर सार्वजनिक मत बन सकता है।

इस पर, निष्कर्ष यह निकला कि प्रतिनिधि रूप की सरकार में, जहां प्रशासन की बागडोर बहुसंख्यक-दल के हाथ में हो, उसे अपने मत को, जो वर्गीय हितों द्वारा प्रेरित हों, कानून बना कर अल्प संख्या पर नहीं थोपना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है, तो देश में न तो शांति होगी, न संतोष, न ही कानून के प्रति आसक्ति और न ही राज्य के प्रति स्वामी-भक्ति होगी। यदि हमारे कानून की कसौटी यह है, कि उसे लोगों की इच्छा को प्रकट करने वाला होना चाहिए, तो उसके लिए पहली शर्त है कि उसे सार्वजनिक मत का प्रतिनिधित्व करना चाहिए।

अभी तक ऐसी कोई सही-सही विधि नहीं खोजी गई जिसके द्वारा सार्वजनिक मत को पूर्ण यथार्थता के साथ जाना जा सके। निःसंदेह, विज्ञापन-पट, समाचार पत्र, और प्रचार-आन्दोलन ज्ञान-दान के ठोस साधन तथा राय की अभिव्यक्ति के रूप हैं। किन्तु सामान्य धारणा यह है कि प्रसार के ये साधन सचाई के साथ व्यवहार करने की अपेक्षा स्वार्थी निहित हितों की ओर से मत का जोड़-तोड़ कर लेते हैं और सब दलों की अभिव्यक्ति के लिए समान अवसर उपस्थित करने में समर्थ होते हैं। जो भी हो, आधुनिक लोकतंत्री राज्य में एक आशाजनक रूप भी है। एक लोकतंत्र औसत दर्जे के आदमी में सार्वजनिक कार्य के लिए अन्तिम जिम्मेदारी निहित करके राष्ट्रीय दृढ़ता की प्राप्ति का यत्न करता है। शासक-वर्ग विलक्षण रूप में अपने दायित्व के प्रति संवेदनशील होता है। अधिकार-संपन्न बहुसंख्या इस तथ्य से अवगत होती है कि एक वर्ग जनता के ट्रस्टी के रूप में संपूर्ण राष्ट्र के मतदान द्वारा राज्य करता है। यह उन्हें सौंपे गए विश्वास का दुरुपयोग और भंग करने के प्रति और भी सतर्क करता है। उससे हटना, आगामी चुनावों के अवसर पर, बहुसंख्या को अल्प संख्या में भी बदल सकता है। इसलिए लोकतंत्र में कानून सामान्यतया सार्वजनिक मत का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु सार्वजनिक मत ईमानदार, शक्तिमय और स्पष्ट होना चाहिए। बहुसंख्या द्वारा अत्याचार की अवस्थाओं में, यदि अल्प-संख्या क्रियाशील और चेतन हुई और उसने साहस के साथ कार्य किया, तो वह मिल के कथनानुसार एक वर्ग के 'घातक-हितों' का अवरोध करने में सफल हो सकती है। यह वह चेतनता और साहस और त्याग की भावना है, जो अन्ततः ऐसी अल्प-संख्या को बहुसंख्या में बदलने के लिए सहायक हो सकती है।

Suggested Readings

Brown, W. J.—The Austinian Theory of Law, 1931.
Dealey, J. Q.—The State and Government Chaps. XVI,XVII, 1921.
Dicey. A. V.—Law of Public Opinion Lecturer. (1919)
Duguit, L.—Law in the Modern State (1921)
Gilchrist, R. N.—Principles of Political Science Chap. VIII.
Lippman, W.—Public Opinion (1922)

अध्याय : : १०

राज्यों के बीच सम्बन्ध

(Relations Between States)

राज्य का बाहरी रूप (External Aspect of the State)—राजनीतिक विज्ञान, राज्य की भीतरी व्यवस्था ही नही वरन् इसके बाहरी सबधों का भी वर्णन करता है। यों प्रत्येक राज्य, संपूर्ण रूप से स्वतन्त्र अवश्य है। वह किसी के आधीन नही और उसका प्रभुत्व उसकी प्रादेशिक सीमाओं के भीतर सब मनुष्य और समुदायों के ऊपर—असीम है। तिस पर भी, कोई राज्य, अलग-अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व नही रख सकता। अनेक प्रकार से सभी गुथे हुए है। राज्यों का पारस्परिक आदान-प्रदान, कुछेक प्राकृतिक कारणों-वश होता है। प्रकृति ने मनुष्य को आत्म-निर्भर नही बनाया। निर्भरता उसका मनोविज्ञान है। जो एक व्यक्ति के लिए सत्य है, वह राज्य के लिए भी है, क्योंकि, लोगों द्वारा राज्य स्थापित होता है और राज्य, प्रजा के लिए ही जीवित रहता है। यदि राज्यो में पारस्परिक आदान-प्रदान को स्वीकार न किया जाय तो समाज निश्चय ही गतिहीन बन जायगा। मनुष्य में गति है, इसलिए राज्य भी गतिशील होते है। पारस्परिक लाभ-हानि के रिश्तों को, आधुनिक आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक व सांस्कृतिक उन्नति ने और भी सुदृढ कर दिया है। वास्तव में, आज के सभ्य ससार में, एक देशवासी अपने पड़ोसी देशवासियो के विचार, कला, साहित्य इत्यादि में काफी हिस्सेदार रहते है। राज्यों का यह पारस्परिक संबंध और भी पुष्ट हो जाता है, यदि ऐसे देशों के लोग, जो राजनीतिक दृष्टि से तो अलग हैं, मगर एक ही भाषा-भाषी हैं, या "जहा, एक ही पुरखाओं की संतान होने से, वे एक ही इतिहास तथा भूत की परम्पराओं की ओर निहारते है।"[1]

जिस प्रकार, एक मनुष्य अपने अन्य नागरिकों के साथ व्यवहार करते हुए, आचरण के कुछेक नियमों का पालन करता है, उसी प्रकार, राज्यों के आपसी सबंध को भी नियमबद्ध रखने की आवश्यकता होती है।[2] प्रारम्भ में राज्यों के आपसी संबध के नियम अविकसित थे और समान भी नही थे। अब इस तरफ झुकाव बढ रहा है, कि नियमों को, आचरण की एक सुनिश्चित विधि के अनुकूल रखा जाय। राष्ट्रों या जातियों की बढ़ती हुई आर्थिक व सामाजिक अन्तर्निर्भरता की यह माग है, कि नियम, एक से और निश्चित रखे जायें। ऐसे नियमों के अभाव में, अव्यवस्था और अशांति संबधी सब झगड़े युद्ध के बल से तय करने पड़ेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)—राज्यो द्वारा, एक-दूसरे से व्यवहार करते हुए जिन नियमो का पालन किया जाता है, वे "इंटरनेशनल-ला" अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहलाते है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा यह है: वह प्रणाली, जो राज्यों

1. Leacock. op. citd. p. 84.
2. MacIver, op. citd. p. 282.

के संबंधों को ढंग से चलाती है। राज्यों द्वारा आपस में स्वीकृत व सम्मानित सिद्धांत इस प्रणाली के आधार पर, बंधन मानकर चलाए जाते हैं। किन्तु ये सिद्धांत, राज्यों को कहां तक पाबन्द रखते हैं, और राज्य की प्रभुता से इन व्यवस्थाओं को हम किस प्रकार सम्मत रख सकते हैं, आवश्यक समस्याएं हैं, जिनको हल करना होगा। उदाहरणार्थ, हेगल (Hegel) जैल्लिनेक (Jellinek) और ट्रीट्स्के (Trietschke) जैसे जर्मन-लेखक यह मानते हैं कि, जहां राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मर्यादा और संधियों-वश, विश्वस्त व सम्मानित बने रहने के पाबन्द हैं, वहां यह भी दावा रखते हैं, कि यह कोई वैध बंधन नहीं है। राज्य, स्वेच्छा से इन अन्तर्राष्ट्रीय बंधनों को अपने ऊपर लागू करा लेते हैं; किन्तु, उन्हें बलपूर्वक मनवाया नहीं जा सकता। ट्रीट्स्के का मत है, कि प्रत्येक राज्य को, युद्ध-घोषणा तथा संधि रद्द करने का हक है। हिटलर ने भी तो स्पष्ट कह दिया था, कि यह संधियां कागज के टुकड़े मात्र हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की स्वीकृति, उनके अनुसार, एक स्वेच्छा से माना हुआ बंधन है, जिसे राज्य की इच्छा पर वापस भी लिया जा सकता है। ट्रीट्स्के ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मानने वाले चूंकि प्रभुत्व-संपन्न राज्य हैं, अतः वे किसी की वैध दृष्टि से श्रेष्ठता नहीं मान सकते। अपने अधिकारों का फैसला करने के अन्तिम अधिकारी स्वयं वे ही हैं और अन्य राज्यों के प्रति दायित्व के बारे में भी उनका निर्णय अन्तिम है।"

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है? (Is International Law really a Law)—वैस्ट लैंड गोल्ड माईनिंग कम्पनी बनाम रैक्स में, यह निर्णय हुआ था, कि ब्रिटिश अदालत को, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई सिद्धांत मान्य नहीं होगा, जब तक उसे पार्लमेंट द्वारा एक्ट बनाकर नगरपालिका के कानूनों में सम्मिलित नहीं किया जाता। आस्टिन (Austin) जैसे न्यायज्ञों ने भी, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून की सामान्य संज्ञा देने से इंकार किया है। यह दावा किया जाता है, कि कानून निश्चयात्मक मानव-श्रेष्ठ (determinate human superior) का आदेश है। किन्तु राष्ट्रों के समुदाय में, आदेश-दाता कोई निश्चयात्मक अधिकारी नहीं है। सभी राज्य प्रभु-सत्ता-संपन्न हैं। उन्हें, किसी अन्य सत्ता की आधीनता मानने के लिए बाध्य करना उनके राज्यत्व का नाश करना है। इसके अलावा, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का कोई भाग, आज तक किसी विधान सभा द्वारा पास नहीं हुआ, "न ही उसको किसी ऐसे न्यायालय ने अपने अधिकार से लागू किया है, जिसका अधिकार-क्षेत्र भी कानून के समान ही विस्तृत हो।" हां, विवादास्पद मामलों को मध्यस्थता के लिए अदालतों में अवश्य भेजा जाता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों के फैसलों को वे राज्य मान ही लें, ऐसा नहीं है। ऐसी कोई सत्ता नहीं है, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवज्ञा करने वाले राज्य को मजबूर कर सके और दंड भी दे सके। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्वीकृति प्रथागत है। इसके पृष्ठ पर, मनवाने वाली कोई दमनकारी शक्ति नहीं है। जो कुछ, किसी स्पष्ट प्रभुत्व-संपन्न सत्ता द्वारा मनवाया नहीं जा सकता, वह कानून नहीं हो सकता। जिस कानून का आधार प्रथाएं, सहमति और समझौते हों, वह कानून नहीं हो सकता; क्योंकि इसको केवल नैतिक दायित्व ही मान्य बनाता है। आस्टिन तथा अन्य आलोचक न्यायज्ञों ने

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को, केवल अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक सिद्धांत माना है। हाऊस-ऑफ लार्ड्स में भाषण देते हुए, लार्ड सैलिस्बरी ने कहा था, "श्रीमन्तों, मेरी राय में, हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून शब्द को जिस सहज भाव से प्रयोग में लाते हैं, वह हमें गुमराह कर रहा है। कानून शब्द के हम जो अर्थ साधारणतया समझते हैं, उस मतलब के नाते अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई अस्तित्व ही नहीं। यह प्रायः पाठ्य-पुस्तक-लेखकों के पक्षपातों पर निर्भर है। इस कानून को किसी अदालत द्वारा मनवाया नहीं जा सकता, अतः इस पर भी वही शब्द कानून चस्पा करना भूल होगी।"[१]

आधुनिक लेखकों ने तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून के वास्तविक अर्थों में ही स्वीकार किया है। आस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुता के मत का उन्होंने खंडन करते हुए इसको "न केवल एक वंध कल्पना, वरन् एक भयावह व हानिकारक मत" बतलाया है, जिसे अवश्य त्याग देना चाहिये और सबद्ध प्रस्ताव को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साहित्य से निकाल दिया जाना चाहिये।" इसके पक्ष में यह तर्क है, कि राज्य की प्रभुता का यह मतलब नहीं है, कि राज्यों में, सबकी रक्षा व कल्याण के लिए, कुछ विशेष नियम-पालन का समझौता हो ही नहीं सकता। चीफ जस्टिस मारशल ने, राज्य के निरपेक्ष व केवल विशेषाधिकार की सत्ता को, राज्य की सीमा के भीतर के सभी व्यक्तियों व चीजों पर स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने यह भी माना है कि पारस्परिक लाभ और कल्याण को, अमली तौर पर ध्यान में अवश्य रखा जाना चाहिये, अर्थात्, "प्रभुता द्वारा प्रदत्त निरपेक्ष और सपूर्ण अधिकार सीमा में कुछ शिथिलता,"[२] जैसा कि पहले लिखा गया है कानून स्वय किसी निश्चयात्मक श्रेष्ठ (determinate superior) का आदेश नहीं है। कानून के दूसरे भी अनेक स्रोत हैं। उसके विकास में, रीति और सामान्य कानून की उपेक्षा नहीं की जा सकती। साधारण कानून विधान-सभा से नहीं निकला। इसके अतिरिक्त कानून को समुदाय की आवश्यकताओं के अनुकूल बन जाना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सदियों में बना है, जिसके नियम-शब्दों को, राज्यों के आचरण के लिए, युद्ध व शान्ति दोनों काल में, बनाया व स्वीकार किया गया है।

अथवा राजनीतिक असहयोग के बल-प्रयोग के साधन भी हैं। कोरिया पर चीन की चढ़ाई को रोकने के लिए इस संस्था ने निजी सैनिक संगठन द्वारा ऐसा करने का यत्न किया। कभी-कभी अपने आप भी कुछ राज्य ऐसा असहयोग करते हैं, यथा १९३५ में, ऐबीसीनिया पर इटली द्वारा चढ़ाई करने पर, उसके विरुद्ध इंग्लैंड तथा फ्रांस ने कार्यवाही की थी। जो हो, यह तो है, कि अपनी आज्ञाओं को मनवाने की सत्ता का अभाव, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सबसे बड़ी कमजोरी है, और राज्य ने प्रायः, इसके आदेशों की हठीली अवज्ञा की है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की योजनाओं को मनवाने के लिए पर्याप्त अधिकारी-सत्ता के अभाव, अथवा इसकी अवज्ञा का यह मतलब नहीं कि अब यह कानून ही नहीं रहा।

और यह कहना भी असत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने वाले न्यायालय नहीं हैं। लीग आफ नेशन्ज़ की स्थापना से लेकर, जो अब निर्जीव है, अब तक स्वतन्त्र राज्यों के झगड़ों में मध्यस्थता कराने का काम बहुत ही बढ़ गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) की व्यवस्था कर रखी है। संयुक्त रा.सं. के घोषणा-पत्र में, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून व न्याय के नियमानुसार" अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने तथा निपटाने की व्यवस्था की गई है। अन्त में, प्रत्येक देश में भी ऐसे न्यायालय मौजूद हैं, जहां अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्थानुसार, महत्वपूर्ण विवादों पर विचार किया जाता है।

यह भी ज्ञातव्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धांत का निर्माण वैध युक्तियों द्वारा हुआ है और वैध ढंग से ही इन्हें लागू किया जाता है। अब तो बहुत से सभ्य देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अपने नागरिक कानून का भाग मान लिया है और वहां की विधान सभाएँ ऐसे कानून पास नहीं करतीं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था के प्रतिकूल हों। उदाहरण के लिए, समुद्री लूट अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा वर्जित है और कोई राज्य समुद्री-लूट की आज्ञा देने वाला कानून पास नहीं कर सकता।

अन्त में निष्कर्ष यह निकला, कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी, नागरिक कानून की तरह ही, मौलिक ही हैं। प्रथमोक्त भी, उत्तरोक्त की तरह, प्रत्येक युग की भावना और सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन की मांग के जवाब में बढ़ता और उन्नत होता रहा है। सुव्यवस्था ही मनुष्य-जीवन का सार है, परन्तु यह सुव्यवस्था कायम नहीं रह सकती जब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसका दायित्व न ले। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा यह हो सकती है, कि यह आचरण के उन नियमों का एक स्वरूप है, जिन्हें तर्क ने स्वतन्त्र देशों के समाज की प्रवृत्तियों का मन्थन करके न्याय के अनुरूप बनाकर निर्धारित किया और जिनकी वैसी ही परिभाषाएं बनाई, वैसे ही रद्दो-बदल किये, जैसे सब की स्वीकृति से किये जा सकते थे।" तदनुसार यही न्याय-संगत कानून है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा (Definition of International Law) अन्तर्राष्ट्रीय कानून, नैतिक नियमों का एक संग्रह-मात्र नहीं है। "इसके सिद्धांतों को वैध तर्क द्वारा विस्तृत किया गया है; अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में उदाहरण या नजीरें शुद्ध वैध विधि से पेश की जाती हैं; जिस प्रकार, नागरिक कानूनों की प्रणाली में लेखकों के विचारों अथवा धारणाओं को उद्धृत करके उन पर भरोसा किया जाता है, उसी प्रकार

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए भी किया जाता है'। राज्यों के आचरण पर आपत्ति, उनकी सफाई और न्याय केवल वैध दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि के भीतर रह कर किया जाता है; और अन्त में, यह स्वीकार किया जाता है, कि कानून से स्पष्ट रूपेण अलग, एक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता भी है, जिसका उल्लंघन शिकायत का कोई लौकिक आधार नही देता, चाहे दूसरे ने कैसी ही भद्दी हरकत की हो।"[1] फलतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून, उन नियमों की ओर संकेत करता है, जिनके अनुसार, सभ्य राज्यों के समूह को एक दूसरे के साथ आपसी व्यवहार में, आचरण करना चाहिये।[2] यद्यपि सभी राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को मान्य कर रखा है, फिर भी, प्रत्येक राज्य, उन पर अपने नैतिक मापदंड अथवा सुविधानुसार ही अमल करता है।" और फिर प्रत्येक राज्य के नैतिक स्तर पर, सारे ससार की आर्थिक व राजनीतिक प्रवृत्तियों का सामूहिक रूप से प्रभाव भी पड़ता है। कुछ राज्य, ससार भर पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते है, और वे, अपनी सुविधाओं के अनुसार ही, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता दूसरों पर लादते है। यदि सभी राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा स्वीकृत व सम्मानित सिद्धातों पर ईमानदारी से अमल करने की शपथ ले लें, तो अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता में भारी कमी हो सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का इतिहास (History of International Relations)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून हाल ही की उपज है, यही केवल तीन सौ वर्षों से कुछ अधिक पुराना। जो भी हो,' इसके मौलिक सिद्धांतों का अपेक्षाकृत पहले उदय हो चुका था; कुछ को भारत में वैदिक-काल से पूर्व तक में खोजा जा सकता है। लारेंस (Lawrence), जिसने इसकी हाल की प्रगति का विशेष अध्ययन किया है, इसे तीन कालों में विभाजित करते हैं। पहले काल में, योरोपियन सभ्यता के उद्‌गम से लेकर रोमन साम्राज्य के प्रारम्भ तक का समय आता है। दूसरे में रोमन साम्राज्य से सुधार (Reformation) तक का समय शामिल है, और तीसरा, तब से आज तक का काल है। उक्त तीनों में, प्रत्येक काल द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सबधों का पता चलता है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का इतिहास तीन कालों में विभक्त है, और "पहले काल वस्तुतः पिछले कालों के आधार हैं।"

पहला काल—रोमन साम्राज्य के प्रारम्भ तक (First Period—To the Beginning of the Roman Empire)—जिस काल में ससार के अन्य देश वनचर और असभ्य दशा में थे, भारतवर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बहुत कुछ ज्ञान था। उत्तर-वैदिक काल में एक नियमित विधि मौजूद थी, जिसके अनुसार युद्ध-घोषणाएं की जातीं और युद्ध लड़े जाते थे, सधियां होतीं और उनपर हस्ताक्षर होते और राजदूत बनाकर भेजे जाते थे। योरोप के इतिहास से पहले जिन देशों के संबंधों के विषय में ज्ञात होता है, उनमें एक दूसरे के प्रति अधिकारों और दायित्वों का कुछ भी वर्णन नही है, सिवा उन समुदायों के जो एक ही भाषा-भाषी और एक कुल से संबंध रखने वाले थे। जो श्रेणियां या कबीले भिन्न देशवासी होते थे, उनमें एक-दूसरे के साथ स्थायी वैमनस्य बना रहता था और "युद्ध घोषणा बिना किसी शिष्टाचार के कर दी जाती थी और युद्ध निर्दयता-

1. Hall: International Law, P. 14.
2. Refer to T. J. Lawrence; International Law, Chap. I.

पूर्वक चलाया जाता था।"[1] यहां तक कि यूनानवासी भी, अपने पड़ोसियों को, 'जंगली'[2] समझते थे, जिनके प्रति उनके कोई फर्ज नहीं थे। यूनानियों ने, केवल सामुद्रिक नियमावली अवश्य बनाई थी, जिसकी रोड्स (Rhodes) ने अभिवृद्धि की। गिल्काइस्ट लिखता है कि "यूनानियों की प्रथाओं ने, अन्तर्राष्ट्रीय विकास में काफी योग दिया था।"[3] यूनानी लोगों में युद्ध निर्दयतापूर्वक होता था और "विश्वास-घात सामान्य था।" यहां तक कि अरिस्टोटल (Aristotle) भी दास-प्रथा की व्यवस्था का पोषक था, जिसकी आज्ञा अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं देता।

साम्राज्य का स्वरूप धारण करने के पूर्व, रोमनों (Romans) की भी यूनानियों की तरह एकाकी स्थिति थी। परन्तु, रोम (Rome) के प्रारंभिक प्रजातंत्री काल में कानून होते थे, जिन्हें नागरिक-व्यवस्था (jus feciale) कहते थे। इन नियमों में युद्ध और शांति सम्बन्धी आदेश रहते थे, जिनका पालन एक अर्ध-धार्मिक संस्था कराती थी। किन्तु, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में, रोम ने परदेशी-संबंधी व्यवस्था (jus gentium) में गंभीर योग दिया था। यह व्यवस्था ऐसे नियमों का संग्रह था, जिनके अनुसार विभिन्न राष्ट्रवासियों को एक-दूसरे से व्यवहार करते हुए चलना होता था। उक्त नाम सम्भवतः इसलिए पड़ा कि इसके नियमों को, सभी देशों में प्रचलित व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्तों पर आधारित माना गया था।[4]

दूसरा काल—रोमन साम्राज्य के आरम्भ से सुधार तक (Second period—From the Beginning of the Roman Empire to the Reformation)—संसार में रोमन साम्राज्य के फैलाव के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की कुछ भी उन्नति नहीं हुई, क्योंकि, उस समय एक ही तो राष्ट्र था। संसार के सभी राजनीतिक उपविभागों पर, एक ही साझा श्रेष्ठ प्रभुत्व हो, इस मत को स्वीकार कर लिया गया था। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद भी, एक साझे श्रेष्ठ प्रभुत्व का सिद्धान्त माना जाता रहा, जब तक कि पादरी-वर्ग, (Church) इसके विरोध के लिए मैदान में नहीं उतर आया। पादरी वर्ग ने जब एक सत्ता का रूप धारण कर लिया तो "सिद्धान्त रूप से, सारे संसार के आधिपत्य को लौकिक और आध्यात्मिक प्रभुत्व में बांटना पड़ा, कारण इनके विरोधी स्वत्वों ने एकाधिपत्य की भावना को धीरे-धीरे नष्ट कर दिया था।"[5] एकाधिपत्य सत्ता की भावना की अवनति के साथ-साथ और प्रभाव भी उत्पन्न हो गये, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायता दी। सामन्ती प्रथा ने प्रादेशिक प्रभुता की भावना को जन्म दिया, जिसके आधार पर आधुनिक काल के अपने प्रदेश में स्वतन्त्र राज्यों का सिद्धान्त स्थापित हुआ। वाणिज्य व्यापार के पुनर्जीवित होने और वास्तव में स्वतन्त्र नगरों के उत्थान ने, नाविक नियमावली को स्वीकार कराया और लेन-देन को उनके अनुसार चालू कराया। Consolato del Mare में, जो सम्भवतः १२वीं शताब्दी में बनाया गया था और जिसके नियमों का पालन भूमध्यसागर-वर्ती सभी राष्ट्र किया करते

---

1. Op. Citd. Chap. III.
2. Gilchirst op. citd. p. 178.
3. Ibid.
4. Leacock, op. citd. p. 86.
5. Ibid. p. 88.

थे, युद्ध और शांति के नियम, निष्पक्ष राज्यों के अधिकार, छीने हुए जहाज या माल संबंधी कानून (Prize Law) और जहाजरानी के, कानून शामिल थे। ईसाई मत ने, लोगों को, मानुषिक रूप से युद्ध चलाने के ढंग सिखलाए। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में लड़े गये युद्धों की बर्बरता ने, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सस्थापक, ह्यूगो ग्रोटियस (Hugo Grotius) को, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया था। एक राज्य के साथ दूसरे राज्य के क्या सम्बन्ध हों, इसमें नये विचारों का आधार वही रोमन-कानून और विदेश-संबंधी-व्यवस्था का पुनः अध्ययन ही बना। अन्त मे, सुधार (Reformation) के धार्मिक मतभेद ने मानव की आध्यात्मिक एकता की भावना को जड से उखाड़ फेंका।

तीसरा काल—सुधार से आज तक (Third period—Reformation to the Present Day)—प्रादेशिक आधार पर सगठित स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के बाद, युद्ध व शांति में पारस्परिक व्यवहार के नए नियम निकले और उनका अनिवार्य परिणाम था, नये अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तो का निर्माण। इसलिये, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसी काल की उपज और ह्यूगो ग्रोटियस की शिक्षाओं का परिणाम है। अपने, ("De Jure Belli ac Cacis" (१६२५) या On the Law of War and Peace) विधानतः युद्ध और शान्ति के कानून में, ह्यगो ने दो मौलिक सिद्धान्तों पर बल दिया है :—(क) सभी राज्य एकसी प्रभुता और स्वतन्त्रता रखते है। (ख) राज्य को अधिकार सत्ता, अपने सम्पूर्ण क्षेत्र पर पूर्ण है। बस, यही मौजूद है राज्य की आधुनिक भावना, जो अपने भीतरी और बाहरी स्वरूप में प्रभुत्व-सम्पन्न है, और इसी के आधार पर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हुआ है। ग्रोटियस ने, प्राकृतिक कानून (Law of Nature) के सर्वमान्य सिद्धान्त को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया था। १६४८ में, (Westphalia) वेस्टफेलिया की शांति-स्थापना के अवसर पर, ग्रोटियस के सर्वप्रधान सिद्धान्तों को ही माना गया था और तभी से आधुनिक योरप बना है। बाद में अनेक लेखकों ने इसमें बहुत-सा योग दिया और आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून को, कानून की एक विशेष शाखा माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपना रूप धीरे-धीरे कितना निश्चित कर सका है, इसका स्पष्ट पता, १६४८ मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का इतिहास पढ़ने से चलता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत
(Sources of International Law)

१. रोमन कानून (Roman Law)—रोमन ला ने, एक व्यापक व सम्पूर्ण कानून-संग्रह या नियमावली बना दी थी, जिससे, योरप के बहुत से देशों ने अपने वैध सिद्धान्त बनाने मे सहायता ली और इसी के आधार पर, राज्यों के प्रारम्भिक पारस्परिक सम्बन्धों को भी खड़ा किया गया था। वह jus gentium, जो विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध पर लागू होता था, साधारण बुद्धि न्याय व सम-व्यवहार पर आधारित था। इसके अतिरिक्त, विदेशी नागरिक-व्यवस्था ने, नैतिक दायित्वों पर भी बल दिया, जो

पूर्वक चलाया जाता था ।"[१] यहां तक कि यूनानवासी भी, अपने पड़ौसियों को, 'जंगली'[२] समझते थे, जिनके प्रति उनके कोई फर्ज नहीं थे। यूनानियों ने, केवल सामुद्रिक नियमावली अवश्य बनाई थी, जिसकी रोड्स (Rhodes) ने अभिवृद्धि की। गिल्क्राइस्ट लिखता है कि "यूनानियों की प्रथाओं ने, अन्तर्राष्ट्रीय विकास में काफी योग दिया था ।"[३] यूनानी लोगों में युद्ध निर्दयतापूर्वक होता था और "विश्वास-घात सामान्य था।" यहां तक कि अरिस्टोटल (Aristotle) भी दास-प्रथा की व्यवस्था का पोषक था, जिसकी आज्ञा अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं देता।

साम्राज्य का स्वरूप धारण करने के पूर्व, रोमनों (Romans) की भी यूनानियों की तरह एकाकी स्थिति थी। परन्तु, रोम (Rome) के प्रारंभिक प्रजातंत्री काल में कानून होते थे, जिन्हें नागरिक-व्यवस्था (jus feciale) कहते थे। इन नियमों में युद्ध और शांति सम्बन्धी आदेश रहते थे, जिनका पालन एक अर्ध-धार्मिक संस्था कराती थी। किन्तु, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में, रोम ने परदेशी-संबंधी व्यवस्था (jus gentium) में गंभीर योग दिया था। यह व्यवस्था ऐसे नियमों का संग्रह था, जिनके अनुसार विभिन्न राष्ट्रवासियों को एक-दूसरे से व्यवहार करते हुए चलना होता था। उक्त नाम सम्भवतः इसलिए पड़ा कि इसके नियमों को, सभी देशों में प्रचलित व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्तों पर आधारित माना गया था।[४]

दूसरा काल—रोमन साम्राज्य के आरम्भ से सुधार तक (Second period—From the Beginning of the Roman Empire to the Reformation)—संसार में रोमन साम्राज्य के फैलाव के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की कुछ भी उन्नति नहीं हुई, क्योंकि, उस समय एक ही तो राष्ट्र था। संसार के सभी राजनीतिक उपविभागों पर, एक ही साझा श्रेष्ठ प्रभुत्व हो, इस मत को स्वीकार कर लिया गया था। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद भी, एक साझे श्रेष्ठ प्रभुत्व का सिद्धान्त माना जाता रहा, जब तक कि पादरी-वर्ग, (Church) इसके विरोध के लिए मैदान में नहीं उतर आया। पादरी वर्ग ने जब एक सत्ता का रूप धारण कर लिया तो "सिद्धान्त रूप से, सारे संसार के आधिपत्य को लौकिक और आध्यात्मिक प्रभुत्व में बांटना पड़ा, कारण इनके विरोधी स्वत्वों ने एकाधिपत्य की भावना को धीरे-धीरे नष्ट कर दिया था।"[५] एकाधिपत्य सत्ता की भावना की अवनति के साथ-साथ और प्रभाव भी उत्पन्न हो गये, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायता दी। सामन्ती प्रथा ने प्रादेशिक प्रभुता की भावना को जन्म दिया, जिसके आधार पर आधुनिक काल के अपने प्रदेश में स्वतन्त्र राज्यों का सिद्धान्त स्थापित हुआ। वाणिज्य व्यापार के पुनर्जीवित होने और वास्तव में स्वतन्त्र नगरों के उत्थान ने, नाविक नियमावली को स्वीकार कराया और लेन-देन को उनके अनुसार चालू कराया। Consolato del Mare में, जो सम्भवतः १२वीं शताब्दी में बनाया गया था और जिसके नियमों का पालन भूमध्यसागर-वर्ती सभी राष्ट्र किया करते

---

1. Op. Citd. Chap. III.
2. Gilchirst op. citd. p. 178.
3. Ibid.
4. Leacock, op. citd. p. 86.
5. Ibid. p. 88.

थे, युद्ध और शांति के नियम, निष्पक्ष राज्यों के अधिकार, छीने हुए जहाज या माल संबंधी कानून (Prize Law) और जहाजरानी के, कानून शामिल थे। ईसाई मत ने, लोगों को, मानुषिक रूप से युद्ध चलाने के ढग सिखलाए। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में लड़े गये युद्धों की बर्बरता ने, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संस्थापक, ह्यूगो ग्रोटियस (Hugo Grotius) को, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया था। एक राज्य के साथ दूसरे राज्य के क्या सम्बन्ध हों, इसमें नये विचारों का आधार वही रोमन-कानून और विदेश-संबधी-व्यवस्था का पुन. अध्ययन ही बना। अन्त में, सुधार (Reformation) के धार्मिक मतभेद ने मानव की आध्यात्मिक एकता की भावना को जड़ से उखाड़ फेंका।

तीसरा काल—सुधार से आज तक (Third period—Reformation to the Present Day)—प्रादेशिक आधार पर सगठित स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के बाद, युद्ध व शांति में पारस्परिक व्यवहार के नए नियम निकले और उसका अनिवार्य परिणाम था, नये अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का निर्माण। इसलिये, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसी काल की उपज और ह्यूगो ग्रोटियस की शिक्षाओं का परिणाम है। अपने, ("De Jure Belli ac Cacis" (१६२५) या On the Law of War and Peace) विधानतः युद्ध और शान्ति के कानून में, ह्यगो ने दो मौलिक सिद्धान्तों पर बल दिया है :—(क) सभी राज्य एकसी प्रभुता और स्वतत्रता रखते हैं। (ख) राज्य की अधिकार सत्ता, अपने सम्पूर्ण क्षेत्र पर पूर्ण है। बस, यही मौजूद है राज्य की आधुनिक भावना, जो अपने भीतरी और बाहरी स्वरूप में प्रभुत्व-सम्पन्न है, और इसी के आधार पर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हुआ है। ग्रोटियस ने, प्राकृतिक कानून (Law of Nature) के सर्वमान्य सिद्धान्त को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया था। १६४८ में, (Westphalia) वेस्टफेलिया की शांति-स्थापना के अवसर पर, ग्रोटियस के सर्वप्रधान सिद्धान्तों को ही माना गया था और तभी से आधुनिक योरप बना है। बाद में अनेक लेखकों ने इसमें बहुत-सा योग दिया और आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून को, कानून की एक विशेष शाखा माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपना रूप धीरे-धीरे कितना निश्चित कर सका है, इसका स्पष्ट पता, १६४८ से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का इतिहास पढ़ने से चलता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत
(Sources of International Law)

१. रोमन कानून (Roman Law)—रोमन ला ने, एक व्यापक व सम्पूर्ण कानून-सग्रह या नियमावली बना दी थी, जिससे, योरप के बहुत से देशों ने अपने वैध सिद्धान्त बनाने में सहायता ली और इसी के आधार पर, राज्यों के प्रारम्भिक पारस्परिक सम्बन्धों को भी खड़ा किया गया था। वह jus gentium, जो विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध पर लागू होता था, साधारण बुद्धि न्याय व सम-व्यवहार पर आधारित था। इसके अतिरिक्त, विदेशी नागरिक-व्यवस्था ने, नैतिक दायित्वों पर भी बल दिया, जो

सभी राज्यों के लिए एकसां वन्धन था। अन्त में, कानून की दृष्टि में प्रत्येक नागरिक की समानता की रोमन-भावना ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रत्येक राज्य की समानता को स्थापित कराया है।

२. प्रख्यात लेखकों की पुस्तकें (Works of Eminent Writers)—इतिहास और जीवनियों के ग्रंथों से, युद्ध, राजनीति, सन्धियों और संगठनों के विषय में लाभदायक सामग्री प्राप्त होती है, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में यथेष्ट योग दिया है। परन्तु, उन प्रख्यात न्यायज्ञों के लेख, जिन्होंने प्रभुता-सम्पन्न तथा स्वतंत्र राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों की एक निश्चित प्रणाली स्थापित कर दी है, और भी महत्वपूर्ण है। "इन लेखकों ने, यह दिखला कर, कि राष्ट्र वास्तव में किन-किन नियमों का पालन करते हैं, और निश्चित प्रश्नों पर दी गई सामान्य सम्मतियों के अर्थ लगा कर, तथा सामान्य मतैक्य के आधार पर वनाए गये पहले के नियमों की परिभाषाएं और परिवर्तन दिखा कर, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक स्रोत नियत कर दिया है।" इन लेखकों में सर्वप्रथम और अग्रणी ह्यूगो ग्रोटियस (Hugo Grotius) है। उसकी रचित The Law of War and Peace पुस्तक ने सभी राज्यों के वाहरी व्यवहारों पर भारी प्रभाव डाला है। उसके वाद सुयोग्य वकीलों की एक लम्बी सूची आती है, यथा, Byn Ker Shock, Wolf, Vattel, Kent, Wheatons, Manning, Woolsey, Westlake, Lawrence और Hall, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकारी पण्डित माना गया है और जिनके निर्णय, हर काल के राजनीतिज्ञों ने प्रामाणिक माने हैं। हां, यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी एक लेखक का व्यक्तिगत मत अपने-आप में वन्धन नहीं है। किन्तु प्रख्यात न्यायज्ञों के मत वहुत अधिक प्रभाव डालने वाले होते हैं और उनकी सम्मतियों को अधिकृत रूप से पेश करने का रिवाज है। केंट (Kent) लिखता है, "जिन मामलों में मुख्य न्यायज्ञों का मत एक हो, उनकी उक्तियों को ठोस मानने की धारणा पुष्ट होती है; और कोई भी सभ्य राष्ट्र, जिसने साधारण कानून और न्याय को अहंकार में आकर तिरस्कृत नहीं कर दिया, अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर, विज्ञ लेखकों द्वारा एकमत से दी गई सम्मति की अवहेलना का साहस नहीं करेगा।"

३. सन्धियां, मित्रताएं और समझौते (Treaties, Alliances and Conventions)—संधियां, समझौते और मित्रताएं, चाहे वे व्यापारिक अथवा राजनीतिक उद्देश्यों से की गई हों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून निर्माण में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। संधियां, ऐसे समझौते हैं, जिन्हें राज्य स्वीकार करके एक-दूसरे के साथ व्यवहार करने के लिए वाध्य होते हैं। संधियां, या तो प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार की जाती हैं या फिर पहले के नियमों में पारस्परिक सहमति से संशोधन करके भी होती हैं। ऐसी संधि, समझौता (Convention) या मित्रता, अनेक राष्ट्रों के वीच होने की अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय कानून वन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वनाने वाली सव से अधिक महत्वपूर्ण संधियां प्रदेश या भू-भाग सम्वन्धी समस्याओं पर हुई हैं, यथा १६४८ में वैस्टफेलिया (Westphalia), १७१३ में उट्रेख्ट (Utrecht), १७६३ में पैरिस (Paris) की सन्धियां। कुछ संधियां राजसत्ता अधिकारों के परावर्त्तन के लिए भी हुई हैं, यथा १७८३ में वर्सेलीस (Versailles), १८५३ में पैरिस (Paris)

की सधियां हैं। या फिर, युद्धकाल में लड़ने वाले तथा निष्पक्ष, दोनों प्रकार के देशों द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों की सन्धियां भी हुई हैं। इस अन्तिम रूप के उदाहरण हैं, १८६४ का जनेवा समझौता (Geneva Convention) और १८९० की ब्रसल्स कान्फ्रेंस (Bussels Conference)

४. म्युनिसिपल कानून (Municipal Law)—प्रत्येक राज्य के म्युनिसिपल कानून में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कीटाणु पाए जा सकते हैं। प्रत्येक देश का म्युनिसिपल कानून नागरिकता, स्वीकृत नागरिकता (Naturalisation), तटस्थता (Neutrality), तटकरों (tariffs), प्रत्यर्पण (extradition) कूटनीतिक (diplomatic), तथा राजदूत-विषयक सेवाओं आदि के प्रश्नों को नियमित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय वार्तालापों में इन प्रश्नों के निर्णयों का पूर्व-निदर्शन या दृष्टांत रूप में वर्णित किया जाता है। इसी प्रकार, नष्ट-प्राय पोत संबंधित नाविक प्रश्नों के मामले लगभग पूर्णतया अन्तर्राष्ट्रीय परंपरा पर आधारित होते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के कुछेक सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय आधारमूलक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों की व्याख्या करते हैं।

५. अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में निर्णय (Decisions in International Cases)—राज्यों की यह एक रीति है कि वह अपने झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों या मध्यस्थता की अदालतों या अदालती फैसलों के लिये होने वाली कान्फ्रेंस में भेजते हैं। इन निर्णयों को पूर्व-निदर्शन के रूप में स्वीकार किया जाता है और वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अंग बन जाते हैं। कभी-कभी विवादास्पद मामलों को अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंसों को सौंपा जाता है। आधुनिक काल में हेग, वाशिंगटन और लन्दन कान्फ्रेंसों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मूल्यवान सामग्री प्रदान की है। राष्ट्र संघ (League of Nations) के सदस्य-राज्य इस बात के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध थे कि वे तब तक युद्ध नहीं करेंगे जब तक झगडे के विषय को पहले मध्यस्थता के लिए पेश नहीं कर दिया जायगा। राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र (Covenant) ने ऐसे यंत्र की व्यवस्था की हुई थी जिसके द्वारा शांति-पूर्ण समझौते किये जा सकते थे। कौंसिल, असेम्बली और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय विभाग के सर्वोच्च न्यायालय को झगड़ों के मामलों का फैसला करने का अधिकार था। संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र (United Nations Charter) में भी ऐसी ही गुंजायश की गई है। हाल ही में संयुक्त राष्ट्र संगठन की रक्षा कौंसिल को जो उल्लेखनीय दो मामले पेश किये गए हैं, वह ये हैं: (१) इंडोनेशिया का मामला और (२) काश्मीर के विषय में पाकिस्तान के विरुद्ध भारत की शिकायत।

६. युद्ध और कूटनीतिज्ञता का इतिहास (History of War and Diplomacy)—युद्धों, वार्तालापों, और सन्धियां करने का इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के समृद्ध स्रोत हैं। अटलांटिक घोषणा-पत्र (Atlantic Charter) और पॉट्सडम समझौता (Potsdum Agreement) और समय-समय पर जारी होने वाली विज्ञप्तियों सरीखी नीति-विषयक घोषणाएं भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उत्कर्ष को सहायता प्रदान करती हैं।

७. कूटनीतिज्ञों और राज्य-विशारदों की सम्मतियां (Opinions of Dip-

lomatists and Statesmen)—भिन्न राज्यों के कूटनीतिकों (Diplomats) या एक सरकार और अन्य राज्यों में नियत किये गए उसके कूटनीतिक प्रतिनिधियों के बीच पत्र-व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय चलन का महत्वपूर्ण स्रोत है। बहुधा इस तरह की सम्मतियों को गुप्त माना जाता है, किंतु संयुक्त राष्ट्र अमरीका, इंग्लैंड और अन्य देश, जिनमें लोक-तंत्री सरकारें हैं, अपने विदेशी पत्र-व्यवहार के बड़े भाग को प्रकाशित कर देते हैं। अपने अधिकारियों के पथ-निर्देशन के लिए राज्यों द्वारा जो आदेश जारी होते हैं, वह भी मूल्य-वान हैं। १८६१ का फ्रांसीसी नाविक अध्यादेश (French Marine Ordinance) जीर्ण पोतों के उद्धार संबंधी कानून (Prize Law) का आधार बना था। (१८६३) के "युद्ध में संयुक्त राष्ट्र अमरीका की सेनाओं के पथ-दर्शन के लिए आदेशों" ने युद्ध में अधिक मानवी ढंगों को अपनाने का प्रभावपूर्ण कार्य किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र और विषय

(Scope and Contents of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र स्वाधीनता और समान प्रभु-शक्ति संपन्न राज्यों की धारणा के आधार पर विचारा जा सकता है। जहां तक उनके राज्यत्व का संबंध है, समता की दृष्टि से सभी समान स्तर पर हैं। चीफ जस्टिस मार्शल ने कहा था, "राष्ट्रों की पूर्ण समता से बढ़ कर कानून का कोई भी सिद्धान्त इतना व्यापक नहीं माना जाता। रूस और जनेवा के समान अधिकार हैं। इस समता का यह परिणाम है कि कोई भी अधिकार के नाते एक अन्य पर कोई नियम नहीं लागू कर सकता। प्रत्येक अपने-आप के लिये कानून का निर्माण करता है, किन्तु उसका निर्मित कानून स्वतः उसी पर क्रियान्वित हो सकता है।" राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्र और विभाजन की रूप-रेखा बनाते हुए शांति-काल की विद्यमानता में सामान्य अधिकारों और दायित्वों तथा युद्ध-काल की विद्यमानता में असामान्य अधिकारों और दायित्वों के बीच भिन्नताओं को जान लेना चाहिये। पहला शांति का कानून कहलाता है और दूसरा युद्ध के नियम। युद्ध के नियमों के कारण वास्तविक युद्ध-रतों (belligerents) और युद्धरतों तथा तटस्थों के बीच संबंधों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषयों का अधिक विस्तृत विभाजन यह है:—

१. शांति-काल में राज्यों को शासित करने वाले कानून।
२. युद्ध-काल में राज्यों को शासित करने वाले कानून।
३. तटस्थता के सम्बन्ध में राज्यों को शासित करने वाले कानून।

शांति के कानून में राज्यों की स्वाधीनता और समता से संबंधित अधिकार और दायित्व समाविष्ट हैं। इसमें प्रदेशीय सीमाओं का अधिकार-क्षेत्र राज्य के तटवर्ती समुद्र के साथ उसके संबंध तथा अन्य संबंधित प्रश्न भी सम्मिलित हैं। इसके साथ राज्य के अन्तर्गत अथवा विदेशों में रहने वाले उसके नागरिकों से संबंधित अधिकार-क्षेत्र और राज्य के उत्तरदायित्व, अन्य देशीयों को शासित करने वाले नियम और तटस्थता के सिद्धान्त भी जुड़े हुए हैं। अन्ततः, कूटनीतिक अधिकार और दायित्व भी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अधिकांश भाग युद्ध के नियमों से निर्मित है। इसके द्वारा

हम युद्धों के वर्गीकरण; युद्ध की घोषणा, जल, थल और नभ में युद्ध के कानूनों और रीतियों; युद्ध के प्रभावों; युद्ध के प्रतिनिधियों; साधनों और ढंगों; भूमि और समुद्र में सार्वजनिक एवं निजी संपत्ति के प्रति व्यवहार आदि के विषय में अध्ययन करते हैं। तटस्थता के नियम के अधीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र तटस्थ राज्यों के प्रति युद्धरत राज्यों के कर्त्तव्यों, युद्धरत राज्यों के प्रति तटस्थ राज्यों के कर्त्तव्यों, तटस्थ व्यापार, वर्जित व्यापार, अवरोध, आदि तक विस्तृत हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और संस्थाएं
(International Organisation and Institutions)

स्वाधीन और प्रभु-शक्ति-सपन्न राज्यों के बीच मत-भेद अनिवार्यतः उत्पन्न होते हैं। किंतु हमेशा ही वे युद्ध नही ठान लेते। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण है, जब प्रतिस्पर्द्धी राज्यों के बीच तीसरे दल की मध्यस्थता द्वारा झगड़ों का फैसला हुआ है। मध्यकालीन युग में और आधुनिक युग के आरम्भिक काल में, जब साझे रूप में श्रेष्ठता का सिद्धान्त मौजूद था, बहुधा प्रतिस्पर्द्धी दल अपनी मध्यस्थता के लिए झगड़ो को पादरियो को सौंप देते थे। जो भी हो, उस समय ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन कोई नही था, जो अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के विषय मे सर्वसम्मत समझौता कराने का साधन प्रदान कर सकता। उन्नीसवी शताब्दी तक ये अवस्थाए जारी रही। उस समय तक युद्ध करना अत्यधिक यात्रिक हो चुका था और फलस्वरूप अत्यधिक महंगा भी। युद्ध केवल युद्धरत राज्यो के लिये ही आपदाओं का कोप नही लाया प्रत्युत तटस्थ देशों के लिए भी अनत आपत्तिया उत्पन्न हो गई। इसका अर्थ उनकी अर्थ-व्यवस्था का भग हो जाना था, क्योंकि औद्योगिक क्राति के बाद ससार के देश आर्थिक और व्यापारिक रूप मे स्वतत्र बन गए थे। तदनुसार, वास्तविक युद्ध के बिना झगड़ों का फैसला करने की रीति के पक्ष का भारी समर्थन शुरू हो गया। यहां तक कि जब कभी बड़ी-बड़ी समस्याए उत्पन्न होने लगी, तो अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता जारी की जाने लगी। सयुक्त राष्ट्र अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन में बारबार मध्यस्थता नियोजित की गई, विशेष रूप से १८२७ और १८४६ मे सीमा-रेखा के सुधार के विषय मे।[1] सर्वाधिक महत्वपूर्ण मध्यस्थता अलबामा (Alabama) के मामले में थी, जिसके फैसले का अन्त अमरीका को १ करोड ५५ लाख डालर का हर्जाना देकर हुआ था। अनुमान किया जाता है कि उन्नीसवी सदी में एक सौ से अधिक महत्वपूर्ण मामलो के फैसले मध्यस्थता द्वारा हुए थे।

हेग की कांफ्रेंसें (The Hague Conferences)—अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में और अधिक प्रगति झगड़ों का निपटारा करने के लिये और भिन्न राज्यो मे सधिया करने के लिए एक स्थायी न्यायालय स्थापित करने की चेष्टा में देखी जा सकती है, जिसमें उनके लिए अपने झगडों को इस न्यायालय मे भेजना अनिवार्य था। १८९९ मे हेग में एक कान्फ्रेंस बुलाई गई, जिसमे मध्यस्थता की स्थायी अदालत स्थपित करने का फैसला

१. १८२७ में उत्तर-पूर्वी सीमा-रेखा के विषय में तथा १८४६ मे प्रशात तट की सीमा के लिए। १८२७ मे नीदरलैंड के राजा ने जो फैसला दिया था, वह अमरीका ने रद्द कर दिया था।

हुआ। यद्यपि हस्ताक्षरकर्त्ता शक्तियों के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि वे अपने झगड़ों को मध्यस्थ-न्यायालय में भेजें, तिस पर भी न्यायालय ने "भीषण अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के कारण भयंकर संबंधों के क्षणों में शांतिपूर्ण समझौतों को स्थायी सुविधाएं प्रदान की थीं।" १८९९ और १९१२ के बीच ग्यारह राज्यों ने मध्यस्थ न्यायालय को अपने प्रश्न सौंपे और संबंधित दलों ने उसके निर्णयों को स्वीकार किया।

द्वितीय हेग कांफ्रेंस १९०७ में हुई। इस कांफ्रेंस ने १८९९ में स्वीकृत मध्यस्थ प्रणाली में सुधार करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु इसने मुख्यतः अपने को युद्ध के नियमों पर विचार करने में व्यस्त रखा। ग्रेट ब्रिटेन के नेतृत्व में, कांफ्रेंस ने अन्तर्राष्ट्रीय नष्ट-प्रायः पोतों की अपील की अदालत (International Prize Court of Appeal) बनाने की चेष्टा की। प्रमुख योरोपीय शक्तियों, संयुक्त राष्ट्र अमरीका और जापान की १९०९ में लंडन में एक विशेष कांफ्रेंस हुई और उसमें लंडन की घोषणा (Declaration of London) बनाई गई; जिसमें व्यापार की रोक-थाम, युद्ध को रोकने, तटस्थों की स्थिति और मुआवजों के सम्बन्ध में धाराएं रखी गई थीं। प्रथम विश्व-युद्ध के समय अंगरेजी सरकार ने लंडन की घोषणा को वापिस ले लिया था।

प्रथम हेग कांफ्रेंस का "मनुष्य जाति की संसद" (Parliament of Mankind) के रूप में स्वागत किया गया और वह शांति कांफ्रेंस (Peace Conference) के नाम से ख्यात है। प्रथम शांति कांफ्रेंस के अनंतर दस वर्षों में, बर्न के अन्तर्राष्ट्रीय शांति सूचना विभाग के कथनानुसार, १३३ संधियां हुईं। अनुबंधी दलों ने प्रतिज्ञा की थी कि वे यथासंभव मध्यस्थता द्वारा समझौता करेंगे। जो भी हो, स्थायी शांति के भविष्य के विषय में इन संधियों के कारण मृग-मरीचिका की दशा उत्पन्न हो गई। बीसवीं सदी के आरम्भ में जो सुखद आशा बनाई गई थी कि युद्ध अब नहीं हो पाएगा, वह १९१४ के महान युद्ध की घटनाओं द्वारा झूठ साबित हुआ।

राष्ट्र-संघ (The League of Nations)

राष्ट्र संघ को "ईसा के उपरान्त महानतम घटना" कहा जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भिक चरणों में यह सामान्यतया कहा जाता था कि युद्ध की समाप्ति का अर्थ स्वतः युद्ध का अन्त होगा। कम-से-कम यह इच्छा उस विचार की जननी थी। जब युद्ध की समाप्ति हुई, तो २७ राष्ट्र परस्पर मिले और उनसे राष्ट्र-संघ का निर्माण हुआ। संघ के उद्देश्यों को साथ के प्रतिज्ञा-पत्र में इस प्रकार घोषित किया गया था : "युद्ध न करने के दायित्व को स्वीकार करने के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उन्नति करने के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिए; जिसके हेतु सरकारों में पारस्परिक आचरण के वास्तविक नियमों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समझौते की सुदृढ़ स्थापना होगी, और एक-दूसरे के साथ संगठित लोगों के सब संधि-समझौतों के प्रति व्यवहार करने में न्याय और पूर्ण मान्यता को स्थिर रखा जायगा।" इस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाली शक्तियों ने इस संविधान को बना कर राष्ट्र-संघ के नाम से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया।

संघ के प्रतिष्ठित उद्देश्य को मनु के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। मनु के

नियमों में कहा गया है : "यह मेरा देश-वासी है; यह अन्य परदेसी है—संकीर्ण चित्त और मस्तिष्क वाला आदमी ऐसा सोचता है। किन्तु श्रेष्ठ पुरुष संपूर्ण विश्व को अपना ही समझता है।" फलतः राष्ट्रसंघ राष्ट्रों को युद्ध के दानव से मुक्त करने की अन्तर्राष्ट्रीय परिचलन की प्रगति था। विश्व-युद्ध में एक करोड़ आदमियों की आहुति दी जा चुकी थी। और ३८६,००० लाख डालरों की संपत्ति नष्ट हुई थी। इसके अलावा यह लाखों के लिए दुर्भिक्ष, यातना, और भूख भी लाया था। फलस्वरूप, शांतिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उन्नति के लिए किसी स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रबल मांग हो गई थी। किंतु यह प्रैसिडेंट वुडरो विलसन की अथक चेष्टा का फल था कि राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ।

कुछ अन्य अत्यावश्यक समस्याएं थीं, जिनके कारण स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अनिवार्यता हो रही थी। प्रथम विश्व-युद्ध राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर अधिकांशतः लड़ा गया था। वर्सेलीज की संधि (Treaty of Versailles) के बाद अनेक जातियां राष्ट्र बन गईं। उनमें से कुछ को आक्रमण के विरुद्ध प्रतिज्ञा और प्रगति के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता थी। अन्ततः, केन्द्रीय शक्तियों द्वारा प्रदेशों के प्रबन्धों के छिन जाने ने इस विश्व-व्यापी संगठन की स्थापना को विस्तार प्रदान किया।

राष्ट्रसंघ का संगठन (Organisation of the League of Nations) —राष्ट्रसंघ की मौलिक सदस्यता की संख्या ३२ मित्र-राष्ट्रों तथा सम्बन्धित शक्तियों तक सीमित रखी गई थी; इसमें १३ तटस्थ राज्य, और नव-निर्मित राज्य थे, जिन्होंने शांति-संधि पर हस्ताक्षर किये थे।[1] संघ में नये शामिल होने वालों के लिए धारा रखी गई थी कि प्रत्येक प्रभु-शक्ति-संपन्न राज्य या उपनिवेश सदस्य हो सकता है बशर्ते कि उसके प्रवेश से असेंबली के दो-तिहाई सदस्य सहमत हों। कोई भी राज्य उस समय तक इसकी सदस्यता नहीं छोड़ सकता था, जब तक उसने इस विषय का दो वर्ष का नोटिस न दिया हो और प्रतिज्ञा-पत्र के अधीन सब अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूर्ण न किया हो।

असेम्बली(The Assembly)—संघ के चार अंग थे। उनमें असेंबली सर्वोच्च संस्था थी और उसमें ब्रिटिश कामन्वेल्थ के उपनिवेशों तथा भारत सहित विभिन्न सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि थे। प्रत्येक राज्य तीन से अधिक प्रतिनिधि नहीं भेज सकता था किन्तु उसे केवल एक ही मत-दान का अधिकार था। संघ के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत या विश्व की शांति को भंग करने वाला कोई भी मामला असेंबली के कृत्यों में शामिल था। असेंबली के सभी निर्णयों के लिए सर्व-सम्मत होना आवश्यक था। सर्व-सम्मति पर प्रभु-शक्ति-संपन्न राज्यों में मत-भेद को रोकने के लिये बल दिया जाता था, क्योंकि ऐसे राज्यों के विषय में कल्पना की जाती थी कि वे बहुमत प्राप्त करके अपने हितों के विपरीत कार्य कर सकते हैं।

---

१. १९२२ में कौंसिल की सदस्यता दस कर दी गई थी, दो अतिरिक्त स्थान छोटे राष्ट्रों के लिए रखे गए थे। १९२६ में, जर्मनी को स्थायी सदस्यता प्रदान की गई थी। इससे स्थायी-सदस्य संख्या पांच हो गई थी और अस्थायी सदस्य संख्या नौ। १९३३ में तीन वर्ष के लिए एक दसवीं अस्थायी-सदस्यता नियत की गई। १९३६ में यह और तीन वर्षों के लिए जारी रखी गई और ग्यारहवीं सदस्यता भी तीन वर्ष के लिए जारी की गई।

कौन्सिल (Council)—संघ के कार्य सुगम और पूर्ण करने के लिए कौंसिल कही जाने वाली एक छोटी संस्था बनाई गई थी। संघ की कौंसिल में मूलतः मुख्य और सहयोगी शक्तियों के चार प्रतिनिधि थे और साथ ही संघ के चार अन्य सदस्यों के प्रतिनिधि थे। इनका चुनाव असेंबली प्रतिवर्ष करती थी।[1] कौंसिल उन सब मामलों के विषय में कार्य करने की क्षमता रखती थी, जो लीग के कार्य-क्षेत्र से सम्बन्धित थे या विश्व की शांति को प्रभावित करने वाले थे। असेंबली की भांति ही उसके निर्णयों का भी सर्वसम्मत होना आवश्यक था।

कार्य सचिवालय (The Secretariat General)—कार्य सचिवालय, जो प्रबन्धक संस्था थी, संघ का सर्वोच्च संगठन था और उसका कार्यालय जनेवा में था। मुख्य सचिव (Secretary General) को असेंबली के बहुमत की स्वीकृति से कौंसिल नियत करती थी। कार्य-सचिवालय के कार्यकर्त्ता मुख्य सचिव और कौंसिल द्वारा नियत किये जाते थे। सचिवालय के खर्चे संघ के सदस्य-राज्यों में अनुपात से बांट दिये जाते थे। इसके कृत्य ये थे : संघ की सब कार्यवाहियों का रिकार्ड रखना, संघ के लिए आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करना, और संघ की ओर से सब पत्र-व्यवहार करना। सदस्य-राज्यों द्वारा जो संधियाँ की जाती थीं अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समझौते होते थे, उन्हें मुख्य सचिव (Secretary General) को प्रकाशित करना होता था अन्यथा वे वैध नहीं होते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का सर्वोच्च न्यायालय (The Paramount Court of International Justice)—संघ का मुख्य उद्देश्य युद्ध की भावी संभावनाओं को रोकना था और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के समझौतों के लिए योजना बनाना था। फलतः, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की सर्वोच्च अदालत हेग में स्थापित की गई थी। इसमें नौ जजों और चार डिप्टी जजों को असेंबली और कौंसिल ने नौ वर्ष के लिए चुना था। यह ऐसे झगड़ों का फैसला करती थी जो उसे सौंपे जाते थे और जिनमें न्याय-विषयक समझौते की दरकार होती थी। इसे ऐसे मामलों पर भी राय प्रकट करने का अधिकार था, जो असेंबली या कौंसिल द्वारा उसे सौंपे जाते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (The International Labour Organisation)—राष्ट्र-संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में मजदूरों की अवस्थाओं, भावी और वर्तमान संधियों के विषय में महत्वपूर्ण धाराएं सम्मिलित थीं। तदनुसार, संघ के अन्तर्गत एक स्वायत्त संस्था (autonomus body) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के नाम से निर्मित की गई। इसका उद्देश्य श्रम की मानवी अवस्थाओं को न्यायतः प्राप्त करना और स्थिर रखना था। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कौंसिल और सरकारों, नियोजकों और श्रमिकों के प्रतिनिधियों की प्रतिनिधि संस्था द्वारा निर्मित हुई थी। इस संस्था का वर्ष में एक बार जनेवा में अधिवेशन होता था। इसके अलावा, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय था, जिस पर प्रबन्धक समिति का नियंत्रण था।

---

१. अमरीका ने इस संधि को नहीं माना था और वह संघ में शामिल नहीं हुआ। रूस १९३४ में शामिल हुआ। जर्मनी तथा अन्य राज्यों को, जो जर्मनी के मित्र-राष्ट्र थे, युद्धकाल में इसका सदस्य बनने की मनाही थी किंतु बाद में, उनमें से कई सदस्य बन गए।

संघ का कार्य
(Work of the League)

झगड़ों का निपटारा (Settlement of Disputes)—संघ के तीन मुख्य कृत्य ये थे: अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो का निपटारा, युद्ध के कारणो को दूर करना, और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का संगठन करना। झगड़ों के निपटारे के विषय में संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में सब सदस्यो की प्रदेशीय एकता और राजनीतिक स्वतन्त्रता की धारा रखी गई थी। किसी प्रकार के आक्रमण या भय अथवा आक्रमण की आशका की दशा में कौंसिल सघ को यह परामर्श देने का अधिकार रखती थी कि सदस्य-राज्यों की प्रदेशीय एकता और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए क्या उपाय किए जायें।[1] युद्ध अथवा युद्ध की आशका की दशा में, चाहे सघ के किसी सदस्य पर उसका तात्कालिक प्रभाव होता हो या नही, सघ के राष्ट्रों की शान्ति की रक्षा के लिए कोई भी बुद्धिमत्तापूर्ण एवं प्रभावपूर्ण कार्यवाही करनी होती थी।[2] अन्ततः, किसी ऐसे झगड़े की दशा में, जिससे मित्र-संबंध टूटने की सभावना हो, उस मामले को मध्यस्थता के लिए पेश करना होता था अथवा कौंसिल द्वारा जाच के लिए किसी भी दशा में मध्यस्थो द्वारा निर्णय देने या कौंसिल की रिपोर्ट देने के तीन मास बाद तक युद्ध के लिए उतारू नही हुआ जा सकता था।[3]

संघ ने अन्य सब प्रयत्नों के विफल होने पर आलैंड (Aaland) द्वीपों और अपर साईलेशिया में समझौता कराया था। इसने १९२१ में अलबानिया को शान्ति की हत्या करने से बचाया था। १९२५ में संघ के हस्तक्षेप से ग्रीस और बलगेरिया का सघर्ष रुका था। और उसी वर्ष में मोसूल-(Mosul) सघर्ष की मध्यस्थता में यह सफल रहा था। हेग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्याय विभाग की सर्वोच्च अदालत ने २७ मामलो का फैसला किया था और उतनी ही सख्या के मामलो में परामर्श भी दिया था। निष्पक्षता के लिए इसकी इतनी धाक थी कि प्रतिद्वंद्वी राज्य इसके निर्णयों को सम्मानपूर्वक स्वीकार करते थे। और इस प्रकार संघ ने अनेक अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय मित्र-संबध-विच्छेद से देशों की रक्षा की।

युद्ध के कारणों को दूर करना (Removal of the Causes of war)—सघ के सदस्यों की यह मान्यता है कि शान्ति की स्थिरता के लिए राष्ट्रीय आयुध-कलाप (सैन्यीकरण–Armaments) राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के सर्वमान्य कार्य द्वारा न्यूनतम बिन्दु तक घटा देने चाहिएं।[4] तदनुसार, राष्ट्र-सघ की कौंसिल को आयुध-कलापो (Armaments) में न्यूनता करने की योजना बना कर सरकारों के विचार एवं क्रियान्विति के लिए अधिकार दिया गया था। इसे इस बात का परामर्श देने का भी अधिकार दिया गया था कि युद्ध के शस्त्रों तथा साधनों को निजी उद्योगों द्वारा निर्मित होने के कुप्रभावों से कैसे रोका जा सकता है।[5] किन्तु १९२५ से आगे तक

1. Article 10.
2. Article 11.
3. Article 12.
4. Article 8.
5. Ibid.

होंगी और हमारा धन्यवाद करेंगी।"[1] मई १९४१ में रूजवैल्ट ने पुनः इस पर बल दिया था, उन्होंने राष्ट्र को वक्तव्य देते समय विश्व के सब आधीन देशों पर चारों स्वतन्त्रताओं[2] को लागू करने का उल्लेख किया था।

इसके बाद १५ अगस्त १९४१ को अष्ट-वार्ता संयुक्त घोषणा (Eight-Point Joint Declaration) हुई, जो अतलांतिक घोषणा-पत्र के नाम से ख्यात है। इस में उन उद्देश्यों का समावेश था जिनके लिए मित्र-राष्ट्रों ने युद्ध में भाग लिया था और साथ ही विश्व की भावी शान्ति के आधारमूलक सिद्धांतों को प्रकट किया गया था। रूजवैल्ट और चर्चिल ने सब राष्ट्रों की प्रदेशीय एकता और संसार के सब लोगों के प्रति मनुष्य के अधिकारों की गारन्टी की थी, किन्तु चर्चिल ने भारत पर अतलान्तिक घोषणा-पत्र लागू करने से इन्कार किया था। इंग्लैंड के युद्धकालीन प्रधानमंत्री ने पुनः पुराना तर्क उपस्थित किया, किन्तु जो वस्तुतः असंगत और मक्कारी से भरा था कि ब्रिटेन "भारत के साथ हमारे चिर-सम्बन्धों के कारण जो दायित्व उत्पन्न हो गए हैं और उसके सिद्धांतों, जातियों और स्वार्थों के प्रयत्न, जो हमारी जिम्मेदारियां हैं, उन्हें छोड़ नहीं सकता।" इस प्रकार, अतलांतिक घोषणा-पत्र छद्म का प्रतीकमात्र रह गया और पर्ल बक ने इस विषय में ठीक ही कहा था कि द्वितीय विश्व-युद्ध "मानव स्वतन्त्रता का युद्ध नहीं है, प्रत्युत योरोपीय सभ्यता की रक्षा का युद्ध है।"

डंबरटन और ओक्स के प्रस्ताव (Dumbarton Oaks Proposals)—जो भी हो, द्वितीय विश्व-युद्ध ने किसी एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता को बढ़ा दिया है, जो राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा युक्त बनाये और उसे अपने निर्णयों को लागू करने की पर्याप्त शक्ति हो। कुछ ने राष्ट्र-संघ को अधिक शक्ति तथा सदस्यता प्रदान करके पुनर्जीवित करने का प्रस्ताव किया। किन्तु अमरीका ने एक नई योजना बनाई और उसे ७ अक्तूबर, १९४४ को डंबरटन ओक्स (अमरीका) में की गई एक कांफ्रेंस में इंग्लैंड, रूस और चीन के प्रतिनिधियों के सामने पेश किया। चारों शक्तियों ने विश्व संगठन के ढांचे के प्रस्ताव को सब संयुक्त राष्ट्र सरकारों और सब देशों के लोगों के अध्ययन एवं विचार के लिए पेश करना स्वीकार किया। डंबरटन ओक्स योजना के दो महत्व-पूर्ण अंग ये थे : (१) भावी युद्ध को रोकने की जिम्मेदारी के साथ ग्यारह सदस्यों के विश्व संगठन के अंग रूप में सुरक्षा कौंसिल का कार्य और (२) सदस्य-राज्यों को अपनी सशस्त्र सेनाओं को सुरक्षा कौंसिल को सौंपना ताकि वह युद्ध को रोक सके और आक्रमण को दबा सके।

मित्र-राष्ट्र देशों में इस योजना पर पूर्ण विचार हुआ। कई सरकारों से टिप्पणियां तथा रचनात्मक आलोचनाएं प्राप्त हुईं। मित्र-राष्ट्रों ने इसका खूब प्रचार किया और खास कर सुरक्षा कौंसिल को सशस्त्र सेनाएं सौंपने की धारा का प्रचार किया गया। इस प्रकार समाचार-पत्रों में तथा रेडियो पर वाद-विवाद की व्यवस्था की गई जिससे लोग

1. Anup Chand Kapur: India & the Atlantic Charter. p. 3.

२. रूजवैल्ट की चार स्वतंत्रताएं ये थीं: (१) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (२) प्रत्येक व्यक्ति का अपने निजी ढंग से परमात्मा की पूजा का अधिकार, (३) अभाव से मुक्ति, (४) आतंक से मुक्ति।

स्वयं इस नवीन योजना के गुण-अवगुणों को जान सकें, किन्तु डंबरटन ओक्स प्रस्तावों को अभी सुरक्षा कौंसिल (Security Council) में मत-दान की विधि का निर्णय करना था। यह क्रीमिया स्थित याल्टा (Yalta) में हुआ, जहा रूज़वेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने कांफ्रेंस की थी। ११ फरवरी, १९४५ को यह घोषणा की गई थी कि डंबरटन ओक्स योजना के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का घोषणा-पत्र तैयार करने के लिए अमरीका स्थित सान फ्रासिस्को में २५ अप्रैल, १९४५ को एक कार्फ्रेंस होगी।

सान फ्रासिस्को कांफ्रेंस(San Francisco Conference)–विश्व-जनसंख्या का ८० प्रतिशत से अधिक प्रतिनिधित्व करने वाले ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधि नियत तिथि पर सान फ्रासिस्को में मिले। उनके सामने डंबरटन ओक्स के प्रस्ताव थे और उसके आधार पर कार्य करते हुए उन्हें एक सगठन बनाना था, जो शांति की रक्षा करेगा और बेहतर दुनिया बनाने के कार्य में सहायक होगा। यह कांफ्रेंस विभिन्न कमेटियों तथा कमीशनों में विभाजित की गई थी और प्रत्येक को विशिष्ट कार्य का प्रस्ताव सौंपा गया था।

घोषणापत्र (United Nations Charter) सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। अगले दिन प्रत्येक प्रतिनिधि ने घोषणापत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस अवसर पर प्रेसिडेंट ट्रूमैन ने कहा था कि "सयुक्त राष्ट्रों का घोषणा-पत्र, जिस पर अभी-अभी आपने हस्ताक्षर किये हैं, एक ठोस रचनात्मक कदम है जिस पर आप बेहतर दुनिया का निर्माण कर सकते हैं। इतिहास इसके लिए आपका सम्मान करेगा। यूरोप में विजय और सबसे भयानक इस युद्ध में अन्तिम विजय के द्वारा आपने स्वय युद्ध के विरुद्ध विजय-लाभ किया है। इस घोषणा-पत्र से संसार उस समय की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख सकता है जब सभी शिष्ट मनुष्य स्वतन्त्र लोगों की भाति एक उन्नत और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकेंगे

संयुक्त राष्ट्र संगठन का जन्म (Birth of the United Nations Organisation)–संयुक्त राष्ट्र के संगठन का जन्म घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने से ही नही हो गया था। कई देशों में उसे उनके पार्लमेंटों द्वारा भी अनुमोदन प्राप्त करना था। तदनुसार, इस बात की गुंजायश रखी गई थी कि घोषणा-पत्र उस समय लागू होगा, जब चीन, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, रूस और सयुक्त राष्ट्र अमरीका की सरकारें तथा हस्ताक्षर करने वाले अन्य राज्यों की बहु-संख्या उसका समर्थन कर देगी और संयुक्त राष्ट्र अमरीका के राज्य विभाग को सूचित कर देंगी कि उनके देश की सरकारों ने इसे पास कर दिया है। २४ अक्तूबर १९४५ को यह शर्त पूरी की गई और सयुक्त राष्ट्र सगठन का उदय हुआ। इस तरह "चार वर्षों के योजना-आयोग और युद्ध को समाप्त करने, शांति, न्याय और सपूर्ण मानव-जीवन की सद् उन्नति के हेतु कई वर्षों की आशा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का रूप धारण कर सकी।"

संयुक्त राष्ट्रों का घोषणा-पत्र (United Nations Charter)—सयुक्त-राष्ट्रों के घोषणा पत्र में १११ धाराएं हैं, जिनमें सयुक्त राष्ट्रों के संगठन के उद्देश्यों और सिद्धातों तथा अगों का समावेश है, जिनके द्वारा उसकी इच्छा को व्यक्त एवं प्रदर्शित

होंगी और हमारा धन्यवाद करेंगी।"[1] मई १९४१ में रूजवैल्ट ने पुनः इस पर वल दिया था, उन्होंने राष्ट्र को वक्तव्य देते समय विश्व के सव आधीन देशों पर चारों स्वतन्त्रताओं[2] को लागू करने का उल्लेख किया था।

इसके वाद १५ अगस्त १९४१ को अष्ट-वार्ता संयुक्त घोषणा (Eight-Point Joint Declaration) हुई, जो अतलांतिक घोषणा-पत्र के नाम से ख्यात है। इस में उन उद्देश्यों का समावेश था जिनके लिए मित्र-राष्ट्रों ने युद्ध में भाग लिया था और साथ ही विश्व की भावी शान्ति के आधारमूलक सिद्धांतों को प्रकट किया गया था। रूजवैल्ट और चर्चिल ने सव राष्ट्रों की प्रदेशीय एकता और संसार के सव लोगों के प्रति मनुष्य के अधिकारों की गारन्टी की थी, किन्तु चर्चिल ने भारत पर अतलान्तिक घोषणा-पत्र लागू करने से इन्कार किया था। इंग्लैंड के युद्धकालीन प्रधानमंत्री ने पुनः पुराना तर्क उपस्थित किया, किन्तु जो वस्तुतः असंगत और मक्कारी से भरा था कि ब्रिटेन "भारत के साथ हमारे चिर-सम्वन्धों के कारण जो दायित्व उत्पन्न हो गए हैं और उसके सिद्धांतों, जातियों और स्वार्थों के प्रयत्न, जो हमारी जिम्मेदारियां हैं, उन्हें छोड़ नहीं सकता।" इस प्रकार, अतलांतिक घोषणा-पत्र छद्म का प्रतीकमात्र रह गया और पर्ल वक ने इस विषय में ठीक ही कहा था कि द्वितीय विश्व-युद्ध "मानव स्वतन्त्रता का युद्ध नहीं है, प्रत्युत योरोपीय सभ्यता की रक्षा का युद्ध है।"

डंवरटन और ओक्स के प्रस्ताव (Dumbarton Oaks Proposals)—जो भी हो, द्वितीय विश्व-युद्ध ने किसी एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता को वढ़ा दिया है, जो राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा युक्त वनाये और उसे अपने निर्णयों को लागू करने की पर्याप्त शक्ति हो। कुछ ने राष्ट्र-संघ को अधिक शक्ति तथा सदस्यता प्रदान करके पुनर्जीवित करने का प्रस्ताव किया। किन्तु अमरीका ने एक नई योजना वनाई और उसे ७ अक्तूवर, १९४४ को डंवरटन ओक्स (अमरीका) में की गई एक कांफ्रेंस में इंग्लैंड, रूस और चीन के प्रतिनिधियों के सामने पेश किया। चारों शक्तियों ने विश्व संगठन के ढांचे के प्रस्ताव को सव संयुक्त राष्ट्र सरकारों और सव देशों के लोगों के अध्ययन एवं विचार के लिए पेश करना स्वीकार किया। डंवरटन ओक्स योजना के दो महत्व-पूर्ण अंग ये थे : (१) भावी युद्ध को रोकने की जिम्मेदारी के साथ ग्यारह सदस्यों के विश्व संगठन के अंग रूप में सुरक्षा कौंसिल का कार्य और (२) सदस्य-राज्यों को अपनी सशस्त्र सेनाओं को सुरक्षा कौंसिल को सौंपना ताकि वह युद्ध को रोक सके और आक्रमण को दवा सके।

मित्र-राष्ट्र देशों में इस योजना पर पूर्ण विचार हुआ। कई सरकारों से टिप्पणियां तथा रचनात्मक आलोचनाएं प्राप्त हुईं। मित्र-राष्ट्रों ने इसका खूव प्रचार किया और खास कर सुरक्षा कौंसिल को सशस्त्र सेनाएं सौंपने की धारा का प्रचार किया गया। इस प्रकार समाचार-पत्रों में तथा रेडियो पर वाद-विवाद की व्यवस्था की गई जिससे लोग

1. Anup Chand Kapur : India & the Atlantic Charter, p. 3.

२. रूजवैल्ट की चार स्वतंत्रताएं ये थीं: (१) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (२) प्रत्येक व्यक्ति का अपने निजी ढंग से परमात्मा की पूजा का अधिकार, (३) अभाव से मुक्ति, (४) आतंक से मुक्ति।

स्वयं इस नवीन योजना के गुण-अवगुणों को जान सकें, किन्तु डंबरटन ओक्स प्रस्तावों को अभी सुरक्षा कौंसिल (Security Council) में मत-दान की विधि का निर्णय करना था। यह क्रीमिया स्थित याल्टा (Yalta) में हुआ, जहां रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने कांफ्रेंस की थी। ११ फरवरी, १९४५ को यह घोषणा की गई थी कि डंबरटन ओक्स योजना के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का घोषणा-पत्र तैयार करने के लिए अमरीका स्थित सान फ्रांसिस्को में २५ अप्रैल, १९४५ को एक कांफ्रेंस होगी।

सान फ्रांसिस्को कांफ्रेंस (San Francisco Conference)–विश्व-जनसंख्या का ८० प्रतिशत से अधिक प्रतिनिधित्व करने वाले ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधि नियत तिथि पर सान फ्रांसिस्को में मिले। उनके सामने डंबरटन ओक्स के प्रस्ताव थे और उसके आधार पर कार्य करते हुए उन्हें एक संगठन बनाना था, जो शांति की रक्षा करेगा और बेहतर दुनिया बनाने के कार्य में सहायक होगा। यह कांफ्रेंस विभिन्न कमेटियों तथा कमीशनों में विभाजित की गई थी और प्रत्येक को विशिष्ट कार्य का प्रस्ताव सौंपा गया था। यूं तो सब प्रतिनिधियों के केवल दस ही पूर्ण अधिवेशन हुए थे, लेकिन कमेटियों की लगभग चार सौ बैठकें हुईं, "जिन में प्रत्येक वाक्य और विराम तक पर खूब विचार-विमर्श किया गया था।" २५ जून को आखिरी पूर्ण अधिवेशन हुआ जिसमें संयुक्त राष्ट्रों का घोषणापत्र (United Nations Charter) सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। अगले दिन प्रत्येक प्रतिनिधि ने घोषणापत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस अवसर पर प्रैसिडेंट ट्रूमैन ने कहा था कि "संयुक्त राष्ट्रों का घोषणा-पत्र, जिस पर अभी-अभी आपने हस्ताक्षर किये हैं, एक ठोस रचनात्मक कदम है जिस पर आप बेहतर दुनिया का निर्माण कर सकते हैं। इतिहास इसके लिए आपका सम्मान करेगा। यूरोप में विजय और सबसे भयानक इस युद्ध में अन्तिम विजय के द्वारा आपने स्वयं युद्ध के विरुद्ध विजय-लाभ किया है। इस घोषणा-पत्र से संसार उस समय की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख सकता है जब सभी शिष्ट मनुष्य स्वतन्त्र लोगों की भांति एक उन्नत और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकेंगे

संयुक्त राष्ट्र संगठन का जन्म (Birth of the United Nations Organisation)–संयुक्त राष्ट्र के संगठन का जन्म घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने से ही नहीं हो गया था। कई देशों में उसे उनके पार्लमेंटों द्वारा भी अनुमोदन प्राप्त करना था। तदनुसार, इस बात की गुंजायश रखी गई थी कि घोषणा-पत्र उस समय लागू होगा, जब चीन, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, रूस और संयुक्त राष्ट्र अमरीका की सरकारें तथा हस्ताक्षर करने वाले अन्य राज्यों की बहु-संख्या उसका समर्थन कर देगी और संयुक्त राष्ट्र अमरीका के राज्य विभाग को सूचित कर देगी कि उनके देश की सरकारों ने इसे पास कर दिया है। २४ अक्तूबर १९४५ को यह शर्त पूरी की गई और संयुक्त राष्ट्र संगठन का उदय हुआ। इस तरह "चार वर्षों के योजना-आयोग और युद्ध को समाप्त करने, शांति, न्याय और संपूर्ण मानव-जीवन की सद् उन्नति के हेतु कई वर्षों की आशा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का रूप धारण कर सकी।"

संयुक्त राष्ट्रों का घोषणा-पत्र (United Nations Charter)—संयुक्त-राष्ट्रों के घोषणा पत्र में १११ धाराएं हैं, जिनमें संयुक्त राष्ट्रों के संगठन के उद्देश्यों और सिद्धांतों तथा अंगों का समावेश है, जिनके द्वारा उसकी इच्छा को व्यक्त

किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें पूर्वपीठिका (Preamble) भी है, जो संयुक्त राष्ट्रों की भावना तथा मार्ग-निदर्शन को व्यक्त करती है। यह पूर्वपीठिका इन शब्दों के साथ आरम्भ होती है: "संयुक्त राष्ट्रों के हम लोग—अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेज के अभूतपूर्व अंश के रूप में—और उसके बाद संयुक्त राष्ट्रों के आधारमूलक लक्ष्यों को रखा गया है, जो ये हैं—

१. आनेवाली पीढ़ियों को युद्ध की प्रताड़ना से रक्षित करना।
२. आधारमूलक मानव-अधिकारों में विश्वास की पुनः स्थापना।
३. अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के लिए न्याय और सम्मान की स्थापना करना।
४. सामाजिक उन्नति और एक बेहतर जीवन-मान की उन्नति करना।

इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पूर्वपीठिका संयुक्तराष्ट्रों के लोगों को सहनशीलता के अभ्यास, अच्छे पड़ोसियों की तरह शांति से रहने, शांति और सुरक्षा को स्थिर रखने के लिए एकत्रित होने, सर्वमान्य हित के सिवा सशस्त्र शक्तियों का उपयोग न करने के विश्वास को विस्तार देने और सब लोगों के सामाजिक और आर्थिक कल्याण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधन को नियोजित करने का आदेश करती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य और सिद्धांत (Purposes and Principles of the United Nations)—स्पष्टतया लोगों की अत्यावश्यक और आधारमूलक आवश्यकताएं युद्ध और युद्ध के भय से मुक्ति हैं। इसलिए, संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रथम उद्देश्य की अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के रूप में परिभाषा की गई है। इस संगठन का कार्य सब शांतिपूर्ण उपायों से शांति के खतरों को रोकना या दूर करना और आक्रमण तथा शांति-भंग के अन्य कार्यों को दबाना है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों तथा स्थितियों का जिनसे संघर्ष हो सकता हो, समन्वय करना अथवा न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार फैसला करना होता है। इन परिणामों को प्राप्त करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रभावपूर्ण कार्यवाही करनी पड़ती है। संयुक्त राष्ट्र संघ का दूसरा उद्देश्य सब राष्ट्रों के लोगों में मित्र-भावों की उन्नति करना है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव की भावना अधिक सुदृढ़ हो। राष्ट्रों में यह मित्रता समान अधिकारों तथा लोगों के स्वतः निर्णय की समानता के सिद्धांतों के लिए मान्यता के आधार पर होनी चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का मूलभूत कारण राष्ट्रों के बीच आर्थिक प्रतिद्वंद्विताएं तथा अन्य असमानताएं हैं। फलतः, संयुक्त राष्ट्र संघ को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवी स्वरूप की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का निराकरण करते हुए देशों को सहयोग के लिए यत्नशील होना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ का यह तीसरा उद्देश्य है। इससे निकट रूप में संबद्ध जाति, यौन, भाषा या धर्म का भेद-भाव किये बिना सब लोगों के लिए मौलिक मानव अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की वृद्धि तथा प्रोत्साहन करने का उद्देश्य है। अन्ततः, संयुक्त राष्ट्र संघ, मुख्य विश्व-संगठन के रूप में इन सर्वमान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय कार्यों में समस्वरता और अविरोध उत्पन्न करके कार्य करेगा। इसे संयुक्त राष्ट्रों का चौथा उद्देश्य बताया गया है।

उपरिलिखित चार उद्देश्य घोषणापत्र के हेतु और उद्देश्य हैं, जिनके प्रति सदस्य-

राज्य सामूहिक एवं पृथक् रूप में वचनबद्ध हैं।" इसके बाद घोषणा-पत्र मौलिक सिद्धांतों की परिभाषा करता है, जिन पर संयुक्त राष्ट्र संगठन आधारित है। ये सिद्धांत सात सामान्य दायित्व हैं, जो सदस्य देशों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को समग्र रूप में परस्पर बांधते हैं। सात दायित्व ये हैं :—

१. संयुक्त राष्ट्र संगठन अपने सब सदस्यों की समान प्रभु-शक्ति पर आधारित है।

२. प्रत्येक सदस्य-राज्य घोषणापत्र के अधीन अपने दायित्वों को ईमानदारी के साथ पूर्ण करेगा।

३. सब सदस्य-राज्य झगड़ों का निपटारा शांतिपूर्ण साधनों द्वारा करेंगे और यह कृत्य ऐसे ढंग से पूर्ण किया जायगा कि शांति, सुरक्षा और न्याय को खतरा न हो।

४. कोई भी सदस्य-राज्य किसी भी राज्य की स्वतन्त्रता या प्रदेश के विरुद्ध शक्ति या शक्ति की धमकी का प्रयोग नहीं करेगा अथवा कोई भी ऐसा आचरण नहीं करेगा, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य के साथ मेल न खाता हो।

५. कोई भी सदस्य-राज्य ऐसे किसी राज्य की सहायता नहीं करेगा, जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ बल-प्रयोग की कार्यवाही कर रहा हो और संगठन के किसी भी उस कार्य का सब कोई समर्थन करेंगे, जो वह घोषणा-पत्र के अनुसार करेगा।

६. संयुक्त राष्ट्र संघ इस बात का विश्वास दिलायेगा कि जो राज्य सदस्य नहीं हैं, वे आवश्यकतानुसार शांति और सुरक्षा की स्थिरता के लिए इन सिद्धांतों के अनुसार कार्य करेंगे।

७. संयुक्त राष्ट्र संघ ऐसे मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा जो अनिवार्यतः किसी राज्य के घरेलू अधिकार के अन्तर्गत होंगे, अथवा वह किसी भी सदस्य-राज्य को बाध्य नहीं करेगा कि वह ऐसे मामले को निपटाने के लिए संयुक्तराष्ट्र संघ में पेश करे—यह सिद्धांत उस समय लागू नहीं होगा, जब दमनशील उपायों को शांति के खतरों, शांति-भंग के कार्यों तथा आक्रमण के कार्यों का निपटारा करने के लिए लागू किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता (Membership of the United Nations)—सान फ्रांसिस्को में घोषणा-पत्र में हस्ताक्षर करने वालों की संख्या ५१ थी और उनमें सबको संयुक्त राष्ट्र संगठन का मौलिक सदस्य माना जाता है। घोषणा-पत्र की धारा ४ के अनुसार उन अन्य सब शांतिप्रिय लोगों के लिए सदस्यता का द्वार खुला है जो घोषणा-पत्र के दायित्वों और संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय को स्वीकार करते हैं और उन दायित्वों को पूर्ण करने के योग्य एवं इच्छुक हैं। सुरक्षा कौंसिल की सिफारिश पर जनरल असेंबली उनके सदस्य बनने के अधिकार को स्वीकार करती है। १९४६ में, सुरक्षा परिषद् ने अफगानिस्तान, आइसलैंड, स्याम और स्वीडन के प्रवेश की सर्वसम्मति से सिफारिश की थी और जनरल असेंबली की मंजूरी पर ये राज्य संयुक्तराष्ट्र संघ के सदस्य बने थे। अगले वर्ष पाकिस्तान और येमन को सदस्य बनाया गया और १९४८ में बर्मा भी सदस्य बन गया और सदस्य संख्या ५८ हो गई। वर्त्तमान में सदस्य संख्या ६२ है। यदि एक सदस्य-राज्य घोषणा-पत्र के सिद्धांतों को दृढतापूर्वक भंग करता है, तो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेंबली उसे हटा सकती है। इसी प्रकार यदि संयुक्त राष्ट्र संघ एक सदस्य-राज्य

के विरुद्ध अवरोध या बल-प्रयोग की कार्यवाही कर रहा हो, तो सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर जनरल असेंबली उस सदस्य-राज्य को उसके अधिकारों एवं सुविधाओं से वंचित कर देगी । जो भी हो, सुरक्षा परिषद् जब आवश्यक समझती है, तो इन अधिकारों का प्रयोग कर सकती है ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग

घोषणा-पत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ के ६ अंग बताए गए हैं । इन्हीं अंगों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ का बहुमुखी कार्य होता है । मुख्य अंग ये हैं:—जनरल असेंबली, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक सामाजिक परिषद्, प्रन्यासत्व (Trusteeship) परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय । जनरल असेंबली, सुरक्षा परिषद् और आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् को घोषणा-पत्र की धाराओं के अनुसार सहायक अंगों की रचना करने का अधिकार है ।

संघ की जनरल असेंबली (General Assembly)—संयुक्त राष्ट्र का जनरल असेंबली सबसे बड़ा अंग है । यह इस संगठन की सबसे बड़ी विमर्शकर्त्तृ संस्था है । यह घोषणा-पत्र के अन्तर्गत प्रत्येक मामले पर विचार करती है । इसमें सभी सदस्य-राज्य सम्मिलित हैं । यद्यपि प्रत्येक सदस्य-राज्य जनरल असेंबली में विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए पांच प्रतिनिधि तक भेज सकता है, तथापि सदस्य-राज्य मत-दान के समय एक ही मत दे सकते हैं । घोषणा-पत्र में उल्लिखित महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय उपस्थित सदस्यों की दो-तिहाई बहु-संख्या तथा मत-दान से किया जाता है । ये महत्वपूर्ण प्रश्न निम्न हैं : शांति और सुरक्षा की स्थिरता, अन्य अंगों के लिए सदस्यों का चुनाव, प्रवेश, सदस्य-राज्यों को हटाना या स्थगित करना, प्रन्यासत्व संबंधी मामले, बजट-विषयक प्रश्न । अन्य सब प्रश्नों का निर्णय बहुमत द्वारा किया जाता है । असेंबली स्वतः, साधारण बहुमत के द्वारा, प्रश्नों की ऐसी नई सूचियां जोड़ सकती है, जिनका निर्णय दो-तिहाई बहुमत द्वारा किया जाना होता है । सामान्यतः, असेंबली का प्रतिवर्ष में एक नियमित अधिवेशन होता है, किन्तु सुरक्षा परिषद् के सदस्यों की बहुसंख्या के आवेदन पर विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है । प्रत्येक अधिवेशन के लिए जनरल असेंबली द्वारा प्रेसिडेंट चुना जाता है ।

असेंबली उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वालों की दो-तिहाई बहु-संख्या से दो वर्ष के लिए सुरक्षा परिषद् के ६ अस्थायी सदस्यों को चुनती है । घोषणा-पत्र इस बात की मांग करता है कि इन सदस्यों को चुनते समय जनरल असेंबली इस बात को दृष्टि में रखेगी कि उन्होंने शांति और सुरक्षा के लिए तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्या-क्या किया है और साथ ही एक न्याय्य और निष्पक्ष भौगोलिक वितरण में भी योग-दान दिया है । इसके अतिरिक्त यह आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सब अठारह सदस्यों को भी चुनती है । प्रन्यास परिषद के सदस्यों का चुनाव भी असेंबली करती है । समानान्तर मतदान (Parallel Voting) की जटिल प्रणाली द्वारा सुरक्षा परिषद् और जनरल असेंबली एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के १५ जजों को चुनते हैं । इनमें से कोई भी दो जज एक देश के नहीं हो सकते । अन्ततः, असेंबली प्रधान सचिव नियत करती है, जो सं. रा. सं. के सचिवालय का मुख्य अधिकारी होता है । किन्तु जनरल असेंबली का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृत्य विचार-विमर्श

से संबद्ध है। इसे ऐसे सब प्रश्नो और मामलों पर विचार करने का अधिकार है, जो घोषणा-पत्र और सयुक्त राष्ट्र सघ के कार्य-कलाप के अन्तर्गत आते हैं। असेंबली ऐसे किसी भी प्रश्न को उठा सकती है और उसपर विचार कर सकती है, जो शांति और सुरक्षा की स्थिरता के नाम पर किसी सदस्य-राज्य, सुरक्षा परिषद् या क़िन्ही अवस्थाओं में किसी अ-सदस्य-राज्य द्वारा उपस्थित किया गया हो और तदनुसार, अपनी सिफारिशों को या तो सुरक्षा परिषद् अथवा सदस्य-राज्य को सीधे पहुचाती है। किन्तु एक मर्यादा भी है जो घोषणा-पत्र जनरल असेंबली की शक्तियों पर लगाता है। जिस समय सुरक्षा परिषद् किसी झगड़े या स्थिति पर विचार कर रही हो तो जनरल असेंबली तब तक उस विषय पर कोई विचार नही कर सकती और सिफारिश नही कर सकती जब तक सुरक्षा परिषद् उसे वैसा करने की अभ्यर्थना न करे। इसलिए, मुख्य सचिव शाति और सुरक्षा से संबधित उन मामलो के विषय मे असेंबली को सूचित करते हैं जिन पर सुरक्षा परिषद् विचार कर रही होती है। जैसे ही सुरक्षा परिषद् उन मामलो पर विचार करना बन्द कर देती है, तो मुख्य सचिव, असेंबली का अधिवेशन न होने की दशा में, असेंबली या सदस्य-राज्य को सूचित कर देता है। जनरल असेंबली सुरक्षा परिषद् का उन स्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित कर सकती है, जिनसे शाति-भंग की आशका हो। जब सुरक्षा परिषद् किसी झगड़े या स्थिति पर विचार कर रही हो तब जनरल असेंबली को सिफारिश करने का अधिकार नहीं है, परन्तु वह ऐसे उपायों की सिफारिश कर सकती है, जो किसी ऐसी स्थिति को शातिपूर्ण ढग से निपटाते हो, जिससे राष्ट्रो के सामान्य कल्याण या मित्रतापूर्ण सबधो में क्षति की संभावना हो। इसमे सयुक्त राष्ट्रो के उद्देश्यों और सिद्धातो का भग करना भी शामिल है।

असेंबली संयुक्त राष्ट्र सघ के अगो की शक्तियो तथा कृत्यों पर भी विचार कर सकती है और अपने कृत्यो को पूर्ण करने के लिए आवश्यक सहायक अगो की भी स्थापना कर सकती है। जनरल असेंबली को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा, और स्वास्थ्य-विषयक मामलो मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उन्नत करने के उद्देश्य के लिए अध्ययन करने की प्रेरणा करने के अधिकार दिये गये हैं। इस प्रकार के प्रेरित अध्ययनो में जाति, यौन, भाषा या धर्म मे भेद किये बिना अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का विधि-करण तथा विकास, सब के लिए मानव-अधिकारों तथा आधारभूत स्वतन्त्रताओ की प्राप्ति के लिए प्रोत्साहन भी शामिल होना चाहिए। इसे नि-शस्त्रीकरण से सबधित सिद्धांतो पर विचार करने और शस्त्रीकरण के नियत्रण और उसपर सिफारिश करने का भी अधिकार दिया गया है।

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य-संबधी विषयो में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को विकसित करते हुए जनरल असेंबली मुख्यत: आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा कार्य करती है। परिषद् स्वत सयुक्त राष्ट्र सघ का मुख्य अग है किन्तु यह जनरल असेंबली की अधिकार शक्ति के अधीन कार्य करता है। अन्तत, जनरल असेंबली संयुक्त राष्ट्र संघ के बजट को मजूर करती है और प्रत्येक सदस्य-राज्य द्वारा वहन करने वाले व्यय के भाग का निर्णय करती है।

सुरक्षा परिषद् (The Security Council)—सयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य-

राज्यों ने सुरक्षा परिषद् को विश्व-शांति और सुरक्षा को स्थिर रखने का मुख्य उत्तर-दायित्व सौंपा हुआ है। प्रत्येक सदस्य-राज्य ने प्रतिज्ञा की हुई है कि वह सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार करेगा और उनका पालन करेगा। सुरक्षा परिषद् में सब मिलाकर ११ सदस्य हैं। सदस्य दो प्रकार के हैं—स्थायी और अस्थायी। पांच स्थायी सदस्य ये हैं—चीन, इंग्लैंड, फ्रांस, रूस और अमरीका के प्रतिनिधि। ६ अस्थायी सदस्यों को जनरल असैंबली दो वरस के लिए चुनती है। १९४६ के पहले चुनाव में आस्ट्रेलिया, ब्राजील, ईजिप्ट, मैक्सिको, पोलैंड, और नीदरलैंड को अस्थायी सदस्य चुना गया था। अवधि पूरी होने पर सदस्य-राज्य अपनी अवधि की समाप्ति के तत्काल वाद ही पुनर्निर्वाचन में भाग नहीं ले सकते। इसके फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् की सदस्यता में कई राष्ट्र अपनी-अपनी वारी से आ सकते हैं।

घोषणा-पत्र में शर्त रखी गई है कि सुरक्षा परिषद् का अधिवेशन निरन्तर होगा और तदनुसार, परिषद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त प्रत्येक सदस्य-राज्य को संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य कार्यालयों में अपना प्रतिनिधि रखना होगा। परिषद् को कम-से-कम प्रत्येक दो सप्ताह में एक वार अथवा इससे अधिक आवश्यकतानुसार अधिवेशन करना होगा। घोषणा-पत्र परिषद् को इस वात की स्वीकृति देता है कि वह मुख्य कार्यालयों की अपेक्षा अन्य किसी ऐसे स्थान पर बैठक कर सकता है जिससे परिषद् के कार्य को सुविधा हो सके। परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक वोट (मत-दान) है और कार्य-विधि (Procedural Nature) स्वरूप के मामलों पर निर्णयों के लिए सात सदस्यों का मत आवश्यक है। "विशेष मामलों में भी" सात सदस्यों का स्वीकारात्मक वहुमत चाहिए, किन्तु सात **वोटों के स्वीकारात्मक वहुमत में सब स्थायी सदस्यों के समकालिक वोट होने चाहिएं।** इसका अर्थ यह है कि कोई भी स्थायी सदस्य वहुमत से असहमत होकर किसी भी स्थापना को विशेषाधिकार (Veto) द्वारा रद्द कर सकता है। यह "पांच वड़ों" के एक मत के रूप में ख्यात है। जो भी हो, इस नियम के लिए एक अपवाद भी है। जिस समय सुरक्षा परिषद् एक झगड़े के विषय में शांतिपूर्ण समझौते पर विचार कर रही हो, तो वह सदस्य-राज्य, जो झगड़े में एक पक्ष होता है, वोट देने से वंचित रहता है।

सुरक्षा परिषद् की कार्यवाहियों में केवल सदस्य ही भाग लेते और वोट देते हैं, परन्तु किन्हीं अवस्थाओं में ऐसे देश, जो परिषद् में प्रतिनिधित्व नहीं रखते और यहां तक कि वह देश भी, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं, कार्यवाही में मत-दान के अधिकार के विना भाग ले सकते हैं। यह प्रथमतः तभी हो सकता है कि जब कभी परिषद् यह समझे कि किसी प्रश्न पर विचार करने में किसी विशिष्ट सदस्य-राज्य के हितों पर विशेष रूप से प्रभाव होता है, तो वह उस देश को कार्यवाही में भाग लेने के लिए कह सकती है। द्वितीयतः, यदि एक देश सुरक्षा परिषद् में विचाराधीन झगड़े का एक पक्ष है, तो उसे मत देने के अधिकार के विना विचार-विनिमय में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जायगा। उन राज्यों तक को भी, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं हैं, किसी झगड़े के विचार-विनिमय में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जायगा, जिसके वे परिषद् द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार पक्ष होंगे। सुरक्षा परिषद् अपना निजी प्रधान चुनती है और प्रति मास हर सदस्य-राष्ट्र को वारी-वारी से अपना प्रधान चुनने का अधिकार है।

सुरक्षा परिषद् की स्थिति और अधिकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। घोषणा-पत्र सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थिर रखने का मुख्य उत्तरदायित्व सौंपता है। यह आगे चलकर इस बात का भी आदेश करता है कि यदि सदस्य-राज्यों में परस्पर कोई ऐसा झगडा है, जिससे शांति को खतरा हो सकता है, तो उन्हें सब सभव शांतिपूर्ण उपायों से इसको दूर करने का उपाय खोजना चाहिए। यदि वे अपने झगड़ों को वार्तालाप, जाच-पड़ताल, मध्यस्थता, परामर्श, न्यायपूर्ण समझौते अथवा अन्य शांतिपूर्ण साधनों से सुलझाने में असफल रहते हैं, तो सुरक्षा परिषद् का कर्तव्य है कि वहां दोनों दलों को अपने झगड़े निपटाने के लिए आमंत्रित करे। परिषद् को ऐसी किसी परिस्थिति की जाच करने का अधिकार है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष या झगड़े की सभावना हो सकती हो। यह इस कारण विचार करना होगा कि आया उस स्थिति से शांति और सुरक्षा को संभावित भय तो नहीं। सुरक्षा परिषद् की स्वतः प्रेरणा के अतिरिक्त, कोई भी सदस्य-राज्य सुरक्षा परिषद् या जनरल असेंबली का ऐसी स्थिति या झगड़े की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता है। यहा तक कि सयुक्त राष्ट्र सघ का एक अ-सदस्य राज्य भी किसी ऐसे झगड़े के विषय में सुरक्षा परिषद् या जनरल असेंबली का ध्यान आकर्षित कर सकता है, जिसमें वह एक पक्ष हो, बशर्ते कि वह घोषणा-पत्र के अधीन शांतिपूर्ण समझौते के दायित्वों को पूर्णतः स्वीकार कर लेता है। सयुक्त राष्ट्र सघ का मुख्य सचिव भी सुरक्षा परिषद् का ध्यान ऐसे मामलों की ओर आकर्षित कर सकता है जो उसकी राय में अन्तर्राष्ट्रीय शांति या सुरक्षा के लिए भय का कारण हो सकते हैं।

सुरक्षा परिषद् की राय में यदि ऐसे झगडों की निरन्तरता से विश्व-शांति को क्षति होती है या वास्तव में ही शांति-भंग हुई है, या आक्रमण किया गया है, तो वह इन बातों में से कोई कर सकती है : (१) सबधित दलों को अपने झगडे निपटाने के लिए कहना; (२) ऐसी उचित कार्यविधियों और प्रणालियों की सिफारिश करना जिससे झगडे की समाप्ति हो; (३) समझौते की शर्तों को प्रस्तुत करना। यदि सुरक्षा परिषद् की सिफारिशों को एक या दोनों ही पक्ष पालन न कर पायें तो परिषद् सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्य सदस्य-राज्यों को सबधित देशों से या तो कूट-नीतिक सबध-विच्छेद के लिए कह सकती है या रेल, समुद्र, हवाई, डाक, तार, रेडियो तथा अन्य सचरण के साधनों को भग करने को कह सकती है अथवा अपराधी राज्य अथवा राज्यों के साथ आंशिक या पूर्ण आर्थिक सबधों को तोडने के लिए कह सकती है। यदि सुरक्षा परिषद् समझे कि ऐसे उपाय अपर्याप्त हैं या अपर्याप्त प्रमाणित हुए हैं, तो वह स्थिति को काबू में करने के लिए आवश्यक निश्चित सब सैनिक कार्य करने की क्षमता रखती है। इस प्रकार के सैनिक कार्य के लिए सैनिक बल की आवश्यकता है जिसकी संयुक्त राष्ट्र सघ का प्रत्येक सदस्य-राज्य धारा ४३ के अनुसार, परिषद् के कहने पर पूर्ति करने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध है। सुरक्षा परिषद् की एक सैनिक कार्य-समिति है, जो उसे उसकी सैनिक आवश्यकताओं के विषय में सहायता और परामर्श प्रदान करती है और साथ ही परिषद् के आदेश पर छोड़ी गई सैनिक शक्तियों का निर्देशन करने और उनका नियोजन करने और शस्त्रीकरण तथा नि:शस्त्रीकरण के नियमों में सहायता तथा परामर्श देती है। यह कमेटी स्थायी

सदस्यों —चीन, फ्रांस, इंग्लैंड, रूस और अमरीका के प्रतिनिधियों या सेनाध्यक्षों की वनी हुई है।

सुरक्षा परिषद् के अन्य कृत्य ये हैं:— जनरल असेंवली के नये सदस्यों के प्रवेश की सिफारिश करना; जनरल असेंवली को किसी सदस्य राज्य के अधिकारों तथा सुविधाओं को स्थगित करने की सिफारिश करना, जिसके विरुद्ध वह अवरोध या वल-पूर्ण कार्य करने जा रही हो; जनरल असेंवली को ऐसे किसी सदस्य को संयुक्त राष्ट्र संघ से जुदा करने की सिफारिश करना, जो घोषणा-पत्र के सिद्धांतों को दृढ़तापूर्वक भंग कर रहा हो; मुख्य सचिव को जनरल असेंवली के विशेष-अधिवेशन को वुलाने के लिए ेरणा करना; अपने कृत्यों के उचित पालन के लिए सहायक अंगों की स्थापना करना। संयुक्त राष्ट्रों के सव कृत्यों को, जो प्रन्यास क्षेत्रों से संवंधित हों और जिनका वर्गीकरण "सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण" किया गया हो, सुरक्षा परिषद् पूर्ण करती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों के चुनाव के लिए एक ही समय में मत-दान करती है, किन्तु जनरल असेंवली से स्वतन्त्र। जव एक दल न्यायालय के फैसले का पालन करने में असफल रहता है तो सुरक्षा परिषद् दूसरे पक्ष की अपील पर सिफारिशें कर सकती है या फैसले को सक्रिय करने के उपायों का निर्णय कर सकती है। १९४६ ई. में स्थापित किया आण्विक-शक्ति-आयोग सुरक्षा परिषद् को अपना प्रतिवेदन सुरक्षा परिषद के समक्ष उपस्थित करता है और उन विषयों पर, जो सुरक्षा शांति से संवंध रखते हैं, निर्देश प्राप्त करता है। अन्ततः, परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेंवली मुख्य-सचिव को नियत करती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (The Economic and Social Council)—घोषणा-पत्र का सवसे महत्वपूर्ण वह अंश है जिसमें शांति के रचनात्मक कार्य पर वह जोर देता है। किन्तु घोषणा-पत्र के रचयिता जानते थे कि "आर्थिक और सामाजिक असमानताएं वहुधा ऐसी वीमारियां हैं, जिनका अन्तिम निदान युद्ध है और उन्होंने शांति को न केवल गोली न दागने की अवधि में ही सीमित किया, प्रत्युत उसे सारे मानव-समाज के सर्वमान्य कल्याण की सुखद विधि के रूप में ग्रहण किया है।" तदनुसार, घोषणा-पत्र की धारा एक का कथन है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का यह मुख्य उद्देश्य है कि वह आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवी स्वरूप की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग की प्राप्ति करे तथा जाति या यौन, भाषा या धर्म के भेदभाव विना मानव अधिकारों तथा आधारमूलक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान को उन्नत करे तथा प्रोत्साहन प्रदान करे। संयुक्त राष्ट्र संघ का यह उद्देश्य पूर्वपीठिका में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसमें घोषणा की गई है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य "विस्तृत स्वतन्त्रता में सामाजिक उन्नति और वेहतर जीवन-मान को उन्नत करने के लिए" दृढ़-निश्चयी हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के इन उद्देश्यों को आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा प्राप्त किया जाता है, जिसे फ्रांसिस्को सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र संघ का सवसे महत्वपूर्ण अंग माना है। इसमें जनरल असेंवली द्वारा निर्वाचित १८ सदस्य होते हैं। प्रति वर्ष ६ सदस्य चुने जाते हैं और प्रत्येक सदस्य-राज्य के पद की

निरीक्षापरिषद् (Supervisory Board) (३) अन्तर्राष्ट्रीय शिशु आपात कोष (The International Children's Fund) (४) और बाल विकासार्थ अन्तर्राष्ट्रीय अनुरोध (The United Nations Appeal for Children)।

प्रन्यास परिषद् (The Trusteeship Council)—प्रन्यास परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय प्रन्यास प्रणाली के लिए निम्न के प्रशासन तथा देख-रेख के लिए कार्य करती है:—

१. प्रशासन शक्तियों द्वारा प्रन्यास समझौतों के अनुसार और संयुक्त राष्ट्रसंघ की अनुमति द्वारा इसके अधीन किये गए क्षेत्रों का ;

२. राष्ट्र संघ (League of Nations) को आदेश प्रणाली के अधीन अधिकृत क्षेत्रों का और उन क्षेत्रों का, जो शत्रु-राज्यों से द्वितीय विश्व-युद्ध के फलस्वरूप जुदा किये गए हैं ; और

३. उन क्षेत्रों का, जो प्रन्यास प्रणाली के अधीन स्वयंमेव सौंपे गए हैं।

प्रन्यास प्रणाली के उद्देश्य चतुर्मुखी हैं : (१) यह अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की वृद्धि करेगी ; (२) यह लोगों की प्रगति को और प्रत्येक देश की परिस्थितियों पर निर्भर रहते हुए स्व-शासन या स्वतन्त्रता की दिशा में उनकी प्रगति को, लोगों की स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्त इच्छाओं तथा प्रत्येक प्रन्यास समझौते की शर्तों को उन्नत करेगी; (३) यह आधारमूलक मानवी अधिकारों के लिए सम्मान को प्रोत्साहन प्रदान करेगी और विश्व के लोगों की अन्तर्निर्भरता को मान्यता प्रदान करेगी ; और (४) यह उस काल तक संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों को समान व्यवहार और उनके नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और व्यापारिक मामलों में न्याय और समान व्यवहार का भरोसा प्रदान करेगी, जब तक कि अधिवासियों के कल्याण के साथ उसका संघर्ष नहीं होता । जो भी हो, प्रन्यास परिषद् जनरल असेंबली के अधिकार के अधीन कार्य करती है ।

इस परिषद में सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों—चीन, फ्रांस, रूस, इंग्लैंड अमरीका — के अतिरिक्त प्रन्यास क्षेत्रों का शासन करने वाले तथा इन क्षेत्रों का प्रबंध करने वाले सदस्य-राज्य और जनरल असेंबली द्वारा प्रन्यास क्षेत्रों का प्रबंध करने वाले तथा इसके प्रबंध में भाग न लेने वाले राज्यों की समानता कायम रखने के लिए चुने गए राज्य भी शामिल हैं। प्रन्यास परिषद् की वर्ष में कम-से-कम दो बैठकें होनी ही चाहिएं। प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक मत है, और सब निर्णय उपस्थित सदस्यों और मतदान के बहुमत द्वारा किये जाते हैं ।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The International Court of Justice)—संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों में एक उद्देश्य न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का फैसला करना है। तदनुसार, संयुक्त राष्ट्र संघ के न्याय-विभागीय अंग की स्थापना करना आवश्यक समझा गया और यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के नाम से ख्यात है। यद्यपि घोषणा-पत्र अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को "संयुक्त राष्ट्रों का मुख्य न्याय-विभागीय अंग बतलाता है, किन्तु यह सदस्य-राज्यों को अपने झगड़ों को शांतिपूर्ण निर्णयों के लिए अन्य अदालतों में भेजने की रोक नहीं लगाता।" चूंकि सभी सदस्य

प्रभु-शक्ति राज्य है, इसलिए, किसी भी राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध न्यायालय के अधिकार के आगे झुकने को लाचार करना संभव नहीं। न्यायालय केवल इस कारण कानूनी कार्यवाही नहीं करना शुरू कर देगा कि एक राज्य एक दूसरे के विरुद्ध मामला दायर कर देता है। दूसरे दल को भी, न्यायालय के अधिकार से सहमत होना होगा ।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र उन विषयों तक विस्तृत है, जिनमें संधि, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न, ऐसे किसी तथ्य की विद्यमानता कि जो यदि स्थिर हो गया, तो उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व की क्षति और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व की क्षति के लिए किये गए प्रतिकार का स्वरूप और सीमा की व्याख्या निहित होगी। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रत्येक सदस्य को किसी भी दशा में अदालत के उस निर्णय को मानना होगा जिसका वह एक पक्ष होगा। यदि न्यायालय में समुपस्थित किसी मामले में एक दल न्यायालय के फैसले के अधीन अपने दायित्वों को पूर्ण करने में असफल रहता है, तो दूसरा दल सुरक्षा परिषद् के सामने उस मामले को ला सकता है। घोषणा-पत्र द्वारा सुरक्षा परिषद् को सिफारिशें करने या निर्णय को सक्रिय रूप देने के लिए उपायों का फैसला करने का अधिकार दिया गया है।

इस न्यायालय में जनरल असेंबली और सुरक्षा परिषद् द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित १५ सदस्य होते हैं । संविधि (Statute) में कहा गया है कि जज ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिनका नैतिक चरित्र ऊंचे स्तर का हो और अपने देश में वह सर्वोच्च न्यायविभागीय पद की योग्यता रखते हों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून में वह न्याय-विशेषज्ञ की योग्यता वाले व्यक्ति माने जाते हों । कोई भी दो जज एक ही राज्य के नागरिक नहीं हो सकते। जजों का सामान्य अवधि-काल नौ वर्ष रखा गया है, किन्तु प्रथम चुनाव के समय, पांच जजों को तीन वर्ष के लिए चुना गया था, पांच को ६ वर्ष के लिए, और अन्य पांच को पूरे ९ वर्ष के लिए। न्यायालय के प्रेसिडेंट को तीन वर्ष के लिए जज स्वयं चुनते हैं। न्याय-विभाग के अवकाश काल के सिवा न्यायालय का स्थायी रूप में अधिवेशन होता रहता है। किसी मामले की सुनाई के लिए ९ जजों का कोरम होना आवश्यक है और सभी निर्णय उपस्थित जजों के बहुमत से होते हैं। यदि किसी प्रश्न पर समान मत-दान होता है तो प्रेसिडेंट निर्णायक मत (Casting Vote) देता है। जिस किसी झगड़े की सुनाई में संबंधित राष्ट्र के पक्ष का एक जज होता है और दूसरे का नहीं, तो दूसरे पक्ष को उस झगड़े की सुनाई के लिए एक जज चुनने की स्वीकृति दी गई है।

अभियोगों (cases) के निर्णय करने के अतिरिक्त, न्यायालय को जनरल असेंबली और सुरक्षा परिषद् किसी वैध प्रश्न पर परामर्श देने के लिए कह सकती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंग तथा विशिष्ट संस्थाएं, जनरल असेंबली की अनुमति प्राप्त करने के बाद, अपनी योग्यता के अन्तर्गत मामलों के विषय में न्यायालय को परामर्श के लिए कह सकती हैं।

न्यायालय का स्थायी स्थान नीदरलैंड में हेग में है, किन्तु अन्यत्र भी इच्छानुसार इसका अधिवेशन हो सकता है।

सचिवालय (The Secretariat)— संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रशासन

संबंधी उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने तथा उसके अंगों की ठीक-ठीक कार्यपद्धति में सहायता देने के लिए घोषणा-पत्र एक सचिवालय स्थापित करता है, जिसमें एक मुख्य सचिव और संगठन के लिए आवश्यक कार्यकर्ता रखे जाते हैं। मुख्य सचिव को, जो संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य प्रशासन अधिकारी होता है, सुरक्षा परिषद् की सिफारिश के साथ जनरल असेंबली नियत करती है।

सचिवालय के कार्यकर्ताओं को मुख्य सचिव जनरल असेंबली के नियमों के अधीन नियत करता है। सचिवालय के कार्यकर्ताओं के चुनाव में मुख्य विचार और पद की शर्तें यह हैं कि योग्यता, क्षमता और संगठन का उच्चतम स्तर दृष्टि में रखा जाता है। किंतु घोषणा-पत्र में इस बात की भी गुंजायश की गई है कि कार्यकर्ताओं को भरती करते हुए यथासंभव भौगोलिक आधार के विस्तार को उचित स्थान दिया जाना चाहिए। सचिवालय के आठ विभाग हैं, प्रत्येक सहायक मुख्य सचिव के अधीन है। वे ये हैं: सुरक्षा परिषद् सम्मेलन, आर्थिक सम्मेलन, सामाजिक सम्मेलन, प्रन्यास और स्व-शासन रहित क्षेत्रों से सूचना, सार्वजनिक सूचना, कानूनी, कान्फ्रेंस और सामान्य सेवाएं, और प्रशासन तथा आर्थिक सेवाएं।

मुख्य सचिव को सचिवालय के नियंत्रण और निर्देशन के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण कृत्यों को पूर्ण करना होता है। घोषणा-पत्र में आदेश किया गया है कि वह जनरल असेंबली, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद् और प्रन्यास परिषद् की सब बैठकों में अपने पद की योग्यता से शामिल होगा और अन्य ऐसे कृत्यों को पूर्ण करेगा, जो इन अंगों द्वारा उसे सौंपे जायेंगे। उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य का वार्षिक विवरण जनरल असेंबली के समक्ष उपस्थित करना होगा। उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह सुरक्षा परिषद् के सामने ऐसे किसी मामले को पेश कर सके जो उसकी राय में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थिरता के लिए खतरा हो सकता है, सदस्य-राज्यों की बहुसंख्या या सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर मुख्य सचिव जनरल असेंबली का विशेष अधिवेशन बुलायगा। सदस्य-राज्य जिस किसी संधि और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते को करेंगे, उसे सचिवालय दर्ज करेगा और सचिवालय को उसे प्रकाशित करना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि (Statute) के दोनों पक्षों—राज्यों की घोषणाएं, जिनमें न्यायालय के अनिवार्य अधिकार की स्वीकृति की गई हो, मुख्य सचिव के अधिकार में होनी चाहिएं। वस्तुतः मुख्य सचिव और उसके सचिवालय के कर्त्तव्य अनेक और कष्ट-कर हैं। प्रतिनिधियों की सुविधा के लिए किसी समस्या की छानबीन करके दस्तावेजों के मसौदे बनाने और सब प्रबंधों से लेकर काम की सारी तैयारी की बड़ी भारी मात्रा तक सचिवालय को करना होता है और जब निर्णय हो जाते हैं, तो मुख्य सचिव और उसके स्टाफ का कर्त्तव्य है कि वह अपने निरन्तर प्रशासन कार्य द्वारा उन निर्णयों को लागू करने में सहायक हो। सार यह कि सचिवालय ही संयुक्त राष्ट्र संघ के यंत्र को चालू करता है और संगठन का अधिकांश प्रभाव उसकी कार्य-क्षमता पर निर्भर करता है।

विशिष्ट प्रतिनिधि संस्थाएं (Specialized Agencies)—उपरिलिखित [illegible]ंगों के अलावा, [illegible] और भी प्रतिनिधि संस्थाएं हैं, जो विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] के विषय [illegible] करती हैं। कुछ महत्वपूर्ण विशिष्ट संस्थाएं ये हैं: संयुक्त

राष्ट्रों की खाद्य और कृषि का संगठन (The Food & Agricultural Organisation of the United Nations—F.A.O.), संयुक्त राष्ट्रीय, शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति संगठन (United Nations Educational, Scientific, and Cultural Organisation— U. N. E. S. C. O.); पुनर्वास और विकासकारी अन्तर्राष्ट्रीय बंक (International Bank for Reconstruction and Development—I.B.R.) और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund—I. M. F.) और विश्व आरोग्य संस्था (W. H. O.)

१९१९ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की स्थापना हुई थी और राष्ट्र संघ का यह उत्तरदान (Legacy) है। इसका उद्देश्य मजदूरों के वेतनों, काम के घंटों, और कार्य की अवस्थाओं के विषय में उन्नति करना है। यह त्रिमुखी संगठन है और इसमें सरकारों, नियोजकों, और नियोजितों के प्रतिनिधि शामिल हैं। खाद्य और कृषि संगठन अक्तूबर १९४५ में स्थापित हुआ था और इसका उद्देश्य पोषक-तत्व, खाद्य, और कृषि के विषय में सूचना संग्रह करने, विश्लेषण करने, छानबीन और खोज करने का था। यूनेस्को (UNESCO) लीग आफ नेशन्स की अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग संस्था (International Intellectual Co-operation Organisation) से बनी और इसका उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को उन्नत करना है जिससे न्याय, वैध शासन, मानव अधिकारों और सब लोगों के लिए आधारमूलक स्वतन्त्रताओं के प्रति विश्वव्यापी सम्मान में वृद्धि हो। मुद्रा-कोष (Monetary Fund) का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा चलन की प्रणाली को दृढ़ मुद्राचलनों के साथ पुनः स्थापित करना है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सामंजस्य और सहयोग के लिए ऐसा यंत्र प्रदान करना है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उच्च स्तर प्राप्त हो सके और स्थिर रह सके और फलस्वरूप उत्पादन और रोजगार में वृद्धि हो। पुनर्वास और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बंक मुद्रा कोष का एक अत्यावश्यक भाग है। जैसा कि इसके नाम संज्ञा से प्रकट है, बंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य-देशों के पुनर्वास और विकास में सहायक होना है और इस उद्देश्य को उत्पादनशील उद्देश्यों के लिए पूंजी लगाने की सुविधाओं द्वारा प्राप्त करना है।

विश्व आरोग्य संस्था (W. H. O.) का जन्म ७ अप्रैल १९४९ ई. को हुआ और ६७ देश इसके सदस्य हैं। इसके कार्य ये हैं—अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संबंधी कार्यों का एकीकरण, महामारियों का निवारण, भोजन का सुधार, आवास-व्यवस्था, स्वच्छता, आमोद-प्रमोद, आर्थिक, श्रम संबंधी एवं आरोग्य संबंधी स्थितियां तथा भोजन, प्राणि-विज्ञान, औषधि-निर्माण विद्या संबंधी और इसी प्रकार के अन्य उत्पादन संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को बढ़ाना तथा स्थापित करना।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यकारिता
(U.N.O. at Work)

हमने आज तक के सर्वाधिक विस्तृत रूप में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आकार

वर्णन किया है। संयुक्त राष्ट्रीय संगठन कुछ बातों में निश्चय ही पुरान (League of Nations) की अपेक्षा उच्चता का दावा कर सकता है, से ही अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास को अधिक प्रोत्साहन दिया है, क्योंकि यह अधिक तों का प्रतिनिधित्व करता है। सानफ्रांसिस्को में छोटी और बड़ी शक्तियों का त्व करते हुए अथक विचार-विमर्श से उत्पन्न हुआ संयुक्त राष्ट्रों का घोषणा-प्रतिनिधियों के यत्नों, उनकी शांति और सुरक्षा के लिए इच्छा, और "अपेक्षाकृत वतंत्रता में बेहतर जीवन-मान" की अभिव्यक्ति है। यह ऐसे साधनों का प्रबन्ध है, जिनसे प्रभु-शक्ति-संपन्न राज्यों के प्रतिनिधि एक-दूसरे को कह सकते हैं और दूसरे की सुन सकते हैं, और परस्पर स्वतन्त्र विवाद और धैर्यपूर्ण विचार-विनिमय के विश्व के हितों में अपने दृष्टिकोणों का समन्वय कर सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका और रूस के सम्मिलन से संयुक्त राष्ट्र संघ को अधिक दृढ़ आधार प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त जैसाकि एक लेखक का कहना है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र उस सीमा तक अधिक वास्तविक है जहां तक उसका सम्बन्ध सुरक्षा की उस जिम्मेदारी से है, जहां वस्तुतः शक्ति निहित है। सुरक्षा परिषद् को विश्व की शांति और सुरक्षा बनाए रखने की मुख्य जिम्मेदारी सौंपी गई है। घोषणा-पत्र में स्पष्टतया व्यक्त किया गया है कि कैसे इन अधिकारों का प्रयोग किया जायगा और संयुक्त राष्ट्रों का प्रत्येक सदस्य इस बात के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है कि वह सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार करेगा और उनका पालन करेगा। सुरक्षा परिषद् के निर्णय इसलिए नहीं किये जाते कि वे केवल धमकी बन कर रह जायं। यह सदस्य-राज्यों को कह सकती है कि वह अपराधी राज्य (Offending State) के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर दें अथवा अवरोध की घोषणा कर सकती है या उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगा सकती है। यदि सुरक्षा परिषद् यह समझे कि ये उपाय पर्याप्त नहीं हैं, तो वह स्थिति के अनुसार सब प्रकार की सैनिक कार्य-वाही का पग उठा सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य धारा ४३ के अधीन परिषद् को सशस्त्र सेना, सहायता और मार्ग प्रदान करने के अधिकार सहित आवश्यक सुविधाएं देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है।

इसके बाद, सुरक्षा परिषद् की बैठकें निरंतर होती हैं और प्रत्येक सदस्य-राज मुख्य कार्यालयों में स्थायी रूप से प्रतिनिधित्व करता है। निःसंदेह निरंतर अपने अधिक के प्रति जागरूक रहना शक्ति का मूल्य है। निरंतर जागरूक रहने और तुरन्त कार्य का अर्थ सुरक्षा और विनाश के बीच अन्तर को माना जा सकता है। विधि के अ नियमों के अनुसार, सुरक्षा परिषद् आवश्यकतानुसार जितनी बार चाहे अधिवेशन है, और कम-से-कम दो सप्ताहों में तो एक बार अवश्य अधिवेशन होता है। घो परिषद् को इस बात की स्वीकृति देता है कि वह मुख्य कार्यालयों को छोड़ कर अधिवेशन कर सकती है बशर्तेकि उससे परिषद् के कार्य को सुविधा होती हो। इस बात का भी अधिकार है कि वह ऐसी किसी स्थिति की स्वतः ही जांच क जो उसकी राय में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष या कलह का कारण हो सकती है।

जो भी हो, संयुक्त राष्ट्र संगठन की योजना में कतिपय गंभीर त्रुटिय जित शक्तियों के प्रति विजेता शक्तियों का दृष्टिकोण पूर्णतया वही है,

युद्ध के वाद था। अपेक्षाकृत छोटे राज्य और यहां तक कि बड़े राज्य भी, जो सैनिक और आर्थिक दृष्टि से कम उन्नत हैं, संयुक्त राष्ट्र सघ के विषय में संदेह करते हैं कि यह महान् शक्तियों के हाथो में केवल कठपुतली मात्र है। संयुक्त राष्ट्र संघ की विगत पाच वर्ष की कार्यकारिता के लेखे ने इस सदेह की सत्यता को पूर्णतया प्रदर्शित कर दिया है। सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य अव निश्चित रूप से दो दलों में विभाजित है, और उनमें से प्रत्येक राजनीतिक प्रभुत्व की प्राप्ति के लिए हाथ पांव पटक रहा है। वस्तुतः, विश्व-शांति और सुरक्षा के लक्ष्य की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की बजाय यह राजनीति-विषयक शक्ति का अखाड़ा बन गया है।

सुरक्षा परिषद् मे मत-दान की विधि, शायद इसलिए ऐसी बनाई गई है कि "बड़े पाचों" के दोषों का पर्दा-फाश न हो सके। सव पूर्ण मामलो पर सातों सदस्यों के स्वीकारात्मक बहुमत की आवश्यकता रखी गई है। किंतु इन सातों में सब स्थायी सदस्यों की समकालिक वोट (concurring vote) अवश्य शामिल होनी चाहिये। इसका अर्थ यह है कि "बड़े पाचों" में से एक सुरक्षा परिषद् के निर्णयो को किसी भी स्तर पर रद्द कर सकता है। इसका यह भी अर्थ है कि इन पाच शक्तियों में से किसी एक के साथ मित्र-भाव वाला राज्य सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को वेकार कर सकता है। इस अप्रत्यक्ष निषेधाधिकार (Veto) को न्याय की अपेक्षा कार्य-साधकता (expediency) के उपयोग में लाया जा सकता है।

आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध प्रतिरोधी कार्यवाही की धारा वस्तुतः लघुतर राज्यों के दमन के लिए रखी गई है। महान् शक्तिया स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भग कर सकती हैं और फलस्वरूप, उन सिद्धान्तों की निंदा करेंगी, जिन्हे उन्होने लघुतर राज्यों पर थोपा है। ११ अक्तूबर, १९४५ को हाउस आफ लार्ड्स में बहस के समय लार्ड विंस्टर ने कहा था, "यह एक ऐसा संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ) होगा, जो उन बडों द्वारा छोटे बच्चों को नियमित रखने के समान होगा, जो अपने को तो उन नियमो से जुदा रखते हैं कि जिन्हें वे स्वयं लागू करते हैं।"

अन्ततः, सयुक्त राष्ट्र सगठन एक विलक्षण गठजोड़ है। "बड़े पाचों" में पुरानी ईर्ष्या और आदर्शों के अन्तर हैं और इन्हें हम जनरल असेंबली तथा सुरक्षा परिषद् की नित्य की कार्यवाहियो में देखते हैं। अतीत के अन्तर, जिन्हें भूला नही गया, अव भी रूस और इंग्लैंड के बीच विद्यमान हैं। अमरीका और इंग्लैंड के बीच छिपी-लुकी आर्थिक प्रतिद्वंद्विताए अव भी मौजूद हैं। रूस और अमरीका के बीच की खाई अब और चौड़ी हो गई है। कोरिया युद्ध और संयुक्त राष्ट्रो में चीन के प्रतिनिधित्व को स्वीकृति देने के प्रश्न इन दोनों देशों के बीच बड़ी भारी पहेली बन गए हैं। जापान की शांति-संधि के विषय में किसी प्रकार का एक-मत नही हो सका, और शांति-संधि स्वतः राजनीतिक-शक्ति का केवल प्रदर्शन मात्र था। इस संपूर्ण कहानी का सर्वाधिक दुःखद भाग यह है कि जर्मनी के साथ सधि की शर्तें अभी तक अधर में लटक रही हैं। एक-दूसरे पर अभियोग और प्रत्याभियोग लगाए जाते हैं और १३ जनवरी १९५२ को चर्चिल-ट्रूमन-वार्तालाप में ससार को घोषणा की गई थी कि युद्ध अनिवार्य है। उपरिवर्णित सचाइयों में विश्व के कल्याण का सकेत नही मिलता। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता पारस्परिक विश्वास

और भरोसे पर निर्भर करती ह । मुख्य-सचिव मि० ट्रिग्वे ली (Trygve Lie) ने जनरल असेंवली को अपनी पहली रिपोर्ट पेश करते हुए कहा था, "संयुक्त राष्ट्र संघ उन राष्ट्रों की सामूहिक इच्छा से वलवान नहीं जो इसका समर्थन करते हैं। स्वतः यह कुछ भी नहीं कर सकता। यह एक यंत्र है, जिसके द्वारा राष्ट्र सहयोग कर सकते हैं । इसे इसके कार्यकलापों तथा अनुभवों की दृष्टि से मानवता के महान् हितों के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है और उन्नत किया जा सकता है, अथवा इसे रद्द किया जा सकता है और भंग किया जा सकता है। जिस तरह अणु-शक्ति के नियंत्रण में, जीवन और मृत्यु के बीच वरण है, इसी भांति संयुक्त राष्ट्रों की असफलता का अर्थ शांति की असफलता और विनाश की विजय होगा।" निःसंदेह, संयुक्त राष्ट्रों का यंत्र कार्य कर रहा है, किन्तु यह अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर रहा। "वड़े पांचों" में परस्पर अविश्वास और शंका की दशा में यह कर भी कैसे सकता है ? किये जाने वाले निर्णयों की सत्यता आपत्तिजनक है। सदस्य-राज्यों की पारस्परिक सद्भावना और सहवार्ता का नितान्त अभाव है। और तव, घोपणा-पत्र के उद्देश्यों का क्या होगा ? पूर्वपीठिका संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के विश्वास और निश्चय पर पुनः वल देती हुई कहती है "आगे आने वाली पीढ़ियों की युद्ध के दानव से रक्षा करना, जिसने हमारे जीवन-काल में दो वार मानव-समाज को अभूतपूर्व कष्टों में डाला है संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य है" जव चर्चिल और ट्रुमन ने संसार में घोपणा की थी कि यद्ध अनिवार्य है, तो यह संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य को झुठला देता है। युद्ध का दानव अव भी मौजूद है और जो लोग आगे आने वाली पीढ़ियों को उससे वचाने के लिए दृढ़ निश्चयी थे अव वह खुद ही घोपणा करते हैं कि युद्ध अनिवार्य है, और इस तरह वे विश्व को विनाश की ओर धकेल रहे हैं।

तीन वर्ष पुराना कोरियाई युद्ध २७ जुलाई १९५३ ई० को पान-मन-जोन नगर राम-संधि पर हस्ताक्षर होने के अनन्तर समाप्त हुआ। विराम-संधि पर हस्ताक्षर करने । कार्य रक्त-पात और संघर्ष के एक अध्याय का अन्त है। यह आशा की जाती है कि युद्ध । रोकना सुदूरपूर्व में ही नहीं वरन् समस्त संसार में शांति की पुनः संस्थापना का समा-म्भ होगा। एक वार पुनः संसार युद्ध की विपत्ति से रक्षित हो गया है। विश्व के समस्त राष्ट्र एक वार फिर मैत्री एवं सहयोग के मार्ग पर लाये गए हैं। क्या यह संधि स्थायी होगी ? ऐसा हो सकता है, यदि समस्त राष्ट्र स्वतन्त्र लोगों को शांति के लक्ष्य के समीप लाने का मन से प्रयत्न करें और अब्राहम लिंकन के कांग्रेस-अधिवेशन में द्वितीय प्रारम्भिक अभिभापण में कही गई वातों पर आचरण करें। "किसी के प्रति द्वेप न रखते हुए, सच्ची वात पर दृढ़ आस्था एवं तदर्थहार्दिक उदारता जैसा कि ईश्वर हमें सच्ची वात को दिखाता है" अव तक लड़ने वाले राष्ट्रों का यही दृढ़ निश्चय एवं समर्पण होना चाहिए।

Suggested Readings

Burns, C. D.—Political Ideals. (1929).
Chase, E. P.—The United Nations in Action.
Curtis, L.—The Way to Peace, (1945).

Dickinson, E. D.—The Equality of State in International Law.
Evatt, H. V.—The Task of Nations.
Evatt, H. V.—The United Nations.
Fenwick, C. G.—International Law, Chapter II, V.
Good Rich, L., and Hambro, E.—The· Charter of the United Nations.
Oppenheim, L.—International Law, Vol. I, Sects. 1-10.
Morrison, H. S., and Others—The League and the Future of the Collective System.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chapts. XV-XVIII.
United Nations—Handbook of the United Nations and the Specialised Agencies.
United Nations—Year-book of the United Nations.
United Nations—These Rights and Freedoms

और भरोसे पर निर्भर करती ह । मुख्य-सचिव मि० ट्रिग्वे ली (Trygve Lie) ने जनरल असेंवली को अपनी पहली रिपोर्ट पेश करते हुए कहा था, "संयुक्त राष्ट्र संघ उन राष्ट्रों की सामूहिक इच्छा से वलवान नहीं जो इसका समर्थन करते हैं। स्वतः यह कुछ भी नहीं कर सकता। यह एक यंत्र है, जिसके द्वारा राष्ट्र सहयोग कर सकते हैं । इसे इसके कार्यकलापों तथा अनुभवों की दृष्टि से मानवता के महान् हितों के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है और उन्नत किया जा सकता है, अथवा इसे रद्द किया जा सकता है और भंग किया जा सकता है। जिस तरह अणु-शक्ति के नियंत्रण में, जीवन और मृत्यु के वीच वरण है, इसी भांति संयुक्त राष्ट्रों की असफलता का अर्थ शांति की असफलता और विनाश की विजय होगा।" निःसंदेह, संयुक्त राष्ट्रों का यंत्र कार्य कर रहा है, किन्तु यह अपना कर्तव्य पालन नहीं कर रहा। "वड़े पांचों" में परस्पर अविश्वास और शंका की दशा में यह कर भी कैसे सकता है ? किये जाने वाले निर्णयों की सत्यता आपत्तिजनक है। सदस्य-राज्यों की पारस्परिक सद्भावना और सहवार्ता का नितान्त अभाव है। और तव, घोपणा-पत्र के उद्देश्यों का क्या होगा ? पूर्वपीठिका संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के विश्वास और निश्चय पर पुनः वल देती हुई कहती है "आगे आने वाली पीढ़ियों की युद्ध के दानव से रक्षा करना, जिसने हमारे जीवन-काल में दो वार मानव-समाज को अभूतपूर्व कष्टों में डाला है संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य है" जव चर्चिल और ट्रुमन ने संसार में घोपणा की थी कि यद्ध अनिवार्य है, तो यह संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य को झुठला देता है। युद्ध का दानव अव भी मौजूद है और जो लोग आगे आने वाली पीढ़ियों को उससे वचाने के लिए दृढ़ निश्चयी थे अव वह खुद ही घोपणा करते हैं कि युद्ध अनिवार्य है, और इस तरह वे विश्व को विनाश की ओर धकेल रहे हैं।

तीन वर्ष पुराना कोरियाई युद्ध २७ जुलाई १९५३ ई० को पान-मन-जोन नगर विराम-संधि पर हस्ताक्षर होने के अनन्तर समाप्त हुआ। विराम-संधि पर हस्ताक्षर करने का कार्य रक्त-पात और संघर्प के एक अध्याय का अन्त है। यह आशा की जाती है कि युद्ध का रोकना सुदूरपूर्व में ही नहीं वरन् समस्त संसार में शांति की पुनः संस्थापना का समारम्भ होगा। एक वार पुनः संसार युद्ध की विपत्ति से रक्षित हो गया है। विश्व के समस्त राष्ट्र एक वार फिर मैत्री एवं सहयोग के मार्ग पर लाये गए हैं। क्या यह संधि स्थायी होगी ? ऐसा हो सकता है, यदि समस्त राष्ट्र स्वतन्त्र लोगों को शांति के लक्ष्य के समीप लाने का मन से प्रयत्न करें और अव्राहम लिंकन के कांग्रेस-अधिवेशन में द्वितीय प्रारम्भिक अभिभापण में कही गई वातों पर आचरण करें। "किसी के प्रति द्वेप न रखते हुए, सच्ची वात पर दृढ़ आस्था एवं तदर्थहार्दिक उदारता जैसा कि ईश्वर हमें सच्ची वात को दिखाता है" अव तक लड़ने वाले राष्ट्रों का यही दृढ़ निश्चय एवं समर्पण होना चाहिए।

Suggested Readings

Burns, C. D.—Political Ideals. (1929).
Chase, E. P.—The United Nations in Action.
Curtis, L.—The Way to Peace, (1945).

Dickinson, E. D.—The Equality of State in International Law.
Evatt, H. V.—The Task of Nations.
Evatt, H. V.—The United Nations.
Fenwick, C. G.—International Law, Chapter II, V.
Good Rich, L., and Hambro, E.—The Charter of the United Nations.
Oppenheim, L.—International Law, Vol. I, Sects. 1-10.
Morrison, H. S., and Others—The League and the Future of the Collective System.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chapts. XV-XVIII.
United Nations—Handbook of the United Nations and the Specialised Agencies.
United Nations—Year-book of the United Nations.
United Nations—These Rights and Freedoms

द्वितीय भाग

राज्य का गठन

अध्याय : : ११

सरकार के रूप

(Forms of Government)

राज्य और सरकार के रूपों में अंतर (Distinction between forms of Govt. and Forms of State)—राजनीतिक विज्ञान के कुछ लेखकों ने राज्य के रूपों की तरह ही सरकार के रूपों का वर्गीकरण किया है। किन्तु यह ठीक नहीं। राज्य के रूप नहीं हो सकते। सभी राज्य अपने स्वरूप में समान होते हैं और उनमें जनसख्या, प्रदेश, ऐक्य, और सगठन के समान अनिवार्य तत्व निहित होते हैं। प्रदेश और जनसख्या का अतर उनके राज्यत्व (Statehood) के दर्जे में कोई अतर नही पैदा करता। निःसदेह, एक नगर राज्य, एक राष्ट्रीय राज्य और एक विश्व साम्राज्य मे कभी-कभी अतर कर दिया जाता है। किंतु राजनीतिक विज्ञान में इसका कोई भी प्रयोगात्मक मूल्य नही, क्योंकि प्रदेश और जनसख्या के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण केवल ऐतिहासिक विवरण है। ऐक्य के आधार पर भी राज्यों का वर्गीकरण करना असभव है। सभी राज्य प्रभु-शक्ति-संपन्न हैं अर्थात्, सभी राज्य एक-दूसरे से समान रूप मे स्वतन्त्र हैं और सभी अपने नागरिको और सस्थाओं पर समान रूप से सर्वोच्च शक्ति रखते हैं। प्रभु-शक्ति के दृष्टिकोण से, सभी राज्य, अनिवार्यत. समान हैं और समानों का वर्गीकरण करना तर्कसगत नही है।

जो भी हो, राज्य अपने संगठन में भिन्न होते हैं। सरकार राज्य का संगठन है और यही वह सस्था है, जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा को प्रकट करता है और प्रदर्शित करता है। प्रत्येक राज्य का लक्ष्य भी समान है . मनुष्य का कल्याण। कैसे यह लक्ष्य प्राप्त किया जाता है, यह उसके संगठन पर निर्भर करता है। यह केवल उनके सगठन के रूप से सबधित है, जिसमे राज्यों में अंतर होता है। राज्य से राज्य में ये अतर बहुत विस्तृत होते हैं, अर्थात् जो शासन करने वाले हैं, वे कैसे चुने जाते है, शासकों मे निहित अधिकार का स्वरूप और सीमा, प्रबन्धक, विधान निर्माण और न्याय-विभागो के बीच सबध। फलत, सरकार का रूप ही विभाजन का वास्तविक आधार है। किंतु सरकार के रूपों का वर्गीकरण करने के लिए क्या कसौटी होनी चाहिये, इस विषय मे मतैक्य नही है। तिस पर भी, वर्गीकरण के दो महत्वपूर्ण और सर्वाधिक सर्वमान्य सिद्धान्त निम्न हैं :

१. उन लोगों की संख्या, जिनमें प्रभु-शक्ति निहित है; और

२. राज्य के सगठन के रूप।

आधुनिक सरकारों के वर्गीकरण के लिए सतोषप्रद आधार. की खोज करना अत्यधिक कठिन है। यद्यपि कुछ सरकारों में बहुत-सी बातें साझी होंगी, तथापि उनके बीच स्पष्ट असमानता हो सकती है। उदाहरण के लिए, यूनाइटिड किंगडम और फ्रांस—दोनों में पार्लामेंट्री ढंगो (ससदीय ढंग) की सरकार है। किंतु यूनाइटिड किंगडम की सरकार को सिद्धान्ततः स्वेच्छाचारी राजतंत्र (absolute monarchy),

स्वरूपतः एक सीमित वैधानिक राजतंत्र और क्रियात्मिक रूप में लोकतंत्री गणतंत्र के रूप में चित्रित किया जाता है। दूसरी ओर, फ्रांस एक गणतंत्री रूप का देश है, जिसकी व्यवस्थाएं राजतंत्री हैं और भावना साम्राज्य की है।[1] फिर वहां की सरकार का रूप भी, प्रायः जल्दी-जल्दी बदला करता है। आज जो वर्ग-विभाजन किया जाता है, सम्भव है कि वह अगली पीढ़ी को स्वीकार न हो।

अरिस्टोटल का वर्ग-विभाजन (Aristotle's Classification)—अरिस्टोटल द्वारा रचित पुस्तक पालिटिक्स (Politics) में दिये गये सुप्रसिद्ध विभाजन से इसका आरंभ होता है। किन्तु यह अरिस्टोटल की मौलिकता नहीं थी। उसने प्लेटो (Plato) से और प्लेटो ने, सुकरात (Socrates) से इसे लिया था। यद्यपि प्लेटो ने, अच्छे शासन की परख की कसौटी सुकरात के ज्ञान को माना था, फिर भी इसके द्वारा किया गया वर्ग-विभाजन निर्णायक नहीं समझा जाता।

अरिस्टोटल ने अपना विभाजन दो सिद्धान्तों के अनुसार किया था :

(१) प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग करने वालों की संख्या, और वे

(२) किन लक्ष्यों की सेवा करते हैं।

पहले सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए अरिस्टोटल कहता है "यदि प्रभुता एक ही व्यक्ति में निहित है तो यह राजतंत्र (Monarchy) हुआ। यदि कतिपय लोग शासन करते हैं तो यह कुलीन तंत्र (Aristocracy) हुआ और यदि प्रभुत्व शक्ति बहुतों के हाथों में है, तो वह संगठित राज्य (polity) कहलाना चाहिये।"

तत्पश्चात् अरिस्टोटल ने स्वाभाविक (Normal) और विकृत शासन व्यवस्था (perverted) का भेद अपने निष्कर्षों को आधारित करते हुए दर्शाया है। एक स्वाभाविक राज्य वह है जिसका लक्ष्य सदैव कुल सम्प्रदाय का कल्याण हो। वही विकृत रूप (perverted) धारण कर लेता है; जबकि शासक एक या अनेक स्वार्थी बन जाते हैं और वह या वे उनको प्रदत्त की गई सत्ता का प्रयोग सारे समुदाय की अपेक्षा अपने ही लाभार्थ करने लगते हैं। राजतंत्र (Monarchy) कुलीन तंत्र और संगठित राज्य (Polity) अरिस्टोटल के मत से स्वाभाविक शासन के रूप हैं। उसने कहा था कि अत्याचार (Tyrrany) राजतंत्र का विकृत रूप है। अल्प-जनतंत्र (oligarchy) कुलीन तंत्र राज्य का विकृत रूप और प्रजातंत्र (Democracy) संगठित राज्य का विकृत रूप है।

उक्त वर्ग-विभाजन में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—पहली अरिस्टोटल ने अल्प-जनतंत्र (oligarchy) तथा कुलीन तंत्र में स्पष्ट भेद कर दिया है। परन्तु आधुनिक प्रयोग में दोनों के अन्तर को दृष्टि में नहीं रखा जाता, और हम दोनों का प्रयोग प्रायः पर्यायवाची अर्थों में करते हैं। दूसरे अरिस्टोटल ने प्रजातंत्र के वही अर्थ नहीं लगाये, जो आज हम समझते हैं। उसने इसको विकृत शासन का रूप दिया है और हमारे लिये यह सर्वोत्तम रूप है। आज कल के अर्थों में, प्रजातंत्र का विकृत रूप है Mobocracy

१. फ्रांस के संविधान से संबंधित संकेत, विशिष्ट दशा को छोड़ कर, १८७५ के संविधान से संबंधित हैं।

या ochlocracy अर्थात् भीड़ का शासन या झुंड या हुजूम-शासन।

नीचे दी गई तालिका से, अरिस्टोटल द्वारा दिये गये विभिन्न शासन रूपों का भेद स्पष्ट हो जायगा।

पहली परीक्षा	दूसरी परीक्षा	उनके लक्ष्य
संविधान का स्वरूप	स्वाभाविक—जबकि शासन का उद्देश्य सकल समुदाय की सेवा हो।	विकृत—जब शासन में स्वार्थ-परता आ जाय और शासकवर्ग अपने ही लाभार्थ अधिकारों का प्रयोग करें।
एक का शासन	राजतंत्र	अत्याचार
दो का शासन	कुलीनतन्त्र	अल्पतंत्र
बहुतों का शासन	संगठित राज्य	प्रजातन्त्र

अरिस्टोटल के राजनीतिक परिवर्तन का काल-चक्र (Cycle of Aristotle's Political Change)—अपने गुरु प्लेटो की तरह, अरिस्टोटल भी, अपने शासन के स्वरूपों को राजनीतिक परिवर्तन के काल-चक्र के अधीन रखता है। जैसे एक बाईसिकल के पहिये घूमते हैं, उसी प्रकार *अरिस्टोटल के मतानुसार शासन के रूप भी घूमा करते हैं।* वह, राजनीतिक परिवर्तन का चक्र राजतंत्र (Monarchy) से आरंभ करता है। उसका कहना है, कि सब से पहला शासन राजा ने स्थापित किया। राजा के सदाचार के पतन और अपने उद्देश्यों से विमुख हो जाने पर, उसका शासन अत्याचार में बदल गया, क्योंकि, शासन प्रजा की भलाई के लिये नहीं रह सका। परन्तु, अत्याचार का शासन तो चिरकाल तक नहीं चल सकता था। उसका तख्ता उलट दिया गया और उसकी जगह थोड़े से बुद्धिमान व्यक्तियों ने, सार्वजनिक कल्याण के आदर्शों से प्रेरित होकर दूसरा शासन स्थापित किया। समय के साथ-साथ उसका भी पतन हुआ। प्रारम्भ में, प्रजा की सेवा करने वाले उत्साह का भी लोप हो गया। इस प्रकार अमीर-उमरा का शासन स्वल्प जनों के हाथों में पहुंच गया। जनता बहुत दिनों तक ऐसे शासन को सहन नहीं कर सकती थी जिसका उद्देश्य केवल शासकवर्ग का हित ही था। परिणामस्वरूप, नागरिकों ने मिल कर एक कामयाब बगावत करके उक्त शासन की जगह एक संगठित शासन स्थापित कर दिया, जिसमें सर्वोच्च सत्ता जन-साधारण के हाथों में थी, जिसे वे सार्वजनिक हितार्थ प्रयोग में लाते थे। जब ऐसा संगठित शासन (Polity) विकृत हुआ, तो उसकी जगह, प्रजातंत्र राज्य-प्रणाली ने ले ली।

प्रजातन्त्र शासन, अरिस्टोटल की परिभाषाओं के अनुसार, हुजूम-शाही शासन है, यानी, ऐसा हुल्लड़, जिसे कभी भी सहन नहीं किया जा सकता। जब ऐसी अवस्था हो जाती है तो कोई शक्तिशाली योद्धा राजनीतिज्ञ मैदान में कूद कर अपने को राजा घोषित कर देता है और इस प्रकार अरिस्टोटल के राजनीतिक परिवर्तन का चक्र चलता है। अरिस्टोटल लिखता है कि "पहले-पहल, राजतन्त्र शासन स्थापित हुए थे,

राउसो (Rousseau) ने शासन के तीन वर्ग बनाए हैं: राजतन्त्री; अमीर-उमराई और प्रजातन्त्री। और उसने अमीर-उमराई के तीन उपभाग भी किए हैं—स्वाभाविक, निर्वाचनात्मक और पैतृक। राउसो ने निर्वाचन द्वारा नियुक्त कुलीनों के शासन को सर्वोत्तम और पैतृक या परम्परागत को निकृष्टतम बतलाया है। राउसो, सीधे प्रजातन्त्र (direct democracy) का बड़ा भारी पक्षपाती था। उसने मिश्रित शासन के रूप का अस्तित्व भी माना है। ब्लूंशली (Bluntchli) ने अपना ही वर्ग विभाजन किया है। उसने अरिस्टॉटल के वर्गीकरण को मौलिक रूप माना है, पर अपनी ओर से भी एक और शासन का रूप जोड़ा है। उसका विभाजन इस प्रकार है: राजतन्त्र, अमीर-उमराई राज, प्रजातन्त्र और ईश्वरतन्त्र (Theocracy)। ईश्वर-तन्त्री शासन-विधि वह है, जहां, "प्रभुत्व शक्ति का केन्द्र भगवान ही को माना जाय, या फिर किसी आदर्श पुरुष अथवा किसी एक धारणा को।" जो व्यक्ति शासन चलाते हैं उन्हें भगवान या आदर्श-पुरुष के प्रतिनिधि या स्थानापन्न कहा जाता है। ब्लूंशली कहता है कि ईश्वर-तन्त्र एक स्वाभाविक रूप का शासन है, परन्तु विकृत होने पर इसे (idolocracy) प्रतिमा-तन्त्री शासन कहा जाता है। परन्तु ऐसा वर्ग-विभाजन भ्रमजनक प्रतीत होता है। आधुनिक राजनीति-विज्ञान का पंडित, धर्म को राजनीति से पृथक करके, शासन के रूपों का विभाजन करते समय, भगवान को बीच में नहीं लाता। उसका काम है, प्रभु-शक्ति का स्थान निश्चित करना, जो वास्तव में या तो एक व्यक्ति में रहती है, या फिर बहुत से व्यक्तियों में।

कुछ अन्य लेखकों ने राज्यों का वर्गीकरण इतिहास के आधार पर किया है। इस विचारा धारा में प्रमुख, जर्मनी के एक १९ वीं शताब्दी के राजनीतिक लेखक वान माह्ल (Von Mohl) हुए हैं। आपने पतृक तन्त्र (Patriarchal), ईश्वर-तन्त्र (Theocratic), स्वेच्छाचारी (Despotic), प्राचीन (Classic), जागीरदारी (Feudal) और वैधानिक (Constitutional) प्रकार के राज्य माने हैं। आपने शासन प्रणाली के और भी भेद दर्शाये हैं और प्राचीन रूप के राज्यों का उपविभाजन करके राजतन्त्री, अमीर-उमराई और प्रजातन्त्री शासन उपनाम दिए हैं। वान माह्ल के वर्गीकरण को साधारण अवलोकन पर ही अस्वीकार किया जा सकता है। इस विभाजन का आधार कोई एक सिद्धान्त नहीं है, और राज्य व शासन में भी लेखक ने कोई भेद नहीं दर्शाया।

मैरियट का वर्ग-विभाजन (Marriot's Classification)—आधुनिक युग के राजनीति शास्त्री सर जे. ए. आर. मैरियट ने राज्यों का विभाजन तीन आधारों पर किया है। उसने अरिस्टॉटल के वर्गीकरण को मौलिक माना है, परन्तु आजकल के शासनों की दृष्टि से उसे अपर्याप्त कहा है। मैरियट के वर्गीकरण का पहला आधार है शासन के अधिकारों का विभाजन। इसी से, शासनों के ऐकिक और संघीय दो भाग हो जाते हैं। ऐकिक शासन में, अधिकार केन्द्र में रहते हैं और प्रान्तीय शासन, जो केन्द्रीय शासन द्वारा बनाए गए हैं, केवल प्रतिनिधि अवस्था में रहकर अधिकारों का उपभोग करते हैं। शासन के संघीय रूप में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को मौलिक

अधिकार प्राप्त है, जो सविधान ने उन्हें प्रदान किए हैं और प्रत्येक राज्य अपने न्याय व कार्यक्षेत्र में स्वतन्त्र है।

मैरियट का दूसरा आधार है एक कडा और लचकदार (a rigid and a flexible) सविधान। और तीसरा आधार है कार्यपालिका (executive) और विधान-मडल (legislature) का आपसी सबध। जहा कार्यपालिका विधान मडल की अपेक्षा श्रेष्ठतर है वहा के शासन का रूप स्वेच्छाचारी होगा और यदि कार्यपालिका और विधान मडल के अधिकार सम-पदस्थ है तो शासन का स्वरूप अध्यक्षात्मक होगा। यदि कार्यपालिका विधान मंडल के अधीन है, जैसा यूनाईटिड किंगडम में है, तो शासन का स्वरूप पार्लामेंटरी (parliamentary) अर्थात दायित्वपूर्ण होगा।

लीकाक का वर्ग-विभाजन (Leacock's Classification)—डाक्टर स्टीफन लीकाक द्वारा किया गया वर्ग-विभाजन भी लगभग मैरियट जैसा ही है। लीकाक ने अपने वर्गीकरण में वे सभी स्वरूप शामिल नही किए जो राज्य के विकास के मार्ग में आ चुके है। इन्होने केवल वास्तव में जीवित शासनों के रूप ही गिने है। उनके मौलिक विभाजन के आधार स्वेच्छाचारी व प्रजातन्त्री दो ही रूप के शासन हैं। स्वेच्छाचारी शासन में, प्रभु-शक्ति केवल एक व्यक्ति के हाथो मे रहती है, जो अपनी इच्छानुसार राज्य करता है और प्रजातन्त्र राज्य में प्रभुशक्ति, जनता या लोगों में अथवा उनके अधिकांश में स्थित रहती है। प्रजातन्त्री राज्यों के दो प्रकार है, परिमित राजतन्त्र और गणतन्त्र। परिमित राजतन्त्र में शासन का प्रमुख राजा होता है, परन्तु उसके अधिकार सीमित होते है। गणतन्त्र राज्य मे कार्यपालिका का चुनाव जनता एक निश्चित समय के लिए करती है। उक्त दोनों नमूने, ऐकिक या सघीय कोई-सा रूप धारण कर सकते है। ऐकिक या सघीय शासन, पार्लमिंट विहीन या पार्लमिंट्री कोई रूप धारण कर सकता है। पार्लामिंटरी शासन में कार्यपालिका का उत्तरदायित्व विधान-मडल के प्रति होता है, और पार्लामिंट-विहीन अथवा अध्यक्षात्मक शासन मे कार्यपालिका विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी नही होती।

डा. लीकाक के वर्ग-विभाजन को, पृष्ठ २३८ पर दी गई तालिका से, जो हमने उन्ही से ली है, भली भाति स्पष्ट किया जा सकता है[1]।

राजतंत्र (Monarchy)—राजतन्त्र रूप का शासन वह है जहां प्रभुशक्ति केवल एक व्यक्ति में स्थित हो। राजतन्त्र की संस्था इतिहास की देन है और वह राज्य के राजनीतिक विकास का एक भाग बनकर फली-फूली है। राज्य की प्रारम्भिक [illegible] की अवस्थाओं में एकाधिपत्य प्रणाली सब से अधिक हितकारी थी, क्योंकि इसमें उद्देश्य, एकता, बल, और शक्ति सभी एक साथ निहित थे। राजा या सम्राट एक साथ, विधि-निर्माता, न्यायाधीश और कार्यपालिका सभी के कार्य करता था और इस प्रकार वह अपने व्यक्तिगत बल द्वारा समाज को संगठित रखता था, जो राजा की अनुपस्थिति में, अन्यथा खण्ड-खण्ड हो जाता।

1. Op. Cit, p. 117.

सम्मिलित हुआ है, यद्यपि, वहां राजतंत्र का शासन स्थापित नहीं है। आधुनिक मुसलमानी राज्यों में भी वैधानिक व्यवस्थाएं धीरे-धीरे निरंकुश राजतन्त्र का स्थान लेती जा रही हैं।

निरंकुश राजतंत्र के गुण (Merits of Absolute Monarchy)—राज्य के प्रारंभिक विकास के समय, निरंकुश राजतंत्र सर्वोत्तम था। शायद, गंवार, जंगली और असभ्य लोगों को नियंत्रण में रखने के लिए उससे अच्छी कोई दूसरी शासन-व्यवस्था नहीं हो सकती थी। जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने ठीक लिखा है, "स्वेच्छाचारी राज्य, शासन की एक वैध व्यवस्था है, जब कि जंगली-गंवारों को संभालना हो, परन्तु शर्त यह है कि उद्देश्य उनकी उन्नति हो और जो साधन प्रयोग में लाए जाएं वे सब उस उद्देश्यपूर्ति के लिए न्यायसंगत हों।" स्वेच्छाचारी राजतन्त्र में, बल, मानसिक शक्ति, कर्म-शक्ति, तुरंत निर्णय, एक परामर्श, नीति में अविच्छिन्नता तथा स्थिरता के गुण रहते हैं। एक उत्तम तथा समर्थवान शासन के लिए, अविभक्त मंत्रणा, तुरंत निर्णय, और अविच्छिन्न नीति, अनिवार्य बातें हैं, विशेषकर राष्ट्रीय संकट व आपात के अवसरों पर। इसके अलावा, प्रतिभाशाली व्यक्तियों को राज्य की सेवा के लिए चुनने में राजा स्वतंत्र रहता है। ऐसे चुने हुए पदाधिकारी राज्य-व्यवस्था को अपनी भरसक योग्यतानुसार चलाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनका पदारूढ़ रहना राजा की इच्छा पर निर्भर है। ब्राईस (Bryce) ने लिखा है कि सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के स्वेच्छाचारी राजाओं ने "योरोप के देशों में अनेक सुधार किये, जो बलवान राजतंत्र सफलतापूर्वक कर सकता था।"[1]

निरंकुश राजतंत्र के दोष (Defects of Absolute Monarchy)—परन्तु, कोई एक मनुष्य, निरंकुश शक्ति का प्रयोग करने योग्य नहीं हो सकता। एक दुष्ट स्वेच्छाचारी राजा अपनी प्रजा को अत्याचार द्वारा पीस के रख देगा और लोग रंक हो जायंगे। यहां तक कि एक योग्य स्वेच्छाचारी राजा भी अपनी प्रजा को यही सिखलाता है कि वह अपने निजी काम-काज को देखे और शेष सब शासन पर छोड़ दे। निरंकुश राजतंत्र में, शासन चूंकि एक ही व्यक्ति के हाथ में रहता है, जो अपनी प्रजा के लिए भले-बुरे का निर्णय अपनी ही बुद्धि से करता है, इसलिए, इतिहास हमें बतलाता है कि स्वायत्त शासन के संचालक, प्रजा की भलाई की अपेक्षा शासक के निजी लाभ को दृष्टि में सदा अधिक रखते थे। परंपरागत राजतंत्र प्रणाली में योग्य राजा का मिलना संयोग से हो सकता है। इसका जिम्मा कोई नहीं ले सकता कि सदा योग्य, समर्थवान और उदार राजा ही राजसिंहासन पर बैठेगा। इतिहास यही दिखलाता है कि मूर्ख, मूढ़ और निर्बल राजा नियमित रूप से चलते आये हैं और बुद्धिमान, नीतिज्ञ तथा संत राजा अपवाद-मात्र रहे हैं।

यदि यह मान भी लिया जाय कि निरंकुश राजतन्त्र शासन का अच्छा रूप है, तो भी, हम बीसवीं शताब्दी में पलने वाले लोग किसी अच्छे शासन में विश्वास नहीं करते, जब तक वह स्व-शासन न हो। एक अच्छा शासन, स्व-शासन का स्थानापन्न नहीं बन सकता (Good Government is no substitue for Self-Government)।

1. Modern Democracies, Vol. II p. 536.

स्वराज्य तो स्वराज्य ही है। "ऐसा शासन, जो प्रजा के स्नेह पर आधारित नहीं है, जो अपने नागरिकों को सार्वजनिक कामों में भाग लेने के लिए प्रेरित करके, उन्हें बुद्धिमान, दक्ष और चौकस शहरी नहीं बनाता, आदर्श शासन नहीं कहा जा सकता। और वह शासन, जिसमें, प्रजा को किसी-न-किसी रूप में भाग लेने से वंचित रखा जाता हो, निश्चय ही उत्तम नागरिक पैदा नहीं कर सकता।"[1] स्वेच्छाचारी राजा, अपनी प्रजा को अधिकार और स्वाधीनता देने का कभी साहस नहीं करेगा। वह अपनी प्रजा में प्रबल राजनीतिक सजीवता, स्वदेश प्रेम-युक्त राज्य-भक्ति और सामाजिक ऐक्यभाव का संचार नहीं करता। यदि वह करता है, तो वह स्वेच्छाचारी राजा नहीं रहता। शक्ति व अधिकार से सदैव नशा होता है और स्वेच्छाचारी यही चाहेगा कि अधिकार व शक्ति का स्रोत वह स्वयं ही बना रहे।

सीमित राजतंत्र (Limited Monarchy)—सीमित राजतंत्र, शासन का वह रूप है, जिसमें राजा की सत्ता, लिखित संविधान की व्यवस्थाओं या फिर विशेष मौलिक प्रथाओं द्वारा, सीमित कर दी गई हो, जैसा कि यूनाईटिड किंगडम में है। अतः सीमित राजतंत्र शासन का एक संविधान-युक्त रूप है और सिद्धान्तरूपेण, एक गणतंत्री शासन ही है। सीमित राजतंत्र और गणतंत्र राज्य में केवल इतना अन्तर है कि पूर्वोक्त में राज्य की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति वंशागत राजा में स्थित रहती है और उपरोक्त में, प्रेसिडेंट में, जिसको एक निश्चित समय के लिए चुना जाता है, जिसकी समाप्ति पर, यदि वह पुनः निर्वाचित न हो सके, तो साधारण नागरिकों में शामिल हो जाता है। परन्तु सीमित राजा तथा गणतंत्र के प्रेसिडेंट दोनों के अधिकार नाम-मात्र के होते हैं। वास्तविक संचालक मंत्रिगण होते हैं, जो विधान मंडल के सदस्य चुने जाते हैं और बहु-संख्यक पक्ष से सम्बद्ध होते हैं। ये मंत्री, तब तक पदारूढ़ रहते हैं, जब तक उन्हें विधान मंडल का विश्वास प्राप्त रहता है। उन्हें, राजा अपनी इच्छा से पदच्युत नहीं कर सकता, और न ही, अनियत रूप से उन्हें चुन सकता है। इंग्लैंड का राज्य, एक विशिष्ट उदाहरण है संविधान युक्त राजतंत्र का, जिसमें राजा का सर्वाधिपत्य तो है, पर उसका शासन नहीं है।

सीमित राजतंत्र की उपयोगिताएं (Uses of Limited Monarchy)—राजा के अधिकारों का सीमित होना ही सिद्ध करता है कि मूल सत्ता लोकतंत्रात्मक शासन में स्थित है। बेगहाट (Bagehot) का मत है, कि इंग्लैण्ड के राजा का यह अधिकार है कि उससे परामर्श लिया जाय। वह उत्साहवर्धन तथा सतर्क कर देने के अधिकार भी रखता है। परन्तु वह किसी वास्तविक अधिकार को कार्यान्वित नहीं करता। वास्तविक शासन-व्यवस्था मंत्रियों द्वारा की जाती है, जो विधान-मंडल में बहुमत पक्ष के प्रतिनिधि होते हैं। सीमित राजतंत्र जनता को सार्वजनिक कार्यों में भाग लेते हुए अपनी इच्छानुसार देश का शासन चलाने के सच्चे अवसर प्रदान करता है। हर हालत में, जनता ही प्रभु-शक्ति है।

1. Garner. Political Science and Government, p. 373.

किन्तु वंशागत या परम्परागत राजा का होना सीमित राजतंत्र का सब से प्रधान गुण है। निरन्तर दीर्घ काल तक सिंहासन पर रहने से, राजा को शासन-व्यवस्था का पर्याप्त व परिपक्व अनुभव प्राप्त हो जाता है, जिससे वह अपने मंत्रियों का, जो शासन-कला में प्रायः नौसिखिये होते हैं, मार्गदर्शन कर सकता है। इस प्रकार, राजा का प्रभाव एकता, प्रतिष्ठा तथा स्थिरता-वर्धक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त, राजा स्वयं किसी पक्ष से संबंध नहीं रखता, जब कि उसके मंत्रियों का संबंध एक पक्ष से रहता है। अतः राजा की स्थिति एक मध्यस्थ की रहती है, जो सदा यह देखता है कि प्रतियोगी-पक्ष या दल, राजनीति का खेल नियमानुसार खेलते हैं।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

कुलीनतन्त्र के अर्थ (Meaning of Aristocracy)—कुलीनतन्त्र, मौलिक अर्थों में, शासन का वह रूप है जिसका संचालन समुदाय के सर्वोत्तम पुरुष, बड़े ही पवित्र सिद्धान्तों से प्ररित होकर करते हों। शासन का ऐसा रूप हमें अरिस्टोटल से प्राप्त हुआ है। ग्रीक (Greek) भाषा में (*Aristos*) अरिस्टोस का मतलब है श्रेष्ठ और (*Kratos*) क्रेटोस का अर्थ है शक्ति। अतः अरिस्टोक्रेसी ग्रीक दार्शनिकों के अनुसार, शासन का वह रूप था, जिसे विशेषतः उत्कृष्ट सरकार (government *par excellence*) कह सकते हैं। इसका सिद्धान्त या नैतिक सद्गुण: शासक वर्ग की नैतिक व बौद्धिक श्रेष्ठता। अब तो कुलीनतन्त्र को, शासन के उस रूप के अर्थों में लिया जाता है, जिसमें राजनीतिक शक्ति, समुदाय या समाज के एक अल्प भाग के हाथों में रहती है। परन्तु, यह कुलीनतन्त्र की सच्ची कसौटी नहीं है। कुलीनतन्त्र का चरित्र, शासन करने वाले आदमियों के चुनाव की रीति पर निर्भर है, न कि उनकी संख्या की अल्पता पर।

समाज में कुछ प्रमुख विचार फैलते रहे और आज भी वे विचार मौजूद हैं, जिनके अनुसार चुनाव की पद्धतियां निश्चित कर ली गई थीं। सर्वप्रथम, जन्म के महत्त्व की धारणा है। आदिम काल के समाज में एक ही पुरखा से उत्पन्न व्यक्तियों के परिवार मिलकर एक समुदाय बन जाता था, जिसमें दत्तक संतान बना लेने की व्यवस्था को छोड़ कर बाहर वालों के प्रवेश का निषेध था। आधुनिक समाज में हम अपने साझे पुरखा की गणना नहीं करते, फिर भी इस भावना के सामने झुक जाते हैं, कि कुछ परिवार दूसरों से अधिक अच्छे होते हैं। चुनाव की दूसरी पद्धति गुणों के आधार पर भी हो सकती है अर्थात् श्रेष्ठ और उत्तम बुद्धि व योग्यता के व्यक्तियों का दूसरों पर शासन के लिए चुना जाना। पक्षपात से चुन लेने का एक और भी ढंग है। जब एक राजा, अपने सर्वोत्तम सेवकों पर कृपा-दृष्टि करके उन्हें ऊंची पदवियां प्रदान करता है, तब उसे पक्षपात या कृपा के आधार पर किया गया चुनाव कहते हैं। फिर धन-सम्पत्ति वाला कुलीनतन्त्र भी हो सकता है, जिसमें चुनाव का आधार केवल व्यक्ति की धन-राशि को मान लिया जाता है। निर्धन-गरीबों के लिए, वे चाहे कैसे ही बुद्धिमान और गुणवान क्यों न हों, सार्वजनिक पद पाने और सार्वजनिक कार्यों में भाग ले सकने के कोई अवसर नहीं।

प्रोफेसर जैलिनेक (Jellinek) ने कुलीनतन्त्र के सामाजिक पहलू पर अधिक

जोर दिया है। वे कहते हैं कि समाज में सदा ही एक ऐसा वर्ग रहता है जिसे राज-काज में प्रभुत्व शक्ति प्राप्त होती है। यह वर्ग चाहे पादरी-पुरोहितों का हो, चाहे सैनिक समुदाय या भूपति जमीदार का। अस्तु, समुदाय का रूप जो भी हो, शक्ति उसी सामाजिक वर्ग के हाथों में रहेगी, जो कि दूसरों से अधिक बलवान है, और जो कुछ ऐसी विशेष सुविधाओं का उपभोग करता है, जिनसे अन्य वर्ग वंचित हैं। फलतः जैलिनेक ने यह परिणाम निकाला कि कुलीनतन्त्र की परिभाषा करते हुए, उसे केवल अल्प-संख्यक व्यक्तियों का शासन कहना भूल है।

कुलीनतन्त्र के भेद (Kinds of Aristocracy)—अरिस्टोटल ने तो कुलीनतन्त्र के शासन को आदर्श ही माना है। इसका विकृत रूप अल्पतन्त्र (oligarchy) स्वल्पजन-सत्ता था। राउसो (Rousseau) ने कुलीनतन्त्र को स्वाभाविक, निर्वाचनात्मक व वंशागत (natural, elective and hereditary) माना है। वर्ग-विभाजन के सामान्य आधार हैं: धन-सम्पत्ति, जन्म-जात प्रतिभा-बुद्धि और शिक्षा-संस्कृति। धन-सम्पत्ति वाले अमीर-उमरा को प्रायः धनिक-तन्त्र (plutocracy) कहा जाता है। अभी हाल के कुछ लेखकों ने, कुलीनतन्त्र के स्थान पर कुलीन-जनतंत्र (aristo-democracy) शब्द का प्रयोग किया है। अरिस्टो-डैमोक्रेसी का अभिप्राय शासन का वह रूप है, जिसमें श्रेष्ठतम मनुष्य शक्ति का प्रयोग करते हों। वास्तव में, राजनीतिक विचारों का इतिहास तो हमें यही बतलाता है कि राज्य के विकास की प्रत्येक अवस्था में, कुलीनतन्त्री सरकार के रूप को ही आदर्श रूप से सर्वोत्तम समझा जाता रहा है।

कुलीनतन्त्र के गुण (Merits of Aristocracy)—कुलीनतन्त्र के गुणों में से एक तो यह है कि इसमें योग्यता पर जोर दिया जाता है। इसमें यह मान लिया गया है कि कुछ थोड़े, अन्य लोगों की अपेक्षा शासन के लिए अधिक उपयुक्त हैं। वे श्रेष्ठ हैं इसीलिए शासन करते हैं और उनकी श्रेष्ठता की कसौटी है उनकी नैतिक व बौद्धिक उत्कृष्टता जो उनमें दूसरों की अपेक्षा अधिक है। कारलाइल के शब्दों में "मूर्खों का यह चिरस्थायी अधिकार है कि उन पर बुद्धिमान शासन किया करें।" समुदाय या समाज को, अमीर-उमरा में एक ऐसा शासक-वर्ग मिला है, जिस पर सार्वजनिक व्यवस्थाओं को ईमानदारी और प्रतिष्ठापूर्वक चलाने के लिए भरोसा किया जा सकता है, क्योंकि राजनीति से स्वतन्त्र रहकर, उसे खूब ऊंची स्थिति प्राप्त है। स्थायित्व तथा कार्य-कुशलता के नाते भी यह वर्ग, शासन के अन्य रूपों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने का दावा कर सकता है। जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) लिखता है कि "वे शासन, जिन्होंने निरन्तर

भी समर्थन किया गया है, क्योंकि यह ऐसे लोगों का एक वर्ग प्रदान करता है जो परम्परा से सार्वजनिक व्यवस्थाओं से सुपरिचित चला आता है। सो उसमें, जन्म से ही, शासन-व्यवस्था को सभालने की रुचि रहती है। राजनीतिक शिक्षा उनके रक्त में होने से, वे उन सभी गुणों को हृदयंगम कर लेते हैं, जो एक अच्छा शासक बनने के लिए अनिवार्य हैं।

यह दावे से कहा जा सकता है कि कुलीनतन्त्र सबसे अधिक अनुदार (Con-

ative) है। शासन की वागडोर ऐसे प्रतिभाशाली, बुद्धिमान और अनुभवी ों के हाथों में रहने से, जिन्हें सार्वजनिक सेवा की रीतियां या प्रथायें अपने पूर्वजों से हुई हैं, मौलिक और जल्दवाजी-भरे प्रयोगों से दूर ही रहा जाता है। स्थिरता अच्छे न के लक्षणों में सब से अग्रिम है और स्थिरता अनुदार परिवर्तन (Conservative novation) चाहती है । ऐसे प्रचण्ड परिवर्तन, जिनसे प्राचीन सम्मानित था भी कुचल दी जाय, जो जनता के विचारों में हल-चल पैदा कर दे, शासन की स्थिरता लिए निश्चय ही हानिकारक है। "अतः, सामाजिक व राजनीतिक उन्नति के लिए यह व से अधिक महत्वपूर्ण है कि उन्नति या उदारता के सिद्धान्त को, स्थायित्व या अनुदारता ह सिद्धान्त के साथ सदा ही संयुक्त रखा जाय।[1]"

आज की सब से आधुनिक सरकारों ने भी, विधान-मंडल के उच्च सदनों की रचना में कुलीनतन्त्र का अंश सुरक्षित रखा है। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश हाऊस आफ लार्ड्स, वंशागत कुलीनों (peers) से रचित है। ऐसे देशों में, जहां दूसरे सदन भी निर्वाचित रखे गये हैं, चुनाव प्रायः इस ढंग से किये जाते हैं कि दूसरे सदन में राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली प्रतिनिधि जायं। भारत में राज्य-सभा, जो दूसरा सदन है, २५० सदस्यों का है, जिनमें से ५० सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्दिष्ट (nominated) हैं। राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्दिष्ट सदस्यों में वे सदस्य हैं, जिन्हें कोई ज्ञान विशेष या क्रियात्मक अनुभव प्राप्त है, यथा साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा।[2] वास्तव में प्रतिनिधित्व की यह प्रणाली कुलीनतन्त्री ही है।

कुलीनतन्त्र की दुर्बलता (Weakness of Aristocracy)—सभी प्रकार के कुलीनतन्त्र शासनों में यह दोष जन्मसिद्ध है कि वे अपने अलग स्वार्थों के पोषक होते हैं, जिनका संघर्ष समुदाय के हितों से हो जाना लगभग निश्चित है। विशेषाधिकार-प्राप्त व्यक्तियों का अलग वर्ग बन जाता है, जिनके अपने विशेष स्वार्थ रहते हैं। यह वर्ग, अपने विशेषाधिकारों को पैतृक मानता है और उन्हें अपने उत्तराधिकारियों को ज्यों-के-त्यों सौंप देना चाहेगा। श्रेष्ठ पुरुषों का कुलीनतन्त्र, इस प्रकार पतित होकर एक श्रेणी का शासन बन जाता है। अत्यन्त नेकनीयत कुलीन पुरुषों द्वारा भी, उन श्रेणियों के हितों की अवहेलना हो जाना संभव है जिन्हें शासन के भागीदार नहीं बनाया जा सकता। शक्ति और अधिकारों का मद उन्हें घमण्डी और अहंकारी बना देता है। "कुलीन शासकों ने, निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति कठोरता और क्रूरता के व्यवहार का प्रदर्शन प्रायः किया है, जो घृणा-युक्त होने से और भी असहनीय हो गया है।"

पैतृक उत्तराधिकार के शासन से भलाई और बुराई दोनों ही हुई हैं। जहां-जह उक्त शासन चिरकाल तक जमा रहा है, वहां-वहां पैतृक पद, काफी संख्या में ऐसे व्यक्तिय को प्राप्त हुए हैं, जो अपने सामाजिक प्रभाव या अधिकार का प्रयोग करने के लिए सर्व अयोग्य थे। प्रजा का वर्ग-विभाजन, विरोध तथा ईर्ष्या बढ़ाता है। दूसरे, यह धारणा अ विश्वास कि कुछ लोग दूसरों पर शासन करने के लिए पैदा हुए हैं, युक्तिसंगत नहीं है। अ

1. Ibid, p. 231.
२. संविधान अनुच्छेद ८०, खंड (१), (२) और (३)

फिर यह लोकतंत्र शासन का विरोधी भी है, क्योंकि इसके अनुसार जनता अपने शासन में भागीदार नही बन सकती और इस प्रकार, जन-साधारण केवल आज्ञा पालने वाला ही रह जाता है। अतः, कुलीनतन्त्री शासन, प्रजा में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न नही करता या उसे राजनीतिक शिक्षा नही देता। ऐसा शासन, राजनीतिक दृष्टि से सजग तथा तत्पर नागरिकों की अपेक्षा, भेड़-बकरियों की तरह हाके जाने वाले लोगों के लिए होता है। इसी प्रकार जन्म की तरह, सम्पत्ति को भी, एक व्यक्ति के शासन की योग्यता की कसौटी नहीं माना जाना चाहिये। शासन-सत्ता का कतिपय ऐसे व्यक्तियों को प्रदान किया जाना, जो धनवान और कुलीन परिवारों में उत्पन्न हुए हैं, या सौभाग्यवश जिन्हें सम्पत्ति प्राप्त हो गई है, बुद्धिमत्ता नही है।

ब्लूंली (Bluntschli) कहता है कि कुलीनतन्त्री शासन में भारी दोष है इसकी अत्यधिक कठोरता। जो शासन, प्राचीन रीति-रिवाजो की पूजा करता है, उसका दृष्टिकोण गत्यात्मक (dynamic) नही होता। एक अच्छे शासन के लिए समाज की आर्थिक व सामाजिक अवस्थाओं के साथ-साथ कदम बढ़ाना अनिवार्य है। कुलीन और धनवान व्यक्ति अपनी शक्ति को स्थिर रखने के उद्देश्य से, ऐसे सभी परिवर्तनों का विरोध करेंगे।

लोकतन्त्र

लोकतन्त्र शासन के अर्थ (Meaning of Democracy)—डेमोक्रेसी शब्द, demos and kratia (डेमोस और क्रेतिया) अर्थात् लोक और शक्ति, [illegible] मतलब है, वह शासन, [illegible] चाहे प्रत्यक्ष रूप से, चाहे परोक्ष रूप से। लोकतत्र रूप के शासन की भी अनेक परिभाषाए है, जो अन्य अनेक परिभाषाओं की तरह अपने अर्थ और प्रयोग में भिन्न हैं। यूनानियो ने इसका मतलब, बहुतों का शासन लिया और अरिस्टोटल ने इसे एक विकृत शासन समझा। परन्तु, आधुनिक लेखकों की दृष्टि में, संख्या कोई कसौटी नही। वे तो लोकतत्र के इसी सिद्धान्त पर जोर देते है, कि वे सब व्यक्ति, जो नागरिक बनने के और नागरिक के कर्तव्य पालने के योग्य है, राज्य के निर्देशन में भागीदार होने चाहिएं। प्रोफेसर सीले (Seeley) ने इसका मतलब लिया है "उस शासन से, जिसमें हर-एक व्यक्ति का भाग रहे,"[1] डाइसी (Dicey) ने लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए, इसे शासन का वह रूप माना है, जिसमें शासक वर्ग, सारे राष्ट्र की जनता का एक बड़ा अश हो। ब्राईस (Bryce) ने तो, हिरोडोटस (Herodotus) की परिभाषा स्वीकार करते हुए लिखा है कि लोकतत्र (democracy) शासन के उस रूप को सूचित करता है, जिसमे राज्य की शासन-सत्ता तुलनात्मक रूप से सचमुच समुदाय के हाथों में रहे। आपने आगे चल कर लिखा है, "इसका मतलब है कि उन समुदायों में, जिनमें मतदान किया जाता है, शासनाधिकार बहुमत का होता है, क्योंकि उस समुदाय की इच्छा को, जो एकमत नही है, वैध तथा शान्तिमय ढग से घोषित करने का दूसरा कोई ढंग नही मिला है।[2]"

1. Introduction to Political Science, p. 324.
2. Modern Democracies, Vol. I, p. 20.

servative) है। शासन की वागडोर ऐसे प्रतिभाशाली, वुद्धिमान और अनुभवी शासकों के हाथों में रहने से, जिन्हें सार्वजनिक सेवा की रीतियां या प्रथायें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई हैं, मौलिक और जल्दवाजी-भरे प्रयोगों से दूर ही रहा जाता है। स्थिरता अच्छे शासन के लक्षणों में सव से अग्रिम है और स्थिरता अनुदार परिवर्तन (Conservative innovation) चाहती है। ऐसे प्रचण्ड परिवर्तन, जिनसे प्राचीन सम्मानित संस्था भी कुचल दी जाय, जो जनता के विचारों में हल-चल पैदा कर दे, शासन की स्थिरता के लिए निश्चय ही हानिकारक हैं। "अतः, सामाजिक व राजनीतिक उन्नति के लिए यह सव से अधिक महत्वपूर्ण है कि उन्नति या उदारता के सिद्धान्त को, स्थायित्व या अनुदारता के सिद्धान्त के साथ सदा ही संयुक्त रखा जाय।[1]"

आज की सव से आधुनिक सरकारों ने भी, विधान-मंडल के उच्च सदनों की रचना में कुलीनतन्त्र का अंश सुरक्षित रखा है। उदाहरणार्थ, व्रिटिश हाऊस आफ लार्ड्स, वंशागत कुलीनों (peers) से रचित है। ऐसे देशों में, जहां दूसरे सदन भी निर्वाचित रखे गये हैं, चुनाव प्रायः इस ढंग से किये जाते हैं कि दूसरे सदन में राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली प्रतिनिधि जायं। भारत में राज्य-सभा, जो दूसरा सदन है, २५० सदस्यों का है, जिनमें से ५० सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्दिष्ट (nominated) हैं। राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्दिष्ट सदस्यों में वे सदस्य हैं, जिन्हें कोई ज्ञान विशेष या क्रियात्मक अनुभव प्राप्त है, यथा साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा।[2] वास्तव में प्रतिनिधित्व की यह प्रणाली कुलीनतन्त्री ही है।

कुलीनतन्त्र की दुर्वलता (Weakness of Aristocracy)—सभी प्रकार के कुलीनतन्त्र शासनों में यह दोष जन्मसिद्ध है कि वे अपने अलग स्वार्थों के पोषक होते हैं, जिनका संघर्ष समुदाय के हितों से हो जाना लगभग निश्चित है। विशेपाधिकार-प्राप्त व्यक्तियों का अलग वर्ग वन जाता है, जिनके अपने विशेप स्वार्थ रहते हैं। यह वर्ग, अपने विशेपाधिकारों को पैतृक मानता है और उन्हें अपने उत्तराधिकारियों को ज्यों-के-त्यों सौंप देना चाहेगा। श्रेष्ठ पुरुषों का कुलीनतन्त्र, इस प्रकार पतित होकर एक श्रेणी का शासन वन जाता है। अत्यन्त नेकनीयत कुलीन पुरुषों द्वारा भी, उन श्रेणियों के हितों की अवहेलना हो जाना संभव है जिन्हें शासन के भागीदार नहीं वनाया जा सकता। शक्ति और अधिकारों का मद उन्हें घमण्डी और अहंकारी वना देता है। "कुलीन शासकों ने, निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति कठोरता और क्रूरता के व्यवहार का प्रदर्शन प्रायः किया है, जो घृणा-युक्त होने से और भी असहनीय हो गया है।"

पैतृक उत्तराधिकार के शासन से भलाई और वुराई दोनों ही हुई हैं। जहां-जहां उक्त शासन चिरकाल तक जमा रहा है, वहां-वहां पैतृक पद, काफी संख्या में ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त हुए हैं, जो अपने सामाजिक प्रभाव या अधिकार का प्रयोग करने के लिए सर्वथा अयोग्य थे। प्रजा का वर्ग-विभाजन, विरोध तथा ईर्ष्या वढ़ाता है। दूसरे, यह धारणा और विश्वास कि कुछ लोग दूसरों पर शासन करने के लिए पैदा हुए हैं, युक्तिसंगत नहीं है। और

1. Ibid, p. 231.

२. संविधान अनुच्छेद ८०, खंड (१), (२) और (३)

फिर यह लोकतंत्र शासन का विरोधी भी है, क्योंकि इसके अनुसार जनता अपने शासन में भागीदार नहीं बन सकती और इस प्रकार, जन-साधारण केवल आज्ञा पालने वाला ही रह जाता है। अतः, कुलीनतन्त्री शासन, प्रजा में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न नहीं करता या उसे राजनीतिक शिक्षा नहीं देता। ऐसा शासन, राजनीतिक दृष्टि से सजग तथा तत्पर नागरिकों की अपेक्षा, भेड़-बकरियों की तरह हाके जाने वाले लोगों के लिए होता है। इसी प्रकार जन्म की तरह, सम्पत्ति को भी, एक व्यक्ति के शासन की योग्यता की कसौटी नहीं माना जाना चाहिये। शासन-सत्ता का कतिपय ऐसे व्यक्तियों को प्रदान किया जाना, जो धनवान और कुलीन परिवारों में उत्पन्न हुए हैं, या सौभाग्यवश जिन्हें सम्पत्ति प्राप्त हो गई है, बुद्धिमत्ता नहीं है।

ब्लूश्ली (Bluntschli) कहता है कि कुलीनतन्त्री शासन में भारी दोष है इसकी अत्यधिक कठोरता। जो शासन, प्राचीन रीति-रिवाजों की पूजा करता है, उसका दृष्टिकोण गत्यात्मक (dynamic) नहीं होता। एक अच्छे शासन के लिए समाज की आर्थिक व सामाजिक अवस्थाओं के साथ-साथ कदम बढ़ाना अनिवार्य है। कुलीन और धनवान व्यक्ति अपनी शक्ति को स्थिर रखने के उद्देश्य से, ऐसे सभी परिवर्तनों का विरोध करेंगे।

लोकतन्त्र

लोकतन्त्र शासन के अर्थ (Meaning of Democracy)—डेमोक्रेसी शब्द, [illegible] अर्थात् लोक और शक्ति, [illegible] का मतलब है, वह शासन, [illegible] रहे, चाहे प्रत्यक्ष रूप से, चाहे परोक्ष रूप से। लोकतंत्र रूप के शासन की भी अनेक परिभाषाएं हैं, जो अन्य अनेक परिभाषाओं की तरह अपने अर्थ और प्रयोग में भिन्न है। यूनानियों ने इसका मतलब, बहुतों का शासन लिया और अरिस्टोटल ने इसे एक विकृत शासन समझा। परन्तु, आधुनिक लेखकों की दृष्टि में, सख्या कोई कसौटी नहीं। वे तो लोकतंत्र के इसी सिद्धान्त पर जोर देते हैं, कि वे सब व्यक्ति, जो नागरिक बनने के और नागरिक के कर्तव्य पालने के योग्य हैं, राज्य के निर्देशन में भागीदार होने चाहिए। प्रोफेसर सीले (Seeley) ने इसका मतलब लिया है "उस शासन से, जिसमें हर-एक व्यक्ति का भाग रहे,"[1] डाइसी (Dicey) ने लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए, इसे शासन का वह रूप माना है, जिसमें शासक वर्ग, सारे राष्ट्र की जनता का एक बड़ा अंश हो। ब्राईस (Bryce) ने तो, हिरोडोटस (Herodotus) की परिभाषा स्वीकार करते हुए लिखा है कि लोकतंत्र (democracy) शासन के उस रूप को सूचित करता है, जिसमें राज्य की शासन-सत्ता तुलनात्मक रूप से सचमुच समुदाय के हाथों में रहे। आपने आगे चल कर लिखा है, "इसका मतलब है कि उन समुदायों में, जिनमें मतदान किया जाता है, शासनाधिकार बहुमत का होता है, क्योंकि उस समुदाय की इच्छा को, जो एकमत नहीं है, वैध तथा शान्तिमय ढग से घोषित करने का दूसरा कोई ढंग नहीं मिला है।[2]"

1. Introduction to Political Science, p 324.
2. Modern Democracies, Vol. 1., p. 20.

servative) है। शासन की वागडोर ऐसे प्रतिभाशाली, वुद्धिमान और अनुभवी शासकों के हाथों में रहने से, जिन्हें सार्वजनिक सेवा की रीतियां या प्रथायें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई हैं, मौलिक और जल्दवाजी-भरे प्रयोगों से दूर ही रहा जाता है। स्थिरता अच्छे शासन के लक्षणों में सव से अग्रिम है और स्थिरता अनुदार परिवर्तन (Conservative innovation) चाहती है। ऐसे प्रचण्ड परिवर्तन, जिनसे प्राचीन सम्मानित संस्था भी कुचल दी जाय, जो जनता के विचारों में हल-चल पैदा कर दे, शासन की स्थिरता के लिए निश्चय ही हानिकारक है। "अतः, सामाजिक व राजनीतिक उन्नति के लिए यह सव से अधिक महत्वपूर्ण है कि उन्नति या उदारता के सिद्धान्त को, स्थायित्व या अनुदारता के सिद्धान्त के साथ सदा ही संयुक्त रखा जाय।[1]"

आज की सव से आधुनिक सरकारों ने भी, विधान-मंडल के उच्च सदनों की रचना में कुलीनतन्त्र का अंश सुरक्षित रखा है। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश हाऊस आफ लार्ड्स, वंशागत कुलीनों (peers) से रचित है। ऐसे देशों में, जहां दूसरे सदन भी निर्वाचित रखे गये हैं, चुनाव प्रायः इस ढंग से किये जाते हैं कि दूसरे सदन में राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली प्रतिनिधि जायं। भारत में राज्य-सभा, जो दूसरा सदन है, २५० सदस्यों का है, जिनमें से ५० सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्दिष्ट (nominated) हैं। राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्दिष्ट सदस्यों में वे सदस्य हैं, जिन्हें कोई ज्ञान विशेप या क्रियात्मक अनुभव प्राप्त है, यथा साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा।[2] वास्तव में प्रतिनिधित्व की यह प्रणाली कुलीनतन्त्री ही है।

कुलीनतन्त्र की दुर्वलता (Weakness of Aristocracy)—सभी प्रकार के कुलीनतन्त्र शासनों में यह दोप जन्मसिद्ध है कि वे अपने अलग स्वार्थों के पोपक होते हैं, जिनका संघर्ष समुदाय के हितों से हो जाना लगभग निश्चित है। विशेपाधिकार-प्राप्त व्यक्तियों का अलग वर्ग वन जाता है, जिनके अपने विशेप स्वार्थ रहते हैं। यह वर्ग, अपने विशेपाधिकारों को पैतृक मानता है और उन्हें अपने उत्तराधिकारियों को ज्यों-के-त्यों सौंप देना चाहेगा। श्रेष्ठ पुरुपों का कुलीनतन्त्र, इस प्रकार पतित होकर एक श्रेणी का शासन वन जाता है। अत्यन्त नेकनीयत कुलीन पुरुपों द्वारा भी, उन श्रेणियों के हितों की अवहेलना हो जाना संभव है जिन्हें शासन के भागीदार नहीं वनाया जा सकता। शक्ति और अधिकारों का मद उन्हें घमण्डी और अहंकारी वना देता है। "कुलीन शासकों ने, निम्न श्रेणी के लोगों के प्रति कठोरता और क्रूरता के व्यवहार का प्रदर्शन प्रायः किया है, जो घृणा-युक्त होने से और भी असहनीय हो गया है।"

पैतृक उत्तराधिकार के शासन से भलाई और वुराई दोनों ही हुई हैं। जहां-जहां उक्त शासन चिरकाल तक जमा रहा है, वहां-वहां पैतृक पद, काफी संख्या में ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त हुए हैं, जो अपने सामाजिक प्रभाव या अधिकार का प्रयोग करने के लिए सर्वथा अयोग्य थे। प्रजा का वर्ग-विभाजन, विरोध तथा ईर्ष्या वढ़ाता है। दूसरे, यह धारणा और विश्वास कि कुछ लोग दूसरों पर शासन करने के लिए पैदा हुए हैं, युक्तिसंगत नहीं है। और

1. Ibid, p. 231.

२. संविधान अनुच्छेद ८०, खंड (१), (२) और (३)

फिर यह लोकतंत्र शासन का विरोधी भी है, क्योंकि इसके अनुसार जनता अपने शासन में भागीदार नही बन सकती और इस प्रकार, जन-साधारण केवल आज्ञा पालने वाला ही रह जाता है। अतः, कुलीनतन्त्री शासन, प्रजा में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न नही करता या उसे राजनीतिक शिक्षा नही देता। ऐसा शासन, राजनीतिक दृष्टि से सजग तथा तत्पर नागरिकों की अपेक्षा, भेड़-बकरियों की तरह हाके जाने वाले लोगों के लिए होता है। इसी प्रकार जन्म की तरह, सम्पत्ति को भी, एक व्यक्ति के शासन की योग्यता की कसौटी नही माना जाना चाहिये। शासन-सत्ता का कतिपय ऐसे व्यक्तियों को प्रदान किया जाना, जो धनवान और कुलीन परिवारों में उत्पन्न हुए हैं, या सौभाग्यवश जिन्हे सम्पत्ति प्राप्त हो गई है, बुद्धिमत्ता नही है।

ब्लूटली (Bluntschli) कहता है कि कुलीनतन्त्री शासन में भारी दोष है इसकी अत्यधिक कठोरता। जो शासन, प्राचीन रीति-रिवाजों की पूजा करता है, उसका दृष्टिकोण गत्यात्मक (dynamic) नही होता। एक अच्छे शासन के लिए समाज की आर्थिक व सामाजिक अवस्थाओं के साथ-साथ कदम बढ़ाना अनिवार्य है। कुलीन और धनवान व्यक्ति अपनी शक्ति को स्थिर रखने के उद्देश्य से, ऐसे सभी परिवर्तनो का विरोध करेंगे।

लोकतन्त्र

लोकतन्त्र शासन के अर्थ (Meaning of Democracy)—डेमोक्रेसी शब्द, demos and kratia (डेमोस और क्रेतिया) अर्थात् लोक और शक्ति, दो ग्रीक शब्दों से निकला है। आजकल डेमोक्रेसी का मतलब है, वह शासन, जिसमें स्वय लोगों के हाथों में अपने प्रतिनिधियो द्वारा सत्ता रहे, चाहे प्रत्यक्ष रूप से, चाहे परोक्ष रूप से। लोकतंत्र रूप के शासन की भी अनेक परिभाषाएं है, जो अन्य अनेक परिभाषाओं की तरह अपने अर्थ और प्रयोग में भिन्न हैं। यूनानियो ने इनका मतलब, बहुतो का शासन लिया और अरिस्टोटल ने इसे एक विकृत शासन समझा। परन्तु, आधुनिक लेखकों की दृष्टि में, संख्या कोई कसौटी नही। वे तो लोकतत्र के इस सिद्धान्त पर जोर देते हैं, कि वे सब व्यक्ति, जो नागरिक बनने के और नागरिक के कर्तव्य पालने के योग्य हैं, राज्य के निर्देशन में भागीदार होने चाहिए। प्रोफेसर सीले (Seeley) ने इसका मतलब लिया है "उस शासन से, जिसमें हर-एक व्यक्ति का भाग रहे,"[1] डायसी (Dicey) ने लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए, इसे शासन का वह रूप माना है, जिसमें शासक वर्ग, सारे राष्ट्र की जनता का एक बड़ा अंश हो। ब्राईस (Bryce) ने तो, हिरोडोटस (Herodotus) की परिभाषा स्वीकार करते हुए लिखा है कि लोकतत्र (democracy) शासन के उस रूप को सूचित करता है, जिसमें राज्य की शासन-सत्ता कानूनतः किसी वर्ग में नहीं, सचमुच समुदाय के हाथों में रहे। आपने आगे चल कर लिखा है, "इसका मतलब है कि उन समुदायों में, जिनमें मतदान किया जाता है, शासनाधिकार बहुमत का होता है, क्योंकि उस समुदाय की इच्छा को, जो एकमत नही है, वैध तथा शान्तिमय ढंग से व्यक्त करने का दूसरा कोई ढंग नही मिला है।[2]"

1. Introduction to Political Science, p. 324.
2. Modern Democracies, Vol. 1., p. 20.

परन्तु, जनता की स्वीकृति प्राप्त कर लेना ही, किसी शासन को, लोकतंत्री बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। प्लेटो (Plato) के शब्दों में, लोगों को स्वयं "अपने प्रहरी" बनना चाहिये। जनता की स्वीकृति, वास्तविक, क्रियाशील,और प्रभावाशाली होनी चाहिये, ताकि, लोकतंत्र एक यथानाम तथा गुण शासन सिद्ध हो। सदा जागरूक रहना ही लोकतंत्र का प्राण है, यदि लोकतंत्र शासन को, अपना लोकराज, लोक द्वारा और लोक हितार्थ का दावा सच्चे अर्थो में सिद्ध करना है। शासन, निश्चय ही सदा लोगों का होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह लोगों द्वारा ही हो। राजतंत्र (Monarchy) और कुलीनतन्त्र (Aristocracy) भी लोगों ही के तो हैं, परन्तु लोगों द्वारा नहीं हैं। लोगों द्वारा शासन का यह अर्थ है कि लोग, प्रत्यक्ष रूप से, या अपने प्रतिनिधियों द्वारा, अपने ऊपर शासन करें, और उनकी इच्छा ही सरकार की नीति तथा अन्य सामाजिक समस्याओं के निर्देशन में, उच्चतम रहे।

और यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि लोकतंत्र, सभी लोगों के प्रतिनिधियों का शासन है। "लोक"(People)शब्द के, जैसा कि ब्राईस ने दर्शाया है, अर्थ बदलते रहे हैं, और अरिस्टोटल या लिन्कोलिन (Lincolin) द्वारा समझे गये अर्थों से, आज माने जाने वाले अर्थ बहुत हद तक विभिन्न हैं।[1] आज लोग (People) का मतलब है बहुसंख्यक लोग। अतः, ब्राईस के मतानुसार, लोकतंत्र, शासन का वह रूप है, "जिसमें योग्य नागरिकों की बहुसंख्या की इच्छा प्रबल हो। योग्य नागरिकों से अभिप्राय है देशवासियों की भारी बहुसंख्या . . . . ."[2] और यह तो प्रत्यक्ष है कि लोकतंत्र शासन, अपने प्रत्येक योग्य नागरिक को, राजकाज या राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देने की आज्ञा देता है। परन्तु, लोकतंत्र यह गारंटी नहीं दिला सकता कि प्रत्येक नागरिक के मत का राज्य के कार्य पर प्रभाव पड़ेगा ही। सभी महत्वपूर्ण समस्याओं के विषय में, सभी नागरिकों को एकमत नहीं किया जा सकता। और फिर, सब के सब नागरिकों का शासन के नीति-निर्णय में हाथ नहीं रह सकता। लोकतंत्र शासन का सब से अधिक उत्साही समर्थक भी, पागलों, अपराधियों और दूधपीते बच्चों को मताधिकार देने के लिए तैयार नहीं होगा। सो, जब कभी हम लोकराज या लोकतंत्र शासन कहते हैं तो उसका अर्थ होता है, बहुसंख्या की उस समय की इच्छा।

अधिकांश की इच्छा प्रबल होने के दो कारण हैं। पहला यह, कि मिल-जुल कर प्रकट किये गए, उनके मत के ठीक होने की अल्पसंख्यक की अपेक्षा अधिक संभावना है। दूसरे अधिकांश का बाहुबल भी, अल्पांश से प्रायः अधिक होता है। बहुसंख्या अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर बैठे तो अलग बात है, नहीं तो अल्पांश के लिए यही उचित है कि वह अधिकांश की इच्छा को सिर-माथे पर ले ले, क्योंकि ऐसा न हो कि अधिकांश जबरदस्ती पर उतर आए। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि "भिन्न मतावलम्बी अल्पांश को दबाना, ऐसी सरकार के लिए लोहे के चने चबाने के तुल्य है, जिसका आधार स्वीकृति का सिद्धान्त है।"[3] लोकतंत्र शासन तभी सफल कहलाएगा, जब अल्पसंख्यक लोग यह अनुभव करें, कि अधिकांश

---

1. Modern Democracies, Vol. I. p. VIII
2. Ibid. p. 26.
3. Sidgwick: The Elements of Politics, p. 611

द्वारा उनका दमन नहीं किया जा रहा और उनकी हर मामले में सुनवाई होती है। जब हम यह मानते हैं कि लोकतंत्र शासन में राजनीतिक समानता रहती है, तो हमारा मतलब यही होता है कि वहां के सभी नागरिकों को यह अवसर प्राप्त है कि वे, "राजनीतिक निर्माताओं के कार्य की, जिनके निश्चय उनके जीवन पर प्रभाव डालते हैं, स्वतंत्रतापूर्वक, जितनी बार चाहें, आलोचना कर सकें।"[1] तभी उसको लोक द्वारा किया गया शासन कहा जा सकता है। एक लोकतंत्र शासन, प्रत्येक नागरिक को, राजतंत्र या कुलीनतंत्र शासन से कुछ अधिक प्रबल नहीं रख सकता। परन्तु पूर्वोक्त शासन, अपने प्रत्येक नागरिक को भाषण, प्रकाशन और संगठन के अधिकार प्रदान करता है। "यह अधिकार ही लोकतंत्र के अनिवार्य अंग हैं क्योंकि इन्हीं से स्वच्छंद वाद-विवाद और लोगों द्वारा शासन में निरंतर भाग लेना सम्भव बनता है।"

मैजिनी (Mazzini) ने, लोक-हितार्थ शासन के अर्थों की कितनी अच्छी व्याख्या की है: "सर्वश्रेष्ठों और सब से अधिक बुद्धिमानों के नेतृत्व में, सब के द्वारा, सब की उन्नति।" शासन की परीक्षा, लोगों के कल्याण से होती है, और शासन के उसी रूप को अधिक पसंद किया जाना चाहिये, जो मानव की प्रवृत्तियों को विकास के पूरे-पूरे सुअवसर देने वाला है। लोकतंत्र शासन के मुख्य कर्तव्य भी, किसी दूसरे रूप के शासन के समान ही हैं। परन्तु उनके अतिरिक्त, "लोकतंत्र, आत्म-शिक्षण को प्रोत्साहित करता है, व्यक्ति के लिए विशाल क्षितिज खोलता और अधिकारों को विस्तृत बनाता है, ताकि नागरिक अपने शासन कार्य में अधिकाधिक भाग ले सकें"।[2] लोकतंत्र के तीन पाठ हैं, स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव। इसका सिद्धान्त यह है कि उन सब लोगों को, जो नागरिकों के कर्तव्य पालन कर सकते हैं, राज्य के निर्देशन में भाग मिलना चाहिये। लोकतंत्र, मनुष्य और मनुष्य में भेद नहीं मानता। यह शासन, जन-साधारण को राजनीतिक कीर्ति के उच्च शासन तक उठाता है और यही लोक-हितार्थ शासन का अर्थ है।

लोकतंत्री शासन, लोकतंत्री राज्य और लोकतंत्री समाज (Democratic Government, Democratic State and Democratic Society)—लोकतंत्र, शासन का रूप-मात्र नहीं है। कुछ का दावा है कि यह राज्य का एक रूप है। और कुछ दूसरे इसको समाज की एक व्यवस्था मानते हैं। डनिंग (Dunning) का यह मत है कि लोकतंत्र को, समाज का एक रूप मान कर, इसके वृहद अर्थों को न समझ सकने के कारण ही, इसकी इतनी कड़ी आलोचना हुई है।[3] एक लोकतंत्री शासन का मतलब लोकतंत्री राज्य है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं, कि लोकतंत्री राज्य का मतलब लोकतंत्री शासन हो। उदाहरणार्थ, अमरीका का संयुक्त-राष्ट्र लीजिये, जो लोकतंत्री राज्य तो है परन्तु वहां के प्रेसिडेंट के अधिकार इतने ऊंचे हैं कि वह विशेषकर राष्ट्रीय संकट काल में सचमुच डिक्टेटर बन सकता है। जर्मनी-निवासियों ने अपनी लोकतंत्री राज्य-व्यवस्था में एक डिक्टेटर ही चुन लिया था। फ्रांस भी एक लोकतंत्री राज्य है, जहां का शासन केन्द्रीभूत

1. Appadorai op. cit. p. 141.
2. Dunning, op. cit, Vol. Recent Times. p. 63.
3. Ibid, p. 50.

है। एक लोकतंत्री राज्य का यह अर्थ है कि वहां प्रभुत्व जनता का है, राजनीतिक व्यवस्था उन्हीं के हाथ में है, वे ही शासन का रूप निर्धारित करते हैं, चाहे शासन-व्यवस्था लोकतंत्री ढंग से चलाई जाती है या नहीं। जैसा कि हर्नशा (Hearnshaw) कहता है, "यह तो शासन को नियुक्त करने, निरीक्षण करने और उसे पदच्युत करने की एक विधि है।"

एक लोकतंत्री समाज वह है, जिसमें, वर्ग-भेद के बंधनों से मुक्त, सब के लिए समान अधिकार-उपभोग के अवसर हैं। मानव, मानव का भाई है, यही इस समाज का आधार है और इस समाज का प्रत्येक सदस्य, अपने भ्रातृमंडल में, दूसरे के समान स्थान रखता है। मनुष्य के पद का निश्चय, उसके जन्म, जाति, मत और सम्पत्ति के आधार पर नहीं किया जाता। एक साधारण व्यक्ति भी, समाज में, दूसरे के बराबर का अंश है। इसका यही मतलब हुआ कि मनुष्य के व्यक्तित्व में विश्वास किया जाता है। हिन्दुओं में जाति-पांति की प्रणाली, लोकतंत्री समाज का निषेध है। मुसलमानी समाज लोकतंत्री है, यद्यपि उनका कोई लोकतंत्री राज्य अथवा शासन विद्यमान नहीं है।

लोकतंत्री शासन के लिए लोकतंत्री समाज और लोकतंत्री राज्य होना अनिवार्य है। लोकतंत्री शासन का आदर्श है, न्याय और सुख। न्याय, इसलिए कि "कोई व्यक्ति, वर्ग या समुदाय इतना शक्तिशाली न हो जाय कि दूसरों की क्षति कर सके; सुख, इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए जो कुछ कल्याणकारी समझे, उसे प्राप्त करने के साधन उसे प्राप्त हों। स्वाधीनता और समानता के सिद्धान्तों की परीक्षा, उसके परिणामों से होनी चाहिये।" कांट (Kant) का यह सुप्रसिद्ध वचन "काम इस तरह करे, कि मनुष्य-मात्र को लक्ष्य में रखे। हर हालत में अपने-आपको या पराये को आदर्श माने, और साधनमात्र कभी न समझे," यहां स्वाधीनता और समानता के अर्थ दर्शाता है। लोकतंत्री समाज के लिए यही आवश्यक सामग्री है। मानव की वृद्धि में, लोकतंत्री आदर्शों का संचार यही करती है। लोकतंत्री समाज में मानव की योग्यता का मूल्य आंका जाता है, और फिर लोकतंत्री शासन, मानव की योग्यता और गुण का समर्थन तथा अनुसरण करता है। दोनों का लक्ष्य, बेन्थम (Bentham) के इस सुन्दर सूत्र में : प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक ही समझे और कोई भी एक से अधिक को ध्यान में न लाए, पाया जाता है। अतः लोकतंत्री शासन का अस्तित्व और उन्नति तभी हो सकती है जब समाज भी लोकतंत्री हो। लोकतंत्री शासन के लिए लोकतंत्री राज्य अनिवार्य हैं। सबकी क्रिया और प्रतिक्रिया, एक-दूसरे पर होती रहती है।

लोकतंत्र के भेद (Kinds of Democracy)—लोकतंत्र के प्रायः दो रूप माने जाते हैं :—१. विशुद्ध या प्रत्यक्ष, और २. प्रतिनिधि-युक्त या अप्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष लोकतंत्र (Direct Democracy)—जब लोग स्वयं, प्रत्यक्ष रूप से, सार्वजनिक विषयों पर अपनी इच्छा प्रकट करें, तो शासन का नमूना प्रत्यक्ष प्रजातंत्र होता है। राज्य की इच्छा या मत, लोगों द्वारा, सार्वजनिक सभा या सभाओं में निश्चित किया जाता है। परन्तु, इस नमूने का प्रजातंत्र, छोटे राज्यों में ही बनाया और चलाया

जा सकता है, क्योंकि, वहां की जनसंख्या कम होने से, जब-जब या जितनी बार चाहे एकत्र हो सकती और मिलकर विचार-विनिमय कर सकती है। बड़े और विविध समाजों में, जिनकी संख्या भारी और राज्य का क्षेत्र विशाल है, प्रत्यक्ष प्रजातंत्र स्थापित करना सम्भव नहीं। प्राचीन यूनान के नगर-राज्य (City State) प्रत्यक्ष लोकतंत्र के आदर्श उदाहरण हैं। स्विटजरलैंड के छोटे कैन्टन्स (Cantons) और अमेरिका के कतिपय राज्यों के स्थानीय-नगर-शासन भी, प्रत्यक्ष लोकतंत्र के उदाहरण हैं।

अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि लोकतंत्र (Indircet or Representative Democracy)—आज के युग में, प्राचीन काल के छोटे-छोटे राज्यों के अनुरूप उदाहरण दे सकना हमारे लिए कठिन होगा। आधुनिक राष्ट्र-राज्य (Nation-State) एक महान राज्य है जिसकी जनसंख्या और क्षेत्रफल भी विशाल है। इसकी बनावट और इसकी समस्याएं भी विभिन्न तथा जटिल हैं। अतः लोगों के लिए यह भी असम्भव है कि वे अपनी विविध आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर विचार-विनिमय के लिए एक स्थान पर एकत्रित हो सकें। जो राज्य की इच्छा को, प्रत्यक्ष रूप से स्वयं लोगों द्वारा नहीं वरन उनके प्रतिनिधियों द्वारा निश्चित और प्रकट किया जाता है। जनता, अपने प्रतिनिधियों का समय-समय पर चुनाव करके उन्हें सार्वजनिक व्यवस्थाओं के सञ्चालन का भार सौंप देती है। जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने, प्रतिनिधि लोकतन्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह ऐसा शासन है, 'जिसमें सारी-की-सारी जनता, या फिर उसका बहुसंख्यक भाग, शासन सत्ता का, अपने नियत काल पर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग करता है।"

प्रतिनिधि लोकतन्त्र, अधिकार का अन्तिम स्रोत जनता ही में स्थिर करता है। प्रतिनिधियों का चुनाव, लोगों के मतानुसार कुछ वर्ष के लिए किया जाता है। वे, अगर लोग चाहें तो फिर से भी चुने जा सकते हैं। आधुनिक युग में, अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र की व्यवस्था पर असन्तोष प्रकट किया गया है और इसलिए, विधान तथा कार्यपालिका नियंत्रण की नई-नई विधियां, यथा निर्वाचक—अनुमोदन की सम्मति के लिए भेजना (Referendum), जनता की ओर से सूत्रपात करना (Initiative), और रद्द कर देना (Recall), प्रचलित कर दी गई हैं। इन सभी उपायों का उद्देश्य है, किन्हीं विशेष मामलों में, शासन-व्यवस्था की शक्ति को प्रतिनिधियों से लेकर स्वयं जनता को सौंप देना। यह विधियां, थोड़ा-बहुत प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को पुनः प्रचलित करने का प्रयत्न है। राइकों ने अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र की कड़ी आलोचना की है।

लोकतंत्र के लिए आवश्यक सामग्री (Requisites of Democracy)—लोकतन्त्र का उदारतापूर्ण अर्थ होगा, साधारण व्यक्ति में विश्वास। इस प्रकार, एक सच्चा लोकतन्त्र पारस्परिक सेवा-भाव और सार्वजनिक कल्याण के आदर्शों से अनुप्राणित और जनता की सामान्य इच्छा का सम्मान करने वाली एक क्रियाशील और विकासोन्मुख शक्ति है। इस प्रकार, इससे, जनता में प्रजातंत्री-धारणा जीवित होना सिद्ध होता है। आईवर ब्राउन (Ivor Brown) ने प्रजातंत्री-धारणा का अर्थ समझाते हुए लिखा है :[1]

1. The Meaning of Democracy, Chap. 13.

राजनीति के मामले में आलसी है। वह न तो राजनीतिक दृष्टि से समझदार है और न ही यथेष्ट रूप से शिक्षित। उसमें राजनीति की उलझी हुई समस्याएं समझ सकने की सामर्थ्य नहीं और वह सोच-विचार कर कार्य करने की योग्यता नहीं रखता। सो, लेकी (Lecky) ने, लोकतंत्र को "सब के करीब, सब से अज्ञानी और अत्यन्त अयोग्यों का शासन कहा है, जो निश्चय ही बहु-संख्यक भी होंगे।" एक साधारण नागरिक के पास, राज्य के मामलों का ज्ञान प्राप्त करने को समय नहीं, न ही इस ओर उसका झुकाव है और न इतनी योग्यता ही। लोकतंत्री देशों के मतदाताओं की उदासीनता तो प्रसिद्ध है। मतदाता को अपने काम पर से खींच-घसीट कर मतदान के लिए लाना पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह है कि शक्ति या सत्ता, पेशेवर राजनीतिज्ञों, और धुंआधार भाषण झाड़ने वालों के हाथों में पहुंच जाती है, जो जन-साधारण को उल्लू बनाने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

(५) और भी कहा जाता है, कि लोकतंत्र, शासन का एक अयोग्य रूप है। लोकतंत्र का आधारभूत दावा यह है कि सब मनुष्य समान हैं, और एक मनुष्य, उसके गुण चाहे कुछ भी हों, हर हालत में दूसरे जैसा है। "वोटों को तोला नहीं जाता, गिना जाता है।" विचार्य-विषय का निश्चय, बहु-संख्यक वोट करते हैं। बहुमत का बोल-बाला रहेगा, चाहे वह बहुमत अत्यल्प ही क्यों न हो, और उधर अल्पमत वाले कितने ही विवेकी और उत्तम निर्णायक बुद्धि के मालिक हों। फेजैट (Faget) ने लोकतंत्र को अनभिज्ञता भरा ऐसा शासन कहा है कि जिसका कोई उपाय ही नहीं। इन्होंने लोकतंत्री शासन को अक्षमता का पर्यायवाची ठहराया है, क्योंकि वह नौसिखियों का शासन होता है। प्रतिनिधियों द्वारा राज्य का शासन संभालने की जिम्मेदारी ली जाती है, इसलिए नहीं कि वे योग्य हैं अथवा उन्हें प्रबन्ध संबन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त है, वरंच केवल इसलिए कि उन्हें बहुमत प्राप्त हुआ है। सर सिडनी लो (Sir Sydney Low) ने लिखा है कि, "राजस्व-विभाग में क्लर्की पाने के लिए एक युवक के लिए हिसाब की परीक्षा पास करना अनिवार्य है। परन्तु, चैन्सलर आफ दि-ऐक्सचैकर अर्थात् वित्त मंत्री, कोई भी अधेड़ दुनियादार हो सकता है, जिसे अब ईटन (Eton) या आक्सफोर्ड (Oxford) में पढ़ा हिसाब भूल चुका है, और उन आंकड़ों को सीधेपन से समझने की चेष्टा कर रहा है।"

(६) लोकतंत्री शासन के लिए दल-बंदी अनिवार्य है। परन्तु इन दलों की प्रणाली, वास्तव में जिस प्रकार आधुनिक लोकतंत्री शासनों में काम कर रही है, उसका परिणाम यह है, कि वे देश अपने कुछ-एक सर्वोच्च नागरिकों की सेवाओं से वंचित हो रहे हैं। राजनीतिक दल, कपट को उत्साहित करते, स्वाभाविक आदर्शों को हीन बनाते और राष्ट्र के जीवन में फूट डलवा कर, "लूट" का माल बांट खाते हैं।"[1] चुनाव का प्रापेगंडा—प्रचार—जनता को भ्रमात्मक शिक्षा देता और बहकाता है। सब से अधिक वोट प्राप्त करने के उद्देश्य से नैतिक विचारों को दबा दिया जाता है। लोग, पार्टी या दल को वोट देते हैं, न कि उम्मीदवार को। यह प्रतिनिधि अपना दायित्व उस दल के प्रति समझता है जिसका टिकट लेकर वह चुनाव लड़ने खड़ा होता है। इस प्रकार जन-नियंत्रण, जो अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का सार है, एक भ्रान्ति बनकर रह जाता है। तब दलबंदी की प्रणाली मशीन के समान चलती है। जो

1. Bryce: Modern Democracies Vol. 1., Chap. 11.

मतदाता, विधानसभाओं के सदस्य, शासन के कर्मचारी और यहां तक कि न्यायिक अधिकारी भी अनेक बार धन के लोभ में आ जाते हैं।[1]

लोकतंत्र के दोषों पर ब्राईस की सम्मति (Bryce on Defects of Democracy)—लार्ड ब्राईस ने, जो लोकतंत्र के बड़े उत्कट व्याख्याता हैं, लोकतंत्र के निम्नलिखित दोष बतलाये हैं। उनके निष्कर्ष संसार के ६ बड़े लोकतंत्री शासनों के निरीक्षण के आधार पर बने हैं :—

(१) शासन व्यवस्था या विधान को विकृत करने में धन-बल।

(२) राजनीति को कमाई का पेशा बनाने की ओर झुकाव।

(३) शासन-व्यवस्था में अति व्यय।

(४) समानता के सिद्धान्त का अप-व्यवहार और शासनीय पटुता या योग्यता का उचित मूल्य न आंका जाना।

(५) दलबंदी या दल-संगठन में अनुचित बल-प्राप्ति।

(६) विधान सभाओं के सदस्यों तथा राजनीतिक अफसरों द्वारा कानून पास कराते समय वोटों को दृष्टि में रखना और समुचित व्यवस्था भंग को सहन करना।[2]

लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)—अस्तु, ब्राईस यह कहते हैं कि पहले तीन दोष तो शासन के सभी रूपों में रहते हैं, वे कुछ लोकतंत्र में ही अन्तर्वर्त्ती नहीं। अलबत्ता पिछले तीन दोष लोकतंत्र से अधिक चिपके हुए हैं, जो हो, यह दोष ऐसे नहीं कि जिनका उपाय नहीं हो सकता। डनिंग का कथन है कि "लोकतंत्र ने कुछ पुराने दोषों की नहरों को पाट दिया है, हां, कुछ नई नहरें भी खोद डाली हैं, पर पानी का बहाव नहीं बढ़ाया है।"[3] लोकतंत्र को चाहिये, कि वह, स्वार्थपरता और शासन में अनुत्तरदायित्व का विरोध करे। यह दोनों ही इसकी मुख्य-मुख्य समस्याओं के नीचे स्थित हैं। लोकतंत्र के पास इन दोषों का विरोध करने के दो शक्तिशाली शस्त्र भी मौजूद हैं : कानून और सम्मति। सम्मति, मत या राय को लोकतंत्र को छोड़ किसी दूसरी शासन-व्यवस्था में स्पष्टतया अनुभव नहीं किया जा सकता।

लोकतंत्र को व्यर्थ बनाने वाली आलोचना के बावजूद, यह अब भी लोगों को अधिकाधिक शक्ति-प्रदान की प्रवृत्ति रखता है। द्वितीय विश्व-युद्ध लोकतंत्र बनाम तानाशाही के आधार पर लड़ा गया था। यह लोकतंत्र के लिए विजय थी, क्योंकि लोगों ने इस पर से अपना भरोसा नहीं खोया था। लोकतंत्र की समस्या इस प्रकार इस बिंदु पर केंद्रित है कि क्या मनुष्य बुद्धि में वृद्धि कर रहा है? इसका उत्तर हां में है, क्योंकि कोई भी सरकार इतना नहीं प्रदान करती जितना कि लोकतंत्र, इसके साथ ही, सरकार का कोई भी अन्य रूप

---

1. Modern Democracies, Chap. 69.
2. *Ibid, Vol. II,* p. 504.
3. Dunning, op. cit. Recent Times, Vol. IV p. 63. Refer to Modern Democracies op. cit. Vol. II p. 459.

उससे इतनी अधिक माग नही करता । वे सब अधिकार और कर्त्तव्य, जो प्रजातन्त्र अपने नागरिको को प्रदान करता है, उसे विचारशील प्राणी बनाते हैं। आखिर एक मनुष्य और एक पशु में क्या अन्तर है? मनुष्य सोच सकता है और तर्क कर सकता है, और पशु इनमें से कुछ भी नही कर सकता, लेकिन जिस काम के लिए वह बना है, उसे वह करता है। अनुवचन (Dictation) लोकतत्र का मार्ग नहीं। लोकतत्र तब तक नही मरेगा जबतक मनुष्य के विवेकशील स्वभाव मे आशा का स्थान रहेगा। और जब तक प्रजातन्त्र विचारवान् मनुष्यों को उत्पन्न करता है; विचारक ही कर्मशील होते हैं और प्रजातंत्र का नागरिक इसके विषयों मे क्रियात्मक भाग लेता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, लोकतंत्र एक सरकार के स्वरूप की अपेक्षा कुछ अधिक ही है। इसमें न केवल राज्य का एक ढग सम्मिलित है, प्रत्युत समाज का रूप भी शामिल है। इसे एक आदर्श अथवा एक भावना तक माना जाता है। लोकतंत्र की धारणा के विस्तार के साथ "पुरानी समता के सिद्धान्तो को व्यक्त कर दिया जाता है।" अब समानता से हमारा अर्थ यह नही है कि सब मनुष्य समान हैं। आदमी आदमी के बीच भौतिक, बौद्धिक और नैतिक अन्तर होते हैं। इन सब स्पष्ट भिन्नताओं को मानते हुए, समता शब्द की व्याख्या अवसर की समानता के अर्थ में की जाती है। लोकतंत्र समाज का वह रूप है, जिसमें प्रत्येक मनुष्य के लिए अवसर होता है, और उसे ज्ञात हो कि वह उसे रखता है। फलतः, लोकतंत्र में स्वतत्रता और समता के जुड़वां सिद्धान्तो का विश्वास दिलाने का गुण है। इसके अधीन ऐसे व्यक्तियो का कोई दल नही होता, जिसे विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त हों। यह कुलीनता की इस रीति को रद्द करता है कि कुछ तो शासन करने के लिए जन्मे हैं और बाकी शासित होने के लिए। सरकारों की परख लोगो के कल्याण से होती है और सरकार के उस रूप को प्रधानता दी जायगी जो मानव-योग्यताओं के उत्कर्ष को पूर्ण विस्तार प्रदान करता है। लोकतत्र अधिकार-शक्ति को ट्रस्ट का रूप देता है। वे लोग, जो अधिकार-शक्ति का उपयोग करते हैं, अपने नागरिक साथियों द्वारा पद की लघु अवधि के लिए चुने जाते हैं और वह उनके विश्वास के उपयोग के लिए उनके प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसमें सरकार के कर्तव्यों और लोगो के अधिकारो की मान्यता का समावेश होता है। जान स्टुअर्ट मिल के कथनानुसार, दो कारणो से लोकतंत्र सरकार के अन्य रूपों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। प्रथम यह कि, व्यक्ति के अधिकारो और हितो को केवल तभी सरक्षित किया जा सकता है, जब कि वह स्वतः उन्हें प्राप्त करने के लिए तैयार होता है। दूसरे यह कि सामान्य समृद्धि की वहा अपेक्षाकृत बडी मात्रा होती है, जिसे कि और अधिक विस्तार दिया जा सकता है क्योकि सब लोगों की शक्तिया और हित उसे प्राप्त करने के लिए जुड़े होते हैं।[1] अप्रत्यक्ष लोकतत्र का अर्थ लोगो द्वारा वास्तविक शासन नही, "क्योंकि लोग अपेक्षाकृत उन लक्ष्यो का निश्चय करते हैं जो उनकी सरकार . . . . है कि जो लोकप्रिय निर्वाचन, लोकप्रिय नियत्रण, और लोकप्रिय उत्तरदायित्व सरकार

1. Representative Government, p. 52.
2. Dunning, op. cit. Vol. IV, p. 63.

मतदाता, विधानसभाओं के सदस्य, शासन के कर्मचारी और यहां तक कि न्यायिक अधिकारी भी अनेक बार धन के लोभ में आ जाते हैं।[1]

लोकतंत्र के दोषों पर ब्राईस की सम्मति (Bryce on Defects of Democracy)—लार्ड ब्राईस ने, जो लोकतंत्र के बड़े उत्कट व्याख्याता हैं, लोकतंत्र के निम्नलिखित दोष बतलाये हैं। उनके निष्कर्ष संसार के ६ बड़े लोकतंत्री शासनों के निरीक्षण के आधार पर बने हैं :—

(१) शासन व्यवस्था या विधान को विकृत करने में धन-बल।

(२) राजनीति को कमाई का पेशा बनाने की ओर झुकाव।

(३) शासन-व्यवस्था में अति व्यय।

(४) समानता के सिद्धान्त का अप-व्यवहार और शासनीय पटुता या योग्यता का उचित मूल्य न आंका जाना।

(५) दलबंदी या दल-संगठन में अनुचित बल-प्राप्ति।

(६) विधान सभाओं के सदस्यों तथा राजनीतिक अफसरों द्वारा कानून पास कराते समय वोटों को दृष्टि में रखना और समुचित व्यवस्था भंग को सहन करना।[2]

लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)—अस्तु, ब्राईस यह कहते हैं कि पहले तीन दोष तो शासन के सभी रूपों में रहते हैं, वे कुछ लोकतंत्र में ही अन्तर्वर्त्ती नहीं। अल्बत्ता पिछले तीन दोष लोकतंत्र से अधिक चिपके हुए हैं, जो हो, यह दोष ऐसे नहीं कि जिनका उपाय नहीं हो सकता। डनिंग का कथन है कि "लोकतंत्र ने कुछ पुराने दोषों की नहरों को पाट दिया है, हां, कुछ नई नहरें भी खोद डाली हैं, पर पानी का वहाव नहीं बढ़ाया है।"[3] लोकतंत्र को चाहिये, कि वह, स्वार्थपरता और शासन में अनुत्तरदायित्व का विरोध करे। यह दोनों ही इसकी मुख्य-मुख्य समस्याओं के नीचे स्थित हैं। लोकतंत्र के पास इन दोषों का विरोध करने के दो शक्तिशाली शस्त्र भी मौजूद हैं : कानून और सम्मति। सम्मति, मत या राय को लोकतंत्र को छोड़ किसी दूसरी शासन-व्यवस्था में स्पष्टतया अनुभव नहीं किया जा सकता।

लोकतंत्र को व्यर्थ बनाने वाली आलोचना के बावजूद, यह अब भी लोगों को अधिकाधिक शक्ति-प्रदान की प्रवृत्ति रखता है। द्वितीय विश्व-युद्ध लोकतंत्र बनाम तानाशाही के आधार पर लड़ा गया था। यह लोकतंत्र के लिए विजय थी, क्योंकि लोगों ने इस पर से अपना भरोसा नहीं खोया था। लोकतंत्र की समस्या इस प्रकार इस बिंदु पर केंद्रित है कि क्या मनुष्य बुद्धि में वृद्धि कर रहा है? इसका उत्तर हां में है, क्योंकि कोई भी सरकार इतना नहीं प्रदान करती जितना कि लोकतंत्र, इसके साथ ही, सरकार का कोई भी अन्य रूप

---

1. Modern Democracies, Chap. 69.
2. Ibid, Vol. II, p. 504.
3. Dunning, op. cit. Recent Times, Vol. IV p. 63. Refer to Modern Democracies op. cit. Vol. II p. 459.

उससे इतनी अधिक माग नहीं करता। वे सब अधिकार और कर्त्तव्य, जो प्रजातन्त्र अपने नागरिकों को प्रदान करता है, उसे विचारशील प्राणी बनाते हैं। आखिर एक मनुष्य और एक पशु में क्या अन्तर है? मनुष्य सोच सकता है और तर्क कर सकता है, और पशु इनमें से कुछ भी नहीं कर सकता, लेकिन जिस काम के लिए वह बना है, उसे वह करता है। अनुवचन (Dictation) लोकतंत्र का मार्ग नहीं। लोकतंत्र तब तक नहीं मरेगा जबतक मनुष्य के विवेकशील स्वभाव में आशा का स्थान रहेगा। और जब तक प्रजातन्त्र विचारवान् मनुष्यों को उत्पन्न करता है; विचारक ही कर्मशील होते हैं और प्रजातंत्र का नागरिक इसके विषयों में क्रियात्मक भाग लेता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, लोकतंत्र एक सरकार के स्वरूप की अपेक्षा कुछ अधिक ही है। इसमें न केवल राज्य का एक ढग सम्मिलित है, प्रत्युत समाज का रूप भी शामिल है। इसे एक आदर्श अथवा एक भावना तक माना जाता है। लोकतंत्र की धारणा के विस्तार के साथ "पुरानी समता के सिद्धान्तों को व्यक्त कर दिया जाता है।" अब समानता से हमारा अर्थ यह नहीं है कि सब मनुष्य समान हैं। आदमी आदमी के बीच भौतिक, बौद्धिक और नैतिक अन्तर होते हैं। इन सब स्पष्ट भिन्नताओं को मानते हुए, समता शब्द की व्याख्या अवसर की समानता के अर्थ में की जाती है। लोकतंत्र समाज का वह रूप है, जिसमें प्रत्येक मनुष्य के लिए अवसर होता है, और उसे ज्ञात हो कि वह उसे रखता है। फलतः, लोकतंत्र में स्वतंत्रता और समता के जुड़वा सिद्धान्तों का विश्वास दिलाने का गुण है। इसके अधीन ऐसे व्यक्तियों का कोई दल नहीं होता, जिसे विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त हों। यह कुलीनता की इस रीति को रद्द करता है कि कुछ तो शासन करने के लिए जन्मे हैं और बाकी शासित होने के लिए। सरकारों की परख लोगों के कल्याण से होती है और सरकार के उस रूप को प्रधानता दी जायगी जो मानव-योग्यताओं के उत्कर्ष को पूर्ण विस्तार प्रदान करता है। लोकतंत्र अधिकार-शक्ति को ट्रस्ट का रूप देता है। वे लोग, जो अधिकार-शक्ति का उपयोग करते हैं, अपने नागरिक साथियों द्वारा पद की लघु अवधि के लिए चुने जाते हैं और वह उनके विश्वास के उपयोग के लिए उनके प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसमें सरकार के कर्तव्यों और लोगों के अधिकारों की मान्यता का समावेश होता है। जान स्टुअर्ट मिल के कथनानुसार, दो कारणों से लोकतंत्र सरकार के अन्य रूपों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। प्रथम यह कि, व्यक्ति के अधिकारों और हितों को केवल तभी सुरक्षित किया जा सकता है, जब कि वह स्वतः उन्हें प्राप्त करने के लिए तैयार होता है। दूसरे यह कि सामान्य समृद्धि की वहां अपेक्षाकृत बड़ी मात्रा होती है, जिसे कि और अधिक विस्तार दिया जा सकता है क्योंकि सब लोगों की शक्तियां और हित उसे प्राप्त करने के लिए जुड़े होते हैं।[1] अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का अर्थ लोगों द्वारा वास्तविक शासन नहीं, "क्योंकि लोग अपेक्षाकृत उन लक्ष्यों का निश्चय करते हैं जो उनकी सरकार की दृष्टि में होते हैं, और जनता को उन अधिकारियों की तरफ देखना पड़ेगा जिनके हाथों में वस्तुतः उन्होंने सरकार की असली ताकत को सौंपा होगा।"[2] संक्षेप में, यह कहा जाता है कि जो लोकप्रिय निर्वाचन, लोकप्रिय नियंत्रण, और लोकप्रिय उत्तरदायित्व सरकार

1. Representative Government, p. 52.
2. Dunning, op. cit Vol. IV, p. 63.

की अन्य किसी भी प्रणाली की अपेक्षा योग्यता की अधिक मात्रा का ि
है।[1] इस प्रकार, सर हेनरी मेन के इस दावे में कोई सत्यता नहीं है कि
प्रगतियों की जननी है, कि लोकप्रिय सरकार का "बहुत ही क्षणभंगुर
और इसके प्रादुर्भाव से, सरकार के सब रूप पहले की अपेक्षा अ
गए हैं।"[2]

किंतु लोकतन्त्र का गुण एक सरकार के रूप में उसकी योग्यता म
एक अच्छी सरकार स्वशासन की स्थानापन्न नहीं है। लोकतंत्र ल
कल्याण का शासन है। वह उन्हें आत्म-शिक्षण के लिए प्रेरणा प्रदान करत
उत्तमता का सर्वोच्च परीक्षण न तो लोगों को अच्छा खाना देने में है, न ही
की उस कठोरता में प्रकट होता है जिसे वह स्थिर रखता है। जैसा ि
(Lowell) ने उल्लेख किया है, "यह वह चरित्र होता है जिसे एक
अपने नागरिकों में उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखता है और उन नागरिकों क
ही होगा। अन्ततः वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है, जो लोगों को नैतिक शक्ति में
में, आत्म-निर्भरता में और साहस में दृढ़ बनाती है।" लोकतंत्र चरि
और जनता के राजनीतिक विवेक को उन्नत करता है। यह मानव
आदर्शों द्वारा प्रेरित क्रियाशील, उत्पादक और प्रगतिशील शक्ति है।
का केवल ऐसा रूप नहीं जिसे जब इच्छा हुई ग्रहण कर लिया। यह एव
विवेक, ईमानदारी, सार्वजनिक भावना, और नियंत्रण की एक खास मात्रा
जैसा कि वुड़रो विल्सन कहते हैं, ये गुण लोगों को "स्वाधिकार, आत्म-
और शांति की आदत, साम्राज्य लक्ष्य और कानून के प्रति ऐसी श्रद्धा,
विचलित नहीं होगी कि जब वह स्वयं कानून बनाने वाले हो जायंगे, राज
की दृढ़ता और आत्म-नियंत्रण प्रदान करता है।" इसलिए, लोकतंत्र म
और आध्यात्मिक गुणों को उन्नत करता है। यह राष्ट्रीय चरित्र के
रूप की वृद्धि करता है, क्योंकि नागरिक अनुभव करते हैं कि वे सरका
लोकतंत्री राज्य में क्रांति की संभावनाएं नहीं होतीं, क्योंकि यह प्रेर
सरकार होती है। लोग महसूस करते हैं कि वे प्रभु-शक्ति संपन्न औ
उनकी निजी सरकार है और वे, जिन्हें फिलहाल अधिकार दिया गया
होने की अपेक्षा, सेवक हैं। यदि उन्हें किसी प्रकार की आपत्ति है तो उस
और उसे शांतिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता

अन्ततः, केवल लोकतंत्री राज्य में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता और
शक्ति में समन्वय किया जा सकता है। सरकार का अन्य प्रत्येक रूप कम
पर आश्रित है। किंतु लोकतंत्र सहमति द्वारा शासन है। कानूनों के
केवल तभी स्वतंत्रता है, जब कानून लोगों की इच्छा को प्रकट करते ह
कानून बनाते हैं, जो लोगों की इच्छा के अनुरूप होते हैं। वे सार्वज

1. Garner, Political Science, p. 390.
2. Popular Government, p. 20

करने का साहस नहीं करते। इस तरह लोकतंत्र अपने निजी दोषों को ठीक करता है। लोगों का अपने अधिकारों के प्रति निरन्तर जागरूक रहना और समाचार-पत्रों तथा मत द्वारा अभिव्यक्त की गई राय सरकार को सही मार्ग पर बनाए रहने के बहुमूल्य साधन हैं।

लोकतंत्र का भविष्य (Future of Democracy) —निःसंदेह, लोकतन्त्र के अपने निजी दोष हैं, किन्तु जैसा कि लोवेल का मत है कि, "किसी भी रूप की सरकार सब मानवी बुराइयों के लिए रामबाण नहीं है।" संभव है लोकतन्त्र ने सहयोगी-भावना को उत्पन्न न किया हो, संभव है इसने उच्च-शिक्षा-प्राप्त पुरुषों को राज्य की सेवा की ओर प्रेरित न किया हो अथवा राजनीतिक को शुद्ध एवं आदर्श रूप प्रदान न किया हो, किन्तु पुरानी सरकारों के साथ तुलना में इसने अपने को न्याय्य प्रमाणित किया है। "आज की दशा खराब हो सकती है परंतु अतीत में वह और भी बुरी थी।" संसार ने अनंत राजतन्त्रों, राजवर्गों तथा उच्चकुलीन-तंत्रों के विभिन्न रूपों में प्रयोग किये हैं, और अब उसकी इच्छा दोबारा उनको ग्रहण करने की नहीं है। बर्न्स ने उल्लेखनीय ढंग से कहा है, "कोई भी इकार नहीं करता कि विद्यमान प्रतिनिधि विधान सभाएं दोषपूर्ण हैं, किन्तु यदि एक मोटर ठीक से न भी काम करती हो, तो एक बैल-गाड़ी को उसकी जगह देना कितनी मूर्खता की बात है, भले ही वह कितनी ही मनोहारी हो।"[1] हमने बहुत दिन तक तानाशाही का अनुभव किया और उसे सरकार का भद्दा रूप समझ कर छोड़ दिया, क्योंकि तानाशाही व्यक्तिगत स्वतंत्रता और स्वतः प्रेरणा की अवरोधक है, और मानव व्यक्तित्व के उत्कर्ष की विरोधी है।[2] इसलिए, जो कुछ हमारे पास है, उसे उन्नत करने की बजाय, एक अन्य रूप की सरकार की खोज करना बेवकूफी है। मेजिनी (Mazzini) के शब्दों में, लोकतंत्र का सार, "सब के द्वारा, सर्वश्रेष्ठों तथा बुद्धिमानों की अधीनता में, सब की उन्नति है।" इसका सर्वोच्च मूल्य नीति शास्त्र और शिक्षा संबंधी है। सरकार के एक प्रकार के रूप में लोकतन्त्र मनुष्य जाति के बौद्धिक और नैतिक विकास के अनुपात में उन्नत और ह्रासोन्मुख हो सकता है।

किन्तु लोकतंत्री संस्थाओं को परिवर्तनशील अवस्थाओं के अनुरूप पुनर्समन्वय की अत्यावश्यकता होती है। राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम से जुदा नहीं किया जा सकता। इसके अलावा, लोकतंत्र को प्रगतिशील, ग्राह्य और लोचपूर्ण होना चाहिए। पूंजीवादी लोकतंत्र, जो परम्परागत लोकतंत्री सिद्धान्त है, अब पुराना हो चुका है, क्योंकि वह लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। यदि लोकतंत्र के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना है और उसे सफल बनाने की इच्छा है, तो पूंजीवादी लोकतन्त्र को आमूल नष्ट करने की आवश्यकता है। पुरातन मूल्यों की धज्जियां उड़ चुकी हैं और हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की नीवें हिल गई हैं। जब तक लोकतन्त्र सामाजीकरण के अनन्तर के साधन नहीं पा लेता और जब तक वर्तमान आर्थिक असमानता को नष्ट नहीं कर देता, तब तक इसका भविष्य संदेहपूर्ण रहेगा। हमारी राजनीतिक आवश्यकताएं सद्-जीवन में से उत्पन्न हुई हैं। एक शासन के रूप में, यदि लोकतन्त्र अच्छा जीवन प्रदान करने में असफल रहता है, तो इसका स्थान राज्यहीन समाज को दिया जा सकता है, जहां

1. Burns, C.D. Democracy, p 80.
2. See Chap. XII.

न तो सामाजिक और न आर्थिक विषमता विद्यमान होगी। इस प्रकार का समाज कहां तक क्रियाशील होगा, कोई भी पहले से नहीं कह सकता। किंतु साथ ही कोई भी इंकार नहीं कर सकता कि जब तक लोकतंत्र अपना स्वतः सुधार नहीं कर लेता, तब तक लोकतंत्र को हमेशा खतरा ही है।

Suggested Readings

Bryce, J.—Modern Democracies, Vol. I, Part II; Vol., II, Part III.
Burns, C. D.,—Democracy : Its Defects and Advantages.
Dealey, J. Q.—The State and Government. Chapts. X-XI.
Faguet, E.—The Cult of Incompetence.
Follet, M. P.,—The New State, Chapts. XVI-XXI.
Garner, J. W.—Introduction to Political Science, Chapts. VI-VII.
Garner, J. W.—Political Science and Government, Chapts. XIII-XVI.
Hearnshaw, F. J. C.—Democracies at the Crossways.
Lindsay, A. D.—Essentials of Democracy.
Lindsay, A. D.—The Modern Democratic State.
MacIver, R. H.,—The Modern State, Chapts. XI-XII.
Maine, H.—Popular Government, Chapt. I (1885).
Mill, J. S.—Representative Government (1890).
Sait, E.M.,—Democracy (1929).
Seeley, J.R.,—Introduction to Political Science, Lectures II, VI-VI
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chapts. XXII, XXX.
Wallas, G.—Human Nature in Politics.
Wells, H. G.—Democracy under Revision.

अध्याय : : १२

सरकार के रूप (क्रमशः)

Forms of Governments (contd.)

एकात्मक और संघीय सरकारें
(Unitary & Federal Governments)

एकात्मक सरकार (Unitary Government)—एकात्मक सरकार वह है, जिसमें शासन सम्बन्धी सब अधिकार संविधान द्वारा अकेले केन्द्रीय अंग या अंगों में निहित होते हैं। सर्वोच्च शक्ति केन्द्रीय सरकार की होती है, जो राज्य को बनाने वाली सब इकाइयों पर नियंत्रण का प्रयोग करती है। शासन विषयक सुविधाओं के लिए राज्य को विभिन्न इकाइयों में बांटा जा सकता है किन्तु सारी अधिकार शक्ति *केन्द्रीय सरकार से उत्पन्न होती है। इन प्रशासन इकाइयों का अपना निजी मौलिक अस्तित्व* नहीं होता। वे केन्द्रीय सरकार की रचनाएं होती हैं और उसकी इच्छा के अनुसार उन्हें बदला जा सकता है। इकाइयों के द्वारा प्रयोग की जाने वाली अधिकार शक्ति केवल प्रदत्त एवं सहायक अधिकार शक्ति होती है, जिसे केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर वापिस किया जा सकता है। इसलिए, प्रशासन इकाइयां केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि हैं और "जो भी स्वायत्तता अथवा सरकार विषयक योग्यता उन्हें सौंपी जा सकती है, उसका अस्तित्व वैधानिक गारन्टी की बजाय स्वीकृति द्वारा होता है।

ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारें एकात्मक हैं। ग्रेट ब्रिटेन स्थानीय क्षेत्रों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान करता है किन्तु उनकी शक्तियों और कृत्यों को परिवर्द्धित रूप में लंदन से नियमित किया जाता है। इस तरह की सब शक्तियां पार्लियामेंट के अधिनियमों से प्राप्त की जाती हैं, जिन्हें उसकी इच्छा के अनुसार विस्तृत या सीमित किया जा सकता है। साथ ही वहां पर्याप्त रूप में प्रशासन नियंत्रण भी होता है और जैसा कि ओग (Ogg) कहते हैं, "जो भी हो, सब ने बताया कि केंद्रीय नियंत्रण विस्तृत और गहरा, दोनों ही है; न केवल यही, बल्कि यह क्रमशः नई अवस्थाओं और स्तरों की तह तक जाने वाला भी है।"[1]

फ्रांस एकात्मक सरकार का विशिष्ट उदाहरण है। सारा देश प्रशासन इकाइयों में विभाजित है, जिन्हें "विभाग" कहा जाता है, इन विभागों को प्रान्तों, शासन विभागों तथा समुदायों में उपविभाजित किया गया है, जहां स्थानीय प्रशासन के लिए प्रत्येक के अपने अंग हैं। किन्तु सामान्य मत यह है कि फ्रांस में स्थानीय सरकार की बात कहना प्रायः गलत बात है।[2] फ्रांसीसी स्थानीय सरकार का सार केंद्रीकरण है,—"केंद्रीकरण को उसकी चरम सीमा तक उन्नत किया गया है। सारी अधिकार शक्ति आंतरिक और

1. Op. cit. p. 366
2. Ibid, p. 583

ऊपरी दिशा में केन्द्रित होती है।"[1] स्थानीय अंग केन्द्रीय सरकार के केवल प्रतिनिधि हैं। समुदायों से लेकर आंतरिक सचिवालय तक प्रशासन एक शृंखला के साथ जुड़ा हुआ है। आंतरिक सचिवालय केवल "बटन दवाता है—सेनानायक, उपसेनानायक और मेयर बाकी का काम देते कर हैं। सभी तारों की दिशा पैरिस की ओर है।" फ्रांस में स्थानीय सरकार के स्वरूप की वस्तुस्थिति को ओग ने सार रूप में प्रकट किया है। वे कहते हैं, "यही नहीं कि वहां शासन विपयक अधिकार-शक्ति के वैधानिक रूप से कोई पृथक क्षेत्र नहीं है, प्रत्युत, वास्तव में वहां एक सरकार है, जो पैरिस स्थित मन्त्रिमंडलों और पार्लियामेंट तथा देश भर में कौन्सिलों और सेनानायकों द्वारा समान रूप में कार्य कर रही हैं। स्थानीय क्षेत्रों में शासन करनेवाले केवल ऐसे अंग, स्थानीय संस्थाओं को केवल ऐसे अधिकार हैं, जो राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रदत्त हैं। अन्ततः पैरिस स्थित केन्द्रीय सरकार के हाथों में सभी सूत्रों को जोड़ लिया जाता है। इससे भी ज्यादा, शासन विभागों और समुदायों की संपूर्ण यांत्रिकता को राजधानी में एक ही सचिवालय अर्थात् आंतरिक सचिवालय में समाविष्ट कर दिया जाता है।"[2]

१९१९ के एक्ट के अधीन भारत सरकार का स्वरूप भी एकात्मक था। यद्यपि प्रान्तों को द्वैध शासन के रूप में आंशिक उत्तरदायी शासन दिया गया था और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विपयों को विभाजित करके प्रान्तों को प्रान्तीय विपयों पर विधान बनाने की स्वीकृति दी गई थी तथापि भारत सरकार प्रान्तीय सरकार के प्रवन्धक और वैधानिक —सब मामलों में सर्वोच्च थी। १९१९ के एक्ट ने भारत के नागरिक और सैनिक शासन की देख-रेख, निर्देशन और नियंत्रण कौंसिल सहित गवर्नर जनरल को सौंपा था जिसे भारत सचिव से प्राप्त होने वाले ऐसे सभी आदेशों का उचित पालन करना होता था। गवर्नर जनरल को केन्द्रीय विधान-सभा द्वारा स्वीकृत कानूनों को स्वीकार करने, रद्द करने, या उसके अभिप्राय को ठीक तरह से समझने के लिए संरक्षित रखने और अधिक विचार के लिए पुनः लौटाने के विस्तृत अधिकार थे। इसी प्रकार की शक्तियों का वह प्रान्तीय धारा-सभाओं द्वारा स्वीकृत बिलों के विपय में भी प्रयोग कर सकता था। भारतीय विधान-सभा ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों और सभी बातों के लिए कानून बनाने की क्षमता रखती थी सिवा इसके कि १९१९ के एक्ट के अनुसार वर्गीकरण किए किसी प्रान्तीय विपय को नियमित करने वाले किसी कानून को लागू करने के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति लेनी होती थी। इसी प्रकार केन्द्रीय विधान-सभा को ब्रिटिश भारत के किसी भी भाग में लागू किसी भी कानून को भंग करने या उसमें सुधार करने का अधिकार था सिवा इसके कि प्रान्तीय विधान-सभा के किसी भी विधेयक को प्रचलित करने या किसी अधिनियम का खंडन करने या उसमें सुधार करने के पूर्व गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी।

एकात्मक सरकार के गुण (Merits of Unitary Government)—एकात्मक सरकार का बड़ा गुण कानून-विपयक नीति और प्रशासन की समानता में निहित है, जो वह देश भर में प्राप्त करती है। किन्तु जहां प्रवन्धक और संवैधानिक अधिकार शक्ति केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों में विभाजित होती है और प्रान्तीय सरकारें अपने

1. Munro, op. cit. p. 566
2. Op. cit. p. 583

अधिकार क्षेत्र में स्वायत्त होती हैं, वहां राष्ट्रीय सरकार दुर्बल होती है, क्योंकि नीतियों और कानूनों में विभिन्नताएं होती हैं। एकात्मक प्रशासन में आन्तरिक शक्ति होती है। यह विनाशकारी शक्तियों को रोकता है और प्रशासन को विनाश से रक्षा करता है। "विदेश नीति और राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्रों में केंद्रीय सरकार की शक्ति विशेष रूप से प्रकट होती है।" अन्ततः यह कहा जाता है कि एकात्मक सरकार का संगठन सरल होता है, और इसलिए कम खर्चीला होता है। उसमें राजनीतिक संस्थाओं का दोहरीकरण नहीं होता।

एकात्मक सरकार के दोष (Defects of Unitary Government)—किन्तु आजकल के विस्तृत प्रदेशों वाले राज्यों का शासन केन्द्र द्वारा प्रभावशाली और उत्तम रीति से नहीं चलाया जा सकता। केन्द्रीय सरकार के पास न तो समय होता है और न ही स्थानीय आवश्यकताओं का उसे आवश्यक ज्ञान होता है। वर्तमान काल में केन्द्रीय सरकारें राष्ट्रीय महत्व के कार्यों के लिए असामयिक सिद्ध हो चुकी हैं, और इस प्रकार न तो उनमें स्वतः प्रेरणा है और न ही वे स्थानीय मामलों के लिए समय निकाल सकती हैं। इसलिए, स्थानीय क्षेत्र उन्नति नहीं कर सकते। एकात्मक सरकार की "प्रवृत्ति स्थानीय उत्साह को दबाने की होती है, सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी की वृद्धि प्रदान करने की अपेक्षा निरुत्साहित करती है, स्थानीय सरकारों की उपयोगिता को क्षीण करती है, और केन्द्रीभूत नौकरशाही के उन्नत होने में सहायक होती है।"[1] इसलिए, स्थानीय क्षेत्रों के लोगों को उन प्रदेशों को प्रभावित करने वाले मामलों का नियंत्रण अपने ऊपर लेना चाहिए, क्योंकि कल्पना यह की जाती है कि स्थानीय लोगों को अपनी निजी आवश्यकताओं का सर्वोत्तम ज्ञान होता है।

संघीय सरकार
(Federal Government)

एकात्मक सरकार से भिन्न संघीय सरकार एक द्विमुखी सरकार होती है। यह सरकार

[illegible]

उन्हें प्रदान की गई होती हैं। एकात्मक सरकार के विपरीत, संघ के अंतर्गत इकाइयों की शक्तियां मौलिक होती हैं, और ग्रहण नहीं की जातीं, वह केंद्रीय सरकार की स्वीकृति नहीं होती, प्रत्युत संविधान की देन होती है। दोनों, केंद्रीय और एकात्मक सरकारों के कार्य-कलाप के निश्चित क्षेत्र होते हैं और दोनों ही अपने अपने क्षेत्रों के अन्तर्गत सर्वोच्च होती हैं। दोनों में से कोई भी किसी के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। केंद्र और इकाइयों के बीच अधिकारों के विभाजन के विषय में कोई भी परिवर्तन कानून द्वारा स्वीकृत विधि से संविधान में संशोधन करके ही किया जा सकता है। केन्द्र में इस बात की क्षमता नहीं कि वह इकाइयों की किन्हीं शक्तियों को बढ़ा सके या घटा सके या वापिस ले

1. Garner, op cit. p. 416

सके। ये इकाइयां स्थानीय प्रशासन के उद्देश्य के लिए केंद्रीय सरकार की प्रतिनिधि संस्था के रूप में कार्य नहीं करतीं। उनकी अधिकार शक्ति न तो प्रदत्त है और न सहायक। बल्कि इसके विपरीत, वह मौलिक और परंपरागत है।

संघीय सरकार का स्वरूप (Nature of Federal Government):— फैडरेशन शब्द लैटिन के फोडेस (fordus) शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ संधि या समझौता है। एक संघीय सरकार का अस्तित्व केन्द्रोन्मुखी शक्तियों (centripetal) या केन्द्रपराङ्मुखी शक्तियों (centrifugal) के फलस्वरूप होता है। जब प्रभु-शक्ति संपन्न और स्वतंत्र राज्य, या तो इसलिए कि वे अलग-अलग विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने में असमर्थ हैं, अथवा इसलिए कि एकाकी रहने के कारण वे आर्थिक रूप में पिछड़े रह गये हैं, स्वेच्छा से मिलने के लिए सहमत होते हैं, तो वह संघीय एकता करते हैं। इस प्रकार की एकता केंद्रोन्मुखी शक्तियों के फलरूप होती है। जिस साधन द्वारा संघ बनता है, वह विद्यमान राज्यों तथा नई इकाइयों के बीच, जिसकी रचना करने के लिए वे सहमत हुए हैं, संधि के रूप में होता है। वे अपनी प्रभु-शक्ति को नव-रचित राज्य को सौंप देते हैं और उसके अविच्छिन्न भाग बन जाते हैं। इस एकता के फलस्वरूप एक केंद्रीय सरकार स्थापित की जाती है, जिसे साझे हित के प्रश्नों को सौंपा जाता है। अन्य विषयों को, जो स्थानीय हित के होते हैं या जिनमें रीत्यागत भिन्नता की स्वीकृति हो सकती है, नये राज्य की इकाइयों के अधिकार के अन्तर्गत क्षेत्रों के लिए छोड़ दिया जाता है। केंद्रीय सरकार और संघीय इकाइयों के बीच विषयों के विभाजन की वैधानिक गारंटी होती है और उनमें से कोई भी दूसरे के हक को छीन या नष्ट नहीं कर सकता। प्रभु-शक्ति न तो संघीय सरकार में निहित होती है और न ही संघ में शामिल हुई इकाइयों में। यह उन दोनों के बीच विभाजित नहीं होती, क्योंकि पूर्व भी अनेक लेखकों ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि प्रभु-शक्ति के विभाजन का अर्थ है प्रभु-सत्ता का विनाश। यह अकेले राज्य में ही निहित होती है और प्रभु-सत्ता का प्रयोग संविधान में निर्धारित विधि के अनुसार वैधानिक संशोधन शक्ति में निहित होता है। इसलिए, संघ के निर्माण में, "यह निश्चित होगा कि अलग अलग राज्यों का लोप हो जाता है, उनकी प्रभु-सत्ता नष्ट हो जाती है और उनके नागरिक, अपने-आपको पुरानी राज-भक्ति से हटा कर राष्ट्रीय एकता के आधार पर, संघीय राज्य की रचना करते हैं।[1]

संघ-राज तब भी बन सकता है जब एकात्मक राज्य के भागों की स्वायत्त इकाइयों के रूप में रचना हो जाती है। केंद्रीय सरकार सामान्य हित के विषयों का प्रबंध कर सकती है, शेष इकाइयों को सौंपे जा सकते हैं और प्रत्येक भाग अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत सर्वोच्च होता है। इस अवस्था में केंद्रपराङ्मुख शक्तियां (centrifugal forces) कार्यान्वित होती हैं। १९१९ के एक्ट के अनुसार भारत सरकार एकात्मक थी। भारत सरकार के १९३५ के एक्ट के अधीन संपूर्ण ११ प्रांतों और उन रियासतों के सम्मिलन से संघीय राज्य का आविर्भाव हुआ था, जिन्होंने संघ-प्रवेश (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने के बाद संघ में सम्मिलित होना स्वीकार किया था। भारत का संविधान अनिवार्यतः संघीय स्वरूप का है। यह घोषणा करता है कि "भारत राज्यों का

1. Gettel, op. cit., p. 183.

संघ होगा"[1] और भारत का प्रदेश अब नौ गवर्नरी राज्यों,[2] दस चीफ कमिश्नरी राज्यों[3] नौ भारतीय रियासतों या रियासतों के संघ से,[4] और ऐसे अन्य प्रदेशों से जिन्हें हस्तगत किया जा सकता है, बना हुआ है। भारतीय संघ की दशा में पराङ्मुख और केन्द्रोन्मुख (centrifugal and centripetal) शक्तियां काम कर रही हैं। गवर्नरी राज्यों की दशा में पराङमुख शक्तियां उन्हें स्वायत्त इकाइयों मे निर्मित करके कार्य करती हैं। किन्तु केन्द्रोन्मुख शक्तियां भारतीय रियासतों या रियासतो के संघ की दशा में कार्य करती हैं।

संघ की परिभाषा (Federation Defined)—नाथन (Nathan) संघ की परिभाषा करते हुए कहते हैं, "अपेक्षाकृत छोटे राज्यों का समूह, जिनमें से प्रत्येक अपनी प्रथक सत्ता को स्थिर रखते हुए, पारिभाषित सामान्य उद्देश्य के लिए एक संघ के रूप में एक-दूसरे के साथ मिलते हैं, जो, कम-से-कम सैद्धांतिक रूप में, विघटनशील नहीं है।" डाइसी (Dicey) के कथनानुसार, यह "एक राजनीतिक समझौता है, जिसकी प्रवृत्ति राज्य अधिकारों की स्थिरता के साथ राष्ट्रीय एकता निर्माण करने की है।" मैकाइवर कहते हैं कि संघ की विशेषता है कि यह "अंगभूत या अंग राज्यों और वृहद् राज्य के बीच, जो वह परस्पर मिल कर बनते है, प्रभु-सत्ता शक्तियों का नियमित विभाजन है। इसका अर्थ यह है कि संघ की प्रत्येक अंगभूत इकाई की अपनी निजी पूर्ण सरकार होती है—उसमें विधान सभा, प्रबंध विभाग और न्याय विभाग होते हैं—और साथ ही संघीय अथवा केंद्रीय सरकार भी "राज्यों के पूर्ण गठजोड़" के लिए होती है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र अमरीका ४८ राज्यों का संगठन है और इनमें से प्रत्येक राज्य का निजी गवर्नर, पार्लियामेंट और न्याय विभाग है। इसी प्रकार वाशिंगटन में भी, प्रबंध विभाग, विधान निर्माण विभाग और न्याय विभाग—सरकार का वही रूप है। भारत में भी, प्रत्येक राज्य और रियासतों के प्रत्येक संघ मे अपना निजी गवर्नर या राजप्रमुख, मंत्रिमंडल, विधान सभा और न्याय विभाग है। और नई दिल्ली मे संघीय सरकार है, जिसके तत्समान अंग हैं—प्रेसिडेंट, मन्त्रिमंडल, लोकसभा, सर्वोच्च न्यायालय। संघीय सरकार संपूर्ण उपनिवेश के लिए है। किंतु सरकारों की दोनों श्रेणियां संविधान द्वारा सौंपे गए भिन्न-भिन्न विषयों पर कार्य करती हैं, प्रत्येक भाग अपने निजी कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत उच्चतम बना रहता है। इस तरह, संघवाद एक समझौते का परिणाम है। एक ओर तो कतिपय सामान्य उद्देश्यों के लिए एकता की इच्छा होती है, किंतु दूसरी ओर, संघ में शामिल होने वाली इकाइयां अन्य सब उद्देश्यों के लिए अपने पृथक अस्तित्व को बनाए रखने को उत्सुक होती हैं।

---

१. धारा १ (१)

२. आसाम, बिहार, बंबई, मध्य प्रदेश, मदरास, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, और प. बंगाल, Part A States of the first schedule, p. 203.

३. अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, और त्रिपुरा, Part C States of the First schedule, p. 205.

४. हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर, मध्य भारत, मैसूर, पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासती संघ, राजस्थान, सौराष्ट्र, ट्रावन्कोर-कोचीन, विन्ध्यप्रदेश।

इस संबंध में निम्न वातों को दृष्टि में रखना चाहिए :

१. संघ एकता की अपेक्षा आपसी-संघटन का आविर्भाव करता है। एकता एकात्मक सरकार का सार है। संघ अपने में शामिल होने वाली इकाइयों के स्वरूप को सुरक्षित रहने देता है। वह कुछेक उन विषयों को छोड़कर अपनी स्वायत्तता को स्थिर रखते हैं जो सामान्य राष्ट्रीय हितों के हैं। प्रभु-सत्ता संपन्न राज्य, संघ को इसलिए स्वीकार करते हैं कि वह "संघ में शक्ति है" की धारणा को मानते हैं।

२. संघ में शामिल होने की इच्छा रखने वाले राज्य संघ का निर्माण होते ही अपनी व्यक्तिगत प्रभु-सत्ता खो देते हैं। इस संघ के फलरूप एक नये राज्य का उदय होता है और प्रभु-सत्ता नव-निर्मित संघीय राज्य में निहित हो जाती है।

३. संघीय राज्य का यंत्र दो अंगों से वना होता है, संघीय या केंद्रीय सरकार और संघ में शामिल होने वाली इकाइयां, जिन्हें अमरीका में राज्य (states) और कैनेडा में प्रान्त कहते हैं। भारत में भी उन्हें राज्य (state) की संज्ञा प्रदान की गई है।

४. संघीय राज्य का प्रशासन संघीय सरकार और संघ में शामिल होने वाली इकाइयों के वीच वंटा होता है। संघीय राज्य का अधिकार क्षेत्र उन सब विषयों तक विस्तृत होता है जो संघ के प्रेरक होते हैं अथवा सब के लिए सामान्य हित के होते हैं, अर्थात्, सुरक्षा, मुद्राचलन, वैंकिंग, संचरण और यातायात, आदि। इकाइयों को स्थानीय महत्व और उपयोगिता के विषयों पर नियंत्रण दिया जाता है, जिनमें एकरूपता की आवश्यकता नहीं होती। Federation is made not born.

५. संघ वनाया जाता है, यह उत्पन्न नहीं होता। चूंकि यह समझौते का परिणाम होता है, इसलिए, इसके लिए लिखित संविधान की आवश्यकता होती है। संविधान विशिष्ट रूप में केंद्र तथा इकाइयों के वीच विषयों का विभाजन करता है। दोनों में से कोई एक दूसरे के अधिकार पर छापा नहीं मार सकते। यदि कोई परिवर्तन करने की इच्छा होती है तो उसे संविधान में संशोधन करके किया जा सकता है। संविधानिक संशोधन की विधि संविधान में निश्चित की गई है। इससे संविधान की श्रेष्ठता स्थापित होती है और हम कह सकते हैं कि संघीय राज्य में प्रभु-सत्ता संविधान-संशोधन शक्ति द्वारा प्रयोग में लाई जाती है।

६. राज्यों के वीच अन्य प्रकार के संघों या संधियों के मुकावले में संघ स्थायी संगठन है।

संघ और राज्य संघ (Federation and Confederation):—प्रभु-सत्ता एवं राज्यों के वीच संघटन के एक अन्य रूप को राज्य-संघ (Confederation) कहते हैं। दोनों शब्दों का मूल एक ही है। दोनों का अस्तित्व एक समझौते या संधि के परिणामस्वरूप होता है किंतु उनके अर्थों में मौलिक अन्तर है। हाल (Hall) कहते हैं, "एक राज्य संघ अनिवार्यतः स्वतंत्र राज्यों का संघ होता है जो कतिपय विशिष्ट उद्देश्योंके लिए अपने कार्य करने की स्वतंत्रता के एक भाग को स्थायी रूप में छोड़ देने के लिए सहमत होते हैं। और साझी सरकार के अधीन वह इस तरह मिले होते हैं कि राज्य-संघ अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है।"

राज्य-संघ प्रभु-सत्ता संपन्न राज्यों का संघ है, कतिपय विशिष्ट उद्देश्यों को उन्नत करने या प्राप्त करने के लिए निर्मित किया गया है। इस तरह के संघ का सर्वाधिक स्पष्ट

ध्येय सुरक्षा और विदेशी संबंधों में शक्ति लाभ करना है। इस प्रकार का सब से नवीन उदाहरण नार्थ एटलांटिक पैक्ट (North Atlantic Pact) है, जो ४ अप्रैल १९४९ को वाशिंगटन में हुआ था और जिस पर १२ देशों अमरीका, कैनेडा, ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, इंग्लैंड, लक्समबर्ग, डेन्मार्क, इटली, पोर्चुगाल, नार्वे, आईसलैंड ने हस्ताक्षर किये थे। नार्थ एटलांटिक पैक्ट १२ हस्ताक्षर करने वाले देशों को इस बात के लिए प्रतिज्ञाबद्ध करता है कि आक्रमण की दशा में वह एक-दूसरे सदस्य की सहायता करेंगे। फ्रांसीसी राजदूत, एम. हेनरी बोनट (M. Henry Bonnet) संधि पर टीका करते हुए कहते हैं, "यह सुरक्षा संगठन की दिशा में एक निश्चित कदम है।" और आगे वे कहते है, "आत्म-सहायता और पारस्परिक सहयोग के सिद्धांतो को लागू करके किसी को भी भयभीत न करते हुए, हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र अपने आपको अत्यधिक शक्तिशाली बना लेंगे। नार्थ एटलांटिक क्षेत्र में युद्ध और आक्रमण असंभव हो जायंगे। और इस तरह वह विश्व-शांति की रक्षा के आदर्श की प्राप्ति के लिए सक्रिय मदद करेंगे।"[1]

समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने जो कदम इस दिशा में उठाए उनमें से एक संधि के अनुसार उत्तरी एटलांटिक क्षेत्र के अन्दर आने वाले विभिन्न देशों के लिए बनाई गई सर्वसम्मत सैनिक रक्षा योजना की विस्तृत व्याख्या के रूप में है। जब राज्य महत्वपूर्ण मामलों में स्थायी कार्य के लिए इकट्ठा होते है, जैसा कि ऊपर बताया गया है, तो उनके द्वारा किसी ऐसे सर्वमान्य अंग की स्थापना की जानी होती है, जिसे सर्वमान्य कार्य के विषय में महत्वपूर्ण निर्णय करने का अधिकार दिया जाता है। सिजविक (Sidgwick) कहते हैं, "राज्य-संघ का लक्ष्य तब तक स्थायी रूप में प्राप्त करना संभव नहीं, जब तक कोई ऐसी साझी परिषद् न हो, जिसे संघ के बाहर राज्यों के साथ राज्य-संघ के राज्यों की ओर से किसी प्रकार का व्यवहार करने, और साथ ही साथ युद्ध की दशा में साझे प्रबंध करने का अधिकार न हो।"[2] नार्थ एटलांटिक संघ की ऐसी ही एक निजी परिषद् है, जिसमें १२ राष्ट्रों के विदेश-मंत्री है।

संघ और राज्य-संघ की तुलना (Federation and Confederation compared):—जब साझी सरकार का इस प्रकार का स्थायी अंग स्थापित हो जाता है तो संघ मित्र-संधि की सीमा पार कर जाता है। यह दो बातों में संघ के समान है। संघ और राज्य-संघ, दोनों में भिन्न राज्य किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों के लिए एक-दूसरे के साथ मिलते है, और दो संघों के अधीन साझे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केंद्रीय सरकार स्थापित की जाती है। संघ और राज्य संघ के बीच तदात्मता इन बिंदुओं से परे नहीं जाती। उनके बीच कतिपय मौलिक अंतर होते हैं। प्रथमतः, एक संघ नया राज्य बनाता है। संघ में शामिल होने वाले राज्य अपनी प्रभु-सत्ता खो देते है और नवनिर्मित प्रभु-सत्ता संपन्न राज्य के अंग बन जाते है। एक राज्य-संघ स्वतंत्र राज्यों का संघ होता है और संघ बनाने वाले सभी राज्य अपनी प्रभु-सत्ता को स्थिर बनाए रहते है। प्रत्येक राज्य के निजी भिन्न प्रदेश, अधिवासी, सरकार, और प्रभु-सत्ता होती है।

1. The Statesman (N. Edition) August 26, 1949, p 3.
2. The Elements of Politics, p. 537.

केवल सरकार विषयक अधिकार-शक्ति का एक अंश राज्य-संघ के नव-निर्मित अंग को प्रत्यक्षतः सौंपा जाता है। एक संघ अपने निजी कानून बनाता है, जिन्हें संघीय नियम कहा जाता है और ये नियम संघीय समुदाय की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। राज्य-संघ में ऐसा कुछ नहीं होता। उसमें राज्य अपने साझे हितों के लिए केवल सहमत होते हैं, जिससे कि सर्वमान्य संगठन सरकार के किन्हीं मामलों का प्रबंध कर सके।

एक संघ स्थायी होता है और इकाइयां पृथक नहीं हो सकतीं। किंतु राज्य-संघ के राज्य अपनी इच्छानुसार उसमें से हट सकते हैं। जिस एक्ट द्वारा राज्य-संघ का निर्माण होता है, वह एक ठोस रूप का होता है, जिसमें "अन्तर्राष्ट्रीय परंपरा का समावेश होता है" या राज्यसंघ के नियम होते हैं। इसका अस्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के फलस्वरूप होता है। एक संघ का आधार संविधान होता है और इसलिए, वह न्यायगत है। इसके बाद, एक संघ में, संघ में शामिल होने वाले राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा नहीं होता, और, ऐसा होने पर, वह किसी राज्य के साथ विदेशी संबंध स्थापित नहीं कर सकते। राज्य-संघ में प्रत्येक राज्य-संघ में शामिल होने वाला राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व बनाए रहता है। वह किसी भी अन्य राज्य के साथ विदेशी संबंध जोड़ सकता है। यदि राज्यसंघ में शामिल हुई दो या अधिक इकाइयों में लड़ाई छिड़ जाती है, तो वह अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध है, घरेलू लड़ाई नहीं। किंतु, यदि संघ के सदस्य-राज्यों में युद्ध हो जाता है, तो वह घरेलू लड़ाई है। संयुक्त राज्य अमरीका में उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में दासता के प्रश्न पर हुआ युद्ध इतिहास में १८६१ के अमरीकी घरेलू युद्ध के नाम से विख्यात है। अन्ततः, संघ संघीय-राज्य के नागरिकों के साथ व्यवहार करता है; राज्य-संघ में साझी संस्था संबंधित राज्यों की सरकारों के साथ व्यवहार करती है। यह राज्यों का संघ है लोगों का नहीं। राज्य-संघ के नागरिक या प्रजा नहीं होती, जिनके प्रति वह प्रत्यक्ष आदेश कर सके।

राज्य-संघ के स्वरूप से यह तथ्य निकलता है "कि इसके अंगभूत सदस्य अपनी इच्छा से हट सकते हैं और इस तरह राज्य-संघ को भंग कर सकते हैं, और राज्य-संघ के अधिकारियों के पास ऐसी कोई वैधानिक शक्ति नहीं जिसके बल पर वह जाने वाले सदस्य को रोक सकें और उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य-संघ में शामिल होने के लिए बाध्य कर सकें।"[1] १८६१ के अमरीकी घरेलू युद्ध ने सदा के लिए यह निर्णय कर दिया कि संघ में शामिल होने वाले राज्यों को संघ से हटने की इच्छा का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। एक राज्य-संघ ढीला-ढाला संगठन कहा जा सकता है, जबकि संघ एक परस्पर संबद्ध संगठन होता है। फलस्वरूप, एक राज्य-संघ, स्वभावतः, संघ की अपेक्षा दुर्बल और कम योग्य होता है।

संघ की अनुकूल अवस्थाएं (Conditions favouring Federation)—डाइसी (Dicey) के अनुसार, संघ के निर्माण के लिए दो बातें अनिवार्यतः मौजूद होनी चाहिएं। पहली यह कि संघ बनाने की दृढ़ इच्छा होनी चाहिए। एका करने की इच्छा करना संघ का आधार है। इसका अर्थ यह है कि संघ की अवयवभूत इकाइयों का राष्ट्रीय, आत्मीयता और भावना के सामान्य बंधनों से परस्पर गठबंधन किया जायगा और प्रेरित किया जायगा। उनके सामान्य सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित होने चाहिएं।

---

1. Garner, op. cit. p. 276.

इस तरह की आत्मीयता के अभाव में उनका नये राज्य में सम्मिलन नितान्त कठिन है। तदनुसार, यह आवश्यक है कि :

१. जिन क्षेत्रों को संघ बनाने की इच्छा हो, वे भौगोलिक रूप में पास-पास होने चाहिए। कहने का अर्थ यह है कि संघ में शामिल होने वाले राज्य भूमि अथवा जल के द्वारा एक दूसरे से दूर-दूर नहीं होने चाहिएं। उन्हें एक-दूसरे के इलाके के साथ ही होना चाहिए क्योंकि वह संघ बनाने के लिए सामान्य राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक समस्याओं द्वारा प्रेरणा पाते हैं। भौगोलिक निकटता का अर्थ है हितों का समुदाय। इसके अतिरिक्त संघीय सरकार इकाइयों से अपने निजी प्रशासन को चलाने की ओर साथ ही साथ संघीय सरकार में हिस्सा लेने की मांग करती है।" दूरी से केंद्रीय और स्थानीय सरकार, दोनों में उपेक्षा और कठोरता उत्पन्न हो जाती है। जहां लोग एक-दूसरे से बहुत ही दूर हों, वहां राष्ट्रीय एकता प्राप्त करना कठिन है।"[1] अमरीका में संघवाद की सफलता के कारणों में एक ४८ के ४८ राज्यों का एक-दूसरे के निकट होना है। भारतीय संघ में भी अवयवभूत राज्यों की निकटता है। किन्तु पाकिस्तान के भिन्न भागों के बीच क्षेत्र की निकटता नहीं है। पश्चिमी पाकिस्तान अपने सहायक भाग (Counterpart) पूर्वी भाग से विस्तृत भूमि द्वारा अलग हो गया है। पूर्वी पाकिस्तान, वस्तुतः भारतीय प्रदेश की भूमि से घिरा हुआ है। इसी प्रकार, ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्रों तथा उपनिवेशों की अवस्था में भौगोलिक निकटता नहीं है। वह भूमि अथवा जल के लंबे अंतरों से विश्व भर में फैले हुए हैं। इसीलिए, ब्रिटिश उपनिवेशों के संघ निर्माण की संभावना का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

२. संघ निर्माण की दूसरी अनिवार्य अनुकूलता भाषा, धर्म, संस्कृति, रीतियों और ऐतिहासिक परंपराओं का समुदाय होना है। ये सब अंग राष्ट्रीयता के अंग हैं, और इस कारण, राष्ट्रीय एकता के बंधनों को सुदृढ़ करने में बड़ी भारी शक्ति है। लोगों को जो सामान्य विश्वास परस्पर बांधता है, वह यह है कि उनकी परंपरा एक है, उनकी सामान्य भाषा है, उनका विश्वास एक है और वह एक ही संस्कृति की रक्षा करते हैं। एक जैसे सामान्य हितों का समुदाय ही लोगों को संगठित करता है और "संघवाद का लक्ष्य संघटित राष्ट्र का निर्माण करता है और पूर्ण एकता मांग करती है कि राज्य और राष्ट्रीयता की सीमाएं समावृत्त हों।"[2] संघ नये राज्य की रचना करता है और नये राज्य की विद्यमानता लोगों की राष्ट्रीय-शक्ति पर निर्भर करती है। संयुक्त भारतीय संघ की संभावनाएं क्षीण थीं, क्यों कि एम. ए. जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग सदा जुदा मुस्लिम राष्ट्र के सिद्धान्त पर चलती थी। युक्ति यह दी जाती थी कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच कुछ भी साझा नहीं है जो उन्हें राज्य में सम्मिलित कर सकता हो। कहा जाता था कि उनके धर्म, रीतियां, संस्कृतियां और ऐतिहासिक परंपराएं एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि दोनों जातियां सदियों से एक ही भाषा बोलती रही हैं, एक ही भूमि पर रहती रही हैं, और उनकी कई साझी रीतियां रही हैं। यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि संयुक्त भारतीय संघ का भविष्य उज्ज्वल था बशर्ते कि भारतीय एकता के शत्रुओं द्वारा अलग होने की प्रवृत्ति को इतनी भयंकरता के साथ ठूसा न जाता। यदि स्विट्जरलैंड और

1. Gilchrist, op. cit., p. 359.
2. Ibid.

संस्था-केन्द्रीय या राज्य-नियम बनाने वाली सहायक संस्था है। प्रभु-सत्ता नव-निर्मित राज्य में होती है और उसका प्रयोग संविधान-संशोधन अधिकारी शक्ति द्वारा किया जाता है।

२. शक्तियों का विभाजन (Distribution of Powers):— एकात्मक रूप की सरकार में संपूर्ण शक्ति केन्द्र में केन्द्रित होती है परन्तु संघवाद में शक्तियों का विभाजन होता है। इस तरह, संघ में सरकार विषयक अधिकार क्षेत्र केंद्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच विभाजित होते हैं, प्रत्येक को अपने निजी क्षेत्र के अन्तर्गत स्वायत्तता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, एकात्मक सरकार में उस के भाग प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हैं जब कि संघ के अवयवभूत भागों की शक्तियां मौलिक और संविधान द्वारा प्रदत्त होती हैं। सभी संघों में शक्तियों के विभाजन को शासित करने वाला आधार-मूलक सिद्धांत एक ही होता है यद्यपि विभाजन के विस्तृत रूप संघीय इकाइयों की विलक्षण अवस्थाओं और आवश्यकताओं के अनुसार तथा वे उद्देश्य जिनके कारण संघ का उदय हुआ, भिन्न होते हैं। सामान्य हित के मामले, जिनका संबंध समग्र रूप में राष्ट्र से होता है संघीय या केन्द्रीय सरकार को सौंपे जाते हैं, जैसे, सुरक्षा, विदेशी मामले, संचरण और यातायात के साधन, टकसाल और मुद्राचलन के नियम, सिक्केबंदी और अधिकार-रक्षा तथा तटस्थता आदि के नियम। स्थानीय संबंधित अन्य मामले, अथवा, विलक्षण अवस्थाओं के कारण जिनके साथ भिन्न व्यवहार किया जाता हो, अवयवभूत इकाइयों की सरकारों के लिए छोड़ दिये जाते हैं।

३. संघीय न्याय-विभाग (A Federal Judiciary) :—संघ में सर्वोच्च या संघीय न्यायालय की आवश्यकता अनिवार्य है, जिसे संविधान की परिभाषा करने का अधिकार हो। संघीय-न्याय-विभाग दो महत्वपूर्ण कार्य करता है। (१) यह केंद्र और इकाइयों अथवा एक या अन्य इकाई के बीच अधिकार संबंधी झगड़ों का फैसला करता है, और (२) यह विभिन्न सरकारों को अपनी उचित सीमाओं में रखता है, जिससे कोई एक दूसरे के अधिकार को न छीने। संघ में इस तरह का न्याय विभाग संघीय संविधान का संरक्षण करता है। यह देखना कि सरकारें संविधान के अनुसार कार्य करती हैं और संघीय तथा राज्य कानूनों की वैधता या अवैधता पर निर्णय घोषित करना, जजों का कर्त्तव्य है।

संघीय संघ के प्रकार (Types of Federal Union):—केंद्र और इकाइयों के बीच शक्तियों के विभाजन का स्वरूप संघीय संघ के प्रकार का निश्चय करता है। तीन प्रकार के संघीय संविधान हैं—अमरीकी, कैनेडियन और भारतीय। संघीय संघ की अमरीकी प्रकार के अनुसार संविधान में निर्दिष्ट कतिपय विषय संघीय सरकार को सौंपे जाते हैं, शेष संपूर्ण या 'अवशिष्ट' मामलों को अंगभूत राज्यों के लिए छोड़ दिया जाता है। यह एक विधि है, जो संयुक्त राष्ट्र अमरीका और आस्ट्रेलिया में प्रयुक्त की जाती है। वाशिंगटन और कैनबैरा की सरकारें संविधान में विशिष्ट धाराओं के अनुसार अपनी शक्तियों में मर्यादित की गई हैं और सब अवशिष्ट शक्तियाँ राज्य सरकारों के पास रहती हैं।

कैनेडियन ढंग के संविधान में विपरीत विधि नियोजित की जाती है। कतिपय विशिष्ट अधिकार अंगभूत राज्यों को दिये जाते हैं और सब अवशिष्ट शक्तियां संघीय सरकार के

लिए छोड़ दी जाती हैं। कैनेडा उपनिवेश इस तरह के संघीय मत का आदर्श उदाहरण है। यहां प्रांतीय सरकारों के अधिकार १८६७ के उत्तर अमरीका एक्ट में स्पष्ट किये गए हैं और बाकी सब अधिकार ओटावा स्थित औपनिवेशिक सरकार के हैं।

१९३५ के भारत सरकार के एक्ट ने तीसरे प्रकार के संघीय मत की रचना की। इसके असाधारण रूप ये थे : (१) विशिष्ट अधिकार केंद्र और प्रांतों को दिये गए थे, (२) इसके बाद, समानवर्ती (concurrent) शक्तियां थीं, और (३) एक्ट ने गवर्नर-जनरल को विशिष्ट अधिकार सौंपे थे। गवर्नर-जनरल इस बात का निश्चय करने के लिए अंतिम अधिकारी थे कि एक विशेष विषय, जो संघीय, प्रांतीय या समानवर्ती विषय-सूची में विशेष रूप से परिगणित नहीं किया गया, केंद्रीय सरकार का है या प्रांतीय सरकार का। इस बात की भी गुंजाइश की गई थी कि संघीय विधान सभा प्रान्तीय सूची के किसी विषय पर कानून-निर्माण कर सकती थी, बशर्ते कि दो या अधिक प्रांतों की धारा-सभाएं ऐसा करने की इच्छा रखती हों।

भारत के संविधान ने भारत सरकार एक्ट, १९३५ का सही-सही अनुगमन किया है। विशिष्ट अधिकार संघीय[1] और राज्य सरकारों[2] को दिये गए हैं, इसके साथ ही समानवर्ती विषय-सूची[3] भी है। किंतु अवशिष्ट अधिकार केंद्र के ही रहे।[4] यह आदेश किया गया है कि किसी प्रकार के टैक्स सहित यदि कोई अन्य मामला राज्य-सूची या समानवर्ती, दोनों सूचियों में से किसी एक में उल्लिखित न हो, तो वह नई दिल्ली में स्थित संघ सरकार के क्षेत्र के अन्तर्गत होगा। अन्ततः, संविधान निर्देश करता है कि संसद् किसी विषय पर कानून-निर्माण कर सकती है, जिसके विषय में वह न्यायाधिकार नहीं रखती, बशर्ते कि एक या अधिक राज्यों की विधान-सभा वैसा करना उचित समझे। इस ढंग से संसद् द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई एक्ट इस तरह के राज्य या राज्यों पर तथा किसी अन्य राज्य पर भी लागू हो सकेगा जिसे बाद में उसने अपने राज्य की विधान सभा के प्रस्ताव द्वारा उसे स्वीकार किया हो।

संघवाद के लाभ (Advantages of Federalism) : वर्तमान में विश्व जिन अनेक आर्थिक और राजनीतिक बुराइयों से पीड़ित है, संघवाद उनके लिए रामबाण समझा जाता है। वस्तु-स्थिति यह है कि आज के अति-विशिष्टीकरण, एकाधिकारीकरण और साम्राज्यवाद के युग में, अधिक भूमि और अधिक बाजारों की भूख ने संघवाद के आंदोलन को विस्तार प्रदान किया है। यहां तक कि विश्व-संघ के लिए भी आंदोलन मौजूद है। परन्तु संघवाद को उसके वर्तमान रूप में स्वीकार करते हुए और विश्वसंघ की संभावना के विषय में राजनीतिक दावपेच में प्रवेश किए बिना यह कहा जा सकता है कि सरकार के वर्तमान रूप संघीय सरकार के ढांचे में भली भांति समा सकते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध ने पूर्णतया प्रदर्शित कर दिया है कि छोटे स्वतंत्र राज्यों का आधुनिक प्रतिद्वंद्वी राज्यों के बीच अस्तित्व नहीं रह सकता।

इस प्रकार, संघवाद एक विधि है, जो छोटे और बड़े दुर्बल राज्यों का संघ बनाती

1. Seventh Schedule, List I, Union List, p. 236.
2. Ibid, List II, State List, p. 243.
3. Ibid, List III, Concurrent List, p. 247.
4. Ibid, List (I) 97, p. 243.

है, जिनका अस्तित्व अन्यथा चिंतनीय हो सकता है। संघवाद का सिद्धांत एका है और ऐक्य में शक्ति निहित है। छोटे राज्यों में संघ निर्माण के परिणामस्वरूप राजनीतिक और आर्थिक स्थिरता आती है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, संघवाद संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों को मान प्रदान करता है। "संयुक्त राष्ट्र जैसे बड़े राष्ट्र का सदस्य होना स्वतंत्र वर्जिनिया या टैक्सास के नागरिक बने रहने की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठास्पद है।"[1] संघवाद का आशय संघ में शामिल होने वाली इकाइयों के व्यक्तित्व की बलि देना नहीं है। बल्कि इसके विपरीत यह राष्ट्रीय एकता के साथ स्वायत्तता का सामंजस्य करता है। एक संघ केंद्रोन्मुख शक्तियों और केन्द्र-पराङ्मुख शक्तियों के बीच समता प्रदान करता है, विशेषकर, भारत जैसे देश में, जहां अधिक विस्तार के साथ विभिन्न प्रवृत्तियां हैं। यह एक ऐसा यंत्र है, जहां भिन्नताओं को मान्यता दी जाती है और उन्हें पूरा-पूरा कार्य करने का अवसर दिया जाता है। संघीय सरकार को ऐसे कृत्यक सौंपे जाते हैं, जो देश के राष्ट्रीय जीवन के लिए अनिवार्य माने जाते हैं। स्थानीय महत्व के अन्य विषयों को इकाइयों के प्रशासन के लिए छोड़ दिया जाता है। इस ढंग से संघवाद केन्द्रीकरण और विकेंद्रीकरण का सुखकर मेल उपस्थित करता है। इसमें केंद्रीकरण है, क्योंकि संघ की अनिवार्य रचना राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए की जाती है। किंतु संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयां, उसके साथ ही, अपनी स्वतंत्रता के लिए क्रियाशील होती हैं; वह किसी भी मूल्य पर अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए यत्नशील होंगी। फलस्वरूप, एक संघ एकाकी निरंकुशता के उत्कर्ष को रोकता है। यह एकात्मक सरकार का अंग है। किंतु एक एकात्मक सरकार कितनी भी अच्छी और योग्य हो, वह स्व-शासन की स्थानापन्न नहीं हो सकती। स्व-शासन संघ की कसौटी है।

ब्राइस का कथन है कि संघवाद स्थानीय विधान-निर्माण और प्रशासन में प्रयोग करने की स्वीकृति देता है, जिनका यदि एकात्मक सरकार में प्रयोग किया जाय, तो घातक सिद्ध हो सकते हैं। इस तरह के प्रशासन का स्वरूप सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी को वृद्धि प्रदान करता है और नागरिक भावना का उदय करता है। कृत्यकों का विभाजन प्रशासन में योग्यता लाने वाला है। इसका आशय केंद्र और इकाइयों के बीच कृत्यकों का विभाजन भी है। इसके अतिरिक्त, संघ को आर्थिक यंत्र भी कहा जाता है, क्योंकि यह राजनीतिक व्यवस्थाओं की दोहरीकरण से रक्षा करता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र अमरीका ४८ राज्यों का संगठन है। यदि ये सब ४८ राज्य संघ में सम्मिलित न होते, तो उनमें से हरएक, प्रभु और स्वतंत्र राज्य होने के नाते, प्रशासन को चलाने के लिए सरकार-विषयक अपने निजी संगठन को बना लेता। इसका अर्थ सीमित राजस्वों वाले लघु राज्यों के लिए असहनीय व्यय होता। किंतु यह सब व्यय संघीय संगठन की रचना से बच जाता है। संघ प्रतिद्वंद्वी राज्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा और अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता को दूर करने में सहायक होता है।

संघ की विधि से कई लघु राज्यों का लोप हो जाता है। एक लघु राज्य अपेक्षाकृत बड़े राज्यों के बीच सदैव कलह का प्रश्न बना रहता है। संघ लघु राज्यों को, क्रियात्मक रूप में समान शर्तों पर संगठित करता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमण के अवसर दूर हो जाते हैं। स्वतंत्र राज्यों के स्वेच्छापूर्वक संगठन ने "विजय के बिना सम्मिश्रण को संभव

1. Op cit., p. 365

बनाया है।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में संघ सुदृढ़, संयुक्त और एक-स्वर विदेश नीति की रचना करता है, क्योंकि इसमें राष्ट्र का एक रूप होता है। रूस ने जिन उल्लेखनीय सफलता को प्राप्त किया है, वह उन सब देशों के लिए आदर्श शिक्षा है, जिनमें कई जातियां और राष्ट्रीयताएं समाविष्ट हैं और जो भाषा, धर्म, परंपरा और रीतियों में भिन्न हैं। संघ के बिना इन सब जातियों और राष्ट्रीयताओं ने, जो वर्तमान में रूसी संघ में सम्मिलित हैं, इस प्रकार की आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति प्राप्त न की होती। गत ३० वर्षों में रूस ने जो उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है, वह मि. जिन्ना और उनकी मुस्लिम लीग के संयुक्त भारत में संघीय रूप की सरकार के धर्मान्ध विरोध को झूठा कर देती है।

संघ की हानियां (Disadvantages of Federation)—संघ की दुर्बल रूप की सरकार कह कर अलोचना की गई है। यह कहा जाता है कि एकात्मक सरकार संगठन की दृष्टि से सरल और निश्चित होती है। किन्तु संघ का आशय द्वि-प्रणाली की सरकार है। केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच अधिकार शक्ति का विभाजन प्रशासन की सामान्य गति में दुर्बलता और अयोग्यता पैदा करता है। विधान-निर्माण की दोहरी प्रणाली अनावश्यक व्यय और विलम्ब की हेतु है। इसके अतिरिक्त विधान-निर्माण और प्रशासन में संघर्ष की संभावनाएं भी होती हैं, विशेषकर, उस दशा में जबकि संघीय विधान का मसौदा बुरे ढंग का हो या बुरे ढंग से निर्धारित किया गया हो। इसका आशय ऐसे मामलों के विषय में विधान-निर्माण की भिन्नरूपता भी है जिसके लिए समानता की आवश्यकता होती है।

संघ के लिए लिखित और कठोर संविधान की आवश्यकता होती है। इसका उद्देश्य राष्ट्र के जीवन का उप-विभाजनीकरण होता है। संविधान का संशोधन ठीक होने के कारण उसे देश की परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार सरलतापूर्वक ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह भी संभव है कि कुछ सरकारों की असमान नीति उन्नति के मार्ग में अनावश्यक बाधाओं की उत्पत्ति कर दे। उदाहरण के लिए, अमरीका में संवैधानिक संशोधन के लिए आवश्यक है कि सीनेट की दो-तिहाई बहुसंख्या द्वारा स्वीकृत होने के बाद राज्यों की तीन-चौथाई संख्या उसका समर्थन करे। समर्थन की यह प्रणाली अत्यधिक संकुचित है, क्योंकि ४८ राज्यों की संपूर्ण संख्या में से १३ लघु राज्य परस्पर एका कर सकते हैं और बहुसंख्या के अत्यावश्यक संवैधानिक परिवर्तन के यत्न को रोक सकते हैं। अधिकारों की संवैधानिक विभाजन की विधि भी दोषयुक्त है। पूर्वत जो कुछ जुदा इकाइयों के लिए सुरक्षापूर्वक छोड़ा गया था, वह समयान्तर और बदली हुई अवस्थाओं के अधीन, राष्ट्रीय नियमितता और निर्णय की मांग कर सकता है। "इस प्रकार केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों के बीच उचित समन्वय निरंतर कठिनाई का कारण बन जाता है, और विद्रोह अथवा श्रेणीगत भागों के निर्माण का सदैव भय बना रहता है।"[2]

संघवाद के अलोचकों का मत है कि विदेशी मामलों में, यह दुर्बलता एवं अस्थिरता का परिचय देता है। "संयुक्त राष्ट्र अमरीका के अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया है कि संघ

1. Gettel, op. cit., p. 187
2. Ibid, p. 183.
3. Garner, op. citd., p. 420

में प्रधान को उसके कामों में सहायता देने तथा सम्मति देने के लिए मंत्रियों की परिषद् होगी,[1] और मंत्री सामूहिक रूप में लोकसभा[2] के प्रति उत्तरदायी होंगे। फलस्वरूप, भारत के प्रधान के अधिकार फ्रांस में उसके मौलिक-आदर्श की तरह व्यापक होंगे।

जहां वास्तविक प्रबंधक अधिकारी मंत्रि-परिषद या मंत्रियों की संसद होती है, हम उसे मंत्रि-परिषद रूप की सरकार कहते हैं। मंत्री सामान्यतः विधानसभा के सदस्य होते हैं और बहुसंख्यक दल के होते हैं। कभी-कभी कोई मंत्री विधान सभा का निर्वाचित सदस्य नहीं भी हो सकता। भारत के संविधान के अनुसार कोई मंत्री संसद के किसी भी सदन का निरंतर ६ मास की अवधि तक सदस्य न होते हुए भी मंत्री बना रह सकता है,[3] किंतु इस प्रकार का मंत्री उस अवधि की समाप्ति पर तब तक मंत्री नहीं रह सकता, जब तक वह नियमित रूप में चुना न जाय। जो भी हो, मंत्रि-परिषद के सदस्यों को, चाहे वे निर्वाचित हों अथवा नहीं, विधान सभा में पद-ग्रहण करने, सुना जाने और उसके विचार-विमर्श में भाग लेने का विशेषाधिकार होता है, किंतु जब तक वह सदस्य न हों, उन्हें मत देने का अधिकार नहीं होता। मंत्रि-परिषद सामूहिक रूप में अपने सब प्रशासन और विधान विषयक कार्यों के लिए लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। वैधरूप में मंत्री राज्य के मुख्य प्रबंधक अधिकारी के प्रसाद-पर्यन्त पद ग्रहण करते हैं।[4] किंतु उत्तरदायीरूप की सरकार में वैध सत्य राजनीतिक असत्य होता है। एक मंत्रि-परिषद सरकार इस प्रमाणित सिद्धांत पर कार्य करती है कि मंत्री लोग अपने सब सरकारी कामों के लिए विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हैं और वे उस काल तक पद पर बने रहेंगे, जब तक सभा का उनमें विश्वास होगा।

विधान सभाके प्रति मंत्रि-परिषद का उत्तरदायित्व उसे उत्तरदायी सरकार की संज्ञा देता है। विधान सभा के प्रति उत्तरदायित्व का आशय यह है कि जिस समय तक मंत्रियों की नीतियों तथा सरकारी आचरण को विधान सभा के सदस्यों की बहुसंख्या का समर्थन प्राप्त है, उस समय तक वे पद ग्रहण किये रहेंगे और देश का शासन करते रहेंगे। किंतु जैसे ही बहुसंख्या अल्प-संख्या में बदल जाती है और मंत्रियों में विधान सभा को विश्वास नहीं रहता, तो उसे पद-त्याग करना होगा और विरोधी दल को पद-ग्रहण करने का अवसर देना होगा, अथवा पराजित प्रधान मंत्री के परामर्श से विधान सभा भंग की जा सकती है और निर्वाचकों के मत को जानने के लिए नये निर्वाचन किये जा सकते हैं। इन सामान्य निर्वाचनों के फलस्वरूप विधान सभा में जो दल बहुसंख्या में लौटता है, वह मंत्रि-परिषद बनाता है। दूसरा विकल्प अधिक सर्वमान्य है। और सामान्यतः ग्राह्य है। विधान सभा मंत्रि-परिषद के कार्यों के प्रति अपनी असहमति या तो किसी महत्वपूर्ण कार्य पर विपरीत मत-दान से अथवा अविश्वास के विशिष्ट मत-दान से व्यक्त करती है।

डा. गार्नर कहते हैं, "मंत्रित्व-पद विधान सभा के आदेशके साथ असंगत नहीं है।"[5] इसका अर्थ यह है कि प्रबंधक और विधान सभा के कृत्यक "एकदम परस्पर घुले-मिले" हैं और प्रबंधक और विधान-सभा के अधिकारों के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं है,

---

1. Article 74 (1)
2. Article 75 (3)
3. Article 75 (5)
4. Article 75 (2)
5. Op. cit., p. 324

जैसी कि अमरीकी संविधान में है, जो उसे अन्य संविधानों से विभिन्न करती है, इनके विपरीत, वहा प्रवर्तक और विधान विभागों, दोनों मे निकट और घनिष्ठ स्वतन्त्रता है। प्रो. डाइसी का कथन है कि मंत्रि-परिषद प्रणाली प्रवर्तक और विधान-निर्माण शक्तियों के संघर्ष पर स्थापित है, और उसके साथ ही, उनके बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थिरता पर भी। मंत्रि-परिषद के सदस्य विधान-सभा के सदस्य होने के साथ ही साथ सरकार के प्रवर्तक विभागों के भी मुखिया है। वे राष्ट्रीय नीति की विस्तृत रूप में व्याख्या करने, सामूहिक रूप में सरकार को गठित करने और प्रशासन को चलाने के लिए उत्तरदायी है। वे संसद् में उस कानून को बनाने का निर्णय करते है, उसके लिए प्रेरणा करते है और उसका संचरण करते है जिसे वे अपनी नीति को चलाने के लिए अत्यावश्यक समझते है। मंत्रियों को विधान सभा के अधिवेशन के समय उन्हें किए गए प्रश्नों के उत्तर देने को तत्पर रहना चाहिए। सदस्य सरकार से जिन विषय को स्पष्ट कराना आवश्यक समझें, उसकी पूर्ण सूचना देनी चाहिए, और अपनी नीतियों की उस समय प्रतिरक्षा करनी चाहिए जब कभी उनके विषय में प्रश्न किया जाय, आलोचना की जाय या जब कभी उन्हें सरकारी आचरण को कैफियत देने के लिए कहा जाय। फलस्वरूप, मंत्रि-परिषद विधान-सभा की एक समिति है,जो कानून की रचना और प्रशासन दोनों मे भाग लेती है। किंतु सब कानून निर्माण तथा प्रशासन कार्यों के लिए यह विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है और उसके नियंत्रण में है। यह विधान सभा से स्वतंत्र सफलतापूर्वक कार्य नही कर सकती। इस रूप की सरकार को संसदीय रूप की सरकार भी कहा जाता है।

मंत्रि-परिषद सरकार में संघटित उत्तरदायित्व का समावेश होता है। मंत्रि-परिषद के मंत्री पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी संयुक्त एकता की रचना करते है। इसके पीछे विधान सभा के भीतर और बाहर दल की सुदृढ़ता होनी है। एकता और योग्यता की दृष्टि से,यह अत्यावश्यक है कि मंत्रि-परिषद राजनीतिक रूप में समान होना चाहिए, क्योंकि दल रूप में कार्य करना प्रयोजन और लक्ष्य के एकत्व की माग करता है। यह मंत्रि-परिषद की एकता है जो उसकी सफलता का आधार है। भले ही बंद किवाड़ों के पीछे इनमें कितना ही मत-भेद हो, मंत्रि-परिषद को पार्लियामेंट और दुनिया के सामने एक ठोस उदाहरण उपस्थित करना चाहिए। इसलिए, यह आवश्यक है कि मंत्री अनिवार्यतः एक ही राजनीतिक दल के होने चाहिए। सामूहिक उत्तरदायित्व, जो सुदृढ़ सरकार की अनिवार्य शर्त है, केवल तभी प्राप्त हो सकता है, जब मंत्री दल के रूप मे प्रविष्ट हो और दल के रूप में ही बाहर जाय। जब मंत्रि-परिषद असमान पार्लियामेंट्री दलों का बना होता है, तो वह सर्वाधिक अस्थिर होता है, क्योंकि समझौता निश्चित ही छोटे-से बहाने पर टूट सकता है। अवयवभूत मंत्रि-परिषद में मंत्रियों के बीच एकस्वरता नही होती, और वहा दल की भावना भी नही होती जो उद्देश्य के एकत्व का भरोसा दे सके।

मंत्रि-परिषद सरकार के गुण (Merits of Cabinet Government)—मंत्रि-परिषद सरकार का बड़ा गुण यह है कि यह विधान-निर्माण और प्रवर्तक विभागों के बीच एक-स्वरता का भरोसा देती है। मंत्रीगण प्रवर्तक विभागों के मुखिया होते है, और उसके साथ ही, विधान सभा में वह बहुसंख्यक दल के सदस्य होने है, इसलिए, मंत्रि-परिषद के सदस्य उन सब कार्यों को सफलतापूर्वक करने की उत्तम स्थिति में होते है जिन्हें वे आवश्यक

में प्रधान को उसके कामों में सहायता देने तथा सम्मति देने के लिए मंत्रियों की परिषद् होगी,[१] और मंत्री सामूहिक रूप में लोकसभा[२] के प्रति उत्तरदायी होंगे। फलस्वरूप, भारत के प्रधान के अधिकार फ्रांस में उसके मौलिक-आदर्श की तरह व्यापक होंगे।

जहां वास्तविक प्रवंधक अधिकारी मंत्रि-परिषद या मंत्रियों की संसद होती है, हम उसे मंत्रि-परिषद रूप की सरकार कहते हैं। मंत्री सामान्यत: विधानसभा के सदस्य होते हैं और वहुसंख्यक दल के होते हैं। कभी-कभी कोई मंत्री विधान सभा का निर्वाचित सदस्य नहीं भी हो सकता। भारत के संविधान के अनुसार कोई मंत्री संसद के किसी भी सदन का निरंतर ६ मास की अवधि तक सदस्य न होते हुए भी मंत्री वना रह सकता है,[३] किंतु इस प्रकार का मंत्री उस अवधि की समाप्ति पर तव तक मंत्री नहीं रह सकता, जव तक वह नियमित रूप में चुना न जाय। जो भी हो, मंत्रि-परिषद के सदस्यों को, चाहे वे निर्वाचित हों अथवा नहीं, विधान सभा में पद-ग्रहण करने, सुना जाने और उसके विचार-विमर्श में भाग लेने का विशेषाधिकार होता है, किंतु जव तक वह सदस्य न हों, उन्हें मत देने का अधिकार नहीं होता। मंत्रि-परिषद सामूहिक रूप में अपने सव प्रशासन और विधान विषयक कार्यों के लिए लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। वैधरूप में मंत्री राज्य के मुख्य प्रवंधक अधिकारी के प्रसाद-पर्यन्त पद ग्रहण करते हैं।[४] किंतु उत्तरदायीरूप की सरकार में वैध सत्य राजनीतिक असत्य होता है। एक मंत्रि-परिषद सरकार इस प्रमाणित सिद्धांत पर कार्य करती है कि मंत्री लोग अपने सव सरकारी कामों के लिए विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हैं और वे उस काल तक पद पर वने रहेंगे, जव तक सभा का उनमें विश्वास होगा।

विधान सभाके प्रति मंत्रि-परिषद का उत्तरदायित्व उसे उत्तरदायी सरकार की संज्ञा देता है। विधान सभा के प्रति उत्तरदायित्व का आशय यह है कि जिस समय तक मंत्रियों की नीतियों तथा सरकारी आचरण को विधान सभा के सदस्यों की वहुसंख्या का समर्थन प्राप्त है, उस समय तक वे पद ग्रहण किये रहेंगे और देश का शासन करते रहेंगे। किंतु जैसे ही वहुसंख्या अल्प-संख्या में वदल जाती है और मंत्रियों में विधान सभा को विश्वास नहीं रहता, तो उसे पद-त्याग करना होगा और विरोधी दल को पद-ग्रहण करने का अवसर देना होगा, अथवा पराजित प्रधान मंत्री के परामर्श से विधान सभा भंग की जा सकती है और निर्वाचकों के मत को जानने के लिए नये निर्वाचन किये जा सकते हैं। इन सामान्य निर्वाचनों के फलस्वरूप विधान सभा में जो दल वहुसंख्या में लौटता है, वह मंत्रि-परिषद वनाता है। दूसरा विकल्प अधिक सर्वमान्य है। और सामान्यत: ग्राह्य है। विधान सभा मंत्रि-परिषद के कार्यों के प्रति अपनी असहमति या तो किसी महत्वपूर्ण कार्य पर विपरीत मत-दान से अथवा अविश्वास के विशिष्ट मत-दान से व्यक्त करती है।

डा. गार्नर कहते हैं, "मंत्रित्व-पद विधान सभा के आदेशके साथ असंगत नहीं है।"[५] इसका अर्थ यह है कि प्रवंधक और विधान सभा के कृत्यक "एकदम परस्पर घुले-मिले" हैं और प्रवंधक और विधान सभा के अधिकारों के वीच ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं है,

1. Article 74 (1)
2. Article 75 (3)
3. Article 75 (5)
4. Article 75 (2)
5. *Op. cit.*, p. 324

जैसी कि अमरीकी संविधान में है, जो उसे अन्य संविधानों से विभिन्न करती है, इसके विपरीत, वहां प्रबंधक और विधान विभागों, दोनों में निकट और घनिष्ठ स्वतंत्रता है। प्रो. डाइसी का कथन है कि मंत्रि-परिषद प्रणाली प्रबंधक और विधान-निर्माण शक्तियों के संघर्ष पर स्थापित है, और उसके साथ ही, उनके बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थिरता पर भी। मंत्रि-परिषद के सदस्य विधान-सभा के सदस्य होने के साथ ही साथ सरकार के प्रबंधक विभागों के भी मुखिया हैं। वे राष्ट्रीय नीति की विस्तृत रूप में व्याख्या करने, सामूहिक रूप में सरकार को गठित करने और प्रशासन को चलाने के लिए उत्तरदायी हैं। वे संसद् में उस कानून को बनाने का निर्णय करते हैं, उसके लिए प्रेरणा करते हैं और उसका संचरण करते हैं जिसे वे अपनी नीति को चलाने के लिए अत्यावश्यक समझते हैं। मंत्रियों को विधान सभा के अधिवेशन के समय उन्हें किए गए प्रश्नों के उत्तर देने को तत्पर रहना चाहिए। सदस्य सरकार से जिस विषय को स्पष्ट कराना आवश्यक समझें, उसकी पूर्ण सूचना देनी चाहिए, और अपनी नीतियों की उस समय प्रतिरक्षा करनी चाहिए जब कभी उनके विषय में प्रश्न किया जाय, आलोचना की जाय या जब कभी उन्हें सरकारी आचरण की कैफियत देने के लिए कहा जाय। फलस्वरूप, मंत्रि-परिषद विधान-सभा की एक समिति है,जो कानून *की रचना और प्रशासन दोनों में भाग लेती है। किंतु सब कानून निर्माण तथा प्रशासन कार्यों* के लिए यह विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है और उसके नियंत्रण में है। यह विधान सभा से स्वतंत्र सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। इस रूप की सरकार को संसदीय रूप की सरकार भी कहा जाता है।

मंत्रि-परिषद सरकार में संघटित उत्तरदायित्व का समावेश होता है। मंत्रि-परिषद के मंत्री पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी संयुक्त एकता की रचना करते हैं। इसके पीछे विधान सभा के भीतर और बाहर दल की सुदृढ़ता होती है। एकता और योग्यता की दृष्टि से,यह अत्यावश्यक है कि मंत्रि-परिषद राजनीतिक रूप में समान होना चाहिए, क्योंकि दल रूप में कार्य करना प्रयोजन और लक्ष्य के एकत्व की मांग करता है। यह मंत्रि-परिषद की एकता है जो उसकी सफलता का आधार है। भले ही बंद किवाड़ों के पीछे इसमें कितना ही मत-भेद हो, मंत्रि-परिषद को पार्लियामेंट और दुनिया के सामने एक ठोस उदाहरण उपस्थित करना चाहिए। इसलिए, यह आवश्यक है कि मंत्री अनिवार्यतः एक ही राजनीतिक दल के होने चाहिए। सामूहिक उत्तरदायित्व, जो सुदृढ़ सरकार की अनिवार्य शर्त है, केवल तभी प्राप्त हो सकता है, जब मंत्री दल के रूप में प्रविष्ट हों और दल के रूप में ही बाहर जाय। जब मंत्रि-परिषद असमान पार्लियामेंट्री दलों का बना होता है, तो वह सर्वाधिक अस्थिर होता है, क्योंकि समझौता निश्चित ही छोटे-से बहाने पर टूट सकता है। अवयवभूत मंत्रि-परिषद में मंत्रियों के बीच एकस्वरता नहीं होती, और वहां दल की भावना भी नहीं होती जो उद्देश्य के एकत्व का भरोसा दे सके।

मंत्रि-परिषद सरकार के गुण (Merits of Cabinet Government):—*मंत्रि-परिषद सरकार का बड़ा गुण* यह है कि यह *विधान-निर्माण और प्रबंधक विभागों* के बीच एक-स्वरता का भरोसा देती है। मंत्रीगण प्रबंधक विभागों के मुखिया होते हैं, और उसके साथ ही, विधान सभा में वह बहुसंख्यक दल के सदस्य होते हैं, इसलिए, मंत्रि-परिषद के सदस्य उन सब कार्यों को सफलतापूर्वक करने की उत्तम स्थिति में होते हैं जिन्हें वे आवश्यक

और उपादेय समझते हैं। वहां प्रबंधक और विधान-निर्माण विभागों के बीच कार्यकारिता के विषय में मत-भेद नहीं होता, जैसा कि संयुक्त राष्ट्रों में पाया जाता है, जब कि प्रेसिडेंट एक दल का होता है और कांग्रेस की बहुसंख्या एक अन्य दल की। इसके विपरीत, मंत्रि-परिषद सरकार की प्रणाली के अधीन, "एक ओर, एक से लेकर अंत तक, नियम बनाने वाली तथा द्रव्य का अनुदान करने वाली अधिकारी-शक्ति, और दूसरी ओर, कानून लागू करने वाली और द्रव्य व्यय करने वाली अधिकारी-शक्ति के बीच पूर्ण और समान भावना होती है।" विधान सभा के सदस्य मंत्रि-परिषद का ध्यान लोगों के किसी भी कष्ट की ओर खींच सकते हैं और उसका तत्काल सुधार भी करा सकते हैं।

मंत्रि-परिषद सरकार प्रतिनिधि लोकतंत्री शासन का सर्वोत्तम नमूना है, क्योंकि यह लोगों की अंतिम प्रभुता को मान्यता देता है। निःसंदेह, मंत्रि-परिषद विषयक उत्तरदायित्व विधान-सभा के प्रति तात्कालिक है, किंतु प्रतिनिधियों को लोगों की नब्ज को भी पहचानना चाहिए। मंत्रीगण एक-पक्षीय कार्य करने का साहस नहीं कर सकते। वे निर्वाचितों की बहु-संख्या के मत-दान से शासन करते हैं और संपूर्ण राष्ट्र के प्रत्यासी हैं। यदि वे सार्वजनिक मत के विपरीत कार्य करते हैं, तो वे दुबारा नहीं भी चुने जा सकते, अथवा प्रतिनिधि एकाएक उनके विरुद्ध हो जा सकते हैं और उन्हें पद से च्युत कर देंगे। मंत्रि-परिषद सरकार, वस्तुतः, आलोचना द्वारा सरकार होती है। बहुसंख्यक दल सरकार बनाता है। अल्पसंख्यक दल विरोधी दल बनाता है। विरोधी दल को सरकार का विरोध करना होता है और उसकी आलोचना भी। इंग्लैंड में एक कहावत है कि प्रधान मंत्री विरोधी दल के नेता को अपनी पत्नी से भी अधिक जानता है। यह इस बात की व्याख्या है कि मंत्रि-परिषद विरोधी दल की राय के प्रति कितना सजग और उसकी आलोचना के प्रति कितना जागरूक होता है।

मंत्रि-परिषद सरकार का तीसरा गुण उसकी लोच और खिंचावट है। बेगहाट (Bagehot) इस अंग की बहुत सराहना करते हैं और कहते हैं कि इस प्रणाली की सरकार के अधीन लोग, "अवसर के लिए वह शासक चुन सकते हैं, जो राष्ट्रीय संकट में से राज्य के जहाज को सफलतापूर्वक ले जाने में विशिष्ट रूप से दक्ष हो।" प्रधान मंत्री रूप में चर्चिल ने चैंबरलेन का स्थान ग्रहण किया, क्योंकि राष्ट्रीय संकट काल इसकी मांग करता था और यह परिवर्तन देश में किसी प्रकार की राजनीतिक उथल-पुथल किये बिना हो गया। किंतु इस प्रकार का सरल परिवर्तन प्रधानीय ढंग की सरकार के अधीन संभव नहीं है। प्रेसिडेंट का पद कैलेण्डर की तिथियों पर आश्रित होता है। बेगहाट का कहना है "अमरीकी सरकार अपने को सर्वोच्च लोगों की सरकार कहती है, किंतु तात्कालिक संकट के समय, वह समय जब कि प्रभु-शक्ति की सर्वाधिक आवश्यकता होती है, आपको सर्वोच्च लोग नहीं मिल सकेंगे; सभी प्रबंध निर्णीत समयों के लिए हैं। वहां लोच का अंश नहीं। प्रत्येक वस्तु कठोर है, स्पष्ट है, निर्णीत है। चाहे कुछ भी हो, आप कुछ भी वेग से नहीं कर सकते और किसी को खटखटा नहीं सकते। आप अपनी सरकार के लिए अग्रिम वचन दे चुके हैं, और भले ही वह आपके उपयुक्त है या नहीं, चाहे वह अच्छा काम करती है या बुरा काम करती है, चाहे वह वही हो जिसे आप चाहते हैं या नहीं, कानूनन आपको उसे रखना ही होगा।[1]

1. Op. cit., Chap. 2, Sec. 9.

इसके अतिरिक्त, मन्त्रि-परिषद सरकार उत्तरदायित्व के मूल्य का दावा कर सकती है। यह राजनीतिक दलों के अच्छे संगठन के बिना कार्य नहीं कर सकती। प्रत्येक राजनीतिक दल का उद्देश्य चुनावों को जीतना और सरकार को हथियाना होता है। चुनावों को जीतने का अर्थ है कि दल बहुसंख्या में मतों को प्राप्त करने की स्थिति में होगा और निर्वाचक उसके कार्यक्रम का समर्थन करेंगे। यह तो मेज पर अपने पत्ते फैला देने के समान है, और, इस तरह, राष्ट्र को अपने कार्यक्रम से परिचित कराना है। यह देखना और परखना लोगों का काम है कि एक या दूसरा दल अपने गुणों के कारण अच्छा है या बुरा। यदि राष्ट्रीय महत्व का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है, जिसके विषय में अधिकार पर आरूढ़ दल ने लोगों की राय प्राप्त नहीं की होती, तो विधान-सभा भंग की जा सकती है, और निर्वाचकों की अभ्यर्थना की जा सकती है। इस सब से लोगों में राजनीतिक जागृति होती है। वह सदा अपने अधिकारों के लिए जागरूक होते हैं और जागरूकता लोकतन्त्र की सच्ची कीमत है।

अन्ततः, मन्त्रि-परिषद सरकार उन सब सभ्य देशों में सरकार-विषयक यंत्र का लोकतंत्रीकरण करने में सफल हुई है जहां वंशानुगत राजतंत्री व्यवस्था विद्यमान है। यदि इंग्लैंड को लोकतंत्र का स्तंभ कहा जाता है, तो इसका कारण मन्त्रि-परिषद सरकार है।

मंत्रि-परिषद सरकार के अवगुण (Demerits of Cabinet Government)—मन्त्रि-परिषद प्रणाली के कई क्रियात्मक लाभ होने के बावजूद इसके विरुद्ध

का हेतु बनता है। सिजविक, सरकार के इन दोनों प्रधान अंगों के बीच सामंजस्य के अखण्डनीय लाभ को स्वीकार करते हुए, कहते हैं कि इसे "भीषण त्रुटियों के द्वारा खरीदना होता है।[1] वह कहते हैं, "मंत्रीगण विधान-निर्माण के उपायों की तैयारी और उन्हें पालियामेंट में पेश करने के कार्य द्वारा अपने प्रबंधक कर्तव्यों से विमुख होने को बाध्य होते हैं। जबकि पालियामेंट आजकल के प्रबन्धविषयक प्रश्नों में अधिक दिलचस्पी लेने के कारण और खासकर वैदेशिक मामलों में अत्यधिक दिलचस्पी के कारण विधान-निर्माण की समस्याओं से परे हट जाती है।"[2] इस तरह, सरकार के भिन्न विभागों में विभाजन के लाभ "विधान-निर्माण और प्रबंधक कृत्यकों में गड़बड़ा कर खो जाते हैं।" जो भी हो, यह आलोचना उचित नहीं जान पड़ती। क्रियात्मक अनुभव हमें बतलाता है कि राज्य के कल्याण के लिए प्रबंधक और विधान-निर्माण के अधिकारों के बीच योग अत्यावश्यक है। मांटेस्क्यू (Montesquieu) का अधिकारों के अलगाव का सिद्धांत अपने कड़े रूप में धारण करने योग्य नहीं है।

आगे चल कर यह भी कहा गया है कि मन्त्रि-परिषद सरकार अस्थिर होती है। इस सरकार का कोई नियत जीवन नहीं होता। यह केवल तभी तक पदारूढ़ रहती है, जब तक यह संसद अपनी बहु-संख्या बनाए रखती है, जो कि प्रतिनिधियों की मन-मौज पर आश्रित है, विशेषकर यदि प्रतिनिधि सदन में प्रभावशाली बहुसंख्या या तो बहुत

1. The Elements of Politics, p. 414.
2. Ibid.

छोटी है या उसमें एकता का अभाव है: और एकता के अभाव में सदन के दूसरे दल वैयक्तिक षड्यंत्रों से प्रेरित होकर इस बहुसंख्या को उलट देते हैं बशर्ते कि नए बहुसंख्यक दल के निर्माण के अवसर को चतुराई से ध्यान में रखा जाय ताकि नव-निर्मित बहु-संख्या देश की जनता को अपील किए जाने पर कहीं अल्पसंख्या में न बदल जाए।"[1] मंत्रि-परिषद सरकार के आलोचकों का मत है कि पद के काल में अनिश्चितता अधिकार-आरूढ़ दल को दीर्घसूत्री और स्थिर नीति के लिए प्रेरित नहीं करती। नया मंत्रि-परिषद, जो पद-ग्रहण करता है, निश्चय ही पराजित मंत्रि-परिषद की नीति को पलट देगा, क्योंकि यह अपनी निजी निश्चित नीति और कार्यक्रम के साथ आता है। जो भी हो, यह कहा जा सकता है कि ऊपर लिखित आलोचना केवल बहु-राजनीतिक दलों वाले देशों की अवस्था में सत्य है जहां मंत्रि-परिषद के जीवन का पट्टा लघु एवं नाजुक है। ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश, जिनमें द्विमुखी दल प्रणाली है, ऐसी अवस्था को प्रदर्शित नहीं करते।

मंत्रि-परिषद सरकार के अधीन विरोधी-दल सरकार द्वारा आयोजित सब कार्यों का, उनकी क्रियात्मक उपयोगिता की चिंता किये बिना, एड़ी से चोटी तक विरोध करेगा। कभी-कभी सरकार-विषयक नीति की ऐसी छीछालेदर कर दी जाती है कि वह राष्ट्रीय एकता और सम्मान के लिए विरोधी साबित होती है। जब विरोधी दल को सरकार जो कुछ कहती है या प्रस्तावित करती है, उसका विवेक-रहित विरोध करना होता है, तो इससे देश की प्रगति रुकती है और साथ ही, धन और समय—दोनों की राष्ट्रीय हानि तक हो जाती है।

पुनः, यह कहा जाता है कि मंत्रि-परिषद सरकार अयोग्य होती है क्योंकि यह नौसिखियों की सरकार होती है। प्रबंधकारी विभिन्न भागों का कार्यभार ऐसे व्यक्तियों को सौंप दिया जाता है जो प्रशासन की वर्णमाला से भी परिचित नहीं होते। सर सिडनी लो कहते हैं, "एक नवयुवक को खजाने में क्लर्की की जगह लेने से पूर्व गणित की परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए, किंतु राजकोष का राजमंत्री भी विश्व का एक अधेड़ व्यक्ति हो सकता है, जो एटन या आक्सफोर्ड में थोड़े-बहुत पढ़े गणित के अंकों को भूल गया हो और सरलता के साथ उस दशा में उन छोटे-छोटे बिंदुओं के अर्थ समझने के लिए उत्सुक है, कि जब उसे राजकोष के हिसाब-किताब में दशमलवों के प्रयोग से पाला पड़ता है।"[2] डिजरेली ने, मंत्रि-परिषद का निर्माण करते समय, व्यापार का पद उस आदमी को पेश किया था, जो स्थानीय सरकार का पद चाहता था। डिजरेली ने कहा था, "मेरी राय में, इस बात का कोई महत्व नहीं कि आप व्यापार के विषय में इतना जानते हैं जितना .... नौसेना का सर्वोच्च अधिकारी जहाजों के विषय में जानता है।" डा. गोपीचंद भार्गव पूर्वी पंजाब सरकार के अर्थ-मंत्री थे, लेकिन उन्हें सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था का कोई ज्ञान नहीं था। डा. भार्गव अपने जीवन भर चिकित्सा-व्यवसाय को ही करते रहे हैं।

प्रधान-मंत्री मंत्रियों को चुनने में उनकी दिलचस्पी और विभागों के ज्ञान की, जिनका उन्हें स्वामी बनना है, चिंता नहीं करता। विभागों के लिए मुखियों के चुनाव में उसके राजनीतिक विचारों की गंभीर मर्यादा होती है, जिनमें सब से मुख्य पार्लियामेंट्री बहुसंख्या की

1. Ibid, p. 145.
2. Govt. of England, pp. 201-202.

स्थिरता को सुरक्षित रखना होता है। इसके अलावा, पद-काल के समय मंत्रियों को अपने समय का अधिकांश भाग पालियामेंट और मन्त्रि-परिषद के अधिवेशनों,सामाजिक तथा अन्य राजनीतिक कार्य-कलापों को देना होता है। उन्हें अपने निर्वाचकों के साथ भी निरंतर संबंध रखना होगा, और समय-समय पर "अपने हल्के की देखभाल करनी होगी।" उनके पद का संक्षिप्त और नाजुक समय उनमें विभागीय विशिष्टताओं से परिचित होने की प्रेरणा ही शेष नहीं रहने देता। फलस्वरूप, पालियामेंट्री सरकार की अयोग्य मुखियों द्वारा सरकार कह कर आलोचना की जाती है, जो स्थायी सरकारी अफसरों के हाथों कठपुतली बनते हैं।

किंतु पालियामेंट्री रूप की सरकार की यह सही व्याख्या नहीं। मन्त्रि-परिषद सरकार का सार विधान-सभा के प्रति मन्त्रियों का उत्तरदायित्व है। नि.संदेह, ऐसे मंत्री को नियुक्त करना सदैव प्रशसनीय है जो उस विभाग की कार्यकारिता से सुपरिचित हो कि जिसका उसे सभापतित्व करना होता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वह उस विभाग का विशेषज्ञ हो। मंत्री का कार्य उस विभाग का काम करना नहीं है। उसे तो केवल यही देखना है कि वह सरकार की घोषित नीति के अनुसार उचित एवं स्थिरतापूर्वक कार्य करता है। यदि विभाग का मुखिया नौसिखिया है, तो और भी कई लाभ हैं। एक अपरिपक्व आदमी विभाग को समग्र रूप में देखता है और विशेषज्ञ की अपेक्षा उसकी पकड़ नितांत भिन्न है। रैम्जे मैकडानल्ड के अनुसार,"मन्त्रि-परिषद वह पुल है, जो लोगों को विशेषज्ञों के साथ जोड़ता है, जो सिद्धांत को क्रिया के साथ मिलाता है। इसका काम मस्तिष्क के स्नायुओं के मार्ग से भेजे गए संदेशों को बढ़ाना होता है। यह विभागों के चलने को जारी नहीं रखता; वह उन्हें निश्चित दिशा में चलाए रखता है।"

आलोचकों का मत है, कि मन्त्रि-परिषद प्रणाली दलीय सरकार में परिणत हो गई है, जिसमें राजनीतिक शक्ति एकमात्र बहुसंख्यक दल में निहित होती है। जिस समय तक पालियामेंट्री बहुमत का विश्वास होता है, यह तानाशाही शक्तियों को ग्रहण कर लेती है। अल्पमत को सरकार की सक्रिय कार्यकारिता से पूर्णतया अछूता रखा जाता है और, इस तरह, राष्ट्र उन योग्य व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रह जाता है जो अल्पसंख्यक दलों से सम्बन्ध रखते हैं। रैम्जे म्यूर (Ramsay Muir) का मत है कि मन्त्रि-परिषद की तानाशाही का अंतिम अर्थ प्रधान-मंत्री की तानाशाही है जो बहुसंख्या दल का नेता है, उनका कथन है कि मन्त्रि-परिषद सरकार "एक आदमी या आदमियों के छोटे दल की, जो अधिक या कम सुलझे सदस्यों के बहुमत द्वारा सेवित होते हैं, तानाशाही है।"

अन्ततः, मन्त्रि-परिषद सरकार पर यह आरोप किया जाता है कि राष्ट्रीय संकट या आपत के समय उसमें तुरन्त निर्णय की योग्यता और तात्कालिक कार्यवाही करने का अभाव होता है। संकट के समय तुरन्त कार्यवाही करना और साहसपूर्ण कदम उठाना सफलता के लिए अत्यावश्यक है। किंतु मन्त्रि-परिषद मन्त्रियों की एक बड़ी संख्या से बना होता है, जिस कारण कई मस्तिष्कों के परामर्श की आवश्यकता होती है। फलत:, तात्कालिक और निश्चयात्मक अनुमति प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त, पालियामेंट्री विधि के अधीन मन्त्रि-परिषद से अपने विभाजित उत्तरदायित्व खुले विचार-विमर्श और अस्थिर बहुमतों के साथ तुरन्त, संयुक्त और साहसपूर्ण निर्णय की आशा नहीं की जा सकती। इन आपत्तियों में तथ्यों का आधार नहीं होता। द्वितीय विश्व-युद्ध ने पूर्णतया प्रदर्शित कर दिया

हैं कि मंत्रि-परिषद सरकार समय की परीक्षा में कैसे सफल उतरी है। भारत में भी, केंद्र और राज्यों में, मंत्रि-परिषद सरकारें हैं। केंद्रीय और राज्य सरकारों ने कितनी सफलता के साथ शरणार्थी तथा विभाजन के बाद की अन्य समस्याओं को सुलझाया है, यह समकालीन इतिहास का विषय है।

प्रधानीय सरकार
(Presidential Government)

प्रधानीय सरकार मंत्रि-परिषद सरकार से स्पष्टतया भिन्न होनी चाहिए। मंत्रि-परिषद और प्रधानीय सरकारें, दोनों अपने स्वरूप में प्रतिनिधि हैं किंतु पहली का विधान सभा के प्रति प्रबंधक विभाग का उत्तरदायित्व अनिवार्य शर्त है जबकि दूसरी वैधानिक रूप में विधान सभा से स्वतंत्र है। प्रधानीय विधि के अधीन विधान सभा और प्रबंधकारी सरकार के दो स्पष्ट विभाग हैं। दोनों के बीच एक प्रकार का तलाक है और प्रबंधक अपने सार्वजनिक कार्यों के लिए न तो विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है और न ही पद पर बने रहने के लिए उन पर निर्भर है। राज्य का मुखिया, मुख्य प्रबंधक—प्रधान—मंत्रि-परिषद सरकार के असमान, वास्तविक प्रबंधक है और उसकी अधिकार-शक्ति संपूर्ण है। वह वस्तुतः उन अधिकारों का प्रयोग करता है, जिन्हें संविधान और कानून उसे सौंपते हैं। वह अपने प्रबंधक कृत्यकों को पूर्ण करने में कथित "मंत्रियों" द्वारा सहायता पाता है। किंतु न तो राज्य के मुख्य प्रबंधक और न ही उसके 'मंत्रियों' का विधान सभा के साथ कोई संबंध होता है। वस्तुतः, उन्हें 'मंत्री' का नाम देना ही गलत है। वे प्रधान के साथी नहीं होते। वे प्रधान द्वारा चुने जाते हैं और उसकी इच्छानुसार पद पर बने रहते हैं। फलस्वरूप, मंत्री प्रधान के सिवा अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते।

प्रधानीय सरकार के अधीन मंत्रियों का कानून बनाने के साथ कोई संबंध नहीं होता। वे, मंत्रि-परिषद सरकार की प्रणाली वाले देशों के असमान उन उपायों को, जिन्हें वे कानून बनाना चाहते हों, निश्चित नहीं करते, जारी नहीं करते और न ही विधान-सभा में ले जाते हैं। उनका संबंध निजी सदस्यों से है, यद्यपि सरकार विधान सभा के राजनीतिक दलों को अपने निजी दृष्टिकोण से अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित कर सकती है। चूंकि मंत्रिगण राज्य के मुख्यतम प्रबंधक के प्रति केवल उत्तरदायी होते हैं, इसलिए, विधान-सभा को उनमें विश्वास है या नहीं, इसका कोई क्रियात्मक महत्व नहीं। यदि उनका आचरण दंडनीय हो जाता है, तो विधान सभा केवल आरोप लगाने की विधि से उन्हें दंडित कर सकती है। प्रबंधक विभाग न तो किसी अधिकार से विधान-सभा को भंग कर सकता है और न ही निर्वाचकों को इस कारण अभ्यर्थना कर सकता है कि विधान सभा का बहुमत उनके द्वारा अनुपालित नीति का समर्थन नहीं करता। इस प्रकार, प्रबंधकारी और विधान सभा के कृत्यकों के बीच पूर्ण तलाक होता है।

संक्षेप में, प्रधानीय ढंग की सरकार के निम्न मुख्य स्वरूप होते हैं :

१. राज्य का मुख्यतम प्रबंधक लोगों का निर्वाचित प्रतिनिधि होता है। उसके निर्वाचन की विधि, पद की अवधि संविधान में आदिष्ट है।

२. प्रधान का पद नियत अवधि तक रहता है। उसे दोषारोपण के सिवा पद से नहीं हटाया जा सकता।

३. प्रबंध विभाग विधान-सभा की उत्पत्ति नहीं, न ही वह अपने पद पर रहने के लिए उसके विश्वास पर आश्रित है।

४. राज्य के मुख्यतम प्रबंधक के अधिकार वास्तविक और सत्य है। वह राज्य का नाम-मात्र का मुखिया नहीं होता।

५. मंत्रिगण प्रधान के वस्तुतः सचिव होते हैं। वह उसके द्वारा नियत किये जाते हैं और उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं, और तभी तक पद पर बने रहते हैं, जब तक उसकी इच्छा हो। वे न तो मंत्री होते हैं और जैसा कि सर्व-विदित है, न वे मन्त्रि-परिषद ही बनाते हैं। वस्तुतः, उन्हें यह संज्ञा देना भूल है।

६. प्रबंधकारी और विधान-सभा के बीच अधिकारों का पूर्णतया पार्थक्य होता है:

(१) प्रबंधकारी का विधान-सभा में से जन्म नहीं होता।

(२) यहां तक कि कानून-निर्माण के लिए उसे निजी सदस्यों तथा विधान सभा के बहुमत पर निर्भर रहना होता है।

(३) प्रबंधकारी की स्थिति उस समय अधिक कठिन हो जाती है, जब विधान सभा का बहुमत प्रबंधकारी से भिन्न दल का हो।

(४) प्रबंधकारी के पास विधान सभा तक जाने का कोई साधन नहीं है और वह अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता।

(५) विधान-सभा को भंग नहीं किया जा सकता। उसे अपना सामान्य जीवन-काल बिताना होगा।

(६) विधान सभा के पास प्रबंधकारी पर दोषारोपण के सिवा उसे हटाने का और कोई चारा नहीं है।

संयुक्त राज्य अमरीका में प्रधानीय सरकार (Presidential Govt. in United State):—प्रधानीय ढंग की सरकार इस समय केवल संयुक्त राष्ट्र अमरीका में पाई जाती है। वहां ऐसे दो अंश थे, जिन्होंने अमरीकी संविधान के निर्माताओं को मन्त्रि-परिषद सरकार के रूप के विरुद्ध प्रभावित किया था। पहला यह कि, माण्टेस्क्यू (Montesquieu) के अधिकारों के अलगाव का सिद्धांत अमरीकियों को बहुत रुचिकर था। उनकी धारणा थी मन्त्रि-परिषद सरकार का रूप स्वतंत्रता के लिए निषेधात्मक है, और स्वतंत्रता से उन्हें बहुत मोह था। दूसरे यह कि मन्त्रि-परिषद सरकार राजनीतिक दलों के बिना कार्य नहीं कर सकती। अमरीकी संविधान के रचयिताओं का विश्वास था कि राजनीतिक दल समाज में गहरे मत-भेदों की रचना से राष्ट्रीय ऐक्य को क्षीण कर देते हैं। फलस्वरूप, विधान सभा ने अमरीका को एक संविधान दिया, जो ग्रेट ब्रिटेन से मौलिक रूप में भिन्न था।

अमरीकी संविधान के संस्थापकों की मान्यता थी कि अच्छी और योग्य सरकार के लिए वास्तविक अधिकार-शक्ति को प्रयुक्त करने वाले ओजस्वी प्रबंधक नेता की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य के लिए, उत्तरदायी रूप की सरकार को रद्द करते हुए, वह प्रबंधक प्रतिनिधि रूप के एक अन्य प्रकार को विश्व में उपस्थित करके उन्होंने अपनी कुशलता प्रदर्शित की। प्रधान के अधिकार निर्वाचन की विधि और पद की अवधि, सब बातों का संविधान में समावेश है, यद्यपि परंपरा और न्याय-विभागीय निर्णयों ने उन सब को बदल

प्रभावित किया है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका का प्रधान पद विश्व का एक महत्तम राजनीतिक पद है। इस पद को ग्रहण करने वाला—केंद्रीय योरोप के तानाशाहों को छोड़कर—वर्तमान सरकार का सर्वाधिक शक्तिशाली मुखिया वन गया है। वह, अपनी शक्तियों और पद की अवधि के प्रयोग में नितांत स्वतंत्र है, सिवा इस वात के कि सब नियुक्तियां और संधियां, जो उसके द्वारा की जाती हैं, उसका समर्थन सीनेट द्वारा होना चाहिए। चूंकि उसके पद की अवधि नियत काल के लिए होती है, इसलिए निर्वाचकों के प्रति उसका उत्तरदायित्व नहीं के वरावर है। उसपर केवल सीनेट दोषारोपण कर सकता है। सीनेट उसे पद से हटाने तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका में सम्मान, विश्वास, अथवा लाभ का कोई पद ग्रहण करने और भोगने की अयोग्यता से वढ़कर और कोई दंड नहीं दे सकती।

अपने प्रवंधक कर्तव्यों का पालन करने में प्रधान की उसके सचिव सहायता करते हैं जो विभिन्न विभागों के मुखिया होते हैं, और वर्तमान में उनकी संख्या दस है। प्रधान के सचिव केवल उसके व्यक्तिगत सहायक हैं। वह उसके द्वारा नियुक्त होते हैं और उसी के प्रति उत्तरदायी हैं। उनमें से कोई भी कांग्रेस का सदस्य नहीं, न ही उसके प्रति उत्तरदायी है। यद्यपि प्रचलित रूढ़िवश विभागीय मुखियों को सामूहिक रूप में मंत्रि-परिषद की संज्ञा दी गई है तथापि यह उनकी गलत संज्ञा है। प्रधान सचिवों के इस समूह या इसके किसी अफसर पर अपने उत्तरदायित्व को नहीं सौंप सकता। वह उन्हें व्यक्तिशः अथवा सामूहिक रूप में विधान-सभा या देश के प्रति संघीय सरकार की उन नीतियों और कार्यों के लिए जवाबदेह नहीं वना सकता जिसका वह सभापतित्व करता है। उनका उत्तरदायित्व केवल प्रधान के प्रति है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका में मंत्रि-परिषद केवल प्रधान की इच्छा की रचना है। इसका अस्तित्व केवल परंपरावश है और यदि प्रधान उसे भंग करना चाहता है, तो वह वैसा कर सकता है। इसकी कार्य-विधि, जैसी कि यह वर्तमान में है, यह है कि मंत्रि-परिषद का सप्ताह में दो वार अधिवेशन होता है और प्रधान उसके सम्मुख उन प्रश्नों को उपस्थित करता है जिनके विषय में उसे परामर्श आवश्यक होती है और सदस्य मंत्रि-परिषद में अपने-अपने विभागों के ऐसे मामलों को उपस्थित करते हैं; जिन्हें वे मंत्रि-परिषद सम्मेलन और सामान्य विचार-विमर्श के लिए उचित समझते हैं। मत-दान वहुत ही कम अवस्थाओं में होता है; क्योंकि उसका महत्व सम्मति-प्रदर्शन मात्र से अधिक नहीं होता। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में मंत्रि-मंडल को प्रायः प्रधान का परिवार कहा जाता है।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में प्रवंधक का विधान-सभा में उपक्रमणात्मक (Initiative) नहीं होता सिवा इसके कि प्रधान समय-समय पर कांग्रेस को विशिष्ट नियमों के वनाने की सिफारिश के साथ संदेश भेज सकता है। यह सच है कि कांग्रेस प्रधान के संदेशों को अनुकूलता पूर्वक ग्रहण करती है और विधान-सभा वहुत प्रभावित होती है, तथापि अमरीका के प्रवंधक में उन सब उपक्रमों तथा निर्देशों का अभाव होता है जो पार्लामेंट्री सरकार में इतने विलक्षण रूप में होता है। इसके अतिरिक्त प्रधान को, सिवा असाधारण अधिवेशन के, न तो अधिवेशनों को वुलाने अथवा कांग्रेस को भंग करने का अधिकार है। अमरीका में कांग्रेस स्वतः एकत्रित होती है और उसका अवधि-काल नियत है। निःसंदेह, प्रधान कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कानूनों को रद्द कर सकता है, किंतु यह रद्द करना स्थगित मात्र है। वह कांग्रेस द्वारा स्वीकृत विधेयक (Bill) को उसे पेश करने के वाद दस दिन के

अंदर-अंदर स्वीकृति देने से इंकार कर सकता है। यदि इस प्रकार का रद्द किया विधेयक (Bill) प्रत्येक सदन द्वारा दो-तिहाई बहुमत द्वारा पुनः स्वीकार किया जाता है तो प्रधान को उसे स्वीकृति देने और और उसे जारी करने के सिवा अन्य चारा नहीं।

प्रधानीय सरकार के गुण (Merits of Presidential Govt.):—प्रधानीय रूप की सरकार का मुख्य गुण यह है कि उत्तरदायित्व के बिना ही यह प्रतिनिधि स्वरूप को धारण करती है। प्रधान लोगों का निर्वाचित प्रतिनिधि होता है, किन्तु इस पद की अवधि विधान सभा को निरन्तर बदलने वाली इच्छा पर आश्रित नहीं होती। नीति की अधिक स्थिरता और प्रशासन की दृढ़ता के लिए पद की नियत काल-अवधि अपेक्षित होती है। अमरीका में प्रधान और उसके मन्त्रि-परिषद् का विधान-निर्माण के साथ कोई सबंध नही होता। चूंकि पद का अवधि-काल निश्चित होता है, इसलिए सरकार की नीति को बिना किसी टूटने के भय के सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है। साथ ही, प्रशासन में तुरन्त कार्यवाही करना, उत्साह और आरम्भक भी होता है। सपूर्ण प्रबधक अधिकार-शक्ति प्रधान में निहित होती है। विभाजित नीति का वहा कोई प्रश्न नही होता। उसके सचिवो को उसके द्वारा निर्दिष्ट नीति का पालन करना होता है। युद्ध और राष्ट्रीय सकट के समयों में नियत्रण की एकता, निर्णय में तत्परता, और सगठित नीति की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यह सब मन्त्रि-परिषद् सरकार के अधीन सभव नही। प्रैसिडेंट रुजवेल्ट ने आर्थिक मंदी और द्वितीय विश्व-युद्ध की कठिन अवस्थाओ मे किस प्रकार राज्य के जहाज का चालन किया था, उससे हर कोई परिचित है।

प्रधानीय रूप की सरकार के समर्थक तर्क करते है कि ऐसी प्रणाली उन देशो के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है, जिनमें नाना प्रकार के स्वार्थों वाले विभिन्न समुदाय रहते हों। सम-स्वर द्विदलीय प्रणाली, जो मन्त्रि-परिषद् सरकार की सफलता के लिए अत्यावश्यक है, इन अवस्थाओं में प्राप्त नहीं की जा सकती। बहु-दलीय प्रणाली उस समय अस्तित्व में आती है, जब लोग समानान्तर और लम्ब रूप, दोनो ही रूपों में विभाजित होते है। इसका परिणाम क्षीण और अस्थिर सरकार होता है।

प्रधानीय सरकार के दोष (Defects of Presidential Government)—प्रधानीय प्रणाली सरकार को सर्वथा पृथक्-पृथक् खडो मे विभाजित कर देती है, क्योंकि इसका आधार अधिकारो के अलगाव पर होता है। किन्तु वस्तुत. क्रियात्मक रूप में, प्रबंधक और विधान-निर्माण विभागो के बीच पूर्ण सबध-विच्छेद नही हो सकता। यह केवल सिद्धात का मामला है। एक विभाग के कार्य एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। उन्हें स्वतन्त्र विभागो में विभाजित करना सघर्ष पैदा करना हैं जो अच्छी सरकार के लिए अत्यधिक अहितकर है। उस समय यह भीषण रूप धारण कर लेता है, जब कि प्रबधक मुखिया और विधान-सभा का बहुमत दो भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के हों। प्रैसिडेंट वुडरो विल्सन की विदेश नीति विरोधी सीनेट द्वारा पराजित हुई थी।

इस चित्र का एक अन्य रूप भी है। प्रत्येक विभाग को जुदा और स्वतन्त्र अस्तित्व का रूप देते हुए अमरीकी सविधान के निर्माताओं ने महसूस किया कि शक्ति सीमित, नियत्रित और विस्तृत होनी चाहिए अन्यथा इसका परिणाम आतक होगा। तदनुसार, उन्होंने अवरोधों और सतुलनो की प्रणाली को लागू किया। अवरोधों और सतुलनो की प्रणाली न केवल

अधिनायक को नियत किया करते थे। और उसे संकट का सामना करने के लिए सर्वोच्च शक्तियां सौंपी जाती थीं। किन्तु रोमन अधिनायकतंत्र संकट का सामना करने के लिए अस्थायी प्रयोग होता था, जिसे संकट समाप्त हो जाने पर त्याग दिया जाता था। इसके अतिरिक्त अधिनायक का इस दायित्व के साथ कानूनी विधि से चुनाव होता था कि "वह अपनी शक्ति के प्रयोग को स्थायी अधिकार शक्ति की जांच के लिए प्रस्तुत करेगा।"[1]

जो भी हो, अधिनायकतंत्र का यह रूप, इटली और जर्मनी के आधुनिक अधिनायकों पर लागू नहीं होता। आधुनिक अधिनायकों को राष्ट्रीय संकट के समय राज्यों को चलाने के लिए सीमित अवधि के लिए कानूनी विधि से नहीं चुना जाता। वे आकस्मिक राज्य-विप्लव के फलस्वरूप शक्ति में आते हैं। उनकी राजनीतिक अधिकार-शक्ति का सूत्र बल-प्रयोग होता है और वे उस समय तक शक्ति में बने रहते हैं, जब तक बल-प्रयोग उन्हें बनाए रह सकता है। वे अपने सिवा अन्य किसी अधिकार शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। वस्तुतः राज्य की संपूर्ण अधिकार-शक्ति एक व्यक्ति में निहित होती है। और वह स्वयं मूर्तिमान राज्य होता है। कुछ लेखकों का मत है कि रूसी अधिनायकतंत्र एक दल का अधिनायकतंत्र है, जब कि जर्मनी और इटली में यह व्यक्तियों का अधिनायकतंत्र था। किंतु नात्सीवाद और फासिस्टवाद भी दल के नियम थे यद्यपि उनके संपूर्ण जीवन-काल में उन पर एक छाप बनी रही, ठीक उसी तरह, जैसे लेनिन के दिनों में बोलशेविक मत था। जैसा कि मेकाइवर कहते हैं, "वस्तुतः कोई भी सरकार कभी भी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं हुई।" यदि आपको कहीं कोई एकाकी सर्वोच्च शासक मालूम देता है, तो अप्रत्यक्षतः उसकी शक्ति एक संयुक्त वर्ग के सक्रिय समर्थन पर आश्रित होती है। वह उसके हित में शासन करता है और उससे भी अधिक उसके सहयोग से शासन करता है। लगभग सदा ही उसकी सलाहकारों की एक परिषद होती है, जो उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।" हिटलर और मुसोलिनी क्रमशः नात्सी और फासिस्ट दलों के नेता थे और अपने दलों के लक्ष्यों का पालन करने के लिए अपने दलों में से अपने सचिव चुनते थे। तदनुसार, रूसी प्रकार के अधिनायकतंत्र और केंद्रीय योरोप के देशों के अधिनायकतंत्रों के बीच कोई अन्तर नहीं। यदि कोई है भी, तो वह केवल प्रकार की अपेक्षाकृत मात्रा का है।

आधुनिक अधिनायक तंत्र का उत्कर्ष (Rise of Modern Dictatorship):—प्रथम विश्व-युद्ध के विषय में कहा जाता था कि यह स्वेच्छाचारी के विरुद्ध लोकतंत्र की लड़ाई है और विश्व को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने के हेतु यह लड़ी गई थी। वर्सेलीज की संधि भी विस्तृत लोकतंत्री सिद्धांतों पर निर्मित की गई थी। इसने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के सिद्धांत को मान्यता दी थी और पूर्वकालीन राजतंत्रों के विनाश पर नये राज्यों का निर्माण किया था। पराजित जर्मनी ने वीमर संविधान (Weimar Constitution) द्वारा विश्व को संसदीय सरकार का सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित किया था। आशा की जाती थी कि नये राज्य और साथ ही साथ पुराने भी, धीरे धीरे संसदीय लोकतंत्र तक पहुंच जायंगे। किंतु यह आश्चर्य का विषय है कि युद्ध के निकट आने पर योरोप के लोगों की लगभग तीन-चौथाई स्थापित लोकतंत्री सरकारें या तो नष्ट हो चुकी थीं अथवा उन्हें नष्ट होने का भय था। इटली मुसोलिनी तथा उसके दल

1. Row, E. F.—How States are Governed, p. 76.

के अधिकार में, रोम पर उसके विख्यात आक्रमण के बाद, १९२२ में आया। प्रीमो डि रिवेरो (Primo di Rivero) को १९२३ में स्पेन का पिता घोषित किया गया था। १९१८ के बीमार संविधान का स्थान हिटलर और उसके नात्सी दल ने अधिनायकतन्त्र द्वारा ले लिया था। पोलैन्ड में पार्लमेंट्री सरकार की मद्धम पड़ती हुई छाया का १९२९ में लोप हो गया था जब कि पिल्सूड्स्की (Pilsudski) ने सदन की लॉबी में प्रतिनिधियों को उनकी सीमाएं याद कराने के लिए सैनिकों के एक दस्ते को भेजा था। यूगोस्लाविया में राजा अलेक्जेंडर ने संसद् को भंग कर दिया था और संविधान को स्थगित कर दिया था। रूमानिया में राजा केरोल (Carol) ने १९३१ में शाही अधिनायक तंत्र पर तत्सम चेष्टा की थी। इन देशों के अलावा बलगेरिया, हंगरी, आस्ट्रिया और टर्की भी अधिनायक तंत्र की लहर में बह गए थे। ग्रीस में, ४ अगस्त १९३९ को, जान मीटाक्स (John Metaxes) ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था और देश के जीवन को जर्मनी तथा इटली के आदर्श पर चलाना आरंभ कर दिया था।

उपरिलिखित सब देशों में यह दक्षिण-पक्षी (Right) अधिनायक तंत्र था। किन्तु रूस में यह वाम-पक्षी अधिनायक तंत्र था। पहली का आशय है पूंजीपति वर्ग का अधिनायकतंत्र और दूसरी का अर्थ है मजदूरों का अधिनायकतन्त्र, जो पूंजीवादी समाज के नाश और साम्यवादी समाज के उदय के बीच का परिवर्तन काल है, जब कि राज्य का अन्ततः विनाश हो जाता है। ये दोनों प्रकार के अधिनायकतन्त्र मौलिक रूप से एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, किन्तु वे स्थूल रूप में सामान्य सिद्धांतों का आश्रय लेते हुए कार्य करते हैं। उनका सामान्य अंश यह होता है कि दोनों एकाकी दल द्वारा शासित होते हैं और किसी अन्य दल के अस्तित्व को सहन नहीं करते।

अधिनायक तन्त्र के उत्कर्ष के कारण (Causes of the Rise of Dictatorship):—प्रथम विश्व-युद्ध ने लोकतंत्र में लोगों के विश्वास को हिला दिया था, उन्होंने हमेशा यही सोचा था कि लोकतंत्र और शान्ति समानार्थक हैं, किन्तु अगस्त १९१४ की घटनाओं ने उनके भ्रम को नष्ट कर दिया। युद्ध के बाद लोगों को बेहतर और सुरक्षित विश्व की आशा थी। किन्तु उनकी आशाएं झूठी साबित हुई। जब युद्ध से थके सैनिक घर को लौटे तो उन्हें बेकारी, बजट में घाटे, युद्ध-ऋणों को चुकाने के लिए नये टैक्स और अन्य समस्याओं का सामना करना पड़ा। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि संसद के सदस्य ही युद्ध भड़काने वाले थे, जो युद्ध के मंच से दूर सुरक्षापूर्वक अपने आरामदेह घरों में बैठे थे और मुनाफा कमा रहे थे पर जिन्होंने वस्तुतः लड़ाई लड़ी थी और जिन्होंने उसे जीतने के लिए अपने बन्धु-बान्धवों की बलि दी थी, उन्हें युद्ध के बाद भी कष्टकर बेकारी और नये टैक्सों के भार को सहन करना पड़ा। उन्होंने खुले तौर पर लोकतन्त्र के खात्मे की घोषणा की। युद्ध के बाद आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर जिन नये राज्यों की रचना की गई थी, उनमें संसदीय संस्थाओं के लिए संतोषप्रद वातावरण की गुंजाइश नहीं थी। इन देशों में से किसी में भी लोकतन्त्र के लिए परम्परा नहीं थी। फलस्वरूप, उन्हें किसी प्रकार का लोकप्रिय प्रशिक्षण नहीं मिला था और लोकतन्त्र वहां बहुत समय तक स्थिर न रखा जा सका। यहां तक कि उन देशों में भी जिन्हें लोकतन्त्र का [illegible] जाता था, युद्ध-काल में नागरिक-स्वतन्त्रता का स्पष्ट रूप से [illegible]

प्रवन्धक विभाग के अधिकारों को सुदृढ़ किया गया। यह प्रवृत्ति युद्ध के वाद भी स्थिर रही।

इनके अतिरिक्त इनसे भी अधिक भारी-भरकम आर्थिक और वित्तीय समस्याएँ थीं, जिनका समग्र रूप में सारा विश्व शिकार था। आर्थिक आत्म-निर्भरता की नीति ने, जिसे वड़े और छोटे राज्यों ने समान रूप में अपनाया था, और राष्ट्रवाद के समर्थन ने नयी विचित्र अवस्थाएँ पैदा कर दी थीं। वस्तुस्थिति यह थी कि यह आन्दोलन "आक्रमणात्मक रूप में" राष्ट्रीय हो गया था, और स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सभी जगह अवरुद्ध हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के वजाय, अविश्वास और शंका ने जोर पकड़ लिया और सभी राज्य राष्ट्रीय रूप में अधिक सजग हो गये। वृहत्तर जर्मनी और वर्सेलीज संधि से मुक्ति के नारे ने जर्मनों को इतना मोहित किया कि वे हिटलर की पंक्ति में जा मिले। अधिक भूमि की भूख और युद्ध-काल में हुई हानियों की निजी क्षति-पूर्ति के लिए इटली को मुसोलिनी के नेतृत्व में आक्रमणात्मक नीति का अनुसरण करने की प्रेरणा मिली। विश्व की आर्थिक मंदी और संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा फ्रांस की अपने रिज़र्व वैंकों के साथ स्वर्ण-मूल्य को घटाने की स्वेच्छित नीति ने विश्व-स्थिति को और भी हीन कर दिया। इन अवस्थाओं में, प्रत्येक देश के साधनों को प्रयोग में लाने की और अधिक तथा नये विश्व-वाजारों के लिए होड़ की आवश्यकता हो जाती है। प्रत्येक देश में युद्ध के वाद उत्पन्न हुई अस्तव्यस्तता और आर्थिक मंदी का सामना करने के लिए खास कदम उठाने पड़े।

जापान द्वारा आक्रमणात्मक नीति को अपनाने तथा जर्मनी और इटली द्वारा उस नीति का अनुसरण करने ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को और भी विगाड़ दिया। राष्ट्र-संघ ने अपना सम्मान खो दिया था। निःशस्त्रीकरण कान्फ्रैंस असफल हो चुकी थी। निःशस्त्रीकरण के वजाय सव देशों ने अपने सैनिकीकरण और युद्ध की नवीन विधियों से लैस होने के कार्य को तेजी से शुरू कर दिया था। वड़ी शक्तियों की युद्ध की तैयारी ने अन्तर्राष्ट्रीय संदेहों की सृष्टि की, विशेष रूप से छोटे राज्यों में, प्रत्येक राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय ऐक्य की रक्षा के लिए किसी एक की आवश्यकता थी, भले ही वह किसी कीमत पर उन्हें मिले। इस तरह, राज्यों को सैनिक अधिनायक तंत्र का सामना करना पड़ा। इसके वाद, वोल्शेविकवाद की गाड़ी भी थी। वस्तुतः साम्यवाद को वलि का वकरा वनाया गया था, क्योंकि मंदी और निराशा के समय में संभवतः यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक राष्ट्र किसी-न-किसी को वलि का वकरा वनाने की खोज करे और उसके वाद ऐसी स्थिति में, जिसे वह युद्ध का कारण मानता है, इसके लिए भीषण युद्ध करे, भले ही उसका रोग-निदान सहज ही गलत हो सकता है।

अन्ततः, लोकतंत्र के कतिपय आलोचकों का तर्क है कि राजतंत्र से लोकतंत्र की दिशा में प्रगति के काल म किसी-न-किसी रूप में तानाशाही आवश्यक थी। इस मत के समर्थन में ऐतिहासिक उदाहरण दिये गए; उदाहरणार्थ, इंग्लैंड में क्रामवैल और फ्रांस में नैपोलियन का शासन। यह कहा गया कि जर्मनी और इटली के इतिहास ने भी समान घटना-क्रम को प्रदर्शित किया और उन देशों में सरकार के सच्चे लोकतंत्री रूप को स्थापित करने से पूर्व उन्हें अधिनायकतंत्रीय वातावरण से होकर निकलना पड़ा। किंतु यह तर्क रूस की अवस्थाओं पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि श्रमजीवी अधिनायकतंत्र के वाद, कार्ल मार्क्स के कथनानुसार, राज्य का "लोप" होना ही चाहिए। पूंजीवाद के विनाश के वाद

राज्य अनावश्यक हो जाता है और वह स्वतंत्र संघों के स्वतंत्र समाज को जगह दे देता है।

आधुनिक अधिनायकतंत्र के लक्षण (Features of Modern Dictatorship) :—आधुनिक अधिनायक तंत्र ने एकदलीय राज्य को जन्म दिया, जो लोकतंत्री राज्य का विरोधी है। ग्रीक नगर-राज्य (City-state) भी एकदलीयतंत्र था, क्योंकि ग्रीक राज्य और समाज में भेद नहीं करते। उनके लिए राज्य और समाज क्रियात्मक रूप से समानार्थक थे। ग्रीक नगर-राज्य सर्वशक्तिसम्पन्न था। वह गिर्जा था, स्कूल था, और सब-कुछ का मिला हुआ राज्य था। किंतु आधुनिक अधिनायक का एकदलीय राज्य ग्रीक नगर-राज्य के समान नहीं है। यह हेगल (Hegal) की प्रत्यक्ष शिक्षाओं का परिणाम है। हेगल के अनुसार "राज्य पृथ्वीतल पर परमात्मा के समान है।"

यहां जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जो आधुनिक अधिनायकतंत्रीय राज्य के अन्तर्गत न आता हो। हिटलर और मुसोलिनी के लिए राज्य से बढ़कर कुछ नहीं था, उसके परे कुछ नहीं था और उसके पास कुछ नहीं था। राज्य व्यक्तियों के सारे कार्य-कलापों को समाविष्ट करता था और राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए उनसे सहायता ली जाती थी। यह सर्वशक्तिमान और पूर्ण राज्य था। इटली के लोगों के लिए मुसोलिनी का प्रवचन था : "सब-कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य से कुछ भी बाहर नहीं, कोई भी राज्य के विरुद्ध नहीं।" यह राज्य की अतिशयोक्तिपूर्ण पूजा थी, राज्य की पूजा की भावना को स्कूलों में, खेल के मैदानों में, क्लबों में, सभाओं में, और वस्तुतः, सर्वत्र विकसित किया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उसका नहीं था, बल्कि राज्य और केवल राज्य का था। "संकुचित राष्ट्रवाद, उन्मत्त देश प्रेम, आक्रमणात्मक युद्ध और साम्राज्यवादी विस्तार, फासिस्टवाद और नात्सीवाद के कुछेक अत्यावश्यक अंश हैं। रूसी साम्यवाद तीव्रता के साथ राष्ट्रवादी और सैनिकवादी बनता जा रहा है, यद्यपि यह अभी साम्राज्यवादी आक्रमणात्मक रूप धारण नहीं कर रहा, भले ही इसने फिनलैंड और छोटे-छोटे बाल्टिक राज्यों के साथ जो कुछ किया है, वह असंगत जान पड़ता है।"[१]

जब राष्ट्र की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है, तो स्पष्ट परिणाम युद्ध होता है। हिटलर और मुसोलिनी ने खुले तौर पर युद्ध का प्रचार किया। हिटलर ने बल-प्रयोग और हिंसा की बड़ी प्रशंसा की और वह कर्मठ व्यक्तियों की तारीफ के पुल बांधते न थकता था। वह विजेता की तलवार की शक्ति में विश्वास करता था। मुसोलिनी के कथनानुसार, शांति "बलिदान के मुकाबले में कायरता थी।" इटली और जर्मनी ने अपनी निर्मित वस्तुओं की बिक्री के लिए और कच्चे पदार्थों की प्राप्ति के लिए और शक्ति प्राप्त करने की अपनी महत्वाकांक्षा के लिए औपनिवेशिक विस्तार की नीति का अनुसरण किया था। मुसोलिनी ने कहा था, "साम्राज्यवाद जीवन का चिरस्थायी और अक्षुण्ण नियम है।" उसने घोषणा की थी, "इटली का विस्तार होगा या अन्त।"

अधिनायकतन्त्र का अर्थ है एक आदमी या एक दल का शासन। फलतः, यह लोकतन्त्र का अत्यंत विरोधी-सिद्धांत है। अधिनायकों और उनके समर्थकों के अनुसार, लोकतंत्र एक सड़ा हुआ मुर्दा है, क्योंकि यह, "मूर्ख, भ्रष्ट और मन्द-गति से चलता है।" यह कहा जाता

१. यह द्वितीय विश्व-युद्ध की पूर्व अवस्थाओं का संकेत करता है।
Asirvatham, op. cit., p. 512.

हैं कि संसदें केवल बकवाद की दूकानें हैं, "कोई परिणाम हासिल करने के अयोग्य हैं, और संकट के समय वे नितांत असहाय होती हैं।" चूंकि आधुनिक अधिनायकतंत्र एक आदमी या एक-दली होता है, इसलिए, यह राजनीतिक विरोध को पसंद नहीं करता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का शत्रु है। साम्यवाद के मत से, व्यक्तिगत स्वतंत्रता बुर्जुआ (मध्यवित्त-श्रेणी) लोगों की धारणा है। फासिस्टवाद और नाज़ीवाद इसे अतीत की घटना मानते थे।[1] कहा जाता था कि, राज्य से हट कर व्यक्ति का कोई जीवन नहीं है, और इसलिए उसे पूर्णतया उसके अधीन होना चाहिए। इस प्रकार, एकदली राज्य अपनी प्रजा को भाषण का अधिकार, समाचार-पत्रों का अधिकार, और सभा का अधिकार, और वह सब अधिकार नहीं देता जो लोकतंत्री राज्य में व्यक्ति के जीवन की विशेषता होते हैं। नात्सीवाद और फासिस्टवाद का आदर्श था, "एक सभा (Reich), एक लोग, एक नेता।" फासिस्टवादी प्रतिज्ञा यह थी: "परत्मात्मा और इटली के नाम पर मैं ड्यूस की आज्ञाओं का बिना विवाद के प्रयोग करने और अपनी पूर्ण शक्ति के साथ और यदि आवश्यकता हो तो अपने रक्त से फासिस्टवादी क्रांति के हेतु सेवा करने की प्रतिज्ञा करता हूं।" इटली के युवक-संगठन को मुसोलिनी का प्रवचन था: "विश्वास करो, आज्ञा-पालन करो, लड़ाई करो।" हिटलर इसे इस ढंग से कहता है:' 'कर्त्तव्य, नियंत्रण और त्याग।" यह मानवी जीवन का शुद्ध एवं सरल समीकरण है। संपूर्ण राष्ट्र को एक ही ढंग से सोचना चाहिए, एक ही ढंग से बोलना चाहिए, और एक ही ढंग से कार्य करना चाहिए।

पुनः, एकदली राज्य निषेधक होता है। इसके दो आशय होते हैं। पहला यह कि यह वंश की पवित्रता, भाषा की पवित्रता और साहित्य की पवित्रता का समर्थन करता है, नात्सीवाद की शिक्षाओं के अनुसार, "जर्मनी में जर्मनों के अतिरिक्त अन्य कोई मानव-प्राणी नहीं रह सकता।" दूसरा यह कि, राज्य की निषेधता का अर्थ है आर्थिक आत्म-निर्भरता की नीति। अन्ततः, एकदली राज्य धर्म का शत्रु होता है। साम्यवाद और धर्म साथ-साथ नहीं चल सकते। फासिस्टवाद और नात्सीवाद ने धर्म को एकदली राज्य की कठपुतली बनाया था। नात्सीवाद का लोगों से कहना था कि "परमात्मा के प्रति अपनी भावनाओं को ज़ार को समर्पित कर दो।"[1]

अधिनायक-तंत्र के गुण (Merits of Dictatorship):—अधिनायक-तंत्रों की बहुत प्रशंसा की गई है। उसके समर्थन में कहा गया है कि वह ऐसे सुदृढ़ लोगों का शासन है, जो बात को पूरा करा लेते हैं।" इस कथन में कुछ तथ्य जान पड़ता है। बहुत से योरोपीय देशों में संसदें और राजनीतिक नेता युद्धोत्तर समस्याओं को हल करने में बुरी तरह असफल रहे हैं। उनकी डांवाडोल आर्थिक एवं राजनीतिक अवस्थाओं तथा तीव्र आर्थिक संकट के लिए साहसी एवं सक्रिय सुदृढ़ सरकार की आवश्यकता थी। किंतु अपनी कलहप्रियता के कारण विभाजित और पथभ्रष्ट अनेक दलों की विद्यमानता के कारण, वे संयुक्त मोर्चा नहीं लगा सकते थे। फलतः लोग ऐसी किसी भी अधिकार-शक्ति को समर्पण करने को तैयार थे, जो उन्हें पर्याप्त खाने को दे सके और जो घर तथा विदेशों में सम्मानित कुशल एवं स्थायी सरकार की स्थापना कर सके। अधिनायक राष्ट्रीय ऐक्य करने में

1. Ibid., p. 511.
2. Ibid., p. 515.

प्रशंसनीय ढंग से सफल हुए और उन्होंने लोगों में यह दिखा कर विश्वास की स्थापना भी की कि वे अधिक तत्परता और साहस से कार्य कर सकते हैं और शीघ्रतापूर्वक निर्णय कर सकते हैं। उनकी दृढ़ता और निश्चयात्मकता और लोकतंत्री शासकों की क्षीण एवं अस्थिर नीतियों के बीच करारा मुकाबला था। जब हिटलर से नात्सीवादी दल के कार्यक्रम के विषय में पूछा गया तो उसने उत्तर दिया कि जर्मनी के पास बहुत कार्यक्रम हैं, अब तो उसे सक्रिय होने की जरूरत है। अमरीकियों ने विशिष्ट रूप से इटली की अधिनायकतंत्र की प्रशंसा करते हुए इसे ऐसी प्रणाली के रूप में चित्रित किया था कि जिसकी उन्हें "चलाने, क्रियान्वित करने, सफल बनाने" की इच्छा थी।"[1]

अधिनायक को किसी से परामर्श नहीं लेना होता अथवा जिन व्यक्तियों से उसे परामर्श करना भी होता है, वे उसके निजी आदमी होते हैं जिन्होंने सदैव से उसकी इच्छा के प्रति समर्पण किया होता है। फलस्वरूप, वह तुरन्त निर्णय कर सकता है और परिणामतः संकट का योग्यतापूर्वक सामना करने में समर्थ होता है। रूस, जर्मनी, इटली, टर्की और स्पेन का हाल ही का इतिहास उन आश्चर्यों का इतिहास है *जिन्हें दृढ़-निश्चयी अधिनायक* अपने देश के राष्ट्रीय जीवन में घटित कर सकता है। हम स्पेन के अधिनायक रिवेरा (Rivera) की सफलताओं को आदर्श उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। जैक्सन ने अपनी किताब "Europe Since the War" में लिखा है: "स्पेनवासियों के इतिहास में यह पहला मौका है जब कि रेलें समय पर चली हैं। नई रेल-सड़कें बनाई गई हैं और स्पेन के परंपरागत पुराने खच्चरी-मार्गों को मोटर-सड़कों ने जगह ले ली है। अधिनायक के अधीन का व्यापार और उद्योग समृद्ध हुए हैं।... कृषि फूली फली है।... श्रम संकट दूर हो गया है।"[2] गरीबी और बेकारी का अस्तित्व नहीं है-नि संदेह, उस काल में यह एक प्रशंसनीय सफलता थी। यह स्मरणीय है कि जिस काल में अधिनायकों ने अपना जीवन आरंभ किया था, उस समय लगभग सभी महाद्वीपीय देशों की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था पूर्णतया अशांत थी। उन्होंने राष्ट्रीय पुनरुत्थान के वातावरण में कार्य आरंभ किया था और अपने देशवासियों के समक्ष देश-भक्ति, सहयोगिता और त्याग के उच्च आदर्श निरंतर उपस्थित किए थे, जिससे उनमें सेवा के गुणों की भावनाएं जाग्रत हुईं। अकेला अधिनायक ही राष्ट्र के राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण के लिए विरोध और अव्यवस्थाओं के सब अंशों का निर्दयतापूर्वक सफाया कर सकता है।

अधिनायक तंत्र के अवगुण (Demerits of Dictatorship) :— सम्भव है अधिनायकतन्त्र ने लोगों को अच्छी खाने-पीने की सामग्री दी हो। किंतु केवल अच्छी भोज्य सामग्री ही मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं। मानव-जीवन को एक से ढर्रे पर चलाना और उसे राज्य के अधीन कर देना विवेक एवं स्वतःप्रेरणा का अन्त करना है। "अधिनायक तन्त्र को चलाने का सर्वोत्तम ढंग यह है कि वह मूल-सुधार का अच्छी तरह से संगठित भवन है, जिसमें रहने वाले को उसका काम सौंपा गया है और उसके उस ढंग का चौकसी के साथ निरीक्षण किया जाता है जिससे वह उसे पूर्ण करता है।"[3] वह समाज के असफल और

1. Refer to Coker, op cit., p. 488.
2. p. 98.
3. Coker, op. cit., p. 490.

अपराधी सदस्यों के लिए पर्याप्त रूप में हितकर है, किंतु सामान्य आदमियों या उन आदमियों के लिए नहीं जो चरित्र और योग्यता में अन्यों से ऊंचे हों। लोक-जीवन की केंद्रीभूत और प्रतिरोधक दिशा मानवी व्यक्तित्व, शिक्षण, साहित्य और कला के विकास की संभावना को नष्ट कर देती है। मुसोलिनी के अनुसार, फासिस्टवादी सिद्धांत व्यक्ति को स्वीकार नहीं करता, सिवा इसके कि जहां तक उसके स्वार्थ राज्य के स्वार्थों के साथ मेल खाते हैं।" इसलिए, एकदलीवाद का "अर्थ था व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दमन करना और मानवी व्यक्तित्व को दवाना, घर में हिंसा करना तथा विदेशों पर निर्लज्जतापूर्ण आक्रमण करना, मानवी स्वभाव की नृशंस हत्या करना और संपूर्ण लोगों का सैनिकीकरण करना।"[1] इसके अतिरिक्त, जिस प्रशासन योग्यता को अधिनायकतंत्र प्राप्त करता है, वह लोगों की मौलिक भावना के लिए घातक है। अधिनायक निर्देश करता है और शेप अन्य से अपना कर्त्तव्य पालन करने की आशा की जाती है। यह व्यक्ति की स्वतः-प्रेरणा और साहसिक कार्य की हत्या करना कहा जा सकता है।

वल-प्रयोग और भय उन लोगों के लिए अधिकार-शक्ति के स्वाभाविक आधार हैं, जो राष्ट्रीय शक्ति और विजय को ही स्वतः लक्ष्य मानते हैं। किंतु वल-प्रयोग का विवेक-शून्य प्रयोग खतरे से पूर्ण है। वेनेडेटो क्रोस (Benedetto Croce) कहते हैं, इतिहास की शिक्षाएं यह हैं, "कि ..... वल-प्रयोग के शासन केवल अवनत लोगों में जीवित रह सकतें हैं, वे उन राष्ट्रों में केवल अस्थायी प्रयोग के रूप में मूर्त्त हो सकते हैं जो उन्नत हो रहे हों और उत्कर्ष काल में हों, और कि ....दमनचक्र उन ताकतों के भयानक धमाके का कारण वनेगा, जिन पर वे प्रतिवन्ध लगते हैं।"[2] जिसकी वल-प्रयोग द्वारा रचना की जाती है, उसका वल-प्रयोग से ही नाश हो जाता है। इसलिए, वल-प्रयोग राज्य का सुदृढ़ आधार नहीं है। शासितों की अनुमति इसकी वास्तविक और दृढ़ आधारशिला है। क्योंकि अधिनायकतंत्र लोगों की अनुमति से अधिकार-शक्ति नहीं ग्रहण करता, इसलिए, अधिनायक अपनी स्थिति के विपय में कदापि निश्चित नहीं हो सकता। वह तनिक से विरोध तक को भी हिंसक एवं प्रतिरोधक उपायों को अपना कर दवाता है। "इस प्रकार की नीति भविष्य के लिए विनाश उत्पन्न करती है, क्योंकि सव मत-भेदों को दूर करने के लिए उस सव को उखाड़ फेंकना होता है जो समुदाय को मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से जीवित रखता है।" राष्ट्रीय शक्ति की उपासना अन्तर्राष्ट्रीय धमकी की जन्मदात्री है। एकदलीय राज्य का आदर्श राष्ट्रीय राज्य है, जो "आन्तरिक रूप में सुव्यवस्थित हो, आक्रांता हो, और विस्तार पर अड़ा हो।" तदनुसार, यह अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विरोधी है और मानवी तर्क और विवेक का दिवालियापन है। इन अवस्थाओं के अधीन क्या हम अधिनायक-तंत्र को लोकतंत्र का उचित विकल्प मान सकते हैं? एक आधुनिक लेखक के मतानुसार अधिनायकतंत्र अत्याचारियों का स्वर्ग है, एकदलीय राज्य एक जेल है और उसकी प्रजा दीवारों के अंदर-अंदर वंद है, तो भी वास्तविक है, क्योंकि अदृश्य है।"

1. Asirvatham, op. cit., p. 517.
2. Coker, op. cit., p. 490.

Suggested Readings

Asirvatham, E.—Political Theory, Chapt. XV.
Bagehot, W.—*The English Constitution*, Chapt. II *(1867)*.
Brogan, D. W.—The American Political System (1933).
Bryce, J.—The American Commonwealth, (1888)
Finer, H.—Mussolini's Italy.
Ford, H. J.—Representative Government, Chapt. XI, (1924).
Garner, J. W.—Introduction to Political Science, pp. 178-191, 197-200, (1910).
Garner, J. W.—Political Science and Government, pp. 322-344, 423-438.
Hoover, C. B.—Dictatorship and Democracies (1937).
Hitler, A.—Mein Kampf.
Jennings, W. I.—Cabinet Government (1951)
Laski, H. J.—The American Presidency (1940).
Laski, H. J.—Parliamentary Government in England (1938).
Lowell, A. L.—Government of England, Vol. I, Chapts. II, III, XVII-XVIII.
Mussolini, B.—The Political and Social Doctrines of Socialism.
Row, E. F.—How States are Governed.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chapt. XIX-XX.
Wilson, W.—Congressional Government (1894).

अध्याय : : १४

राज्य का संविधान

(The Constitution of the State)

संविधान के अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Constitution) :—संविधान के विना कोई राज्य नहीं हो सकता। संविधान शब्द जीवन की उस शैली की ओर संकेत करता है जिसे राज्य ने अपने लिए चुना होता है और इसमें वे मौलिक सिद्धांत सम्मिलित होते हैं, जो राज्य के संगठन को वनाते हैं। फलतः, संविधान इन वातों का निश्चय करता है :

१. सरकार का संगठन।
२. सरकार के विभिन्न विभागों के वीच संवंध।
३. सरकार के प्रत्येक विभाग द्वारा प्रयुक्त होने वाले अधिकार और कृत्य।
४. शासकों और शासितों के वीच संवंध।

आस्टिन (Austin) संविधान की व्याख्या इस तरह करते हैं, "कि जो सर्वोच्च सरकार के ढांचे को नियत करता है।" वुल्से (Woolsey) कहते हैं कि संविधान "उन सिद्धांतों का संग्रह है, जिनके अनुसार सरकार की शक्तियां और शासितों के अधिकारों तथा दोनों के वीच संवंधों का समन्वय किया जाता है।" एक संविधान का लिखित होना अनिवार्यतः आवश्यक नहीं। यह लिखित अथवा अलिखित दोनों ही हो सकता है, किंतु हम ऐसे किसी भी राज्य का विचार नहीं कर सकते जो संविधान के विना हो।

सव से पहले संविधान शव्द का प्रयोग कतिपय कानूनों और अनुविधियों (Statutes) के लिए किया गया था, जिन्हें इंग्लैंड के हेनरी द्वितीय ने जारी किया था। वह "Constitutions of Clarendon" के नाम से ख्यात है।' वर्जिनिया कंपनी को दिये गए दूसरे और तीसरे घोपणा-पत्र में भी इसका प्रयोग किया गया था। जो भी हो, संविधान का नवीन विचार उन घोपणा-पत्रों से सम्वद्ध है, जिनका अमरीका स्थित अंग्रेज़ी उपनिवेशों को अनुदान किया गया था।[१] क्रामवेल के सैनिकों द्वारा रचित "लोक-संधि" (Agreement of the People); १६५३ में क्रामवेल द्वारा जारी किये गए रक्षित-राज्य (Protectorate) "सरकारी आदेश" (Instrument of Government); और क्रांति से पूर्व अमरीकी उपनिविशवादियों द्वारा रचित विभिन्न "घोपणाएं और निर्णय"—ये सव संविधान पद का संकेत करते हैं और उन आधार-मूलक नियमों को प्रकट करते हैं जो सरकार के संगठन से संवंधित हैं। किंतु इसके जिस निश्चित अर्थ से हम परिचित हैं, वह अमरीका स्थित १३ उपनिवेशों द्वारा अपने सरकारी आदेशों में दिया गया था जिसे उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन से अलग होने के वाद रचा था।

---

1. Garner, Introduction to Political Science, p. 374.

संविधान के प्रकार
(Kinds of Constitution)

विकसित और निर्मित संविधान (Evolved and Enacted Constitution):—कुछ लेखकों द्वारा संविधान का (Cumulative or evolved) सचित या विकसित और (Conventional or enacted) रूढ़िगत या निर्मित इन दो रूपों में वर्गीकरण किया गया है। एक विकसित सविधान इतिहास की उपज और विकास का परिणाम है। इसकी उत्पत्ति की खोज मुख्यतः उन रीतियो में की जा सकती है जो अधिकाशतः सचित रूढ़ियो, सर्वमान्य कानूनी सिद्धांतो, न्यायालयो के निर्णय आदि से बनी होती है। इस तरह का सविधान जाने-बूझे नही बनाया जाता, प्रत्युत यह उत्पन्न होता है और इसकी जड़े प्राथमिक अतीत में पाई जा सकती है। रूढ़िगत या निर्मित (Conventional or enacted) सविधान दूसरी ओर, मनुष्य प्रणीत होता है। यह विशेषतया विशिष्ट अवसर पर बनाया जाता है और यह या तो सविधान सभा के विचार-विनिमय का पारिणाम होता है अथवा राजा द्वारा जारी किया जाता है। रूढ़िगत सविधान की धाराए लिखित दस्तावेज या दस्तावेजों में समाविष्ट होती है।

लिखित और अलिखित संविधान (Written & Unwritten Constitution) :—विकसित और निर्मित सविधानो के बीच वही अतर है, जो अधिक या न्यून लिखित एव अलिखित सविधानों में है। अलिखित सविधान वह है, जिसमें अधिकाश, किंतु सारे नही, आधारमूलक नियमो को कदापि लिखित नही किया गया। यह न तो संविधान सभा का हस्तकौशल है और न ही शासक का अनुदान। यह विधिगत और सगठित दस्तावेज मे समाविष्ट नही है। यह मद और स्थिर विकास की उत्पत्ति है और सर जेम्स मैंक्लनटोष (Sir James MacIntosh) की कहावत के अनुसार सविधान बनाने की बजाय उत्पन्न होते है। चूकि यह एक दृष्टात से दूसरे दृष्टात मे से उत्पन्न होता है, और विकास का परिणाम है, अलिखित सविधान अधिकाशतः रीतियों, परपराओं, रूढ़ियों और न्याय-विभागीय निर्णयो के समूह का बना होता है। इसके भीतर आधारमूलक स्वरूप के रूढ़िगत कानूनो का समूह भी हो सकता है, जो समय-समय पर अनिवार्यता की माग पर स्वीकृत किये गए हो। किंतु लिखित अश अलिखित अश की अपेक्षा अत्यधिक लघुतर अनुपात में होता है। इसके साथ ही, उसपर किसी एक विधि की छाप नही होती।

. **ब्रिटिश संविधान** (British Constitution) :—अलिखित सविधान का सर्वोत्तम उदाहरण यूनाइटिड किंगडम का सविधान है। किंतु इसमे लिखित अश भी है। अनेक ऐसे सवैधानिक नियम है, जिन्हें भिन्न-भिन्न समयों पर बनाया गया था, और जो सरकार के जुदा अगों के साथ व्यवहृत होते हैं। इनमें सर्वाधिक ख्यात ये है : अधिकार-पत्र, उपनिवेश अधिनियम, पार्लामेंट अधिनियम १९११, हेबियस कार्पस एक्ट (व्यक्तिगत स्वतत्रता का शासन-सूत्र) और पार्लामेंट्री मत-दान से सम्बधित विभिन्न सुधार कानून (Reform Acts)। ये सब कानून उन विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वीकार किए गए ज्यों-ज्यो वे उत्पन्न

हुई। किसी भी समय संपूर्ण संविधान वनाने का विचार नहीं हुआ। तिस पर भी, इसका मुख्य भाग सामान्य रीति-रिवाजों द्वारा नियमित होता गया और वही ब्रिटिश संविधान की आत्मा है। उस देश में राजतंत्र का संवैधानिक स्वरूप प्रस्थापित रीति-रिवाजों का ही परिणाम है। मंत्रि-मंडल स्वत: अवसर-जन्य है। पुन:, यह परंपरा का ही प्रभाव है कि मंत्रिगण उस समय पद-त्याग कर देते हैं जब उनमें लोक-सभा के विश्वास का अभाव हो जाता है। यह भी रीति-रिवाज का ही प्रश्न है कि अंग्रेज वादशाह लोक-सभा द्वारा स्वीकृत विधेयक को भी अब रद्द (Veto) नहीं करता। यह रीति महारानी एन्ने (Queen Anne) द्वारा स्थापित की गई थी और तब से बहुत सावधानी के साथ इसका पालन किया जाता है। ब्रिटिश संविधान अपने वैध स्वरूप में नितांत अक्रियात्मक है। वस्तुत:, इसके राजनीतिक संगठन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग यह "ठीक-ठीक वही है जो लिखित कानून में तो रखा नहीं गया और रीति-रिवाज के संरक्षण के अधीन सौंपा गया है।"

लिखित संविधान (Written Constitution) :—दूसरी ओर, लिखित संविधान वह है जिसमें अधिकांश आधार-मूलक धाराओं को एक या कई दस्तावेजों में लिखा गया है। यह सरकार के संगठन के मोटे सिद्धांतों को लिखित रूप देने के स्व-प्रेरित यत्नों का सदा परिणाम होता है। यह या तो भारत की तरह, संविधान सभा द्वारा बनाया जा सकता है अथवा इसे एक देश की विधान सभा दूसरे देश के लिए बना सकती है, जिस पर वह प्रभु-सत्ता का प्रयोग करती है। द्वितीय का उदाहरण गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, १९३५ है, जिसे ब्रिटिश लोक-सभा ने भारत पर शासन करने के लिए स्वीकृत किया था। कोई लिखित संविधान एक राजा की भी देन हो सकता है, जो अपने उत्तराधिकारियों सहित स्वयं भी घोषणा की धाराओं के अनुसार शासन करने को प्रतिज्ञा-बद्ध होगा।

सामान्यत:, किसी लिखित संविधान पर एक नियत तिथि अंकित होती है, यद्यपि ऐसे भी उदाहरण हैं, जब कि लिखित संविधानों पर भिन्न तिथियां अंकित हुई हैं और जो आदेशों द्वारा बनाए गए हैं। १८७५ के फ्रांसीसी गणतंत्र का संविधान (Constitution of French Republic) टुकड़ों में था और एक अकेले दस्तावेज में नहीं था। यह तीन संवैधानिक कानूनों का बना हुआ था जो २४ फरवरी, २६ फरवरी और १६ जुलाई, १८७५ को स्वीकार हुए थे। एक लिखित संविधान स्वरूप में सर्वथा भिन्न होता है और विशिष्ट स्वीकृति द्वारा प्रस्थापित होता है। संवैधानिक कानून का संशोधन किया जाता है और उससे भिन्न विधि द्वारा परिवर्तन किया जाता है जो सामान्य कानून का संशोधन करने के लिए आवश्यक होती है। इसका अर्थ है सामान्य कानून और संवैधानिक कानून के बीच निश्चित पृथकता। इस प्रकार, जिन राज्यों के लिखित संविधान होते हैं, उनमें कानून बनाने वाली दो अधिकार-शक्तियां होती हैं, और कानून की दो संस्थाओं में एक संवैधानिक और सर्वोच्च, और दूसरी अनुविध्यात्मक (Statutory) तथा सहायक।[1] अनु-विध्यात्मक कानून वैधानिक कानून की धाराओं के साथ मेल खाने वाला होना चाहिए, अन्यथा यह अवैधानिक अथवा कानून-विरुद्ध हो जाता है।

लिखित और अलिखित संविधानों में भेद वास्तविक नहीं है। (Distinction between written and unwritten Constitution is not

1. Garner: An introduction to Political Science, p. 380.

real) :—संविधानों के लिखित और अलिखित रूप में वर्गीकरण काल्पनिक और असंतोषजनक है। ऐसा कोई भी संविधान नहीं होता, जो पूर्णतया लिखित हो या सर्वथा अलिखित हो। लिखित और अलिखित अंश प्रत्येक संविधान में विद्यमान होते हैं। लिखित और अलिखित संविधान में प्रकार की अपेक्षा वस्तुतः मात्रा का अंतर होता है। सभी लिखित संविधान उत्पन्न होते हैं और समय के साथ-साथ या तो रीति-रिवाजों या न्याय-विभागीय व्याख्याओं के फल-स्वरूप विस्तार पाते हैं। ब्राईस का कथन है, लिखित संविधान "व्याख्याओं द्वारा विकसित होते हैं, निर्णय द्वारा शोभित होते हैं, और रीति-रिवाजों से वृद्धि पाते हैं, जिससे कुछ समय बाद उनका मूल रूप अपने पूर्ण प्रभाव को प्रकट नहीं करता।" न हो लिखित संविधान के रचयिता भविष्य को पूर्वतः देख सकते हैं और तदनुसार संविधान को रूप दे सकते हैं। मनुष्य शक्तिशाली है और वैसी ही उसकी राजनीतिक संस्थाएं हैं। उन्हें किसी खास समय पर बनाए गए संविधान में निहित नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप, परंपरागत अंश अनिवार्य है। डी मेस्टर (Be Maistre) फ्रांसीसी लेखक का कहना है, "जो कुछ स्वभाव से वैधानिक और आधारमूलक है, वह राज्य को हानि पहुंचाए बिना, न तो लिखित हो सकता था और न ही है। उनका मत है कि किसी संविधान की दुर्बलता और क्षीणता, लिखित अंश के प्रत्यक्ष अनुपात की मात्रा में होती है।"[1]

अब हम कुछ ठोस उदाहरणों से इसे चित्रित करने की चेष्टा करते हैं, विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र अमरीका के दृष्टांत द्वारा जो लिखित संविधान का सर्वोत्तम प्रकार माना जाता है। उस देश में कुछेक राजनीतिक व्यवस्थाएं हैं, जैसे प्रेसिडेंट का मंत्रि-परिषद् और राजनीतिक दल, जिन्हें वैधानिक स्वीकृति नहीं है। संविधान अप्रत्यक्ष विधि से प्रधान के चुनाव का आदेश देता है किंतु रूढ़ि ने इसे प्रत्यक्ष बना दिया है। इसी प्रकार, वाशिंगटन ने एक दृष्टांत स्थापित कर दिया है कि प्रेसिडेंट दो बार से अधिक अपने को चुनाव के लिए न पेश करे यद्यपि संविधान इस तरह की मर्यादा निर्धारित नहीं करता। इस रीति का पालन प्रेसिडेंट रूजवेल्ट तक किया गया जो चौथी बार भी चुनाव के लिए खड़े हुए। जो भी हो, अब संविधानीय संशोधन द्वारा प्रेसिडेंट के पद का काल दो बार के लिए नियत कर दिया गया है। संविधान, संघीय अफसरों को पदच्युत करने की शक्ति किसके पास है, इस विषय में भी मौन है। किंतु सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला किया कि यह शक्ति केवलमात्र प्रेसिडेंट के पास है। केंद्रीय सरकार के अधिकारों को भी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों से पर्याप्त रूप में विस्तार दे दिया गया है।

दूसरी ओर, अलिखित संविधानों में बहुत बड़ा लिखित अंश होता है। जो अधिकांशतः पहले रीति और रूढ़ि थी उसे प्रचलित कर दिया जाता है और यह प्रवृत्ति समय के साथ वृद्धि करती जाती है। हेनरी मेन के उल्लेखानुसार, ब्रिटिश संविधान का वृहद् भाग, पूर्वतः लिखित है। "ताज की बहुत सी शक्तियों, हाउस आव लार्ड्स की संपूर्ण न्याय-विभागीय शक्तियों सहित अनेक शक्तियां, लोकसभा (House of Commons) का अधिकांश संविधान और उसके निर्वाचक मंडल के साथ-साथ संपूर्ण संबंधों की पार्लमेंट के अधिनियम द्वारा बहुत दिनों में परिभाषा की जा चुकी है।"[1] यद्यपि ब्रिटिश संविधान के

1. *Ibid.*, p. 389

विधान-सभा वनाते हैं और इसका अधिकार उसी उद्देश्य तक सीमित होता है जिसके लिए इसकी रचना की गई होती है। यह सामान्य कनूनों को नहीं वना सकती। एक सुपरिवर्तनीय संविधान लिखित या अलिखित कोई भी हो सकता है। द्वितीय-विश्व युद्ध से पूर्व इटली का संविधान लिखित था, तिस पर भी सुपरिवर्तनीय दुष्परिवर्तनीय संविधान में संवैधानिक कानून और सामान्य कानून के वीच भेद किया जाता है। किंतु सुपरिवर्तनीय संविधान में इस प्रकार का भेद नहीं होता।

सुपरिवर्तनीय तथा दुष्परिवर्तनीय संविधानों के गुण और अवगुण (Merits and Demerits of Rigid and Flexible Constitutions)

दुष्परिवर्तनीय संविधान के गुण (Merits of a Rigid Constitution) :—एक दुष्परिवर्तनीय संविधान को अनिवार्यतः लिखित संविधान होना चाहिए और, फलस्वरूप, उसमें निश्चयात्मकता, असंदिग्धता, स्पष्टता और स्थिरता होती है। चूंकि यह सिद्ध नीतिज्ञों और वयोवृद्ध राजनीतिज्ञों के परिपक्व विचार-विमर्शों का परिणाम होता है, इसलिये द्वयर्थता से वचाने के लिए सव संभव सावधानी की जाती है। प्रयुक्त भाषा स्पष्ट और सार्थक होती है। और भ्रम तथा द्वयर्थ की कोई संभावना नहीं होती। एक दुष्परिवर्तनीय संविधान को लोक-अधिकारों का पवित्र कोष माना जाता है और उन अधिकारों की गारण्टी दी जाती है और उचित रूप से उनकी रक्षा की जाती है। संदेह की अवस्था में सदैव संविधान का आश्रय लिया जा सकता है। इस तरह प्रतिज्ञावद्ध अधिकार अधिक स्थायी और निरंतर एवं शीघ्र परिवर्तनों से मुक्त होते हैं। उसमें अनधिकृत-प्रवेश की न्यूनतम संभावना होती है, क्योंकि दुष्परिवर्तनीय संविधान को "न्यायालय क्षणिक आवश्यकता के अनुसार झुका और तोड़-मोड़ नहीं सकते।" संशोधन कठिन होने के कारण लोक-आंदोलन से कम प्रभावित होता है। फलस्वरूप, एक दुष्परिवर्तनीय संविधान में स्थायित्व और स्थिरता का समावेश होता है। एक दृढ़ संविधान में, जो अस्थायी लोक-आंदोलन के भय से मुक्त होता है, निश्चय ही लोगों का विश्वास निहित होगा, विशेषकर अल्पसंख्यकों का। साथ ही यह संकीर्ण भी होता है। लोग सामान्य विधान-निर्माण तक को संविधान की प्रदत्त धाराओं की दृष्टि से तौलते हैं। न्यायाधीश संविधान की व्याख्या करते समय कानून के पत्र द्वारा और संविधान के भाव द्वारा कार्य करते हैं।

दुष्परिवर्तनीय संविधान के अवगुण (Demerits of a Rigid Constitution) :—किंतु जब कठोरता और संकीर्णता अनिवार्य आवश्यकता की सीमा पार कर जाती है, तो वह दुर्वलता के अंश सावित होते हैं। दुष्परिवर्तनीय संविधान का संशोधन करने की कठिनाई वहुधा राष्ट्रीय-हितों के विपरीत सिद्ध हुई है। इसके कारण अनावश्यक देरी होती है, जिससे भ्रांति हो सकती है। उदाहरण के लिए संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में संवैधानिक संशोधन की विधि को लीजिये। वहां कोई नियत समयावधि नहीं है, जिसके भीतर राज्य-विधान सभा तीन-चौथाई से संवैधानिक संशोधन का समर्थन कर सकें। इसमें अनिश्चित रूप से देरी हो सकती है और, ऐसी दशा में, संशोधन का उद्देश्य भी नष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त, अमरीका के अपेक्षाकृत १३ छोटे राज्य संवैधानिक संशोधन को रद्द (veto) कर सकते हैं, जो राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक हो सकता है। लार्ड मैकाले

के कथनानुसार, सब क्रातियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण हेतु यह तथ्य है कि जब राष्ट्र अग्रगामी होते हैं तो संविधान अचल रहता है। यदि सशोधन अत्यधिक सहज नही होता तो दुष्परिवर्तनीय सविधान स्थिर बन जाता है। एक अच्छा सविधान वह है, जिसका सहज ढग से समन्वय हो सके, और जो परिवर्तित सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अवस्थाओ के अनुसार ग्राह्य हो। "प्रगति ग्राह्यता और लोच की माग करती है, और इस प्रकार की ग्राह्यता और लोच ऐसे देशों के दुष्परिवर्तनीय संविधानों मे पाई जा सकती है, जिनमें सशोधन की विधि पर्याप्त रूपेण सहज हो।"[1]

किसी विशिष्ट समय पर बनाया गया एक दुष्परिवर्तनीय सविधान दूरस्थ भविष्य को पूर्वतः नही देख सकता। भले ही, उसके रचयिताओं की दृष्टि बड़ी दूर तक जाने वाली हो, वह आने वाले समय की बातो के आकार की कल्पना नही कर सकते। "यह (एक दुष्परिवर्तनीय संविधान) एक व्यक्ति के भावी उत्कर्ष और आकार मे परिवर्तन को ध्यान में न रखते हुए वस्त्रों को फिट करने जैसी चेष्टा है।"[2] एक दुष्परिवर्तनीय सविधान भूत और भविष्य की पूर्व-कल्पना को किसी प्रकार की मान्यता नही देता, और, इसलिए, दृष्टिकोण में अनुदार और सकीर्ण होता है।

दुष्परिवर्तनीय सविधान के अधीन न्याय विभाग का सबध यह देखने से होता है कि कानून सविधान की धाराओ के अनुकूल है या नही। न्यायाधीश सामान्यतः अपने दृष्टिकोण में सकीर्ण होते है और जब वे कानून के पत्र पर दृष्टिपात करते है तो वे सविधान का समन्वय करने की आवश्यकताओ की नवीन भावना के प्रति मान्यता प्रदान नही करते। लास्की का कथन है, "न्यायाधीशों को विधान-निर्माण की इच्छा को लाघने की शक्ति सौंपना, मोटे तौर पर उन्हें राज्य मे निर्णायक अश बनाना है।[3]" न्याय विभाग का यह दृष्टिकोण, जिसमे लोच, और फलस्वरूप, ग्राह्यता का अभाव है, ऐसी शक्तियो की वृद्धि कर सकता है, जो स्वतः संविधान को पलट दें।

कुछ लेखको का मत है कि दुष्परिवर्तनीय सविधान अपेक्षाकृत बहुमूल्य होते है, क्योंकि उनमें दलीय भावनाओ को कम गुजाइश होती हैं। किंतु यह ठीक नही। "दुष्परिवर्तनीय सविधान राष्ट्रीय भावना के दृष्टि-बिदु होते है, वे राष्ट्रीय विचार-विमर्श के केंद्र होते हैं और ऐसा होने पर सुपरिवर्तनीय संविधानों की अपेक्षा दलीय शक्तियो के प्रति अधिक प्रभावित होते हैं।"[4]

सुपरिवर्तनीय संविधान के गुण (Merits of a flexible Constitution) सुपरिवर्तनीय सविधान के लाभ उसकी महत्वपूर्ण लोच और ग्राह्यता में निहित है। एक सुपरिवर्तनीय सविधान समान सरलता और सुविधा के साथ सशोधित किया जा सकता है जिससे सामान्य कानूनो में परिवर्तन किया जा सकता। फलस्वरूप, यह समाज की नई और परिवर्तित अवस्थाओ के अनुकूल सविधान का समन्वय सभव बनाता है। अगरेजो के संविधान का यह सुपरिवर्तनीय रूप ही है कि जिसने अनेक अवसरों पर उसकी क्रान्ति के भयों से रक्षा की है। सुपरिवर्तनीय सविधान विशेष रूप से प्रगतिकारी राज्य की आवश्-

1. Gilchrist, op. citd, p. 213.
2. Garner: Introduction to Political Science, p. 394.
3. Laski: Grammar of Politics, p. 301.
4. Gilchrist: op. citd., p 213.

यकताओं के सर्वाधिक अनुकूल होता है, क्योंकि यह वैध और व्यवस्थित उत्कर्ष के साधनों का प्रदाता है। चूंकि यह नई समस्याओं को सहज ही हल करता है, इसलिए सुपरिवर्तनीय संविधान उनकी अर्थ-पूर्ति द्वारा क्रान्तियों को या तो रोकता है अथवा कम करता है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में, और साथ ही प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में भी, ऐसे अवसर होते हैं, जब लोचहीनता न केवल हानिकारक सिद्ध होती है, प्रत्युत भयंकर भी। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका का संविधान मांग करता है कि प्रधान के चुनाव प्रत्येक चार वर्षों के बाद होने चाहिएं, भले ही शान्ति हो या युद्ध। यदि रूज़वेल्ट ड्यूई (Dewey) से पराजित हो जाते, तो इसका अर्थ नई सरकार की नई नीति होता, यद्यपि इसका मुख्य उद्देश्य भी युद्ध जीतना हो सकता था। युद्ध-काल में आम चुनावों का अर्थ अस्तव्यस्तता और छिन्नता होता है, किन्तु दुष्परिवर्तनीय संविधान की दशा में उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जो भी हो, इस प्रकार की संविधानीय मांगें सुपरिवर्तनीय संविधान के अधीन सुविधापूर्वक स्थगित की जा सकती हैं। संयुक्त राज्य में, आम चुनाव, द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में देश के प्रशासन यन्त्र को अशांत किये बिना और उसके साथ ही सरकार की नीति को एकसा रखते हुए वर्षों स्थगित किये जाते रहे। शत्रुता की समाप्ति के तत्काल बाद ही, इंग्लैंड में एक बार पुनः चुनाव हुए और मजदूर दल चर्चिल को पदच्युत करके बहुमत से जीत गया। "उन्हें (सुपरिवर्तनीय संविधानों को) उनके आकार को भंग किये बिना संकट का सामना करने के लिए फैलाया अथवा घुमाया जा सकता है; और जब संकट का समय निकल जाता है, वे अपने पुराने रूप को उस पेड़ की भांति धारण कर लेते हैं, जिसकी बाहरी शाखाओं को मोटर निकालने के लिए खींचा गया होता है।"

एक दुष्परिवर्तनीय संविधान लोगों की आवश्यकताओं और विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला नहीं कहा जा सकता। यह न तो स्वाभाविक ऐतिहासिक उत्कर्ष का परिणाम होता है, न ही यह लोगों के अनुभव का प्रतिनिधि होता है, और न ही यह राष्ट्रीय जीवन की परम्पराओं द्वारा ढला होता है। दूसरी ओर, एक सुपरिवर्तनीय संविधान इन सब अंशों से समाविष्ट होता है। वह लोकमत की गति और उसकी भावनाओं का अनुभव करने का दावा कर सकता है। जज कूली (Judge Cooley) ने कहा है, "सब संविधानों में, जो लोक-सरकार के लिए अस्तित्व ग्रहण कर सकते हैं, स्पष्टतया वही सर्वोत्तम है, जो राष्ट्रीय जीवन के स्वाभाविक उत्कर्ष से उत्पन्न होता है, और जो राष्ट्र की परिपक्वता के साथ-साथ बढ़ते और फैलते हुए, सरकार और नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के स्वीकृत सिद्धान्तों के विषय में प्रचलित भावना को किसी विशिष्ट समय पर व्यक्त कर सकता है।"

सुपरिवर्तनीय संविधान की दुर्बलता (Weakness of a flexible Constitution)— सुपरिवर्तनीय संविधान को दुर्बल और स्थायित्व की गारन्टी के बिना चित्रित किया जाता है। संशोधन की विधि सरल होने के कारण, यह नित्य परिवर्तन-शील लोक-आन्दोलनों द्वारा भयंकरता से प्रभावित हो सकता है। लोक-आन्दोलन सदैव तर्क बिना होते हैं, क्योंकि यह आवेशों पर आधारित होते हैं। आवेश तर्क का गला घोंट लेता है और विचार-शक्ति का गला दबा देता है और लोक-नायकों को जनता के आवेशों से खेल

करने का पर्याप्त अवसर देता है। पुनः सविधान में परिवर्तन सभव है और वह सकट के लिए न होकर राजनीतिक बहुमत की सनकों को पूरा करने के लिए हो सकता है। सिजविक के कथनानुसार, इस तरह "बहुमूल्य नियम और सस्थाएं लोकनिन्दा की क्षणिक रुचि में नष्ट हो सकती हैं और प्राचीनताओं तथा अखंड रीति-परम्पराओं द्वारा प्रदत्त स्थिरता को खो सकती है।" फलतः सुपरिवर्तनीय सविधान ऐसे देशों के उपयुक्त नहीं, जहां के लोगों में राजनीतिक शिक्षण अपर्याप्त है। यह केवल उन्ही लोगो के उपयुक्त है, जिन्हें राजनीतिक प्रशिक्षण उच्चतर रूप में दिया गया हो। "उस प्रशिक्षण में इस प्रणाली की रक्षा के लिए दो अग अत्यावश्यक महत्व के होगे; प्रथम, अपने राजनीतिक अधिकारों और कर्तव्यों को, जो नागरिकों में सामान्य हो, पूर्णता के साथ समझना; द्वितीय, सविधान को भग करने की घटनाओ की अत्यधिक चौकसी से खोज करना; और अत्यधिक तत्परता और शक्ति के साथ उन्हें रोकना तथा दडित करना।" सुपरिवर्तनीय सविधान के अधीन, जहा नागरिक चौकस नहीं होंगे, लोगों के अधिकारो पर छीना-झपटी हो सकती है।

इसके अतिरिक्त सुपरिवर्तनीय सविधान को "न्याय-विभागीय न्यायालयों की कठ-पुतली" कहकर आलोचना की गई है। पुन यह सामान्य रूप से विश्वास किया जाता है कि सुपरिवर्तनीय सविधान के अधीन सरकारी नोकरी में विस्तृत शक्तिया तथा अपेक्षाकृत वृहद् भेदभाव निहित होता है। अन्ततः यह तर्क दिया जाता है कि सुपरिवर्तनीय सविधान लोकतन्त्री शासनों के उपयुक्त नही। इसमें नोकरशाही समाजो के लिए बड़ी आत्मीयता होती है। "लोकतन्त्र में जनता उन सविधानीय अधिकारो के प्रति, जो नियमतया प्रचलित नहीं होने प्रत्युत रीति और रूढ़ि पर मुख्यत आश्रित होते हैं, यदि विरोधी नहीं, तो सदिग्ध तो होती ही है" और ये सब रीतिया और रूढिया भूतकाल की नोकरशाही द्वारा स्थापित होती हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—सुपरिवर्तनीय सविधान के चाहे जो गुण हो, आधुनिक प्रवृत्ति लिखित और दुष्परिवर्तनीय सविधान के प्रति है। वर्तमान में ब्रिटिश सविधान ही सुपरिवर्तनीय सविधान का एकमात्र उदाहरण रह गया है और गिल-क्राईस्ट भविष्यवाणी करते हैं कि "कुछ ही वर्षों में सुपरिवर्तनीय प्रकार का एक भी उदा-हरण नही रह पायेगा।" सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने सबसे प्रथम लिखित सविधान का प्रयोग किया था और अन्य देशों ने उसका अनुकरण किया। दुष्परिवर्तनीय सविधानों में ही भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ता है और इसके समर्थन में अनेक युक्तिया दी जा सकती हैं। पहली तो यह कि आधुनिक प्रवृत्ति अधिकारो की सविधानीय गारन्टी के पक्ष में है, जो निश्चयपूर्वक सरकार की शक्तियों पर रोक का काम करती है। दूसरी यह कि स्व-सरकार के आदर्श में लोकतन्त्र को सर्वोत्तम स्थान प्राप्त है और लिखित सविधान में इसका समावेश होता है। तीसरे यह कि, जब कभी भी किसी देश में पुरानी सरकार की जगह नये रूप की सरकार जारी की जाती है तो सामान्यतः प्रवृत्ति यह होती है कि नये रूप को लिखित सविधान में निश्चित रूप दिया जाय। अन्ततः यह कि, सारी दुनिया सघवाद के इर्द-गिर्द चक्कर काट रही है और सघीय रूप की सरकार के लिए लिखित तथा दुष्परिवर्तनीय सविधान अनि-वार्य है।

अतिरिक्त "विस्तृत संविधान सरकार के अविश्वास का द्योतक है। विधान सभाओं का ह्रास हो जाता है और वे जिम्मेदारी से बचती हैं बशर्ते कि महत्वपूर्ण मामलों को उनके अधिकार से हटा लिया गया हो और उनका संविधान में निर्णय किया गया हो।" इससे अधिक जो संविधान बहुत विस्तार में चला जाता है, वह शीघ्र ही पुराना हो जाता है। नवीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव कई धाराओं को परिवर्तन योग्य बना देते हैं, जिससे उनके संशोधन की आवश्यकता हो जाती है। यह सत्य है कि निरन्तर संशोधन संविधान को दुर्बल बना देते हैं। किन्तु यदि उसे उसके मौलिक रूप में स्थिर रहने दिया जाय तो संविधान का सम्मान नहीं रह जाता।

लिखित संविधान के विषय

(Contents of a Written Constitution)

लिखित संविधान में सामान्यतः तीन बातों का संकेत होता है :—

१. आधारभूत नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की स्थापना करने वाले अधिकार।

२. सरकार के संगठन की रूप-रेखा का निर्देश करने वाले नियम।

३. संविधान का संशोधन करने के लिए शर्तें।

ये शर्तें संविधान की तीन महत्वपूर्ण अनिवार्यताएं मानी जाती हैं। वर्गेस शर्तों के पहले समूह को स्वतन्त्रता का संविधान, दूसरे को सरकार का संविधान और अन्तिम को प्रभुसत्ता का संविधान कहता है।

स्वतंत्रता का संविधान (Constitution of Liberty)—आधारमूलक अधिकारों की संविधानीय शर्त स्वतन्त्रता की अनिवार्य शर्त मानी जाती है, क्योंकि यह सरकार की शक्तियों पर निश्चित मर्यादाएं लगाती है। गणतन्त्री राज्य में इसे "अधिकारों का विवेयक" या "अधिकारों की घोषणा" नाम दिया जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लोग इन अधिकारों के प्रति बहुत आत्मीयता प्रकट करते हैं। भारत के संविधान में आधारमूलक अधिकारों के शीर्षक के अधीन अधिकारों की विस्तृत घोषणा की गई है।[1] आधारमूलक अधिकारों की ये घोषणाएं वीमार संविधान (Weimar) की घोषणाओं को भी पार कर गई हैं जिन्हें अब तक सर्वोत्तम माना गया था।

सरकार का संविधान (Constitution of Government)—इस संविधान का उद्देश्य सरकार के भिन्न अंगों की शक्तियों की रचना तथा रूप-रेखा बनाना है और ऐसा सामान्य स्वरूप बनाना है जिनमें इन शक्तियों का प्रयोग किया जायगा। इसके अत्यधिक विस्तृत अर्थ में सरकार के संगठन में विभिन्न विभागों के अधिकार, विशिष्ट साधनों का संगठन, जिसके द्वारा राज्य अपने को व्यक्त करता है, उनकी अधिकार शक्ति की सीमा तथा अवधि, और निर्वाचकों का संविधान सम्मिलित है। कुछ संविधानों में ये शर्तें खंडित हैं और स्वरूप में अत्यधिक सामान्य हैं। १८७५ में फ्रांसीसी संविधान में आदेश किया गया है कि केवल सहकारियों (Deputies) को व्यापक चुनावों द्वारा चुना जायगा। इसमें डिप्टियों के सदन के संगठन के विषय में, चुनाव की विधि के बारे में,

1. Refer to III, pp. 5-18.

पद की अवधि के विषय में, संगठन या अधिकारों के बारे में कोई शर्तें नहीं हैं। किन्तु संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान में पर्याप्त रूप से प्रबन्धकारी, विधान-सभा और न्याय विभाग के विभागों में अधिकारों के विभाजन तथा सामान्यतया उनके संगठन के आदेश किए गए हैं। उनमें उनके अधिकार-क्षेत्रों तथा शक्तियों के विषय में संक्षिप्त तथा तर्कपूर्ण वक्तव्य का समावेश है। इसके बाद, केन्द्रीय और राज्य सरकारों के लिए निषेधों की सूची है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान में कुछ विभिन्न शर्तें भी शामिल हैं। लार्ड ब्राइस के अनुसार अमरीका का संविधान "अन्य किसी भी लिखित संविधान से अपनी स्वाभाविक उत्तमता, जनता की परिस्थिति के अनुसार अपनी अनुकूलता, सरलता, संक्षिप्तता और अपनी भाषा की स्पष्टता तथा विस्तार में लोच के साथ सिद्धान्तों में निश्चयात्मकता के उचित मिश्रण के कारण सर्वोपरि है।"[1] भारत का संविधान भी, इस उत्तमता का उल्लेखनीय उदाहरण है।

प्रभु सत्ता का संविधान (Constitution of Sovereignty)—एक लिखित संविधान में निश्चित रूप से संविधान को संशोधित करने की विधि वर्णित होनी चाहिए। वर्तमान में यह प्रत्येक लिखित संविधान का अनिवार्य अंग माना जाने लगा है। यह संशोधन की विधि ही है जिस पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और संविधान की ग्राह्यता निर्भर करती है। कोई भी लिखित संविधान इस प्रकार की धारा के बिना पूर्ण नहीं है। मानवी समाजों को समय बीतने के साथ-साथ उन्नत और विकसित होना चाहिए, और यदि उनके आन्तरिक विकास की आवश्यकता के अनुसार ऐसे संवैधानिक समन्वय करने की धारा नहीं बनाई जाती तो वह गतिहीन या अप्रगतिकारी हो जायेंगे।"[2] प्रेसिडेंट विल्सन ने कहा था कि संविधान को निश्चित रूप से जीवनप्रेरक होना चाहिए और इसका तत्व है राष्ट्र के विचार और स्वभाव। यदि संविधान को आसानी के साथ संशोधित किया जा सकता है, अर्थात् ऐसी विधि से, जो राजनीतिक प्रभु-सत्ता को अपनी इच्छा व्यक्त करने योग्य बनाती है, तो वास्तविक अवस्थाओं और वैध-संगठन के बीच संघर्ष नहीं हो सकता। किन्तु संविधान में संशोधन की सहज विधि के कारण अस्थिरता हो जाती है, क्योंकि लोकमत की हल्की-सी लहर राज्य के आधारभूत रूप में परिवर्तन कर सकती है। दूसरी ओर, यदि संविधान का संशोधन करना कठिन है अथवा यदि राजनीतिक प्रभु-सत्ता में अपनी इच्छा को व्यक्त करने के साधन नहीं हैं, तो दो में से एक बात हो सकती है। प्रथम, वहां ऐसी अतिरिक्त वैध संस्थाएं जन्म ले सकती हैं, जिन्हें लोक-मत का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमरीका में प्रेसिडेंट के चुनाव को लीजिए। संविधान में अप्रत्यक्ष चुनाव की धारा रखी गई है। अब यह प्रत्यक्ष बन गया है, किन्तु संविधान का संशोधन किये बिना। द्वितीय, यदि अतिरिक्त-वैध संस्थाओं को उत्पन्न नहीं होने दिया जाता, तो परिणाम खुली क्रान्ति होगा।

संशोधन के कुछ रूप (Some modes of Amendment)—भिन्न देशों में संशोधन के लिए अपनाए जाने वाले सब रूपों का अध्ययन करना सम्भव नहीं है। जो भी हो, सामान्यत. तीन भिन्न विधियों का अनुसरण किया जाता है.

1. The American Commonwealth, Vol II, p. 28.
2. Garner Political Science and Govt., p. 537.

१. संविधान का साधारण विधान-सभा संशोधन कर सकती है, जैसी कि इंगलैंड की अवस्था है। यह विधि बिल्कुल वही है जो साधारण अनुविध्यात्मक कानून का संशोधन करने के लिए या प्रचलित करने के लिए होती है। कभी-कभी जब साधारण विधान-निर्माण को संशोधन करने की शक्ति से संपन्न किया जाता है तो उसके साथ ही, उस पर विशेष विधि की शर्त भी लगाई जा सकती है। उदाहरण के लिए, भारत का संविधान आदेश करता है कि संविधान का संशोधन लोक-सभा के किसी भी सदन द्वारा आरम्भ हो सकता है और जब विधेयक प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन के कुल सदस्यों की बहुसंख्या और उस सदन के उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों की न्यूनतम दो-तिहाई बहुसंख्या द्वारा स्वीकार हो जाता है, तो वह प्रधान की स्वीकृति के लिए उन्हें पेश किया जायेगा और उसके बाद संविधान का संशोधन हो जाता है। किन्तु यदि संशोधन का हेतु गण-सूची, राज्य-सूची, सहायक सूची या लोक सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व या प्रधान और सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों आदि का संशोधन करना हो तो प्रधान को उनकी स्वीकृति के लिए पेश करने से पूर्व न्यूनतम आधे राज्यों की विधान-सभाओं द्वारा उसका समर्थन वाञ्छनीय होगा।[1]

२. संविधान के संशोधन के लिए एक विशेष संस्था की रचना भी की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका इसका आदर्श उदाहरण है। इस देश का संविधान साधारण कानूनों को बदल सकने की विधि के बजाय भिन्न विधि से संशोधित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में व्यवस्थापक अधिकारों और वैधानिक अधिकारों के बीच अन्तर किया जाता है। इनमें से प्रत्येक अधिकार का भिन्न संस्थाएं प्रयोग करती हैं। दोनों ही अवस्थाओं में विधि भी भिन्न है।

४. **लोक-मत ग्रहण करना** (Popular Referendum)—इसका लक्ष्य संशोधनों के लिए जनता की अनुमति प्राप्त करना है। यह सर्वाधिक लोकतन्त्री विधि मानी जाती है। संविधान का संशोधन करने के लिए लोक-मत ग्रहण की विधि स्विट्ज़रलैंड, आस्ट्रेलिया और संयुक्त-राष्ट्र अमरीका के कुछ राज्यों में पाई जाती है।

संशोधन की सुपरिवर्त्तनीयता (Flexibility of Amendment)—जो भी हो, यह मानना होगा कि कोई भी संविधान अन्तिम अथवा अपरिवर्तन-योग्य नहीं माना जा सकता। एक लिखित संविधान का नवीन राजनीतिक आदर्शों के फलस्वरूप संशोधन होना आवश्यक है। फलतः संशोधन की शर्त न तो इतनी दुष्परिवर्तनीय होनी चाहिए कि वांछित परिवर्तन ही सक्रिय रूप में असंभव बन जायं और न ही इतना सुपरिवर्तनीय होना चाहिए कि निरन्तर और अनावश्यक परिवर्तन संभव बन जायं, और इस प्रकार संविधान की अधिकार-शक्ति और सम्मान कम हो जाय। संशोधन का यन्त्र 'सेफ्टी वाल्व' के समान होना चाहिए, "जो ऐसा बना हो कि जिससे न तो बहुत आसानी से ही मशीन चल सके, और न ही, उसे गतिशील करने के लिए इतनी अधिक संचित शक्ति का प्रयोग करना पड़े कि वह टूट ही जाय। लिखित संविधान के रचयिताओं को संशोधन की विधि प्रदान करते समय यह विचार दृष्टि में रखना चाहिए : वृद्धि की आवश्यकताएं, और संकीर्णता के अंश। इस प्रकार यह निष्कर्ष हो सकता है कि संशोधन की विधि न तो अत्यधिक

1. Article, 368.

दुष्परिवर्तनीय और न ही अनुचित रूप से सुपरिवर्तनीय होनी चाहिए।

संविधानों का विकास और विस्तार
(Development and Expansion of Constitutions)

पहले कहा जा चुका है कि कोई भी सविधान अंतिम रूप का नहीं हो सकता। लार्ड ब्रागहम (Lord Brougham) का मत है, "यदि सविधानों का कोई मूल्य है, तो उन्हें उत्पन्न होना चाहिए; उनकी भी जड़ें होती हैं, वे पकते हैं, वे दृढ़ होते हैं।" लिखित सविधान तीन तरीको से उत्पन्न होते है : रीति और रूढ़ि से, न्यायविभागीय व्याख्या से और सशोधन से।

रीति और रूढ़ि (Custom and Usage)—नये सविधानों की अपेक्षा पुराने विधानों की दशा में रीतियां महत्वपूर्ण अश में कार्य करती है। रीतियों का उन देशों में विकास और विस्तार होता है, जिन देशों के निवासी भूतकाल के प्रति सम्मान रखते हों और जिन्हें पूर्व दृष्टातों के प्रति अधिक आदरभाव हो। भारत में स्थापित परम्पराओं की शृखला नही है। इसके कारण स्पष्ट है। भारत का सविधान अभी तरल अवस्था में है। हमारे भूतकालीन स्वामी, जब कभी देश-प्रेम का आन्दोलन बल पकड़ता था, तो सुधार की छोटी-सी मात्रा दे देते थे। अभी तक अपने सविधान के साथ हम पूर्णतया नवीन है और रूढ़ियां स्थायी बनने के लिए पर्याप्त समय चाहती है। फ्रास में भी, रूढ़ि और रीति के द्वारा संविधान का विकास यत्किंचित हुआ है, क्योकि फ्रास सविधानीय प्रयोगो की प्रयोगशाला रहा है। १७८९ और १८७५ के बीच, फ्रास ने लगभग एक दर्जन सविधानों को स्वीकार किया और उसके बाद रद्द किया और ये सारे सविधान विकास का परिणाम न होकर क्रान्तियों के फलस्वरूप बने थे।

किन्तु सयुक्त राष्ट्र अमरीका का सविधान रूढ़ियों और रीतियों से पर्याप्त रूप में विकास और विस्तार पा गया है। क्या सविधान प्रधान को इस बात का अधिकार देता है कि उसका मन्त्रि-परिषद् हो और वह सामूहिक संस्था के रूप में उसके सदस्यों से परामर्श ले? लिखित सविधान इस विषय में तटस्थ है। वाशिंगटन के काल के दृष्टातों से इस अतिरिक्त वैध व्यवस्था को माना जाता है। पुनः सविधान ने युद्ध-घोषणा के अधिकार को अत्यधिक स्पष्टता के साथ काग्रेस को सौंपा है। किन्तु प्रधानो ने बहुधा दूरस्थ भागों में फौजें भेजी है। "कांग्रेस से किसी स्पष्ट अधिकार के बिना युद्ध करने को या युद्ध करने की तैयारी के लिए।"[1] इसके अतिरिक्त सविधान ने प्रधान के अप्रत्यक्ष चुनाव का आदेश किया है। किन्तु निर्वाचन-प्रणाली उस निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार कार्य नही करती, जैसा कि सविधान के रचयिताओं ने बनाई थी। वर्तमान में निर्वाचक केवल मोम की नाक मात्र रह गए है और प्रधानीय निर्वाचन प्रत्यक्ष बन गया है। रीतियो और रूढ़ियो के और भी कई उदाहरण है, जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमरीका के सविधान को पूरक किया है और इन मान्यताओं और परम्पराओं के बिना अमरीकी सविधान का वस्तुत क्रियान्वित होना भी कठिन होगा।

न्याय-विभागीय व्याख्या द्वारा विकास (Development by Judicial

1. Beard · American Govt. and Politics, p. 41.

Interpretation)—वर्तमान में न्यायविभागीय व्याख्या के फलरूप लिखित संविधान का विकास एक स्वीकृत तथ्य है और इसके कई कारण हो सकते हैं। तिस पर भी, एक लिखित संविधान में, जिसे सावधानी के साथ बनाया गया हो, भाषा की अस्पष्टता और अभिव्यक्ति की त्रुटियां होनी संभव हैं। इसे नई अवस्थाओं के अनुसार समन्वित करने की भी आवश्यकता होती है। अन्ततः ऐसे मत-भेद होने भी निश्चित हैं जो संविधान की धाराओं के अर्थों के विषय में उत्पन्न होंगे। इन अवस्थाओं के अधीन यह न्याय-विभाग का कार्य हो जाता है कि वह न केवल संविधान में अभिव्यक्त उन सत्य अर्थों का निश्चय करे प्रत्युत उसका भी कि जिसकी निर्माणकर्त्ताओं के व्यक्त करने की इच्छा थी। इसके बाद न्यायाधीश अपने निजी निष्कर्ष निकालते हैं। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका का संविधान केन्द्र को देश की स्थल सेनाओं और संचरण तथा यातायात के साधनों पर अधिकार प्रदान करता है। सर्वोच्च न्यायालय ने मत प्रकट किया कि स्थल-सेनाओं से संविधान के जन्म-दाताओं का आशय स्थल सेना, जल-सेना और नभ सेना से था। इसी प्रकार संचरण तथा यातायात के साधनों के विषय में सर्वोच्च न्यायालय की परिभाषा थी : रेल, सड़क, जलीय, हवाई, तार, टेलीफोन और टेलिविज़न आदि सेवाएं। इनके अलावा अन्य अनेक उदाहरण हैं, और संविधान की प्रायः प्रत्येक धारा अधिक निर्माण की अपेक्षा रखती है। वस्तुतः, संयुक्त-राष्ट्र अमरीका का संविधान अधिकांशतः "परिशिष्टों" का बना हुआ है।

संशोधन द्वारा विकास (Development by Amendment)—एक लिखित संविधान संशोधन की विधि को स्पष्टतया प्रदान करता है और संविधानीय विस्तार का यह सर्वाधिक निश्चित स्रोत है। राष्ट्र के जीवन में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होते हैं, संविधानों को त्यों-त्यों उन्नत और विकसित होना चाहिए। कोई भी संविधान स्थिर नहीं हो सकता यदि वह विकास की गारन्टी नहीं करता। "जीवित राजनीतिक संविधानों को आकार और प्रयोग में डारविन-मत के अनुसार विकासशील होना चाहिए।" इस पहलू पर हम वर्तमान अध्याय के अन्तिम भाग में विचार कर चुके हैं।

Suggested Readings

Bryce, J.—Studies in History and Jurisprudence, Essay III.
Dicey, A.V.—The Law of the Constitution.
Finer, H.—The Theory and Practice of Modern Government, Vol. I, Chapt. VII.
Garner, J.W.—Political Science and Government, Chapt. XVIII.
Kapur, A.C.—Theory of the Constituent Assembly and its Development in India.
Mebain, H.L., and Rogers, L.—New Constitutions of Europe.
Sidgwick, H.—Elements of Political Science, Chapt. XXVII.
Strong, C.F.—Modern Political Constitutions, Chapt. VI-VII.

अध्याय : : १५

अधिकारों का पृथक्करण

(Separation of Powers)

सरकार के कृत्य (Functions of Government)—सरकार के अनेक और भिन्न रूपों के कृत्य हैं। हाल ही में समाज के आकार मे सामाजिक और आर्थिक जटिलताओं की उत्पत्ति के कारण उनमें और भी वृद्धि हो गई है। तिस पर भी, उन्हें रीत्यागत तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है : कानून निर्माण कृत्य, प्रवन्धकारी कृत्य और न्याय-विभागीय कृत्य। कानून निर्माण कृत्य कानून बनाने से सम्बद्ध है। किन्तु कानूनों को लागू भी करना होगा। वे अधिकारी जिनका कर्तव्य यह देखना है कि कानूनों का उचित रीति से पालन किया जाता है, जिससे सरकार वेरोकटोक कार्य कर सकती है, प्रवन्धकारी कृत्यों को पूर्ण करते हैं। कानूनों की व्याख्या करने और उन्हें व्यक्तिगत मामलों में लागू करने का कृत्य न्यायाधीशों का है। इस प्रकार, न्यायाधीश न्याय-विभागीय कृत्यों का पालन करते हैं।

द्वित्व सिद्धान्त (Duality Theory)—कुछ आधुनिक लेखक मुख्यत: फामीनी, सरकार के केवल दो कृत्यों को मानते हैं—कानून निर्माण और प्रवन्धकारी। उनका मत है कि न्याय-विभागीय कृत्य प्रवन्धकारी कृत्य का ही अंग है। किन्तु यह विभाजन सार-पूर्ण नहीं है, इसलिए यह रद्द किया गया है। यह आपत्ति की जाती है कि प्रवन्धकारी और न्याय-विभागीय कृत्य सम्मिलित होने की दशा में स्वतन्त्रता नहीं हो सकेगी। वही व्यक्ति या व्यक्तियों का वही समूह एक ही समय में अभियोक्ता (Prosecutor) और न्यायाधीश नहीं हो सकता। "यदि न्याय-विभागीय शक्ति प्रवन्धकारी शक्ति की केवल इच्छा-मात्र है तो न्यायाधीश प्रवधकारी के प्रतिनिधियों और उसके नाम पर न्याय करने वालों से अधिक कुछ भी नहीं होंगे।"[1]

अधिकारों के पृथक्करण का सिद्धान्त (Theory of the Separation of Powers)—द्वित्व सिद्धान्त के कुछ आशाजनक रूप हो सकते हैं किन्तु प्रचलित रूढ़ि और वास्तविक चलन त्रिमूर्त्त (Trinity) कृत्यों के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक आधुनिक राज्य, भले ही उसके संविधान का कोई भी रूप हो, अपने सरकार विषयक यन्त्र को तीन विभागों में बाटता है—कानून निर्माण, प्रवन्धकारी और न्याय-विभाग। त्रिमुखी- विभाजन का यह विचार नया नहीं है। इसे अरिस्टोटल, सिसरो, पोलिवियस तथा अन्य प्राचीन लेखकों ने स्वीकार किया था। उदाहरणार्थ, अरिस्टोटल ने सरकार के कृत्यों को 'विमर्शात्मक', पौरशासकीय (Magisterial) और न्याय-संबंधी। तिस पर भी, यह मानना होगा कि सक्रिय रूप में, तीनों कृत्यों के बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया। सामान्यत:, पौर-अधिकारी (Magistrate) प्रवन्धकारी और न्याय-संबंधी, दोनों कृत्यों का प्रयोग करते हैं। वस्तुत: न्याय-विभागीय

1. Garner: Introduction to Political Science.

Interpretation)—वर्तमान में न्यायविभागीय व्याख्या के फलरूप लिखित संविधान का विकास एक स्वीकृत तथ्य है और इसके कई कारण हो सकते हैं। तिस पर भी, एक लिखित संविधान में, जिसे सावधानी के साथ बनाया गया हो, भाषा की अस्पष्टता और अभिव्यक्ति की त्रुटियां होनी संभव हैं। इसे नई अवस्थाओं के अनुसार समन्वित करने की भी आवश्यकता होती है। अन्ततः ऐसे मत-भेद होने भी निश्चित हैं जो संविधान की धाराओं के अर्थों के विषय में उत्पन्न होंगे। इन अवस्थाओं के अधीन यह न्याय-विभाग का कार्य हो जाता है कि वह न केवल संविधान में अभिव्यक्त उन सत्य अर्थों का निश्चय करे प्रत्युत उसका भी कि जिसकी निर्माणकर्त्ताओं के व्यक्त करने की इच्छा थी। इसके बाद न्यायाधीश अपने निजी निष्कर्ष निकालते है। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका का संविधान केन्द्र को देश की स्थल सेनाओं और संचरण तथा यातायात के साधनों पर अधिकार प्रदान करता है। सर्वोच्च न्यायालय ने मत प्रकट किया कि स्थल-सेनाओं से संविधान के जन्म-दाताओं का आशय स्थल सेना, जल-सेना और नभ सेना से था। इसी प्रकार संचरण तथा यातायात के साधनों के विषय में सर्वोच्च न्यायालय की परिभाषा थी : रेल, सड़क, जलीय, हवाई, तार, टेलीफोन और टेलिवियन आदि सेवाएं। इनके अलावा अन्य अनेक उदाहरण हैं, और संविधान की प्रायः प्रत्येक धारा अधिक निर्माण की अपेक्षा रखती है। वस्तुतः, संयुक्त-राष्ट्र अमरीका का संविधान अधिकांशतः "परिशिष्टों" का बना हुआ है।

संशोधन द्वारा विकास (Development by Amendment)—एक लिखित संविधान संशोधन की विधि को स्पष्टतया प्रदान करता है और संविधानीय विस्तार का यह सर्वाधिक निश्चित स्रोत है। राष्ट्र के जीवन में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होते हैं, संविधानों को त्यों-त्यों उन्नत और विकसित होना चाहिए। कोई भी संविधान स्थिर नहीं हो सकता यदि वह विकास की गारन्टी नहीं करता। "जीवित राजनीतिक संविधानों को आकार और प्रयोग में डारविन-मत के अनुसार विकासशील होना चाहिए।" इस पहलू पर हम वर्तमान अध्याय के अन्तिम भाग में विचार कर चुके हैं।

Suggested Readings

Bryce, J.—Studies in History and Jurisprudence, Essay III.
Dicey, A.V.—The Law of the Constitution.
Finer, H.—The Theory and Practice of Modern Government, Vol. I, Chapt. VII.
Garner, J.W.—Political Science and Government, Chapt. XVIII.
Kapur, A.C.—Theory of the Constituent Assembly and its Development in India.
Mebain, H.L., and Rogers, L.—New Constitutions of Europe.
Sidgwick, H.—Elements of Political Science, Chapt. XXVII.
Strong, C.F.—Modern Political Constitutions, Chapt. VI-VII.

अध्याय : : १५

अधिकारों का पृथक्करण

(Separation of Powers)

सरकार के कृत्य (Functions of Government)—सरकार के अनेक और भिन्न रूपों के कृत्य हैं। हाल ही में समाज के आकार में सामाजिक और आर्थिक जटिलताओं की उत्पत्ति के कारण उनमें और भी वृद्धि हो गई है। तिस पर भी, उन्हें रीत्यागत तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है : कानून निर्माण कृत्य, प्रबन्धकारी कृत्य और न्याय-विभागीय कृत्य। कानून निर्माण कृत्य कानून बनाने से सम्बद्ध है। किन्तु कानूनों को लागू भी करना होगा। वे अधिकारी जिनका कर्तव्य यह देखना है कि कानूनों का उचित रीति से पालन किया जाता है, जिससे सरकार बेरोकटोक कार्य कर सकती है, प्रबन्धकारी कृत्यों को पूर्ण करते हैं। कानूनों की व्याख्या करने और उन्हें व्यक्तिगत मामलों में लागू करने का कृत्य न्यायाधीशों का है। इस प्रकार, न्यायाधीश न्याय-विभागीय कृत्यों का पालन करते हैं।

द्वित्व सिद्धान्त (Duality Theory)—कुछ आधुनिक लेखक मुख्यतः फ्रांसीसी, सरकार के केवल दो कृत्यों को मानते हैं—कानून निर्माण और प्रबन्धकारी। उनका मत है कि न्याय-विभागीय कृत्य प्रबन्धकारी कृत्य का ही अंग है। किन्तु यह विभाजन सार-पूर्ण नहीं है, इसलिए यह रद्द किया गया है। यह आपत्ति की जाती है कि प्रबन्धकारी और न्याय-विभागीय कृत्य सम्मिलित होने की दशा में स्वतन्त्रता नहीं हो सकेगी। वही व्यक्ति या व्यक्तियों का वही समूह एक ही समय में अभियोक्ता (Prosecutor) और न्यायाधीश नहीं हो सकता। "यदि न्याय-विभागीय शक्ति प्रबन्धकारी शक्ति की केवल इच्छा-मात्र है तो न्यायाधीश प्रबधकारी के प्रतिनिधियों और उसके नाम पर न्याय करने वालों से अधिक कुछ भी नहीं होंगे।"[1]

अधिकारों के पृथक्करण का सिद्धान्त (Theory of the Separation of Powers)—द्वित्व सिद्धान्त के कुछ आशाजनक रूप हो सकते हैं किन्तु प्रचलित रूढ़ि और वास्तविक चलन त्रिमूर्त (Trinity) कृत्यों के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक आधुनिक राज्य, भले ही उसके संविधान का कोई भी रूप हो, अपने सरकार विषयक यन्त्र को तीन विभागों में बाटता है—कानून निर्माण, प्रबन्धकारी और न्याय-विभाग। त्रिमुखी- विभाजन का यह विचार नया नहीं है। इसे अरिस्टोटल, सिसरो, पोलिबियस तथा अन्य प्राचीन लेखकों ने स्वीकार किया था। उदाहरणार्थ, अरिस्टोटल ने सरकार के कृत्यों को 'विमर्शात्मक', पौरशासकीय (Magisterial) और न्याय-संबंधी। तिस पर भी, यह मानना होगा कि सक्रिय रूप में, तीनों कृत्यों के बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया। सामान्यतः, पौर-अधिकारी (Magistrate) प्रबन्धकारी और न्याय-संबंधी, दोनों कृत्यों का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः न्याय-विभागीय

1. Garner· Introduction to Political Science

कृत्यों का प्रबन्धकारी से अलगाव केवल हाल ही की उपज है और यह राजनीतिक उन्नति का द्योतक है। इतने पर भी भारत जैसे कुछ देश हैं, जिनमें आज भी प्रबन्धकारी और न्याय-विभागीय कृत्य सम्मिलित हैं। डिप्टी कमिश्नर एक जिले का मुख्य प्रबन्धक होता है और उसके साथ ही जिला पौर-अधिकारी (District Magistrate) भी और जिला न्यायविभाग उसका सहायक होता है। इन अवस्थाओं में कितनी स्वतन्त्रता रह पाती है यह हमारे नित्य के अनुभव का विषय है।

मांटिस्क्यू के विचार (Views of Montesquieu)—बोडिन प्रथम आधुनिक लेखक था, जिसने प्रबन्धकारी और न्यायविभागीय कृत्यों की पृथकता की आवश्यकता पर बल दिया था। उनका स्थिर मत था कि एक राजा को न्याय प्रदान करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। यह स्वतन्त्र न्यायाधीशों का कृत्य होना चाहिए। किन्तु शक्तियों के अलगाव का सिद्धान्त, इतिहास और राजनीतिक विज्ञान के सम्मानित जिज्ञासु मांटिस्क्यू के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है। उन्होंने १७४८ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ "L' Esprit des Lois" में इसका परिशीलन किया था।

मांटिस्क्यू लूई चौदहवें (Louis XIV) के काल में हुए हैं। राजनीतिक विज्ञान में लूई चौदहवें की एक विख्यात उक्ति है "मैं ही राज्य हूं।" लूई के निज व्यक्तित्व में राज्य की प्रभु-सत्ता सम्मिलित थी। उसका कथन ही कानून था और उसकी अधिकार-शक्ति निरंकुश थी। इस प्रकार की अत्याचारी और निरंकुश सरकार के अधीन लोगों के लिए वहां स्वतन्त्रता नहीं हो सकती थी। मांटिस्क्यू १७३० या उसके आसपास के वर्ष में इंग्लैंड गया और वहां प्रचलित स्वतन्त्रता की भावना से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने अंग्रेजों की स्वतन्त्रता के कारणों की खोज करने की चेष्टा की। उसे इंगलैंड में उस स्वतन्त्रता का रहस्य मिल गया जिसकी वह इतनी पूजा और स्पर्द्धा करता था। उसने देखा कि सरकार के कानून-निर्माण, प्रबन्धकारी और न्यायविभागीय कृत्यों में पूर्ण पृथकता है। तदनुसार मांटिस्क्यू ने स्वतन्त्रता के आधार रूप में सरकार विषयक कृत्यों में पृथकता के सिद्धान्त की रचना की। वह कहते हैं: "जहां कानून-निर्माण और प्रबन्धकारी शक्तियां एक ही व्यक्ति या पौर-अधिकारियों के समूह में समाविष्ट होती हैं, वहां स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, क्योंकि एक ही राजा या सीनेट होने की दशा में यह शंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं कि वह लोगों को आतंकित ढंग से दंडित करने के लिए आतंकपूर्ण कानूनों को प्रचलित करेगा।............ पुनः यदि कानून-निर्माण और प्रबन्धकारी शक्तियों से न्याय की शक्तियों की पृथकता नहीं होगी तो वहां भी स्वतन्त्रता नहीं होगी। यदि न्यायिक शक्ति भी विधान-सभा के अधीन हो, तो प्रजा का जीवन और स्वतन्त्रता स्वच्छंद नियंत्रण के अधीन हो जायेंगे; क्योंकि उस दशा में न्यायाधीश कानून-निर्माता बन जायगा। यदि इसे प्रबन्धकारी शक्ति से मिला दिया जाता है, तो संभव है न्यायाधीश दमनकारी की संपूर्ण हिंसा के साथ आचरण करे। यदि वही एक आदमी या वही एक संस्था, जो भले ही धनीमानी कुलीनों की या जन-साधारण की बनी हो, कानूनों को बनाने, सरकारी प्रस्तावों को क्रिया में परिणत करने और व्यक्तियों के अपराधों या भिन्नताओं का निर्णय करने की तीनों शक्तियों का प्रयोग करने वाली होगी, तो वहां विनाश अवश्यम्भावी है।

यदि कानून-निर्माण और प्रबन्धकारी शक्तियां एक ही व्यक्ति में समाविष्ट होंगी,

तो वहां किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नही हो सकती, क्योंकि एक ही व्यक्ति कानूनों को बनाने वाला और उन्हें क्रिया में परिणत करने वाला होता है। इसी प्रकार, जहा न्याय-विभागीय शक्तियों का कानून-निर्माण और प्रबन्धकारी शक्तियों से अलगाव नहीं होता, वहा भी स्वतन्त्रता नही होती। यदि कानून-निर्माण और न्याय-विभागीय शक्तिया सम्मिलित होती है, तो कानूनों का निर्माता उनकी व्याख्या करने वाला भी होता है। यदि प्रबन्धकारी और न्यायविभागीय शक्तियों को परस्पर मिला दिया जाता है, तो वही सस्ता अभियोक्ता और साथ-ही साथ न्यायाधीश बन जाती है। माटिस्क्यू के मतानुसार इन सब का परिणाम आतंकपूर्ण कानून हो जाता है जिसकी एक अत्याचारी भीषण 'हिंसा' के साथ व्याख्या करता है और उन्हें लागू करता है। सक्षेप में, माटिस्क्यू का सूत्र यह है कि कानून-निर्माण प्रबन्धकारी और न्यायविभागीय कृत्यों का एकमात्र व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह में केन्द्रीकरण अधिकार का दुरुपयोग करने वाला होता है और सरकार का इस तरह का सगठन आतकपूर्ण है। इसलिए उन्होंने प्रस्ताव किया कि सरकार के इन सब विभागों का इस ढंग से सगठन होना चाहिए कि प्रत्येक भिन्न रूप के कृत्यों का प्रयोग करे और उस क्षेत्र के भीतर प्रत्येक विभाग स्वतन्त्र और सर्वोच्च रहे।

ब्लैकस्टोन का दृष्टिकोण (Blackstone's View)—ऐसा ही दृष्टिकोण अग्रेज न्यायवेत्ता ब्लैकस्टोन ने व्यक्त किया है। ब्लैकस्टोन ने अपने ग्रन्थ "Commentaries on the Laws of England" में कहा है, "जब कभी कानून को बनाने और उसे लागू करने का अधिकार उसी एक आदमी या आदमियों के उसी समूह में निहित किया जाता है, तो वहा लोक-स्वतन्त्रता नही रह सकती। एक मजिस्ट्रेट आतकपूर्ण कानूनों को बना सकता है और आतकित ढग से उनका प्रयोग कर सकता है, क्योंकि वह, न्याय का शल्य करने के निजी गुण, और उन सब शक्तियों से अधिकृत होता है जिन्हें वह कानून-निर्माता होने के रूप में अपने-आपको देना उचित समझता है।............यदि इसे (न्यायविभागीय शक्ति) कानून-निर्माण के साथ मिला दिया जाय, तो प्रजा का जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति स्वच्छंद न्यायाधीशों के हाथ में हो जायेंगे, जिनके निर्णय केवल उन्हीं की सम्मतियों द्वारा नियमित होंगे, और कानून के आधारमूलक सिद्धान्तों से नहीं, जिनसे, यद्यपि कानून-निर्माता जुदा होंगे, तथापि जिन्हें न्यायाधीशों को पालन करना ही होगा। यदि उसे प्रबन्धकारी के साथ मिला दिया जाय, तो यह मेल कानून-निर्माण के लिए असतुलित हो सकता है।"

माटिस्क्यू के शक्तियों के अलगाव के सिद्धान्त का राजनीतिक प्रभाव (Political Effect of Montesquieu's Theory of the Separation of Powers)—माटिस्क्यू के कानून-निर्माण, प्रबन्धकारी और न्यायविभागीय कृत्यों की पृथकता के सिद्धात मे एक महान जनतात्रिक आकर्षण था और शीघ्र ही इसने राजनीतिक उपदेश का रूप धारण कर लिया। वस्तुतः माटिस्क्यू के उपदेशों ने फ्रासीसी क्रान्ति को प्रोत्साहन प्रदान किया और क्रान्ति-काल की प्राय सभी सरकारें शक्तियों के अलगाव के सिद्धान्त पर सगठित हुई थी। जो हो, नैपोलियन के शासन के समय इसकी अवज्ञा की गई थी, किन्तु १८७५ के सविधान को बनाने वालो के दिलो मे यह सिद्धान्त निरन्तर बना रहा था। सवैधानिक सूत्र के रूप मे, वर्तमान मे भी उत्साहपूर्वक इसकी प्रशसा की जाती है।

अमरीका में मान्टिस्क्यू और ब्लैकस्टोन का प्रभाव शक्तिपूर्ण और निर्णायक था, और शक्तियों की पृथकता का सिद्धांत राज्य-मर्मज्ञों और राष्ट्रीय संविधान का निर्माण करने में व्यस्त लोगों के राजनीतिक सूत्र का अंग बन गया था। मैडिसन ने असंदिग्ध रूप में घोषणा की थी कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह सिद्धांत अनिवार्य था। उन्होंने कहा कि "कानून-निर्माण, प्रबंधकारी, और न्यायविभागीय सब शक्तियों का संचय, एक ही हाथों में, चाहे एक के, कुछ के या कइयों के हाथों में हो, और चाहे वंशानुगत हो या अपने द्वारा स्थापित हो, या निर्वाचित रूप में हो, ठीक ही आतंक का जनक घोषित किया जा सकता है।" अमरीकी संविधान के रचयिताओं ने कानून-निर्माण, प्रबंधकारी, और न्याय-विभागीय अलग और स्वतंत्र संगठन बनाने के लिए निश्चित धाराएं बनाई थीं। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका का प्रेसिडेंट, जो प्रबंधकारी विभाग का नेता है, और उसके मंत्रि-परिषद् के सदस्य, कांग्रेस से स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। उनमें से कोई भी कांग्रेस का सदस्य नहीं, न ही वह उसके प्रति उत्तरदायी हैं। यह पार्लामेंट्री ढंग की सरकार के अधीन सर्वथा विपरीत अवस्था है। कांग्रेस के दोनों सदन भिन्न समयावधि और भिन्न शक्तियों के साथ जुदा-जुदा रूप में संगठित हैं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को सीनेट के परामर्श से प्रेसिडेंट नियत करते हैं किंतु न्याय विभाग की स्वतंत्रता अमरीका में पूर्णतया सुरक्षित है।

शक्तियों की पृथकता के सिद्धान्त की मर्यादाएं (Limitations of the Theory of Separation of Powers)—मान्टिस्क्यू का शक्तियों की पृथकता का सिद्धांत "ऐतिहासिक दृष्टि से उतना ही गलत सिद्ध हुआ जितना कि यह राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बना," ऐसा कहा जाता है। ऐतिहासिक रूप में यह इसलिए गलत है कि मान्टिस्क्यू के कथनानुसार, इंग्लैंड में शक्तियों की पृथकता नहीं थी। ब्रिटिश संविधान का एक सर्वाधिक मुख्य रूप वह निकटता और घनिष्टता है जो कानून-निर्माण और प्रबंधकारी में पाई जाती है। सारे के सारे मंत्री, जो प्रबंधकारी विभागों के नेता हैं अनिवार्यतः विधान सभा के सदस्य हैं। वे उस समय तक पद पर बने रहते हैं जब तक पालियामेंट का उन्हें विश्वास प्राप्त होता है। मंत्रि-परिषद् प्रणाली में, कानून-निर्माण और प्रबंधकारी, दोनों के कृत्य सम्मिलित होते हैं। बेगहाट के अनुसार, मंत्रि-परिषद् "वह हाईफन है, जो जोड़ता है, वह बकल है, जो प्रबंधकारी और कानून निर्माण के विभागों को परस्पर बांध देता है।" वस्तुतः, मंत्रि-परिषद् रूप की सरकार शक्तियों के अलगाव के सिद्धांतों की नकारात्मक है और इतने पर भी अंगरेजी संविधान का यह आश्चर्यजनक रूप है कि वह लोगों को अधिकतम स्वतंत्रता की स्वीकृति प्रदान करता है। यह सच है कि शक्तियों के अलगाव का सिद्धान्त स्वतंत्रता का विश्वास प्रदान करता है, किंतु यह स्वतंत्रता का सार नहीं। वास्तविक स्वतंत्रता लोगों की भावना, उनके कानूनों और उनकी संस्थाओं पर निर्भर करती है।

अमरीकी संविधान के लेखकों तक ने भी इस सिद्धांत की अक्रियात्मकता को अनुभव किया। मान्टिस्क्यू की धारणा के अनुसार, शक्तियों का नितान्त अलगाव उन्हें भी असंभव जान पड़ा। मैडिसन ने कहा था, "यदि हम कई राज्यों के संविधानों को देखें, तो हमें पता चलता है, कि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जिसमें कई विभागों की शक्ति को पूर्णतया अलग और भिन्न रूप में रखा गया हो।" अमरीका का संविधान उस बात की

प्रामाणिक छाप है कि जो मेडिसन ने कहा था। सविधान के निर्माताओं ने प्रबधकारी को कतिपय कानून-निर्माण की शक्तियों से भी विभूषित किया। विधान-निर्माण को प्रबधकारी और न्याय विभाग के कृत्यों में भी भाग लेना होता है। उदाहरण के लिए सीनेट को "प्रेसिडेंट द्वारा की गई प्रबधकारी नियुक्तियो तथा उनके द्वारा की गई सधियों का समर्थन करना होता है। सीनेट प्रेसिडेंट के साथ प्रबधकारी शक्तियों मे भाग लेता है। इसके अतिरिक्त, सीनेट न्याय-विभागीय शक्तियो का भी उस समय प्रयोग करता है, जब वह महाभियोग के न्यायालय के रूप में बैठती है। इसी तरह, प्रेसिडेंट भी उस समय न्याय विभागीय शक्तियो का प्रयोग करता है, जब वह क्षमा-दान, मृत्यदड का स्थगन, दड कम करना, और बदी-मुक्ति करता है। इसलिए, अमरीका मे, मान्टिस्क्यू के सिद्धात को सचाई के साथ लागू नही किया गया। सविधान के रचयिताओं के सामने असीमित शक्ति का आतक था, जो सरकार के प्रत्येक विभाग को शक्तियों के पार्थक्य मे प्राप्त होती। शक्ति का केन्द्री-भाव स्वतत्रता का निषेध होता है और यह धारणा थी कि "यदि शक्ति का दुरुपयोग नही किया जाना है, तो वस्तु-स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए आवश्यक है कि शक्ति को शक्ति पर रोक लगाने के लिए बनाया जाय।" उन्होंने अवरोधो और सतुलनो की प्रणाली जारी की। इस प्रणाली के अनुसार, प्रत्येक विभाग को स्वतत्रता और विशिष्ट कृत्य सौंपे गए जिनमे अन्य विभाग भी भागीदार हैं ताकि अधिकार का दुरुपयोग न हो सके। रोको और सतुलनो की विधि के फलस्वरूप अमरीका के सरकारी यत्र मे विभाजित उत्तरदायित्व सघर्ष और कभी-कभी अयोग्यता हुई। और ये अवरोध और सतुलन शक्तियों के अलगाव के विरोधी-सूत्र है। इस तरह, शक्तियो का अलगाव कम-से-कम इस देश मे राजनीतिक दृष्टि से वाछनीय साबित नही हुआ।

इसके अलावा, राज्य एक शारीरिक सगठन है और इसके यन्त्र के विभिन्न विभाग अन्तर्सबधित हैं। उन्हें सर्वथा पृथक्-पृथक् खड मे विभाजित नही किया जा सकता। नि.सदेह, स्वतन्त्रता के विश्वास के लिए, शक्तियों के अलगाव की कुछ मात्रा तो अनिवार्य है, किन्तु पूर्ण अलगाव नही हो सकता। सरकार को समग्र रूप मे देखा जाना होगा और इस के अग, यद्यपि विभिन्न हैं, लाभदायक और प्रभावकारी हो, इसके लिए उन्हे एक दूसरे के साथ मिलकर काम करना होगा। मेकाइवर के मतानुसार, वास्तविक समस्या, "इन्हे इतने सही ढग मे बैठाने की है कि उत्तरदायित्व मे योग्यता का विच्छेद न हो जाय।"[1] सरकार के कृत्य भिन्न विभागो मे विभाजित हैं ताकि प्रत्येक विभाग अपनी उत्तम योग्यता के साथ और अपने उत्तरदायित्व के औचित्य को समझते हुए अपने कर्तव्यो का पालन कर सके। योग्यता इस बात की अपेक्षा करती है कि देश में समुपस्थित समस्याओं का विशिष्ट ज्ञान हो और उत्तरदायित्व का अर्थ है कि जिन्हे सरकार की ओर से कृत्यो को पूर्ण करने का कर्तव्य सौंपा गया है, वे लोगो के सेवको की तरह कार्य करें और उनकी मागो के प्रति उत्तरदायी हो। यह लोकतंत्र का पहला सिद्धात है—कि सारी सरकार एक ट्रस्ट है, जो शासितो द्वारा प्रदत्त और नियत्रित होती है और भिन्न विभागो को परस्पर ठीक-ठीक मिलाने का मेकाइवर का अर्थ भी यही है। इन दोनो उद्देश्यो को प्राप्त करना उस समय सभव नही जबकि सब कृत्य सरकार के अकेले शरीर मे केन्द्रीभूत हुए हो।

1. op cit., p. 372.

इसलिए, शक्तियों का अलगाव उचित सामंजस्य के लिए आवश्यक है किन्तु सरकार विपयक कृत्यों को सर्वथा पृथक्-पृथक खंड में विभाजित करने के लिए नहीं।

सरकार के विभिन्न विभागों के बीच किसी प्रकार का पार्थक्य और असामंजस्य नहीं हो सकता। प्रत्येक विभाग के जिम्मे कतिपय ऐसे काम होते हैं जो उससे विल्कुल संवंध नहीं रखते। ऐसी अवस्था में कुछ सीमातिक्रमण हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, एक न्यायाधीश एक ऐसे प्रश्न का निर्णय करते समय एक कानन वनाता है कि जिसका पूर्णतः निर्णय नहीं किया गया था, और जो वर्तमान कानून के अन्तर्गत नहीं आ जाता। यही वह दशा है जिसमें न्याय और कानून-निर्माण के कृत्यों में पूर्ण सीमा-विभाजन नहीं किया गया। पुनः, प्रवन्धकारी को, सर्वत्र, आर्डीनेंस और घोपणाएं जारी करने का अधिकार होता है, जो कानून-निर्माण के अनिवार्य स्थानापन्न हैं। दूसरी ओर, प्रत्येक कानून-निर्माण सभा कुछ प्रवन्धकारी कर्तव्यों का पालन करती है। विधान-सभा के प्रति मंत्रियों का उत्तर-दायित्व मंत्रि-परिपद् सरकार की कार्यकारिता में एक ऐसा सत्य है जिसे चुनौती नहीं दी जा सकती। अमरीका में प्रैसिडेंट के कार्यों का निश्चय करने के लिए, जिसमें संधियों तथा राजदूतों की नियुक्ति भी सम्मिलित है, सीनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है। इसके अलावा प्रत्येक लोकतन्त्री देश में विधान सभा का ऊपरी सदन न्याय-विभागीय शक्तियों का प्रयोग करता है—उदाहरणार्थ, इंग्लैंड में हाऊस आव् लार्डस् और अमरीका में सीनेट।

शक्तियों के अलगाव का सिद्धान्त इस वात के लिए स्थिर-मत है कि सरकार के सव विभाग परस्पर संवद्ध हैं या समान हैं। किन्तु यह ऐसा नहीं है। लोकतन्त्र के विकास के साथ प्रवन्धकारी एक गौण-स्थिति में पहुंच गई है। वर्तमान में विधान सभा ही वस्तुतः प्रशासन की नियामक है। देश की अर्थ-व्यवस्था पर अपने नियंत्रण से यह प्रवन्धकारी विभाग को सीमित और नियंत्रित करती है, भले ही प्रवन्धकारी सैद्धांतिक रूप में स्वतन्त्र ही हो। उत्तरदायी रूप की सरकार में यह स्थापित तथ्य है कि प्रवन्धकारी को प्रत्येक चरण पर विधान सभा की पराधीनता सहन करनी होगी। न्याय-विभाग भी, विधान-सभा की स्पष्ट अधीनता में है, यद्यपि इसकी स्वतन्त्रता लोकतन्त्र और इसलिए, स्वाधीनता का सर्वाधिक आकर्पक सिद्धान्त है।

निष्कर्ष—सरकार का कोई भी विभाग स्वेच्छापूर्वक स्वतन्त्र नहीं है। जान स्टुअर्ट मिल ने ठीक ही कहा है कि सरकारी विभागों की पूर्ण स्वतन्त्रता का अनिवार्य अर्थ होगा निरन्तर गतिरोध, क्योंकि "प्रत्येक विभाग अपनी निजी शक्तियों की प्रतिरक्षा में कार्य करते हुए अन्य किसी को भी अपना योग प्रदान नहीं करेगा ; और फलस्वरूप योग्यता में होने वाली क्षति स्वतन्त्रता से उत्पन्न होने वाले सव संभावित लाभों को लांघ जायगी।"[1] इसलिए, मांटिस्क्यू की कल्पना के अनुसार तीनों कृत्यों के वीच स्पष्ट भेद करना संभव नहीं जान पड़ता। ब्लैकस्टोन ने इस सारे अनुभव किया था और घोपणा की थी कि उनका "पूर्णतया अलगाव" अन्ततः उसी तरह के आतंकपूर्ण प्रभाव पैदा करेगा, जिस तरह कि एक ही हाथों में उनका पूर्ण मेल। इस प्रकार, शक्तियों के अलगाव के सिद्धान्त से यह कदापि आशय नहीं लिया गया कि कानून-निर्माण, प्रवन्धकारी और न्याय-विभागीय विभागों के वीच आत्मीयता नहीं है। ना ही मांटिस्क्यू की ऐसा सिद्धान्त देने की इच्छा थी। उसके मन में

1. Mill, J.S.; Representative Govt., p. 82

राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध स्वतन्त्रता की चाह थी। इंग्लैंड में उसे अपने देश में प्रचलित अवस्थाओं का स्पष्ट और तीव्र विरोध दिखाई दिया। जनतान्त्रिक सरकार की कार्यकारिता के बारे में असली विचार की धारणा किए बिना ही उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सरकार के एक विभाग के दूसरे एक विभाग पर यान्त्रिक अवरोध से ही केवल स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। उनके लिए, यह राजनीतिक स्वतन्त्रता के निमित्त सर्वोपरि सक्रिय देन थी।

यद्यपि सरकार के भिन्न विभागों के कृत्य अन्तर्निर्भर है, तथापि उनके क्षेत्रों में कुछ सीमा-रेखा होनी आवश्यक है। तीन भिन्न विभागों में सरकार का विभाजन आंतरिक रूप मे अच्छा है, क्योकि यह प्रत्येक विभाग के कृत्यो पर निश्चित सीमा का कार्य करता है। कृत्यों के विभाजन से प्रशासन में योग्यता आती है, क्योंकि प्रत्येक यह जानता है कि उसे क्या करना होता है। उसमें भ्रम और दोहरीकरण की सभावना नही होती। कार्य के विभाजन का अर्थ विशिष्टता एवं योग्यतापूर्ण ज्ञान है। मैडिसन ने शक्तियों के अलगाव के अन्तर्निहित सिद्धान्त को इन शब्दो में स्पष्ट किया था, "एक विभाग की शक्तियों का प्रयोग प्रत्यक्षतः दूसरे विभागों में से किसी के द्वारा भी नही किया जाना चाहिए, यह भी समान रूप से स्पष्ट है कि किसी भी विभाग का, दूसरे विभागों के अपनी विशिष्ट शक्तियों के प्रयोग करते समय, प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः उन पर नाजायज प्रभाव नहीं होना चाहिए।"

Suggested Readings

Garner, J.W.—Introduction to Political Science, Chapt. XIII.

Hamilton, A., Ray, J., and Madison, J.—The Federalist, 'Everyman's Library', Dent.

MacIver, R.M.—The Modern State, pp. 364-375.

Mill, J.S.—Representative Government, Chapt. V (1890).

Montesquieu, C.—The Spirit of Laws, Bk, XI, Chapt. VI.

अध्याय : : १६

निर्वाचक और प्रतिनिधित्व

(Electorate and Representation)

हम बता चुके हैं कि लोकतन्त्र दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की प्रणाली में राज्य की इच्छा स्वतः लोगों द्वारा निर्मित होती है और व्यक्त होती है। लोग प्रतिनिधियों के हस्तक्षेप के बिना अपने निजी कानून बनाते हैं। किन्तु इस रूप का लोकतन्त्र हमारे काल में होना असंभव है। आधुनिक राष्ट्रीय-राज्य एक बहुत बड़ा राज्य होता है जिसका लम्बा-चौड़ा क्षेत्रफल और बड़ी भारी जनसंख्या होती है। लोगों के लिए इतने बड़े संपूर्ण राज्य की लम्बाई-चौड़ाई में से आ-आकर निजी रूप में परस्पर मिल सकना और कानूनों को बनाने में प्रत्यक्ष भाग लेना असंभव है। आधुनिक लोकतन्त्र अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक है। लोग अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं, जो नागरिकों की ओर से कानून बनाते हैं।

निर्वाचक (Electorate)— इन प्रतिनिधियों को लोग नियत-काल पर चुनते हैं। किन्तु सभी लोग चुनावों में भाग नहीं लेते। जो लोग मत-दान के अधिकार का प्रयोग करते हैं, संपूर्ण जनसंख्या की तुलना में उनका छोटा अंश है। उदाहरणार्थ, कोई भी देश अल्प-वयस्कों, पागलों, अपराधियों, परदेसियों आदि को मत-दान का अधिकार नहीं देता। कुछ राज्य स्त्रियों को भी मत-दान का अधिकार नहीं देते। कुछ अन्य संपत्ति और शिक्षा-विषयक योग्यताएं लागू करते हैं। जिन नागरिकों को मत-दान या निर्वाचन का अधिकार होता है, वे निर्वाचक या निर्वाचकमंडल कहलाते हैं। फलस्वरूप, निर्वाचक-मंडल उन लोगों को छोड़कर, जो किसी समय मत-दान की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते, संपूर्ण जनसंख्या द्वारा निर्मित है।

मताधिकार के सिद्धान्त (Theories of Franchise)—मताधिकार का क्या सही आधार होना चाहिए, यह लोकतन्त्र की सर्वाधिक कठिन समस्याओं में से एक है। तिस पर भी, दो मत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। अठारहवीं सदी में, जब प्राकृतिक अधिकारों, मनुष्य की समानता, और लोक प्रभु-सत्ता के सिद्धांत प्रत्येक राजनीतिक विचारक के रुचिकर मंत्र थे, उस समय व्यापक मताधिकार की मांग थी। यह धारणा थी कि प्रभु-सत्ता अन्ततः लोगों में निहित होती है और प्रत्येक नागरिक का मत-दान और सरकार की नीति का निश्चय करने में भाग लेने का वंशगत अधिकार है। इससे भी अधिक यह मत था कि लोकतन्त्र मनुष्य की समानता का निर्माण करता है और राजनीतिक समानता केवल तभी हो सकती है जब सब नागरिकों को मत-दान का अधिकार प्राप्त हो। यह कहा जाता था कि सरकार के कानूनों और नीतियों का सब लोगों से संबंध है और "जो सब को प्रभावित करती है, उसका निर्णय भी सबको करना चाहिए।" कुछ को मत-दान देने का आशय यह है कि अन्यों को प्रतिनिधित्व से वंचित रखा जाय। जिन हितों का प्रतिनिधित्व नहीं होगा, उनकी सरकार द्वारा उपेक्षित होने की संभावना होगी। जनसंख्या के सब

तत्वों के हितों का संरक्षण करने के लिए यह आवश्यक था कि प्रत्येक को सार्वजनिक मामलों का अन्तिम निर्णय करने में अपनी राय मिलाने का अधिकार हो।

दूसरे मत के नेता ब्लूटश्ली; लेकी, जान स्टुअर्ट मिल और मर हेनरी मेन थे। उनका अभिमत था कि मताधिकार नागरिक का वनगत अधिकार नहीं है। यह ऐसा अधिकार था, जो राज्य द्वारा प्रदान किया जाता था और इसका सबको अनुदान नहीं होना चाहिए। यह तर्क किया जाता था कि मताधिकार एक पवित्र अधिकार है, जिसमें प्रतिनिधियों के चुनाव का निर्णय करने में विवेकपूर्ण प्रयोग की आवश्यकता होती है। इसे अज्ञानी और मूर्ख जनता तक विस्तृत करना लोकतन्त्र का अन्धकारमय दिनों को आमत्रण देना है। इसलिए यह प्रस्ताव किया गया कि राज्य के सब नागरिकों को मत-दान का अधिकार नहीं होना चाहिए। इस मत के समर्थक व्यापक मत-दान के विचार के विरुद्ध थे।

जो भी हो, अब यह माना जाता है कि व्यापक मत-दान से, इसके समर्थकों का, आशय व्यापक वयस्क मत-दान से था। अल्प-वयस्को को मत-दान के अधिकार से सदैव बाहर रखा गया है। यही बात पागलो और परदेसियों के साथ थी। किसी अपराध के लिए दंडित होना अयोग्यता का पर्याप्त हेतु माना जाता था। मत-दान के रूप के विषय में आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि "यह एक पद या कृत्य है, जो राज्य द्वारा केवल ऐसे लोगो को प्रदान किया जाता है, जो सार्वजनिक हित के लिए उसे सर्वाधिक योग्यता के साथ प्रयुक्त करने योग्य समझे जाते हैं और यह प्राकृतिक अधिकार नहीं है जो भेदभाव के बिना सब नागरिकों को प्राप्त हो।"[1] किन्तु ऐसे लोगो की क्या योग्यता होनी चाहिए जो सार्वजनिक हित के लिए अपना मत-दान प्रयोग करने की सर्वाधिक योग्यता रखने वाले समझे जाते हैं? प्रत्येक राज्य के अपने निजी निर्वाचन-कानून होते हैं। वयस्क-मताधिकार लोकतन्त्र का मूल-मत्र है, किंतु वर्तमान में "निर्वाचकों में जनसंख्या का आंशिक भाग सम्मिलित है, जो अधिक-से-अधिक उदार राज्य में $\frac{1}{2}$ तक जा पाया है; और कई राज्यों में जैसे कि न्यूज़ीलैंड में, जहा वयस्क मताधिकार की स्वीकृति है, प्रायः जनसख्या का आधा भाग मत-दाता है।"[2]

बहिष्कृत वर्ग (Excluded Classes)—सभी राज्य अल्प-वयस्को, परदेसियो और पागलो को मत-दान के अधिकार से बाहर रखते हैं और वयस्क-मताधिकार से उनका आशय है प्रत्येक वह स्त्री और पुरुष नागरिक, जो पागल या अपराधी नहीं है। वयस्क के अर्थ प्रत्येक राज्य में भिन्न हैं। अमरीका, इंगलैंड और फ्रास वयस्क आयु २१ वर्ष की नियत करते हैं। रूस १८ वर्ष की आयु पर्याप्त समझता है। कुछ अवस्थाओं में २५ वर्ष तक की सीमा रखी गई है। अतर्निहित विचार यह है कि प्रतिनिधियों को चुनने के निर्णय में विवेकपूर्ण प्रयोग के लिए कोई परिपक्वता अनिवार्य होनी चाहिए। जेलखाने के अपराधी और पागल इसलिए बहिष्कृत है कि उनमें वह आवश्यक मानसिक और नैतिक योग्यता नहीं होती जो एक मत-दाता मे होनी चाहिए। कुछ राज्य ऐसे व्यक्तियो को भी, स्थायी या अस्थायी रूप मे, अयोग्य कर देते हैं जो अपराध के लिए दंडित होते हैं, क्योंकि वे अच्छे नागरिक नहीं होते और उनमें नागरिकता का अभाव होता है। परदेसियो को कहीं भी मत-दान का अधिकार नहीं होता, क्योंकि वे उस राज्य के नागरिक नहीं होते

1. Garner, op. cit. p. 517.
2. Gettell, op cit. p. 208.

जिसमें वह रहते हैं और उनकी स्वामी-भक्ति अन्य राज्य के प्रति होती है।

शिक्षा-योग्यता (Educational Qualifications)—कुछ राज्य अन्य मर्यादाएं लागू करते हैं जो या तो पूर्वकालीन प्रतिबन्धों के अवशेष हो सकते हैं अथवा राजनीतिक कारणों के परिणाम हो सकते हैं। इनमें से एक यह है कि एक मत-दाता को अनिवार्यतः शिक्षित व्यक्ति होना चाहिए, जिसमें कम-से-कम पढ़ने और लिख सकने की योग्यता हो। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है : "मैं यह बात सर्वथा मानने को तैयार नहीं कि कोई व्यक्ति पढ़ और लिख सकने की योग्यता बिना मताधिकार में भाग ले और गणित की साधारण क्रियाओं को पूरा करे।" उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि व्यापक मताधिकार प्रदान से पूर्व व्यापक प्रशिक्षण हो। अनिवार्य शिक्षा के लिए सर्वसाधारण में बढ़ती हुई इच्छा के कारण बहुत से उन्नतिशील राज्य अपने निर्वाचक कानूनों में शिक्षा विषयक योग्यता को रखना अनिवार्य नहीं समझते। किन्तु अमरीका के कुछ राज्यों में यह अभी भी रखी जाती है "खासकर नीग्रो लोगों को मताधिकार न देने के लिए।" इस स्थान में राजनीतिक चेतना का आविर्भाव होता है। भारत में निरक्षर होना अयोग्यता नहीं है बशर्ते कि नागरिक अन्य किसी योग्यता से संपन्न हो, जैसे भूमि-लगान का भुगतान, आयकर का भुगतान, म्युनिसिपल या जिला बोर्ड के टैक्सों का भुगतान। निःसंदेह, साक्षरता अन्य किसी भी योग्यता की चिन्ता किये बिना, एक व्यक्ति को मतदान का अधिकार देती है।

संपत्ति की योग्यता (The Property Qualification)—प्रतिनिध्यात्मक रूप की सरकार का जन्म सामंतवाद के अवशेषों पर हुआ था और चिरकाल तक मताधिकार का प्रयोग केवल संपत्तिस्वामियों तक ही सीमित था। सपत्ति-योग्यता के अन्तर्निहित यह सिद्धांत था कि जिन लोगों के पास संपत्ति की कोई मात्रा है, उन्हीं को यह समझा जाय कि उनका देश में कोई विशेष हित है। संपत्ति योग्यता के लिए जो अन्य युक्ति दी जाती थी, वह यह थी कि मत-दान का अधिकार उन्हीं को होना चाहिए, जो टैक्स देते हैं। जान स्टुअर्ट मिल संपत्ति-योग्यता के प्रबल समर्थक थे। उनका मत था : "यह आवश्यक है कि जो असेंबली टैक्सों का आरोप करती है, चाहे सामान्य या स्थानीय, उसका केवल उन्हीं द्वारा चुनाव होना चाहिए, जो लगाए करों की दिशा में कुछ देते हैं। जो टैक्स नहीं चुकाते, और अपनी वोटों से अन्य लोगों के धन को खर्च करते हैं, वह हर हालत में फिजूलखर्च होंगे और जहां तक द्रव्य का सम्बन्ध है, उनमें कोई भी मितव्ययी नहीं होगा, और उन्हें मत-दान की किसी शक्ति का अधिकार देना आधार-मूलक सिद्धान्त को भंग करना और नियामक शक्तियों को लाभदायक प्रयोग में प्रयुक्त होने से रोकना है।"

सिवा रूस के संपत्ति का स्वामित्व प्रत्येक आधुनिक राज्य में मताधिकार के प्रयोग के लिए अत्यधिक सर्वमान्य योग्यता है। किन्तु यह पुराना सिद्धान्त अब सत्य नहीं माना जाता। संपत्ति का अधिकार मताधिकार के प्रयोग के लिए एक आवश्यक योग्यता हो सकता है, किन्तु इसे केवल मात्र अनिवार्य योग्यता नहीं माना जा सकता। राजनीतिक अधिकार के साथ यदि संपत्ति योग्यता जुड़ी है तो वह कदापि अधिकार नहीं। यह लोगों के एक विशाल बहुमत को मताधिकार से वंचित करने और अयोग्य बनाने के लिए कहा जा सकता है, भले ही वे राज्य के कैसे भी सम्मानित नागरिक क्यों न हों। जब

सम्पत्ति ही प्रतिनिधियों को चुनने की केवलमात्र योग्यता है, तो विधान-सभाएं केवल सपत्तिशाली वर्गों की ही प्रतिनिधि संस्थाएं होंगी और स्वभावतः समुदाय के अन्य भाग और स्वार्थ प्रतिनिधित्व हीन रह जायेंगे। प्रतिनिधित्व का ऐसा रूप लोकतन्त्र का मजाक है। यह तर्क, कि जो लोग टैक्स अदा करते हैं, उन्ही को मत-दान का अधिकार होना चाहिए, सर्वथा भिन्न स्थिति का है। इसका संपत्ति के अधिकार के साथ कोई सबध नही बनता। समुदाय के व्यक्तियों द्वारा टैक्स देना सरकार की सेवाओं के लिए अशदान करना है। नि सदेह, यह जनतात्रिक तर्क है कि टैक्स-आरोपण और प्रतिनिधित्व साथ-साथ होने चाहिएं। जो लोग सरकार के विधेयक को गतिशील करते हैं, उनके पास यह देखने का साधन भी होना चाहिए कि धन कैसे खर्च किया जाता है। किन्तु, प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः, हम सभी टैक्स देते हैं, केवल सपत्ति वाला वर्ग ही नही।

यौन-योग्यता (Sex Qualification)—अभी थोड़े ही समय पहले तक मताधिकार केवल पुरुषों तक ही सीमित था और स्त्रियों को मत-दान का अधिकार नही था। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में स्त्रियों को पूर्ण मताधिकार १९२० में दिया गया था। इंग्लैंड में Representation of the People Act 1918 ने स्त्री-मताधिकार की केवल एक सीमित प्रणाली स्वीकार की थी। इस एक्ट में, १९२८ में परिवर्तन किया गया और वर्तमान में वहां स्त्री-पुरुषों के लिए समान मताधिकार है। यद्यपि स्त्री-मताधिकार के विरुद्ध पुरातन रूढ़ियों का लोप होता जा रहा है तथापि कई राज्य अपने यहा की स्त्रियों को मताधिकार देने से इन्कार करते हैं। सभवतः इसका कारण "समाज में स्त्रियों की एक विशेष स्थिति का होना है, जैसा कि मुसलमानों की अवस्था है, अथवा चुनाव में उनके मतों को लेने की क्रियात्मक कठिनाई है।"[1]

स्त्री-मताधिकार के विरुद्ध तर्क (Arguments against Woman Franchise)—जो लोग स्त्री-मताधिकार का विरोध करते हैं, उनका कहना है कि स्त्री घर के काम-काज को चलाने वाली है और बच्चे जनना उसका काम है। "राजनीतिक जीवन की बलाद्ग्राहिता शिशु-पालन और परिवार के पोषण के कर्तव्यों के साथ असगत है।"[2] प्रकृति ने राजनीतिक जीवन के लिए उसे नही बनाया। उसका राजनीति में भाग लेना निश्चय ही घर के सगठन को नष्ट कर देगा। यदि पति और पत्नी के राजनीतिक दृष्टिकोण में मतभेद है और वे विरोधी उम्मीदवारों का समर्थन करते है, तो इसका अर्थ पारिवारिक जीवन में अशान्ति हो सकती है। इसके अलावा, यदि स्त्रियों ने अपने को राजनीतिक दलदल में डाल लिया, तो वह उस आदर और सम्मान को खो देंगी, जो उन्हें मिलना उचित है। स्त्री-मताधिकार के विरोधी और आगे चलकर कहते हैं कि जब कभी उन्हे मताधिकार प्रदान किया गया तो उन्होंने सार्वजनिक मामलों में सामान्यतः उदासीनता प्रदर्शित की है। वह शारीरिक रूप में दुर्बल होने के कारण नागरिकता के कठोर कर्तव्यों का पालन करने के अयोग्य है, और, ऐसी दशा में उन्हें मताधिकार का विशेष अधिकार मागने का हक नही है।

स्त्री-मताधिकार के समर्थन में तर्क (Arguments in Favour of Woman Franchise)—स्त्री मताधिकार की माग ने लोकतन्त्र के प्रसार के साथ-ही-

1. Gilchrist, op. cit p. 266.
2. Garner, op. cit. p. 564.

साथ काम किया है। लोकतन्त्र सिद्धान्ततः मनुष्य-मनुष्य के बीच अन्तर नहीं करता। तो फिर यह स्त्री-पुरुषों के बीच अन्तर क्यों करे? युक्ति और सुधार—दोनों ही दृष्टियों से स्त्रियों को मताधिकार से इंकार नहीं किया जा सकता। मत-दान का अधिकार शारीरिक विचार की अपेक्षा नैतिक और सुधार के प्रश्नों पर आधारित है। सिजविक कहते हैं, "किसी भी आत्मनिर्भर वयस्क को मताधिकार देने से इंकार करने का मुझे पर्याप्त कारण नहीं दीख पड़ता, जो अन्यथा वैध हो, और केवल यौन के कारण ही अवैध हो : और ऐसे इंकार के फल-स्वरूप तब तक भौतिक अन्याय का भय होगा, जब तक राज्य अविवाहित स्त्रियों और विधवाओं को सामान्य औद्योगिक प्रतिद्वंद्विता में जीविकोपार्जन के लिए बिना किसी विशेष सुविधा या संरक्षण के संघर्ष करने को छोड़ देगा।"[1]

स्त्री-मताधिकार के समर्थकों का तर्क है कि चूंकि वे शारीरिक रूप में दुर्बल हैं, इसलिए रक्षा के लिए कानून और समाज पर अधिक निर्भर हैं। जो कानून उनके स्तर को प्रभावित करते हैं, उनके विषय में कहने का उन्हें उचित अधिकार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त मनुष्य युगों से नारी पर शासन करता आया है, उनके साथ अमानवी व्यवहार करता आया है, और उसने उन्हें न्यायोचित अधिकारों तथा सुविधाओं से वंचित रखा है। वह केवल तभी अन्यायपूर्ण वर्ग के कानून निर्माण से अपनी रक्षा कर सकती है जब उन्हें मत-दान का अधिकार हो और उन्हें अपने विचारों के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। यह कहना भी ठीक नहीं है कि उनका राजनीति में भाग लेना उनके घरेलू और राजनीतिक जीवन का ह्रास कर देगा। वस्तुतः राजनीति में स्त्रियों के प्रवेश से राजनीतिक जीवन में पवित्र, उच्च-सम्मानपूर्ण और परिष्कृत प्रभाव उत्पन्न होगा, जो न केवल सार्वजनिक जीवन के स्तर को उच्च करने और समाज में राजनीतिक अवस्थाओं को अधिक सुखद बनाने में प्रवृत्त होगा, प्रत्युत इससे बेहतर सरकार का भी भरोसा हो सकेगा।"[2] स्त्रियों को मताधिकार से इंकार करना उन्हें सद्-नागरिकता की भावना से वंचित करना है। नारी सभ्यता की दीप-स्तंभ है और प्रत्येक राज्य का भविष्य उसके सरकार के मामलों में सक्रिय भाग लेने पर निर्भर करता है। यदि उसे नागरिक भावना से वंचित किया जाता है, तो उसके पास बच्चों को शिक्षा देने के लिए कुछ नहीं रहता। अन्ततः, जब स्त्रियां सब शहरी अधिकारों का सुखोपभोग करती हैं, तो उन्हें राजनीतिक अधिकार न देना असंबद्ध और असुधारक है। शहरी अधिकारों के बाद राजनीतिक अधिकार अनिवार्यतः होने ही चाहिएं।

निष्कर्ष—लोकतन्त्र जनता की इच्छा से जनता की सरकार है। एक निश्चित प्रदेश में रहने वाली स्त्री और पुरुष—दोनों ही से राज्य की जनता बनती है। यदि स्त्रियों को अपनी अनुमति व्यक्त करने का अवसर नहीं दिया जाता तो यह लोकतन्त्र का निषेध है। पुराने पक्षपात अनिवार्यतः लोप हो जाने चाहिएं और स्त्रियों को राजनीतिक जीवन में पुरुषों के बराबर खड़ा होना चाहिए। स्त्रियों को किसी भी दशा में पिछड़ना नहीं चाहिए। उन्होंने प्रत्येक देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अपने महत्व को प्रमाणित किया है। तो फिर उन्हें मताधिकार के अधिकार से इंकार क्यों किया जाय?

बहुल या भारीकृत मत-दान (Plural or Weighted Voting)—इस

1. Elements of Politics. p. 385.
2. Garner, Op. Cit. p. 568.

लिए आधुनिक जनतान्त्रिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वयस्क पुरुष और प्रत्येक वयस्क स्त्री, बशर्ते कि वह निर्वाचन कानूनों द्वारा अयोग्य न हो, अपने प्रतिनिधियों को चुनने में मतदान के अधिकार का प्रयोग करती है। इसे एक व्यक्ति के एक मत की गुरुता तक कम किया जा सकता है। किन्तु कुछ राज्यों में बहुल या भारीकृत मत-दान की प्रणाली भी प्रचलित है, जो कभी-कभी सापेक्ष मत-दान (Differential Voting) भी कहलाता है। बहुल मत-दान की प्रणाली का अर्थ है कि कुछ व्यक्तियों के एक से अधिक मत होते हैं। बहुल मत-दान की प्रणाली के अधीन विचार यह है कि जो लोग अपेक्षाकृत अधिक योग्यता-संपन्न हैं अथवा जिनके विषय में यह समझा जाता है कि उनके स्वार्थों की बृहत्तर बाजी लगी हुई है, उन्हें उन लोगों की अपेक्षा अधिक मत दिये जाते है, जो कम योग्यता वाले हैं या जिनके देश में अपेक्षाकृत कम स्वार्थ है। बेल्जियम ने इस प्रणाली को १८९३ में जारी किया था और यह वर्तमान में भी वहा मौजूद है। प्रत्येक नागरिक को, जो २५ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो और समुदाय में कम-से-कम एक वर्ष के लिए रह चुका हो, एक मत की स्वीकृति है। इसके अतिरिक्त, ३५ वर्ष के आयु-प्राप्त एक वैध बच्चे वाले, तथा जिसने राज्य को पांच फ्रैंकों का टैक्स चुकाया हो, उसे एक पूरक मत की स्वीकृति है और दो पूरक मत उन पुरुष नागरिकों के लिए हैं, जो २५ वर्ष की आयु वाले तथा जिनके पास उच्च-शिक्षा संस्था का प्रमाण-पत्र हो अथवा जो सरकारी पद पर हों। भारत में भी बहुल मत-दान की प्रणाली प्रचलित है। उदाहरणार्थ, विश्वविद्यालयों के स्नातकों के एक मत से अधिक मत हैं।

बहुल मत-दान के गुण (Merits of Plural Voting)—व्यापक मताधिकार विरोधी अज्ञानी जनता को राजनीतिक शक्ति सौंपने के लिए उदासीन थे। उन्हें भय था कि जननेता या स्वार्थी नीतिज्ञ अज्ञानी और अशिक्षित लोगों को गुमराह करके वास्तविक शक्ति को हड़प जायेंगे। इसलिए बहुल मत-दान की विधि "कम शिक्षितों की संख्या का प्रतिकार" करने के लिए खोजी गई। जान स्टुअर्ट मिल इस प्रणाली के प्रबल पक्षपाती थे। उनका मत था कि सब मतों को समान समझना बड़ी भारी राजनीतिक भूल है। उन्होंने साथ ही कहा कि मतों को गिना नहीं जाना चाहिए; उन्हें तोलना चाहिए और देश में जिनके स्वार्थ अधिक नियोजित है अथवा जो मत-दान के लिए अधिक योग्यता-सम्पन्न हैं, उनका अपेक्षाकृत अधिक भार होना चाहिए।

बहुल मत-दान के दोष (Defects in Plural Voting)—किन्तु बहुल मत-दान का क्रियात्मक दोष मतों को तोलने का न्यायपूर्ण और निष्पक्ष मान निर्धारित करने की कठिनाई है। शिक्षा को या संपत्ति को महत्व देना मतों की एक खास सूची को स्वच्छन्द मूल्य प्रदान करना है। "इस तरह, जबकि विश्व-विद्यालय का एक स्नातक एक विशेष मत प्राप्त कर सकता है तो एक सिविल इन्जीनियर या शिल्पी, जो एक विशेष काम में उच्च-योग्यता प्राप्त है, इस बात की न्याय्य शिकायत कर सकता है कि उसे अतिरिक्त मत प्राप्त नहीं हैं।"[1] संपत्ति भी, सच्ची कसौटी नहीं है। जब राजनीतिक अधिकारों का आधार संपत्ति हो तो लोकतन्त्र कार्य नहीं कर सकता। संपत्तिवानों के लिए भारीकृत मत-दान का अर्थ है निहित स्वार्थों को विस्तार देना। इस तरह की विधि अत्यधिक अजनतान्त्रिक

1. Gilchrist, op. cit., p. 280.

है, क्योंकि यह राजनीतिक समानता के सिद्धांतों के साथ मेल नहीं खाती। इसीलिए, वहुल मत-दान शीघ्रतापूर्वक लोप होता जा रहा है।

एक और वहु-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र

(Single & Multiple Member Constituencies)

लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि निर्वाचक अपने राजनीतिक अधिकारों का न्याय्य प्रयोग कर सकें। इसलिए राज्य के संपूर्ण प्रदेश को अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में बांटा जाता है। निर्वाचन क्षेत्र इस ढंग से नियत किये जाते हैं कि निर्वाचकों को चुनाव के उम्मीदवारों की, जो अपने को निर्वाचन के लिए प्रस्तुत करते हैं, सत्यता का सही ज्ञान होने का अवसर मिल सके।

ये निर्वाचन-क्षेत्र या हलके चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या के अनुसार विशेष-रूप से नियत किये जाते हैं, किन्तु यह भी हो सकता है कि अन्य उद्देश्यों के लिए नियत जिला-सीमाओं को भी, जैसे स्थानीय या म्युनिसिपल सरकार को, अपनाया जा सकता है। वर्तमान में निर्वाचन-क्षेत्रों का नियत समय पर सुधार प्रत्येक राज्य का एक आवश्यक विषय वन गया है। इसका कारण आधुनिक औद्योगिक और व्यापारिक अवस्थाएं हैं।

एक जिला प्रणाली (The Single District System)—सामान्यतः निर्वाचन क्षेत्रों कोव नाने के लिए दो विधियां ग्रहण की जाती हैं। प्रथम एक-जिला या हलका प्रणाली है। फ्रांसीसी इसे Scrutin-d' arroudissement कहते हैं। इस प्रणाली के अनुसार, राज्य को इतने निर्वाचन-क्षेत्रों या जिलों या हलकों में बांटा जाता है जितने प्रतिनिधि चुने जाने हों। प्रत्येक हलके से केवल एक प्रतिनिधि चुना जाता है और प्रत्येक मत-दाता को केवल एक ही मत की स्वीकृति होती है। सभी जिले समान या लगभग समान आकार के होते हैं। यह प्रणाली भारत, ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका तथा अन्य कई देशों में पाई जाती है।

सामान्य टिकट प्रणाली (General Ticket System)—चुनाव-क्षेत्र वनाने की दूसरी विधि सामान्य टिकट प्रणाली या Scrutin de Liste कहलाती है। इस विधि के अनुसार संपूर्ण देश को चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या के अनुसार चुनाव-क्षेत्रों में विभाजित नहीं किया जाता। इसके विपरीत, जिलों की एक संख्या वनाई जाती है, जिससे हर एक में से कई सदस्य चुने जाते हैं। जिले का आकार उस जिले से आने वाले प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित करता है। प्रत्येक निर्वाचक के उतने ही मत होते है, जितने कि सदस्य चुने जाने होते हैं।

सामान्य टिकट-योजना के चलन को वहुत समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। प्रायः प्रत्येक देश में इसका प्रयोग किया गया किन्तु अन्ततः छोड़ना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में सन् १८४२ में इसका स्थान एक जिला-प्रणाली ने ले लिया। फ्रांस में Scrutin de liste विधि का रंग-विरंगा इतिहास रहा है। किन्तु आम टिकट-योजना अनिवार्यतः उन देशों में प्रचलित होगी, जिन्होंने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अपनाया है।

इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि निर्वाचक अपने प्रतिनिधियो का न्यायपूर्ण चुनाव नही कर सकते। चुनाव-क्षेत्र अत्यधिक बड़ा और बहु-सदस्यी होने के कारण, निर्वाचकों के लिए उम्मीदवारों को व्यक्तिगत रूप में चीन्ह लेना संभव नही होता। न ही प्रतिनिधियां के लिए अपने-अपने हलको को प्रेरणा करना सभव होता है। फलस्वरूप, निर्वाचको और उनके प्रतिनिधि के बीच पूर्णतया संबंध-विच्छेद की दशा होती है, जो असंदिग्ध रूप में, प्रतिनिधि सरकार के प्रारम्भिक सिद्धान्तो के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त सामान्य टिकट प्रणाली राजनीतिक दलों के उत्कर्ष का कारण बनती है, जिनके भ्रमपूर्ण कार्यक्रम और दुर्बल सरकारें होती हैं। साथ ही यह ऐसे दल की भी सहायक होती है, जो निर्वाचको का थोड़ा-सा बहुमत होने के कारण सब सीटों पर अधिकार कर लेती है। अन्ततः इसमें अल्पसख्यको का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही होगा।

एक-सदस्य जिला प्रणाली के लाभ (Advantages of the Single-Member District Method)—दूसरी ओर एक-सदस्य हलका योजना सरल और सहज है। यह सुविधा और लाभदायक ढग से बडे राज्यों में लागू की जा सकती है। इसकी प्रबन्धकारिता में सरलता और मतो को गिनने में आसानी होती है। हलके का क्षेत्र छोटा होने के कारण निर्वाचको तथा प्रतिनिधियो के बीच निकट सम्बन्ध होता है। उसे उसके हलके के लोग जानते होते हे। क्योकि बहुधा वह स्वतः उसी जिले का होता है। इसलिए, मत-दाता अपने मतो का प्रयोग बुद्धिमानी से करते हैं और सामान्यतः उस व्यक्ति को चुनते है, जो अपने उत्तरदायित्वो को अत्यधिक विवेक के साथ पूर्ण करने योग्य होता है। इसके विपरीत, प्रतिनिधि चूंकि अपने हलके के लोगो की आवश्यकता से स्वय परिचित होते है, इसलिए, उनके कष्टों को दूर करा सकते हैं। इस तरह, एक-सदस्य जिला योजना स्थानीय इकाई के रूप में हलके को स्थिर रखती हैं।

सक्षेपतः, प्रतिनिधियों को चुनने की एक-सदस्य हलका प्रणाली "अपने प्रतिनिधि को चुनने में मत-दाता की जिम्मेदारी को बढाती है और उसके साथ ही, हलके मे प्रतिनिधि की रुचि और हलके के प्रति उसकी जिम्मेदारी को भी बढा देती है।"[1] प्रतिनिधि नियमपूर्वक अपने हलके की सेवा करने का इच्छुक होता है और अपने निर्वाचको को उसे सौंपे गए विश्वास की न्याय्यता से परिचित कराता रहता है। वह स्थानीय लोकमत का निरादर नही कर सकता, क्योकि उसका पुनः निर्वाचन उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। चुनाव की यह प्रणाली अल्प-सख्यकों के प्रतिनिधियो को भी पर्याप्त अवसर प्रदान करती है, और इस तरह हितों के युक्ति-सगत सतुलन की प्राप्ति करती है। अन्ततः, एक-सदस्य जिला की तुलनात्मक लघुता व्यय और चुनाव के कष्ट को कम करने की प्रवृत्ति रखती है।

एक-सदस्य जिला प्रणाली की हानियां (Disadvantages of the Single-Member District Method)—एक-सदस्य जिला प्रणाली दोषो से मुक्त नही है। पहली आपत्ति यह है कि यह चुनाव करने की इच्छा को संकुचित करती है, जिसके कारण न केवल घटिया प्रत्युत बहुधा भ्रष्ट प्रतिनिधियों का चुनाव हो जाता है। निर्वाचन-विकल्प उस समय और भी सीमा-बद्ध हो जाता है, जबकि एक-सदस्य जिला-क्षेत्र के साथ उस इलाके के नियम भी जोड़ दिये जाते हैं। इस तरह, चुने गए प्रतिनिधि

1. Garner, Op. Cit., p. 633.

प्रतिनिधित्व के विचार को और भी संकुचित बनाना शुरू कर देते हैं। वह अपने-आपको समग्र रूप में राष्ट्र के प्रतिनिधि की अपेक्षा स्थानीय स्वार्थों के प्रतिनिधि समझने लग जाते हैं। इस प्रकार की राजनीतिक भावना राष्ट्रीय ऐक्य के लिए अत्यधिक हानिकारक है। डाक्टर गार्नर कहते हैं "जो रीति किसी विशेष इलाके के प्रतिनिधि रूप में व्यवस्थापक को मानती है, वह उन आदमियों के चुनाव के लिए जिम्मेदार है, जिनकी शक्तियां लघुतर स्थानीय प्रभावों के दवाव से वोझल हो जानी संभव होती हैं और फलस्वरूप, राज्य को उन योग्य नीतिवेत्ताओं की सेवाओं से वंचित रखती हैं, जो व्यवस्थापिका सभा में कार्य करने को तत्पर हों बशर्ते कि उन्हें ऐसे प्रभावों से मुक्त किया जा सके।"[1] अन्ततः चूंकि एक-सदस्य हलका प्रणाली में क्षेत्रों का निरन्तर परिष्कार होता है, इसलिए जो दल शक्ति में होता है, वह "मन-चाही" करने लगता है, अर्थात निर्वाचन क्षेत्र इस ढंग से बनाये जाते हैं कि बहुसंख्यक दल को उसके मत-दान संख्या के अधिकार की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधि मिल सकें।

निष्कर्ष—एक-सदस्य जिला प्रणाली में इन स्पष्ट त्रुटियों के होते हुए भी, यह सर्वाधिक अनुकूल निर्वाचन विधि स्वीकार की गयी है। सामान्य टिकट-योजना भी उन देशों में गतिशील उन्नति कर रही है, जहां आनुपातिक प्रतिनिधित्व को लागू किया गया है। वस्तुतः चुनाव की ऐसी कोई योजना नहीं, जो त्रुटियों से मुक्त हो।

चुनाव की विधि
(Method of Election)

चुनाव की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विधियां (Direct & Indirect Methods of Election)—प्रतिनिधियों को चुनने की दो विधियां हैं। यदि मत-दाता चुनाव में प्रत्यक्ष भाग लेते हैं और अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं, तो यह चुनाव की प्रत्यक्ष विधि कहलाती है। प्रत्यक्ष चुनाव की विधि बहुत सरल है। प्रत्येक मत-दाता पोलिंग स्टेशन पर जाता है और अपना मत एक या दूसरे उम्मीदवार के पक्ष में डालता है। जिस उम्मीदवार को अधिकतम संख्या मिलती है, वह निर्वाचित घोषित किया जाता है। चुनाव की यह विधि सर्वाधिक लोक-प्रिय है और लोक-सभा के सदस्यों का चुनाव करने के लिए सब लोकतन्त्री देशों में इसका अनुसरण किया जाता है। इंग्लैंड में हाऊस आफ कामन्स का चुनाव प्रत्यक्ष होता है। भारत में राज्य-सभाओं और लोक-सभा के सब सदस्यों का चुनाव अब प्रत्यक्ष विधि से होता है।

जब मत-दाता अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रत्यक्षतः भाग नहीं लेते, लेकिन केवल माध्यमिक संस्था को ही चुनते हैं, जो प्रतिनिधियों को चुनती है, तो चुनाव की यह प्रणाली अप्रत्यक्ष कहलाती है। निर्वाचकों की यह माध्यमिक संस्था साधारणतया निर्वाचक-मंडल (Electoral College) कहलाता है। चुनाव की अप्रत्यक्ष विधि में दोहरा चुनाव समाविष्ट होता है। प्रथम स्थिति में, मत-दाताओं का विशाल समूह अपने में से निर्वाचकों का एक छोटा दल चुनता है। ये निर्वाचक तब अन्तिम प्रतिनिधियों को चुनते हैं, जो व्यवस्थापिका सभा के सदस्य बन जाते हैं। इसलिए, प्रतिनिधियों को चुनने

1. Ibid., p. 635.

प्रतिनिधित्व के विचार को और भी संकुचित बनाना शुरू कर देते हैं। वह अपने-आपको समग्र रूप में राष्ट्र के प्रतिनिधि की अपेक्षा स्थानीय स्वार्थों के प्रतिनिधि समझने लग जाते हैं। इस प्रकार की राजनीतिक भावना राष्ट्रीय ऐक्य के लिए अत्यधिक हानिकारक है। डाक्टर गार्नर कहते हैं "जो रीति किसी विशेष इलाके के प्रतिनिधि रूप में व्यवस्थापक को मानती है, वह उन आदमियों के चुनाव के लिए जिम्मेदार है, जिनकी शक्तियां लघुतर स्थानीय प्रभावों के दबाव से बोझिल हो जानी संभव होती हैं और फलस्वरूप, राज्य को उन योग्य नीतिवेत्ताओं की सेवाओं से वंचित रखती हैं, जो व्यवस्थापिका सभा में कार्य करने को तत्पर हों बशर्ते कि उन्हें ऐसे प्रभावों से मुक्त किया जा सके।"[1] अन्ततः चूंकि एक-सदस्य हलका प्रणाली में क्षेत्रों का निरन्तर परिष्कार होता है, इसलिए जो दल शक्ति में होता है, वह "मन-चाही" करने लगता है, अर्थात निर्वाचन क्षेत्र इस ढंग से बनाये जाते हैं कि बहुसंख्यक दल को उसके मत-दान संख्या के अधिकार की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधि मिल सकें।

निष्कर्ष—एक-सदस्य जिला प्रणाली में इन स्पष्ट त्रुटियों के होते हुए भी, यह सर्वाधिक अनुकूल निर्वाचन विधि स्वीकार की गयी है। सामान्य टिकट-योजना भी उन देशों में गतिशील उन्नति कर रही है, जहां आनुपातिक प्रतिनिधित्व को लागू किया गया है। वस्तुतः चुनाव की ऐसी कोई योजना नहीं, जो त्रुटियों से मुक्त हो।

चुनाव की विधि
(Method of Election)

चुनाव की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विधियां (Direct & Indirect Methods of Election)—प्रतिनिधियों को चुनने की दो विधियां हैं। यदि मत-दाता चुनाव में प्रत्यक्ष भाग लेते हैं और अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं, तो यह चुनाव की प्रत्यक्ष विधि कहलाती है। प्रत्यक्ष चुनाव की विधि बहुत सरल है। प्रत्येक मत-दाता पोलिंग स्टेशन पर जाता है और अपना मत एक या दूसरे उम्मीदवार के पक्ष में डालता है। जिस को अधिकतम संख्या मिलती है, वह निर्वाचित घोषित किया जाता है। चुनाव की यह विधि सर्वाधिक लोक-प्रिय है और लोक-सभा के सदस्यों का चुनाव करने के लिए सब लोकतन्त्री देशों में इसका अनुसरण किया जाता है। इंग्लैंड में हाऊस आफ कामन्स का चुनाव प्रत्यक्ष होता है। भारत में राज्य-सभाओं और लोक-सभा के सब सदस्यों का चुनाव अब प्रत्यक्ष विधि से होता है।

जब मत-दाता अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रत्यक्षतः भाग नहीं लेते, लेकिन केवल माध्यमिक संस्था को ही चुनते हैं, जो प्रतिनिधियों को चुनती है, तो चुनाव की यह प्रणाली अप्रत्यक्ष कहलाती है। निर्वाचकों की यह माध्यमिक संस्था साधारणतया निर्वाचक-मंडल (Electoral College) कहलाता है। चुनाव की अप्रत्यक्ष विधि में दोहरा चुनाव समाविष्ट होता है। प्रथम स्थिति में, मत-दाताओं का विशाल समूह अपने में से निर्वाचकों का एक छोटा दल चुनता है। ये निर्वाचक तब अन्तिम प्रतिनिधियों को चुनते हैं, जो व्यवस्थापिका सभा के सदस्य बन जाते हैं। इसलिए, प्रतिनिधियों को चुनने

1. Ibid., p. 635.

पर दृष्टिकोण अपनाने के विषय में और जिस ढंग से वे मत-दान करें, उसकी बाबत आदेश देने का क्रमागत अधिकार रहता है।

आदेश-हीन प्रतिनिधित्व का पक्ष (Case for uninstructed Representation)–किन्तु प्रतिनिधित्व का नवीनतम सिद्धान्त आदिष्ट प्रतिनिधित्व के विचार को आमूल रद्द करता है। लास्की इसे पूर्णतया झूठा ठहराते हैं।[1] लीबर (Lieber) इसे "न्याय विरुद्ध, असंगत और अवैधानिक" मानते हैं। यह धारणा की जाती है कि विवेक-पूर्ण आदेश उपलब्ध नहीं हैं। निर्वाचकों की वास्तविक और संगत इच्छा का पालन करना पूर्णतया असंभव है। यदि यह कल्पना की जाय कि विवेक-पूर्ण आदेश उपलब्ध हो सक्ते हैं, तो इतने पर भी प्रतिनिधियों के लिए यह असम्भव होगा कि वे आदेश के लिए निर्वाचकों को सब समस्याओं से अवगत कराए। कानून-निर्माण में तत्परता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी स्वतः विचार-विमर्श में। यदि प्रतिनिधियों को सम्पूर्ण कानून-निर्माण की प्रत्येक धारा के विषय में सम्मति लेना आवश्यक हो तो राज्य के कार्यकलाप निश्चित रूप से अवरुद्ध हो जायेंगे। कानून-निर्माण की विधि कठिन है और इसमें कई पारिभाषिक प्रश्न समाविष्ट होते हैं। कई बातें सदस्यों के ज्ञान में केवल सदन में ही आ पाती हैं। प्रतिनिधि उसी के अनुसार अपने विचारों का समन्वय करते हैं। इसलिए, उन्हें आदेशों और प्रतिज्ञाओं से पूर्वतः बद्ध करना मूर्खता है। प्रतिज्ञाएं लेने की प्रणाली स्वाभाविक रूप से दोषपूर्ण है। निःसंदेह निर्वाचकों को अपने प्रतिनिधि के सामान्य दृष्टिकोण की संपूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने का अधिकार है। इसके साथ ही वे सब महत्वपूर्ण प्रचलित समस्याओं पर उसके दृष्टिकोण को जानने का अधिकार भी रखते हैं। यहां तक कि वे किसी प्रश्न के विषय में उसके निर्णय पर युक्तिपूर्वक उसकी व्याख्या की भी माग करते हैं। किन्तु वह अपने निर्णय को उनकी इच्छा के अधीन नहीं कर सकता। वह अपने विवेक और बुद्धि के अनुरूप उत्तमतापूर्वक कार्य करने के लिए चुना गया है। यदि उसे प्रत्येक प्रश्न पर निर्वाचकों की अभ्यर्थना करनी होगी और उनका आदेश लेना होगा, तो प्रतिनिधि में नैतिकता या व्यक्तित्व का अभाव हो जाता है।[2] न ही वह अपने दृष्टिकोण और निर्णयों में प्रगतिशील हो सकता है। यदि वह परिवर्तनशील अवस्थाओं के अनुसार अपने चरण बनाए रहता है, जैसा प्रत्येक प्रतिनिधि को चाहिए भी, तो वह प्रतिज्ञाओं को भंग करने का दोषी हो जाता है।

निर्वाचन और पुनर्निर्वाचन की वर्तमान प्रणाली के अधीन आदिष्ट प्रतिनिधित्व स्पष्टतया अर्थहीन है। प्रतिनिधियों को वर्षों की नियत संख्या के लिए चुना जाता है और पद की अवधि की समाप्ति के बाद उन्हें निर्वाचकों की अभ्यर्थना करनी चाहिये और वे पुनः निर्वाचित हों। व्यवस्थापिका सभा की नियत अवधि इस बात के लिए पर्याप्त रूप में उचित गारंटी है कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्रों की भावनाओं का किसी भयंकर सीमा तक गलत प्रतिनिधित्व नहीं करेंगे। इससे अधिक, राजनीतिक दल वर्तमान में इतने सुसंगठित हो गए हैं कि उनके बिना प्रतिनिधि सरकार का विचार ही नहीं हो सकता। निर्वाचनों का मुकाबला व्यक्तियों की अपेक्षा दलों द्वारा किया जाता है। मत-दाता दल विशेष और उसकी व्यक्त नीति के लिए मतदान करते हैं, व्यक्तियों के लिए नहीं।

1. Grammar of Politics, p. 319.
2. Ibid.

यदि दलविशेष के टिकट पर चुना गया सदस्य अपने दल के पट्टे को बदलना चाहता है, तो राजनीतिक नैतिकता मांग करती है कि वह उस दल की टिकट पर पुनः निर्वाचन के लिए खड़ा हो जिसके प्रति वर्तमान में वह शपथ-बद्ध है। लास्की के कथनानुसार "स्पष्टतया, वह स्वतंत्र व्यापारी के रूप में निर्वाचित होने और पुनः संरक्षित शुल्क सूची (Protected tariff) के लिए मत-दान करने का अधिकारी नहीं है। अन्ततः यदि आदेश ही प्रतिनिधित्व का आधार हो तो योग्य और बुद्धिमान व्यक्तियों के व्यवस्थापिका सभाओं में जाने की आशा नहीं की जा सकती, जहां उनसे केवल वही बोलने की आशा की जाय जो उनके निर्वाचकों को रुचिकर हो। वे अपने को इस प्रकार की प्रतिनिधि संस्थाओं के मजाक से सदा दूर रखेंगे। इस तरह से महान और निपुण नीतिज्ञों की सेवाओं से राष्ट्र सदैव के लिए वंचित भी रह सकता है।

फलस्वरूप, आदिष्ट प्रतिनिधित्व का सिद्धांत स्वीकृति योग्य नहीं है। यदि प्रतिनिधि को केवल एजेंट ही माना जाता है, तो वह निर्वाचन-क्षेत्र के केवल उन्हीं लोगों का प्रतिनिधित्व करता है जिन्होंने उसे चुना होता है, न कि संपूर्ण राष्ट्र का। किन्तु वास्तविकता यह है कि जब वह एक बार चुन लिया जाता है तो वह राष्ट्र का प्रतिनिधि बन जाता है। यद्यपि उसके बाद उसके निर्वाचनों की इच्छाओं की बड़ी भारी शक्ति होती है, और उनकी सम्मति का उच्च मान होता है", तथापि, यदि वह अपने उद्योग और निर्वाचकों के प्रति अपने निर्णय का बलिदान करता है तो, वह उनकी सेवा करने के बजाय उनके साथ द्रोह करता है।[1] बर्क (Burke) ने निर्वाचकों और प्रतिनिधियों के बीच सम्बन्धों की हमें सही-सही परिभाषा प्रदान की है। उन्होंने घोषणा की, "पार्लमेंट भिन्न और विरोधी स्वार्थों के राजदूतों का सम्मेलन नहीं है कि जिन स्वार्थों को हर कोई एजेंट और एडवोकेट (समर्थक) होने के नाते अन्य एजेंटों और एडवोकेटों के विरुद्ध स्थिर रखेगा। किन्तु पार्लमेंट एक राष्ट्र की विचार-विमर्श की सभा है, जिसका समग्र रूप में एक स्वार्थ है, और जहां स्थानीय उद्देश्यों, स्थानीय पक्षपातों से पथ-निर्देशन नहीं होना चाहिये, प्रत्युत संपूर्ण के सामान्य तर्क के फलस्वरूप सर्वमान्य हित होना चाहिये। निःसन्देह आप एक एक सदस्य को चुनते हैं किन्तु जब आप उसे चुन लेते हैं, तो वह ब्रिस्टल का सदस्य नहीं होता, बल्कि वह पार्लमेंट का सदस्य होता है।"[2]

प्रतिनिधियों की योग्यताएं (The Qualifications of Representatives)—प्रतिनिधियों के उत्तरदायित्व अनेक और कठिन होते हैं। जिन समस्याओं का उन्हें समाधान करना होता है, वह भिन्न रूपों की और जटिल होती हैं। इसलिए वे राष्ट्र के ऐसे चुने हुए व्यक्ति निर्वाचित होने चाहिएं, जिन्हें सार्वजानिक मामलों में उनके अनुभव के प्रति उचित मान दिया गया हो और जो अपनी ईमानदारी, विवेक, विस्तृत दृष्टिकोण और निःस्वार्थ देश-भक्ति के लिए ख्यात हों। प्रत्येक राज्य प्रतिनिधियों के लिए कुछ योग्यतायें निर्धारित करता है, ताकि जो निर्वाचन में भाग लेना चाहते हों, वह सार्वजनिक मामलों में अपनी दिलचस्पी की शुद्धता का प्रमाण दे सकें। लास्की कहते हैं "मर्यादा का अभाव हमें छोटा पिट्ट (Younger Pitt) दे सकता है, किन्तु

1. Refer to the address of Burke to the electors of Bristol, 1780.
2. Ibid.

वह हमें ऐसे सदस्यों की बड़ी सख्या भी प्रदान करता है, जो व्यवस्थापिका सभा में केवल सदस्यता से प्राप्त होनेवाले मान के लिए जाते हैं।"[1] वर्तमान में सब प्रतिनिधि सरकारें कतिपय न्यूनतम योग्यताओं पर बल देती हैं जो व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों में होनी चाहियें। ये योग्यताए नियत रूप की नही है, हर देश में भिन्न-भिन्न हैं। तिस पर भी, प्रतिनिधियो की निम्न सर्वाधिक सामान्य योग्यताए समझी जाती हैं :

१. नागरिकता (Citizenship)—एक प्रतिनिधि को उस राज्य का नागरिक होना चाहिए, चाहे जन्म से हो या अगीकृत नागरिक हो और उसे पूर्ण नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिएं। एक परदेसी, जो किसी अन्य राज्य के प्रति भक्ति रखता हो और जिसकी सहानुभूति विदेश के साथ हो, प्रतिनिधि नहीं चुना जा सकता और न ही उसे कानून बनाने का कार्य सौंपा जा सकता है। यदि एक परदेसी को चुनाव की स्वीकृति दी जायगी और वह व्यवस्थापिका सभा में चुन लिया जाता है, तो उसका लक्ष्य या तो अपने निजी व्यक्तिगत हितों को पूर्ण करना होगा, अथवा अपने निजी देश के राजनीतिक हितो की वृद्धि करना होगा। सब सभावनाओ में उसके स्वार्थ उस देश के स्वार्थों के विपरीत होगे, जिसका वह प्रतिनिधि चुना गया होता है। इसलिए, परदेसियों को वर्तमान में व्यवस्थापिका सभाओ से बाहर रखने की महत्ता व्यापक रूप में स्वीकार की जाती है।

२. आवास (Residence)—कुछ राज्य निर्वाचन-क्षेत्र के अन्तर्गत आवास की अनिवार्य योग्यता पर बल देते हैं। अमरीका में किसी प्रतिनिधि को उस जिले का रहने वाला होना चाहिए जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। इस विषय में लोक-भावना यह है कि उस इलाके मे वास्तविक आवास प्रतिनिधि और निर्वाचको में परस्पर निकट सम्बन्ध स्थापित करता है, और प्रतिनिधि अपने हलके के लोगो की आवश्यकताओ के विषय मे गहरी दिलचस्पी अनुभव करता है। किन्तु भारत और ग्रेटब्रिटेन में निर्वाचन क्षेत्र में आवास को आवश्यक नही रखा गया।

३. आयु (Age)—क्रियात्मक रूप मे सभी राज्य चाहते है कि प्रतिनिधि ने वयस्कता की आयु को प्राप्त कर लिया हो। बडी आयु पर अधिक बल दिया जाता है, क्योंकि कानून निर्माण के लिए अनुभव और परिपक्वता को अनिवार्यतः महत्वपूर्ण समझा जाता है। व्यवस्थापिका सभाओ के प्रतिनिधियो के लिए २१ या २५ वर्ष की आयु सामान्यतः नियत की गई है। तिसपर भी, द्वितीय सदनो के लिए इससे भी अधिक आयु आवश्यक है। इस विचार का कारण यह है कि लोक सभा के आमूल सुधारवाद का परिपक्वतर निर्णय और अनुदारता स अवरोध हो सके। फ्रास मे सीनेट के सदस्य के लिए चालीस वर्ष की आयु आवश्यक है। भारत सरकार के १९३५ के एक्ट के अनुसार क्रमशः सघीय तथा प्रातीय उपरिसदनो के लिए न्यूनतम आयु ३५ वर्ष और निम्न सदनो के लिए २५ वर्ष थी। भारत का सविधान भी राज्य-सभा (Council of States) और लोक सभा के लिए उसी आयु का आदेश करता है।

४. संपत्ति (Property)—कुछ राज्य सपत्ति के अधिकार को प्रतिनिधियो के लिए आवश्यक योग्यता मानते हैं। इस योग्यता के समर्थकों का मत है कि जिनकी निजी

1. Grammar of Politics, p. 340.

संपत्ति होती है, उनके पास कानून निर्माण के कार्य के लिए पर्याप्त समय और उस पर ध्यान देने तथा अपने निर्वाचन-क्षेत्रों का दौरा करने का अवकाश होता है। उन्हें अपनी आजीविका के लिए परेशान नहीं होना पड़ता, इससे अधिक, राज्य में उनका अधिक स्वार्थ निहित होता है और इस तरह वह अपने कर्त्तव्यों को अधिक संलग्नता तथा पारिश्रमिक के विना भी पूर्ण कर सकते हैं।

किंतु संपत्ति की योग्यता, अनिवार्य योग्यता के रूप में, इस समय शीघ्रतापूर्वक लोप होती जा रही है, यद्यपि कुछ अग्रगामी जनतांत्रिक देशों में अव भी इनका अनुगमन हो रहा है। आधुनिक सिद्धांत सव नागरिकों के लिए राजनीतिक अधिकारों की साम्यता का है। किसी को भी उसके दुर्भाग्य के लिए दंडित नहीं किया जाना चाहिए। इस कहने में कोई न्याय्यता नहीं है कि केवल संपत्ति के स्वामियों को ही अधिक अवकाश है और वही कानून निर्माण में जागरूक हो सकते हैं। वर्तमान में सदस्यों को पारिश्रमिक का भुगतान प्रत्येक प्रतिनिधि सरकार का सर्वमान्य अंग है।

५. पद (Office)—प्रत्येक राज्य में किसी पद-विशेष पर प्रतिष्ठित लोग व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं वन सकते। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में प्रवंधकारी विभाग के सदस्यों को कांग्रेस में स्थान नहीं मिल सकता, इसका कारण शक्तियों के अलगाव के सिद्धांतों का कठोरतापूर्वक पालन करना है। पार्लमेंट्री रूप की सरकार के देशों में, जैसे ग्रेटब्रिटेन और भारत, मंत्रिगण भी, जो प्रवंधकारी विभागों के नेता हैं, व्यवस्थापिका सभा के सदस्य हैं, किन्तु स्थायी अधिकारी नहीं हैं। भारत में कानून आदेश करता है कि यदि कोई किसी लाभ के पद पर प्रतिष्ठित है तो वह व्यवस्थापिका सभा का सदस्य नहीं हो सकता सिवा उस पद के, जिसके प्रतिष्ठापक को कानून अयोग्य नहीं ठहराता। ऐसा करने का विचार यह है कि जो लोग लाभ के पदों पा प्रतिष्ठित हैं, उन्हें यदि व्यवस्थापिका सभा का सदस्य वनने दिया जाय, तो वे अपने निजी स्वार्थों की वृद्धि के ही सदा कानून निर्माण करेंगे।

६. चुनाव दुराचरण (Election Malpractices) :—प्रत्येक राज्य निर्वाचनों के न्यायपूर्ण आचरण और निर्वाचन आंदोलन के लिए नियम वनाता है। यदि कोई उम्मीदवार इन नियमों को भंग करता है, तो वह अपने को अयोग्यता का अधिकारी वनाता है। वस्तुतः भ्रष्टाचार की रीतियों और निर्वाचन-दुराचरणों से इतनी ज्यादा वुराई फैल गई कि प्रत्येक देश में कानून स्वीकार किये गये हैं, जिनमें कठोरतापूर्वक निर्धारित किया गया है कि प्रत्येक उम्मीदवार को कितना और कैसे व्यय करना चाहिए।

७. धर्म (Religion)—कुछ देशों में कानून यह मांग कर सकता है कि एक व्यक्ति किसी धर्म विशेष में विश्वास रख सकता है अथवा रखे और उसके आधार पर वह व्यवस्थापिका सभा का सदस्य हो सकता है। ग्रेट ब्रिटेन में, उदाहरणार्थ, स्थापित गिर्जाघरों के मंत्रिगण और रोमन कैथोलिक चर्च के पादरी हाउस आफ कामन्स के सदस्य नहीं वन सकते।

८. प्रो. लास्की का सुझाव है कि एक प्रतिनिधि को स्थानीय संस्था की कार्यकारिता का पूर्ण अनुभव और पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। उनका मत है कि एक प्रति-

निधि को पार्लमेंट के पद के लिए खड़ा होने को अनिवार्यतः कम-से-कम तीन वर्ष तक स्थानीय संस्था में सदस्य रहना चाहिए। इस ढग से प्रतिनिधियों को "सस्थाओ की उस "भावना" का लाभ होगा,जो सफलता के लिए इतनी आवश्यक है"।[1]

आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)—यह कहा जाता है कि प्रतिनिधित्व की वर्तमान प्रणाली सपूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व नही करती। जो उम्मीदवार मतो की बहुसख्या प्राप्त करता है, उसे निर्वाचित घोषित किया जाता है और वह व्यवस्थापिका सभा में केवल उन निर्वाचको के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, जिनके मतो को वह प्राप्त कर सका है। जिन लोगों ने असफल उम्मीदवार का समर्थन किया होता है वह प्रतिनिधित्व हीन रह जाते हैं। यह स्थिति उस समय और भी गड़बड़ा जाती है, जब सफल और असफल उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त मतों का अन्तर प्रायः नाम-मात्र रह जाता है। कल्पना कीजिए कि एक विशेष निर्वाचन क्षेत्र से अ और ब दो उम्मीदवार खड़े होते हैं। पुनः कल्पना कीजिए कि उस निर्वाचन-क्षेत्र के संपूर्ण चार हजार मतों में से २००५ मत अ को और १९९५ ब के पक्ष में आते हैं। चूंकि अ के मतों की बहुसख्या की होती है, इसलिए वह निर्वाचित घोषित किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि केवल २००५ मतदाता प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं और शेष १९९५ प्रतिनिधित्व हीन रह जाते हैं।

इस प्रकार के प्रतिनिधित्व की प्रणाली अजनतान्त्रिक कही जाती है। लोकतत्र का यह अनिवार्य अग है कि सब वर्गों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व होना चाहिए। एक लोकतत्र लोगो की सरकार है। और 'लोक' उस सम्पूर्ण जन-समूह से बना होता है, जो राज्य की प्रदेशीय सीमाओं के अन्तर्गत अधिवास करता है। किन्तु, जान स्टुअर्ट मिल के कथनानुसार वर्तमान लोकतत्र सपूर्ण जनता की सपूर्ण जनता द्वारा समान प्रतिनिधित्व प्राप्त सरकारें नही हैं। प्रत्युत "संपूर्ण जनता की जनता के मात्र बहुमत द्वारा विशिष्ट रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त सरकारें हैं।" बहुमत प्रतिनिधित्व की यह प्रणाली राजनीतिक रूप में अन्यायपूर्ण मानी जाती है क्योकि यह निर्वाचको की विशाल सख्या को मताधिकार-रहित बनाती है और उन्हे प्रतिनिधित्व-हीन बनाए रहती है।

लोगो की इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए कानून को निर्वाचको की विशाल बहुसख्या का समर्थन और प्रतिनिधियों की विशाल बहुसख्या की सहमति प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु अल्पसख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही होता और उन्हें अपनी राय को व्यक्त करने का अवसर नही होता तो व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये गए कानूनो को जनता की अधिकतम अनुमति प्राप्त नही कहा जा सकता। जिस देश में लोगो के विशाल समूह यह महसूस करे कि उन कानूनो को बनाने मे उनकी इच्छा की अभिव्यक्ति नही होती कि जिन्हे पालन करने के लिए उन्हे कहा जाता है, तो उनका प्रभावपूर्ण पालन नही हो सकता। प्रतिनिधित्वहीन अल्प सख्याएं अन्तत बहुसख्या के आतक के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये बाध्य होंगी क्योकि आज के असन्तुष्ट व्यक्ति कल के क्रातिकारी होंगे।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में युक्तियां (Arguments for Proportional Representation)—फलस्वरूप, प्रतिनिधि सरकार को सर्वाधिक व्यग्र

1. Ibid.

करने वाला प्रश्न अल्पमत के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व का है। अल्पमत कई प्रकार का हो सकता है—राजनीतिक, राष्ट्रीय, वंशीय, भाषीय और साम्प्रदायिक, इतने प्रकारों का अल्पमत होना दुर्भाग्य की ही बात है, और विशेष रूप से वह जो वंशीय, भाषीय और धार्मिक आधारों पर विभाजित हो। निःसन्देह, राजनीतिक अल्पमत प्रतिनिधि सरकार की उपज होता है। किंतु जब लोग राजनीतिक आदर्शों के अनुसार विभाजित होते हैं तो अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की समस्या इतनी जटिल नहीं होती। इसमें प्रश्न केवल अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने का ही रहता है। किन्तु जब अल्पमत वंश, धर्म और भाषा के आधार पर बहुमत से भिन्न होता है, और प्रत्येक अल्पमत अपने अलग अस्तित्व की भिन्न अभिव्यक्ति के लिए इच्छुक होता है ताकि अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का संरक्षण कर सके, तो उस समय अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की समस्या भयंकर रूप धारण कर लेती है। यह अल्पमत का प्रतिनिधित्व नहीं बना रहता। यह अल्पमत की तुष्टि के लिए हेतु हो जाता है और इस रूप में यह समस्या जटिल बन जाती है।

भारत ही केवल ऐसा अभागा देश है, जहां के लोग समानान्तर और लम्ब दोनों ही रूपों में विभाजित हैं। विश्व के अन्य देशों में लोग या तो राजनीतिक अथवा आर्थिक प्रश्नों में विभाजित हैं। इसलिए, इन देशों में अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की योजनाओं का लक्ष्य राजनीतिक अल्पसंख्यकों के लिए पर्याप्त प्रतिनिधित्व का होता है। अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व का यही है वह अंग, जिसे विश्व-व्यापी समर्थन प्राप्त हुआ है, विशेपकर जान स्टुअर्ट मिल और लैकी द्वारा। लैकी ने घोषणा की, "अल्पसंख्यकों के लिए थोड़ा-सा प्रतिनिधित्व प्रदान करने का महत्व अत्यधिक महान है। जब एक चुनाव-क्षेत्र का दो-तिहाई एक दल के लिए मत-दान करता है, और एक-तिहाई दूसरे के लिए, तो इसका स्पष्ट परिणाम यह है कि बहुमत को दो-तिहाई और अल्पसंख्या को एक-तिहाई प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।" मिल ने स्वीकार किया है कि लोकतंत्र में बहुमत को शासन करना चाहिए, किन्तु उन्होंने जोर दिया है कि अल्पसंख्यक का प्रतिनिधित्व होना चाहिए और वह उसकी संख्या के अनुपात-से होना चाहिए। उनकी धारणा है कि यदि सब अल्पमतों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं होगा, तो वहां वास्तविक लोकतंत्र नहीं हो सकता, बल्कि वह एक झूठा प्रदर्शन होगा। यदि प्रत्येक या किसी भाग का अननुपातिक रूप में प्रतिनिधित्व होगा तो वहां की समान सरकार न होकर असमानता और विशेष अधिकार की सरकार होगी। जनता का एक भाग शेष पर राज्य करेगा; वहां एक ऐसा भाग है, जिसका प्रतिनिधित्व में न्यायोचित और प्रभाव का समान अंश उससे छीना गया हो, जो न्याय्य सरकार के विपरीत है, किंतु सबसे बढ़ कर उस लोकतंत्र के सिद्धान्त के विपरीत है, जो साम्य को अपना मूल एवं आधार मानता है।

मिल आनुपातिक प्रतिनिधित्व के प्रबल पक्षपाती थे। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का लक्ष्य सभी मत के वर्गों को उनके मत-दान की संख्या-शक्ति के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए कई प्रयोगों की तजवीज की गई है, किन्तु ऐसी सब योजनाएं आनुपातिक प्रतिनिधित्व के भेद नहीं हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के केवल दो ही भेद हैं और वह हैं हेयर की इकहरी परिवर्तनयोग्य मत-प्रणाली (Hare scheme of Single transferable Vote) और सूची-प्रणाली (List System)।

शेष अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की योजनाएं हैं। दोनों के बीच का अन्तर महत्वपूर्ण है। अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व का लक्ष्य अल्पसंख्याओं को किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व प्रदान करना है लेकिन उनके मतों की संख्या के अनुपात में नहीं; जबकि आनुपातिक प्रतिनिधित्व अल्प-संख्याओं को उनके मत-दान की शक्ति के अनुपात से प्रतिनिधित्व प्रदान करता है। इन दोनों अवस्थाओं में, दलों या समूहों के अस्तित्व को नियमतया स्वीकार किया जाता है, और प्रत्येक दलीय समूह को विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

हेयर प्रणाली (Hare System)—आनुपातिक प्रतिनिधित्व से साधारणतया सबंधित आयोग हेयर प्रणाली कहलाता है। वह सन् १८५१ में पहले-पहल एक अंग्रेज टॉमस हेयर ने निर्माण किया था और उन्होंने अपनी किताब "Election of Representation" में उसका निरूपण किया था। वह एंड्रे प्रणाली भी कहलाती है क्योंकि डेन मंत्री, एंड्रे (Andrae) ने १८८५ में इसे डेन्मार्क में लागू किया था। कुछ इसे इकहरी परिवर्तनयोग्य मत-प्रणाली (Single Transferable System) कहते हैं, क्योंकि उन उम्मीदवारों का मत-आधिक्य, जो निर्वाचित घोषित हो चुकते हैं, उन उम्मीदवारों को परिवर्तित कर दिया जाता है, जिन्हें उससे सहायता हो सकती थी। उस वरीयता के कारण, जो एक मत-दाता उम्मीदवारों को प्रदान करना चाहता है, इसे वरीय प्रणाली (Preferential System) कहते हैं।

हेयर-प्रणाली प्रतिनिधियों का चुनाव सामान्य टिकट द्वारा प्रदान करती है। निर्वाचन-क्षेत्र बहु-सदस्य होते हैं, जिसमें न्यूनतम तीन सीटें होती हैं। कोई अधिकतम संख्या आवश्यक नहीं समझी जाती, यद्यपि लार्ड कोर्टनी (Lord Courtney) ने पन्द्रह सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र की युक्तिसंगत सीमा का प्रस्ताव किया था।[1] किसी निर्वाचन-क्षेत्र में निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की कुछ भी संख्या हो, किन्तु प्रत्येक मत-दाता का केवल एक ही कार्यकारी मत होता है। जो भी हो, प्रत्येक मत-दाता को मत-पत्र (Ballot Paper) पर, उम्मीदवारों के नाम के आगे १, २, ३ आदि संख्याएं लिखकर अपनी प्रथम वरीयता या विकल्प, द्वितीय वरीयता, तृतीय वरीयता और इसी प्रकार आगे भी अंकित करने को कहा जाता है। वह अपनी वरीयताओं के विकल्पों को अंकित करके निर्वाचन-क्षेत्र की सीटों के अनुसार जितने उम्मीदवारों को चाहे मत-दान कर सकता है। उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए मतों का एक कोटा (अंश) आवश्यक होता है। कोटा निश्चित करने के लिए भिन्न प्रणालियों का अनुसरण किया जाता है। सबसे सरल[2] यह है कि जितने मत डाले गए हों उनकी योग संख्या को सीटों की संख्या द्वारा विभाजित किया जाता है और भजनफल को कोटा रूप में ग्रहण किया जाता है अथवा मतों की वह संख्या किसी उम्मीदवार के चुने जाने के लिए आवश्यक होती है।

मतों को गिनते समय केवल प्रथम वरीयताओं या विकल्पों को पहले चुना जाता है और जिस उम्मीदवार को आवश्यक कोटा प्राप्त हो जाता है, वह निर्वाचित घोषित होता है। शेष मत, जो उसे प्रथम विकल्प के रूप में प्राप्त होते हैं, और जो अन्यथा

1. Gilchrist, op. cit., p. 275

2. एक अन्य यह है $\frac{\text{मतों की कुल संख्या}}{\text{सीटों की संख्या} + १} + १$

उसी को मिलते, द्वितीय विकल्प को प्रदान किये जाते हैं। मत-आधिक्य को परिवर्तन करने की यह विधि सूची में लिखित क्रम से आगामी विकल्प को उस समय तक जारी रहती है जब तक प्रतिनिधियों की आवश्यक संख्या निर्वाचित नहीं हो जाती। सफल उम्मीदवारों का केवल मताधिक्य ही अनंतर के विकल्पों का परिवर्तन नहीं होता, प्रत्युत यदि आवश्यकता हो, तो उन उम्मीदवारों का भी, जो इतने थोड़े मत प्राप्त करते हैं कि उनके चुने जाने का अवसर ही नहीं होता। ऐसा करने का आशय यह है कि एक भी मत को व्यर्थ न खोया जाय। इस तरह, मत-दाता को विश्वास होता है कि यदि उसके प्रथम विकल्प के उम्मीदवार को उसके मत की आवयकता नहीं, तो उसके द्वितीय या अन्य विकल्पों को उससे लाभ होगा।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की यह प्रणाली हाउस आफ कामन्स के चार विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्रों के सदस्यों को चुनने के लिए ग्रेट ब्रिटेन में प्रचलित है। दक्षिणी अफ्रीका में सीनेट चुनाव और कतिपय म्युनिसीपैलटियों के लिए इसका प्रयोग होता है। भारत में यह बहुत प्रचलित नहीं है। पंजाब विश्वविद्यालय ने सीनेट के फैलो चुनने के लिए यह प्रचलित है।

हेयर प्रणाली के स्पष्ट दोष ये हैं कि यह जटिल योजना है और साधारण मत-दाता की समझ के बाहर भी है। इसके अलावा मतों की गिनती में भी भूल की संभावना हो सकती है। चूंकि इसमें बहु-सदस्य चनाव-क्षेत्र होते हैं, इसलिए दलीय गठ-जोड़ों, गुट्टों और साम्प्रदायिक संगठनों द्वारा अनुचित लाभ उठाए जायेंगे। फलस्वरूप, यह तीव्र मत-भेदों को उत्पन्न करती है।

सूची-प्रणाली (List System)—आनुपातिक प्रतिनिधित्व का एक भिन्न रूप सूची प्रणाली (List System) है। इस योजना के अनुसार सब उम्मीदवारों को उनके दल के अनुरूप सूची-बद्ध किया जाता है और हर निर्वाचन-क्षेत्र के लिए, प्रत्येक दल, पूर्ण की जाने वाली सीटों की संख्या तक, अपने उम्मीदवारों की सूची उपस्थित करता है। मत-दाता मन-पसंद की सूची के लिए मत-दान करता है। और सूची लिखित व्यक्तिगत उम्मीदवारों के पक्ष में डाले गए मत स्वतः सूची के लिए मत के रूप में गिने जाते हैं। इसका आशय यह है कि मत-दाता सूची के लिए मत-दान करते हैं न कि उम्मीदवार के लिए और सीटों को प्रत्येक सूची के लिए प्राप्त मतों की संख्या के अनुपात में दलों में विभाजित किया जाता है।

प्रत्येक मत-दाता एक के लिए मत-दान करता है या वह उतने वोट डाल सकता है जितने प्रतिनिधि चुने जाने हों। किन्तु वह किसी भी उम्मीदवार को एक से अधिक मत-दान नहीं कर सकता। उम्मीदवार के लिए आवश्यक मतों की संख्या का कोटा हेयर प्रणाली की भांति निश्चित किया जाता है अर्थात डाले गए मतों की कुल संख्या को पूर्ण की जाने वाली सीटों से विभाजित किया जाता है। इसके बाद प्रत्येक दल-सूची द्वारा प्राप्त मतों की कुल संख्या को कोटा द्वारा विभाजित किया जाता है और उसका भजनफल प्रतिनिधियों की वह संख्या होती हैं जिसका प्रत्येक दल अधिकारी होता है। यदि सब सीटें नहीं भरतीं, तो जिस दल का महत्तम आंशिक आधिक्य होता है उसे शेष सीटें मिलती हैं। एक अन्य विधि को भी अपनाया जा सकता है। निकट के निर्वाचन-क्षेत्रों में दल द्वारा प्राप्त मतों का आंशिक

आधिक्य कोटा की क्षतिपूर्ति के लिए जोड़ा जा सकता है। कल्पना कीजिए कि डाले गए मतों की योग संख्या ५० हजार होती है और उस निर्वाचन-क्षेत्र ने पांच प्रतिनिधियों को चुना जाना है। पुनः कल्पना कीजिए कि तीन दल सूचियां हैं—कांग्रेसी, समाजवादी और साम्यवादी और प्रत्येक सूची को क्रमशः २२ हजार, २० हजार और ८ हजार मत मिले हैं। सदस्य-योग्यता का कोटा १० हजार हो तो दो-दो सीटें कांग्रेसी और समाजवादी दलों को मिलेंगी। साम्यवादियों को कोई भी नहीं मिल सकेगी। फलस्वरूप, दो में से एक बात हो सकती है। यदि निर्वाचन-क्षेत्र में आंशिक आधिक्य प्रणाली का अनुसरण किया जाता है, तो पांचवी सीट भी कांग्रेसी दल को मिलेगी क्योंकि कांग्रेस का आंशिक आधिक्य समाजवादियों की अपेक्षा अधिक है। यदि निर्वाचन-क्षेत्र में मतों के आंशिक आधिक्य को परिवर्तन करने की विधि अपनायी जाती है, तो पड़ोसी निर्वाचन-क्षेत्र मे साम्यवादी दल ने जितने मत प्राप्त किये होंगे, मान लीजिए २५००, तो वह आठ हजार के योग में जोड़ने के लिए परिवर्तन किये जाते हैं, जिससे साम्यवादी एक सीट की मांग करने के अधिकारी हो जायेंगे। इसी प्रकार, कांग्रेसी दल द्वारा प्राप्त दो हजार मतों का आधिक्य एक अन्य निर्वाचन-क्षेत्र में दल के मतों में जोड़ा जा सकता है और वह एक अतिरिक्त सीट का अधिकारी बन सकता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष और विपक्ष में तर्क (Arguments for & against Proportional Representation)—आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण स्पष्ट ही हैं। यह एक ऐसी विधि है, जो छोटे या बड़े सभी दलों को प्रतिनिधित्व का भरोसा प्रदान करती है, और वह भी, उनके मत-दान की शक्ति के अनुपात में। इस तरह, पार्लमेंट सब लोगों की राय का आइना बन जाती है। इसी स्थान में लोकतन्त्र लोगों की सरकार के रूप में असली काम करता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व अल्प-संख्यक दलों को सुरक्षा और राजनीतिक संतोष की भावना प्रदान करता है। हेयर प्रणाली प्रत्येक निर्वाचक को एक वास्तविक प्रतिनिधि प्रदान करती है, जिसके विकल्प के लिए वह अकेला जिम्मेदार होता है। वह प्रतिनिधि अन्यों द्वारा चुना हुआ सामान्य प्रतिनिधि नहीं है। उसे प्रथम या द्वितीय वरीयता प्रदान करके निर्वाचक ने उसे अपने विश्वास का संरक्षक बना रहने का पटा दे दिया है और उस विश्वास को उसे सौंपते हुए उसने कुछ रुक कर और अपने विकल्प पर विचार भी किया होगा। निर्वाचकों में इस राजनीतिक विवेक के दो लाभकारी परिणाम होते हैं। प्रथमतः, यह नागरिक दिलचस्पी को उन्नत करता है और द्वितीयतः यह अधिक जागरूक और सम्मानित प्रतिनिधियों के चुनाव द्वारा व्यवस्थापिका सभा के स्वरूप को उन्नत करने में सहायक होता है।

किन्तु आनुपातिक प्रतिनिधित्व की राजनीतिक योग्यता के विषय मे, जहां भी कहीं इसे क्रिया रूप में परिणत किया गया है, भीषण आपत्ति की गई है। लास्की का मत है कि आधुनिक राज्य की कठिनाइयां निर्वाचन-यन्त्र के सुधार द्वारा ठीक नहीं की जा सकती। ये कठिनाइयां स्वरूप में मुख्यतः नैतिक हैं और उनका मुकाबला "विवेक के लोकप्रिय मान की उच्चता और आर्थिक प्रणाली के सुधार द्वारा होना चाहिए, न कि मतों की खूब अच्छी तरह योजित मात्रा के अनुपात में मनुष्यों के चुनाव द्वारा।"[1] वस्तुतः, आनुपातिक प्रतिनिधित्व

1. Laski, op. cit. p. 315.

की प्रणाली जन-जीवन के मान को उन्नत करने में असफल रही है, क्योंकि यह छोटे दलों और समूहों को जन्म देती है, जो समुचित सार्वजनिक मत की प्राप्ति असंभव कर देते हैं। वहुदलीय प्रणाली दुर्वल सरकार की द्योतक है और दुर्वल सरकार का अन्ततः अर्थ है अनुत्तरदायी सरकार। असंवद्ध सार्वजनिक मत के साथ जुड़ी हुई अनुत्तरदायी सरकार विभागीय सरकार होती है जो भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, पक्षपात और उनके अन्तर्गत अन्य सब वराइयों को प्रोत्साहन देती है। जब प्रत्येक दल को प्रतिनिधित्व का विश्वास होता है तो स्वार्थी लोग नये दलों की रचना में सहायक होते हैं।

किंतु आनुपातिक प्रतिनिधित्व का हीनतम पक्ष यह है कि यह व्यवस्थापिका सभा के राष्ट्रीय स्वरूप को नष्ट कर देता है और उसे विभिन्न रूप के विभागीय स्वार्थों का मंच वना देता है। व्यवस्थापिका सभा में विचार-विमर्श के लिए आने वाले सब प्रश्नों पर राष्ट्र के सामान्य कल्याण की दृष्टि से विवाद नहीं होता, प्रत्युत दल या स्वार्थ-विशेष की दृष्टि से होता है। इस ढंग से व्यवस्थापन-कार्य दलीय व्यवस्थापन का रूप धारण कर लेता है, जिसकी प्रवृत्ति अनिवार्यतः वर्ग-व्यवस्थापन की वृद्धि होती है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की सब स्कीमों के अधीन, चुनाव के लिए क्षेत्र, वहु-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र होने चाहिएं। वहु-सदस्य चुनाव-क्षेत्र विकल्प की जटिलता में वृद्धि करते हैं और लोक नेता की शक्ति में वृद्धि करते हैं। इस तरह, निर्वाचकों और प्रतिनिधियों के वीच के वंधन का कम प्रत्यक्ष होना अवश्यम्भावी है। एक अच्छी निर्वाचन प्रणाली निर्वाचकों के साथ उम्मीदवारों का परिचय सही तरीके से करने योग्य होती है और चुनाव के वाद प्रतिनिधियों को अपने निर्वाचन-क्षेत्रों के निकट संपर्क में रहना चाहिए ताकि उन में व्यक्तिगत संवंध उन्नत हो सके। किंतु आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली "सदस्य और उसके निर्वाचन-क्षेत्र के वीच व्यक्तिगत संवंधों की आशा को नष्ट करती है; उसका रूप सूची में दिये अंश के समान होगा, जिसे प्रायः पूर्ण रूप में दल-आधार पर मत-दान प्राप्त हुआ था।"[1] न ही यह प्रणाली उप-चनाव प्रदान करती है। उप-चुनाव सार्वजनिक मत को मापने का एक यंत्र है। यदि सार्वजनिक मत में परिवर्तन को प्रकट करने का अवसर प्रदान नहीं किया जाता है तो व्यवस्थापिका सभा अपने प्रतिनिधि-स्वरूप को खो देती है। प्रतिनिधि समय से पिछड़ जाते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली पर्याप्तरूप में जटिल और औसतन मत-दाता की समझ से वाहर है। उदाहरणार्थ, हेयर प्रणाली में मतों की गणना और पुनर्गणना जटिल और दुर्गम समस्या है और उसके साथ ही मतों संवंधी वरीयताएं तथा परिवर्तन की पेचीदगियां हैं। इससे अधिक, यह मत-दाताओं को गणना-अधिकारियों की दया पर छोड़ देता है। सूची-प्रणाली में भ्रष्टाचार का अतिरिक्त भय है। प्रत्याशित उम्मीदवारों की अन्यायपूर्ण और भ्रष्ट विधियों से दल-सूची में अपने नाम शामिल करा लेने की प्रवृत्ति होती है। यह दल-स्वामियों के प्रभाव में वृद्धि करने में भी सहायक होती है और दलीय संघर्ष को प्रोत्साहन देती है। दल-प्रवंधक मौलिक सूचियों का इस ढंग से प्रवंध करते हैं कि उन्हीं के मनोनीतों की वहुसंख्या आ जाय।

इन आधारों पर सजग और प्रवुद्ध वहुमत आनुपातिक प्रतिनिधित्व को लागू करने

1. Laski, op. cit. 315.

का विरोधी है।[1] लास्की के मत में इसका राष्ट्रीय मत का तथाकथित बहतर प्रतिनिधित्व करने का दावा सदिग्ध है।[2] वे इस मत से सहमत नहीं हैं कि एक-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में अल्प-संख्यक प्रतिनिधित्वहीन रह जाते हैं और आनुपातिक प्रणाली में इस भय को पर्याप्त रूप में दूर किया जाता है। लास्की डा. फाइनर (Dr. Finer) के साथ इस बात में पूर्ण सहमत हैं कि "अल्पसंख्या की परिधि (Horizon) निर्वाचन-क्षेत्र की सीमाओं द्वारा मर्यादित नहीं।" राजनीतिक निर्णय मत-गणना की गणित-विधि से नहीं किये जाते। कानून-निर्माण की प्रक्रिया में प्रभावों का विशेष महत्व होता है। और अल्पसंख्यक दृष्टिकोण अपनी सम्मतियों और इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिए उनमें पर्याप्त संस्थाएं पा सकते हैं।"[3] एक महान फ्रांसीसी न्यायवेत्ता, दिवगत प्रो. एसमीन (Esmien) आनुपातिक प्रतिनिधित्व की आमूल निंदा करते हैं। उनका कथन है, "आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली की स्थापना करना बाय कैमरल प्रणाली (Bicameral System) द्वारा प्रदान चिकित्सा को शुद्ध विष में परिवर्तन करना है, यह अव्यवस्था को सगठित करने तथा व्यवस्थापकीय शक्ति को क्षीण करने के लिए है, यह मंत्रि-मंडलों को दुर्बल बनाने के लिए है, उनकी सम-स्वरता को नष्ट करने के लिए है, और पार्लमेंट्री सरकार को असंभव बनाती है।"[4]

अल्प-संख्यक प्रतिनिधित्व
(Minority Representation)

अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की कुछ अन्य स्कीमें भी हैं। किंतु उनमें से कोई भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व की नहीं है। ये सब स्कीमें अल्पसंख्यकों को कुछ प्रतिनिधित्व प्रदान करती हैं, किंतु आवश्यक रूप में उनकी मत-शक्ति की गणना के अनुपात से नहीं।

सीमित-मतदान की योजना (The Limited Vote Plan)—अनेक योजनाओं में से, जो अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए अपनाई गई हैं, एक सीमित मत-दान योजना है। इस प्रणाली के अधीन बहु-सदस्य निर्वाचन क्षेत्र होते हैं, जिनमें न्यूनतम तीन सीटें होती हैं। प्रत्येक मत-दाता पुर की जाने वाली सीटों की अपेक्षा कम संख्या में मत डाल सकता है। इससे अधिक, उसे किसी एक उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं देना होगा। उन्हें जितने मत डाले जाने हैं, उतने ही उम्मीदवारों पर फैलाना होगा। उदाहरणार्थ, पाच-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में प्रत्येक मत-दाता को चार उम्मीदवारों या उससे भी कम को मत देने की मंजूरी होगी। इस ढंग से अल्पसंख्यक दल युक्तिपूर्वक एक या दो सदस्यों के चुने जाने के विषय में निश्चित हो जाते हैं।

किंतु क्रियात्मक रूप में सीमित मत-दान योजना केवल पर्याप्त बड़े अल्प मतों को ही प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। जब कई दल होते हैं, तो यह कार्यकारी नहीं होती। इसके बाद, यह आनुपातिक प्रतिनिधित्व भी स्वीकार नहीं करती। यह एक ऐसी प्रणाली है, जिसकी प्रवृत्ति केवल सीमित प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। अतत. यह विधि केवल निर्वाचन

1. Sidgwick, op. cit., p. 396
2. op. cit., p. 316
3. Ibid, p. 317.
4. As quoted in Garner, op cit., p. 653.

शुरू-शुरू में प्रदेशीय प्रतिनिधित्व की निर्वाचन प्रणाली में परिवर्तनों ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की मांग का रूप धारण किया।[1] किंतु शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया गया कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली केवल अल्प-संख्यकों को प्रतिनिधित्व का भरोसा देती है जो स्वीकृत राजनीतिक दलों के रूप में हैं। यह अन्य बड़े और महत्वपूर्ण, आर्थिक, सामाजिक और व्यावसायिक समूहों को और अन्यों को, जिनके निजी विलक्षणता के अनुरूप विशेष स्वार्थ हैं, प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं करती। यह युक्ति दी जाती थी कि इस प्रकार के सब स्वार्थों के लिए व्यवस्थापिका सभा में विशेष प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है। एक जूते बनाने वाले को जूते बनाने वालों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। वास्तविक प्रतिनिधि संस्थाएं वह हैं, जो भिन्न कृत्यों के साथ, जो व्यक्ति करते हैं, संबंधित हैं।

स्वार्थों के प्रतिनिधित्व के समर्थक (Advocates of the Representation of Interests) :—वर्गों, पेशों, व्यवसायों या समाज के अन्य समूहों के आधार पर प्रतिनिधित्व की प्रणाली हाल ही की उत्पत्ति नहीं है। मीराबो (Mirabeau) ने फ्रांसीसी क्रान्ति के समय घोषणा की थी कि एक व्यवस्थापिका सभा को समाज के सब स्वार्थों का दर्पण होना चाहिए। सीस (Sieyes) ने भी व्यवस्थापिका सभा में समाज के महान उद्योगों के विशेष प्रतिनिधित्व की आवश्यकता पर जोर दिया है। अभी हाल ही के समयों में कृत्यकारी प्रतिनिधित्व की प्रणाली को समर्थकों की अधिक संख्या प्राप्त हो गई है। डुगेट (Duguit) का मत है, "राष्ट्रीय जीवन की सब महान शक्तियों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए,—उद्योग, सम्पत्ति, वाणिज्य, निर्माणकारी पेशे, और यहां तक कि विज्ञान और धर्म भी।" किन्तु कृत्यकारी प्रतिनिधित्व का सिद्धांत मुख्यतः जी. डी. एच. कोल (G. D. H. Cole) के नाम के साथ सम्बद्ध है। कोल का कहना है कि एक सर्वशक्तिमान प्रतिनिधि संस्था की जगह समाज में उतने ही अलग-अलग प्रतिनिधियों के निर्वाचित समूह होने चाहिएँ, जितने कृत्यों के जुदा-जुदा अनिवार्य समूहों का अनुष्ठान करना होता है। यहां दो भिन्न मतों के समूह हैं जो व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन भिन्न दृष्टियों से करते हैं। साम्यवादी इसका इसलिये समर्थन करते हैं कि यह मतदाता के ध्यान को उस कार्य के सम्बन्ध में केन्द्रीभूत करता है और उसे श्रमजीवी दृष्टिकोण से विचार करने के लिए बाध्य करता है। दूसरी ओर, असाम्यवादी इसलिए इसका समर्थन करते हैं कि वे एक-सदस्य निर्वाचित क्षेत्रों से सदस्यों को चुनने की वर्तमान प्रणाली से निराश हो चुके हैं, उदाहरणार्थ, ग्राहम वालस (Grahm Wallas) का मत है कि जब निम्न सदन को प्रदेशीय आधार पर चुना जा सकता है, तो यह आवश्यक है कि द्वितीय सदन भिन्न स्वार्थों और कृत्यकारी समूहों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। वैब्स (Webbs) ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं कि जिसमें राजनीतिक-पार्लमेंट और सामाजिक पार्लमेंट हो।[2] जो भी हो, यह दोनों समूह विश्वास करते हैं कि मनुष्य "उन लोगों के वास्तविक गुणों के कहीं अधिक विवेकपूर्ण और विश्वस्त निर्णायक हैं, जो उसी उद्योग में काम करते हैं बजाय उनके कि जो उसी भौगोलिक जिले में रहते हैं, जब कि कई यह भी

1. Dunning op. cit., Vol. IV, p. 25.
2. Sidney and Beatrice Webbs, "A Constitution for the Socialist Commonwealth of Great Britain."

विश्वास करते हैं कि मुख्य राजनीतिक प्रश्न अनिवार्यतः औद्योगिक प्रश्न हैं, जिनका संबन्धित उद्योगों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्णय होना आवश्यक है।"[1]

स्वार्थों के प्रतिनिधित्व के उदाहरण (Examples of Representation of Interests) :—कृत्यकारी प्रतिनिधित्व की प्रणाली रूसी प्रणाली (Soviet System) के नाम से ख्यात है। भौगोलिक या प्रदेशीय प्रतिनिधित्व-प्रणाली को सोवियत रूस में शिल्प सिद्धांत पर आधारित प्रणाली द्वारा स्थानापन्न कर दिया गया है, अर्थात्, मजदूर, किसान, पेशेवर लोग, तथा अन्य वर्ग प्रदेशीय क्षेत्र की चिंता किये बिना अपने निजी प्रतिनिधि चुनते हैं। सोवियत यूनियन में एक प्रतिनिधि उस जिले का प्रतिनिधित्व नहीं करता कि जिससे वह चुना जाता है। वह किसी विशेष स्वार्थ का प्रतिनिधित्व करता है। मुसोलिनी ने इटली मे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को जारी किया था, और तदनुसार, सीनेट को पुनः सगठित किया गया था। यह भिन्न व्यापारों और पेशों, नियोजितों तथा फासिस्ट सरकार द्वारा स्वीकृत मजदूर संघो द्वारा निर्मित थी। जर्मनी के वीमार (Weimar) संविधान (१९१९) ने नेशनल इकोनामिक कौंसिल की रचना से, जो श्रम, पूंजी और उपभोक्ताओ का प्रतिनिधित्व करती थी, एक नवीनता को जारी किया था।[2] नेशनल इकोनोमिक कौंसिल में तृतीय व्यवस्थापिका मदन के तत्त्व निहित थे। कौंसिल को व्यवस्थापिका सभा की शक्तियों का अधिकार नहीं था, किंतु संविधान में आदेश था कि सामाजिक तथा आर्थिक मामलो से संबधित महत्वपूर्ण कानून के सब आलेखों (Drafts) को पार्लमेंट मे उपस्थित करने से पूर्व कौंसिल में उसकी सम्मति के लिए भेजे जाने चाहिएं। इसके अतिरिक्त, यह अपने निजी सदस्यो द्वारा पार्लामेंट में भी विधेयक सीधे भेज सकती थी। ग्रेट ब्रिटेन में विश्वविद्यालयो को व्यवस्थापिका सभा में विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त है। स्वार्थों का प्रतिनिधित्व भारत मे भी, केंद्रीय और राज्य व्यवस्थापिका सभाओ दोनों मे प्रचलित है। उनमे अनेक हितो के लिए सीटें सुरक्षित रखी गई हैं। राज्यों मे विश्व-विद्यालयो तथा स्थानीय सस्थाओ के लिए सीटें सुरक्षित हैं।

कृत्यकारी प्रतिनिधित्व की आलोचना (Criticism of Functional Representation) :—तिस पर भी कृत्यकारी प्रतिनिधित्व के सिद्धांत में "ऐसी दुर्बलताएं हैं कि प्रदेशीय प्रतिनिधित्व की अपेक्षा इसे कुछ ही बेहतर कहा जा सकता है।"[3] दिवगत प्रो. एसमीन (Esmien) ने इसे इन शब्दों मे बदनाम किया है, "यह एक छलपूर्ण और झूठा सिद्धांत है, जिसके कारण लडाई-झगडे, अव्यवस्था और अराजकता तक भी हो सकती है।" वे कहते हैं, "व्यापक मताधिकार के आधार पर निर्मित प्रदेशीय सभा, फलस्वरूप, समुदाय के अन्तर्गत इच्छाओं के सघर्ष में अतिम निर्णयो के लिए सर्वोत्तम विधि जान पड़ती है।"[4] प्रदेशीय आधार पर निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा अनुत्तरदायी ढग से कार्य नही कर सकती, क्योंकि यह निर्वाचक-मडल की इच्छा की रचना होती है। लास्की का मत है कि राज्य के अन्तर्गत भिन्न हितो को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा

1. Dunning, op. cit., Vol. IV, p. 265.
2. Article 165.
3. Dunning, op. cit., Vol IV, p 265
4. Laski, op. cit., p. 84.

अध्याय : : १७

व्यवस्थापक मंडल

(The Legislature)

अरिस्टोटल के समय से इस बात को सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि राजनीतिक शक्ति तीन मोटी सूचियों में बांटी जा सकती है। प्रथम है, व्यवस्थापिका शक्ति, जो राज्य की इच्छा का निर्माण करती है और उसे व्यक्त करती है। व्यवस्थापक-मंडल, प्रतिनिधि सभा होने के कारण, लोकमंत्री सरकार में कानूनों के रूप में समाज के सामान्य नियमों को प्रचलित करता है। राज्य के कानून उस रूप को निर्धारित करते हैं, जिनके अधीन राजनीतिक रूप में संगठित समाज में रहने की लोगों से आशा की जाती है। द्वितीयतः, यह देखने के लिए भी कोई शक्ति होनी चाहिए कि राज्य के नियमों का सब-कोई ठीक तरह से पालन करते हैं और आज्ञाभंग नहीं होता। यह काम प्रबंधकारी का है। इसके बाद तीसरी न्याय-विभागीय शक्ति है। न्यायाधीश निश्चय करते हैं कि क्या कानून किसी विशेष अवस्था में लागू होने योग्य है या नहीं। न्याय-विभागीय शक्ति निश्चय करती है "उस स्वरूप का जिसमें प्रबंधकारी का कार्य पूर्ण किया गया हो। वह यह देखती है कि प्रबंधकारी अधिकार-शक्ति का प्रयोग व्यवस्थापिका द्वारा बनाए सामान्य नियमों के अनुरूप है।"[1] यदि प्रबंधकारी कानून द्वारा प्रदत्त शक्ति का अतिक्रमण कर कोई कार्य करता है, तो जज इस बात की घोषणा कर सकते हैं कि प्रबंधकारी द्वारा जारी किया गया आदेश कानून-विरुद्ध है।

व्यवस्थापिका शक्ति की उच्चता (Supremacy of the Legislative Power) :—किंतु व्यवस्थापक-मंडल का निर्विवाद रूप में श्रेष्ठ स्थान है। वस्तुतः, राज्य का मुख्य और महत्वपूर्ण कृत्य व्यवस्था का है। प्रबंधकारी और न्याय विभाग तब तक कार्य नहीं कर सकते, जब तक व्यवस्थापक-मंडल कार्य न कर चुका हो। कानून न्यायनिर्णय दे सकने या प्रबंधकारी के कार्य करने से पूर्व विद्यमान होंगे। प्रबंधकारी और न्याय-विभाग के प्रत्येक कार्य में व्यवस्थापिका द्वारा बनाए प्रचलित कानून का मुख्यतः समावेश होगा। गिलक्राईस्ट ने व्यवस्थापिका, प्रबंधकारी और न्याय विभागों की तुलना न्याय के प्रधान, और गौण प्रतिज्ञाओं तथा परिणामों से की है। वे कहते हैं,"व्यवस्थापिका प्रधान प्रतिज्ञा है, न्याय विभाग गौण प्रतिज्ञा और प्रबंधकारी परिणाम है।"[2]

व्यवस्थापक मंडल के कृत्य

(Functions of the Legislature)

व्यवस्थापक-मंडल के कृत्य प्रत्येक देश में एक जैसे नहीं हैं। वे पूर्णतया सरकार के रूप पर निर्भर करते हैं। यदि सरकार का रूप निरंकुश राजतंत्र है, जैसा कि ज़ार-शाही के रूप में था अथवा जैसा कि वर्तमान में अफगानिस्तान में भी है, तो व्यवस्थापिका सभा

1. *Grammar of Politics.*, op. cit., p. 295.
2. Op. cit., p. 293.

सब कार्यों में प्रबंधकारी की केवल परामर्शदातृ सहायक संस्था है। नौकरशाही रूप की सरकार के अधीन व्यवस्थापिका सभा पूर्णतया प्रबंधकारी के अधीन होती है, जैसा कि १९३७ से पूर्व भारत के प्रांतों में था, और अगस्त १९४७ में भारत के प्रभु-सत्ता राज्य बनने से पूर्व केंद्र में था। हिटलर और मुसोलिनी जैसे तानाशाह व्यवस्थापक-मंडल के अस्तित्व पर कोई ध्यान नहीं देते थे। हिटलर और मुसोलिनी दोनों ने व्यवस्थापिका सभाओं की शक्तियों को दबा दिया था और मुख्यतः आदेश या अध्यादेशों (Ordinances) को जारी करके शासन करते थे। जर्मन पार्लमेंट ने १९३३ में नेशनल मंत्रि-मंडल को—वस्तुतः स्वतः हिटलर को—चार वर्ष के लिए कानून बनाने, संधियाँ करने, बजट बनाने और वस्तुतः, बिना बाधा या अवरोध के "संविधान के भीतर या बाहर मनचाहा खेल खेलने की" शक्ति प्रदान की थी।[1] . . . . . . "किंतु हिटलर को प्रदान की गई शक्तियों का उसके जीवनकाल में कहीं अंत नहीं हुआ। यहां तक कि लौह चांसलर बिस्मार्क भी, जिसने अपने काल में अनंत अधिकार प्राप्त किया था, इतना शक्ति-संपन्न नहीं हुआ था जितना यह नात्सी नेता।

किंतु पार्लमेंट्री रूप की सरकार में, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन और भारत में पाया जाता है, व्यवस्थापक-मंडल प्रबंधकारी से श्रेष्ठ होता है। प्रबंधकारी अपने सब कार्यों के लिए व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होता है और मंत्रिगण केवल तभी तक अपने पदों पर बने रहते हैं, जब तक उसका विश्वास प्राप्त कर सकते हैं। इंग्लैंड में पार्लमेंट प्रभु-सत्ता है। यह दोहरा कार्य करती है और संवैधानिक तथा कानून-निर्माण की शक्तियों को जोड़ती है। यह संविधान को बनाने और परिवर्तन की योग्यता रखती है, और उसके साथ ही, सामान्य कानून-निर्माण का कार्य भी करती है। दूसरी ओर, संयुक्त राष्ट्र अमरीका में व्यवस्थापिका सभा की शक्तियां प्रबंधकारी के साथ सम-विस्तार की है।

फलस्वरूप, व्यवस्थापिका सभा के कृत्य राज्य-से-राज्य में भिन्न हैं। उनमें समानता नहीं। जो भी हो, व्यवस्थापिका सभा के मुख्य कृत्यों का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है:—

व्यवस्थापिका सभा के कृत्य (Legislative Functions) :—जैसा कि पूर्वतः कहा जा चुका है, कानून को वर्तमान में लोगों की इच्छा की अभिव्यक्ति माना जाता है। जनता की इच्छा प्रतिनिधि सभाओं द्वारा व्यक्त की जाती है और कानून बनाने के सब साधनों को व्यवस्थापिका सभा ने हड़प लिया है। फलस्वरूप, व्यवस्थापिका सभा कानून का सर्वाधिक समृद्ध और प्रत्यक्ष स्रोत है। पुनः, कानूनों को समाज की परिवर्तनशील अवस्थाओं के अनुरूप और नई सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। फलतः, पुराने कानूनों का, जो असामयिक हो गए हों, सुधार किया जाता है और उनकी जगह नये बनाए जाते हैं। मंत्रि-मंडल रूप की सरकार के अधीन प्रबंधकारी का कानून बनाने में प्रत्यक्ष हाथ रहता है। सभी सार्वजनिक विधेयक सरकार की ओर से आते हैं। किंतु प्रधानीय प्रणाली में प्रबंधकारी कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष संपर्क में नहीं रहता। उसमें वह अपने प्रभाव को या तो प्रधानीय संदेशों द्वारा या प्रधान के दल के कांग्रेस-सदस्यों द्वारा प्रभावित करता है।

विमर्शात्मक कृत्य (Deliberative Functions) :—व्यवस्थापिका

1. Ogg. op. cit., p. 270.

कर्तव्य सौंपा गया है, उन्हें अंधा-धुंध, जल्दबाजी और कु-विचारित कानून-निर्माण के खतरों से बचना चाहिए। जागरूकता और सावधानी की उचित मात्रा कानून-निर्माण की प्रथम आवश्यकता है, क्योंकि कानून-निर्माण में आवेश होना खतरनाक होता है। द्वितीयत:, चूंकि कानूनों का सबके लिए समान प्रभाव होगा, इसलिए आवश्यक है कि व्यवस्थापिका सभा सब लोगों की प्रतिनिधि संस्था हैं, जिसमें अनेक स्वार्थों का प्रतिनिधित्व हो, जिससे सब वर्गों की सम्मति प्राप्त की जा सके। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भिन्न साधनों को अपनाया गया है। उनमें से एक व्यवस्थापिका सभा के संगठन का स्वरूप है।

एक-सदनात्मक और द्वि-सदनात्मक संगठन (Unicameral and Bi-cameral Organisation):—जब कहीं केवल एक ही व्यवस्थापिका सभा हो, तो संगठन की इस प्रणाली को एक-सदनात्मक (Unicameral) कहते हैं। जब व्यवस्थापिका सभा दो सदनों में संगठित होती है, तो उसे द्वि-सदनात्मक प्रणाली (Bi-cameral) कहते हैं। राजनीतिक विज्ञान का प्राय: यह मत है कि व्यवस्थापक-मंडल के दो सदन होने ही चाहिएं। "एक-सदनात्मक सरकार को जनतांत्रिक अंधाधुंधी का ईश्वरीकरण" समझा जाता है। कुछ लेखक एक-सदनात्मक सरकार को, "यदि भ्रष्ट और हिंसक नहीं," तो स्वप्नदर्शी रूप में चित्रित करते हैं, जिसका सामान्यत: अन्त स्वेच्छाचारिता में होता है। सर हेनरी मेन का मत है कि द्वितीय सदन का कोई भी रूप न होना ही बेहतर है। उन्होंने कहा है कि द्वितीय सदन से जो आशा की जानी चाहिए, वह "अभ्रान्ति में प्रतिद्वंद्वी नहीं, प्रत्युत अतिरिक्त सुरक्षा है।"

किंतु द्वि-सदनात्मकवाद व्यापक नहीं हुआ। अठारहवीं सदी में और उन्नीसवीं सदी के आरंभिक भाग में एक-सदनात्मकवाद का बोलबाला था। अमरीका में बैंजमिन फ्रैंकलिन उसके प्रबल समर्थक थे और यह उन्हीं के अधिकांश प्रभाव का फल था कि पेंसिलवानिया (Pennsylvannia) की व्यवस्थापिका सभा प्रथम संविधान के अधीन एक-सदनात्मक बनी। उन्हीं दिनों, इंग्लैंड में भी, बैंथम (Bentham) ने एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका सभा का समर्थन किया। फ्रांसीसी क्रांति के समय भी वहां एक-सदनी व्यवस्थापिका सभा के अनेक समर्थक थे, और तदनुसार १७९१ और १७९३ के संविधानों में इसकी गुंजाइश की गई थी। १७९५ में, दो सदनों की रचना की गई, जो १८४९ तक अस्तित्व में रही, और उसके बाद फ्रांस पुन: एक-सदनात्मकवादी बन गया। जो भी हो, यह भी केवल कुछ ही समय तक रह पाया। फ्रांस को एक-सदनी व्यवस्थापिका सभाओं का अनुभव संतोषप्रद न रहा और कहा जाता है कि उनकी कार्य-पद्धति में "हिंसा, अस्थिरता और निम्नकोटि की ज्यादतियां प्रकट होती थीं।"[1] सार्वजनिक मत द्वि-सदनात्मकवाद के पक्ष में हो गया और जिन देशों ने एक-सदनात्मकता को पूर्वत: अपनाया था, उन्होंने द्वि-सदनात्मक प्रणाली के लिए इसका परित्याग कर दिया। इंग्लैंड में क्रामवैल ने जिस हाउस ऑफ लार्ड्स का अन्त कर दिया था, वह शीघ्र ही पुन: जारी कर दिया गया। पेंन-सिलवानिया में १७९० तक एक-सदन जारी रहा और उपरांत वहां भी दो-सदन कर दिये गए। मैक्सिको, स्पेन, पुर्तगाल, नेपल्स जैसे अन्य राज्यों ने तजुर्बे के बाद, द्वि-सदनात्मक प्रणाली के पक्ष में इसका परित्याग कर दिया। इस प्रकार, द्वि-सदनात्मक प्रणाली प्रत्येक

1. As cited in Garner, Political Science of Govt., p. 602.

राज्य में व्यापक रूप धारण कर गई। किंतु प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त कई राज्यों ने पुनः इसे छोड़ दिया। यह उल्लेखनीय है कि जिन अधिकांश राज्यों ने एक-सदन प्रणाली को अपनाया था वे या तो वर्सेलिज संधि की रचना थे या ऐसे राज्य थे, जिन्होंने किसी प्रकार की क्रांतिकारी उथल-पुथल देखी थी। तिस पर भी, एक-सदनात्मक प्रणाली चिरकाल तक न रह सकी और वर्तमान में द्वि-सदनात्मक प्रणाली प्रायः व्यापक रूप में प्रचलित है।

द्वि-सदनात्मक प्रणाली के पक्ष में युक्तियां (Arguments in Favour of Bi-Cameralism)' :—१. द्वि-सदनात्मक प्रणाली एक-सदनात्मक द्वारा "घृणित, भ्रष्ट और आतंकपूर्ण" स्वीकृत कानूनों के विरुद्ध आवश्यक संरक्षण के रूप में मानी जाती है। इसके अतिरिक्त, द्वितीय सदन राज्य-शक्ति को आवश्यक सतुलन प्रदान करता है, अल्प-सख्यकों को उचित सरक्षण प्रदान करता है, और स्वतत्रता के लिए अनिवार्य सुरक्षा है। दूसरी ओर, एक-सदन अल्प-सख्यकों को हानि पहुंचाने वाले कानून स्वीकार कर सकता है, उत्तरदायित्व की भावना से शून्य होकर और बिना विचार-विमर्श के कार्य कर सकता है, और विशेष रूप से उसके लोक-नेता के बुरे प्रभावों से प्रभावित होने की सभावना होती है।

२. द्वि-सदनात्मक प्रणाली जल्दबाजी, अंधाधुंध और दुर्विचारपूर्ण-कानून-निर्माण पर आवश्यक रोक है। यह निम्न-सदन व्यवस्थापन-कार्यकलाप पर पुनर्विचार करके रोक का कार्य करता है। लास्की कहते हैं, "कि द्वितीय सदन के रूप में हमें एक ऐसे यत्र की आवश्यकता है जो निर्वाचकों के साथ संपर्क में न आए हुए और अपनी अनुभवहीनता के कारण प्रत्येक प्रकार की नवीनता का स्वागत करने के लिए उत्सुक निम्न सदन की प्रथम उग्र भावनाओं में शिथिलता ला सके।" एक-सदनी व्यवस्थापिका सभा, जिस पर दूसरे सदन की सशोधन-शक्ति की रोक नहीं होती, अनुत्तरदायी प्रमाणित होती है। वह क्षणिक प्रभावों को जल्दी ग्रहण कर लेता है। एक-सदनी सभा, जो विशेषतया व्यापक वयस्क मताधिकार के आधार पर सगठित की गई हो, अपने दृष्टिकोण में आमूल सुधारवादी होती है। अतिसुधारवाद को परिपक्व निर्णय और अनुदारवाद द्वारा अवरोध की आवश्यकता होती है, और यह द्वितीय सदन द्वारा प्रदान किया जाता है। द्वि-सदनात्मक प्रणाली में कानून बनाने के लिए दोनों सदनों की सम-स्थिति होना आवश्यक है। पहले सदन की स्वीकृति के बाद किसी प्रस्ताव को द्वितीय सदन को सौंपना विचार-विमर्श के लिए पर्याप्त काल प्रदान करता है। व्यवधान के कारण होने वाली देरी निर्वाचक-मडल को भी अपनी सम्मति प्रकट करने योग्य बनाती है। चासलर केंट का मत है कि "व्यवस्थापिका सभा का दो भिन्न सदनों में, और अपनी सबद्ध शक्तियों के साथ अलग-अलग कार्य करने का मुख्य उद्देश्य दुःखद अनुभवों के बाद एक-सदनी व्यवस्थापिका सभा में भयकर और शक्तिशाली रूप में कार्य करते हुए पाए जाने वाले आकस्मिक प्रबल आवेशों तथा पक्षपात, वैयक्तिक प्रभाव और दलबंदी के कारण जल्दबाजी में उठाए गए कदमों के बुरे प्रभावों को दूर करना है।'[1] इसलिए, द्वितीय सदन कानून-निर्माण में "नियन्त्रण करने, सुधार करने, गत्यावरोध करने, और स्थिरता उत्पन्न करने" का प्रभाव प्रयुक्त करता है।

---

1. As quoted in Garner, op. cit, p. 605.

इकाइयों द्वारा व्यवस्थापिका सभा पर अधिकार करने को रोकती है, जैसा कि संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में यह है भी।

९. *कुछ लेखकों का मत है कि द्वि-सदनात्मक प्रणाली प्रबंधकारी की स्वतंत्रता* की रक्षा करती है और इकहरे सदन की निरंकुशता के विरुद्ध रक्षा प्रदान करती है। कुछ अन्यों का यह भी मत है कि द्वितीय सदन प्रबंधकारी को बल प्रदान करता है। कहा जाता है कि प्रबंधकारी एक सदन से दूसरे को अभ्यर्थना कर सकता है और इन प्रकार, एक-सदन की उच्छृंखलताओं से अपनी रक्षा करता है। तिस पर भी, यह तर्क शंकापूर्ण जान पड़ता है, क्योंकि, पालियामेंट्री सरकारों के अधिकाश देशों मे, प्रबंधकारी, क्रियात्मक रूप में केवल निम्न-सदन के प्रति उत्तरदायी है। १८७५ के सविधान के अनुसार, यह केवल फ्रांस में ही था कि मंत्रि-मंडल चेंबर ऑफ डेपुटीज तथा सीनेट दोनों के प्रति उत्तरदायी था, अन्यथा उच्च सदन सरकारों को बनाने या हटाने में कोई प्रभाव नही रखता।

द्वि-सदनात्मक प्रणाली के विरुद्ध तर्क (Arguments against Bi-Cameralism) :—द्वि-सदनात्मक प्रणाली के बहुमुखी लाभ होने के बावजूद इस राजनीतिक संस्था में कुछ प्रकट त्रुटिया भी हैं। जैसा कि पूर्वतः कहा जा चुका है, प्रथम विश्व-युद्ध के बाद बहु-संख्यक योरोपीय देशों को द्वि-सदन व्यवस्थापिका सभा में विश्वास नही रह गया था और वे एक-सदनात्मक प्रणाली में बदल गए थे। किंतु, जल्दी ही कुछ दिनों बाद, पुनः द्वि-सदनात्मकता की दिशा मे लहर उमडी और जिन देशों ने इस प्रणाली को छोड दिया था, उन्होंने इसे पुनः जारी किया। जो भी हो, द्वि-सदनात्मकता के विरुद्ध जो तर्क हैं, वह इस प्रकार कहे जा सकते हैं :

१. यह युक्ति दी जाती है कि लोकतंत्र के दो भिन्न स्वर नही होने चाहिएँ। सरकार की कानून-निर्माण के सगठन की शाखा में एकता होनी चाहिए। सीज (Sieyes) का कथन है, "*कानून लोगों की इच्छा का फल है; लोग एक ही वक्त मे एक ही विषय* पर दो भिन्न इच्छाएं नहीं कर सकते, इसलिए, कानून-निर्माण की सभा भी, जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है, अनिवार्यतः एक ही होनी चाहिए।" बेंजामिन फ्रैंकलिन ने द्वि-सदनी व्यवस्थापिका सभा की एक ऐसी गाडी से तुलना की है, जिसके दोनों ओर एक-एक घोडा लगा हो, और दोनो उसे विपरीत दिशाओ मे खींच रहे हैं।

२. किंतु वास्तविक कठिनाई उस समय अनुभव होती है, जब दोनों सदन लोक-मत से चुने जाते हैं और दोनों को सासे-समान अधिकार होते हैं। जहा दोनों सदन एक ही रूप में सगठित होंगे, वहां विवाद और विभाजन अनिवार्य होंगे। उत्तरदायित्व के विभाजन का अर्थ है निष्क्रियता, और इस तरह, जनता की इच्छा अवरुद्ध होगी। एक सदन, जो दूसरे का प्रतिरूप है, राजनीतिक उपयोगिता नही रखता, क्योंकि, "यदि कोई दूसरा पहले से भिन्न-मत होता है, तो यह शरारत है; यदि वह उससे सहमत होता है, तो यह कृत्रिम है।"

३. एक-सदनात्मक प्रणाली के समर्थकों का मत है कि द्वितीय सदनों के सगठन के विषय में कोई एक मत नही है। द्वि-सदनात्मक प्रणाली के विरुद्ध यह असहमति स्वतः एक तर्क है। जिन देशों में दो सदन है, वहा उनके पुनर्सग न के विषय में बहुत विवाद है। उदाहरणार्थ, हाउस ऑफ लार्ड्स की सदैव बेमेल कह कर निंदा की जाती है, क्योंकि वह शाहीवंशजों को छोड़ अन्य किसी का प्रतिनिधित्व नही करता और वह स्वतः

में हैं। कैनेडियन सीनेट के सदस्यों को मनोनीत करने की विधि के विषय में भी गंभीर आपत्तियां हैं।

४. आगे चल कर यह भी कहा जाता है कि एकहरे-सदन द्वारा स्वीकृत कानून न तो कु-विचारित होता है और न ही जल्दबाजी का। प्रायः प्रत्येक उपाय, जो कानून बनता है, वह विवाद और विश्लेषण की लंबी विधि का फल होता है। वस्तुतः प्रत्येक आधुनिक व्यवस्थापिका सभा कानून बनाते समय समाचार-पत्रों तथा मंच पर व्यक्त की गई सम्मतियों में से अपना संकेत ग्रहण करती है। ऐसी अवस्था में, विचार-विमर्श का अनावश्यक रूप में दोहरीकरण और अत्यधिक आवश्यक कानून-निर्माण में देरी करना आवश्यक जान नहीं पड़ता।

५. पुनः, द्वि-सदनात्मक प्रणाली के विरोधियों का मत है कि अल्पसंख्यकों को द्वितीय सदनों द्वारा शंकापूर्ण प्रतिनिधित्व की अपेक्षा संवैधानिक संरक्षणों से बेहतर सुरक्षा मिलती है।

६. यह कहा जाता है कि इकहरे-सदन की निरंकुशता के विरुद्ध अन्य संरक्षण भी हैं, जैसे, प्रबंधकारी का निलम्बन निषेधाधिकार, कुछ समय बाद उसी भवन में दूसरा मत, आदि।

७. द्वि-सदनात्मक प्रणाली कार्य का दोहरीकरण करती है, जिसका अर्थ है, समय की क्षति, और राष्ट्रीय राज्य-कोष पर अनावश्यक बोझा। इस तरह लास्की का मत है कि एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका सभा आधुनिक राज्य की आवश्यकताओं का उत्तम उत्तर जान पड़ता है।

८. अन्ततः, हाल ही में, एक मत ने जन्म लिया है जो संघीय सरकार तक में द्वितीय सदन की उपयोगिता से इन्कार करता है। यह मत प्रकट किया जाता है कि वर्तमान में इकाइयों के प्रतिनिधि विशेष इकाई के प्रतिनिधि होने की अपेक्षा दलीय आधारों पर मत-दान करते हैं। इसलिए, इकाइयों को द्वितीय-सदनों द्वारा अलग प्रतिनिधित्व प्रदान करने का कोई लाभ नहीं।

व्यवस्थापिका सभा का संगठन
(Composition of the Legislature)

तिस पर भी, द्वि-सदनात्मक प्रणाली स्थिर हो गई है और वर्तमान में व्यवस्थापिका संगठन का प्रत्येक आधुनिक राज्य में यह व्यापक अंग है। दोनों सदन, उच्च सदन और निम्न सदन कहलाते हैं। किंतु उन्हें इस प्रकार का नाम देना गलत है। संवैधानिक शक्तियों के मामलों में कठिन "उच्च सदन प्रायः सभी अवस्थाओं में अपेक्षाकृत दूसरे से दुर्बल है। उसके कृत्य गौण हैं और केवल ऐतिहासिक उत्तराधिकार के नाते ही उसका यह पुरातन नाम बना हुआ है।

निम्न सदन का संगठन (Composition of the Lower House):—दोनों सदन संगठन और कृत्यों की दृष्टि से भिन्न हैं। सब जनतांत्रिक देशों में निम्न सदन लोकसदन होता है, जो जनता के मतों द्वारा प्रत्यक्षतः चुना जाता है। मतदान व्यापक मताधिकार से होता है और उस पर कतिपय योग्यताओं की शर्तें लागू होती हैं, जो पूर्वतः

निश्चित होती हैं।[1] सारे देश को निर्वाचक जिलों में बांटा जाता है, जो हलके कहलाते हैं और उनमें से समय-समय पर प्रतिनिधि चुने जाते हैं। प्रतिनिधित्व सामान्यतः जिला-टिकट प्रणाली आधार पर जनसंख्या के अनुपात से होता है, यद्यपि कुछ राज्य अब भी सामान्य टिकट प्रणाली के पक्ष में हैं। प्रतिनिधियों के पद की अवधि प्रायः तीन से पाच वर्ष तक भिन्न-भिन्न होती है। अमरीका में प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) के लिए यह केवल दो वर्ष की है। लास्की के मत में, "व्यवस्थापिका सभा के लिए सर्वोत्तम अवधि न चार वर्ष से कम, और न पाच वर्ष से अधिक ठीक जान पड़ती है।"[2] चार वर्ष से कम की अवधि में कई त्रुटिया हैं। पद की थोड़ी अवधि नये सदस्यों को व्यवस्थापन कार्यों से पर्याप्त परिचित नहीं होने देती। न ही यह उन्हें निश्चित नीति का अनुसरण करने के लिए पर्याप्त समय प्रदान करती है। यदि पद की अवधि का समय पाच वर्ष से अधिक होता है, तो व्यवस्थापक-मडल निर्वाचकों के साथ सपर्क के अभाव में असामयिक हो जाता है।

उच्च सदन का संघटन (Composition of the Upper House):—दोहरीकरण से बचने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि उच्च सदन का सघटन भिन्न आधार पर होना चाहिए। किंतु ऐसी कोई एक विधि नहीं है, जिसका समान रूप में अनुकरण किया जाता हो। आधुनिक राज्यों के उच्च सदन अपने आकार में पर्याप्त रूप से भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। जो भी हो, उनके सघटन के विषय में निम्न विधिया प्रयुक्त की जाती हैं:

वंशागत सिद्धांत (Hereditary Principle):—उच्च सदन का संघटन वंशागत पद-नियुक्ति पर आधारित हो सकता है, जैसा कि ब्रिटिश हाउस ऑफ लार्ड्स में पाया जाता है। किंतु यह केवल अतीत का अवशेष मात्र है। यह संभव नहीं है कि कोई सम्य समुदाय, जिसमें वंशागत व्यवस्थापक-मडल नहीं है, जान-बूझ कर ऐसे एक का निर्माण करेगा। इसका मूल विचार ही जनतांत्रिक युग के विपरीत है। व्यवस्थापन-कार्य की योग्यता वंशागत नहीं होती। टामस पेन (Thomas Paine) लिखते हैं, "वंशागत व्यवस्थापकों का विचार उतना ही असंगत है जितना वंशागत न्यायाधीशों या वंशागत न्याय-सभ्यों का होता है, और यह उतना ही बेहूदा है जितना वंशागत गणितज्ञ या वंशागत बुद्धिमान मनुष्य का, तथा उतना ही व्यर्थ है जितना वंशागत कवि का होता है।" वंशागत का सिद्धांत राज्य में निहित स्वार्थों के वर्ग की रचना करता है, और उसे नीति पर विशेष नियंत्रण प्रदान करता है। वंशागत प्रतिनिधि अपने सिवा किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इसके अतिरिक्त, यह समान नागरिकता का भी निषेध है। इंग्लैंड में हाउस ऑफ लार्ड्स के वंशागत स्वरूप को हटाने की चेष्टाए भी की गई हैं। यदि इसे अंत करने का आदोलन सफल नहीं हुआ, तो भी यह कुछ कम बात नहीं।

नाम-निर्देशन का सिद्धान्त (Principle of Nomination) :—दूसरा नाम-निर्देशन का सिद्धांत है। सदस्यों को प्रबंधकारी या तो जीवन भर के लिए या प्रदत्त काल के लिए उनके पद पर नियत करते हैं। नाम-निर्देशन की विधि का एक लाभ है। लोक-

1. See ante, Ch. XVI
2. Grammar of Politics, p. 342.

निर्वाचन की विधि का परिणाम सदैव योग्यतम और सही मनुष्यों का चुनाव नहीं होता। प्राय: प्रत्येक देश में ऐसे अनेक योग्य मनुष्य होते हैं, जो अपने-आपको उम्मीदवार बनाने से संकोच करेंगे, क्यों कि वे निर्वाचन के दांव-पेचों का सामना नहीं कर सकते। इसलिए नाम-निर्देशन की विधि योग्य मनुष्यों को व्यवस्थापक-मंडल का सदस्य होने के योग्य बनाती है। किंतु मनोनीत सदस्यों का संघटित भवन प्रतिनिधि सदन नहीं होता, और इसी कारण, उसमें लोक-सदन द्वारा प्राप्त अधिकारों का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त, नाम-निर्देशन का परिणाम सदैव निपुण एवं योग्य मनुष्यों का चुनाव नहीं होता। सत्तारूढ़ दल की सेवाएं और सिफारिशें ही नाम-निर्देशन का मुख्य मानदंड है। इस प्रकार नाम-निर्देशन की शक्ति के दुरुपयोग की संभावना हो सकती है। नाम-निर्देशन सदन का सर्वोत्तम उदाहरण कैनेडियन सीनेट का है। किंतु कैनेडियन सीनेट को भी अपना विश्वास प्राप्त नहीं है। यह इस बात का जीता जागता उदाहरण है कि किस प्रकार प्रबन्धकारी अपने समर्थकों द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति करते हैं। जहां तक उसकी शक्तियों का सम्बन्ध है यह सुप्त सौंदर्य है। केवल आलेख करने वाली संस्था भर है और मुश्किल से निम्नसदन से असहमत होती है या किसी सार्वजनिक विधेयक का विरोध करती है। सर जार्ज फास्टर ने बहस के दौरान में टिप्पणी करते हुए कहा था, "सरे आम कौन यह जानने के लिए पूछता है कि सीनेट का इस या उस प्रश्न के विषय में क्या मत है? समाचार-पत्रों में वस्तुत: यह जानने के लिए कौन कष्ट करता है कि सीनेट के कोई विचार ह भी, और यदि हैं, तो कानून-निर्माण से संबंधित किसी विभाग के बारे में वे क्या हैं, अथवा वे कौन-सी अवस्थाएं होनी चाहिएं कि जिनसे सफल निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए सब उत्तम और संयुक्त रूप में मिल कर काम कर सकें।" फलत:, इस ंग की संस्था का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

चुनाव का सिद्धांत (Principle of Election):—उपरि-सदन के निर्वाचन में दो विधियों को अपनाया जा सकता है: प्रत्यक्ष निर्वाचन और अप्रत्यक्ष निर्वाचन। प्रत्यक्ष-निर्वाचन विधि द्वारा निर्वाचित उपरि-सदन संघीय राज्यों में पाया जा सकता है, जैसा कि अमरीका और आस्ट्रेलिया में है। अमरीकन सीनेट ९६ सदस्यों द्वारा संघटित है: ४८ राज्यों में से प्रत्येक २-२ सदस्य भेजता है। आस्ट्रेलिया की सीनेट में ३६ सदस्य हैं, राष्ट्रमंडल (Commonwealth) के छहों राज्य सामान्य टिकट-प्रणाली के आधार पर ६-६ सदस्य भेजते हैं। प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित उपरि-सदन की दिशा में मुख्य कठिनाई यह है कि वह निम्न सदन का केवल दोहरीकरण का रूप धारण कर लेता है। इस तरह के प्रतिनिधित्व का स्वरूप कोई उद्देश्य पूर्ण नहीं करता और इससे संवैधानिक गतिरोध तक हो सकता है।

भारत में राज्य-सभा अप्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित है। १८७५ के संविधान के अनुसार, फ्रांसीसी सीनेट भी अप्रत्यक्षत: निर्वाचित थी। अमरीकी सीनेट भी, १९१३ से पूर्व अप्रत्यक्षत: निर्वाचित सदन था। लास्की का, जो एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका-सभा के समर्थक हैं, मत है, कि "भ्रष्टाचार को अधिकाधिक प्रोत्साहित करने की सब विधियों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन सबसे अधिक खराब है।"[1] वह और आगे कहते हैं, "यदि इस प्रकार का सदन, अपने निर्वाचन के समय, तात्कालिक सरकार का विरोधी है, तो वह कार्य-योग्यता के लिए

1. Ibid, p. 330.

विनाशकारी होता है और यदि वह अनुकूल है, तो वह सम्भवतः निरर्थक होगा।"[1]

निष्कर्ष—जो भी हो, उपरि-सदन के निर्माण की संतोषजनक विधि प्रस्तावित करना आसान नही। ब्लूटश्ली ने कहा था कि किसी राज्य में कुलीनतान्त्रिक और जनतान्त्रिक अंशों के भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन अंशों में से केवल एक का प्रतिनिधित्व स्वीकार करना दूसरे के प्रति अन्याय करना है। जान स्टुअर्ट मिल ने राजनीतिक अनुभव और शिक्षण के सिद्धांत पर द्वितीय सदन निर्माण करने की तजवीज की थी। यदि एक जनता का सदन हो, तो दूसरा नीतिज्ञों का सदन होना चाहिए, एक ऐसी परिषद्, जो सब ऐसे जीवित सार्वजनिक मनुष्यों द्वारा निर्मित हो, जो महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों या नौकरियों पर रह चुके हों। मिल का यह भी कहना था, "इस प्रकार का सदन न केवल विचारों को नम्र करने वाली या अवरोधक संस्था होगी, प्रत्युत शक्ति-सचरण करने वाली भी होगी।"

एक अन्य प्रस्तावित विधि नार्वे मे प्रचलित है और ली स्मिथ (Lees Smith) ने हाल ही में उसका समर्थन किया है। इस योजना के अनुसार, द्वितीय सदन एक ऐसी छोटी संस्था होगी, जो निम्न सदन द्वारा निर्वाचित होगी। इसका एकमात्र कृत्य स्थगित करना और संशोधन करना होगा।[2] सम्भवतः सर्वोत्तम विधि सिजविक द्वारा प्रस्तावित की गई है।[3] उनका आदर्श नाम-निर्देशन और अप्रत्यक्ष चुनाव का मिश्रण है। उनका कहना था कि अप्रत्यक्ष चुनाव उस सदन को किसी सीमा तक प्रतिनिधि रूप प्रदान करता है और नाम-निर्देशन व्यवस्थापिका सभा में योग्य एवं अनुभवी लोगों को लाने का अवसर प्रदान करता है। भारत में राज्य-सभा का संघटन इन दोनों शर्तों को पूर्ण करता है।

दोनों सदनों की शक्तियाँ
(Powers of the two Chambers)

कानून बनाने की विधि में सिद्धांत यह है कि द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका सभा की प्रणाली में दोनों सदन, सामान्यतः, समान और आबद्ध होते हैं। एक विधेयक का आरम्भ किसी भी सदन में हो सकता है और अन्तिम मत-दान से पूर्व उसी व्यवस्थापन कार्य-विधि में से निकलेगा। कोई भी विधेयक दोनों सदनों की सहमति के बिना कानून नहीं बन सकता। दोनों में से कोई भी किसी विधेयक में संशोधनों का प्रस्ताव कर सकता है, और वह दूसरे सदन की सहमति से ही केवल वैध हो सकते हैं। धन इकट्ठा करने और खर्च करने से संबंधित विधेयकों की दशा में, दोनों सदनों के अधिकार सामान्यतया संबद्ध तो होते हैं, किंतु समान नहीं होते। निम्न सदन को राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर सर्वोच्च नियंत्रण प्राप्त होता है; इस विषय में सूत्र यह है कि प्रतिनिधित्व और करारोपण साथ-साथ चलते हैं। लोगों का मत है कि जनता के प्रतिनिधि ही राज्य की आय और व्यय के सब मामलों में अंतिम निर्णायक होने चाहिए। फलस्वरूप, अर्थ-व्यवस्था संबंधी सब विधेयक निम्न सदन से प्रारम्भ होते हैं, और उसकी शक्तियां निर्णयात्मक हैं। ब्रिटिश हाउस ऑफ लार्ड्स किसी अर्थ-विधेयक का स्वतः संशोधन या उसे अस्वीकार नहीं कर सकता। फ्रांस ने १८७५ के संविधान के अनुसार सीनेट के अधिकार चेंबर ऑफ डेपुटीज के समान थे, सिवा इनके कि अर्थ-विधेयक चेंबर के

1. Ibid.
2. Lees Smith : Second Chambers in Theory & Practice, p. 242.
3. Elements of Politics p 473 f

डैपुटीज से ही प्रारम्भ हो पाते थे। सीनेट उनमें संशोधन या उन्हें रद्द कर सकता था। किंतु वस्तुतः सीनेट असमानता की स्थिति में था। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में सीनेट को राजस्व उत्पत्ति के लिए विधेयक आरम्भ करने की मनाही है किंतु उन्हें संशोधित या अस्वीकार करने का उसे निर्विवाद अधिकार है।

उपरि-सदनों का कार्यक्षेत्र (Role of the Upper Houses) :—व्यवस्थापक-मंडल के प्रत्येक सदन की शक्तियों में गंभीर अंतर होना चाहिए। यह सत्य है कि शक्तियों में अन्तर उपरि-सदनों के रूप और संघटन पर निर्भर करेंगे। यदि उपरि-सदन वंशागत या मनोनीत है, जैसा कि इंग्लैंड और कैनेडा में क्रमशः है, तो उसकी शक्तियां पर्याप्त रूप में सीमित होंगी। किंतु यदि यह निर्वाचित सदन है, जैसा कि अमरीका और भारत में इसका रूप है, तो जहां तक संविधान के कानून का संबंध है, यह निम्न सदन के साथ समान स्तर पर स्थिर होगा। जो भी हो, जनतंत्र की गति ने निम्न-सदन को निश्चित रूप से "प्रबल भागीदार" बना दिया है। दोनों के बीच संघर्ष की अवस्था में, जनता के अधिक प्रतिनिधियों के सदन का निर्णय अन्ततः मान्य समझा जायगा। अमरीकी सीनेट, जिसे जान-बूझ कर लोक-सभा से अधिक अधिकारों से संपन्न किया गया था, निश्चय ही, सर्वथा अपवाद है। जहां-कहीं भी दोनों सदनों के समान अधिकार होंगे,वहीं द्विसदनात्मकता का महत्व जाता रहेगा। एक-सी शक्तियों का अर्थ है केवल-मात्र दोहरी-करण, और इस प्रकार के व्यवस्थापक-मंडल की प्रणाली आपत्तिजनक होगी। उपरि-सदन का संपूर्ण आशय और उद्देश्य, संशोधन-संस्था है। चूंकि यह निम्न-सदन की अपेक्षा छोटी संस्था होती है और इसमें अपेक्षाकृत योग्य एवं अनुभवी सदस्य होते हैं, जो उपस्थित सब उपायों पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श कर सकते हैं, इसलिए उपरि-सदन का कृत्य स्थिर रहने की उपेक्षा अवरोध करने का है। द्वितीय सदन का वास्तविक उद्देश्य ब्रेक का काम करना है, किंतु इतनी कड़ी ब्रेक नहीं कि दोनों सदनों के बीच दराड़ ही पड़ जाय। निःसंदेह, इसका उद्देश्य यह है कि यह निम्न-सदन की उग्र सुधारवादिता को नरम विचारों द्वारा प्रभावित करे, किंतु वह जनमत के विपरीत नहीं होना चाहिए। यदि जन-मत उपरि-सदन के दृष्टिकोण का समर्थन करता है, तब निम्न-सदन स्वतः ही अपना संशोधन करेगा; अन्यथा उपरि-सदन को जनता के प्रतिनिधियों के सामने नम्रतापूर्वक झुकना होगा।

उपरि सदन की अन्य शक्तियां (Other Powers of the Upper House) :—चिरकाल से प्रायः सभी देशों में उपरि-सदनों को कतिपय ऐसे विशेष अधिकार देने का व्यापक चलन है जो निम्न-सदनों को नहीं दिए जाते। लगभग प्रत्येक देश में उपरि-सदनों को न्याय-विभाग की शक्तियों का प्रयोग करने का अधिकार दिया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन में हाऊस ऑफ लार्ड्स अभ्यर्थना का सर्वोच्च न्यायालय है। अमरीका में सीनेट महाभियोग के न्यायालय का कार्य करता है। १८७५ के फ्रांसीसी संविधान ने गणतंत्र के प्रधान को अधिकार दिया था कि वह सीनेट की सहमति से चैम्बर ऑफ डैपुटीज़ को भंग कर सकता है। अमरीका में, सीनेट कतिपय विशिष्ट प्रबंधकारी शक्तियों को प्रयोग में लाता है। प्रधान द्वारा दी गई सब नियुक्तियों को सीनेट की सहमति प्राप्त होनी चाहिए। सब संधियों पर उसकी मुहर लगनी चाहिए।

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन[1]
(Direct Legislation)

हाल ही के वर्षों में, प्रतिनिधि प्रणाली के प्रति कुछ अविश्वास की मात्रा उत्पन्न हो गई है। इसका मुख्य कारण यह लोक-भावना है कि व्यवस्थापिका सभाएं समग्र रूप में राज्य से संबंधित कल्याण की बजाय दलीय-नीति में अत्यधिक भाग लेती हैं। दल-यंत्र और दल-नेताओं का दल-नीतियों पर पूर्ण नियंत्रण होता है, और प्रतिनिधियों की अपनी निजी स्वतंत्र इच्छा नहीं होती। उन्हें दल-नेता के अनुसार कार्य करना होता है। दल-प्रणाली, जो प्रतिनिधि सरकार की कार्यकारिता के लिए है, इस प्रकार अपरिहार्य है, निर्वाचक के व्यक्तित्व को नष्ट करने वाली है। वह अपने निजी स्वतंत्र विवेक का प्रयोग नहीं कर सकता। उसकी राय उसी के लिए बनाई जाती है और उसके लिए आंखें बंद करके अनुकरण करने के सिवा कोई चारा नहीं होता। वह अपनी निजी राय नहीं बना सकता। यदि वह अपनी स्वतंत्र राय बनाता है, तो दल-नियंत्रण का डंडा डेमॉक्लीज की तलवार की भांति उसके सिर पर लटका रहता है।

इससे आगे यह तर्क किया गया है कि प्रतिनिधि प्रणाली अल्प-संख्यकों की प्रतिनिधि नहीं है। पुनः, प्रतिनिधि "कभी-कभी अपने निर्वाचन-क्षेत्रों के संपर्क में नहीं रह पाते, और गठ-जोड़, भ्रष्टाचार, और निजी स्वार्थों के कारण कभी-कभी ऐसे कानून बना लिये जाते हैं, जो जनता के कुछ वर्गों के हित में होते हैं।" फलस्वरूप, जनता को प्रतिनिधि संस्थाओं में विश्वास नहीं रहा। कई राज्यों में प्रत्यक्ष व्यवस्थापन को अपनाया गया है, जिससे प्रतिनिधि प्रणाली की बुराइयों का इलाज किया जा सके।

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की विधि संपूर्ण जनता की सामान्य इच्छा पर निर्भर करती है, जैसा प्रत्यक्ष मत-दान में व्यक्त होता है। यह इस रूप को धारण करती है :—

१. लोक-मत ग्रहण
२. आरम्भक

लोक-मत-ग्रहण (The Referendum):—शाब्दिक रूप में इस शब्द का अर्थ "निर्देश किया जाना चाहिए।" राजनीतिक विज्ञान के विषय के रूप में इसका आशय उस विधि से है, जिसमें प्रस्तावित कानून या संवैधानिक संशोधन पर, जिसके विषय में व्यवस्थापक-मंडल पूर्वतः अपनी राय व्यक्त कर चुका हो, जनता का आदेश प्राप्त करना है। यदि यह जनता के वांछित बहुमत द्वारा अनुमोदन प्राप्त कर लेता है, तो वह कानून बन जाता है। यदि वह रद्द कर दिया जाता है, तो उस उपाय को छोड़ दिया जाता है; इसका अन्तर्निहित विचार यह है कि कानून को जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होना चाहिए, और प्रतिनिधि सदन द्वारा स्वीकृत प्रत्येक कानून को जनता की अंतिम स्वीकृति के लिए उसे पेश किया जाना चाहिए।

लोक-मत-ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है : (१) फैकल्टेटिव (Facultative) या वैकल्पिक (Opitional), और (२) अनिवार्य (Compulsory) या अनिवार्य (Obligatory)।

---

1. Refer to A. C. Kapur : The Govt. of Switzerland, Ch

फैकल्टेटिव या वैकल्पिक लोकमत-ग्रहण (Facultative or Optional Referendum):—यह आवश्यक नहीं कि व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत सब कानून जनता को उसकी अंतिम सहमति के लिए पेश किये जायं। किंतु यदि संविधान में निर्धारित, मत-दाताओं की वांछित संख्या लोकमत-ग्रहण के लिए आवेदन करती है, तो जनता का आदेश ग्रहण किया जाता है। लोक-मत-ग्रहण की इस विधि को फैकल्टेटिव (Facultative) या वैकल्पिक (optional) कहते हैं। स्विट्जरलैंड में, जब तक असेंब्ली किसी मामले को अत्यावश्यक घोषित नहीं करती, साधारण कानून के लिए वैकल्पिक लोकमत-ग्रहण के निमित्त ३० हजार नागरिकों के हस्ताक्षरों की आवश्यकता होती है अथवा आठ जिलों (Cantons) के प्रतिनिधियों की।

अनिवार्य अथवा अवैकल्पिक आवश्यक लोकमत-ग्रहण (Compulsory or Obligatory Referendum):—अनिवार्य या आवश्यक लोकमत-ग्रहण की दशा में विशिष्ट प्रकार के सब कानूनों को लोकमत के समक्ष उपस्थित करना ही होगा। स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया में, सब संवैधानिक संशोधनों पर अनिवार्य अथवा आवश्यक लोकमत-ग्रहण की शर्त लागू होती है। स्विट्जरलैंड के कुछ जिलों में (Canton) साधारण काननों तक को जनता की राय जानने के लिए उसके समक्ष उपस्थित किया जाता है।

लोक-मत-ग्रहण और सर्वजनमत ग्रहण (Referendum and Plebiscite):- लोकमत-ग्रहण और सर्व-जनमत-ग्रहण के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाना चाहिए। सर्व-जनमत-ग्रहण विशिष्ट उद्देश्यों के लिए एक प्रकार का लोकप्रिय लोकमत-ग्रहण करना होता है। इसका पारिभाषिक अर्थ एक विशेष क्षेत्र के अधिवासियों द्वारा किसी प्रश्न पर सम्मति प्रकट करना है। यह किसी अत्यधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक विषय पर लोकमत प्राप्त करने की एक विधि है "किंतु मुख्यतः नई और कम या ज्यादा स्थायी राजनीतिक अवस्था की रचना के लिए होता है। यद्यपि इसका पालन आवश्यक नहीं होता, तथापि सामान्यतया यह सरकार की नीति का निश्चय करती है।" हम में हर कोई जानता है कि काश्मीर के अधिवासी अपने मत अर्थात् सर्वजनमत (Plebiscite) द्वारा यह निर्णय करेंगे कि वे भारत के साथ मिलेंगे या पाकिस्तान के साथ। दूसरी ओर, लोकमत-ग्रहण वह विधि है, जिसमें संपूर्ण निर्वाचक-मंडल के प्रत्यक्ष मत के लिए व्यवस्था-विषयक उन प्रश्नों को प्रस्तावित कानून के रूप में उसके समक्ष उपस्थित किया जाता है, जिनका प्रतिनिधि-असेंबली द्वारा निर्णय किया जाता है।

लोकमत-ग्रहण के पक्ष में तर्क

१. यह कहा जाता है कि लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धांत प्रत्यक्ष कानून-निर्माण में अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। प्रतिनिधि प्रणाली में शुद्ध सार्वजनिक सम्मति प्राप्य नहीं है, क्योंकि दलीय समाचार-पत्रों, मंचों और प्रचार का इस पर प्रभाव होता है। दूसरी ओर, लोकमत ग्रहण जनता की वास्तविक इच्छाओं को जानने की निश्चित विधि है, क्योंकि जनमत की सम्मति जानने का यह सही यंत्र है।

२. प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के समर्थकों का कहना है कि एक नागरिक अपने प्रति-

निधियों की अपेक्षा यह बेहतर जानता है कि उसके निजी लाभ की क्या बात है। एक कानून में, जो एक नागरिक की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है, अपेक्षाकृत अधिक पवित्रता और बिना किसी ननुनच के उसके प्रति आज्ञाकारिता के भाव का समावेश होता है।

३. लोकमत-ग्रहण राजनीतिक दलों के महत्व को कम करता है और दलीय-नीति को निरुत्साहित करता है। यह व्यवस्थापक-मंडल और राजनीतिक यंत्र की अर्थहीन-कल्पनाओं पर लोकप्रिय अवरोध है। व्यवस्थापक-मंडल द्वारा स्वीकृत उपायों का जनता द्वारा निरंतर रद्द करना इस बात को प्रकट करता है कि व्यवस्थापक-मंडल जनता की वास्तविक इच्छा को या तो हमेशा जानता नहीं था या उसकी इच्छा को सक्रिय रूप नहीं दे पाता। उसके साथ ही, इस बात का भी विश्वास हो जाता है कि लोक-इच्छा के विरोधी कानूनों के क्रियान्वित होने की कोई संभावना नहीं। वास्तविकता यह है कि लोकमत-ग्रहण जनता के हाथों में निषेधाधिकार की शक्ति प्रदान करता है।

४. लोकमत-ग्रहण बहुसंख्यक दल के राजनीतिक अनाचारों को कम करता है। प्रतिनिधि प्रणाली के अधीन कानून प्रायः वही होता है, जो व्यवस्थापिका सभा के बहुसंख्यक दल की इच्छा होती है। यह अल्प-संख्यक दलों की इच्छा का बहुत कम प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु यदि उसे जनता के अंतिम निर्णय के लिए सौंपा जाता है और वह उसे रद्द कर देती है तो वह उपाय नकारात्मक हो जाता है। यही वास्तविक लोकतंत्र है।

५. अप्रत्यक्ष-कानून-निर्माण का अब कोई समय नहीं रहा। ब्राईस कहते हैं,"प्रत्यक्ष कानून-निर्माण व्यवस्थापकों को सामान्य चुनावों को छोड़कर अन्य समयों पर जनता के संपर्क में रखता है, और कई दृष्टियों से एक अधिक अच्छे संपर्क में रखता है, क्योंकि इससे मतदाताओं को गंभीर प्रश्नों पर अपने विचार घोषित करने का अवसर मिलता है, और उन पर किसी दल का विनाशकारी प्रभाव नहीं होता।"

६. जब जनता अनुभव करती है कि वह वास्तविक व्यवस्थापक है, तो उसकी देश-भक्ति और उसकी उत्तरदायित्व की भावना पूर्णतया विकसित हो जाती है। प्रतिनिधि प्रणाली की अपेक्षा प्रत्यक्ष कानून-निर्माण का अधिक शैक्षणिक महत्व है। जब लोग जानते हैं कि उन्हें स्वतः ही कानूनों को बनाना है और मिटाना है, तो वे सार्वजनिक मामलों में अधिक रुचि और अधिक सक्रिय दिलचस्पी के साथ प्रेरित होते हैं। यह है लोकतंत्र की सच्ची कीमत।

७. प्रत्यक्ष कानून-निर्माण की विधि तुलनात्मक दृष्टि से अधिक अनुदार है। जब जनता कानून-निर्माण की पंच होगी, तो वह यदा-कदा ही आमूल सुधार के परिवर्तनों को जारी करेगी। वह जानते होंगे कि कानूनों का, यदि आवश्यकता हुई तो, उनकी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार सहज ही समन्वय किया जा सकेगा। इसलिए वे जल्दी-जल्दी परिवर्तन करने से बाज आएंगे।

८. अन्ततः, लोगों का मत है कि लोकमत-ग्रहण व्यवस्थापक-मंडल के दोनों सदनों के बीच गतिरोध का निराकरण करने के लिए उत्तम साधन है।

लोकमत-ग्रहण के विरुद्ध तर्क (Arguments against Referendum):— प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के विरोधियों का विश्वास है कि स्विट्जरलैंड को छोड़ कर अन्य देशों में लोकमत-ग्रहण की प्रणाली का प्रयोग यह प्रकट करता है कि यह लाभप्रद सिद्ध नहीं हुई।

ब्राईस का मत है कि जहां स्विट्जरलैंडवासी सार्वजनिक मामलों में अपने विवेक और ज्ञान द्वारा भली भांति योग्यता-संपन्न हैं,वहां यह कहना कठिन है कि अन्य देशों में भी इसे निर्बाध सफलता प्राप्त होगी। डा. फाईनर का विचार है कि प्रत्यक्ष कानून-निर्माण से बहुत थोड़ा हित हुआ है और अमरीका में प्रचलित मत यह है कि इसकी निश्चित बुराई अब अधिक प्रकट हो गई है।

इस संबंध में निम्न तर्कों की परीक्षा की जा सकती है :

१. लोकमत-ग्रहण के विरुद्ध मुख्य आपत्तियों में से एक यह है कि इसने व्यवस्थापिका सभाओं के मान को घटा दिया है और सदस्यता की योग्यता के विषय में इसने विरोधी प्रतिक्रिया की है। जब प्रतिनिधि जानते हैं कि उनके यत्नों को अन्ततः लोकमत-ग्रहण की विधि से पलटा जा सकता है तो वे अपने व्यवस्था-संबंधी कर्तव्यों के पालन में कम दिलचस्पी लेंगे। यदि प्रस्तावित कानूनों को लोकमत द्वारा अनुमोदन होता है, तो इस तरह के कानून-निर्माण के लिए अंतिम उत्तरदायित्व जनता का होता है। व्यवस्थापिका सभा को इसका कोई श्रेय नहीं दिया जाता। इसलिए, व्यवस्थापिका सभा के स्तर और अधिकार को क्षति पहुंचेगी, क्योंकि जनता उसके प्रति उदासीन हो जाती है। ब्राईस व्यवस्थापक मंडल पर प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के प्रभाव को संक्षेप में इस प्रकार कहते हैं : "इसके उत्तरदायित्व की भावना कम हो जाती है और वह जनता की रद्द करने की शक्ति को दृष्टि में रखकर ऐसे उपाय स्वीकार कर सकता है जिन्हें उसका विवेक नापसंद करता हो, अथवा जिन कानूनों को वह आवश्यक समझता है, उन्हें पास करने में भी उसे भय हो सकता है कि कहीं लोकमत से उसे भर्त्सना ही प्राप्त न हो।"

२. यह कहा जाता है कि जन-साधारण इस बात का सही निर्णय नहीं कर सकता कि उसे किन कानूनों की आवश्यकता होगी। मात्र 'हां' या 'न' जनता की वास्तविक इच्छा को प्रकट नहीं करते। जैसा कि लास्की कहते हैं, "प्रत्यक्षतः कानून का निर्माण करने वाली सरकार को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ता हो वहां यह अंतिम कठिनाई है कि प्रत्यक्ष कानून निर्माण की विधि एक ऐसा भद्दा यंत्र है जिसमें सरकार को चलाने की कला की खूबियों का अभाव है।" कानून बनाने के लिए विशेष प्रशिक्षण और अनुभव की आवश्यकता होती है। जनता के स्वार्थ लोकमत को पेश करने की बजाय, वस्तुतः, उन निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में अधिक सुरक्षित होते हैं जिन्हें उनकी योग्यता और परिपक्व विचारों के लिए चुना जाता है। कानून-निर्माण विषयक सब उपायों पर व्यवस्थापिका सभाओं में बारीकी के साथ विवाद किया जाता है और विचार-विनियम होता है। बहस और नये तथ्यों के ज्ञान को दृष्टि में रखते हुए संशोधन और परिवर्तन किये जाते हैं। किन्तु "यदि आपकी सभा लाखों सदस्यों द्वारा संघटित हो तो आप न तो संशोधन कर सकते हैं और न ही परिवर्तन।" विधेयक को जनता स्वीकार करेगी या अस्वीकार, उसमें संशोधन करना संभव नहीं। मत-दान संपूर्ण विधेयक के लिए प्रदान करना ही होगा।

३. प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के विरुद्ध आलोचनाओं में से एक आलोचना प्रदत्त मत-दान के लघु आकार से संबंधित है। यह कहा जाता है कि मतदान का परिणाम लोकमत का न्यायपूर्वक प्रतिनिधित्व नहीं करता, क्योंकि अधिकांश अवस्थाओं में उस उपाय के विरोधी अपने समर्थकों की अपेक्षा अधिक बड़े अनुपात में मत-दान के लिए चले जाते हैं।

लोकमत-ग्रहण की बृहद् विरतियों की सख्या से भी प्रमाणित होता है कि अनेक मतदाता या तो अपने नागरिक-कर्तव्यों की बहुत कम चिंता करते हैं या उनके पालन के विषय में अपनी अयोग्यता को जानते हैं।

४. जब लोगों को निरंतर मत-दान के लिए कहा जाता है तो उनमें "निर्वाचन विषयक थकावट" उत्पन्न हो जाती है, और मनोवैज्ञानिक रूप में वे मत-दान की उपेक्षा करते हैं। जो निर्णय होता है, स्पष्टतया नागरिको की अल्पसंख्या का होता है और यह जानना कठिन हो जाता है कि उस प्रश्न के विषय में कोई लोकमत है भी या नहीं।

५. इसके अतिरिक्त, लोकमत-ग्रहण कभी-कभी अनेक राष्ट्रीय महत्व के कानूनों को स्वीकार करने में अनावश्यक और कष्टकर देरी करने वाला बन जाता है। इससे लोकमत-ग्रहण का शिक्षण-महत्व भी नष्ट हो जाता है। जब नागरिक सार्वजनिक मामलों में अपनी रुचि नही दिखाते तो प्रत्यक्ष कानून-निर्माण एक खिलवाड़ बन जाता है।

६. जब जनता स्वीकारात्मक मत-दान करती है और कानून का समर्थन थोड़े मे बहुमत द्वारा हो जाता है, जैसा कि १९३८ और १९४७ में क्रमशः स्विस फैडरल पीनलकोड और फैडरल इकानामिक आर्टीकिल्स के प्रश्न पर दोनों अवस्थाओ में केवल ५३ प्रतिशत के बहुमत से हुआ था, तो कानून का नैतिक आधार उस अवस्था की अपेक्षा अधिक क्षतिग्रस्त होगा जबकि व्यवस्थापिका सभा मे उस विषय पर लगभग समान राय विभाजित होगी। जिन देशों में प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभाएं हैं, वहा के स्वीकृत कानून को मजूर किया जाता है, क्योंकि यह "जनता की इच्छा के सामान्य ढंग" से नियमतः आता है और बहुत कम लोग यह जानने की चिंता करते हैं कि उसे स्वीकार करने वाला कितना बहुमत था। किंतु जब यह लोकमत के लिए जाता है, तो हर कोई उसे स्वीकार करने वाले बहुमत को जानने का इच्छुक होता है। जिन्होने उसका विरोध किया था, वे खुलेतौर पर विरोध जारी रखते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात के अनुभव से कष्ट होता है कि वे नाममात्र के बहुमत द्वारा पराजित हुए हैं।

७. अन्ततः, इस मत में कोई न्याय नही कि प्रत्यक्ष कानून-निर्माण दल-प्रणाली की बुराइयों को कम करता है। वस्तु-स्थिति यह है कि राजनीतिक दल निरतर मत-दान होने की अवस्था में अधिक सक्रिय हो जाते हैं। इस प्रकार, लोकमत-ग्रहण राजनीतिक स्पर्द्धा, और दलीय भावना की वृद्धि करता है जो पार्लामेंट्री रूप की सरकार में, अधिकार-सपन्न दल के लिए अवरोधात्मक सिद्ध हो सकता है। इतना कह चुकने पर, लास्की के मत से सहमत होना पड़गा कि प्रत्यक्ष कानून-निर्माण हमारी समस्याओं को हल करने में कोई विशेष योगदान नही करता।

आरम्भक (The Initiative).—लोकमत-ग्रहण का उद्देश्य व्यवस्थापक-मडल द्वारा विचारित और स्वीकृत उपायों को जनता के न्यायार्थ सौंपना है। किंतु प्रत्यक्ष कानून निर्माण की इस विधि को, इसके समर्थकों ने भी, जनतात्रिक सरकार की बुराइयों का इलाज नही माना। यह कहा जाता है कि नागरिको का यह स्वाभाविक अधिकार होना चाहिए कि वे व्यवस्थापक-मंडल को ऐसे कानूनों का प्रस्ताव करें जिन्हें वे चाहते हैं। नागरिकों द्वारा कानून-निर्माण की तजवीज करने की हम इस विधि को आरम्भक (Initiative) कहते हैं। फलस्वरूप, आरम्भक की ऐसी विधि के रूप

जा सकती है जिससे संविधान में निर्दिष्ट मत-दाताओं की एक संख्या व्यवस्थापिका सभा को आवेदन कर सकती है और कह सकती है कि वह अमुक विशिष्ट प्रकार के कानून पर विचार करे और उसे स्वीकार करे।

आरम्भक दो रूप भी ग्रहण कर सकता है: सूत्रबद्धात्मक (Formulative), और सामान्य। जब सामान्य शर्तों में मांग उपस्थित की जाती है, तो व्यवस्थापिका सभा का यह दायित्व होता है कि वह नागरिकों की वांछित संख्या द्वारा इच्छित रूप में कानून का मसौदा बनाए, उस पर विचार करे और उसे स्वीकार करे। किंतु इस पर जनता के समर्थन की शर्त निश्चित रूप से लागू होती है। यदि यह प्रस्ताव सब दृष्टियों से पूर्ण, एक विधेयक के रूप में होता है, तो व्यवस्थापक-मंडल का यह कर्तव्य होता है कि वह ज्यों-का-त्यों उस पर विचार करे। इस प्रकार की कार्य-विधि को सूत्रबद्ध आरम्भक (Formulative Initiative) कहते हैं।

स्विट्जरलैंड में, संघीय और प्रांतीय आरम्भक पाया जाता है। संवैधानिक संशोधन के लिए ५० हजार नागरिकों द्वारा आरम्भक का आवेदन-पत्र होना चाहिए। साधारण कानूनों के लिए संघीय आरम्भक की विधि नहीं है। स्विस ज़िलों में संवैधानिक तथा साधारण कानूनों दोनों पर आरम्भक की विधि लागू होती है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में संवैधानिक संशोधन के लिए आरम्भक १४ राज्यों में स्वीकृत है और साधारण कानूनों के लिए १९ राज्यों में।

आरम्भक के लाभ (Advantages of Initiative):—लोकमत-ग्रहण और आरम्भक के पक्ष में युक्तियां प्रायः एक जैसी हैं। किंतु चूंकि लोकमत-ग्रहण के लागू होने की अवस्थाएं भिन्न हैं, इसलिए इस पर पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

यह कहा जाता है कि जनता सचाई के साथ शासन नहीं कर सकती, यदि वह प्रतिनिधियों के द्वारा कार्य करे। नागरिक की व्यक्तिगत इच्छा अपनी निजी वाणी और मत के सिवा वस्तुतः व्यक्त नहीं हो सकती, क्योंकि, प्रतिनिधि, जाने या अनजाने, उसका गलत प्रतिनिधित्व कर सकता है। लोकमत-ग्रहण लोगों को केवल नकारात्मक अधिकार प्रदान करता है। दूसरी ओर, आरम्भक (Initiative) उन्हें कानून बनाने का निश्चित अधिकार प्रदान करता है जिसकी उन्हें वस्तुतः आवश्यकता होती है।

प्रत्यक्ष कानून-निर्माण के समर्थकों का मत है कि व्यवस्थापिका सभाएं बहुधा जनता की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन होती हैं। प्रतिनिधि बहुधा लोकमत से पिछड़े होते हैं। इसके अतिरिक्त, वह राष्ट्र के कल्याण की ओर ध्यान देने की बजाय दलीय-कार्यक्रम को पूर्ण करने से अधिक संबंधित होते हैं। यदि ऐसा है, तो यह तर्क किया जाता है कि "जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों की संस्था स्वतः जनता के लिए ही क्यों द्वार बंद कर देती है और वह केवल अपनी मनपसंद तजवीजों की, जिनसे जनता व्यवहार कर सके, क्यों मंजूरी देती है?" जनता द्वारा प्रेरित कानून में लोकमत का बल होता है और इसीलिए, उसे अधिक पवित्र माना जाता है और उसका स्वेच्छापूर्वक एवं तत्परता से पालन होगा। अंततः, आरम्भक राजनीतिक अशांति की संभावनाओं को कम करता है, क्योंकि इसमें अनिवार्य समझे जाने वाले कानून-निर्माण को अनिश्चित रूप से स्थगित नहीं किया जाता।

आरम्भक की हानियां (Disadvantages of Initiative):—लोकमत-

ग्रहण की तरह, आरम्भक भी व्यवस्थापका-मडल की अधिकार-शक्ति और उत्तरदायित्व को कम करता है। कानूनों को बनाना, विशेषकर विधेयकों का मसौदा बनाना, जटिल एवं कठिन कार्य है। इसके लिए विशिष्टता की आवश्यकता है, जो व्यवस्थापिका सभा के सदस्य अनुभव से प्राप्त करते हैं। एक औसत आदमी से आशा नहीं की जा सकती कि वह जनता द्वारा प्रेरित होने की दशा में विधेयकों को सब प्रकार की परिभाषाओं से परिचित होगा। आरम्भक विधि के विधेयकों में प्रयुक्त भाषा बहुधा अत्यधिक दोषपूर्ण और अनेकार्थक होती है। इसलिए, प्रत्यक्ष कानून-निर्माण की यह विधि कानून-निर्माण की प्रेरणा को ज्ञान से अज्ञान में बदल देती है। स्विट्जरलैंड के प्रांतों में, जहां आरंभक विधि का अधिक स्वतंत्रता-पूर्वक प्रयोग किया जाता है, इससे ऐसा कोई सुधार नहीं किया गया जो व्यवस्थापक-मडल द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता था।

Suggested Readings

Bryce, J.,—Modern Democracies Vol. I, Chap. XIX, Vol. II, Chaps. LXIV—LXV

Kapur. A. C.—Government of Switzerland, Chap. VII.

Laski, H. J.—Grammar of Politics, pp. 308-340.

Lees-Smith, H. B.—Second Chambers in Theory & Practice.

Marriot, J.A.R.—Second Chambers (1927)

Mill, J. H.—Represenlive Government Chaps IX-XIII.

Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chaps. XXIII, XXVII.

अध्याय : : १८

प्रबंधकारी

(The Executive)

सरकार का दूसरा अंग या विभाग प्रबंधकारी है। प्रबंधकारी शब्द का प्रयोग सरकार के उन सब अधिकारियों का पद-उल्लेख करने के लिए किया जाता है, जिनका काम कानूनों को क्रियाशील करना है। यह वह कीली है, जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासन यंत्र घूमता है और यह प्रशासन में नियुक्त सब अधिकारियों को समाविष्ट करता है। डा. फाईनर (Dr. Finer) कहते हैं कि पार्लमेंट तथा सब न्यायालयों जैसे अन्य प्रार्थियों के अपने-अपने अंश प्राप्त करने के बाद प्रबंधकारी सरकार के अन्तर्गत अवशिष्ट उत्तराधिकारी (Residuary Legatee) है। इस विस्तृत अर्थ में प्रबंधकारी में सब प्रकार के अफसर—सरकार के सर्वोच्च नेता तथा उसके मंत्रियों सहित—बड़े और छोटे, जिनका संबंध सार्वजनिक मामलों से है, समाविष्ट होते हैं। इस प्रकार यह "उन सब कृत्यकारियों और संस्थाओं के समूह या योग को, जिनका संबंध राज्य की इच्छा, जो कानून के रूप में सूत्रबद्ध और अभिव्यक्त की जाती है, क्रियाशील करता है।"

किंतु राजनीतिक विज्ञान में प्रबंधकारी शब्द को उसके संकुचित अर्थ में प्रयोग करने की प्रथा है जो राज्य के मुख्य प्रबंधकारी नेता और उसके परामर्शदाताओं तथा मंत्रियों का ही केवल संकेत करता है। इस प्रसंग में, ग्रेट ब्रिटेन के प्रबंधकारी से आशय रानी एलिजाबेथ द्वितीय और उसके मंत्रियों से है। भारत में, यह गणतंत्र के प्रधान सहित पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सब मंत्रियों से है। अमरीका में प्रैसिडेंट और उसके सचिवों से प्रबंधकारी का निर्माण होता है। प्रबंधकारी के इस भाग का मुख्य कर्तव्य यह देखना है कि कानूनों को समुचित ढंग से लागू किया जाता है। तिस पर भी, उन्हें वस्तुतः प्रचलित करने वाले कुछ कृत्यकारी होने चाहिएं। जो लोग कानूनों को लागू करते हैं उन्हें स्थायी नागरिक (Permanent Civil Service) सेवा के सदस्य कहा जाता है। निःसंदेह, दोनों ही सरकार के एक ही विभाग के अखंड अंश हैं। किंतु पहले का कर्तव्य कानूनों के अनुसार नीति का आरम्भक करना है और देखना है कि उस नीति का ठीक-ठीक पालन होता है, जब कि स्थायी नागरिक सेवा के सदस्यों को वस्तुतः उसे क्रियान्वित करना होता है; उनका संबंध नीति-निर्माण के साथ नहीं होता। उनका कृत्य नीति को लागू करना है।

वास्तविक और नाममात्र प्रबंधकारी (Real and Nominal Executive) :—प्रबंधकारी पर विचार करते समय हमें वास्तविक प्रबंधकारी और नाममात्र प्रबंधकारी के अंतर को भूलना नहीं चाहिए। प्रबंधकारी का स्वरूप पूर्णतया सरकार के रूप पर निर्भर है। पार्लमेंट्री सरकार के उदय से पूर्व वास्तविक और नाममात्र प्रबंधकारी के बीच कोई विशेषता नहीं थी। किंतु पार्लमेंट्री सरकार में राज्य के प्रमुख प्रबंधकारी को केवल नाममात्र के अधिकार होते हैं। वास्तविक प्रबंधकारी

अधिकार मन्त्रि-परिषद् के पास होते है। इस प्रकार का रूप ब्रिटिश महारानी और फ्रांसीसी प्रेसिडेंट का है। भारतीय गणतंत्र का प्रधान भी राज्य का नाममात्र का प्रबंधकारी नेता है। असली प्रबंधकारी मंत्रि-परिषद् है। प्रधानीय (Presidential) रूप की सरकार में नाममात्र का प्रबंधकारी मुखिया नहीं होता। प्रेसिडेंट किसी भी सरकार के प्रबंधकारी कार्य के लिए अपनी इच्छा मे स्वतंत्र होता है और वह वास्तविक अधिकार-शक्ति का प्रयोग करता है। जब सरकार का रूप निरंकुश राजतंत्र या तानाशाही होता है, तो वास्तविक और नाममात्र प्रबंधकारी के बीच विशेषता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

अधिकार-शक्ति का केंद्रीकरण, प्रबंधकारी की प्रथम आवश्यकता (Concentration of authority the first requisite of the Executive):—व्यवस्थापक मंडल का संगठन इस सिद्धांत पर होता है कि एक मस्तिष्क से दो अच्छे होते है अथवा कौंसिल-सदस्यों के मेल मे बुद्धिमानी का वास है। प्रबंधकारी का कृत्य विचार-विनिमय नहीं है, प्रत्युत व्यवस्थापक मंडल द्वारा व्यक्त राज्य की इच्छा को प्रचलित करना तथा न्यायालयों के निर्णयो का पालन करना है। इसलिए, इस प्रकार के कृत्यो को योग्यतापूर्वक पूर्ण करने के लिए मुख्य आवश्यकता अविलंब निर्णय करना, उद्देश्य की सचाई, कार्य करने की शक्ति और कभी-कभी कार्यविधि की गुप्तता है। यह कहना व्यर्थ है कि जब अधिकार-शक्ति कुछ व्यक्तियों में समान रूप से विभाजित हो तो इसे प्राप्त करना कठिन होता है। इस प्रकार, अधिकार-शक्ति का केंद्रीकरण प्रबंधकारी की प्रथम आवश्यकता है। बहुसंख्या की प्रबंधकारी उत्तरदायित्व को नष्ट करती है, अनावश्यक रूप में समय नष्ट करती है, और विशेष रूप से आपातों के समय बहुत खतरनाक होती है। वुल्से (Woolsey) कहते है, "एक मुखिया के लाभ स्पष्ट है : वह सरकार मे एकता और योग्यता लाने की क्षमता रखता है, और अकेला होने के कारण वह या उसके मंत्रिगण उत्तरदायी होते है, जहां दो प्रधान होंगे, वह यदि भिन्न दलो के होंगे, तो एक-दूसरे के अवरोधक होंगे; और यदि उसी दल के होंगे तो ईर्षालु और प्रतिद्वंद्वी होंगे।"

संक्षेप में, प्रबंधकारी इस सिद्धांत पर संगठित की जाती है कि दो अच्छे सेनानायकों की अपेक्षा एक बुरा सेना-नायक अच्छा है। जब प्रबन्ध शक्ति बहुतों के [illegible] शक्ति, उद्देश्य की एकता और स्वतंत्रता का अभाव होता है। इसलिए [illegible] यह उपयोगी है कि कोई एक व्यक्ति [illegible] निर्णयात्मक और [illegible] अधिकार-शक्ति का प्रयोग कर सके। [illegible] वास्तविक [illegible] है, किंतु प्रधान मंत्री सब समान अधिकार [illegible] और [illegible] उनसे भी अधिक है। वह [illegible] और [illegible] विलक्षण अधिकार-शक्ति प्राप्त है [illegible] के सम्पूर्ण निरीक्षण और [illegible] कार्य करते है, जिनका [illegible] के प्रति मन्त्रि-परिषद् के [illegible] उत्तरदायित्व [illegible] ऐक्यता को सुदृढ़ करता है, [illegible] प्रेसिडेंट [illegible] प्रबंधकारी [illegible] मंडल उसके निर्देश और [illegible] कार्य करता [illegible]।

मुख्य प्रवंधकारी को चुनने की विधि
(Mode of Choice of the Chief Executive)

राज्य के मुख्य प्रवंधकारी नेता को चुनने की चार भिन्न विधियां प्रचलित हैं : (१) वंशागत विधि, (२) निर्वाचन द्वारा नियुक्ति, (३) व्यवस्थापक मंडल द्वारा चुनाव, और (४) चुनाव या नामनिर्देशन ।

वंशागत प्रवंधकारी (Hereditary Executive) :—वंशागत प्रवंधकारी का राजतंत्री रूप भी सरकार से संवद्ध है। इसमें पद की अवधि आजीवन है और उत्तराधिकार ज्येष्ठाधिकार-कानून द्वारा शासित होता है। वंशागत राजतंत्र ऐतिहासिक अवस्थाओं का परिणाम है और इस समय केवल पुराने देशों में पाया जाता है। आधुनिक जनतांत्रिक धारणा इसे अजनतांत्रिक ठहराती है और यह संदेहपूर्ण है कि वंशागत प्रवंधकारी का सिद्धांत भविष्य में ग्रहण भी किया जायगा या नहीं। यह सत्य है कि इस प्रकार के प्रवंधकारी में कतिपय प्रकट लाभ होते हैं,[1] किंतु अव तो इसे भूतकाल का अवशेष भर ही समझ लेना श्रेयस्कर होगा।

निर्वाचन प्रवंधकारी : प्रत्यक्ष निर्वाचन (Elected Executives : Direct Election) :—निर्वाच्य प्रवंधकारी के दो रूप हो सकते हैं—प्रत्यक्ष लोकनिर्वाचन और निर्वाचक-मंडल द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव। जनता के प्रत्यक्ष मत द्वारा प्रवंधकारी का चुनाव वंशागत विधि के विपरीत सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करता है। लोक-निर्वाचन के अन्तर्निहित यह विचार है कि प्रवंधकारी को जनता का विश्वास प्राप्त होना चाहिए। जर्मनी के वीमार संविधान (Weimar Constitution) के अनुसार प्रैसिडेंट प्रत्यक्षतः जनता द्वारा निर्वाचित होता था। कुछेक दक्षिण अमरीकी राज्यों के प्रवंधकारी प्रत्यक्ष लोक-मत द्वारा निर्वाचित होते हैं, यही वात संयुक्त-राष्ट्र अमरीका की इकाइयों के प्रवंधकारी और स्विस प्रांतों के स्थानीय प्रवंधकारी के विषय में भी सत्य है। अमरीका में संविधान के अनुसार प्रैसिडेंट का अप्रत्यक्ष निर्वाचन होना चाहिए, किंतु परंपरा ने इस समय इसे प्रायः प्रत्यक्ष वना दिया है।

प्रवंधकारी के प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन के अनेक लाभ वताए जाते हैं। उनमें मुख्य लोक-शासन के आधुनिक विचारों के साथ एक-स्वरता वताया जाता है क्योंकि यह प्रवंधकारी नेता का उत्तरदायित्व जनता को सौंपता है। वस्तुतः, यह जनता की सरकार होती है। जनता उस पद के लिए संवधित उम्मीदवारों के गुणों की परख करती है और अन्ततः उस व्यक्ति का चुनाव होता है, जिसकी योग्यता और विवेक में उसे विश्वास होता है। आगे चल कर यह मत प्रकट किया जाता है कि प्रत्यक्ष लोक-निर्वाचन जनता की राजनीतिक शिक्षा का सुव्यवस्थित साधन है।

किंतु इस लोक-निर्वाचन की विधि के विषय में कुछ गंभीर आपत्तियां भी हैं। जनसाधारण राज्य के मुख्य प्रवंधकारी नेता सरीखे उच्चतम व्यक्ति के चुनाव का अयोग्य निर्णायक होता है। उसे लोक-नेता सहज ही प्रभावित कर लेते हैं और संभव है लोक-निर्वाचन अच्छा न हो। राज्य के मुख्य प्रवंधकारी नेता के वारंवार के निर्वाचन देश में राजनीतिक

1. Refer to Ch. IX, Advantages of the hereditary monarchy.

खिचाव और उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। दलों द्वारा राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा, दलीय गठ-जोड़ तथा बहुधा भ्रष्टाचार के उपायों का आश्रय लेने में सर्वसाधारण का नैतिक-पतन हो जाता है।" जैसे ही एक उम्मीदवार निर्वाचित हो जाता है, तो उसे सफल बनाने वाले जनता में प्रचार के लिए निकल पड़ते हैं। दलीय-भावना का विस्तार हो जाता है और निर्वाचन समयों पर यह बहुधा उग्र रूप धारण कर लेती है: और यहा तक भी हो सकता है कि विदेशी गठ-जोड़ भी हो जायं।"[1] हैमिल्टन भय प्रकट करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष चुनाव "समाज को असाधारण और हिंसक गति-विधियों से उद्वेलित कर देगा और फलरूप तीव्रता और उग्रता पैदा हो जाती है," और उससे सार्वजनिक शांति नष्ट हो जायगी।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election):—अप्रत्यक्ष निर्वाचन अधिक सर्वमान्य है। इसमें जनता द्वारा निर्वाचित निर्वाचक-मंडल निर्वाचन करता है। सिद्धांततः, संयुक्त राष्ट्र अमरीका में प्रेसिडेंट का चुनाव निर्वाचक-मंडल द्वारा होता है, जिसमें प्रत्येक राज्य के उतने ही प्रतिनिधि होते हैं, जितने कि कांग्रेस के दोनों सदनों में। अप्रत्यक्ष चुनाव की यह विधि प्रत्यक्ष चुनाव की उग्रता, तीव्रता और उथल-पुथल से विमुक्ति के लाभ का दावा करती है। मुख्य प्रबंधकारी नेता के चुनाव को ऐसे लोगों के हाथों में छोड़ दिया जाता है, जो जनता की अपेक्षा निर्णय करने की अधिक अच्छी योग्यता रखते हैं। जब अंतिम चुनाव का भार प्रतिनिधियों की छोटी-सी संख्या पर अवलंबित हो जाता है, तो विवेकपूर्ण निर्वाचन की संभावना हो जाती है। हैमिल्टन का मत है, "यह उचित है कि तात्कालिक चुनाव ऐसे मनुष्यों द्वारा किये जाने चाहिए जो उस पद की योग्यताओं का विश्लेषण करने की उच्चतम योग्यता रखते हो। जन-साधारण में से उनके साथी नागरिकों द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों की छोटी-सी संख्या इस प्रकार की जटिलतापूर्ण जांच के लिए आवश्यक सूचना और विवेक द्वारा संपन्न हो सकती है।"

किंतु यह सब सिद्धांत मात्र ही है। चुनाव नाम को ही अप्रत्यक्ष होते हैं। जिन तात्कालिक प्रतिनिधियों के निर्वाचक-मंडल का संघटन होता है, वह स्वतंत्र आचरण और विवेक का प्रदर्शन नही कर पाते। प्रायः प्रत्येक देश में, जहां राजनीतिक दल अत्यधिक संगठित होते हैं, निर्वाचितों को इस दलीय-प्रतिज्ञा पर चुना जाता है कि वे दल के उम्मीदवार को मत-दान करेंगे। उन्हें एक निश्चित आदेश होता है, और इस प्रकार, वे केवल दल के एजेंट मात्र होते है, जिन्हें अपने मतों का प्रयोग करने की निजी कोई इच्छा नही होती। अमरीका में प्रेसिडेंट का निर्वाचन न केवल सक्रिय रूप में प्रत्यक्ष बन गया है, प्रत्युत इसने महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रदर्शन का रूप धारण कर लिया है।" यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है, जिसमें व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाओं, वर्गों के स्वार्थों तथा समूचे देश के भाग्य को दांव पर लगाया जाता है।" अमरीका में व्हाईट हाउस में प्रेसिडेंट से लेकर एक जनसाधारण तक उसमें हर कोई अपनी दिलचस्पी प्रकट करता है। यह एक महत्तम घटना होती है, जिसमें समूचे राष्ट्र में प्रचार-आंदोलन किया जाता है और प्रकाशन, सभाओं, "प्रतिनिधियों को प्रेरणा करने में" तथा "सफलता प्राप्ति के लिए" लाखों डालरों का खर्च किया जाता है। इस प्रकार मुख्य

1 *Gilchrist, op. cit., p. 307.*

प्रबंधकारी नेता के अप्रत्यक्ष चुनाव की जिस योजना का आशय था, वह वस्तुतः प्रत्यक्ष चुनाव की विधि बन गई है।

व्यवस्थापक-मंडल द्वारा निर्वाचन (Election by the Legislature) :— अप्रत्यक्ष चुनाव का एक अन्य प्रकार व्यवस्थापक-मंडल द्वारा निर्वाचन है। भारतीय संविधान आदेश करता है कि गणतंत्र के प्रधान का चुनाव निर्वाचक-मंडल द्वारा होगा, जो पार्लामेंट के दोनों सदनों तथा राज्यों की व्यवस्थापिका-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा संघटित होगा।[1] १८७५ के संविधान के अनुसार, फ्रांस का प्रैसिडेंट नेशनल असेंबली द्वारा निर्वाचित होता था, जो व्यवस्थापिका सभा के दोनों सदनों—सीनेट और चेंबर आफ डेंपुटीज़—द्वारा संघटित होती थी, और वर्सेलीज में जिसका संयुक्त अधिवेशन होता था। स्विट्जरलैंड में संघीय प्रबंधकारी कौंसिल संघीय व्यवस्थापक-मंडल द्वारा चुनी जाती है।

व्यवस्थापिका-सभा द्वारा निर्वाचन की इस अवधि का अन्तर्निहित विचार यह है कि निर्वाचन उन लोगों द्वारा किया जाता है, जो अपनी निर्णय-शक्ति का प्रयोग करने के लिए सार्वजनिक प्रश्नों का निकटतम ज्ञान रखने के कारण अधिकतम योग्यता से संपन्न होते हैं। इस विधि के समर्थकों का मत है कि व्यवस्थापिका सभा के सदस्य मत-दाताओं के सामान्य समूह अथवा मध्यस्थ निर्वाचकों द्वारा संघटित निर्वाचक-मंडल की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक वुद्धिमत्ता का चुनाव करेंगे। आगे चल कर यह भी कहा जाता है कि इस विधि से व्यवस्थापक तथा सरकार के प्रबंधकारी विभागों के बीच वृहत्तर सम-स्वरता और सहयोग हो पाता है और दोनों के बीच संघर्ष की संभावना नहीं रहती। जान स्टुअर्ट मिल का कथन है, "पार्लामेंट में जिस दल का बहुमत होगा, इसके बाद वह नियमतः अपने ऐसे निजी नेता को नियुक्त करेगा, जो राजनीतिक जीवन के उच्चतम व्यक्तियों में से एक हो।"

किंतु व्यवस्थापिका सभा द्वारा प्रबंधकारी नेता का निर्वाचन शक्तियों की पृथकता के सिद्धांत का निषेध है। जब राज्य का मुख्य प्रबंधकारी नेता व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचित होता है, तो वह उसका मनोनीत-व्यक्ति बन जाता है, और इसके कारण राजनीतिक सौदेबाजी, गठ-जोड़ और स्वार्थ-साधन हो सकते हैं। इस पर जज स्टोरी (Judge Story) ने टिप्पणी करते हुए कहा है, "किसी भी महत्वाकांक्षी उम्मीदवार की शक्ति में यह होगा कि वह पदासीन होकर पारितोषिक अथवा संरक्षण और सम्मान के अन्य पदों द्वारा मत-दाताओं की बहुसंख्या को चुपके-चुपके किंतु अवरोधहीन रूप में प्रभावित कर ले और इस प्रकार अपने साहसी और सिद्धांत रहित आचरण से निर्वाचन करा ले, और देश के उच्चतम, पवित्रतम तथा सर्वाधिक विज्ञ-जनों का बहिष्करण हो जाय।"[1] यह प्रबंधकारी की स्वतंत्रता को क्षत करता है और उसे व्यवस्थापक-मंडल की इच्छा के अधीन कर देता है। इसके अतिरिक्त, वह व्यवस्थापिका सभा के कृत्यों में भी बुरी तरह हस्तक्षेप करता है, विशेष रूप से महान और उत्तेजनापूर्ण प्रतिरोधी अवसरों पर, जिनके फलस्वरूप पार्लामेंट्री समय और शक्ति का अनावश्यक व्यय होता है, और

1. Article 54.
1. As quoted in Garner op. cit., p. 693.

"अनेक ऐसे महत्वपूर्ण उपायो को दलीय-रूप प्रदान किया जाता है, जो वस्तुतः दल-हीन स्वरूप के होते हे।"

मनोनीत प्रबंधकारी (Nominated Executive) :—प्रमुख प्रबंधकारी नेता के चुनाव या नाम निर्देशन द्वारा सहायक सरकारो के लिए नियुक्तिया की जाती हैं जो प्रभु-सत्ता-सपन्न राज्यो की परिभाषा के अन्तर्गत नही आती। नामनिर्देशन या चुनाव सहायक अफसरो की अवस्था में भी हो सकता है। १९४७ में भारत की स्वतत्रता से पूर्व भारत के गवर्नर जनरल को ब्रिटिश-ताज मनोनीत करता था। नि.सदेह, यह महत्वहीन है कि मनोनीत प्रवधकारी नाममात्र का है, जैसा कि ब्रिटिश उपनिवेशों में है, अथवा वास्तविक है, जैसा कि १९४७ से पूर्व भारत के गवर्नर-जनरल के विषय में था। इस निर्वाचन विधि का मुख्य गुण यह है कि नियुक्तिया किसी विशेष उद्देश्य से की जा सकती है; कर्मचारियो को उनके व्यक्तिगत गुणों तथा पूर्व-कार्यों और उन्हें सौपे जाने वाले काम के महत्व को दृष्टि मे रखते हुए चुना जाता है। भारत के गवर्नर-जनरल के रूप मे लार्ड माऊंटबेटन की नियुक्ति को इस विषय के उदाहरण रूप में पेश किया जा सकता है। किंतु इस विधि की मुख्य दुर्वलता यह है कि मनोनीत प्रबंधकारी नेता अपनी स्वतंत्र निजी नीति का पालन नही कर सकते। वह केवल मात्र एजेंट होते है, और फलस्वरूप, उच्च-अधिकार-शक्ति के अधीन होते हैं। श्री सी. राजगोपालाचार्य द्वारा भारत में अतिम गवर्नर-जनरल का पद-ग्रहण करने से पूर्व, भारत के गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित नीति का पालन करना होता था।

प्रबन्धकारी की पद-अवधि
(The Tenure of the Executive)

वंशागत प्रवधकारी प्रणाली म प्रवधकारी नेता की पद-अवधि आजीवन होती है। किंतु निर्वाचित प्रबधकारी की दशा मे यह राज्य-राज्य में भिन्न रूप की है अर्थात् एक से लेकर सात वर्ष की अवधि तक। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका के अधिकाश राज्यो मे अवधि एक या दो वर्ष है। अमरीका का प्रेसिडेंट चार वर्ष के लिए चुना जाता है, जब कि स्विस प्रेसिडेंट की अवस्था में यह अवधि केवल एक वर्ष है। भारत का प्रधान पाच वर्ष की अवधि के लिए इस पद को ग्रहण करता है। ब्रिटिश साम्राज्य मे मनोनीत प्रबंधकारियों की दशा में गवर्नर जनरल और गवर्नरों की पद-अवधि सामान्यत पाच वर्ष है।

लघु अवधि (Short Tenure)—पद की लघु अवधि का समर्थन इसलिए किया जाता है कि मुख्य प्रवधकारी को, प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षत, जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया जाय। जितनी ही पद-अवधि लघु होगी, उतनी ही यहा शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध सुरक्षा का 'साधन' होगी। यह विश्वास जनतान्त्रिक देशों मे सदा ही व्याप्त रहा है कि "दीर्घ पद-अवधि के प्रवधकारी अपने पदो को आकस्मिक विप्लव के द्वारा राजतत्री पद-अवधियों में बदल लेने की प्रबल प्रवृत्ति से अनुप्राणित हो जाते हैं, जैसा कि नेपोलियन ने अपनी दस वर्ष की अवधि को पहले तो आजीवन में बदला, और उसके बाद साम्राज्यी पद में बदल लिया था।" किन्तु एक या दो वर्ष जैसी पद की अत्यधिक लघु-अवधि प्रयोगकारी नही है। हेमिल्टन का मत था, यह मानवी स्वभाव का सामान्य सिद्धांत है

मनुष्य "किसी पद-अवधि को जिस दृढ़ता या संदिग्धता के अनुपात से ग्रहण किये रहता है, उसमें उसी अनुपात से वह रुचि लेता है।" प्रशासन में स्थिरता और सामंजस्य लाने के लिए प्रबंधकारी को अपनी नीति का अनुसरण करने के हेतु पर्याप्त समय देना ही होगा। यह स्पष्ट है कि यदि एक आदमी केवल एक या दो वर्ष के लिए पद ग्रहण करता है तो वह अपनी नीति का पालन नहीं करा सकता। चाहे कितनी ही अच्छी नीति क्यों न हो, यदि वह परिपक्व होने से पूर्व नये हाथों में चली जाती है, तो उसके लाभों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक नवागंतुक पुरानी नीति का अनुसरण करने की बजाय अपनी निजी नीति का अनुकरण करना पसन्द करेगा। वस्तु-स्थिति यह है कि जब पद-अवधि लघु होगी, तो कोई भी प्रबंधक-नेता नई नीति का खतरा नहीं उठाएगा। हैमिल्टन का कथन है कि इन अवस्थाओं में, अधिकांश मनुष्यों से अधिक-से-अधिक "अच्छाई करने के निश्चित गुण की जगह बुराई न करने के नकारात्मक गुण" की आशा की जा सकती है। इस अवस्था का कोई साहसपूर्ण कदम उठाने के लिए प्रेरणा का सर्वथा अभाव होगा।

बहुधा यह होता है कि पद ऐसे लोगों द्वारा अधिकृत हो जाता है जो प्रबंधकारी अनुभव से शून्य होते हैं। लोक-मत द्वारा निर्वाचित नेता सामान्यतया प्रशासन की कला में अपरिपक्व होते हैं। जितने समय में वह अपने कर्त्तव्यों के साथ कुछ परिचित होने लगते हैं, उसी बीच उनकी पद-अवधि का संक्षिप्त काल समाप्त हो जाता है और उन्हें उस पद को रिक्त करना आवश्यक हो जाता है। परिणाम यह होता है कि उसकी जगह एक अन्य नौसिखिया आता है, जो अपने पूर्वाधिकारी के समान ही अनुभव-शून्य होता है। अन्ततः, लघु पद-अवधि का आशय अनिवार्य लोक उत्तेजना तथा क्षुब्धता के वातावरण में बहुधा मुक्त निर्वाचनों का होते रहना है।

निष्कर्ष—इसलिए, प्रबंधकारी नेता की पद-अवधि न तो बहुत लघु होनी चाहिए और न ही बहुत लम्बी। अत्यधिक लघु पद-अवधि का कोई परिणाम नहीं होता और अत्यधिक दीर्घ-अवधि के कारण शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है। चार से पांच वर्ष की अवधि श्रेयस्कर हो सकती है। यह प्रशासन में शक्ति, स्थिरता और योग्यता का संघटन करने के लिए पर्याप्त रूप में दीर्घ है। यह लोकमत के प्रति प्रबंधकारी के उत्तरदायित्व का भी भरोसा दे सकती है। चॉन्सलर कैंट का मत है कि यह अवधि युक्तिसंगत रूप में पर्याप्त लंबी है, जिसमें प्रबंधकारी "सौंपे गए विश्वास का पालन करने में स्वतन्त्रता तथा दृढ़ता का अनुभव कर सकता है और जिसमें वह अपनी प्रशासन विधि को किसी रूप में परिपक्वता एवं स्थिरता प्रदान कर सकता है।"[1] छः या सात वर्ष की अवधि अनुकूल नहीं है। इसे अनुचित रूप में दीर्घ माना जाता है "जो उत्तरदायित्व छः या सात वर्षों में लघुतर अन्तरों पर लागू नहीं किया जा सकता, वह अपने अधिकांश प्रभाव को नष्ट कर लेता है।"

पद के लिए पुनर्योग्यता (The Re-eligibility for office)—पद की दीर्घ-अवधि पुनर्योग्यता की आवश्यकता को नष्ट कर देती है। किन्तु जब पद-अवधि अल्प हो, तो प्रबंधकारी नेता की पुनर्योग्यता का औचित्य स्पष्टतया आवश्यक हो जाता है। इस चलन के विषय में भिन्न रूपता भी है। कुछ लातीनी अमरीकी राज्यों में संविधान पुनः-निर्वाचन

1. As quoted in Garner, op. cit, p. 698.

की मनाही करता है। अर्जन्टाइना, ब्राज़ील और चिले में एक विशिष्ट अवधि के अन्तर पर चुनाव के लिए दूसरी वार खड़ा हुआ जा सकता है। अमरीका का संविधान, वर्तमान संशोधन काल तक, प्रेसिडेंट के पुनः निर्वाचन के विषय में मौन था। वह केवल मात्र यही आदेश करता था कि प्रेसिडेंट का चुनाव चार वर्ष के लिए होगा। जो भी हो, प्रेसिडेंट जार्ज वाशिंगटन ने दो अवधियों तक इसे सीमित करने का दृष्टान्त उपस्थित किया था। यह प्रेसिडेंट फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट से पहले तक इसी प्रकार स्थिर रहा, जबकि उन्होंने तीसरी और चौथी वार खड़े होकर इस परम्परा को भंग किया और वह, पुनः-पुनः निर्वाचित हुए। वर्तमान में संविधान इसे निर्वाचन की दो अवधियों तक सीमित करता है। फ्रांस और जर्मनी के प्रेसिडेंट, यद्यपि सात-सात वर्ष के लिए चुने जाते थे, पुनः निर्वाचित हो सकते हैं।

एकहरी अवधि के अनेक लाभ कहे जाते हैं। कहा जाता है कि दूसरी अवधि के लिए अयोग्यता प्रबंधकारी में स्वतन्त्रता प्राप्ति की प्रवृत्ति पैदा करती है और यह राज्य के नेता की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं पर अवरोध का कार्य करती है। जो मनुष्य यह जानता है कि वह पुनः निर्वाचन की योग्यता नहीं रखता, तो वह जनता को दास नहीं बनाएगा। वह चरित्र, विवेक और कार्य की स्वतन्त्रता का प्रदर्शन करेगा। जब पुन.-निर्वाचन की स्वीकृति होती है, तो प्रबंधकारी नेता आगामी चुनाव के संघर्ष में पूर्णतया लिप्त हो जाता है। तदनुसार, वह कुछ भी नई बातें नहीं कर सकता और अपने सामान्य कर्त्तव्यों तक का लापरवाही के साथ पालन करता है। डि ताकेवलि (De Toequeville) का मत है कि जिस प्रबंधकारी को अपनी सफलता का थोड़ा भी विश्वास होगा, वह पुनः निर्वाचित होने के लिए सब संभव उपायों को प्रयोग में लायेगा। "इसकी लोगों के राजनीतिक नैतिक-पतन तथा देश-भक्ति की जगह चतुराई को स्थानापन्न करने की प्रवृत्ति होती है।"

किन्तु लोकमत इस पक्ष में है कि अल्प अवधि के लिए निर्वाचित प्रबंधकारी नेताओं का पुनः-निर्वाचन होना चाहिए। हैमिल्टन ने "दि फ़ैडरेलिस्ट" में पुन.-निर्वाचन के लाभों का सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। उनकी धारणा थी कि प्रबंधकारी का पुन.-निर्वाचन "जनता द्वारा प्रबंधकारी के उक्त चरण को युक्तिसंगत समझने की दशा में, उसके गुणों और योग्यता से होने वाले लाभ को रखने के लिए और सरकार के बुद्धिमत्तापूर्ण रूप को स्थिर रखने के लिए आवश्यक है।" पुन -निर्वाचन योग्यता की प्रणाली राज्य को ऐसे अनुभवी एवं विज्ञ मनुष्यों की सेवाएं स्थिर रखने में सशक्त बनाती है जिनके प्रति जनता को भरोसा और विश्वास होता है। पुन -निर्वाचन योग्यता से इंकार करना राज्य को बुद्धिमान् एवं अनुभवी राजनीतिज्ञों की सेवाओं से वंचित करना है। जज स्टोरी कहते हैं, "इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या हो सकती है कि जैसे हो किसी ने किसी खास विषय में कमाल हासिल कर लिया हो, उसी क्षण यह घोषणा कर दी जाय कि वह उस उद्देश्य के लिए, जिसके निमित्त वह प्राप्त किया गया था, अब प्रयोग न हो सकेगा।" जिस मनुष्य को पुन.-निर्वाचन का विश्वास होगा वह अपने हितों और कर्त्तव्य का अच्छी तरह समन्वय करेगा। पुनर्निर्वाचन की योग्यता उसे राजनीतिक क्षेत्र में ऊंचे से ऊंचा उठाती है। हैमिल्टन के शब्दों में, "पारितोषिक और ख्याति की इच्छा करना मानवी

आचरण के प्रबलतम प्रेरक भावों में एक है; और मानव जाति के प्रति अनुराग की सब से बड़ी सुरक्षा मनुष्यों के हितों का कर्त्तव्यों के साथ समन्वय करना है।" दूसरी ओर, पुनः-निर्वाचन की अयोग्यता का नियम प्रबंधकारी में अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए उस अवसर से अधिकाधिक लाभ उठाने की प्रवृत्ति पैदा करता है। प्रबंधकारी नेता "संभवतः पदावधि थोड़ी होने के करण दोनों हाथों लूट मचाने के लिए सर्वाधिक भ्रष्टाचार का प्रयोग करने में भी संकोच न करे।" अन्ततः, पुनः-निर्वाचन की योग्यता प्रशासन में स्थिरता उत्पन्न करती है। यदि पुनः-निर्वाचन होगा तो प्रशासन बिना किसी योजना या नीति के चलता रहेगा।

निष्कर्ष—जो भी हो, पुनः-निर्वाचन की योग्यता पद के अवधि-काल और शक्तियों की सीमा पर निर्भर करती है जिनका प्रबंधकारी नेता वस्तुतः प्रयोग करता है। जो कोई छः या सात वर्ष के लिए चुना गया हो, उसे निश्चय ही पुनः-निर्वाचन योग्य नहीं बनने देना चाहिए, किन्तु जो प्रबंधकारी नेता तीन या चार वर्ष के लिए चुना गया हो, उसे निश्चित रूप से अपने उत्तरदायित्व की वृद्धि के लिए दूसरी बार निर्वाचित होने देना चाहिए।

प्रबंधकारी के कृत्य (Functions of the Executive)—सर्वाधिक आधारमूलक प्रबंधकारी कृत्य वे हैं, जिनका संबंध सरकार के अत्यावश्यक कार्य-कलापों से है। आधुनिक राज्य का आकार बड़ा जटिल है और उसे असंख्य मानवी आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए यत्न करना होता है। राज्य का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत हो गया है और आधुनिक सरकारें अपने दृष्टिकोण में अधिक समाजवादी बन गई हैं। हम व्यक्तिवाद के इस पुरातन सिद्धांत से सहमत नहीं हैं कि राज्य एक आवश्यक बुराई है और इसका एकमात्र काम आंतरिक शांति और बाहरी सुरक्षा को बनाए रखना है। हमारा राजनीतिक दृष्टिकोण पूर्णतया बदल गया है। वर्तमान में राज्य को मानव-कल्याण की प्राप्ति का साधन माना जाता है। इसलिए, उसे ऐसा वातावरण बनाना होता है जिसमें इस उद्देश्य की सर्वाधिक प्राप्ति की जा सके। यदि राज्य के अस्तित्व का यह कारण है, तो उसके कृत्यों की परिभाषा करने वाली कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। जो भी हो, किन्हीं दो राज्यों के प्रबंधकारी कृत्यों में सादृश्य भी नहीं है। विस्तृत रूप में अनिवार्य कृत्यों को इस प्रकार कहा जा सकता है :—

१. **आंतरिक प्रशासन (Internal Administration)**—प्रत्येक राज्य राजनीतिक रूप में संगठित समाज है। राज्य का उद्देश्य तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक आंतरिक शांति और व्यवस्था न हो। प्रत्येक राज्य का यह सर्वप्रधान कर्त्तव्य है कि देश के अन्तर्गत शांति बनाए रहने के लिए उपाय ढूंढ़े। जो विभाग आंतरिक शांति और व्यवस्था बनाए रहने के लिए उत्तरदायी है, उसे गृह विभाग (Home Department) या आंतरिक विभाग (Department of the Interior) कहते हैं। भिन्न राज्यों में भिन्न नाम हैं।

२. **बाहरी प्रशासन (External Administration)**—सभी राज्य प्रभु-सत्ता संपन्न और स्वतन्त्र हैं। किन्तु कोई भी राज्य पूर्ण स्वतन्त्रता का सर्वथा एकाकी जीवन नहीं बिता सकता। सभी राज्यों का अस्तित्व पारस्परिक निर्भरता की अवस्थाओं

के अधीन है। पारस्परिक शाति और सुरक्षा के लिए और एक दूसरे के प्रति सब प्रकार के आक्रमणात्मक कार्यों से वचने के लिए, राज्य अपने मतभेदों का, यदि कोई हो तो, कूटनीतिक वार्तालापों द्वारा समन्वय करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि और मित्रता के लिए सधिया की जाती हैं और विदेशों में प्रतिनिधियों को नियुक्त किया जाता है। सरकार का जो विभाग विदेश सवधी कार्यों को करता है, वह विदेशी अथवा बाहरी मामलो का विभाग (Department of Foreign or External Affairs) कहलाता है। कुछ राज्यो मे प्रबधकारी की संधि करने वाली शक्ति पर उसकी व्यवस्थापिका सभा के एक या दोनो सदनो द्वारा स्वीकृति और समर्थन की शर्त लागू होती है। अमरीका में सीनेट सब सधियो का समर्थन करती है। यद्यपि व्यवस्थापिका सभा, सामान्यतया किसी देश की विदेश नीति का नियंत्रण करती है, तथापि यह विदेश विभाग के वास्तविक प्रशासन मे बहुत ही कम हस्तक्षेप करती है, क्योंकि "विदेशी मामलों की कार्यकारिता के विषय में उच्च रूप की विशेषज्ञता, सूचना विषयक गुप्तता और वैयक्तिक चातुर्य की आवश्यकता होती है।

३. प्रतिरक्षा और युद्ध (Defence & War)—प्रबधकारी का यह अनिवार्य कृत्य है कि वह राज्य की प्रदेशीय अखडता को बनाए रहे और विदेशी आक्रमण की किसी संभावना की अवस्था मे देश की प्रतिरक्षा का प्रबध करे। जो विभाग देश की प्रतिरक्षा के कार्य से सबंध रखता है और अपने सैनिक कार्यों का नियन्त्रण करता है, वह प्रतिरक्षा या युद्ध-विभाग कहलाता है। जिस समय देश युद्ध की अवस्था मे हो, इस विभाग को आतरिक प्रतिरक्षा, और युद्ध—दो विभागों मे खडित किया जा सकता है। प्रतिरक्षा और युद्ध-विभाग देश की सशस्त्र सेनाओ—स्थल, जल और नभ सेनाओ की शक्ति और सगठन का निश्चय करता है और जनरलो तथा कमाडरो की नियुक्ति करता है। ग्रेट ब्रिटेन का प्रबधकारी व्यवस्थापिका सभा से स्वतन्त्र युद्ध-घोषणा की शक्ति रखता है। अमरीका में कांग्रेस युद्ध की घोषणा कर सकती है। किन्तु प्रत्येक देश मे युद्ध काल के समय प्रबधकारी की शक्तिया अत्यधिक बढ़ जाती है।

४. आर्थिक कृत्य (Financial Functions)—सभी सरकारे अपने नानाविध कृत्यों का पालन करने के लिए प्रतिवर्ष धन की बडी भारी राशिया व्यय करती हैं। जब धन का व्यय होता ही है, तो उसे किसी साधन द्वारा प्राप्त भी करना होगा। सरकारे जनता पर टैक्स लगा कर तथा आय के अन्य साधनो से अपने खर्चों को पूरा करती हैं। यह एक प्रबंधकारी कृत्य है और जो विभाग इसके लिए उपायो और साधनो का प्रबध करता है, उसे *अर्थ-विभाग या कोषागार (खजाना) कहते हैं। यह विभाग सर्वाधिक* शक्तिशाली होता है, क्योंकि यह भिन्न विभागो को न केवल धन प्रदान करता है, प्रत्युत आय-व्यय-निरीक्षण द्वारा उनके व्ययो को नियमित एव नियंत्रित भी करता है।

५. व्यवस्थापक कृत्य (Legislative Functions)— प्रबधकारी के व्यवस्थापक कृत्य राज्य मे प्रचलित सरकार के रूपानुसार भिन्न होते हैं। प्रबधकारी को सर्वत्र इस बात का अधिकार है कि वह अपनी पार्लामेंट के अधिवेशनो को बुला सकता है, और उन्हें कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है। जिन देशो मे पार्लामेंट्री रूप की सरकार है, वहा प्रबंधकारी लोक-सभा को भग करता है और नव-निर्वाचनो का

आदेश करता है। वह आवश्यकता होने पर व्यवस्थापिका सभा के विशेष अधिवेशन भी बुला सकता है। प्रबंधकारी व्यस्वथापिका सभा को या तो अधिवेशन के आरम्भ में देश की आवश्यकताओं के विषय में आवश्यक सूचना प्रदान करता है अथवा अधिवेशन काल में समय-समय पर देता रहता है। ग्रेट ब्रिटेन में पार्लामेंट का आरम्भ राजा के भाषण से होता है, जो सामान्यतया सरकार की इच्छित नीति की अभिव्यक्ति होता है। अमरीका में प्रैसिडेंट को कांग्रेस को संदेश भेजने का अधिकार है।

पार्लामेंट्री रूप की सरकार में प्रबंधकारी व्यवस्थापिका सभा को अत्यावश्यक नेतृत्व का अंश प्रदान करता है। सब सार्वजनिक विधेयकों का आरम्भक तथा परिवहन करना तथा व्यवस्थापिका सभा में उन्हें स्वीकार कराना, यह प्रबंधकारी का कृत्य है। व्यवस्थापिका सभा में स्वीकृत सभी विधेयकों को कानून बनने के लिए मुख्य प्रबंधकारी नेता की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। वह निषेधाधिकार का भी प्रयोग कर सकता है अथवा अपनी स्वीकृति से इंकार भी कर सकता है। जो भी हो, जिन देशों में पार्लामेंट्री या उत्तरदायी सरकार है, उनमें से अधिकांश में निषेधाधिकार शक्ति का दुरुपयोग भी होने लगा है। जिन देशों में सरकार का रूप पार्लामेंट्री नहीं है वहां मुख्य प्रबंधकारी द्वारा किसी विधेयक का निषेध करने की शक्ति का आशय व्यवस्थापिका सभा पर भावपूर्ण नियंत्रण रखना है, यद्यपि यह अमरीका की भांति निरंकुश निषेधाधिकार नहीं भी हो सकता। अमरीका में प्रैसिडेंट का निषेधाधिकार कांग्रेस के दो-तिहाई बहुमत द्वारा रद्द किया जा सकता है। तिस पर भी, उसके हाथों में यह एक बलिष्ठ साधन है, क्योंकि कांग्रेस में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना कठिन है।

पुनः, प्रत्येक देश में प्रबंधकारी अध्यादेश (Ordinance) जारी करने की शक्ति रखता है। यह कानून निर्माण की सहायक शक्ति का एक रूप है जो आज्ञप्तियों (decrees), आदेशों, अथवा विधियों का रूप धारण करता है। संविधान द्वारा यह शक्ति मुख्य अधिकारी को स्पष्टतया सौंपी जाती है। उदाहरणार्थ, भारत का संविधान प्रधान को किसी भी समय अध्यादेश (Ordinance) जारी करने की शक्ति प्रदान करता है, सिवा इसके कि जिस काल में दोनों सदनों के अधिवेशन हो रहे हों। इन अध्यादेशों का भी पार्लामेंट के एक्टों जैसा ही प्रभाव होगा। ऐसे प्रत्येक अध्यादेश को पार्लामेंट के दोनों सदनों के समक्ष उपस्थित करना होगा और पार्लामेंट के पुनः अधिवेशन से छः सप्ताह की समाप्ति पर अथवा उस अवधि की समाप्ति से पूर्व अगर दोनों सदनों द्वारा अस्वीकृति के प्रस्ताव पास हो जाते हैं, तो वह कार्यकारी नहीं रहेंगे। संविधान में किसी प्रकट अधिकार शक्ति के अभाव में राज्य के मुख्य प्रबंधकारी नेता को अध्यादेश जारी करने की परम्परागत शक्ति मानी जायगी; राजतंत्री देशों में अध्यादेश जारी करने की शक्ति को राजा का असाधारण अधिकार माना जाता है, जब तक कि इसकी संवैधानिक अथवा अनुविध्यात्मक मर्यादाएं न हों। प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थापिका सभा की विधि ने प्रबंधकारी की कानून-निर्माण संबंधी शक्तियों म इससे भी अधिक वृद्धि कर दी हुई है।

६. न्याय विभागीय कृत्य (Judicial Functions)— क्षमा-दान या दया-प्रदर्शन का अधिकार सर्वमान्य स्वीकृति द्वारा प्रबंधकारी कृत्य का स्वाभाविक

और आवश्यक अंग माना जाता है। यह अर्थ न्याय विभागीय कृत्य है और विभिन्न कारणों से न्यायोचित है। प्रथम अवस्था में, इसका आशय न्याय-विभाग की निर्णय विषयक भूल का सुधार करना है, जो अन्यथा सशोधित नही की जा सकती। इससे अधिक, कोई भी न्यायाधीश किसी मामले का उनके गुणों के आधार पर निर्णय करता है और राजनीतिक योग्यता के आधारों पर नहीं। अनेक व्यक्तियों को राजनीतिक अपराधों के लिए दंड दिया जा सकता है किन्तु समय के गुजरने के साथ साथ उनकी नजरबंदी अनुचित ठहराई जा सकती है। प्रबंधकारी को क्षमादान की शक्ति से संपन्न करके इस तरह के व्यक्तियों की रिहाई का भरोसा हो सकता है।

प्रबन्धकारी के कुछ अन्य कृत्य (Some other Functions of the Executive)—उपरिलिखित कृत्यों को प्रायः प्रबंधकारी के अनिवार्य कृत्य माना जाता है। किन्तु, जैसा कि पूर्वतः कहा जा चुका है, हम आधुनिक सरकार के कृत्यों को मर्यादित नही कर सकते। कोई भी सरकार वाणिज्य, शिक्षा, कृषि, यातायात और सवाहन जैसे विषयो की उपेक्षा नहीं कर सकती। ये लाभदायक विभाग है, और उनकी समुचित प्रगति के बिना उस वातावरण की उन्नति करना असंभव है जो मानव-कल्याण की वृद्धि में सहायक होता है। इसी प्रकार, वर्तमान में अधिकांश सरकारें वास्तविक रूप में कतिपय सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएं जारी करती है और विभिन्न पदार्थों के उत्पादन एवं बिक्री पर अनुविध्यात्मक प्रतिबंध लगाती है। राज्य की अधिकार-शक्ति में ये परिवर्तन आर्थिक सगठन को हमारे नैतिक एवं राजनीतिक विचारों के अनुकूल ढालने के लिए सजग चेष्टाओं के फलस्वरूप किये गए है। हमारी आर्थिक प्रणाली को नैतिकता का स्वरूप देने के लिए बहुत कुछ किया गया है और "परस्पर संबंध, नियमितता और नियंत्रण, आरम्भक और प्रोत्साहन बहुत-सी हालतों में स्वामित्व इन क्षेत्रों में अत्यावश्यक समझे जाते है और इनसे संबंधित विभाग तथा कथित महत्वपूर्ण या बड़े विभागो की अपेक्षा जनता की दृष्टि में कम महत्वपूर्ण नही होते।"[1]

प्रशासन सेवाएं
(Administrative Services)

जैसा कि पूर्वतः कहा जा चुका है, प्रबंधकारी शब्द, विस्तृत अर्थों मे, न केवल राज्य के मुख्य प्रबंधकारी नेता को भी सन्निहित करता है, प्रत्युत उच्च और निम्न प्रशासन अधिकारियो के संपूर्ण समूह को भी सन्निहित करता है। प्रशासन का वास्तविक कार्य पौर-अधिसेवा (Civil Service) के स्थायी सदस्य करते हैं। यह सत्य है कि प्रशासन के प्रत्येक विभाग का अधिनेता मंत्री होता है, किन्तु विभाग को चलाना उसका कार्य नहीं होता। जो लोग विभाग को वस्तुतः चलाते हैं, उन्हें पौर-अधिसेवा या प्रशासन अधिसेवा के स्थायी सदस्य कहा जाता है। उनका एक स्थायी दर्जा और पद अवधि होती है और उन्हें केवल मात्र प्रशासन योग्यता के आधार पर चुना जाता है। उन्हें दलीय नीति में कोई दिलचस्पी नही होती और मंत्रि-परिषद् के परिवर्तन के समय वे पद-च्युत नहीं होते। पद अवधि का स्वामित्व प्रशासन-अधिसेवियों को नौक[illegible]

1. Gilchrist, *op. cit.*, p. 316.

सुरक्षा प्रदान करती है और इस प्रकार, उनके कार्य-क्षेत्र में अतिविशिष्टता भी। इसलिए, स्थायी अधिसेवी अनुभव और ज्ञान की निधि होते हैं। वह मंत्रियों तथा व्यवस्थापिका सभा को बहु दिशी विषयों पर नीतियां बनाने तथा लागू करने के लिए आवश्यक सूचना प्रदान करते हैं। लास्की कहते हैं, "प्रत्येक राज्य अपने सार्वजनिक अधिकारियों की योग्यता पर वृहद् रूप में आश्रित रहता है।"[1]

नियुक्ति की विधियां (Methods of Appointments)—सरकार की रचना में प्रशासन अधिसेवाओं का इतना महत्व होते हुए, यह आवश्यक है कि सार्वजनिक अधिसेवी ऐसे व्यक्ति होने चाहिएं, जो विज्ञता, योग्यता और उच्च स्थिति से संपन्न हों। सर विलियम बेवेरिज (Sir William Beveridge) का कथन है कि "पौर-अधिसेवा एक व्यवसाय है, और मैं चाहूंगा कि यह एक विद्वत्तापूर्ण व्यवसाय बने और वह स्वत: अपने को वैसा समझे।" इसलिए, यह अत्यावश्यक है कि उनकी भरती पक्षपात पर न होकर गुण पर आधारित होनी चाहिए। लास्की के कथनानुसार प्रशासन अधिसेवियों की नियुक्ति में दो बातों का ख्याल रखना चाहिए। "प्रथमत:, सार्वजनिक अधिकारियों की नियुक्ति के विषय में प्रबंधकारी का न्यूनतम नियंत्रण होना चाहिए। जब नियुक्तियां पूर्णत: राजनीतिक प्रबंधकारी के हाथ में होती हैं, तो सार्वजनिक जीवन में इसके कारण बहुत भ्रष्टाचार होता है। यह बात प्रत्येक आधुनिक राज्य के अनुभव से स्पष्ट हो गई है। अमरीका में रिश्वत के कारण प्रशासन अव्यवस्था और सार्वजनिक भ्रष्टाचार हुआ। हेलबरी (Hailebury) के प्रयोग से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन में पौर-अधिसेवा अपने समर्थन में कुछ भी कह सकने योग्य न थी। इसलिए, जब तक पौर-अधिसेवा प्रबंधकारी के क्षेत्र से बाहर न होगी, तो यह अनिवार्य होगा कि मंत्री का ध्यान अपने पद की समस्याओं की ओर नहीं होगा, बल्कि अपने अनुयायियों को पारितोषिक प्रदान करने की आवश्यकता की ओर रहेगा। इन अवस्थाओं के अधीन भरती किये गए सार्वजनिक अधिसेवी "जिन पदों पर जायेंगे, उनका उपयोग अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए न कर सार्वजनिक व्यय पर अपनी जेबों को भरने के लिए करेंगे।" इससे सार्वजनिक अधिसेवा उस अनुभव, योग्यता, और विशेषज्ञता से वंचित हो जायगी जो सार्वजनिक प्रशासन के योग्य परिचालन के लिए अत्यावश्यक हैं।

इसलिए, सार्वजनिक अधिसेवियों की नियुक्ति ऐसे नियमों के अधीन होनी चाहिए, जिनमें व्यक्तिगत पक्षपात की न्यूनतम गुंजायश हो। भरती के लिए खुली प्रतियोगिता का सिद्धांत ही ऐसी संतोषजनक विधि है, जिसकी प्रशंसा की जा सकती है। इसका आशय यह है कि विशुद्ध प्रशिक्षण विषयक पदों को छोड़कर, प्रशासन अधिसेवा की सारी भरती "रिक्त-स्थान के प्रकार के लिए समुचित परीक्षाओं में सफलता के एक मात्र आधार पर" होनी चाहिए। इंग्लैड में ट्रिवेलियन कमेटी (Trevelyan Committee) ने सिफारिश की थी कि "अधिसेवा के लिए योग्य नव-युवकों को आकर्षित करने का सबसे उत्तम ढंग यह है कि भरती प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर की जाय, जिसमें शामिल होने का सबको अधिकार हो और उसका प्रबंध एक स्वतन्त्र केंद्रीय समिति द्वारा होना चाहिए।" अनुभव ने सिद्ध किया है कि पौर-अधिसेवा के लिए प्रति-

1. Grammar of Politics, p. 397.

योगिता परीक्षा प्रणाली योग्य व्यक्तियों के चुनाव में अधिक संतोषजनक प्रमाणित हुई है। भरती के लिए एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि सार्वजनिक अधिसेवा में प्रवेश सामान्यतया उस आयु में होना चाहिए, जब कि साधारण जीवन में उसी अवस्था में, कोई युवक या युवती अपने जीविकोपार्जन की आशा करता है।"[1]

लोक-सेवा आयोग (Public Service Commissions)—लोक सेवा भरती का, पुनः यह प्रधान सिद्धांत है कि चुनाव विशिष्ट रूप से संघटित उस संस्था द्वारा किया जाना चाहिए, जिसे लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) कहते हैं। नियमतः लोक-सेवा आयोग का अनुविभ्यात्मक अस्तित्व और शक्तियां होती हैं। इसका उद्देश्य उसके सदस्यों को स्थिरता एवं स्वतन्त्रता का विश्वास दिलाना होता है। लोक-सेवा आयोग के सदस्यों को पद-अवधि की विशिष्ट शर्तों के अधीन नियुक्त किया जाता है और उन्हें उन्हीं अवस्थाओं में अपने पद से हटाया जा सकता है, जिन अवस्थाओं में न्यायाधीशों को हटाया जाता है।

भारतीय संविधान में लोक-सेवा-आयोग के कृत्यों का सर्वोत्तम वर्णन किया गया है।[2] उसमें कहा गया है, "संघ लोक-सेवा-आयोग और राज्य-लोक-सेवा-आयोग का यह कर्त्तव्य होगा कि वे संघ तथा राज्यों की नौकरियों की नियुक्तियों के लिए परीक्षाएं लें।" संघ आयोग (Union Commission) अथवा, जैसी भी अवस्था हो, राज्य आयोग (State Commission) से इन विषयों में परामर्श लिया जायगा : (अ) "पौर अधिसेवाओं तथा नागरिक पदों की भरती से संबंधित विषयों पर; (ब) पौर अधिसेवाओं तथा पदों की नियुक्ति के लिए, पदोन्नति के लिए, और एक अधिसेवा से दूसरी में जाने तथा ऐसी नियुक्तियों, उत्कर्षों या परिवर्तनों के लिए उम्मीदवारों की योग्यता विषयक सिद्धांतों पर; (स) उन सब अनुशासन विषयक प्रश्नों पर, जो उन व्यक्तियों को प्रभावित करते हों, जो भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन नागरिक स्थिति में कार्य करते हैं, इसमें इन प्रश्नों से संबंधित प्रार्थना-पत्र भी सम्मिलित होंगे; (द) किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा अथवा ऐसे व्यक्ति के विषय में स्वत्व-दावा, जो उस समय पर सार्वजनिक सेवा की स्थिति में भारत सरकार या राज्य सरकार अथवा ताज के अधीन कार्य कर रहा हो या कर चुका हो, यदि, अपने कर्त्तव्य-पालन के सिलसिले में उसके किये कार्यों के कारण अथवा किये जाने की संभावना के कारण उसके विरुद्ध की गई कानूनी कार्यवाही की रक्षा में, उसने जो भी व्यय किये होंगे, उन्हें भारत के राजस्वों, या, जैसी भी स्थिति होगी, राज्य के राजस्वों में से अदा किया जायगा ; (इ) भारत सरकार या राज्य सरकार या भारत के ताज या भारतीय रियासत की सरकार के अधीन अधिसेवा स्थिति में कार्य करते हुए चोट पहुंचने के कारण पेंशन के लिए स्वत्वदावा के विषय में, और ऐसे पारितोषिक के अन्य किसी भी प्रश्न के विषय पर।" संविधान इस धारा के अन्त में लोक-सेवा आयोग के कृत्यों को इस प्रकार कहता है " और लोक-सेवा-आयोग का यह कर्त्तव्य होगा कि वह इस प्रकार सौंपे गए प्रश्नों और अन्य किसी भी ऐसे प्रश्न के विषय में परामर्श प्रदान करे जो उसे प्रधान, या, जैसी भी स्थिति हो, राज्य के राज्यपाल या राज

1. Ibid., p. 399
2. Article 320

प्रमुख द्वारा सौंपे गए हों।" जो भी हो, यह उल्लेखनीय है कि ये कृत्य गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, १९३५ में प्रदत्त कृत्यों के अनुरूप ही हैं।[1]

प्रशासनीय अधिसेवाओं का महत्त्व (Administrative Services Evaluted)—प्रशासनीय अधिसेवाओं की उसकी योग्यता और अतिविशिष्ट उच्चता के लिए बड़ी प्रशंसा की गई है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि यह पूर्ण है। प्रत्येक देश में, इस बात के प्रमाण हैं कि योग्यता की बहुधा उपेक्षा की गई है और राजनीतिक संरक्षण की बुराइयों का सर्वथा उन्मूलन नहीं हो पाया। लोक-सेवा-आयोग द्वारा ली जाने वाली परीक्षाओं का रूप अत्यधिक शास्त्रीय होता है और भरती के लिए शामिल होने वालों को उस विभाग का कोई ज्ञान नहीं होता, जिसमें उनकी भरती की जानी होती है। इसके अतिरिक्त, प्रशासनीय अधिसेवाओं में नौकरशाही की त्रुटियां भी समाविष्ट होती हैं। अफसरशाही तथा लाल-फीताशाही तो नियमित रूप से होती है। निःसंदेह, नियमनों के अनुपालन के विषय में एक प्रकार की पूर्णतया अनिवार्यता होनी चाहिए। किन्तु "इस दिशा में कार्यों और फाईलों और अभिलेखन और रिकार्डों की बहुरूपता का अर्थ कार्यवाही को आसान करने की बजाय गतिहीन बना देना है।" नौकरशाही का एक अन्य परम्परागत खतरा "विभागवाद" का है—अर्थात् सरकार के कार्य को भिन्न एकाकी तथा आत्म-निर्भर भागों में बांट देना, जिसका परिणाम यह होता है कि हर कोई अपने निजी उद्देश्य को देखता है। इस प्रकार के विभाग करने से विभागीय संघर्ष होता है, क्योंकि प्रत्येक विभाग दूसरों के साथ उचित सहयोग की चिन्ता किये बिना केवल अपने निजी कल्याण की ही योजना बनाता है।

किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक देश में ऐसी उच्च योग्यता के पुरुष और स्त्रियां हैं, जो प्रशासनीय अधिसेवा के लिए आकर्षित होते हैं। ऑग (Ogg) ब्रिटिश पौर-अधिसेवा (British Civil Service) का विवरण देते हुए उल्लेख करते हैं कि इस अधिसेवा के सदस्यों में "कुछ नागरिक कर्त्तव्य की भावना से आकर्षित होते हैं, कुछ लोग ऐसे क्षेत्र में अपने जीवन का उज्ज्वल भविष्य देखते हैं, जो कुशल और उद्योगी पुरुषों के लिए बिना किसी पारिवारिक भेद-भाव के खुला है; निःसंदेह कुछ को ऐसे व्यवसाय का आकर्षण होता है, जिसमें अधिक खतरे के बिना स्थिर और निश्चित आय का विश्वास होता है।"

नौकरशाही की त्रुटियों—अफसरशाही, विचारों की संकीर्णता और विभागीकरण—को मंत्रि-परिषद् रूप की सरकार वाले देशों में मंत्रि-पद के उत्तरदायित्वों से प्रतिसंतुलित किया गया है। इन देशों की पौर-अधिसेवा लोकमत के प्रति प्रत्युत्तरशील होती है और उसके सदस्य नीति परिवर्तन के अनुसार अपना समन्वय कर लेते हैं। तिस पर, उसमें सहयोगी भावना का भी कमाल होता है जिसका अधिसेवा ने सदैव प्रदर्शन किया है और जिसमें अपनी निजी उन्नति के लिए उसने दिलचस्पी प्रकट की है। सार्वजनिक प्रशासन के विद्यालयों तथा नागरिक अधिसेवियों की समितियों का, जो प्रत्येक देश में विद्यमान हैं, लक्ष्य उन उच्च आदर्शों तथा परम्पराओं को स्थिर रखना है, जिनके लिए नागरिक अधिसेवी सर्वत्र गौरवान्वित हुए हैं।

1. Section 266 (3)

Suggested Readings

Bryce, J.—Modern Democracies Vol. II, Chap. LX.
Blunt, E.—The I. C. S.
Dealey, J. Q.—The State and Government, Chaps. XII-XIII.
Finer, H.—The British Civil Service.
Finer, H.—The Theory of the Practice of the Modern Government Vol. II. Part VII.
Garner, J. W.—Political Service & Government, Chap. XXII.
Laski, H. J.—Grammar of Politics, pp. 356-410.
Mill, J. S.—Representative Government, Chapt. XIV.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chap. XXI.

अध्याय : : १९

न्यायाधिकारी-वर्ग

(The Judiciary)

न्याय-प्रशासन, जो न्यायाधिकारी-वर्ग का मुख्य कार्य है, शासन-यंत्र का तृतीय अंग माना जाता है। नागरिकों का कल्याण सत्वर और पक्षपात-रहित न्याय पर ही निर्भर करता है। लार्ड ब्राईस (Lord Bryce) ने उचित रूप में अंकन किया है कि सरकार की न्याय-संबंधी प्रणाली की कुशलता से बढ़कर उसकी उत्तमता का बेहतर प्रमाण नहीं हो सकता। न्यायाधिकारी-वर्ग मनुष्य के अधिकारों का संरक्षक है और इन अधिकारों के व्यक्तिगत और सार्वजनिक अतिक्रमण की सब संभावनाओं से रक्षा करता है। औसत नागरिक की यह भावना, कि वह निश्चित और अविलंब न्याय प्रशासन पर निर्भर रह सकता है, उसकी स्वतन्त्रता में वृद्धि करती है। यदि न्याय-प्रशासन के लिए पर्याप्त प्रबंध नहीं है, तो जनता की स्वतन्त्रता की क्षति होती है क्योंकि कोई ऐसा निश्चित साधन नहीं होता जो अधिकारों का निश्चय और निर्णय करे, अपराधों के लिये दंड दे, और निर्दोष की आघात और अपहरण से रक्षा करे। ब्राइस कहते हैं, "यदि कानून को कुटिलता-पूर्वक लागू किया जायगा तो समझना चाहिए कि नमक ने अपना स्वाद खो दिया है; यदि इसे दुर्बलतापूर्वक और उत्तेजनापूर्वक लागू किया जायगा तो व्यवस्था की प्रतिज्ञाएं असफल हो जायंगी, क्योंकि अपराधियों का दमन दंड की कठोरता से बढ़ कर दंड की निश्चितता द्वारा अधिक होता है।"[1] यदि न्याय का दीपक स्वयं तिमिरावृत्त हो जाय तो कितना अंधकार छा जायगा !

प्राचीन राजपद्धति में प्रबंधकारी और न्याय संबंधी कृत्य सम्मिलित होते थे। प्रारम्भिक राजा न्याय का स्रोत था। किन्तु बाद में यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि न्याय-संबंधी और प्रबंधकारी कृत्य एक व्यक्ति में सम्मिलित होते हैं तो न्याय प्राप्त नहीं किया जा सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी चीज की व्याख्या और प्रशासन की शक्ति का केंद्रीकरण एक ही हाथ में होने से सदैव अत्याचार हुआ है।[2] प्रत्येक नागरिक को कानून की अस्थिर व्याख्या के भय के विरुद्ध अधिकतम रक्षा की आवश्यकता होती है। इसलिए एक पृथक् न्याय संबंधी अंग के बिना आधुनिक राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

न्यायाधिकारी वर्ग के कृत्य (Functions of the Judiciary)—सब राज्यों में न्यायाधिकारी-वर्ग का प्रथम कृत्य विद्यमान कानूनों को विशिष्ट अवस्थाओं में लागू करना तथा उनकी व्याख्या करना है। कानूनी न्यायालय व्यक्तियों के बीच और उनके तथा राज्य के बीच झगड़ों का निर्णय करने की और अपराधी व्यक्तियों पर मुकदमे करने की संस्थाएं हैं। न्यायाधिकारी-वर्ग सबके अधिकारों की रक्षा करता है। किसी न्यायाधीश

1. *Modern Democracies, Volume II*, p. 384.
2. Laski, *Grammar of Politics*, p. 129.

के लिये इस बात का कोई महत्व नहीं कि उसकी राय में कानून अच्छा है या बुरा, न्याय-पूर्ण है या अन्यायपूर्ण। उसे तो कानून, जैसा कि वह है, उसी रूप में स्वीकार करना है और उसे लागू करना है। इसलिये न्यायाधीश मुख्यतः कानून का व्याख्याता है। किन्तु यह हो सकता है, जैसा कि यह बहुधा होता भी है कि या तो विद्यमान कानून भाषा की दृष्टि से अस्पष्ट और त्रुटिपूर्ण होगा अथवा वह उन मामलों के लिए पूर्ण नहीं होगा, जो विचाराधीन हैं। इस स्वरूप के मामलों का निर्णय करने में न्यायाधीशों को अपनी विवेक-शक्ति का प्रयोग करने की स्वीकृति दी जाती है।

वह अभियोग के गुणों को तोलते हैं और अपने निर्णयों के विषय में न्याय, समानता और सम-बुद्धि के सिद्धांतों द्वारा संचालित होते हैं। इस प्रकार के निर्णय ऐसे ही अन्य अभियोगों का फैसला करते समय दूसरों के लिए दृष्टांत होते हैं। न्यायाधीशों द्वारा प्रतिस्थापित दृष्टांत वादजनित-विधान (Case-Law) या न्यायाधीश निर्मित कानून (Judge-made Law) कहलाते हैं। न्यायाधीश निर्मित कानून इंग्लैंड, अमरीका और भारत में न्याय-प्रबंध प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग है। इस तरह, न्यायाधीश अप्रत्यक्ष रूप में कानून निर्माण के पूरक होते हैं। इसलिए, वे कानून-निर्माता और साथ-ही साथ कानून की व्याख्या करने वाले भी हैं।

न्यायाधिकारी-वर्ग संघीय संविधान का संरक्षक भी है। संघ-शासन में संविधान सरकार की भिन्न शाखाओं के अधिकार क्षेत्र की सीमा निर्धारण करता है। न तो केंद्रीय सरकार और न ही संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयां ऐसा कानून-निर्माण कर सकती हैं, जो संविधान की निर्धारित शर्तों के विपरीत हो। इससे ऐसी संस्था की आवश्यकता हो जाती है, जिसे यह निर्णय करने का कृत्य सौंपा गया हो कि साधारण व्यवस्थापिका-सभा ने संविधान की धाराओं का उल्लंघन तो नहीं किया और यह प्रत्यक्षतः न्याय-प्रबंध का ही कृत्य है। कुछ देशों के संविधानों में अतिविशिष्ट रूप से ऐसे न्यायालयों की गुंजायश की गई है, जो व्यवस्थापिका-सभा द्वारा स्वीकृत कानून को अधिकार से बाहर घोषित करने की योग्यता से संपन्न होते हैं। जिन राज्यों में इस तरह की संवैधानिक धारा नहीं होती, वहां यह कल्पना की जाती है कि न्याय-प्रबंध-शक्ति के लिए यह क्रमागत अथवा नैमित्तिक होगा कि वह व्यवस्थापिका सभा द्वारा नियमित रूप से बनाए किसी भी कानून की वैधता के विषय में आपत्ति कर सके। भारतीय संविधान भारत के सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) को संविधान की व्याख्या करने और भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यों के बीच; अथवा भारत सरकार तथा एक या कई राज्यों से बने एक पक्ष तथा एक या अधिक राज्य से बने दूसरे पक्ष के बीच; अथवा दो या अधिक राज्यों के बीच सब वाद-अभियोगों के निर्णय का अधिकार प्रदान करता है। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में, मारबारी बनाम मैडिसन (Marbary vs. Madison) में यह निश्चित रूप से निर्णय किया गया था कि न्यायाधिकारी-वर्ग का संविधान के प्रति दृढ़ रहना और व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत कार्यों को शून्य और व्यर्थ (Null & Void)[1] घोषित करना क्रमागत अधिकार है।

न्यायाधिकारी वर्ग दूसरे भी नानाविध कृत्यों का पालन करता है। सूक्ष्म दृष्टि से

1. 1803, Judgement of Chief Justice Marshall.

इन कृत्यों का न्याय प्रवंध विषयक रूप नहीं है। न्यायालयों के न्याय-प्रवंध रहित ये कृत्य इस प्रकार हैं: आदेश पत्रों (Writs) तथा विभिन्न प्रकार की निरोधाज्ञाओं को जारी करना; संरक्षकों तथा ट्रस्टियों की नियुक्ति करना; उत्तराधिकार-पत्रों को प्रमाणित करके स्वीकार करना; मृत व्यक्तियों की जायदादों का प्रवंध करना; संप्रापकों (Receivers) की नियुक्ति करना, मृत्यु-पत्रों का अनुदान, आदि। प्रवंधकारी या व्यवस्थापिका सभा द्वारा आवेदन करने पर न्यायालय को कानून विषयक प्रश्नों पर परामर्श देने के लिए भी कहा जा सकता है। इंग्लैंड में सरकार प्रिवी-कौंसिल की न्याय प्रवंध समिति से कानूनी प्रश्नों पर निरन्तर सम्मति और परामर्श लेती रहती है। भारत का संविधान आदेश करता है कि गणतंत्र का प्रधान कानूनी-प्रश्न या किसी भी तथ्य को सम्मति के लिए भारत के सर्वोच्च न्यायालय को सौंप सकता है।[1]

न्यायाधिकारी-वर्ग की स्वतंत्रता
(Independence of the Judiciary)

न्याय को दैवी-देन माना जाता है और न्यायाधीश को वंद-नेत्रों वाला व्यक्ति वर्णित किया जाता है जिसके हाथों में न्याय की तुला है, जिसका वह सम-तोलन करता है। प्राचीन काल में न्यायाधीश का कृत्य पुरोहित में निहित था। यद्यपि आधुनिक राज्य में सरकार विषयक यंत्र के साथ धर्म का कोई संवंध नहीं, तथापि न्यायाधीश के पद के प्रति जो पवित्रता मानी जाती थी, वह ज्यों की त्यों है। न्यायाधीश के कृत्य वहुमुखी और जटिल होते हैं। कानून भले ही कितने भी न्यायपूर्ण और गंभीर हों, लेकिन जव तक सही, सत्यवादी और निष्पक्ष अधिकार-शक्ति उन्हें लागू नहीं करती, तव तक उनसे न्याय प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति होने चाहिएं, जिनमें न्याय के लिए गहन विवेक, उच्च कानूनी तीक्ष्ण वुद्धि, सच्चाई, सम्मान तथा स्वतन्त्रता हो। यदि उनमें "वुद्धिमानी, सत्यवादिता और निर्णय-स्वतन्त्रता का अभाव होगा, तो जिस उच्च उद्देश्य के लिए न्यायाधिकारीवर्ग की स्थापना की गई है, वह प्राप्त नहीं किया जा सकता।"[2] जव न्यायाधिकारी-वर्ग स्वतन्त्र होता है तो न्यायाधीशों में ऐसे गुणों का अस्तित्व संभव हो जाता है। इसलिए न्यायाधिकारी-वर्ग की स्वतन्त्रता से हमारा आशय यह है कि न्यायाधीशों को कानूनों की व्याख्या करने में और न्याय प्रदान करने में अपने विवेक का निर्वाध प्रयोग करना चाहिए और उन्हें अपने कर्त्तव्य-पालन में किसी से अनुचित तौर पर प्रभावित नहीं होना चाहिए। न्यायाधिकारी वर्ग की स्वतन्त्रता प्राप्ति में निम्न अंश अधिक योग प्रदान करते हैं:

न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रकार (Mode of Appointment of Judges) :—न्यायाधीशों की नियुक्ति की तीन विधियां हैं: (अ) व्यवस्थापिका-सभा द्वारा चुनाव; (व) जनता द्वारा चुनाव; (स) प्रवंधकारी द्वारा नियुक्ति। न्यायाधीशों की नियुक्ति की व्यवस्थापिका सभा द्वारा चुनाव की विधि सर्वमान्य नहीं है, क्योंकि यह प्रणाली शक्तियों के अलगाव के सिद्धांत को भंग करती है, और यह न्यायाधिकारी-वर्ग को व्यवस्थापिका सभा के अधीन वना देती है। इसके अतिरिक्त, व्यवस्थापिका द्वारा

1. Article 143 (1)
2. Garner, op. citd., p. 792.

चुनाव का अर्थ है दल के उम्मीदवार का चुनाव। जब दलीय भावना का बोलबाला होता है है तो गुण की उपेक्षा हो जाती है और निष्पक्षता का लोप हो जाता है। इन अवस्थाओं में, न्यायाधिकारी-वर्ग की स्वतन्त्रता का भरोसा नहीं हो सकता। "इस तरह का दलीय-निर्वाचन इस प्रकार के न्यायाधीश को प्रोत्साहन प्रदान करता है, जो न्याय और युक्तिसंगतता के आदर्श से, जो न्याय-प्रबंध के लिए आवश्यक है, कोसों दूर होता है।"

न्यायाधीशों के लोक-निर्वाचन की प्रणाली लोक प्रभु-सत्ता तथा शक्तियों के अलगाव के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए सर्व-प्रथम फ्रांस में लागू की गई थी। वर्तमान में यह स्विट्जरलैंड के कुछ प्रांतों और अमरीका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। लेकिन न्यायाधीशों का लोक-निर्वाचन व्यवस्थापिका-सभा द्वारा चुनाव की अपेक्षा भी अधिक आपत्तिजनक है। लास्की कहते है, "नियुक्ति की सब विधियों में जनता द्वारा चुनाव की विधि निर्विवाद रूप में सबसे हीन है।"[1] लोक-निर्वाचित न्यायाधीश कदापि निष्पक्ष, ईमानदार, स्वतंत्र और सम्मानित नही हो सकते। लोक-निर्वाचन का अर्थ है दलीय-निर्वाचन और इस तरह के निर्वाचित न्यायाधीश लोक-उत्तेजना और पक्षपात के अधीन हो जाते हैं। इसकी प्रवृत्ति न्यायाधिकारी-वर्ग के स्वरूप को हीन करने की होती है। स्थिति तब और भी बिगड़ जाती है जब न्यायाधीशों को अल्पावधियों के लिए चुना जाता है, मान लीजिए एक वर्ष के लिए, जैसा कि अमरीका के कुछ राज्यों में यह है भी। "जब उनका पुनर्निर्वाचन लोकप्रियता पर निर्भर करता है, तो बहुत थोड़े ऐसे होंगे, जो लोकप्रियता प्राप्त करने की इच्छा के लोभ का संवरण कर सकें।" इससे न्यायाधीशों में अपने न्याय-विषयक निर्णयों को इस प्रकार का रूप प्रदान करने का प्रबल लोभ उत्पन्न होगा और वस्तुत: उनका न्याय-विषयक संपूर्ण आचरण ऐसे ढंग का होगा, जो उन लोगों का समर्थन पूर्ण करने वाला होगा, जिन पर उन्हें पुन:-निर्वाचन के लिए आश्रित रहना होगा। मत-दाता भी, इस स्थिति में नही होते कि जो सम-भाव से उन योग्यताओं को तोल सकें, जो आवश्यक रूप से न्यायाधीश में होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, न्याय-प्रबंध के पद के उम्मीदवारों का स्वरूप भी बहुत क्षीण होता है। वह संभवत: निर्वाचकों के समक्ष न तो अपना कार्यक्रम उपस्थित कर सकते हैं, न ही अपने न्याय प्रबंध विषयक आचरण के लिए व्यक्तिगत समर्थन। परिणाम यह होता है कि एक राजनीतिज्ञ न्यायाधीश बन जाता है, जिसका संपूर्ण दृष्टिकोण दल-भावना का होता है।

प्रबंधकारी द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति सर्वाधिक सर्वमान्य है और चुनाव की सर्वोत्तम प्रणाली है, और दुनिया के लगभग सभी देशों में यह प्रचलित है। यह कहा जाता है है कि प्रबंधकारी न्याय-प्रबंध-विषयक पद के लिए आवश्यक गुणों का निश्चय करने वाली सर्वाधिक समुचित संस्था है। इससे अधिक, प्रबंधकारी द्वारा नियुक्तियां प्राय: दलीय-भावना से मुक्त होती हैं। जो भी हो, ऐसे उदाहरण भी हैं, विशेष रूप से मंत्रि-परिषद् रूप की सरकार वाले देशों में, जिनमें प्रबंधकारी द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्तियां दलीय-विचारों से पूर्णतया स्वतंत्र नही होतीं, इसलिए लास्की प्रबंधकारी द्वारा केवल-मात्र नाम-निर्देशन को पर्याप्त विधि नहीं मानते। वे प्रस्ताव करते हैं कि न्याय-प्रबंध विषयक सब नियुक्तियां "न्याय-मंत्री की सिफारिश पर, न्यायाधीशों की उस स्थायी-समिति की सहमति से होनी

1. Grammar of Politics, p. 545

चाहिएं जो उनके काम की सभी दिशाओं का प्रतिनिधित्व करेगी।"[1] निःसंदेह, यह प्रणाली इस बात की सब से बड़ी प्रतिज्ञा हो सकती है कि नियुक्तियां न्याय-प्रबंध अधिकारी में अनिवार्य गुणों के अनुरूप की जाती हैं।

२. न्यायाधीश की पद-अवधि (The Judicial Tenure) :—न्यायाधीशों की स्वतंत्रता और निष्पक्षता प्राप्ति के लिए उनकी पद-अवधि भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी उनकी नियुक्ति-प्रणाली। सर्वाधिक सर्वमान्य पद-अवधि सदाचरण है। अधिकांश स्विस प्रांतों तथा अमरीका के राज्यों में, जहां न्यायाधीशों का लोक-निर्वाचन होता है,अल्प काल की अवधि है, और पुनः-निर्वाचन की शर्त भी है। किन्तु न्यायाधीशों का लोक-निर्वाचन और उनकी अल्प-पद अवधि नीतिपूर्ण नहीं है, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति न्यायाधीश की स्वतंत्रता को अपहरण करने की होती है, और वह असंदिग्ध रूप में दोषपूर्ण है और उनकी स्वतंत्रता की भावना को नष्ट करती है। स्वतंत्रता दीर्घ पद-अवधि से प्राप्त की जाती है। अल्प-अवधि के लिए नियुक्त न्यायाधीश अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर सकते हैं। वे न्याय की सभी रीतियों और यहां तक कि औचित्य के सिद्धांतों की उपेक्षा करते हुए अपनी अल्प-अवधि से अधिकतम लाभ उठाएंगे। इसलिए, रिटायर होने की आयु तक सदाचरण की प्रणाली सर्वोत्तम है और वर्तमान में प्रायः इसी की सिफारिश की जाती है और अनुसरण भी। हैमिल्टन का कथन था, "न्याय-प्रबंध अधिकार के पद पर बना रहने के लिए सदाचरण का स्तर निश्चित् रूप से सरकार के चलन में बहुमूल्य आधुनिक प्रगति है। राजतंत्र में, यह नरेश की निरंकुशता के लिए सब से बढ़िया अवरोध है, गणतंत्र में यह प्रतिनिधि संस्था के अतिक्रमण और दमन के प्रति सर्वोत्तम अवरोध से कम नहीं। और यह सर्वोत्तम उपाय है जिसका किसी भी सरकार में कानूनों की स्थिर, सही, और निष्पक्ष प्रशासन की प्राप्ति के लिए आश्रय लिया जा सकता है।"[2] अन्ततः, कानून का पूर्ण एवं गंभीर ज्ञान और न्याय-विषयक दृष्टांतों की प्राप्ति के लिए सदाचरण-पद-अवधि आवश्यक है। जिसका पद अल्प-काल का होगा, उसके द्वारा यह प्राप्ति नहीं हो सकती।

३. न्यायाधीशों को हटाना (Removal of Judges) :—सदाचरण-पद-अवधि में न्यायाधीशों को पद से हटाने का प्रश्न सन्निहित है। सभी राज्यों में भ्रष्ट और अयोग्य न्यायाधीशों को हटाने की धारा रखी जाती है। किंतु यह कठिन विधि होनी चाहिए जिससे शक्ति का दुरुपयोग न हो। यदि किसी न्यायाधीश की पद-अवधि किसी विशिष्ट व्यक्ति या संस्था की प्रसन्नता पर आश्रित है तो न तो स्वतंत्रता और न ही निष्पक्षता प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि किसी न्यायाधीश की तनिक-सी भी बुरी इच्छा का परिणाम उसकी नौकरी का अंत होगा। इसलिए, यह उचित समझा जाता है कि किसी न्यायाधीश को हटाने की विधि में अत्यधिक विचार का समावेश होना चाहिए और "उसे एक व्यक्ति से अधिक के हाथों में से निकलना चाहिए।" इंग्लैंड में किसी न्यायाधीश को पार्लमेंट के संयुक्त आवेदन पर, जिसमें उसके भ्रष्टाचार या नैतिक-पतन का उल्लेख हो, राजा द्वारा हटाया जा सकता है। अमरीका में सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को दोषारोपण से हटाया जाता है। दोषारोपण की विधि यह है कि लोक-

1. Ibid., p. 548.
2. As quoted in Garner, op. citd. p. 800

सभा आरोप लगाती है और सीनेट उसका अभियोग सुनती है। भारत में, १९४७ से पूर्व, न्यायाधीशों का पद ताज की प्रसन्नता पर आश्रित था। फ़ेडरल कोर्ट और हाई कोर्ट के न्यायाधीशों को दुराचरण या अयोग्यता के लिए, प्रिवी कौंसिल की सिफ़ारिश पर, ताज द्वारा हटाया जाता था। भारतीय संविधान आदेश करता है कि सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को प्रधान की आज्ञा से हटाया जायगा बशर्ते कि पार्लमेंट के प्रत्येक सदन ने संबंधित सदन के संपूर्ण सदस्यों के बहुमत से और उस सदन के उपस्थित तथा मत-दान करने वाले सदस्यों के न्यूनतम दो-तिहाई बहुमत से समर्थन किया हो और उसी अधिवेशन में दुराचरण या अयोग्यता के प्रमाणित आधार पर इस प्रकार के हटाने को प्रधान के समक्ष उपस्थित किया हो।[1] पद से हटाने की यह प्रणाली पद की सुरक्षा का भरोसा प्रदान करती है, जो न्यायाधिकारि-वर्ग की निष्पक्षता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है। किंतु जिन देशों में हटाने की प्रणाली विद्यमान है, उनमें न्याय-प्रबंध की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा की पर्याप्त क्षति हो गई है। वस्तुतः, न्यायाधीश उन देशों में जनता के खिलवाड़ बन गए हैं।

४. न्यायाधीशों के वेतन (Salaries of Judges) :—पद की स्थिरता के बाद न्यायाधीशों की स्वतंत्रता में और कोई इतना योगदान नहीं करता जितना एक नियत और पर्याप्त वेतन। हैमिल्टन ने यह ठीक ही कहा था कि "यह मानव स्वभाव है कि जो मनुष्य अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्तिसंपन्न है उसके पास संकल्प-शक्ति का भी बड़ा बल होता है।" न्यायाधीशों को न्यायानुसार अपने कर्तव्य-पालन के लिए साहस और दृढ़ता के निमित्त उन्हें अपने वेतनों की सुरक्षा और पर्याप्तता का विश्वास होना चाहिए। नियमपूर्वक वेतन मिलना चाहिए और वह न्यायाधीश के अनुरूप पर्याप्त होना चाहिए। अल्प-वेतन भोगी न्यायाधीश बहुधा भ्रष्टाचार और घूसखोरी के शिकार हो जाते हैं। अन्ततः, उनके पद-अवधिकाल में वेतनों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

५. न्यायाधीशों की योग्यता (Qualifications of Judges) :—सिजविक (Sidgwick) लिखते हैं, "राजनीतिक निर्माण में न्यायाधिकारि-वर्ग का महत्व प्रमुखता की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर है।"[2] यह स्पष्ट ही है कि जिन लोगों को न्यायालयों में न्याय करना होता है, उन्हें कानूनी पारदर्शी, विद्वान और अपने व्यवसाय में कुशल होना चाहिए। एक अयोग्य न्यायाधीश, जो कानूनी परिभाषाओं से पूर्णतया परिचित नहीं है, निश्चित रूप से न्यायाधिकारि-वर्ग की प्रख्याति को नष्ट कर देगा। पुन, यह भी अनिवार्य है कि किसी भी न्यायाधीश को अपने निष्पक्ष एवं स्वतंत्र विचारों के लिए प्रख्यात होना चाहिए। यदि न्यायाधीशों को वकीलों में से चुना जाय, तो ये सारी योग्यताएं प्राप्त हो सकती हैं।

६. न्याय-प्रबन्ध-विषयक कृत्यों का अलगाव (Separation of Judicial Functions) :—यह अत्यावश्यक है कि न्याय-प्रबंध और प्रबंधकारी के कृत्य एक दूसरे से स्पष्ट और भिन्न होने चाहिएं। एक ही व्यक्ति अभियोक्ता (Prosecutor) और साथ-ही-साथ न्यायाधीश नहीं होना चाहिए। यदि इन दोनों कृत्यों को एक ही व्यक्ति में सम्मिलित किया जाता है, तो उस दशा में नाम को भी न्याय नहीं

1. Article 124 (4)
2. Elements of Politics, p. 481.

होगा। यदि अभियोक्ता न्यायाधीश रूप में भी कार्य करेगा, तो इससे न्याय-प्रबंध की अधिकार-शक्ति का दुरुपयोग होगा, और न्याय-प्रशासन में अस्थिरता आ जायगी। इस संबंध में सर्वपरिचित उदाहरण भारत में डिप्टी कमिश्नर और साथ-ही-साथ जिला-मजिस्ट्रेट का है, जिसके प्रबंधकारी तथा न्याय-विषयक कृत्य संयुक्त हैं। यह सर्वमान्य आपत्ति है कि ऐसी प्रणाली के अधीन न्यायाधिकारी-वर्ग न तो स्वतंत्र हो सकता है, न ही निष्पक्ष। सहायक मैजिस्ट्रेट उस जिला-मैजिस्ट्रेट की इच्छाओं के विपरीत नहीं जा सकते, जो जिले का प्रबंध-अधिकारी भी है। वे बहुधा अभियोगों के निर्णय उसी ढंग से करते हैं, जिसकी जिला मैजिस्ट्रेट उनसे आशा करता है। सर हार्वे एडमसन (Sir Harvey Adamson) ने, जो किसी समय भारत सरकार के गृह-सदस्य (Home-Member) थे, उल्लेख किया था कि "जिन सहायक मैजिस्ट्रेटों को अपराधी अभियोगों की बड़ी भारी संख्या का निर्णय करना होता है, उन पर प्रबंधकारी-नियंत्रण का प्रयोग ऐसा विषय है, जो वर्तमान प्रणाली में दोषपूर्ण है। यदि नियंत्रण का प्रयोग उस अधिकारी द्वारा किया जाता है, जो जिले की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है, तो इस बात की निरंतर शंका होगी कि सहायक न्यायाधिकारी शुद्ध न्याय-प्रबंध विषयक विचारों की अपेक्षा अचेतन रूप में अन्य द्वारा संचालित होगा।"

न्यायाधिकारी-वर्ग का संगठन (Organization of the Judiciary) न्यायाधिकारि-वर्ग का संगठन न तो व्यवस्थापक-मंडल जैसा है और न ही प्रबंधकारी विभाग जैसा। संसार भर में न्यायालय क्रमशः ऊपरी स्तर के क्रम (Ascending Scale) से संगठित होते हैं, एक के ऊपर दूसरा, जिससे निम्न से उच्चतर न्यायालयों में अपील का अधिकार होता है। चोटी पर अंतिम या सर्वोच्च न्यायालय होता है जिसे संशोधन या उपशम (Cessation) अर्थात् किसी न्यायालय या न्याय-प्रबंध अधिकरण (Judicial Tribunal) के निर्णय की इतिवृत्ति करने का अधिकार होता है। अधिकांश राज्यों में न्याय-प्रबंध दो भागों में विभाजित है, दीवानी और फौजदारी। किंतु कभी-कभी विशिष्ट उद्देश्यों से विशेष न्यायालय भी स्थापित किये जा सकते हैं, जैसे औद्योगिक कलहों या भूमि हस्तगत करने संबंधी निर्णय करने के लिए। प्रत्येक न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र उसकी अधिकार-शक्ति तथा प्रदेश के विषय में निश्चित रूप से मर्यादित होता है। अन्ततः, संघीय सरकारों में प्रायः दो तरह के न्यायालय होते हैं, संघीय और राज्य न्यायालय। संघीय न्यायालय को संपूर्ण संघ के राष्ट्रीय या सामान्य अधिकार-क्षेत्र पर अधिकार रहता है और राज्य-न्यायालय संघ में सम्मिलित होने वाली प्रत्येक इकाई में स्थानीय अधिकार-क्षेत्र का प्रयोग करते हैं। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में संघीय सरकार का अपना निजी न्याय-प्रबंध संगठन है, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय, दस सर्किट न्यायालय और जिला न्यायालय हैं। प्रत्येक राज्य में न्यूनतम एक जिला अदालत है। यदि राज्य बहुत बड़ा और भारी जनसंख्या वाला है, तो उस राज्य में ऐसी कई अदालतें भी हो सकती हैं, और उनमें से हर एक के अधिकार-क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रदेश होता है। प्रत्येक अवयवभूत राज्य का निजी न्याय-प्रबंध संगठन और उसके निजी क़ानून तथा कार्यविधि है। भारत में भी संघीय न्याय-प्रबंध की रचना है—सर्वोच्च न्यायालय—और राज्य न्याय-प्रबंध। इन न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र में भिन्नता है। किंतु भारत के सर्वोच्च न्यायालय

को, अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के असमान; संपूर्ण भारत के लिए, दीवानी और फौजदारी, अपील सुनने का अधिकार है।[1]

इन सर्वमान्य अर्थों के बावजूद, आधुनिक राज्यों में न्याय-प्रबंध विषयक संगठन की पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। आंग्ल-सैक्सनी देशों के न्यायालयों में, अपील सुनने वालों को छोड़कर, अक्सर एक ही न्यायाधीश होता है, जब कि फ्रांस तथा अन्य महाद्वीपीय देशों में, सिवा उनके, जो शांति-न्यायाधीश हैं, सब न्यायालय "माडलिक" (Collegial) हैं; जिसका तात्पर्य यह है कि वह न्याय-पीठ (Bench of Judges) द्वारा निर्मित है, और कोई भी निर्णय तब तक वैध नहीं हो सकता, जब तक उसे न्यूनतम तीन न्यायाधीश न करें। इस संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि "न्यायाधीशों की बहुलता स्वेच्छा के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करती है और दंडनीय अभियोगों में न्यायालय को सरकारी अभियोक्ता के प्रभाव को अधिक सक्रिय रूप में प्रतिरोध करने योग्य बनाती है।" फ्रांस में न्यायाधीश अपूर्ण हैं, न्यायाधीश अन्यायी है, की कहावत है, जो अकेले न्यायाधीश के निर्णयों के प्रति फ्रांसीसी विरोध की अभिव्यक्ति है। द्वितीयतः, फ्रांस तथा अन्य महाद्वीपीय देशों म, दीवानी तथा फौजदारी न्याय में एकता है, जिसका तात्पर्य यह है कि दीवानी कार्यवाहियां तथा फौजदारी अभियोग अधिकांश रूप में एक ही न्यायालय द्वारा सुने जाते हैं और इंग्लैंड तथा अमरीका की तरह अलग-अलग न्यायालयों द्वारा नहीं। तीसरे यह कि, आंग्ल-अमरीकी देशों में न्यायाधीश "भ्रमणी" (Circuit) होते हैं, जो भिन्न स्थानों पर विवादियों की सुविधा के लिए न्यायालय लगाते हैं। न्यायालय विवादियों (Litigants) के पास जाते हैं। योरोप महाद्वीप में न्यायालय 'स्थिर' या स्थानीय होते हैं, अर्थात्, न्यायालय केवल एक विशिष्ट स्थान पर ही होते हैं, और विवादी अपने अभियोगों का निर्णय कराने के लिए वहां जाते हैं।

इंग्लैंड और अमरीका में कानून का शासन है। इसका आशय यह है कि सब नागरिक—निजी व्यक्ति और सरकारी अधिकारी—कानून की दृष्टि में समान हैं और उसी न्यायालय तथा उसी कानून के प्रति उत्तरदायी होते हैं। फ्रांस तथा शेष महाद्वीपीय देशों में, दो प्रकार के न्याय-प्रबंध विषयक संगठन हैं: साधारण न्यायालय तथा प्रशासन न्यायालय। प्रशासन न्यायालय सरकारी अधिकारियों के जनता के साथ तथा उन अधिकारियों के पारस्परिक संबंधों के विषय में कार्यवाही करता है। प्रशासन कानून, जो प्रशासन न्यायालयों में लागू किया जाता है, उस साधारण कानून से सर्वथा भिन्न है, जो साधारण न्यायालयों में लागू किया जाता है। आंग्ल-अमरीकी देशों में न्यायाधीश-निर्मित-कानून न्याय-प्रबंध विधि में विलक्षण-अंश वाला होता है और न्यायालयों द्वारा लागू किया जाता है, किंतु महाद्वीपीय देश न्यायाधीश-निर्मित कानून और न्याय-विषयक दृष्टांतों को निरुत्साहित करते हैं। अन्ततः, अमरीका में न्यायाधिकारि-वर्ग संविधान का संरक्षक है और वह किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है। संयुक्त राज्य की भांति अन्य राज्यों में न्यायालयों को कानूनों को उसी रूप में स्वीकार करना होता है, जैसे वे हैं। उन्हें वैधानिक या अवैधानिक घोषित करने का कोई अधिकार नहीं है। न्यायाधिकारि-वर्ग को व्यवस्थापिका सभा द्वारा प्रदत्त रूप में समस्त कानून को प्रचलित करना होता है।

---

1. Articles, 132 to 134.

न्यायाधिकारी-वर्ग और प्रबंधकारी तथा न्यायाधिकारी-वर्ग और व्यवस्थापक-मंडल के बीच संबंध ।
(The Relations between the Judiciary and the Executive and between the Judiciary and the Legislature)

न्यायाधिकारी-वर्ग का प्रबंधकारी से संबंध (Relation of Judiciary to Executive) :—प्रबंधकारी का न्यायाधिकारि-वर्ग पर किसी-न-किसी रूप में कुछ नियंत्रण होता है, क्योंकि न्याय-विपयक निर्णय केवल तभी हो सकते हैं जब राज्य-शक्ति का समर्थन हो और वह शक्ति सदैव प्रबंधकारी पर अवलंबित होती है। इस वात को छोड़कर कि न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रबंधकारी द्वारा होती है और यद्यपि नियुक्ति हो जाने के वाद वह किसी नियंत्रण का प्रयोग नहीं भी करता, तथापि न्यायाधिकारि-वर्ग के रूप पर सत्ताधारी दल का, जो इस प्रकार की नियुक्तियों के लिये उत्तरदायी है, महान प्रभाव हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में इसका रूप अधिक विलक्षण है। उदाहरणरूप में, चीफ जस्टिस जान मार्शल की नियुक्ति को ले लीजिए। उनके निर्णय संघीय सिद्धांत की सरकार के अनुकूल होते हैं।

किंतु अधिक महत्वपूर्ण वह न्याय-विपयक शक्तियां हैं, जिनका प्रबंधाधिकारी विभाग द्वारा अब भी प्रयोग किया जाता है, जैसे, सैनिक न्यायालय (Court Martial) और प्रशासन कानून को जारी करना। क्षमा-दान का अधिकार अब भी प्रबंधकारी को ही है। और यह उसके मौलिक न्याय-विपयक कृत्य का प्रत्यक्ष रूप है।

इसके विपरीत, न्यायाधिकारि-वर्ग की भी प्रशासन-विपयक पर्याप्त शक्तियां हैं तथा प्रबंधकारी पर उसका नियंत्रण है। कई राज्यों में प्रबंधकारी साधारण न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी होता है यद्यपि राज्य का मुख्य प्रबंधकारी नेता अपवाद होता है। किंतु यदि प्रबंधकारी नेता अपनी शक्तियों का उल्लंघन करता है, तो अमरीका की तरह, न्यायाधिकारि-वर्ग उसके कार्यों को नकारात्मक कर सकते हैं। न्यायालय के अपमान की कार्यवाही चालू करने के द्वारा और, इस प्रकार, अपराधियों को दंडित करने के द्वारा न्यायालयों को अपने सम्मान की रक्षा का अधिकार एक महान प्रतिबंध है, जो न्यायाधिकारि-वर्ग प्रबंधकारी पर प्रयुक्त करता है। अन्ततः, न्यायाधिकारि-वर्ग को ऐसे अनेक कृत्यों का भी पालन करना होता है, जिनका वास्तविक स्वरूप प्रबंधकारी होता है, जैसे, लाईसेंस देना, स्वीकृति-पत्र जारी करना, संरक्षकों और ट्रस्टियों तथा सरकारी रिसीवरों की नियुक्ति, आदि।

न्यायाधिकारि-वर्ग का व्यवस्थापक-मंडल से संबंध (Relation of Judiciary to Legislature) :—व्यवस्थापक-मंडल कानून बनाता है और न्यायालय उसकी व्याख्या करता है और उसे लागू करते हैं। न्यायाधिकारि-वर्ग और व्यवस्थापक-मंडल में यह सर्वाधिक स्पष्ट संबंध है। व्यवस्थापक-मंडल न्याय-विपयक विभाग की स्थिरता के लिए सब आवश्यक व्यय-विनियोगों की स्वीकृति करता है। इस रूप में व्यवस्थापक-मंडल न्यायाधिकारी-वर्ग पर नियंत्रण करता है। सिवा अमरीका के, जहां संघीय न्यायाधिकारी वर्ग की संविधान द्वारा स्थापना की जाती है और उसकी पद-अवधि

नियत होती है "न्याय विषयक विभागों की व्यवस्थापक संविधि द्वारा रचना होती है और व्यवस्थापक कानून द्वारा उनका संशोधन या उन्मूलन किया जा सकता है।"[1] यहां तक कि अमरीका में कांग्रेस न्यायाधीशों की संख्या नियत करती है, उनके वेतन नियत करती है, और नये न्यायालयों की रचना करती है। कई राज्यों में उपरि-सदन भी कुछ न्याय-विषयक शक्तियों से संपन्न होता है। इंग्लैंड में हाऊस आफ लार्ड्स अपील करने का उच्चतम न्यायालय है, यद्यपि इस कृत्य को वस्तुतः ६ ला लार्ड्स (Law Lords) तथा लार्ड चांसलर संपन्न करते हैं। अमरीकी संविधान के निर्माताओं ने, जो शक्तियों के अलगाव के सिद्धांत से प्रभावित थे, सीनेट की न्याय-विषयक शक्तियों को सीमित कर दिया था सिवा इसके कि वह उच्च प्रबंधकारी अधिकारियों के विरुद्ध दोषारोपण के अभियोगों को सुन सकती थी। अंततः, कतिपय राज्यों में न्यायाधीश व्यवस्थापक-मंडल द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। अमरीका में प्रेसिडेंट द्वारा की गई न्यायविषयक सब नियुक्तियों का सीनेट समर्थन करता है।

कठोर संविधान वाले देशों में, न्यायाधिकारि-वर्ग व्यवस्थापक-मंडल तथा प्रबंधकारी पर बहुत-सी शक्तियों का प्रयोग करता है। भारत और अमरीका के सर्वोच्च न्यायालयों की भांति, न्यायाधिकारि-वर्ग व्यवस्थापिका सभा के किसी भी कार्य को अवैधानिक घोषित कर सकता है बशर्ते कि उसकी सम्मति में व्यवस्थापक-मंडल ने अपनी शक्तियों का उल्लंघन किया हो। न्यायाधिकारि-वर्ग तथा कानून-निर्माण का अंतर्संबंध न्यायाधीश-निर्मित-कानून या वादजनित विधान (case-law) में देखा जा सकता है। जैसा कि हम पूर्वत: कह आए हैं, न्यायाधीश न केवल कानून की व्याख्या करते हैं, प्रत्युत वह उसे बनाते भी हैं। जब किसी न्यायालय के समक्ष कोई ऐसा अभियोग हो, जिसका निर्णय कानून के अन्तर्गत न हो पाता हो, उस दशा में न्यायाधीशों का यह कर्तव्य है कि वह इस बात की चिंता न करें कि व्यवस्थापिका सभा का क्या आशय था, प्रत्युत "इस बात का अनुमान करें कि उस अनुपस्थित प्रश्न के विषय में उनकी क्या प्रवृत्ति होती, अगर वह उनके सामने उपस्थित होता, इस प्रकार न्यायाधीश रिक्त वादों की कानून-निर्माण द्वारा पूर्ति करते हैं।

कानून का शासन (Rule of Law)—अंग्रेजी संविधान का अत्यधिक महत्वपूर्ण अंश कानून का शासन है। यह उस देश के सर्वमान्य कानून पर आधारित है और यह जनता के परंपरागत अधिकारों तथा विशेष-अधिकारों की स्वीकृति के लिए उनके सदियों के संघर्ष की उपज है। अमरीका और भारतीय गणतंत्र के असमान, इंग्लैंड में संविधान नागरिकों को विशिष्ट अधिकारों से संपन्न नहीं करता। न ही वहां कोई ऐसा पार्लामेंट्री-विधेयक है, जो मौलिक अधिकारों की व्याख्या करता है। इंग्लैंड में न्यायाधिकारि-वर्ग जनता की स्वतंत्रता का संरक्षक है, और यह इस कारण है कि वहां, डाइसी के कथनानुसार, कानून का शासन विद्यमान है।[2]

डाइसी के कथनानुसार, कानून का शासन तीन मौलिक सिद्धांतों पर आधारित है। (१) कोई भी आदमी दंडनीय नहीं है या कानूनन उसे शारीरिक या संपत्ति विषयक दंड तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि देश के साधारण न्यायालय में साधारण कानूनी

1. Gettell, op. cit. p. 280.
2. The Law of Constitution, op. cit. pp. 133-134.

विधि द्वारा उस पर कानून-भंग का दोष न लगाया जा सके। इस सिद्धांत में निहित है कि कोई भी व्यक्ति स्वच्छन्द रीति से जीवन, स्वतंत्रता या संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता; निश्चित कानून-भंग के सिवा, जिसे नियमित रूप से निर्मित न्यायालय में प्रमाणित करना होगा, किसी को भी गिरफ्तार न किया जाय। अभियोग बंद-किवाड़ों में नहीं होते, बल्कि खुले न्यायालयों में होते हैं, जिनमें जनता स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश कर सकती है। अभियुक्त वकील द्वारा प्रतिनिधित्व और रक्षण का अधिकार रखता है और गंभीर दंडनीय अपराधों में जूरी द्वारा मुकदमे की सुनाई होनी चाहिए। न्याय खुली अदालत में दिया जाता है और अभियुक्त को हाईकोर्ट में अपील करने का अधिकार है। इस सब से प्रवंधकारी की स्वेच्छाचारिता तथा दमन की संभावनाओं का अधिकतम ह्रास हो जाता है।

२. "कानून के शासन का और अधिक यह आशय है कि प्रत्येक नागरिक साधारण कानून के अधीन है और साधारण न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र के प्रति उत्तरदायी है।" प्रथमतः, इसमें प्रत्येक नागरिक की कानून की दृष्टि से समानता का भाव निहित है, भले ही सरकारी रूप में अथवा सामाजिक रूप में किसी का कोई भी स्तर हो। द्वितीयतः, कानून केवल एक ही प्रकार का है जिसके प्रति सब नागरिक उत्तरदायी हैं। सभी छोटे या बड़े, सरकारी अधिकारी अपने किये प्रत्येक कार्य के लिए समान उत्तरदायित्व के अधीन हैं। यदि सरकारी अधिकारी किसी व्यक्ति के प्रति कोई भूल करते हैं, अथवा कानून द्वारा प्रदत्त अधिकार का उल्लंघन करते हैं, तो उनपर साधारण न्यायालयों में मुकदमा चलाया जा सकता है और सामान्य कानून की धाराओं के अनुरूप कार्यवाही की जा सकती है। कानून की दृष्टि में सब की यह समानता प्रवंधकारी के अत्याचार और अनुत्तरदायित्व को कम करने वाली समझी जाती है। कानून की दृष्टि में सब की समानता के सिद्धांत को डाइसी स्पष्ट करते हुए कहते हैं: "हमारी दृष्टि में, प्रधान मंत्री से लेकर कान्स्टेवल अथवा टैक्स एकत्र करने वाले तक, प्रत्येक अधिकारी, वैध अधिकार-क्षेत्र के विना किये प्रत्येक कार्य के लिए उसी प्रकार उत्तरदायी है, जैसा कि अन्य कोई नागरिक।"

३. कानून के शासन का अभिप्राय है कि अंग्रेजों के लिए "संविधान के सामान्य सिद्धांत उन न्यायिक निर्णयों का परिणाम हैं जो खास हालतों में न्यायालय के सामने रक्खे गए व्यक्ति के अधिकारों को निश्चित करते हैं।" इंग्लैंड में अधिकारों का स्रोत संविधान नहीं है, परन्तु न्यायिक निर्णय है जैसा कि मशहूर विल्के के मामले में हुआ, जिसने, "खास हालतों में न्यायालय के समक्ष लाए गए व्यक्ति के विशेषाधिकारों की स्थापना की।"

कानून के शासन के अपवाद (Exception to the Rule of Law):— किंतु कानून का शासन इंग्लैंड में कतिपय महत्वपूर्ण योग्यताओं की शर्तों के साथ कार्य करता है। राजा कानून के प्रति उत्तरदायी नहीं है। ऐसा कोई न्यायालय नहीं है, जिसमें राजा पर मुकदमा चलाया जाय। वह फौजदारी अभियोग और दीवानी कार्यवाही से मुक्त है। इंग्लैंड में सिद्धांत यह है कि राजा कोई भूल नहीं कर सकता। द्वितीयतः, सरकारी अधिकारियों को अधिकारी स्थिति में किये किसी कार्य के लिए न्यायालय के समक्ष व्यक्तिगत विमुक्ति प्राप्त होती है। पब्लिक अथारिटी प्रोटैक्शन एक्ट (१८९३) की धाराओं तथा तत्सम अन्य कानूनों के अधीन किसी नागरिक को इस बात से वंचित रखा गया है "कि वह न्यायालय की विधि से उपचार प्राप्त कर सके, बशर्ते कि सरकारी

अधिकारी की उपेक्षा या दोषपूर्ण कार्य के बाद ६ मास के अंतर्गत कार्यवाही आरंभ न कर दी गई हो।"[1] इसके बाद, यदि किसी सरकारी अधिकारी के विरुद्ध किसी नागरिक का अभियोग असफल रह जाता है, तो तत्सबंधी व्यय के लिए कड़ी धाराएं हैं। न्यायाधीश भी किसी प्रकार की अधिकारी कार्यवाही के लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से विमुक्त होते हैं, चाहे भले ही उन्होंने अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लघन भी किया है, किंतु शर्त यह है कि जानबूझ कर नहीं। आगमशुल्क (Customs) और अन्त:शुल्क (Excise) के अधिकारियों को भी नागरिकों की वैध कार्यवाहियों के विरुद्ध पर्याप्त अनुविघ्यात्मक सरक्षण प्रदान किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कूटनीतिक विमुक्तिया भी हैं और दूतावासो के सदस्यों को अंग्रेजी न्यायालयों की विधि से छूट दी गई है, यद्यपि कानूनी दायित्व से नही।

युद्ध अथवा सकट जैसे राष्ट्रीय सकटो के समय में, वस्तुतः कानून का शासन नही होता। प्रबधकारी को बहुत-सी स्वेच्छा शक्तिया प्रदान कर दी जाती है, और इस तरह जनता की स्वतंत्रता में कमी हो जाती है। यहा तक कि शांति काल मे भी कानून के शासन की पवित्रता के लिए प्रगति की गई है। उदाहरणार्थ, पार्लमेंट के भिन्न एक्टों—फैक्टरी एक्ट, एजूकेशन एक्ट, आदि ने प्रबंधकारी अधिकारियो को कतिपय न्याय विषयक शक्तियां प्रदान की गई है, जिससे कानूनी न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र की क्षति हुई है। किंतु कानून के शासन की सबसे बुरी शत्रु प्रतिनिधि कानून-निर्माण विधि है, जो इंग्लैंड मे प्रशासनीय कानून (Administrative Law) के जन्म के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है। अन्ततः, आर्डर्स-इन-कौसिल और अस्थायी आज्ञाएं, जो सभी वस्तुतः कानून है, कानूनी न्यायालयो में आपत्ति का विषय नही हो सकती।

प्रशासन कानून ("Drioit Administratif")—प्रशासनीय कानून की व्याख्या यह है कि "नियमों का एक समूह, जो निजी नागरिकों के प्रति प्रशासनीय अधिकारी के संबंधो को नियमित बनाता है, और जो राज्य अधिकारियों की स्थिति का, राज्य के प्रतिनिधि रूप में इन अधिकारियों के साथ निजी नागरिकों के अधिकारों तथा दायित्वों का, और उस कार्यविधि का, जिसके द्वारा ये अधिकार, और दायित्व लागू किये जाते हैं, निश्चय करता है।" प्रशासनीय अधिकारियो को अपनी स्वेच्छा शक्तियो के प्रयोग में ऐसे अवसर हो सकते हैं, जिनमें नागरिको पर लागू होने वाले कानूनो का भंग होता है अथवा वे कानून द्वारा सन्निहित शक्ति का उल्लघन भी कर सकते है, अथवा स्वेच्छाचारी क्रिया द्वारा वे नागरिक या नागरिको को हानि भी पहुचा सकते है। इस प्रकार की सब अवस्थाओं में उन्हें उच्च प्रबधकारी अधिकारियो के सघटित विशेष प्रशासनीय न्यायालय के प्रति उत्तरदायी होना पडता है। प्रशासनीय न्यायालय "विशिष्ट रूप के कानून और कार्य-विधि को लागू करते है, उनके निर्णयो का आधार मुख्यत: प्रशासनीय अध्यादेश, और राजनीतिक नीतिमत्ता तथा न्याय के सामान्य सिद्धात होते है।"[2] इस प्रकार प्रशासनीय कानून महाद्वीपीय कानून का वह अश है, जो सरकारी अधिकारियों तथा निजी नागरिको के संबंधों को नियमित करता है और

१. सब सरकारी अधिकारियो की स्थिति और दायित्वो का;

1. Wade and Phillip, Constutational Law, p. 96.
2. Gettell, op. cit., p. 279

२. राज्य के प्रतिनिधि रूप में सरकारी अफसरों के साथ व्यवहार करते समय निजी नागरिकों के अधिकारों और दायित्वों का; तथा
३. उस कार्य-विधि का, जिसके द्वारा ये अधिकार और दायित्व लागू किये जाते हैं, निश्चय करता है।

प्रशासनीय कानून का आधार (Basis of the Administrative Law) :—महाद्वीपीय न्यायशास्त्र रोमन कानून पर आधारित है। रोमन कानून के सिद्धांतों के अनुसार, जो लोग राज्य की राज्याधिकारी रूप में सेवा करते हैं, वे साधारण कानून के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं और इसलिए, साधारण न्यायालयों में उनपर अभियोग नहीं लगाया जा सकता। यदि कोई नागरिक समझता है कि राज्य के किसी अधिकारी से उसे क्षति हुई है, अथवा उस अधिकारी का कार्य गलत निर्णय का परिणाम है, अथवा उसका स्वरूप स्वेच्छा का है, तो उसे प्रतिक्रिया का अधिकार है, किंतु उसे इस प्रतिक्रिया को विशेष न्यायालयों से प्राप्त करना होगा, जो इस उद्देश्य के लिए बने होते हैं और जो साधारण कानून से भिन्न रूप में प्रशासनीय कानून को लागू करते हैं।

प्रशासनात्मक अधिकार-क्षेत्र को साधारण नागरिक अधिकार क्षेत्र से अलग करने का सर्वप्रथम विचार क्रांतिकाल के अवसर पर फ्रांस में उत्पन्न हुआ था। न्यायाधिकारि-वर्ग पुरातन राज-पद्धति के काल में प्रशासनात्मक अधिकार-शक्ति पर जिस नियंत्रण का प्रयोग करता था उसके लिए सर्वमान्य विरोध होने लगा। "यह अनुभव किया जाता था कि यदि न्यायाधीशों को राज्य तथा उसके प्रशासनात्मक अधिकारियों और निजी व्यक्तियों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय करने की स्वीकृति दे दी जाय तो इसके परिणामस्वरूप सरकार के कार्यों में न्याय-प्रबन्ध का हस्तक्षेप होगा और प्रशासन की योग्यता को क्षति पहुंचेगी।"[1] शक्तियों के अलगाव के रूप में मानटैस्क्यू के सिद्धांत की व्याख्या का यह अर्थ लगाया जाता था कि न्यायाधिकारि-वर्ग को प्रबन्धकारी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और प्रशासनात्मक न्यायालयों की एक अलग प्रणाली स्थापित होनी चाहिए। १७९० के ऐक्ट का निर्देश था कि न्याय-प्रबंध और प्रशासनात्मक कृत्य अलग होने चाहिएं और दीवानी अदालतों का अधिकार क्षेत्र दीवानी और फौजदारी कानूनों के आधीन उत्पन्न होने वाले अभियोगों के निर्णय तक सीमित रहना चाहिए। इस प्रणाली को बाद में महाद्वीपीय योरोप के अन्य राज्यों ने ग्रहण कर लिया था।

प्रशासनी न्यायालय (Administrative Courts) :—१७९९ में, फ्रांस में पहली बार विशेष प्रशासनीय न्यायालयों की रचना की गई थी। इन्हें "कौंसिल" कहा जाता था। इन न्यायलयों के दो दर्जे हैं: सब से नीचे प्रादेशिक कौंसिलें, और सब से ऊपर कौंसिल आफ स्टेट। १९२६ में अधिनायक (Prefectoral) कौंसिलों की जगह प्रादेशिक कौंसिलों ने ले ली। विभागों में से प्रत्येक में एक अधिनायक कौंसिल थी, जिसमें विभाग का अधिनेता और दो अन्य सदस्य होते थे, जिनकी नियुक्ति गृह-मंत्री द्वारा की जाती थी। इन दो सदस्यों को उन व्यक्तियों में से लिया जाता था जो सार्वजनिक प्रशासनात्मक पदों पर होते थे अथवा रह चुकते थे। अधिनायक कौंसिलों के पुनः संगठन के लिए निरंतर मांग की जा रही थी और, इसलिए, १९२६ में इनकी जगह २२ अंतर-विभागीय या प्रादेशिक

1. Garner, op. cit., p. 785

कौंसिलें बना दी गईं। प्रादेशिक कौंसिल के संघटन में एक प्रधान और चार सदस्य होते हैं जिनकी नियक्ति गृह-मंत्री द्वारा की जाती है। प्रत्येक कौंसिल दो से सात विभागों तक के समूह का कार्य करती है। प्रादेशिक कौंसिल के अधिकार-क्षेत्र से न्याय-प्रबन्ध से सम्बन्ध न रखने वाले कृत्यों को ले लिया गया है और अब वे अपना सारा समय पूर्णतया न्याय प्रबन्ध के कार्य में लगाती हैं। उनके निर्णयों की अपीलें कौंसिल आफ स्टेट में जाती हैं।

कौंसिल आफ स्टेट (The Council of State) :—कौंसिल आफ स्टेट का अंतिम अधिकार-क्षेत्र है और यह उच्चतम प्रशासनीय न्यायालय का काम करती है। इसके सदस्य मंत्री-सदस्य के परामर्श से गणतंत्र के प्रेसीडेंट द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। न्यायालय तक पहुंच सहज और अल्प-व्ययी है। साधारण और प्रशासनात्मक न्यायालयों के बीच अधिकार-क्षेत्र के किसी संघर्ष का समाधान करने के लिए फ्रांस में (Court of Conflict) संघर्ष न्यायालय है, जो प्रत्येक पक्ष के तीन प्रतिनिधियों द्वारा संघटित होता है—एक न्याय-मंत्री और दो अतिरिक्त सदस्य।

इस प्रणाली की न्याय्यता (Justification of the System)—डाइसी ने [illegible]

[illegible]

जिनसे ये न्यायालय संघटित होते हैं, अपने साथी अधिकारियों के प्रति अनुकूल भावना रखेंगे। उस न्यायाधिकारी-वर्ग की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता की, जो जनता की स्वतन्त्रता का अवलम्ब है, इन न्यायालयों से आशा नहीं की जा सकती।

किन्तु फ्रांसीसी अनुभव के आधार पर यह कहना सत्य नहीं है कि प्रशासनात्मक कानून की प्रणाली के आधीन कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। वल्कि इसके विपरीत फ्रांसीसी लोग इसे अपनी स्वतन्त्रता का स्मृति-स्तंभ मानते हैं। इसके अतिरिक्त प्रशासनीय न्यायालयों पर सरकारी अधिकारियों के पक्ष में पक्षपात का संदेह करने में भी कोई न्याय्यता नहीं। कौंसिल आफ स्टेट ने, फ्रांस में उच्चतम प्रशासनीय न्यायालय के रूप में निष्पक्षता की प्रशंसनीय परम्पराओं की स्थापना की है। डुगीट का मत था कि कौंसिल ऑफ स्टेट ने वाद-जनित विधान के जिस बड़े समूह का निर्माण किया या उससे व्यक्ति को "स्वेच्छाचारी प्रशासनीय कार्य के विरुद्ध लगभग पूर्ण सुरक्षा" मिलती है। फ्रांस में एक निजी नागरिक एक अंग्रेज की अपेक्षा प्रशासनीय न्यायालयों से अधिक वास्तविक प्रतिशोध प्राप्त करता है। प्रथमतः प्रशासनीय न्यायालयों का संगठन उन कुशल प्रशासनीय अधिकारियों द्वारा होता है, जिनके निर्णय अनिवार्यतः कुशल निर्णयों के स्वरूप के होंगे। ऐसी अनेक प्राविधिक और विभागीय समस्याएं होती हैं जिन्हें न्यायालय का अदभुत न्यायाधीश नहीं भी समझ सकता। एक अनजान के रूप में वह गलत निर्णय देने के लिए वाध्य होगा। तिस पर, प्रशासनीय न्यायालयों तक पहुंच इतनी सहज है और उसमें कोई खर्च भी नहीं होता। कार्यविधि सरल है और निर्णय शीघ्रतापूर्वक होते हैं। फ्रांस में यदि अधिकारी दोषी सिद्ध होता है तो क्षति राज्य द्वारा चुकाई जाती है। जब कि इंग्लैंड में अधिकारी स्वतः उत्तरदायी है और इस तरह, वहां किसी प्रकार का वास्तविक प्रतिशोध नहीं हो सकता।

प्रशासनात्मक कानून विधि-[illegible] नहीं है। यह मुख्यतः वाद-जनित विधान है जो लगभग पूर्ण तथा दृष्टांतों से बनता है। एक वाद-जनित विधान अनु[illegible]

तुलना में लोचदार है और तदनुसार, परिवर्तित अवस्थाओं के अनुकूल उसका समन्वय हो सकता है। एक वाद-जनित विधान विस्तृत परिधि तक आच्छादित होता है। इसलिए, प्रतिवाद के किसी भय के बिना यह कहा जा सकता है कि विश्व में ऐसा अन्य कोई देश नहीं जैसा कि फ्रांस है, जिस में "प्रशासनीय अतिचार के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों की इतनी अच्छी सुरक्षा हो और जनता इस प्रकार के अतिचारों से प्रताड़ित होने के बदले प्रतिशोध प्राप्ति के लिए इतनी निश्चित हो।"[1]

Suggested Readings.

Bryce, J.—Modern Democracies, Vol. II, chap. LXII
Dicey, A. V.—The Law of the Constitution, chap. XII
Garner, J. W.—Introduction to Political Science, chap. XVII
Garner, J. W.—Political Science & Government, chap. XXIV
Goodnow, F.J.—Principles of Constitutional Government, chaps. XVIII-XIX
Laski, H.J.—Grammar of Politics, chap. X
Lowell, A. L.—Government of England, Vol. II, chaps. LIX-LXII.
Marriot, J. A. R.—Mechanism of the Modern State, Vol. II, chaps. XXXI-XXXIV.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, chap. XXIV.

1. Garner, "French Administrative Law" Yale Law Journal, April 1924, and as quoted in Ogg, op. cit, p. 577.

अध्याय : : २०

परामर्शात्मक और परामर्शदातृ संस्थाएं

(Consultative & Advisory Bodies)

परामर्श की आवश्यकता (Need for Consultation)—प्रबंधकारी के कृत्य केवल कानूनों को क्रियाशील बनाना ही नही बल्कि उससे कही अधिक है। उनमें रचनात्मक नीतियो का समावेश है और साथ-ही-साथ निर्देशन शक्तियां है, जिनके लिए विस्तृत विवेक और निर्णय-शक्ति की आवश्यकता होती है। यदि इन कर्तव्यों को बुद्धिमानी के साथ पालन करना हो तो यह अत्यावश्यक है कि प्रबंधकारी के परामर्श और निर्देशन के लिए ऐसे विज्ञजनों की समितियां बनाई जाय, जो आवश्यक योग्यता और जनता तथा संबंधित स्वार्थों की विश्वासपात्र हों। इस प्रकार की समितियों का उद्देश्य समग्र रूप में मन्त्रि-परिषद् और उसके द्वारा लोक-सभा की भी सेवा करना होगा; अथवा वह किसी विशिष्ट पद या विभाग से भी सबंधित कार्य कर सकती हैं। संक्षेप में, सरकार ऐसी सगठित समितियों से घिरी रहनी चाहिए, जिनसे वह अपने सारे कार्य-व्यवहार में सलाह ले सके। इसका अर्थ यह है कि ऐसे सब स्वार्थों के साथ पूर्वतः परामर्श कर लिया जायगा, जिनके सरकार द्वारा प्रस्तावित निर्णय से प्रभावित होने की संभावना होगी। लेकिन यह परामर्श प्रतिनिधि रूप का होना चाहिए और मन-पसद का नहीं। अगर सरकार अपनी पसंद के लोगों को नियुक्त करती है, तो इसे परामर्श नही कहा जा सकता, क्योंकि अपनी पसद का परामर्श एकांगी मत होगा, और सरकार इसे हमेशा ही प्राप्त कर सकती है। वास्तविक परामर्श सबंधित सस्थाओ द्वारा नामजद प्रतिनिधियो की सम्मति से ही मिल सकता है। उदाहरणार्थ, यदि भारत सरकार खाद-उद्योग पर से संरक्षण उठाने का निश्चय करती है, तो उसे निर्माताओं की सम्मति जानने के लिए इस उद्योग के निर्वाचित प्रतिनिधियों से सलाह करनी होगी, न कि सरकार द्वारा नामजद व्यक्तियों से। क्योकि उनके विचार तो पहले से ही मालूम हैं और वे प्रस्तावित नीति के अनुरूप होगे। लास्की कहते है, "यदि कोई सरकार कोई नीति निर्माण करना चाहती है, तो उसे उस नीति के परीक्षण के साधन भी उपस्थित करने चाहिएं। सगठित जाच द्वारा यह जो मत प्राप्त करती है, वह उस नीति का आधारमूल है। यदि इसे अपने नागरिकों के विवेकपूर्ण निष्कर्ष के आधार पर अपना मत तैयार करना है, तो जो प्रमाण उसने एकत्र किये होगे, और जो तथ्य उसके पास होगे, उन्हें वह अपनी प्रजा से ओझल नहीं रख सकती।"[1]

इस प्रकार की परामर्श विधि के लाभ स्पष्ट ही हैं। प्रथमतः, इस साधन से सब स्वार्थों की सरकार तक पहुच हो सकती है। इससे उन्हे अपनी अधिकारपूर्ण सम्मति प्रकट करने और उसके साथ ही सरकार के दृष्टिकोण को जानने और समझने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। तदनुसार, वे प्रभावपूर्ण उपायों से सरकार का विरोध या समर्थन कर सकते हैं और लोकमत के प्रति उनकी अभ्यर्थना ज्ञान एवं तथ्यों पर आधारित होगी। द्वितीयतः,

1. Grammar of Politics, p. 133.

संबंधित स्वार्थों के प्रतिनिधि सरकार को अविकृत और बहुमूल्य सूचना प्रदान कर सकते हैं और उसके आधार पर विस्तृत उपायों की रचना की जा सकती है। वे उसकी संभावित कार्यकारिता के लिए रचनात्मक प्रस्ताव उपस्थित कर सकते हैं। "संक्षेप में, वे नीति विषयक भिन्न अंगों पर कुशलता की निधि होते हैं, जिसका प्रभावपूर्ण प्रयोग सरकारी कार्यों के विषय में उत्तरदायित्वपूर्ण वातावरण की रचना करता है।"[1] पुनः जो लोग सरकारी यंत्र से बाहर हैं, उन्हें केवल तभी उत्तरदायी बनाया जा सकता है, जब वे उससे संबद्ध होंगे। लास्की बलपूर्वक कहते हैं, "जनता के लिए काम करने का केवल वही उपाय है कि उसे स्वतः अपने लिए काम करने योग्य बनाया जाय।"[2]

इस तरह का कार्य वस्तुतः जनतांत्रिक होगा, क्योंकि जनता को उत्तरदायी बना कर हम उसकी इच्छा को सक्रिय करते हैं और उसकी कल्पना-शक्ति में वृद्धि करते हैं। जनता महसूस करती है कि यह उसी की सरकार है। लोकतंत्र का सार भी यही है। अंततः मंत्रि-परिषद के मंत्री जो नीति बनाते हैं और निर्णय करते हैं, वह हमेशा ही जन-हित के हों, यह भी संभव नहीं। मंत्रियों को अपने निर्णय करते समय अनिवार्यतः इन दो महत्वपूर्ण प्रश्नों को समक्ष रखना ही होगा : सरकार की अविच्छिन्नता और दल की एकता। उन्हें इस बात का ख्याल रखना होगा कि यदि एक शक्तिशाली सहयोगी उनकी नीति से घटनावश असहमत हो जाता है, तो वह मंत्रिपद से त्यागपत्र न दे। यहां तक कि किसी तरह का समझौता भी करना होगा और यह समझौता जन-हित के प्रतिकूल भी हो सकता है। यदि परामर्श के लिए उचित एवं प्रतिनिधि रूप के उपाय हैं, तो उक्त प्रकार की घटनाएं नहीं होंगी। वहां सम्बंधित विषयों के सिद्धान्तों के मूल में ही विचारणीय प्रश्न निहित हैं; व्यक्तिगत धारणाओं को इसमें स्थान नहीं होता। मन्त्री प्रत्यक्षतः मनोभावों और अप्रत्यक्षतः मतों के साथ व्यवहार करता है। वह उन लोगों के प्रति उत्तरदायी बनने की शिक्षा प्राप्त करता है, जिनकी इच्छाओं द्वारा उसकी इच्छा साकार रूप धारण करती है।

परामर्शदात्री समितियां (Advisory Committees):—इसलिए लास्की ठीक ही कहते हैं कि, "आधुनिक राज्य की सर्वप्रथम महान आवश्यकता पर्याप्त रूप में परामर्श संबंधी व्यवस्थाओं का संघटन करना है।" प्रशासन की जनतांत्रिक और वैज्ञानिक विधि इस बात की मांग करती है कि सरकार के निर्णय करने से पूर्व परामर्श विषयक स्थानीय संस्थाएं होनी चाहिएं। एक दृष्टि से मन्त्री-परिषद् प्रणाली परामर्श द्वारा शासन की विधि है क्योंकि एक मन्त्री अपने विभाग के प्रशासन विषयक मामलों में या तो अपने सहयोगियों अथवा प्रधान मन्त्री की सलाह ले सकता है और वह लेता भी है। वस्तुतः सभी महत्वपूर्ण निर्णय मंत्री-परिषद् ही करता है और अन्तर्विभागीय समस्याओं पर संबंधित मंत्रियों द्वारा विचार किया जाता है और इस परामर्श के फलस्वरूप निर्णय किए जाते हैं। अमरीका की 'सीनेट' पर यही बात लागू होती है। वैधानिक कृत्यों के अलावा 'सीनेट' का असली मुद्दा प्रेसीडेंट की सलाहकार समिति के रूप में कार्य करना है। यद्यपि यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सका, तथापि ये समितियां प्रैसिडेंट की शक्तियों की सहायक एवं शक्तिशाली अवरोध हैं। योरोपीय देशों की स्थायी समितियां न केवल सलाह देती हैं, बल्कि सरकार के प्रशासनात्मक

1. Ibid., p.p. 80-81
2. Ibid, p. 268.

विभागों पर नियंत्रण भी करती हैं। फ्रांस की कमीशनें, जिनका मूल उद्देश्य आलोचना तथा सुझाव देने का था, अब प्रबंधकारी के नियंत्रण की अग्रणी बन गई हैं। अपने अधिकार-क्षेत्र में वह सरकार के प्रशासनात्मक विभागों पर शासन करने तक की सीमा तक बढ़ जाती हैं, और फ्रांस में मंत्रि-परिषद् की दुर्बल वैधानिक स्थिति का वस्तुतः मुख्य कारण भी यही है।

किंतु फ्रांस में ये सारी समितियां वैधानिक व्यवस्थाएं हैं। जो भी हो, "प्रबंधकारी-कार्य और परामर्श का मेल प्रबंधकारी की प्रक्रिया द्वारा अत्यधिक वैधानिक रूप में किया जा सकता है।" ऐसी समितियों के सर्वोत्तम उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन की शाही प्रतिरक्षा (Imperial Defence) और आर्थिक सलाहकार (Economic Advisory) समितियां हैं। गत १९०४ से शाही प्रतिरक्षा समिति कार्य कर रही है और उसे शाही-प्रतिरक्षा के सभी प्रश्नों की जांच करने, सूचना देने और सिफारिश करने का भार सौंपा गया है। आर्थिक सलाहकार समिति का यह कर्तव्य है कि वह व्यापारिक, औद्योगिक तथा सामान्य हित की अन्य आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करें और मंत्रि-परिषद् को सूचना दे।

विशिष्ट विभागों से संबद्ध परामर्शदातृ समितियों का उत्कर्ष भी समान रूप में महत्वपूर्ण है। विभागीय अध्यक्षों का सरकारी नौकरियों से बाहर के व्यक्तियों या समूहों से अनियमित रूप में परामर्श लेने का अधिकार भूतकाल में कई पीढ़ियों तक इंग्लैंड में विद्यमान था। १८९९ में अनुविधि द्वारा असरकारी अध्यक्षों के संघटन से विभागीय परामर्शदातृ समितियों के लिए योजना का आरंभ किया गया, जैसे शिक्षा समिति, व्यापार समिति, आदि। प्रथम विश्वयुद्ध के समय, प्रबंधकारी की आज्ञा से इस प्रकार की बहुत सी समितियों का निर्माण हुआ था। जब तक परामर्शदातृ समितियां मंत्रियों के पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायित्व को कोई क्षति नहीं पहुंचाती थीं सरकारी समिति की मशीनरी परामर्शदातृ समिति की योजना का हार्दिक पृष्ठपोषण करती थी। इसका सामान्य प्रमाण यह है कि विभागीय परामर्शदातृ समितियां बहुमूल्य सेवाकार्य कर रही हैं। वह न केवल विभागों को स्व-ज्ञान के आधार पर सूचना और परामर्श प्रदान करती हैं "प्रत्युत कोरे सिद्धांतों या नौकरशाही की पूर्व कल्पना के बजाय इस प्रकार की सूचना और परामर्श से संचालित हो कर प्रशासन अधिकारियों के प्रति अधिक लोक-विश्वास उत्पन्न करती है।"[1] इंग्लैंड में परामर्शदातृ समितियों को प्रशासनीय कार्य को संचालित या नियंत्रित अथवा नीति निर्दिष्ट करने का अधिकार नहीं है। अंतिम निर्णय तो पूर्णतया विभागीय अध्यक्ष का होता है। किन्तु वह उत्तरदायी विशेषज्ञों का विश्वास प्राप्त करने और उनके दृष्टिकोण को सुनने के बाद ही हमेशा निर्णय करता है। इस प्रकार समितियों का कार्य केवलमात्र विचार करना और परामर्श देना है।

सलाहकार समितियों के कृत्य (Functions of the Advisory Committees):—सलाहकार समितियों की उपयोगिता से कोई भी इंकार नहीं कर सकता। सरकार विषयक यांत्रिकता पर लार्ड हाल्डेन्स कमेटी ने सूचना दी थी "जितना ही हम कमेटियों को किसी विभाग के सामान्य संगठन का अंगभूत मात्र मानते हैं उतना ही अधिक उनके द्वारा मंत्रीगण अपने सेवा विषयक प्रशासन में, जिससे समुदाय के अधिकांश जीवन पर

1. Ogg op. cit. p. 111.

अधिकाधिक प्रभाव हो सकता है। लोकसभा और जनता का विश्वासपात्र बनने योग्य हो जायंगे।" जो कोई सरकार सलाहकार समितियां बनाती है वह उनके सामने अपनी इच्छित नीतियों को उपस्थित करती है और संबंधित स्वार्थों की आलोचना को सुनती है। ऐसी सरकार निश्चित ही उस सरकार से सर्वथा भिन्न होती है जो दलबन्दी के फलरूप अपनी नीति का समर्थन प्राप्त करती है।

लेकिन इस प्रकार की समितियों के कृत्य क्या होने चाहिएं? यहां पुनः इस बात पर बल देना होगा कि सलाहकार समितियों के प्रबंधकारी कृत्य नहीं हैं। ये समितियां अतिरिक्त वैधानिक व्यवस्थाएं हैं और आखिरी निर्णय सरकार का ही होता है। अगर उन का संविधि रूप का भी अस्तित्व होता है तो वे प्रशासन के बारे में ही सलाह देती हैं, लेकिन न तो वे निर्देश करती हैं न ही उसका नियंत्रण। और वह किसी प्रकार की नीति भी नहीं बनातीं। नीति आदि बनाने का एकमात्र कार्य संबंधित मंत्री का होता है या मंत्रि-मण्डल का। सामान्य तया सलाहकार समितियों के चार कृत्य कहे जा सकते हैं।[1] प्रथम, कमेटी को विधान सभा में उपस्थित करने से पूर्व सब प्रस्तावित विधेयकों पर परामर्श देने का अधिकार होगा। संबंधित विभाग को सारे प्रस्तावित विधेयक आलोचना के लिए कमेटी के सामने उपस्थित करने होंगे। स्वतंत्र और मुक्त विचार करने के लिए एक कांफ्रेंस संगठित करनी होगी कि जिसमें एक ओर तो मंत्री और उसके स्थायी अधिकारी होंगे और दूसरी ओर विभागीय सलाहकार समिति। इन विधेयकों की व्याख्या होगी और उनकी प्रत्येक शब्द की जांच की जायगी। संभव है कि कमेटी अपने सुझावों के साथ मंत्री को उन्हें रद्द करने या स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दे।

द्वितीय, सामान्य प्रशासन नीति के विषय में समितियों का परामर्श लेना होगा। निस्संदेह यह मंत्री की इच्छा पर होगा कि वह परामर्श के लिए कमेटी को कौन से मामले सौंपना चाहता है। यह भी हो सकता है कि मंत्री समिति को कोई भी मामला पेश न करे और उसकी सलाह के बिना ही कार्य करे। जो भी हो, प्रत्येक सदस्य के लिए विचारार्थ मामलों का सुझाव दे सकना सम्भव हो और उसे इस बात का अधिकार हो कि "मंत्री द्वारा उठाए गए एतराज के बारे में वह विरोधी दृष्टिकोण की व्याख्या कर सके"[2] तो यह हितकर होगा।

तृतीय, समितियों को सुझावों के लिए अधिकतम क्षेत्र प्रदान करना होगा। ऐसी स्थिति में ही सलाहकार समितियां लाभकारी कार्य और अपनी वास्तविक उपयोगिता को साबित कर सकती हैं। जिन सदस्यों को ज्ञान और अनुभव तथा विशेष स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने के कारण समितियों के लिए चुना जाता है वह जांच के दौरान में बहुमूल्य सुझाव दे सकते हैं। लास्की के मत में "रूढ़िवादी संकीर्णता के खतरों से बचने का यह एक उपाय है। उदाहरण के लिए न्याय मंत्रालय की एक समिति, जिस पर सामान्य व्यक्ति और कानूनी व्यक्ति को भरोसा है, कानून में ऐसे अनेकों सुझाव दे सकती है जहां सुधार और प्रयोग की अनिवार्य आवश्यकता होगी।"[3]

विधान सभाओं में इन दिनों कितना ज्यादा काम रहता है, इस बारे में हम पूर्वतः

---

1. Laski, *op. cit., pp. 380-83*
2. Ibid. p. 381

विचार कर आये हैं, और राज्य कार्यकलापों के विस्तृत एवं संपूर्ण रूपों को जगह अति-सूक्ष्म विधेयों ने ले ली है और संबंधित विभाग विभिन्न उपायों से उनके विस्तारों की पूर्ति कर लेते हैं। विभागों की शक्ति और स्वेच्छा में इस वृद्धि पर और साथ ही इसके कारण स्थायी पौर-सेवाधिकारियों के अधिकारों में जो वृद्धि हो जायेगी, दोनों पर रोक लगाना आवश्यक होगा और सलाहकार समिति इस उद्देश्य की सर्वोत्तम पूर्ति कर सकती है। लास्की इस विषय में एक अत्यधिक ठोस सुझाव उपस्थित करते हैं। वह कहते हैं,"कोई भी विभाग समुचित सलाहकार समिति से पहले सलाह लिये बिना अपने वैध अधिकारों के अधीन कोई आज्ञा जारी नहीं करेगा; और सलाहकार समिति के आपत्ति उठाने की दशा में विधान सभा की विशिष्ट अनुमति के बिना वह आज्ञा जारी नहीं की जायगी।"[1]

ये सारे कृत्य महज परामर्शात्मक हैं। इस परामर्श का यह आशय नहीं है कि उत्तर-दायित्व को सलाहकार समितियों को सौंप दिया गया है। मंत्रियों की पुनः दोहराने की जिम्मेदारी तो स्थिर रहनी ही चाहिए। लास्की कहते हैं कि परामर्श लेने की विधि का यह आशय नहीं है"उसे उत्तरदायी बनाने के लिए शक्ति-विभाजन किया जाय; बल्कि उसकी जगह सलाह देने वाले संगठनों को संबद्ध करने की अत्यावश्यकता है।"[2]

परामर्श समितियों का संघटन (Composition of the Advisory Bodies)—सलाहकार समितियों के बारे में यह विचार गलत है कि वह विभागीय योग्यता के संपूर्ण क्षेत्र पर आवृत्त होती हैं। न ही यह संभव भी है। वास्तविक आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे प्रश्नों पर सम्मति लेने का अधिकार हो कि जिनसे विशिष्ट स्वार्थ प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षा सम्बन्धी सलाहकार समिति से हमें आशा करनी चाहिए कि वह सामान्य ज्ञान के बजाय विशिष्ट ज्ञानप्रदान करे,और उसमें प्रारम्भिक

और उनके सामने मंत्रालय से संबंधित उन सब मामलों को रखना सर्वथा बेकार है जिनका उन्हें अनुभव ही नहीं है। फलस्वरूप, सलाहकार समितियों के संघटन में दो बातें विशेष महत्व की हैं।[3] प्रथम यह कि समिति की सदस्य संख्या थोड़ी होनी चाहिए, अर्थात्, २० सदस्यों से अधिक नहीं। अगर इसमें परिमित संख्या नहीं होगी तो जिस उद्देश्य से यह बनाई गई है, वह हल नहीं होगा, क्योंकि उसकी कार्यवाही में विचार-विनिमय की जगह भाषण होंगे।

दूसरे यह कि सलाहकार समिति में अनिवार्यतः दो प्रकार के सदस्यों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए : (क) कुल सदस्यता में ऐसे लोगों की बहुसंख्या हो, जो संबंधित स्वार्थों और विभागों के निर्णयों द्वारा प्रभावित होने वालों के चुने हुए प्रतिनिधि हों। (ख) और मंत्री द्वारा मनोनीत सदस्यों का अल्प-मत हो, जो विशिष्ट ज्ञान और अनुभव तथा विभाग की नीतियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होने वाले विशेष स्वार्थों के प्रतिनिधि हों।

लास्की नामजदगी के लिए इस शर्त के साथ तीन वर्ष की अवधि का सुझाव देते

1. Ibid., p. 383
2. Ibid., p. 81.
3. Ibid., p. 378.

हैं कि नियुक्ति करने वाली संस्था की इच्छा पर निर्भर करते हुए इस अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है। सदस्यों के चुनाव के बारे में वह कहते हैं कि "उन्हें मनोनीत करने वाली संस्थाओं की संसद द्वारा उनका चुनाव होना चाहिए ; खनिज संघ की प्रबंधकारिणी द्वारा खनिजों का, अध्यापक राष्ट्र-संघ की संसद द्वारा अध्यापकों का, और इसी प्रकार दूसरों का भी। उन्हें सेवा कार्यों के लिए समय खर्च करने का पर्याप्त मुआवजा भी मिलना चाहिए, लेकिन वह इतना नहीं हो कि उसे वे अपने चुनाव के बल पर आय का आधार बना लें।"[1]

शाही कमीशन (Royal Commission)—शाही कमीशन भी एक प्रकार की परामर्शदातृ समिति है, जो ग्रेट ब्रिटेन तथा ब्रिटिश शासन काल में भारत में लोकप्रिय थी। शाही कमीशन का उद्देश्य "सरकार को एक जैसी अनेक समस्याओं पर परामर्श देना है।"[2] प्रबंधकारी को अक्सर नई और जटिल समस्याओं का सामना करना होता है जिन्हें हल करना मंत्रिमंडल के लिए कठिन हो सकता है। इसलिए सरकार और अधिक सूचना प्राप्त करने के लिए संपूर्ण समस्या का पूरा पूरा निरीक्षण चाहेगी अथवा अंतिम निर्णय करने से पूर्व अन्य देशों के अनुभव को प्राप्त करना चाहेगी। फलतः, शाही कमीशन को कुशल सम्मति के लिए नियुक्त किया जाता है। और उसकी सिफारिशों को बहुत कम अस्वीकार किया जाता है। कमीशन का नाम उसके सभापति के नाम पर होता है। इसकी निर्देश संबंधी शर्तें अति-विशिष्ट होती हैं और वह नियुक्ति विलेख में सम्मिलित होती हैं। नियुक्ति-विलेख राजा द्वारा जारी किया जाता है। चूंकि शाही कमीशनें विशिष्ट उद्देश्यों के लिए नियत की जाती हैं, इसलिए जब उनका कार्य समाप्त हो जाता है, तो वह भंग कर दी जाती हैं। साइमन कमीशन और लिन्लिथगो कमीशन इसके उदाहरण हैं। पूर्वकथित भारत में वैधानिक सुधारों के लिए शाही कमीशन थी और १९१९ के एक्ट की अनुविध्यात्मक योजना के अनुसार नियत की गई थी। इस एक्ट में उल्लेख किया गया था कि दस वर्ष की समाप्ति पर सम्राट द्वारा अनुविध्यात्मक कमीशन नियत की जायगी, जो भारत में सरकार प्रणाली की कार्य-कारिता की जांच करेगी और यह सूचना देगी कि उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्त को स्थापित करना अथवा उत्तरदायी सरकार की मात्रा को प्रदान करना, शोधन करना, या प्रतिबंधित करना, किस सीमा तक, और उचित भी है या नहीं। लिन्लिथगो कमीशन शाही कमीशन थी जो अप्रैल १९२६ में भारत की कृषि अवस्थाओं तथा ग्रामीण आर्थिक दशा की जांच और सूचना के लिए नियत की गई थी।

कभी-कभी स्थानीय समितियों को कम महत्व की समस्याओं के लिए नियत किया जाता है और वह जांच समितियां कहलाती हैं। जांच समितियां तद् विषयक समितियां (ad hoc Committees) भी होती हैं और शाही कमीशनों की भांति उनका उद्देश्य विशिष्ट विचारणीय प्रश्न पर सरकार को परामर्श देना होता है।

आर्थिक परिषदें (Economic Councils)—हाल ही के वर्षों में एक आंदोलन ने जोर पकड़ा और एक के बाद दूसरे देश में आर्थिक परिषदों की स्थापना की जाने लगी और इन समितियों को परामर्शदातृ कृत्य सौंपे जाने लगे। निःसंदेह, आधुनिक सरकारें बहुधा

1. Ibid., p. 380.

कानून निर्माण या प्रशासन-विषयक नीतियों के निर्माण में श्रम, व्यावसायिक मनुष्यों, किसानों, निर्माताओं, व्यापारियों, बैंकरों आदि के संघों का सहयोग प्राप्त करने के लिए सूत्रपात करती हैं। प्रत्येक राज्य ने वर्तमान में संवर्धित संगठित समूहों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं के द्वारा आर्थिक समस्याओं पर विचार करने के मूल्य को स्वीकार कर लिया है। सार रूप में, इसमें पूंजीवादी राज्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय औद्योगिक आयोग का आदर्श समाविष्ट हो जाता है। किन्तु पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था आयोजित अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण निषेध है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अधीन आर्थिक कार्यकलाप बहुत से मनुष्यों के स्वतंत्र निर्णयों के फलस्वरूप होते हैं। वहां किसी प्रकार का पारस्परिक संबंध नहीं होता और भूमि, श्रम, पूंजी और संगठनकारी योग्यता के स्वामी अपने-अपने उत्पादन-अंगों का अपनी इच्छा अनुसार प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र होते हैं और अपने उपार्जनों को इच्छानुसार खर्च करते हैं। आर्थिक स्वतंत्रता, जो पूंजीवादी समाज का मुख्य अंग है, हमारे समाज की आर्थिक और राजनीतिक सब बुराइयों के लिए उत्तरदायी कही जाती है, क्योंकि प्रत्येक उत्पादनकर्त्ता पदार्थ के लिए माग का ख्याल किये बिना अपने लाभों को, अधिकतम बनाने की नीति का अनुसरण करता है।

किन्तु बहुविधि उत्पादन की आधुनिक यांत्रिकता अत्यधिक जटिल एवं नाजुक होती है। एक उद्योग के उत्पादक अन्य उद्योगों में उपभोक्ता होते हैं। अलग-अलग व्यापार एक-दूसरे के ग्राहक हैं। उत्पादन यंत्र में अनेक इकाइयां इतने सन्निकट रूप में संबंधित होती हैं कि एक व्यापार की समृद्धि या मंदी सर्वदा अन्यों में समृद्धि या मंदी पैदा करने वाली होती हैं। एक अन्य तथ्य से भी इसका समर्थन होता है। एक उद्योग के श्रमिक अन्य उद्योग में नियोजित साथी श्रमिकों के उत्पाद के उपभोक्ता होते हैं। फलस्वरूप एक उद्योग का संकट और मंदी एक कुत्सित चक्र की रचना करता है और इस तरह सभी ओर मंदी हो जाती है। जिस तरह एक उद्योग की मंदी अन्यों में फैल जाती है, उसी प्रकार एक उद्योग की समृद्धि अन्यों को गतिशील बनाती है। इसलिए, मंदी या समृद्धि की एककालिकता होती है, क्योंकि भिन्न उद्योगों में बुरे और अच्छे वक्त एककालिक होते हैं अथवा लगभग एक ही समय पर घटित होते हैं।

फलतः उत्पादन का कोई भी अंश एकाकी रूप में कार्य नहीं कर सकता। इसलिए विभिन्न और स्वतन्त्र आर्थिक कार्यकलापों को राष्ट्रीय आर्थिक परिषदों की स्थापना द्वारा, जो संयुक्त रूप में श्रम-संगठनों, औद्योगिक नियोजकों के संघों, व्यापार-मंडलों, व्यावसायिक संघों, कृषि, बैंकिंग और बीमा-समूहों तथा उपभोक्ता समितियों का प्रतिनिधित्व करती हों, शृंखलाबद्ध और नियमित बनाने की अत्यावश्यक जरूरत होती है। इन परिषदों का उद्देश्य मंत्रि-मंडल को आर्थिक कानून निर्माण की योजना में सहायता करना और पार्लमेंट को इस प्रकार के उपायों पर विचार करने में मदद पहुंचाना है। राष्ट्रीय आर्थिक परिषदें बेकारी, भवन-निर्माण, औद्योगिक संगठन, श्रम-संबंधों, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और इस जैसी अन्य समस्याओं की विस्तृत जांचों का श्रीगणेश कर सकती हैं। ये जांचें बाद के कानून-निर्माण का आधार बन सकती हैं। वस्तुतः, इस समय प्रत्येक देश में आर्थिक परिषदें आर्थिक मामलों की राष्ट्रीय नीति के निर्माण में बहुमूल्य सहायक मानी जाती हैं। तिस पर भी, यह स्मरण रखना होगा कि उनके कृत्य अनि

क्षणात्मक और परामर्शात्मक होते हैं। उनके कानून निर्माण के कृत्य नहीं होते और उन्हें कानून बनाने का अधिकार नहीं होता। दूसरी ओर आर्थिक परिषदें, "नियमित राजनीतिक अधिकारियों को व्यावसायिक प्रतिनिधि समस्याएं मुहय्या करती हैं, जिनका अन्वेषण-कार्य और परामर्श पर्याप्त मूल्य का हो सकता है।"[1]

जर्मनी की राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् (National Economic Council of Germany)—१९१९ के वीमार संविधान ने एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद का आदेश किया था और वह १९२० में बनी। इसके ३२६ व्यक्ति सदस्य थे, जो १० व्यावसायिक समूहों में बंटे थे। इन समूहों का अपने आर्थिक और सामाजिक महत्व के अनुसार प्रतिनिधित्व किया गया था। इसलिए परिषद को कानून-निर्माण का अधिकार नहीं था, किन्तु संविधान की मांग थी कि मंत्रि-मंडल द्वारा प्रस्तावित महत्वपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक उपायों को पार्लमेंट में उपस्थित करने से पूर्व उसकी सम्मति के लिए उसके समक्ष रखा जाय। परिषद को इस बात का भी अधिकार दिया गया था कि वह अपने निजी आरम्भक पर इस प्रकार के उपायों को जारी करे और अपने विचार तथा प्रस्ताव रीश (जर्मन पार्लमेंट) के समक्ष रखे, भले ही मंत्रिमंडल उनसे सहमत हो अथवा न हो।

क्योंकि यह समाज के प्रमुख वर्गों और हितों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनी थी, जो कि अपने-अपने विशेष क्षेत्र में बड़े निपुण थे, इसलिए जर्मनी की राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् व्यवस्थापक मंडल को कुशल सम्मति देने के योग्य थी। और उन भिन्न-भिन्न हितों की व्यवस्था-संबंधी आवश्यकताओं से भी इसे परिचित कराती थी, जिनका यह प्रतिनिधित्व करती थी।[2] अपने अस्तित्वकाल के प्रथम दस वर्षों में परिषद् ने "प्रस्तावित आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थापन पर विचार करके, पार्लमेंट्री विचार के लिए व्यावसायिक उपायों का आरम्भक करके और व्यवस्थापक मंडल के अधिकारियों को अपना परिपक्व कुशल-परामर्श देकर उसने बड़ा उपयोगी कार्य किया।"[3]

फ्रांस की राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् (National Economic Council of France)—अन्य कई राज्यों में आर्थिक परिषदें स्थापित की गई हैं अथवा संविधान द्वारा आदिष्ट की गई हैं। यूगोस्लाविया, पोलैंड, और डांजिग सबके संविधानों में इस तरह की परिषदें स्थापित करने का आदेश है जिनका उद्देश्य व्यवस्थापिका सभा को आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से संबंधित कानून बनाने में सहायक होना है। थोड़े-बहुत रूप की ऐसी ही परिषदें इटली, स्पेन और पुर्तगाल में भी स्थापित की गई थीं। फ्रांस में भी, १९२५ में आज्ञप्ति (decree) द्वारा एक राष्ट्रीय परिषद स्थापित की गई थी। १९३६ में इस परिषद का विस्तार किया गया और उसे स्थायी अनुविध्यात्मक आधार दे दिया गया। इसकी सामान्य सभा में एक सौ से अधिक सदस्य थे, जो उपभोक्ताओं, श्रमिक वर्गों, कृषि, व्यापार, नियोजकों के संघों, शिक्षाशास्त्रियों, बैंकरों तथा कुशल

1. Munro, The Govt. of Europe, p. 455.
2. Garner, op. cit., p. 661.
3. Ogg., op. cit., pp. 650-51.

अर्थशास्त्रियों आदि के छोटे से समूह का प्रतिनिधित्व करते थे। प्रधान मंत्री परिषद का पदेन प्रधान था। इस संस्था के अनुविध्यात्मक कृत्य राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं की जाच करना तथा उनके विषय में सरकार को परामर्श देना है। आर्थिक स्वरूप के सब विधेयकों को, पार्लमेंट में उपस्थित करने से पूर्व मंत्रि-मंडल राष्ट्रीय आर्थिक परिषद के समक्ष उपस्थित करता है। सभी आज्ञप्तियां, यदि वह आर्थिक प्रश्नों से सबधित है, उसके समक्ष उपस्थित की जाती हैं।" इसके अतिरिक्त, मंत्रि-मंडल किसी भी आर्थिक प्रश्न को अध्ययन के लिए उसे सौंप सकता है, और ऐसा ही किसी भी पार्लमेंट्री समिति द्वारा किया जा सकता है। अथवा परिषद किसी भी आर्थिक समस्या को अपने हाथ में ले सकती है और निजी आरम्भक से उस पर सिफारिशें दे सकती है।"[1] परिषद की सिफारिशें प्रधान मंत्री को सौंपी जाती हैं, किन्तु उसकी सूचना पार्लमेंट के समक्ष रखनी होती है।

इंग्लैंड की आर्थिक परिषद् (Economic Council of England)—ब्रिटिश आर्थिक परिषद में बीस सदस्य है। प्रधानमंत्री पदेन इसका सभापति है। राजकोष-मंत्री (Chancellor of the Exchequer) तथा तीन अन्य मंत्री उसके पदेन सदस्य है। इसमें अन्य ऐसे मंत्री भी सम्मिलित होते हैं, जिनका प्रधान मंत्री नामनिर्देशन करता है और जो व्यापार, सहकारिता, श्रमिक संघ, वैज्ञानिक तथा अन्य हितों के विभिन्न प्रतिनिधि हों। ऑग कहते है, "समग्र रूप में, परिषदों की लाभकारिता अभी स्वीकारात्मक रूप में प्रदर्शित नही हो पाई।"[2]

आर्थिक परिषदों की आलोचना (Criticism of the Economic Councils):—जी. डी. एच. कोल कहते हैं, "यह उन लोगों को अधिक-से-अधिक स्पष्ट हो गया है जिन्होंने जर्मनी तथा अन्य देशों में आर्थिक परिषदों की कार्यवाहियों को देखा है कि जो संस्थाएं नियोजकों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों के बीच शक्ति-संतुलन पर आधारित होती है, वह किसी प्रकार की महत्वपूर्ण रचनात्मक सफलता प्राप्ति के अयोग्य रहती है।"[3] नियोजकों तथा नियोजितों के स्वार्थ अनिवार्यत: संघर्षात्मक होते है और समाज के वर्तमान आर्थिक ढाचे में उनपर समझौते की बहुत कम आशा होती है। इसका परिणाम यह है कि उन देशों की आर्थिक परिषदों ने, जिनमें वह है, औद्योगिक प्रणाली के पुन:निर्माण की दिशा में किसी प्रकार के स्वतंत्र आरम्भ का संकेत प्रदर्शित नही किया। इन परिषदों की शक्तियां केवल मात्र जाच और परामर्शात्मक है। उन्हें किसी प्रकार के उचित परिणाम की प्राप्ति के लिए कोई खास अधिकार-शक्ति नही दी गई है। अधिकाश अवस्थाओं मे उनकी सदस्यता ऐसी नही है, जिससे वह विश्वास और आशा हो कि वह संतोषजनक योजना-समितियों के रूप में उन्नत हो पाएगी। "उनमें विशेषज्ञ थोड़े होते हैं और संघर्षात्मक औद्योगिक हितों के प्रतिनिधि अधिक। उनके सदस्य अधिकतर पूजीवाद के ढाचे की रक्षा करने की ओर अधिक झुके होते हैं। किसी संबद्ध औद्योगिक

1. Munro, op. cit., p. 454.
2. Op. cit., 110, note.
3. The Intelligent Man's Guide Through World Chaos, p. 593.

क्षणात्मक और परामर्शात्मक होते हैं। उनके कानून निर्माण के कृत्य नहीं होते और उन्हें कानून बनाने का अधिकार नहीं होता। दूसरी ओर आर्थिक परिषदें, "नियमित राजनीतिक अधिकारियों को व्यावसायिक प्रतिनिधि समस्याएं मुहय्या करती हैं, जिनका अन्वेषण-कार्य और परामर्श पर्याप्त मूल्य का हो सकता है।"[1]

जर्मनी की राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् (National Economic Council of Germany)—१९१९ के वीमार संविधान ने एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद का आदेश किया था और वह १९२० में बनी। इसके ३२६ व्यक्ति सदस्य थे, जो १० व्यावसायिक समूहों में बंटे थे। इन समूहों का अपने आर्थिक और सामाजिक महत्व के अनुसार प्रतिनिधित्व किया गया था। इसलिए परिषद को कानून-निर्माण का अधिकार नहीं था, किन्तु संविधान की मांग थी कि मंत्रि-मंडल द्वारा प्रस्तावित महत्वपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक उपायों को पार्लमेंट में उपस्थित करने से पूर्व उसकी सम्मति के लिए उसके समक्ष रखा जाय। परिषद को इस बात का भी अधिकार दिया गया था कि वह अपने निजी आरम्भक पर इस प्रकार के उपायों को जारी करे और अपने विचार तथा प्रस्ताव रीश (जर्मन पार्लमेंट) के समक्ष रखे, भले ही मंत्रिमंडल उनसे सहमत हो अथवा न हो।

क्योंकि यह समाज के प्रमुख वर्गों और हितों के प्रतिनिधियों से मिलकर बनी थी, जो कि अपने-अपने विशेष क्षेत्र में बड़े निपुण थे, इसलिए जर्मनी की राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् व्यवस्थापक मंडल को कुशल सम्मति देने के योग्य थी। और उन भिन्न-भिन्न हितों की व्यवस्था-संबंधी आवश्यकताओं से भी इसे परिचित कराती थी, जिनका यह प्रतिनिधित्व करती थी।[2] अपने अस्तित्वकाल के प्रथम दस वर्षों में परिषद् ने "प्रस्तावित आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थापन पर विचार करके, पार्लमेंट्री विचार के लिए व्यावसायिक उपायों का आरम्भक करके और व्यवस्थापक मंडल के अधिकारियों को अपना परिपक्व कुशल-परामर्श देकर उसने बड़ा उपयोगी कार्य किया।"[3]

फ्रांस की राष्ट्रीय आर्थिक परिषद् (National Economic Council of France)—अन्य कई राज्यों में आर्थिक परिषदें स्थापित की गई हैं अथवा संविधान द्वारा आदिष्ट की गई हैं। यूगोस्लाविया, पोलैंड, और डांजिग सबके संविधानों में इस तरह की परिषदें स्थापित करने का आदेश है जिनका उद्देश्य व्यवस्थापिका सभा को आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से संबंधित कानून बनाने में सहायक होना है। थोड़े-बहुत रूप की ऐसी ही परिषदें इटली, स्पेन और पुर्तगाल में भी स्थापित की गई थीं। फ्रांस में भी, १९२५ में आज्ञप्ति (decree) द्वारा एक राष्ट्रीय परिषद स्थापित की गई थी। १९३६ में इस परिषद का विस्तार किया गया और उसे स्थायी अनुविध्यात्मक आधार दे दिया गया। इसकी सामान्य सभा में एक सौ से अधिक सदस्य थे, जो उपभोक्ताओं, श्रमिक वर्गों, कृषि, व्यापार, नियोजकों के संघों, शिक्षाशास्त्रियों, बैंकरों तथा कुशल

1. Munro, The Govt. of Europe, p. 455.
2. Garner, op. cit., p. 661.
3. Ogg., op. cit., pp. 650-51.

अर्थशास्त्रियों आदि के छोटे से समूह का प्रतिनिधित्व करते थे। प्रधान मन्त्री परिषद का पदेन प्रधान था। इस संस्था के अनुविन्यात्मक कृत्य राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं की जांच करना तथा उनके विषय में सरकार को परामर्श देना है। आर्थिक स्वरूप के सब विधेयकों को, पार्लामेंट में उपस्थित करने से पूर्व मंत्रि-मंडल राष्ट्रीय आर्थिक परिषद के समक्ष उपस्थित करता है। सभी आज्ञप्तियां, यदि वह आर्थिक प्रश्नों से संबंधित है, उसके समक्ष उपस्थित की जाती हैं।" इसके अतिरिक्त, मन्त्रि-मंडल किसी भी आर्थिक प्रश्न को अध्ययन के लिए उसे सौंप सकता है, और ऐसा ही किसी भी पार्लामेंट्री समिति द्वारा किया जा सकता है। अथवा परिषद किसी भी आर्थिक समस्या को अपने हाथ में ले सकती है और निजी आरम्भक से उस पर सिफारिशें दे सकती है।"[1] परिषद की सिफारिशें प्रधान मंत्री को सौंपी जाती हैं, किन्तु उसकी सूचना पार्लामेंट के समक्ष रखनी होती है।

इंग्लैंड की आर्थिक परिषद् (Economic Council of England)—ब्रिटिश आर्थिक परिषद में बीस सदस्य हैं। प्रधानमन्त्री पदेन इसका सभापति है। राजकोष-मंत्री (Chancellor of the Exchequer) तथा तीन अन्य मन्त्री उसके पदेन सदस्य हैं। इसमें अन्य ऐसे मन्त्री भी सम्मिलित होते हैं, जिनका प्रधान मन्त्री नामनिर्देशन करता है और जो व्यापार, सहकारिता, श्रमिक संघ, वैज्ञानिक तथा अन्य हितों के विभिन्न प्रतिनिधि हों। ऑग कहते हैं, "समग्र रूप में, परिषदों की लाभकारिता अभी स्वीकारात्मक रूप में प्रदर्शित नहीं हो पाई।"[2]

आर्थिक परिषदों की आलोचना (Criticism of the Economic Councils):—जी. डी. एच. कोल कहते हैं, "यह उन लोगों को अधिक-से-अधिक स्पष्ट हो गया है जिन्होंने जर्मनी तथा अन्य देशों में आर्थिक परिषदों की कार्यवाहियों को देखा है कि जो संस्थाएं नियोजकों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों के बीच शक्ति-संतुलन पर आधारित होती हैं, वह किसी प्रकार की महत्वपूर्ण रचनात्मक सफलता प्राप्ति के अयोग्य रहती हैं।"[3] नियोजकों तथा नियोजितों के स्वार्थ अनिवार्यतः संघर्षात्मक होते हैं और समाज के वर्त्तमान आर्थिक ढांचे में उनपर समझौते की बहुत कम आशा होती है। इसका परिणाम यह है कि उन देशों की आर्थिक परिषदों ने, जिनमें वह हैं, औद्योगिक प्रणाली के पुनःनिर्माण की दिशा में किसी प्रकार के स्वतंत्र आरम्भ का संकेत प्रदर्शित नहीं किया। इन परिषदों की शक्तियां केवल मात्र जांच और परामर्शात्मक हैं। उन्हें किसी प्रकार के उचित परिणाम की प्राप्ति के लिए कोई खास अधिकार-शक्ति नहीं दी गई है। अधिकांश अवस्थाओं में उनकी सदस्यता ऐसी नहीं है, जिससे यह विश्वास और आशा हो कि वह संतोषजनक योजना-समितियों के रूप में उन्नत हो पाएगी। "उनमें विशेषज्ञ थोड़े होते हैं और संघर्षात्मक औद्योगिक हितों के प्रतिनिधि अधिक। उनके सदस्य अधिकतर पूंजीवाद के ढांचे की रक्षा करने की ओर अधिक झुके होते हैं। किसी संबद्ध औद्योगिक

1. Munro, op. cit., p. 454.
2. Op. cit., 110, note.
3. The Intelligent Man's Guide Through World Chaos, p 593.

[यो]जना को विकसित न कर वे समाजवादी साहसिक उद्योग के उत्कर्ष को रोकते हैं।"[१]
[कि]न्तु कोल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हैं और किसी भी देश ने उसे
[स्]थान नहीं दिया है।

जर्मनी की राष्ट्रीय आर्थिक परिषद का उल्लेख करते हुए, लास्की कहते हैं, कि "पार्लामेंट में आरम्भिक उपायों की उसकी शक्ति का" परिणाम कानून निर्माण की ऐसी बहुमुखी सिफारिशें करना था जिन्हें सक्रिय करने के प्रति उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी।"[२] इसके कारण मंत्रियों पर अतिरिक्त श्रम का भारी बोझ हो जाता था। "इसके समक्ष उपस्थित होने तथा बोलने की आवश्यकता, यह ज्ञान कि इसका कार्यकलाप रीश की योग्यता की सीमा का सदैव अपहरण करता हैं, दस्तावेज़ों तथा सूचना के लिए उसकी न मिटने वाली भूख की तृप्ति प्रशासन विभागों की सहायता के बजाय अवरोधक हैं।"[3]

Suggested Readings

Cole, G. D. H.—A Guide to Modern Politics, pp. 411-414.

Cole, G. D. H.—The Intelligent Man's Guide through World Chaos, pp. 591-596.

Laski, H. J.—Grammar of Politics, pp. 80-85, 266-270, 375-387.

Ogg, F.A.—European Government and Politics, pp. 110-112, 650-654.

दल प्रणाली

(The Party System)

राजनीतिक दल की व्याख्या (Definition of a Political Party)—राजनीतिक दल से हमारा आशय, नागरिकों के ऐसे थोड़े या बहुत सगठित समूह से है, जो लोक-प्रश्नों के विषय में समान विचार रखता है और राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए अपनी कल्पित नीति को विस्तार देने के लिए शासन-नियंत्रण को हस्तगत करना चाहता है। मेकाइवर राजनीतिक दल की व्याख्या करते है, "एक ऐसा संघ, जो किसी ऐसे सिद्धांत या नीति के समर्थन में सगठित हो, जिसे वह वैधानिक साधनों द्वारा सरकार की निश्चयात्मकता का रूप देने के लिए यत्न करता है।"[1] डा. लीकॉक इसकी संयुक्त पूंजी कम्पनी के साथ तुलना करते हैं जिसमें प्रत्येक सदस्य अपनी राजनीतिक शक्ति का अंश प्रदान करता है।[2] प्रत्येक राजनीतिक दल मानव-स्वभाव के दो आधारमूलक अंगों पर आधारित होता है। पहला यह कि मनुष्यों की सम्मतियां भिन्न होती हैं, किन्तु उसके साथ ही वह स्वभाव-वश सामूहिक भी होती है। यदि उन्हें समाज में रहना होगा, तो उन्हें अपने मत-भेदों का अन्यों के साथ समन्वय करना होगा और उन्हें किन्ही विचारों दूसरे वे समान विचार रखने वाले व्यक्तियों को सगठित रूप में उपस्थित करें और उन उपायों का समर्थन करें जिनके वे सयुक्त रूप में पक्षपाती है। तदनुसार राजनीतिक दल का निर्माण करने के लिए चार बातें आवश्यक हैं:

१. *कि आधारमूलक सिद्धातों पर आधारित कोई ऐसा साझा उपाय होना चाहिए,* जो राजनीतिक रूप में लोगों को परस्पर एक कर सके। विस्तार के विषय में उनके मत-भेद हो सकते हैं किन्तु जिन सिद्धातों पर वे स्थिर होते हैं, उनके विषय में कोई मत-भेद नहीं हो सकता। यदि आधारभूत सत्ता पर कोई समझौता नहीं होगा तो वे एक दूसरे के साथ सहयोग नही कर सकेंगे और अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे।

२. जो पुरुष और स्त्रियां समान दृष्टिकोण रखते हों, उन्हें भी उचित रूप में सगठित करना चाहिए। उचित सगठन के विना साझे सिद्धांतों को निभाना असभव होता है। उनके संगठन की सम्मिलित सस्था ही वह रूप है, जो उन्हें शक्ति प्राप्त करने योग्य वनाता है।

३. किसी राजनीतिक दल को अपनी नीति वैधानिक उपायों द्वारा कार्यकारी करनी चाहिए। मत-दान पट्टिका को ही राजनीतिक दल के भाग्य और सरकार निर्माण के उसके अधिकार का निर्णय करना चाहिए। कोई ऐसा सगठन, जिसका लक्ष्य अवैधानिक विधियों को नियोजित करना हो, जैसे शक्ति साधनों द्वारा सरकार को पूर्णतया पछाड़ देना, वह दल सत्य रूप में राजनीतिक नहीं है।

---

1. Op. cit., p. 396.
2. Op. cit., p. 311.

४. सब राजनीतिक दलों को सांप्रदायिक या वर्ग-हितों से भिन्न राष्ट्रीय हितों की उन्नति की चेष्टा करनी चाहिए। वर्क (Burke) राजनीतिक दल की इस प्रकार व्याख्या करते हैं: "मनुष्यों का एक समूह, जो किसी सिद्धांत-विशेष के आधार पर, जिससे वे सब सहमत हों, अपने संयुक्त प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय-हित की वृद्धि के लिए संघटित हुआ हो।" जब एक राजनीतिक दल अपने कार्यकलापों को वर्गीय उद्देश्यों और स्वार्थी लक्ष्यों की दिशा में संचालित करता है, तो वह दलबंदी का रूप धारण कर लेता है,। एक दलबंदी उन मनुष्यों का ढीलाढाला संयुक्त समूह है, जो राष्ट्रीय हितों के विपरीत निजी वर्गीय स्वार्थों की प्राप्ति के लिए सम्मिलित हो।

राजनीतिक दलों का महत्व (Importance of Political Parties)—राजनीतिक दल जनतांत्रिक सरकार की कार्यकारिता के लिए अपरिहार्य हैं। वस्तुतः, वे वहां प्रेरक शक्ति देते हैं जो प्रशासन-यंत्र को गतिशील बनाये रहती है। मेकाइवर का कहना है राजनीतिक दलों के विना "सिद्धांत का एक सा विवरण, नीति का व्यवस्थित विकास, पार्लमेंट्री चुनावों की वैधानिक विधि का नियमित ग्रहण नहीं हो सकता, और न ही किसी प्रकार की स्वीकृत संस्थाएँ हो सकती हैं जिनके द्वारा कोई दल शक्ति प्राप्त करना चाहता है या उसे स्थिर रखना चाहता है।"[1] जो लोग राजनीतिक दलों के अस्तित्व पर और प्रभाव पर खेद करते हैं, वे संभवतः लोकतंत्र के यंत्र की कार्यकारिता को नहीं समझते। जैसा कि लॉवैल कहते हैं, "किसी महान् राष्ट्र में संपूर्ण जनता द्वारा सरकार की धारणा, निसंदेह, एक मनघढ़त कल्पना है: क्योंकि जहां कहीं मताधिकार विस्तृत है, वहां दलों का अस्तित्व निश्चित है और नियंत्रण वास्तविक रूप में उस दल के हाथों में होगा जिसका बहुमत होगा।" दल संगठन के विना वहां दलवदियाँ और षड्यंत्र हो सकते हैं, जनता व्यक्तिगत और वर्गीय कष्टों के निवारण के लिए सरकार को अभ्यर्थना और आवेदन करेगी। एक राजनीतिक दल सरकार को प्रभावित करने या उसका समर्थन करने से भी अधिक का इच्छुक होता है; वह उसे वनाने की चाह करता है। किसी दल का मुख्य कार्य निर्वाचक मंडल को प्रभावित करना, चुनाव जीतना और सरकार वनाना है।

प्रत्येक लोकतंत्री देश में दल-प्रणाली एक अतिरिक्त वैध उत्कर्ष है। यद्यपि राज्य में वैध आकार के बाहर इसका अस्तित्व होता है और किसी देश के संविधान में इसका उल्लेख भी नहीं होता, तथापि "यह स्वतः कानून की भांति अपरिहार्य बन गई है।" अमरीका का संविधान राजनीतिक दलों के अस्तित्व की कल्पना नहीं करता। संविधान के रचयिताओं का साझा मत था कि राजनीतिक दलों का प्रभाव राष्ट्रीय ऐक्य के लिए अत्यधिक हानिकारक होगा। किन्तु अमरीकी सरकार के आरंभ से ही दलों ने सरकार के केन्द्रीय अंग का रूप धारण कर लिया। प्रेसिडेंट और कांग्रेस के सदस्यों के चुनाव दल निर्वाचित हैं। गिलक्राइस्ट का मत है कि "दल प्रणाली वस्तुतः एक ऐसी विधि है जिससे अमरीकी संविधान की अत्यधिक कठोरता खंडित हो गई है।" ग्रेट ब्रिटेन में सम्राट की सरकार दलीय सरकार है और प्रधानमंत्री लोकसभा में बहुसंख्यक दल का नेता है, विरोधी दल सम्राट का विरोधी दल है और ब्रिटिश संविधान की कार्यकारिता में इसे महत्वपूर्ण और आवश्यक तत्व के रूप

1. Op. cit., p. 396.

में स्वीकार किया गया है। विरोधी दल का कृत्य मंत्रिमंडल दल के उपायों की आलोचना करना और उनके विरुद्ध मतदान करना है जिससे उसे पराजित किया जाय और उसकी जगह ली जाय।

ब्रिटिश पार्लामेंट ने कैनेडा का अनुकरण करते हुए वर्तमान में विरोधी दल के नेता को उस स्थिति में उसकी सेवाओं के लिए वार्षिक वेतन देने का आदेश कर दिया है। फ्रास, कैनेडा, आस्ट्रेलिया, भारत आदि ने, जिन्होंने बहुत सोच-विचार के बाद पार्लामेंट्री सरकार को अपनाया है, उसी कल्पना के आधार पर वैसा किया है। यहा तक कि रूसी सघ की सरकार भी दल सरकार है यद्यपि इसके लिए दल शब्द का प्रयोग करना उसे गलत नाम देना है। क्योंकि रूस मे केवल एक दल है, और सामाजिक तथा राजनीतिक विचार भी एक ही है। "जब तक एक सामान्य नीति की माग की जाती है, एक ही आदर्श की धारणा की जाती है, और केवल एक ही दल को स्वीकृति होती है, तब तक जनतात्रिक राज्य की आवश्यक शर्तों का अनिवार्यतः अभाव रहता है।"[1] लोकतंत्र में आलोचना द्वारा शासन होता है और उसमें विचार मत-भेद का समावेश होता है। तानाशाही विचार मत-भेद को सहन नही करती। इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि शुद्ध राजनीतिक दलो के बिना लोकतन्त्र का भविष्य उज्ज्वल नही।

दलों का उद्गम
(The Origin of Parties)

मानव-स्वभाव का सिद्धांत (The Theory of Human Nature)—दल-विभाजनो की एक मुख्य व्याख्या यह है कि यह मानव-स्वभाव पर आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार कुछ लोग सहज बुद्धि से अनुदार है और वह ज्यो की त्यो सब बातें रहने देना चाहते है, अन्य सहज बुद्धि से प्रगतिशील है और वह परिवर्तन चाहते है। "ऐसा जान पडता है कि मानव स्वभाव का यह नियम है कि कुछ लोग सर्वदा परिवर्तनों की इच्छा करने वाले हो जब कि अन्य सब बातो को ज्यो का त्यो बनाए रहने के इच्छुक हो, कि कुछ लोग आमूल-सुधार करने के खतरे उठाने को भी तैयार हों जब कि दूसरे अधिक सावधान हों, आमूल-सुधार के परिवर्तन में उन्हे खतरे की गध आती हो और वे राजनीतिक परिवर्तनो को बर्क के आलकारिक शब्दों मे राज्य को "नित्य की रोटी" के बजाय राज्य को "औषधि" समझते हों।"[2] इन दो स्वाभाविक या मनोवैज्ञानिक दल विभाजनो को वाम और दक्षिण दलो के नाम दिये गए है। इन नामों का आरम्भ महाद्वीपीय देशों की व्यवस्थापिका सभाओं में अनुपालित रीति से हुआ है, जहा प्रगतिकारी सदस्य प्रेसिडेंट के बाई ओर बैठते हैं, और, उनके विरोधी दाई ओर—इस नीति का तिथि काल १७८९ की फ्रासीसी नरानल असेंबली है।

ये वंशागत मानव प्रकृतिविषयक मत-भेद बहुधा आयु द्वारा और साथ ही साथ परिस्थितियो द्वारा परिवर्तित होते रहते है। ज्यो-ज्यो मनुष्य की आयु बढती है उसके विचारो में अनुदारता आती जाती है। अनुदारता परिपक्व विवेकपूर्ण निर्णय की उपज है जब कि युवावस्था आमूल सुधार की। भावुकता और प्रवृत्तियो के वशीभूत होना युवावस्था

1. Barker, Reflection on Govt. p. 321.
2. Op, cit., pp. 43-44.

बजाय बल पर आधारित होती है। इन अवस्थाओं में सरकार के परिवर्त्तन की केवल एक ही विधि है। और वह है विप्लव या क्रांति। किन्तु कोई भी दल सरकार लोकमत पर जीवित रहती है और उन्नति करती है। इसलिए बल का स्थान अभ्यर्थना ले लेती है। यह "विवशता की अपेक्षा प्रेरणा को अधिक उचित, और शस्त्र-संघर्ष की वजाय विचार-संघर्ष को अधिक रचनात्मक"[1] मानती है। दल-प्रणाली व्यवस्थापिका सभा के भीतर और बाहर दोनों स्थानों में सरकार की परिष्कृत और स्वस्थ आलोचना का विश्वास प्रदान करती है। चूंकि यह आलोचना द्वारा सरकार होती है इसलिए विरोधी दल जल्दबाजी, अविचार और किसी खास वर्ग के हित के लिए बनाई गई व्यवस्था पर अवरोध का कार्य करती है। शक्ति-संपन्न दल बहुधा विरोधी दल के मत से सहमत होता है और उसकी युक्तियुक्त तजवीजों को स्वीकार करने के लिए उत्सुक होता है।

"दल-प्रणाली विशेषरूप से ऐसा यंत्र है, जिससे वर्ग-राज्य का राष्ट्र-राज्य में रूपांतर किया गया था।" सभी राज्य अपनी प्रगति के किसी एक चरण में वर्ग-राज्य थे। उनकी सरकारों का नियंत्रण सत्तासंपन्न वर्गों द्वारा, और उनके हित के लिए किया जाता था। "वर्गों और जन-समूहों में निश्चित भेद और आगे चल कर वर्गों के दो भेद हैं कुलीनवर्ग और पादरी। कुलीनवर्ग की अधिकार-शक्ति भूमि के स्वामित्व, युद्ध में नेतृत्व,और जन्म तथा स्थान के सम्मान पर आश्रित है। पुरोहिताई की अधिकार-शक्ति सांस्कृतिक मान तथा आध्यात्मिक प्रभुत्व पर निर्भर है।[2] वर्गशासन की इन अवस्थाओं के अधीन सरकार लोक-मत के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। जनता का राज्य की नीति के साथ कोई संबंध नहीं होता। वह दमन, विक्षिप्तता और निराशा का जीवन-यापन करती है। किन्तु दल-शासन वर्ग-शासन का विरोधी है। वस्तुतः दल का प्रारंभ शक्ति-संपन्न वर्ग के निहित-हितों तथा अटूट अधिकारों के विरोध रूप में होता है। दल-शासन में शक्ति-परिवर्त्तन का समावेश होता है। वह उत्तराधिकार की एक ऐसी प्रणाली होती है, जो प्रत्येक को अवसर प्रदान करती है।" यदि जनता शक्ति-संपन्न दल की नीति का समर्थन नहीं करती तो उसे अनिवार्यतः किसी विरोधी दल या दलों को जगह देनी होगी। इस प्रकार दल-प्रणाली ने लोकमत का संगठन तथा निर्देशन करके जनतंत्री सरकार के उद्देश्यों में वृद्धि की है। राजनीतिक दल "जनता की अव्यक्त इच्छाओं को व्यक्त करते हैं।" वह लावेल के शब्दों में विचारों के दलाल के रूप में कार्य करते हैं।

इससे भी अधिक दल-प्रणाली व्यवस्थापन को श्रेष्ठ बनाती हुई उन्नति की ओर ले जाती है, और वास्तविक मत-दान से बहुत पहले उम्मीदवारों को मनोनीत करके निर्वाचनों को सहज बनाती है। इसके दो लाभ हैं। प्रथमतः, निर्वाचक-मंडल उम्मीदवारों तथा उनके दलों को पहचान लेते हैं। तदनुसार, उन्हें प्रतिनिधि रूप में उनके तुलनात्मक मूल्य को तथा प्रत्येक दल की नीति का महत्व आंकने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। द्वितीयतः, राजनीतिक दल अपने सामूहिक बल द्वारा चुनाव जीतने में उम्मीदवारों की सहायता करते हैं। दल का कोष और दल का संगठन निर्धन, किंतु योग्य राजनीतिज्ञों के चुनाव की मदद

1. Ibid
2. Ibid., p. 400
3. Ibid

करता है, अन्यथा उन्हें चुनाव का अवसर ही न हो पाता।

अन्ततः, राजनीतिक दल अपने चुनाव आंदोलनों से लोक-भावना को जाग्रत करते हैं और जनता को लोक-प्रश्नों के विषय में सक्रिय रुचि लेने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इस तरह से ये नागरिक उत्साह की रचना करते हैं और इस जनतंत्री भावना को उद्बुद्ध करते हैं, कि जागरण ही लोकतन्त्र का मूल्य है।

दल-प्रणाली के अवगुण (Demerits of the Party System):—दल-प्रणाली के आलोचक इसकी स्पष्ट रूप से निंदा करते हैं और इसे सर्वाधिक अस्वाभाविक राजनीतिक घटना के रूप में चित्रित करते हैं। उनका मत है कि दल-विभाजन मानव-स्वभाव का परिणाम नहीं। दल उस जनता में एक विलक्षण कृत्रिम समझौता स्थापित करते हैं, जो एक ही जैसे राजनीतिक विचारों की कल्पना करती है। इसी भांति विरोधियों के साथ उनकी असहमति भी समान रूप से कृत्रिम है। इस तरह, "प्रत्येक पक्ष स्वेच्छापूर्वक अस्वीकृति की दशा में रहता है, और साथ ही व्यक्तिगत-निर्णय दल-साँचे के संकीर्ण रूप में ढला होता है।"[1] इससे अधिक, यह कृत्रिम असहमति जनता को भिन्न विरोधी समूहों में विभाजित कर देती है, जो एक दूसरे के साथ नियमित और निरंतर संघर्ष में लगे रहते हैं। यह कटुता राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यधिक हानिकारक है।

यह कहा जाता है, "एक दलाल की भांति एक दल वास्तविक रूप में विद्यमान समझौते की अपेक्षा उसे अधिक मात्रा में विस्तार देने की चेष्टा करता है," यह कृत्रिम एकता छिछलेपन और बेईमानी को प्रोत्साहन देती है। फलतः दल-प्रणाली राजनीति में नैतिक पतन करती है और उसे लाभ का हेतु बनाती है। वह दल-सदस्यों के व्यक्तित्व को कुचल देती है और उन्हें मतानुयायी की स्थिति में पहुंचा देती है। कोई भी किसी दल के नियमित मार्गों के अतिरिक्त राजनीति में उन्नत नहीं हो सकता। जो स्वतन्त्र नागरिक किसी दल के साथ जुड़ा नहीं होता, उसे 'सनकी' या झक्की समझा जाता है। किंतु दल-सदस्य को दल के आदेशों के समक्ष नत-मस्तक होना होगा अन्यथा दल-अनुशासन उसका दमन करता है। इस प्रकार दल-आदेशों को एक दास की तरह मानते हुए स्वतंत्रता और व्यक्तित्व का विनाश हो जाता है। यह जनतंत्री भावना के विपरीत है।

आगे चलकर विरोधी कहते हैं कि दल-प्रणाली किसी देश के राजनीतिक जीवन को यंत्र-वत् जड़ बना देती है[2]। विरोधी दल सदैव अधिकार प्राप्त दल का विरोधी होता है। विरोध तो दल-सिद्धांत है और उपयोगिता या तर्क से उसका कोई संबंध नहीं। सरकार द्वारा प्रस्तावित सभी कानूनों का, भले ही वह देश के लिए कितने ही लाभपूर्ण और अत्यावश्यक हों, पूर्णशक्ति से विरोध करना ही होगा; चाहे कोई भी प्रश्न हो उसे तो नीति-विषयक सब मामलों में सरकार की निंदा करनी ही होगी। दल-प्रणाली की एक अन्य त्रुटि यह है कि यह स्वार्थी राजनीतिक साहसियों को अपने निजी स्वार्थों के लिए जनता के शोषण के अवसर प्रदान करती है। यदि कहीं राजनीतिक दल का अस्तित्व नहीं होता तो राजनीतिक-साहसी दल की रचना करने की चेष्टा करता है। जिस प्रकार हर-एक मुर्गा अपने निजी टीले पर खड़ा होना चाहता है, इसी तरह राजनीतिक अवसरवादी अपने स्वार्थी लक्ष्यों की

1. Leacock op cit., p. 312
2. Gilchrist, p. 337.

वृद्धि के लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। भारत इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता की इच्छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता है, जो देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" इसलिए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दबा कर समाज की नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक सभाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वाचक मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेकपूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथापि अलक्जैंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों की विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ लेखकों

1. Ibid., p. 338.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतंत्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किंतु यह असभव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक दें। दल-हीन लोकतंत्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नहीं। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों में प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइयां कम हो सकती हैं। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप की होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढंग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतंत्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि ये सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप में नैतिक हैं। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबंधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतंत्र होकर कार्य करें तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लामेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियंत्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तयारी को मंत्रि-परिषद् की बजाय पार्लामेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है, ऐसे विभागों के अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मंत्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिएं, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परंपरा स्थापित की जा सकती है कि मंत्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नहीं कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हें केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली
(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System) :—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते हैं। इंग्लैंड में द्वि-दल प्रणाली १७-वीं सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. The Elements of Politics, pp. 600-603.

वृद्धि के लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। भारत इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता की इच्छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता है, जो देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" इसलिए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दबा कर समाज की नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक सभाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वाचक मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय, दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल-संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेक-पूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथापि अलक्जेंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों की विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ लेखकों

1. Ibid., p. 338.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतंत्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किंतु यह असभव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक देंगे। दल-हीन लोकतंत्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नही। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों मे प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइया कम हो सकती है। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप का होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतंत्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि ये सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप मे नैतिक है। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतंत्र होकर कार्य करे तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लामेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियंत्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तयारी को मंत्रि-परिषद् की बजाय पार्लामेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है,ऐसे विभागोंके अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मंत्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नही हो जाने चाहिए, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परपरा स्थापित की जा सकती है कि मंत्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नही कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हे केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली
(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System)—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते है। जब दलों की सख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहा दो दलो से अधिक दल होते है, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते है। इग्लैंड मे द्वि-दल प्रणाली १७-वी सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. The Elements of Politics, pp. 600-603

वृद्धि के लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। भारत इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता की इच्छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता है, जो देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" इसलिए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दबा कर समाज की नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक सभाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वाचक मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल-संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेकपूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथापि अलक्जेंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों की विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ लेखकों

1. Ibid., p. 338.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतंत्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किन्तु यह असम्भव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक देंगे। दल-हीन लोकतंत्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नहीं। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों में प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइयां कम हो सकती हैं। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप का होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढंग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतंत्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि वे सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप में नैतिक हैं। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबंधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतंत्र होकर कार्य करें तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लमेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियंत्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तैयारी को मंत्रि-परिषद् की बजाय पार्लमेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है, ऐसे विभागों के अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मंत्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिए, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परंपरा स्थापित की जा सकती है कि मंत्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नहीं कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हें केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली
(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System)—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते हैं। इंग्लैंड में द्वि-दल प्रणाली १७-वीं सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. The Elements of Politics, pp 600-603.

वृद्धि के लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। भारत इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता की इच्छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता है, जो देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" इसलिए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दवा कर समाज की नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक सभाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वाचक मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय, दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेकपूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथापि अलक्जैंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों की विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ लेखकों

1. Ibid., p. 338.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतंत्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किंतु यह असंभव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक देंगे। दल-हीन लोकतंत्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नहीं। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों में प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइयां कम हो सकती हैं। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप का होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढंग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतंत्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि ये सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप में नैतिक हैं। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबंधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतंत्र होकर कार्य करें तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लामेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियंत्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तयारी को मंत्रि-परिषद् की बजाय पार्लामेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है, ऐसे विभागों के अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मंत्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिए, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परंपरा स्थापित की जा सकती है कि मंत्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नहीं कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हें केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली

(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System) :—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते हैं। इंग्लैंड में द्वि-दल प्रणाली १७-वीं सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. The Elements of Politics, pp 600-603.

वृद्धि के लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। भारत इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता की इच्छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता है, जो देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" इसलिए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दवा कर समाज की नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक सभाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वाचक मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेकपूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथापि अलक्जेंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों की विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ लेखकों

1. Ibid., p. 338.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतंत्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किन्तु यह असंभव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक देंगे। दल-हीन लोकतंत्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नहीं। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों में प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइयां कम हो सकती हैं। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप का होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढंग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतंत्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि ये सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप में नैतिक हैं। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबंधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतंत्र होकर कार्य करें तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लामेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियंत्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तयारी को मंत्रि-परिषद् की बजाय पार्लामेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है, ऐसे विभागों के अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मंत्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिए, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परंपरा स्थापित की जा सकती है कि मंत्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नहीं कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हें केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली

(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System) :—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते हैं। इंग्लैंड में द्वि-दल प्रणाली १७-वीं सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. The Elements of Politics, pp 600-603.

वृद्धि के लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। भारत इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता की इच्छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता है, जो देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" इसलिए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दवा कर समाज की नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक सभाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वाचक मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय, दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल-संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेकपूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथापि अलक्जेंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों की विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ लेखकों

1. *Ibid.*, p. 338.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतन्त्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किन्तु यह असंभव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक देंगे। दल-हीन लोकतन्त्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नहीं। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों में प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइयां कम हो सकती हैं। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप का होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढंग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतन्त्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि ये सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप में नैतिक हैं। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबंधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतंत्र होकर कार्य करें तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लामेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियंत्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तैयारी को मन्त्रि-परिषद् की बजाय पार्लामेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है, ऐसे विभागों के अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मन्त्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिए, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परंपरा स्थापित की जा सकती है कि मन्त्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नहीं कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हें केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली

(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System) :—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते हैं। इंग्लैंड में द्वि-दल प्रणाली १७-वीं सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. *The Elements of Politics*, pp 600-603.

वृद्धि के लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते की तरह जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। भारत इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता की इच्छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता है, जो देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" इसलिए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दबा कर समाज की नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक सभाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वाचक मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय, दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल-संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेकपूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथापि अलक्जेंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों की विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ लेखकों

1. Ibid., p. 338.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतन्त्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किन्तु यह असभव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक देंगे। दल-हीन लोकतन्त्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नहीं। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों में प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइयां कम हो सकती हैं। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप का होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढंग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतन्त्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि ये सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप में नैतिक हैं। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबंधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतन्त्र होकर कार्य करें तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लामेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियन्त्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तैयारी को मन्त्रि-परिषद् की बजाय पार्लामेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है, ऐसे विभागों के अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मन्त्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिएं, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परंपरा स्थापित की जा सकती है कि मन्त्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नहीं कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हें केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली
(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System):—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते हैं। इंग्लैंड में द्वि-दल प्रणाली १७-वीं सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. The Elements of Politics, pp. 600-603.

लिए अपना जन्म-अधिकार सिद्ध करता है। ऐसे दलों का बरसाती कुकुरमुत्ते जहां-तहां पैदा होना किसी देश की राजनीतिक समस्याओं को जटिल बना देता है। इस बुराई का जीवित उदाहरण है। पुनः दल-सरकार का अर्थ होता है, "जनता छा का अत्यधिक पालन करना। इसके फलस्वरूप लोक-प्रिय विधान-निर्माण होता देश की भलाई के लिए नहीं अपितु मत-दान प्राप्त करने के लिये किया जाता है।" ए, दल-प्रणाली जन-नैतिकता का पतन करती है और 'लूट' प्रणाली को जन्म देती है।

दल-प्रणाली के विरोधियों का मत है कि वह झूठे प्रचार और सत्य को दबा कर समाज नैतिकता को न्यून करती है। हम सब जानते हैं कि चुनाव आंदोलनों का वास्तविक चया होता है। मत-दान प्राप्ति के लिए जो विधियां अपनाई जाती हैं और सार्वजनिक नाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह बहुधा अपमानपूर्ण होती है, दल निर्वा-क मंडल को "अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के विषय में भावित करने की चेष्टा करते हैं। इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और नवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[1] विपरीत दल-प्रचार तर्क और विवेक का गला घोंट देता है। यह भावनाओं को उत्तेजित करने में सहायक होता है। तर्क-शक्ति से वंचित जनता आंखों पर पट्टी बांधे वही करती है, जो उसे कहा जाता है। इसके कारण सार्वजनिक कटुता और दंगे होते हैं, विशेषकर चुनावों के समय।

पुनः, यह भी कहा जाता है, कि दल अपना नेता चुनता है, और जब वह एक बार चुन लिया जाता है, तो लोग न केवल उसकी आज्ञा का पालन करते हैं प्रत्युत उसके सामने साष्टांग लेट जाते हैं। इस प्रकार दल-प्रणाली गुप्त-मंडलों या निजी गुट्ट-बंदियों के अधिकार में चली जाती है, "जो अपनी मन-पसंद के अनुसार मामले तय करती हैं।" यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अनेक अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक-जीवन से विमुख कर देती है। इस तरह, राष्ट्र उन बुद्धिमान व्यक्तियों की विवेकशीलता, ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है, जो या तो निर्वाचन-भीरु हैं अथवा जो दल-प्रचेतक (Party Whip) और दल-अनुशासन में रहन से इंकार करते हैं।

अन्ततः, यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय संकट के समय दल-सरकार कृश, अदृढ़ और अस्थिरमत होती है, क्योंकि यह "राज्य भक्ति के मूल्य पर दल-भक्ति को प्रोत्साहन देती है।"

निष्कृति मार्ग (The Way Out) :—दल-प्रणाली के उक्त कुछ दोष वास्तविक हैं। प्रत्येक देश के राजनीतिक इतिहास में, जहां दल-सरकार प्रचलित हुई है, दल संघर्ष, दल-बंदी की भावना और वर्गिक विधान-निर्माण का अतिशय उल्लेख है। दल-लूटों को राष्ट्रीय देशभक्ति की बजाय व्यक्तिगत सेवाओं वाले, दल-मनुष्यों में अविवेक पूर्वक वितरित किया जाता है। यद्यपि इन दोषों की सीमा सर्वत्र समान न भी हो, तथा अलग्जेंडर पोप की दल-विषयक व्याख्या में कुछ सच्चाई प्रकट होती है, अर्थात्, "थोड़ों लाभ के लिए अनेकों का पागलपन।" रूसो ने घोषणा की थी कि जिस समुदाय में दलों विद्यमानता होती है, वह सत्य सामान्य इच्छा के अयोग्य होता है। इसलिए, कुछ ले

1. Ibid., p. 333.

की धारणा है कि दल-रहित लोकतंत्र ही जन-नैतिकता की उन्नति और लोक-प्रिय इच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि सरकार बनाने का एकमात्र साधन है।

किन्तु यह असम्भव उपचार है, क्योंकि इसका आशय यह होता है कि हम दूध के साथ आटा भी फेंक देंगे। दल-हीन लोकतन्त्र जितना आकर्षक जान पड़ता है, उतना वह क्रियात्मक नहीं। प्रतिनिधि सरकार के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। यदि जन-नैतिकता के स्तरों में प्रगति की जाय और जनमत को दृढ़तापूर्वक विकसित किया जाय, केवल तभी दल-प्रणाली की बुराइयां कम हो सकती हैं। किसी भी जनमत को दो शर्तों की पूर्ति करनी होगी। प्रथमतः, वह ऐसा मत हो, जिसका आधार विस्तृत हो, और द्वितीयतः, वह जन-स्वरूप का होना चाहिए। दल के प्रति भक्ति से राष्ट्र के प्रति भक्ति उग्र होनी चाहिए। दल-प्रणाली के शोधन के लिए यह अत्यावश्यक है कि दल राजनीति में योग्य और जन-भावना से प्रेरित नागरिकों का अधिक सक्रिय योग हो। जनता के लिए सही ढंग की राजनीतिक शिक्षा तथा निष्पक्ष पत्रकारिता लोगों को लोकतन्त्र के आदर्श की प्राप्ति के लिए अग्रसर कर सकते हैं।

सिजविक ने दल-प्रणाली की हानियों के दूर करने या कम करने के लिए कुछ क्रियात्मक उपचारों का सुझाव दिया है।[1] उनका कथन है कि ये सब उपचार आंशिक रूप में राजनीतिक और आंशिक रूप में नैतिक हैं। राजनैतिक उपचार स्वभावतः सरकार के विभिन्न रूपों के अनुसार भिन्न रूप के होंगे। प्रथमतः उनका सुझाव है कि यदि प्रधानीय रूप की सरकार के अधीन प्रधान का चुनाव विधान-सभा के सदस्यों द्वारा हो और सहायक प्रबंधक अधिकारी दल-बंधनों से स्वतन्त्र होकर कार्य करें तो सरकार पर दल का बहुत-सा प्रभाव कम हो जायगा। द्वितीयतः, पार्लामेंट्री रूप की सरकार में विधान-निर्माण और प्रशासन के कतिपय मामलों को दल-प्रणाली के नियन्त्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधान-निर्माण की तयारी को मन्त्रि-परिषद् की बजाय पार्लामेंट्री कमेटियों को सौंपा जा सकता है, ऐसे विभागों के अध्यक्ष, जिनमें प्रशिक्षित कुशलता और विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है, मन्त्रिपरिषद् के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिए, और यदि आवश्यक हो तो दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। तृतीयतः, यह परंपरा स्थापित की जा सकती है कि मन्त्रियों को इसलिए पद-त्याग करने की आवश्यकता नहीं कि उनके द्वारा प्रस्तावित विधान-निर्माण के उपाय अस्वीकृत हो गए हैं। उन्हें केवल तभी पद-त्याग करना चाहिए, जब विधान सभा के प्रतिनिधि भवन में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाय। अन्ततः, लोकमत (ग्रहण) की विधि, मर्यादित सीमा तक भी, दल-प्रणाली के खतरों को किसी हद तक कम कर देगी।

द्वि-दल बनाम बहु-दल प्रणाली

(The Two-Party vs. Multiple Party System)

द्वि-दल प्रणाली (Two-Party System) :—किसी राज्य में दो या अधिक भी दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या केवल दो होती है, तो उसे द्वैध या द्वि-दल प्रणाली कहते हैं। जहां दो दलों से अधिक दल होते हैं, उसे बहु-विध या बहुदल प्रणाली कहते हैं। इंग्लैंड में द्वि-दल प्रणाली १७-वीं सदी में उत्पन्न हुई थी और उसके बाद

1. The Elements of Politics, pp. 600-603.

दो सौ वर्ष तक केवल दो दल कार्य करते रहे। पहले वह दल Whigs (उदारमतवादी) और Tories (अनुदारमतवादी) और बाद में उदार (Liberals) और अनुदार (Conservatives) कहलाए। किंतु इन प्रधान समूहों के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले छोटे और स्थायी संघों की उपस्थिति को यह नष्ट नहीं करते। जब ये दल उत्पन्न हुए और शक्तिशाली बने, तो उस अवधि में सामाजिक और आर्थिक जीवन की समस्वरता ने द्वि-दल प्रणाली में सुदृढ़ योगदान किया। वर्तमान में, लिबरल दल का अंत हो जाने से मजदूर-दल (Labour Party) ने उसकी जगह ले ली है। १९०६ में उदार दल (Liberal Party) की पार्लमेंट में ३७६ सीट थीं। १९४३ में इसकी २० सीट थीं और आज तो और भी कम हैं, इसलिए, यह कल्पना करना भूल है कि इंग्लैंड में इस समय तीन दल हैं। ब्रिटिश संविधान द्वि-दल प्रणाली के अधीन बढ़ा और बना है और इसलिए इसकी कार्यशीलता की प्रवृत्ति उसकी रक्षा एवं स्थिरता की है। फलस्वरूप, जिस ढंग से दल-प्रणाली का कार्य इंग्लैंड तथा उन देशों में होता है, जिन्होंने इंग्लैंड की पार्लमेंट्री ढंग की सरकार का अनुकरण किया है, उनमें केवल द्वि-दल प्रणाली ही विद्यमान है।[1]

इंग्लैंड तथा उपनिवेशों में जिस ढंग की दल सरकार का चलन है, उसका सार यह है कि निम्न सदन (Lower Chamber) में जिस दल का बहुमत होता है, वह सरकार का निर्माण करता है और उसका नेता प्रधान-मंत्री बनता है। मंत्रि-परिषद् शासन के प्रबंधक के रूप में संघटित होता है और अधिकांश विधान-निर्माण को वही आरम्भ करता है। मंत्रीगण लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं, जिसका अर्थ यह है कि जब तक निम्न सदन का उनमें विश्वास रहता है, वह अपने पद पर बने रहते हैं। उसका विश्वास खो देने पर, वैधानिक रीत्यानुसार, उन्हें पद-त्याग करना ही पड़ता है। इस पर दोनों में से एक बात हो सकती है। या तो विरोधी दल पद-ग्रहण करता है बशर्ते कि निम्न सदन में उसे बहुमत प्राप्त हो, अथवा, अधिक सामान्य रूप में, प्रधान मंत्री पार्लमेंट को भंग करने के लिए कह सकता है, जब आम चुनाव होते हैं और निर्वाचक मंडल का आदेश प्राप्त किया जाता है। इसके बाद निम्न सदन में जो दल बहुमत में आता है, वह सरकार बनाता है।

बहु-दल प्रणाली (Multiple Party System):—महाद्वीपीय योरोप के अधिकांश देशों में, विशेषत: फ्रांस में, बहु-दल प्रणाली है, जिनकी संख्या कभी-कभी १७ से २० तक हो जाती है। इस दिशा में फ्रांस के बाद भारत का द्वितीय स्थान है और बहु-दल प्रणाली वस्तुत: गुट्टबंदी होती है। जहां दलों की बहुत बड़ी संख्या हो, वहां उन्हें 'दल' का नाम देकर झुठलाना मात्र है। वस्तुस्थिति यह है कि वह तो राजनीतिक 'समूह' है।

किंतु अंतर केवल नाम का ही नहीं है। द्वि-दल तथा दल या समूह प्रणाली की कार्यशीलता में आधारभूत अंतर हैं। जब समूहों की एक बड़ी संख्या होगी, मान लीजिए १९ या २०, तो वहां ऐसे सुदृढ़ बहुमत वाला दल नहीं हो सकता, जो स्थिर सरकार का निर्माण करने योग्य हो। बहुमत केवल समूहों को मिलाने से ही प्राप्त हो सकता है, जिसे गुट्ट (Bloc) कहते हैं। विभिन्न दल समूहों में से एक श्रेष्ठ नेता को चुना जाता है और वह मंत्रि-मंडल

1. Row, op. cit., p. 46.

की रचना करता है। संभावित प्रधान-मंत्री अन्य समूहों के ऐसे नेताओं से वार्तालाप करता है, जिससे कार्यशील बहुमत एकत्र हो सके। यह परस्पर सौदा तथा समझौता करने का मामला है। इस प्रकार, बहु-दल प्रणाली के अधीन प्रत्येक मन्त्रि-परिषद् संयुक्त-मन्त्रि-मंडल होता है। कोई भी मन्त्रि-मंडल, जो भिन्न विचार वाले समूहों में समझौते के फलस्वरूप बना हो, वह निश्चित रूप से किसी भी छोटे से बहाने पर टूट जायगा। न ही मन्त्रियों पर पार्लामेंट के तईं भक्ति तथा अनुशासन की शर्तें होती है। वहां कोई सर्वमान्य दल-नेता नहीं होता, जो उन्हें परस्पर बांध सके। प्रत्येक मन्त्री संभावित प्रधान मंत्री होता है। इस विधि से बने हुए मन्त्रि-मंडल अत्यधिक क्षीण और अस्थिर होते हैं। एम. ब्रियाड ने एक अवसर पर उल्लेख किया था कि जिस दिन कोई फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री पद-ग्रहण करता है, उसी दिन से उसके सहयोगियों में से कोई-एक उसके पतन की तैयारियों का आरंभ कर देता है।[1]

द्वि-दल प्रणाली के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of the Two-Party System):–द्वि-दल प्रणाली का मुख्य गुण यह है कि इसके अधीन बहु-दल प्रणाली की अपेक्षा अधिक स्थायी और सुदृढ़ मन्त्रि-मंडलों की स्थापना का विश्वास होता है। सभी मंत्री एक अकेले दल से लिये जाते है, जो विधान सभा में बहुमत के साथ आता है। यह राजनीतिक सम-स्वरता उन्हें सुसंगठित करती है और कार्यकर्ताओं की उत्तरदायित्वपूर्ण टीम बना देती है। वह अपने सम्मानित नेता की अध्यक्षता में उद्देश्य की एकता के बल पर राजनीतिक खेल खेलता है। वह सगठित रूप में गिरते और उठते है और मन्त्रि-मंडल जिस नीति को आरंभ करता है, उसके लिए व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में उत्तरदायी होते हैं और उसका पालन करते हैं। उनकी शक्ति एक लौह-दंड के समान होती है। बहु-दल प्रणाली के अधीन प्रत्येक मंत्रि-मंडल संयुक्त मन्त्रि-मंडल होता है, जो भिन्न मत के राजनीतिक तत्वों का सम्मिश्रण होता है और जिसमें सिद्धांत रूप में कोई भी बात सर्वमान्य नहीं होती। भिन्न समूहों के नेता कार्यशील समझौते के लिए केवलमात्र सहमत होते है। इस तरह का मन्त्रि-मंडल आए दिन अपने अस्तित्वके लिए अनिश्चित रहता है। वह उस काल तक मिल-जुल कर कार्य करते हैं, जब तक उन्हें सहमत रखा जा सके। उनकी शक्ति एक लोहे की जंजीर जैसी है, जिसमें कई कड़ियाँ होते हैं। जैसे ही वह कड़ियाँ ढीली पडती है, सारी जंजीर बिखर जाती है। इसी प्रकार, जब एक भी सम्मिलित समूह निकल जाता है, तो सरकार खत्म हो जाती है। उदाहरणार्थ, फ्रांस में, १८७० और १९३४ के बीच कुल ८८ मन्त्रिमंडल बने, जिनकी औसत आयु ९ मास से कम थी। उसी अवधि में, इंग्लैंड में १८ मन्त्रि-मंडल बने, जो औसतन तीन से साढ़े तीन वर्ष तक रहे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि "फ्रांस की सरकार अस्त व्यस्तता और विनाश को लिये हुए, एक के बाद दूसरी जल्दी से बदलती हुई और भौंचका कर देने वाली नीतियों के उत्थान और पतनके नाटकीय क्रम के सिवा कुछ नहीं।"[2] जब सरकार का जीवन अल्प एवं चिंताजनक हो तो दीर्घकालिक योजना की नीति नहीं बनाई जा सकती। दीर्घकालीन योजना वही सरकार बना सकती है, जो उचित दीर्घ-अवधि तक पद पर बनी रह सकती हो, और यह केवल द्वि-दल प्रणाली में ही संभव है।

द्वि-दल प्रणाली वास्तविक अर्थ में प्रतिनिधि सरकार की रचना करती है। ऐसी विधि

1. Laski, Democracy in Crisis, P. 96
2. Ogg. op cit, p. 470

केवल यही प्रदान करती है, जिससे निर्वाचक चुनाव के समय प्रत्यक्षत: सरकार को चुनते हैं। दोनों दलों के सुनिश्चित कार्यक्रम होते हैं और उस आधार पर निर्वाचक-मंडल को सीधे अपील की जाती है। निर्वाचक कार्यक्रमों में से एक का चुनाव करते हैं और उस दल के विषय में निर्णय करते हैं, जिसने अधिकार में आना होता है। बहु-विधि समूहों में कोई दल संगठित नहीं होता। कभी-कभी विधान सभा के बाहर भी उनका कोई संगठन नहीं होता। उनके पास निर्वाचकों के समक्ष रखने के लिए कोई कार्यक्रम भी नहीं होता। निर्वाचक व्यक्तियों को मत-दान करते हैं और कार्यक्रमों के लिए नहीं। उन्हें यहां तक पता नहीं होता कि सरकार कौन बनाएगा। एक-दल सरकार वस्तुत: सहमति और आलोचना द्वारा बनती है। यह लोगों की स्वीकृति होती है कि जो बहुमत को सरकार-निर्माण करने की सुविधा प्रदान करती है। दूसरा दल विरोधी दल बन जाता है। किंतु द्वैध दल-प्रणाली विरोधी दल को सरकार विषयक संबंधों की दिशा में सर्वाधिक व्यवस्थित और उत्तरदायित्व-पूर्ण बनाती है। सरकार की आलोचना समूह प्रणाली के अधीन जैसी की जाती है, उसकी अपेक्षा अधिक शिष्ट और संयत हो पाती है। दोनों दलों के नेता समयानुकूल कार्य करते हैं और भीषण प्रश्नों पर समझौता करने की चेष्टा करते हैं। एक लेखक का कहना है कि इंग्लैंड का प्रधान मंत्री विरोधी दल के नेता को उसकी पत्नी से भी अधिक पहचानता है। यह एक संगठित विरोधी दल होता है, जिसका कार्य सरकार की आलोचना करना है और मंत्रि-मंडल दल को पद से हटाने की दृष्टि से उसके विरुद्ध मत-दान करना है।

अनेक समूहों की विद्यमानता में संगठित विरोध नहीं होता। उस दशा में यह प्रभाव का प्रश्न बन जाता है; यहां तक कि मंत्रि-मंडल के सदस्य भी कम या अधिक विभिन्न अवसरवादी लक्ष्यों द्वारा ही क्रियाशील होते हैं। "यहां तक कि यदि वह व्यक्तिगत रूप में परस्पर मिले रहने के लिए दृढ़-मत भी हों, तो भी उनका पृष्ट-पोषण करने वाले समूह विपरीत-मत से परिपूर्ण होते हैं। उनके कारण विश्वस्त समर्थन असंभव हो जाता है, और एक ही रात में सारी स्थिति बदल सकती है अथवा सारे समूह भंग हो सकते हैं।"[1]

लास्की, द्वैध-दल प्रणाली के लाभों को संक्षेप में इस प्रकार कहते हैं, "केवलमात्र यही एक विधि है, जिससे लोग निर्वाचन के समय प्रत्यक्षत: अपनी सरकार को चुन सकते हैं। यह उस सरकार को इस योग्य करती है कि वह अपनी नीति को संविधि-पुस्तक (Statute-Book) में परिणत करे। यह अपनी सफलता के परिणामों को प्रकट एवं समझने योग्य बनाती है। इससे तत्काल ही वैकल्पिक सरकार का आविर्भाव हो जाता है।"[2]

बहु-दल प्रणाली के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of the Multiple-Party System) :—तिस पर भी, द्वि-दल प्रणाली की हाल ही में कड़ी आलोचना हुई है। उदाहरणार्थ, स्व. प्रो. राम्जे मूर ने अपने ग्रंथ में इसकी घोर निंदा की है।[3] उनका कथन है कि द्वि-दल प्रणाली ब्रिटिश सरकार में पाए जाने वाली सबसे भयंकर बुराइयों का कारण है। राम्जे मूर के मतानुसार द्वि-दल प्रणाली ने विधान-सभा के सम्मान को नष्ट

1. Ibid., p. 469.
2. Laski, Grammar of Politics, p. 314.
3. Muir, How Britain is Governed: The Future for Democracy.

कर दिया है और मन्त्रि-मंडल की तानाशाही को उन्नत कर दिया है। यह बहुमत की स्वेच्छाचारिता है, जो अल्प-संख्या के हितों को उस समय तक कुचले रहती है, जब तक उसे बहुमत प्राप्त रहता है। उनकी धारणा थी कि सच्चे लोकतंत्र में विचार-स्वातन्त्र्य और सब प्रकार के मतों का उचित प्रतिनिधित्व समाविष्ट होता है। द्वि-दल प्रणाली के अधीन निर्वाचकों की इच्छा दोनों दलों में से एक के संपूर्ण राजनीतिक कार्यक्रम को स्वीकार या अस्वीकार करने भर की रह जाती है। अन्य कोई विकल्प नहीं होता। यह कहा जाता है कि आर्थिक-हितों की बहुरूपता के साथ आधुनिक राज्य का एक जटिल आकार होता है। तदनुसार, यह आवश्यक है कि इन सब स्वार्थों का उचित प्रतिनिधित्व हो। देश के राजनीतिक जीवन को दो दलों में विभाजित कर, अनेक हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया जा सकता। बहु-दल प्रणाली अधिक लोच और गतिशीलता प्रदान करती है और विभिन्न विचार के समूहों को परस्पर संगठित होने का अवसर प्रदान करती है। "यह राष्ट्र को आपस में न

इसके अतिरिक्त द्वि-दल प्रणाली "अनुयायियों और नेताओं दोनों में विवेकपूर्ण प्रशंसा और चयन के स्थान पर अंध-भक्ति की प्रतिष्ठा करती है।" यह प्रबल स्वार्थी हितों और दल पक्षपातों की रचना करती है। अत्यधिक कठोरता और अनुशासन विचार-स्वातन्त्र्य की उपेक्षा करता है और 'लूट' प्रणाली को प्रोत्साहन देता है।

निष्कर्ष—बहु-दल प्रणाली के चाहे जो भी गुण हों और भले ही वह लोक-भावना के वास्तविक विभाजन को कितना ही सही-सही प्रकट करती हो, तिस पर भी यह क्रियाशील आदर्श के रूप में कार्य नहीं कर सकती। प्रशासन की सब से बड़ी आवश्यकता उसमें अनिश्चितता का अभाव है। किसी भी प्रबंधक को इस योग्य होना चाहिए कि वह नीति की व्यवस्थित योजना के अनुसार निरंतर अपना मार्ग बनाता चला जाय। इसके लिए सुदृढ़ सरकार का निर्माण करने के लिए स्थायी बहुमत होना चाहिए। "विपरीत दशा में, विधान सभा का प्रबंधक पर इतना अधिक अंकुश होगा कि प्रबंधक बड़े-बड़े कार्यों की योजना नहीं बना सकेगा और जिस समय को उन कार्यों की योजना पर लगाना चाहिए, वह उन स्थितियों को संभालने में लग जायगा जो ज्यों ही काबू में आयगी, त्यों ही बेकाबू भी हो जावेंगी।"[1]

एक-दल प्रणाली (Single-Party System)—प्रथम विश्व-युद्ध के तत्काल बाद ही एक-दल सरकार की प्रणाली अस्तित्व में आई। सब से पहले रूस ने इसका प्रयोग किया था। इटली और जर्मनी ने उसके बाद प्रयोग किया। एक-दल सरकार सर्वाधिकार-वादी ढंग का राज्य होता है और सरकार की सारी अधिकार-शक्ति एक अखंड राजनीतिक दल में केंद्रीभूत होती है। इटली में फासिस्ट दल की सरकार थी; जर्मनी में नेशनल सोशलिस्ट दल; रूस में वह दल नियंत्रण-शक्ति में था, जिसे कभी बोल्शेविक कहते थे, किंतु अब वो वल कम्यूनिस्ट कहलाता है।"[2] एक-दल प्रणाली के अधीन सत्ता-संपन्न दल अन्य दलों की विद्यमानता को सहन नहीं करता। यह उल्लेख किया गया

1. Laski, Grammar of Politics, pp. 314-15.
2. Anup Chand Kapur; Govt. of the U.S.S.R.

है कि सोवियत संघ में अन्य दल हो सकते हैं, किंतु "केवल इसी शर्त पर कि एक जो अधिकारारूढ़ है और दूसरा जेल में।"[१]

प्रो. अर्नेस्ट वार्कर ने अपनी पुस्तक "रीफ्लैक्शन्स आन गवर्नमेंट" में एक-दल प्रणाली के रूपों तथा चरित्रों का विशद एवं वहुमूल्य विश्लेषण किया है। उसमें इटली, जर्मनी और रूस की तानाशाही में समानता के कतिपय भाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रत्येक दशा में, एक दल अन्य सव दलों को परास्त करने और प्रशासन पर अधिकृत होने में सफल हुआ है। इन दलों में जनतंत्री ढंग के दलों जैसी कोई समानता नहीं होती। एक-दल प्रणाली "जव यह जनता के सभी वर्गों में से अपनी भरती करती है, तो यह स्वतः दूसरों का निषेध करने वाली और धर्माध्यक्षों द्वारा नेतृत्व की जाने वाली 'व्यवस्था' या चयन होता है।"[२] दल "तानाशाही और राज्य का अधिकृत प्रतिनिधि होता है। समाज और आर्थिक ढांचा उसकी प्रभुता में होते हैं और रूपांतरित हो जाते हैं, यद्यपि रूपांतर की सीमा उसके साधन द्वारा भिन्न हो सकती है।"[3] इटली और जर्मनी में उक्त कथन के आधार पर नेतृत्व का सिद्धांत एक स्थापित तथ्य था। "यह न केवल दल के विधान की अन्तर्दृष्टि है, प्रत्युत उसके सिद्धांतों की भी है।"[४] वहां क्यों और कैसे का कोई प्रश्न नहीं था। उत्तरदायित्व, अनुशासन, और पुनीत शासन एक-दल सरकार के नारे थे। नेता की आज्ञा का पालन करना पवित्र कर्तव्य था और उसे अनुशासन और प्रचार की कलाओं द्वारा कड़ाई के साथ प्रचलित किया जाता था। मुसोलिनी ने आत्म-कथा में आदि से अंत तक स्वयं उस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "मेरा आदेश", "मेरा निर्देशन", "मेरा विवेक और न्याय", "मेरा दुर्दमनीय प्रभुत्व।"[५] दल और सरकार के लिए मुसोलिनी का ही प्रथम और अंतिम शब्द था।

शुरू-शुरू में, हिटलर और मुसोलिनी दोनों ही लोक-प्रभुसत्ता, विचार-स्वातंत्र्य, और प्रवंधक अधिकारी की शक्तियों में कड़ी मर्यादा के समर्थक थे। किंतु दोनों ने फासिस्ट विरोधी या नाज़ी विरोधी विचार या क्रिया की प्रत्येक अभिव्यक्ति का अविवेकपूर्ण दमन किया और जनता को जनतंत्री व्यवस्थाओं द्वारा अपना शासन करने के अधिकार से वंचित किया और प्रवंध अधिकार को हथिया लिया। किसी-न-किसी वहाने सव दलों का अंत किया गया और जन-मत को एक वनाया गया। हिटलर ने ६ जुलाई, १९५३ को सगर्व घोषणा की थी, कि "राजनीतिक दलों का अव उन्मूलन हो गया है। यह एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है, जिसके महत्वपूर्ण और दूरदर्शी प्रभावों को अनेक दशाओं में अभी तक सव ने महसूस नहीं किया। हमें अव जनतंत्र के अवशेषों से पिंड छुड़ा लेना चाहिए, विशेष रूप से मत-दान और वहुमत द्वारा निर्णय की प्रणाली से...अव दल (नेशनल सोशिलिस्ट) ने ही राज्य का रूप धारण कर लिया है।" उसी वर्ष के नवम्बर में जो चुनाव हुए, उसमें रीशस्टैग (जर्मनी की लोक सभा) के लिए उम्मीदवारों की अविरोध नाज़ी-सूची देशके समक्ष रखी गई और

1. Ogg. op. cit., p. 877.
2. Barker, Reflections on Government, p. 291.
3. Chandrashekharan, op. cit., p. 43.
4. Barker, op. cit., p. 298.
5. As cited in Coker, Recent Political Thought, p. 479.

उन का वैध चुनाव हो गया। एक मास बाद जब सर्व-नाजी रीशस्टैग का साढ़े सात मिनट के लिए अधिवेशन हुआ तो उक्त विचार पराकाष्ठा तक पहुंच गया। यह अधिवेशन केवल अफसरों के चुनाव के लिए हुआ था। सरकार ने मत के लिए अपनी सूची उपस्थित की और ६५९ खाकी कमीजों वाले स्वीकृति सूचना में खड़े हुए और एक साथ बैठ गए। और उपरान्त नम्रतापूर्वक अपने-अपने कार्य पर चले गए।[1] इसलिए एक-दल सरकार सर्वहारा राज्य की पर्यायवाची है।

Suggested Readings

Barker, E.—Reflections on Government.
Chandrashekharan, C. V.—Political Parties.
Gilchrist, R. N.—Principles of Political Science, Chap. XV.
Kapur, A. C.—Government of the U. S. S. R.
Leacock, S.—Elements of Political Science, Chap. VIII.
Lowell, A. L.—Government and Parties in Continental Europe, Vol. I, Chapts. XXIV-XXX.
Vol. II, Chapts. XXXI-XXXVII.
MacIver, R. M.—The Modern State, Chap. XIII.
Maine, H.—Popular Government.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chap. XXIX.

अपने नियमों का प्रयोग करने और अपने कोषों पर नियंत्रण करने की निश्चित शक्तियां प्रदान करता है।

दोनों के वीच, दूसरा किंतु महत्वपूर्ण अंतर कद्रीय और स्थानीय सरकारों द्वारा पूर्ण किये जानेवाले कृत्यों के विषय में है। मेकाइवर[1] के अनुसार कृत्यों के तीन प्रकार हैं, जिन्हें राज्य पूर्ण करना चाहता है। प्रथम अवस्था में, कुछ ऐसे कृत्य हैं, जो संपूर्ण समुदाय से संवंधित हैं और उसे प्रभावित करते हैं, और वह राष्ट्रीय महत्व के हैं। इन कृत्यों में यह सम्मिलित हैं : युद्ध और शांति के विपय, आयात-निर्यात कर, नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का निश्चय करने वाले कानून-निर्माण, चलार्थ, वेंकिंग और विनिमय, संवाहन और यातायात के साधन, इत्यादि। ये सव कृत्य केंद्रीय सरकार के अधीन होंगे। दूसरी प्रकार के कृत्य वे हैं, जो व्यापक स्वरूप के हैं, किंतु "जो योग्यतापूर्वक अपने संपादन अथवा अन्य आधारों पर स्थानीय अधिकारियों से सहयोग की अपेक्षा रखते हैं, और जो केंद्रीय सरकार द्वारा नियंत्रित प्रणाली के अंतर्गत कार्य करें। इन कृत्यों में न्याय का प्रशासन, पुलिस संरक्षण, गरीव और असहाय की रक्षा, शिक्षा, सफाई, और अन्य अनेक कार्य-कलाप सम्मिलित हैं। स्थानीय अधिकारी केंद्रीय सरकार द्वारा निर्धारित-सामान्य विधियों के अनुसार और उसकी ओर से इन कृत्यों को पूर्ण करते हैं। अंततः, कुछ ऐसे कृत्य हैं, जो प्रदेश-विशेष से संवंधित होते हैं; उदाहरणार्थ, पानी की पूर्ति, अस्पतालों और वाचनालयों की रक्षा, सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं को चलाना, जैसे, विजली, ट्रामें या वहु-विधि आवागमन के साधन। इन सेवाओं का स्थानीय आवश्यकताओं से संवंध है और यह युक्तिसंगत जान पड़ता है कि उस प्रदेश का उन पर प्रत्यक्ष एवं न्यायपूर्ण नियंत्रण होना चाहिए। इन कृत्यों के लिए स्थानीय अनुभव और स्थानीय विस्तृत ज्ञान की आवश्यकता है। इस प्रकार स्थानीय सरकार का वह स्वरूप हो जाता है कि जिसे हम भारत में स्थानीय स्व-शासन या सरकार कहते हैं, यद्यपि स्थानीय स्व-शासन समुचित नामकरण नहीं है।

जो भी हो, केंद्रीय और स्थानीय सरकारों के कृत्यों को कठोरतापूर्वक अलग कर देना संभव नहीं है। "स्थानीय हित विभिन्न परिमाण में राष्ट्रीय हितों में घुल-मिल जाते हैं।"[2] वस्तुतः यह सर्वथा उचित जान पड़ता है कि जो प्रश्न अत्यावश्यक रूप में उस इलाके से संवंधित हों, उन्हें यथासंभव स्थानीय सरकारों के नियंत्रण में ही रखना चाहिए। किंतु यह नियंत्रण कदापि निरंकुश नहीं हो सकता क्योंकि कुछ स्थानीय कृत्यों के पालन में राष्ट्रीय हितों का समावेश होता है। शिक्षा और सफाई जैसे विपय यद्यपि स्थानीय स्वरूप के हैं, तथापि उनका राष्ट्रीय महत्व है और केंद्रीय सरकार उनके विपय में निश्चित नहीं रह सकती। इसलिए स्थानीय सरकार की समस्या में केंद्रीय और स्थानीय सरकारों के कृत्यों के वीच गहरी रेखा खींचने की नहीं है। जैसा कि मेकाइवर का कथन है, वास्तविक समस्या "स्थानीय सरकार को वास्तविकता और उत्तरदायित्व के विषय में तत्काल भरोसा प्रदान करने की है।"[3] जव तक स्थानीय संस्था अपनी शक्तियों के वाहर नहीं जाती अथवा किसी भीपण असावधानी की दोषी नहीं होती, केंद्रीय सरकार उसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करती। प्रो. जैंक्स का कथन है, "जव तक स्थानीय अधिकार-शक्ति कानून

1. Op. cit., pp. 391—92.
2. Ibid, p. 393.
3. Ibid.,

की सीमाओं के अन्दर रहते हुए मुचारु-रूप अपना कार्य सपादन करती है, वह कार्य सपादन चाहे, कितना ही गलत क्यों न हो, केंद्रीय सरकार को उन गलती के कारण नुकसान उठाने वाले लोगों की प्रार्थना पर भी उनमें हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है।"[1]

स्थानीय सरकार के कृत्य (Functions of Local Government):—स्थानीय सस्थाओं के कृत्यों के दो वर्ग हो सकते हैं : जनता को प्रत्यक्ष सेवाएं, और अप्रत्यक्ष कृत्य। अप्रत्यक्ष कृत्यों के अधीन स्थानीय सस्थाओं को अपने सदस्यों का निर्वाचन करना होता है, काननी सलाह-मशविरा और उस पर अमल करना होता है, करारोपण के लिए सपत्ति का निर्धारण करना होता है, स्थानीय कोषों की योजना, नियत्रण और निरीक्षण करना होता है। प्रत्यक्ष सेवाओं के अधीन जिन कृत्यों का पालन किया जाता है, वह जन-कल्याण के हितों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और तीन समूहों में उपविभाजित है :

(१) सास्कृतिक विकास से सबधित कृत्य। इस सूची में यह कृत्य सम्मिलित हैं : शिक्षण प्रदान करना, कस्बे या नगर की योजना द्वारा वातावरण का नियत्रण, चित्र-शालाओं, अजायबघरों, चिड़ियाघरों, वाचनालयों तथा लोक-मनोरंजन के अन्य स्थानों की रक्षा और सहायता करना।

(२) सामाजिक और भौतिक कृत्य। स्थानीय सस्थाएं सफाई की देख-भाल करती हैं, सफाई के लिए नालियां तथा सफाई के सरक्षण की समुचित व्यवस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा हेतु अन्य आवश्यक अवस्थाओं की रचना करती हैं। इसी से सबधित रोगों और महामारियों के विस्तार को रोकने के लिए चिकित्सा सहायता तथा अन्य प्रबधों का भी आदेश है। इसके बाद सड़क बनाने, रक्षा करने और उनकी मरम्मत करने, बाजारों और सर्वसाधारण मार्गों पर रोशनी करने, आग तथा अन्य दुर्घटनाओं से स्थानीय रक्षा-प्रबंध और व्यापारिक वस्तुओं के आवागमन का नियत्रण आता है।

(३) तीसरी सूची के कृत्यों में निम्न सेवाओं का आदेश है : जल-पूर्ति, शक्ति, रोशनी और सार्वजनिक सवाहन का प्रबध। कूड़ा-कर्कट एकत्र करना और हटाना और स्वास्थ्यकर बाजारों द्वारा खाद्य-पूर्ति के नियमन।

कुछ मुख्य स्थानीय सस्थाएं कतिपय सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएं भी प्रदान करती है, जैसे, जल-पूर्ति, गैस, बिजली की रोशनी, बस या ट्रामों के प्रबध। इग्लैंड तथा अमरीका में स्थानीय सस्थाओं के कार्यकलापों में उल्लेखनीय विस्तार हुआ है। किंतु भारत में इन कृत्यों का क्षेत्र कुछ सीमित ही है। ऐसी महत्वाकांक्षी नागरिक योजनाओं को अपनाने में, जिनका आशय कलात्मक, सास्कृतिक और आर्थिक कार्यकलापों का उत्कर्ष करना हो, इन स्थानीय सस्थाओं की रचना करने वाले विधेयक उचित क्षेत्र प्रदान नहीं करते।

स्थानीय सरकार के लाभ (Advantages of Local Government):—जिन देशों में लोकतंत्री शासन-प्रणाली है, उनमें स्थानीय सरकार की व्यवस्था उत्तम कार्य कर रही है। यह कई देशों का अनुभव है कि स्थानीय सभी मामलों के विषय में समुचित ढंग से सगठित स्थानीय सरकार ही सर्वाधिक सुदर प्रशासन कार्य करती है। मुख्यतः निर्वाचित प्रतिनिधियों से सघटित प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा उस प्रदेश के अधिवासियों के स्थानीय मामलों का नियमन और प्रशासन करना स्थानीय सरकार का अर्थ है। डी. तौकेवली

1. Jenks, English Local Government, p. 15

का कथन है कि नागरिकों की ये स्थानीय सभाएं "स्वतंत्र राष्ट्र की शक्ति का निर्माण करती हैं। विज्ञान की शिक्षा के लिए जो महत्व प्राइमरी स्कूलों का है, वही स्वाधीनता का पाठ पढ़ाने के लिए नगर-सभाओं का है। ये सभाएं जनता को स्वाधीनता प्राप्त कराती हैं और मनुष्यों को शिक्षा देती हैं कि कैसे स्वतंत्रता का उपयोग करना चाहिए और कैसे उसका आनंद उठाना चाहिए। कोई भी राष्ट्र स्वतंत्र सरकार की प्रणाली की स्थापना कर सकता है, किंतु म्युनिसिपल व्यवस्थाओं की भावना विना उसे स्वाधीनता की भावना प्राप्त नहीं हो सकती।" स्थानीय संस्थाएं प्रशिक्षण केंद्र का काम करती हैं और यहां पर प्राप्त किया हुआ अनुभव और ज्ञान केंद्रीय सरकार के विस्तृत क्षेत्र में सर्वोत्तम ढंग से प्रयोग किया जा सकता है। लास्की का विचार है कि सरकार के अन्य किसी भी भाग की अपेक्षा स्थानीय सरकार संभवतः अधिक मात्रा में शिक्षा प्रदान करती है।[1] वह नागरिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों की भावना उत्पन्न करती है और नागरिकों में सामान्य हितों के लिए सामान्य प्रशासन की सहयोगी भावना को उन्नत करती है।

जव प्रशासन-विपयक सभी समस्याएं केंद्रीय समस्याएं नहीं हैं, तो इसका स्पष्ट सार यह है कि सरकार के उन कृत्यों को, जो देश के एक सीमित भाग के अधिवासियों को मुख्यतः अथवा पूर्णरूपेण प्रभावित करते हैं, समुदाय के इसी भाग के नियंत्रण में सौंप देना चाहिए। स्थानीय परिचय प्रशासन कार्यकलाप में एक दूसरे के अनुकूल ढालने की प्रवृत्ति पैदा करता है, क्योंकि उस दशा में सामान्य उद्देश्यों और सामान्य आवश्यकताओं की चेतना विद्यमान होती है। लास्की कहते हैं, "पड़ोसीपन हमें उन हितों के विपय में आपसे-आप सावधान कर देता है, जो अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष रूप से हमें प्रभावित करते हैं।[2] केंद्रीय सरकार वहुधा इन हितों से उपराम होती है और यदि कभी वह उनमें दिलचस्पी ले भी ले तो उसकी कार्यकारिता ऐसी लालफीताशाही की होती है जिससे तत्काल कार्य-पूर्ति की आवश्यक योजनाओं में अनावश्यक देरी हो जाती है। जो प्रशासन स्थानीय नहीं, वह स्थानीय लोकमत के प्रति प्रत्युत्तरहीन होता है। इस प्रकार, यह "स्वाभाविक रूप में, उन भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति से अछूता रहेगा, जो प्रशासन की सफलता के लिए वास्तविक रूप में अत्यावश्यक है।"[3] अन्य शब्दों में केंद्रीय सरकार स्थान विपयक वास्तविक दशा को समझ नहीं सकती। वाहर की सरकार होने के कारण लोगों की जिस रुचि या उत्तरदायित्व का वह नियंत्रण करना चाहती है, उसे वह जाग्रत नहीं कर पाती। "वह क्षोभ को उत्पन्न कर सकती है, किंतु वह नागरिकों का रचनात्मक समर्थन प्राप्त करने में सफल नहीं होती।" यह सर्वमान्य ज्ञान है कि हमारी साझी समस्याओं के निराकरण के लिए जो कुछ हमारे साझे प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है, उससे हमें अधिक संतोप प्राप्त होता है। और यदि वाहर के अन्य लोगों द्वारा वह किया जाता है, तो वैसा संतोप प्राप्त नहीं होता।

इससे अधिक, केंद्रीय सरकार का लक्ष्य एकरूपता (Uniformity) का होता है और भिन्न रूपों का मिश्रण नहीं। स्थानीय समस्याओं के लिए भिन्नरूपता आवश्यक है,

1. Grammar of Politics, p. 411.
2. Ibid.
3. Ibid., p. 412.

क्योंकि वह स्थान-विशेष की आवश्यकताओं की दृष्टि से विशिष्ट होती है। साधारणतया एकरूपता सहज होती है, "क्योंकि समस्याओं का एक ही उपाय खोज निकालना और उसे समष्टि रूप में सब पर लागू करना सदैव सरल होता है बजाय इसके कि अनेक रूपों के उपाय खोजना और उन्हें खंडित करके अलग २ लागू करना।"[1] किंतु एकरूपता तो सब समस्याओं का केवल यांत्रिक समाधान है। किसी विशेष प्रदेश की विशेष समस्याओं का स्वरूप सर्वथा भिन्न होता है, इसलिए उनका समाधान भी उन विशेष अवस्थाओं के निर्देशानुसार, जिनके कारण उनका समाधान जरूरी है, व्यक्तिगत आधारपर किया जाना चाहिए।

स्थानीय सरकार का उद्देश्य सरकार विषयक कृत्यों का विभाजन है, और इस भांति केंद्रीय सरकार के भार को हल्का करना है। यदि केंद्रीय सरकार पर काम का अत्यधिक भार है, तो वह अयोग्य बन जाती है, और वह आलस्य,और अधिक व्यय के साथ कार्य करेगी, और सब से बड़ी बात यह कि अयोग्यतापूर्वक करेगी। इसके अतिरिक्त, केंद्रीकरण का अर्थ है नौकरशाही ढग की सरकार। एक नौकरशाही सरकार योग्य सरकार हो सकती है किंतु योग्य सरकार स्व-शासन का प्रतिस्थापन नहीं हो सकता। तदनुसार, यह कहा जाता है कि यदि स्थानीय संस्थाओं को सक्रिय शक्तियां नहीं सौंपी जाती, तो "केंद्रीय अधिकार शक्ति न केवल स्थानीय सब स्वतः-प्रेरणाओं का दमन कर देगी, प्रत्युत स्थानीय ज्ञान और स्थानीय रुचि के स्रोत को भी नष्ट कर देगी, और उसके अभाव में वह अपने कृत्यों का भी संभवतः पालन न कर सकेगी।" इसलिए, योग्यता और उत्तरदायित्व के लिए स्थानीय सरकार आवश्यक है।

पुनः, स्थानीय सरकार द्वारा बचत भी होती है। स्थानीय अधिकारी स्थानीय रूप में उत्पन्न किये कोषों से स्थानीय कृत्यों को पूर्ण करते हैं। समानता इस बात की मांग करती है कि जो सेवाएं अति विशिष्ट रूप में अथवा मुख्य रूप में किसी ऐसी जनसंख्या को प्रदान की जायें, जो किसी जिले के अंतर्गत रहती हो, तो उन सेवाओं के लिए वहां की जनता को ही चुकाना चाहिए। ऐसी सेवाओं का भार उन लोगों पर नहीं पड़ना चाहिए, जिन्हें उनसे कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि जिले के अधिवासियों को स्थानीय सेवाओं के लिए चुकाना होता है, इसलिए उन सेवाओं पर समुचित नियंत्रण की उनकी मांग भी स्वाभाविक है। इसके तीन परिणाम होते हैं। प्रथम यह कि स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में भाग लेने से लोगों की प्रवृत्ति सामान्य मामलों में पारस्परिक रुचि को विकसित करने और अपने-आपको दूसरों के लिए ईमानदारी और योग्यता के साथ काम करने में प्रशिक्षण प्राप्त करने की रहती है। दूसरे यह कि जिन लोगों को स्थानीय मामलों का प्रबंध सौंपा जायगा, वह अपनी खर्चे की लागतों को यथासंभव अल्प रखने के लिए अधिक योग्यता के साथ प्रबंध करेंगे। अन्ततः, उत्तरदायित्व को विस्तार देने से, स्व-सहायता और आत्मनिर्भरता की भावना को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। इसलिए स्थानीय सरकार की व्यवस्था सच्ची नागरिकता की भावना को विकसित करने की दिशा में एक बड़ा कदम है।

वस्तुतः, प्रत्येक प्रगतिशील राज्य के कल्याणकारी उद्देश्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन स्थानीय सरकार का अत्यधिक विकास है। व्यक्तिगत प्रश्नों का समाधान करने के लिए कल्याणकारी सेवाओं में लोचदार कुशलता की आवश्यकता होती है। स्थानीय

1. Ibid., p. 413.

का कथन है कि नागरिकों की ये स्थानीय सभाएं "स्वतंत्र राष्ट्र की शक्ति का निर्माण करती हैं। विज्ञान की शिक्षा के लिए जो महत्व प्राइमरी स्कूलों का है, वही स्वाधीनता का पाठ पढ़ाने के लिए नगर-सभाओं का है। ये सभाएं जनता को स्वाधीनता प्राप्त कराती हैं और मनुष्यों को शिक्षा देती हैं कि कैसे स्वतंत्रता का उपयोग करना चाहिए और कैसे उसका आनंद उठाना चाहिए। कोई भी राष्ट्र स्वतंत्र सरकार की प्रणाली की स्थापना कर सकता है, किंतु म्युनिसिपल व्यवस्थाओं की भावना बिना उसे स्वाधीनता की भावना प्राप्त नहीं हो सकती।" स्थानीय संस्थाएं प्रशिक्षण केंद्र का काम करती हैं और यहां पर प्राप्त किया हुआ अनुभव और ज्ञान केंद्रीय सरकार के विस्तृत क्षेत्र में सर्वोत्तम ढंग से प्रयोग किया जा सकता है। लास्की का विचार है कि सरकार के अन्य किसी भी भाग की अपेक्षा स्थानीय सरकार संभवतः अधिक मात्रा में शिक्षा प्रदान करती है।[1] यह नागरिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों की भावना उत्पन्न करती है और नागरिकों में सामान्य हितों के लिए सामान्य प्रशासन की सहयोगी भावना को उन्नत करती है।

जब प्रशासन-विषयक सभी समस्याएं केंद्रीय समस्याएं नहीं हैं, तो इसका स्पष्ट सार यह है कि सरकार के उन कृत्यों को, जो देश के एक सीमित भाग के अधिवासियों को मुख्यतः अथवा पूर्णरूपेण प्रभावित करते हैं, समुदाय के इसी भाग के नियंत्रण में सौंप देना चाहिए। स्थानीय परिचय प्रशासन कार्यकलाप में एक दूसरे के अनुकूल ढालने की प्रवृत्ति पैदा करता है, क्योंकि उस दशा में सामान्य उद्देश्यों और सामान्य आवश्यकताओं की चेतना विद्यमान होती है। लास्की कहते हैं, "पड़ोसीपन हमें उन हितों के विषय में आपसे-आप सावधान कर देता है, जो अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष रूप से हमें प्रभावित करते हैं।[2] केंद्रीय सरकार बहुधा इन हितों से उपराम होती है और यदि कभी वह उनमें दिलचस्पी ले भी ले तो उसकी कार्यकारिता ऐसी लालफीताशाही की होती है जिससे तत्काल कार्य-पूर्ति की आवश्यक योजनाओं में अनावश्यक देरी हो जाती है। जो प्रशासन स्थानीय नहीं, वह स्थानीय लोकमत के प्रति प्रत्युत्तरहीन होता है। इस प्रकार, यह "स्वाभाविक रूप में, उन भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति से अछूता रहेगा, जो प्रशासन की सफलता के लिए वास्तविक रूप में अत्यावश्यक है।"[3] अन्य शब्दों में केंद्रीय सरकार स्थान विषयक वास्तविक दशा को समझ नहीं सकती। बाहर की सरकार होने के कारण लोगों की जिस रुचि या उत्तरदायित्व का वह नियंत्रण करना चाहती है, उसे वह जाग्रत नहीं कर पाती। "वह क्षोभ को उत्पन्न कर सकती है, किंतु वह नागरिकों का रचनात्मक समर्थन प्राप्त करने में सफल नहीं होती।" यह सर्वमान्य ज्ञान है कि हमारी साझी समस्याओं के निराकरण के लिए जो कुछ हमारे साझे प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है, उससे हमें अधिक संतोष प्राप्त होता है। और यदि बाहर के अन्य लोगों द्वारा वह किया जाता है, तो वैसा संतोष प्राप्त नहीं होता।

इससे अधिक, केंद्रीय सरकार का लक्ष्य एकरूपता (Uniformity) का होता है और भिन्न रूपों का मिश्रण नहीं। स्थानीय समस्याओं के लिए भिन्नरूपता आवश्यक है,

1. Grammar of Politics, p. 411.
2. Ibid.
3. Ibid., p. 412.

क्योकि वह स्थान-विशेष की आवश्यकताओ की दृष्टि से विशिष्ट होती है। साधारणतया एकरूपता सहज होती है, "क्योकि समस्याओं का एक ही उपाय खोज निकालना और उसे समष्टि रूप में सब पर लागू करना सदैव सरल होता है बजाय इसके कि अनेक रूपो के उपाय खोजना और उन्हें खंडित करके अलग २ लागू करना।"[1] किंतु एकरूपता तो सब समस्याओ का केवल यात्रिक समाधान है। किसी विशेष प्रदेश की विशेष समस्याओं का स्वरूप सर्वथा भिन्न होता है, इसलिए उनका समाधान भी उन विशेष अवस्थाओ के निर्देशानुसार, जिनके कारण उनका समाधान जरूरी है, व्यक्तिगत आधारपर किया जाना चाहिए।

स्थानीय सरकार का उद्देश्य सरकार विषयक कृत्यो का विभाजन है, और इस भाति केंद्रीय सरकार के भार को हल्का करना है। यदि केंद्रीय सरकार पर काम का अत्यधिक भार है, तो वह अयोग्य बन जाती है, और वह आलस्य,और अधिक व्यय के साथ कार्य करेगी, और सब से बड़ी बात यह कि अयोग्यतापूर्वक करेगी। इसके अतिरिक्त, केंद्रीकरण का अर्थ है नौकरशाही ढग की सरकार। एक नौकरशाही सरकार योग्य सरकार हो सकती है किंतु योग्य सरकार स्व-शासन का प्रतिस्थापन नही हो सकता। तदनुसार, यह कहा जाता है कि यदि स्थानीय संस्थाओं को सक्रिय शक्तिया नही सौपी जाती, तो "केंद्रीय अधिकार शक्ति न केवल स्थानीय सब स्वतः-प्रेरणाओं का दमन कर देगी, प्रत्युत स्थानीय ज्ञान और स्थानीय रुचि के स्रोत को भी नष्ट कर देगी, और उसके अभाव में वह अपने कृत्यों का भी सभवतः पालन न कर सकेगी।" इसलिए, योग्यता और उत्तरदायित्व के लिए स्थानीय सरकार आवश्यक है।

पुनः, स्थानीय सरकार द्वारा बचत भी होती है। स्थानीय अधिकारी स्थानीय रूप में उत्पन्न किये कोषो से स्थानीय कृत्यो को पूर्ण करते हैं। समानता इस बात की माग करती है कि जो सेवाए अति विशिष्ट रूप मे अथवा मुख्य रूप में किसी ऐसी जनसख्या को प्रदान की जायें, जो किसी जिले के अतर्गत रहती हो, तो उन सेवाओ के लिए वहा की जनता को ही चुकाना चाहिए। ऐसी सेवाओ का भार उन लोगो पर नही पडना चाहिए, जिन्हे उनसे कोई लाभ नही होता। क्योंकि जिले के अधिवासियो को स्थानीय सेवाओं के लिए चुकाना होता है, इसलिए उन सेवाओ पर समुचित नियत्रण की उनकी माग भी स्वाभाविक है। इसके तीन परिणाम होते हैं। प्रथम यह कि स्थानीय सस्थाओ के कार्यों मे भाग लेने से लोगो की प्रवृत्ति सामान्य मामलों मे पारस्परिक रुचि को विकसित करने और अपने-आपको दूसरो के लिए ईमानदारी और योग्यता के साथ काम करने में प्रशिक्षण प्राप्त करने की रहती है। दूसरे यह कि जिन लोगो को स्थानीय मामलों का प्रबध सौपा जायगा, वह अपनी खर्चे की लागतो को यथासभव अल्प रखने के लिए अधिक योग्यता के साथ प्रबध करेंगे। अन्ततः, उत्तरदायित्व को विस्तार देने से, स्व-सहायता और आत्मनिर्भरता की भावना को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। इसलिए स्थानीय सरकार की व्यवस्था सच्ची नागरिकता की भावना को विकसित करने की दिशा मे एक बड़ा कदम है।

वस्तुतः, प्रत्येक प्रगतिशील राज्य के कल्याणकारी उद्देश्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन स्थानीय सरकार का अत्यधिक विकास है। व्यक्तिगत प्रश्नो का समाधान करने के लिए कल्याणकारी सेवाओ मे लोचदार कुशलता की आवश्यकता होती है। स्थानीय

1. Ibid., p. 413.

संस्थाएं लोगों के लिए अपनी समीपता, अपने विस्तृत प्रतिनिधि स्वरूप, स्थिति विषयक विवरणों के साथ अपने परिचय, और अधिवासियों के साधनों और आवश्यकताओं के अपने निकट ज्ञान के कारण इस प्रकार की कुशलता की रचना के लिए अत्यधिक उपयुक्त हैं। राज्य को सामाजिक भलाई के लिए अपना सर्वाधिक प्रभावशील साधन इन संस्थाओं में दिखाई दिया है।

रूस राष्ट्रीय और स्थानीय समाजवाद का घर है। सोवियत नगर, जो हमारी म्युनिसीपैलेटियों के रूसी आकार हैं, साधारण म्युनिसीपल कृत्यों का पालन करने के अतिरिक्त स्थानीय समुदाय के समूचे राजनीतिक और आर्थिक जीवन का भी नियमन करते हैं। वाणिज्य, उद्योग, फुटकर व्यापार, सहकारिता, भवन-निर्माण, भूमि-विभाजन, दंडनीय अपराधों का न्याय, भरती और सेना को युद्ध-कार्य के लिए तत्पर करना, क्रांतिकारी शासन की रक्षा, राष्ट्रीय प्रगति की देख-रेख और प्रचलन, इत्यादि सभी उनके अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। सोवियत नगर सरकार के उन सभी अंगों और संस्थाओं की देख-भाल और नियंत्रण करते हैं, जो उनके क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करती हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनमें से किसी स्थानीय समुदाय के साथ असंतोष प्रकट कर सकते हैं, वह केन्द्रीय सरकार और स्थानीय समुदाय की प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रतिनिधियों की दोहरी योग्यता के साथ कार्य करते हैं।

अग्रणी देशों की स्थानीय संस्थाओं के साथ तुलना करने पर, हमारी म्युनिसीपलेटियों के कृत्य कम विस्तृत हैं, मुख्यत: तीन दिशाओं में, अर्थात् पुलिस, व्यापारिक, साहसिक व्यवसाय, और सामाजिक सेवाओं का विशाल समूह, जिसमें यह सम्मिलित हैं—स्वास्थ्य, भवन-निर्माण, बीमारी और बेरोजगारी। कुछ कृत्य तो हमारे यहां की म्युनिसिपैलेटियों को वैधरूप में स्वीकृति नहीं है। कानूनी प्रतिबंधों के अतिरिक्त, हमारी म्युनिसीपैलेटियों तथा विदेशी आकार की म्युनिसीपैलेटियों के बीच मुख्य अंतर यह है कि जिन कृत्यों के विषय म कानूनी स्वीकृति है, जैसे, शिक्षा या जलपूर्ति, उनमें भी वास्तविक प्रगति बहुत धीमी है। तिस पर, भारत में स्थानीय संस्थाओं की सरकार न तो स्थानीय है और न ही वह स्वशासन ढंग की है। यदि उन्हें कानून द्वारा स्वीकृति दे भी दी जाय, तो उनके पास अपने कार्यकलापों को विस्तृत करने के साधन नहीं हैं। उनके निजी साधन पर्याप्त नहीं हैं। उन्हें अधिकांश सीमा तक अनुदान (Grants-in-aid) ऋणों, आदि से राज्य-सरकारों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए स्थानीय संस्थाओं की स्वायत्तता (autonomy) डिप्टी कमिश्नर के निर्देशन और नियंत्रण में लोप हो जाती है।

स्थानीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच सम्बन्ध (Relation between Local & Central Governments)—स्थानीय संस्थाओं के अधिकार, कृत्य और विधान संविधि द्वारा निश्चित होते हैं। स्थानीय संस्थाओं की रचना करने वाले कानून द्वारा नियत सीमाओं के अन्तर्गत वह इस शर्त के साथ स्वतंत्र हैं कि निर्देशन, नियंत्रण और परामर्श जैसी शक्तियां विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार के अधिकार में रहेंगी। किंतु केन्द्रीय सरकार द्वारा यह नियंत्रण कहां तक उचित है? निःसंदेह, यह स्थानीय प्रशासन की सर्वाधिक विकट समस्याओं में से एक है। सर्वोपरि उन्नत जनतंत्री देशों में

भी ऐसी किसी समान विधि का अनुसरण नही किया जाता। फ्रास में स्थानीय सरकार अत्यधिक केन्द्रीभूत है और समुदाय से लेकर आतरिक मंत्रालय तक सारा प्रशासन एक श्रृंखला में बधा हुआ है। फ्रांस का यह केन्द्रीकरण और एकरूपता तथा इग्लैंड मे स्थानीय सरकार का विकेन्द्रित स्वरूप परस्पर तीव्र विरोध उपस्थित करते है। इंग्लैंड में जिस सिद्धान्त को स्वीकार और अनुपालित किया जाता है, वह यह है कि स्थानीय क्षेत्रको अपने मामलो का अपने निजी ढग और केन्द्रीय अधिकार-शक्ति के हस्तक्षेप के बिना निजी आवश्यकताओ के अनुसार निराकरण करने का मौलिक अधिकार है, बशर्तेकि जनता के हित मे देख-भाल की स्पष्ट माग न की गई हो। सयुक्त राष्ट्रो मे पूर्ण स्थानीय स्वायत्तता है। प्रत्येक उपनगर स्थानीय लोकतंत्र, एक जनतत्र के अन्तर्गत जनतत्र है। स्थानीय संस्थाओ के विषय मे 'राज्य' के उच्च अधिकारियो की अधिकार-शक्ति अल्पतम कर दी गई है। राज्य का सविधान स्थानीय अधिकारियो की शक्तियों पर अवरोध रूप मे कार्य करता है और यदि वह सविधान द्वारा प्रदत्त अपनी शक्तियो का उल्लघन करते हैं अथवा अपने अधिकार का दुरुपयोग करते है, तो न्यायालयो द्वारा न्याय विभाग की साधारण विधि कार्य-रूप मे लाई जा सकती है। भारत में प्रातीय विधान सभाओं द्वारा स्वीकृत हाल ही के पचायती विधेयकों, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के पचायती विधेयको ने स्थानीय सरकार के रूप मे आमूल परिवर्तन कर दिया है। किंतु म्युनिसीपैलेटियो तथा जिला बोर्डों की सरकार न तो स्थानीय है और न ही यह स्व-शासन है। राज्य-सरकार के प्रतिनिधि रूप में डिप्टी कमिश्नर या कमिश्नर के निर्देशन और नियत्रण के अधीन इन सस्थाओ की स्वायत्तता का लोप हो जाता है।

साधारणतया यह कहा जाता है कि स्वतत्र स्थानीय अंगो को वह मामले सौपे जाने चाहिएं, जिनमें हितो का स्थानीय पृथक्करण स्पष्टतया अकित हो, स्थानीय ज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो, एकरूपता की आवश्यकता कम-से-कम प्रकट होती हो, और निजी तथा सरकार विषयक सहयोग की अधिकतम सभावना प्रकट होती हो।[1] जहां संबधित हित राज्य के सभी भागों मे स्पष्टतया सामान्य हो अथवा जहा एकरूपता के लाभ अत्यधिक रूप मे हो, वहा प्रशासन पर राष्ट्रीय नियत्रण होना चाहिए, स्थानीय नही। किन्तु स्थानीय हितों का कठोरतापूर्वक पृथक्करण बहुत कम दशाओ मे पूर्ण होता है। स्थानीय और केन्द्रीय अंगों के सहयोग मे सजग समन्वय के कारण बहुधा उत्तम परिणाम होते ह। अनुभव से प्रकट हुआ है कि केन्द्रीय सरकार को स्थानीय सस्थाओ पर कुछ नियत्रण रखना ही चाहिए, क्योकि, सिजविक के कथनानुसार "केन्द्रीय सरकार के पास विस्तृत ज्ञान होता है क्योकि यह एक महत्तर साधारण ज्ञान, वृहत्तर अनुभव और उच्च-शिक्षित मानव-मस्तिष्क की उपज होता है।" स्थानीय कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वो का योग्यतापूर्वक पालन करने की दृष्टि से इस नियत्रण का प्रयोग होना चाहिए। अनुचित हस्तक्षेप और निर्देशन स्थानीय स्वतः-प्रेरणा और स्थानीय उत्तरदायित्व को नष्ट कर देंगे। अत्यधिक केन्द्रीय नियंत्रण स्थानीय नौकरियो मे पक्षपात को भी प्रोत्साहन देगा, और इस तरह, स्थानीय सरकार का मूल ही नष्ट हो जायगा। जहा कही भी दलीय लूटों का प्रवेश होता है, योग्यता का लोप हो जायगा और राष्ट्रीय प्रगति रुक जायगी।

1. Sidgwick, Elements of Politics, pp. 516-17

जहां हम स्थानीय संस्थाओं पर केन्द्रीय नियंत्रण की सक्रिय उपयोगिता की उपेक्षा नहीं करते, वहां इस पर वल दिया जा सकता है कि नियंत्रण की मात्रा स्थानीय संस्था की योग्यता के अनुपात में भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। यदि सभी स्थानीय संस्थाओं की योग्यता का समान स्तर है, तो देख-रेख और कृत्यों की आनुपातिकता सहज हो जाती है। किंतु ऐसा है नहीं। सर्वत्र केन्द्रीय सरकार को निरंतर इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि सव स्थानीय संस्थाएं समान रूप से योग्य नहीं हैं। यह स्थानीय संस्थाओं के स्थानीय क्षेत्र के आकार और साधनों में अंतरों के कारण अनिवार्यतः हो सकता है। अपेक्षाकृत छोटी म्युनिसीपैलेटियों से वड़ी संस्थाओं के समान सेवाएं प्रदान करने की आशा नहीं की जा सकती, भले ही उसके नागरिकों की जन-सेवा का आदर्श कितना ही उच्च हो। उन्हें केन्द्रीय सरकार की सहायता पर निर्भर रहना होता है, जिसके कारण उनके कार्य-कलापों पर अधिक कठोर नियंत्रण हो जाता है। इसके अतिरिक्त, इस पुरातन दृष्टिकोण का महत्व नहीं रहा कि स्थानीय कृत्यों का स्वतः प्रदेश से ही संबंध होता है। वर्तमान में, इस विचार से स्थानीय कृत्य कोई नहीं है। स्थानीय सड़कों, रोशनी, नाली-प्रवन्ध, सफाई आदि के कार्य करना तथा उनकी रक्षा करना, आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेपण के अधीन राष्ट्रीय महत्व के भी वन गए हैं। इन अवस्थाओं में केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों के वीच प्रभाव विषयक क्षेत्रों की सीमा-रेखा नहीं रह सकती। उन्हें सरकार-विषयक कार्य-कलाप के संपूर्ण क्षेत्र में कल्याणकारी राज्य की आवश्यकताओं के समान एवं अनुकूल होना ही चाहिए।

Suggested Readings

Gilchrist, R. N.—Principles of Political Science, Chap. XVII.
Jenks, E.—English Local Government.
Laski, H. J.—Grammar of Politics, pp. 410-429.
MacIver, R. M.—The Modern State, pp. 390-395.
Sidgwick, H.—Elements of Politics, Chap. XXV.

अध्याय : : २३

राज्य का अर्थ-प्रवन्ध

(The Finances of the State)

सरकार के यंत्र को समुचित ढग से चलाने के लिए भारी व्यय की आवश्यकता होती है। और इस व्यय को उस समुदाय से प्राप्त करना होगा, जो राज्य के अनेक कार्य-कलापों मे लाभ-प्राप्ति की आशा करता है। इस प्रकार जिस विषय के अधीन सरकार के द्रव्य-उत्पत्ति के भिन्न स्रोतों की खोज और विचार तथा सामान्य कल्याण के लिए उस के व्यय का अध्ययन किया जाता है, उसे सार्वजनिक अर्थ-प्रबध कहते हैं। बास्टेबल के अनुसार सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध "राज्य के सार्वजनिक अधिकारियों के व्यय और आय और उनके वैत्तिक (finances) प्रशासन और नियंत्रण के साथ पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में व्यवहार करता है।"

भूतकाल की अपेक्षा वर्तमान में सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। आधुनिक राज्य अब केवल पुलिस-राज्य ही नहीं रह गया, जिसे देश में शांति और व्यवस्था तथा विदेशी आक्रमण के विरुद्ध रक्षा के ही एकमात्र कृत्य सौंपे जायं। राज्य के क्षेत्र में इतनी भारी वृद्धि हो गई है कि जिससे सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक राजस्व में भी अनिवार्यतः उतना ही उत्कर्ष हो गया है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम अवस्था में, जन-संख्या की महान वृद्धि से राज्य के कृत्यों में स्वत: विस्तार हो गया है। दूसरे यह कि आधुनिक राज्य मूलतः ऐसी सेवाओं की रचना से संबंधित है, जो ऐसा वातावरण उत्पन्न करने में सहायक होती हैं, जिनसे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। इसे शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसे लाभकारी विभागों को चलाने के लिए भारी व्यय की आवश्यकता रहती है। तीसरे यह कि जैसे-जैसे समाज ने प्रगति की है और संपत्ति में वृद्धि हुई है, उसके साथ ही राज्य के साहसिक कार्यों में भी वृद्धि हुई है। राज्य न केवल उद्योगों का नियमन करता है, प्रत्युत अनेक आर्थिक कार्य-कलापों को वस्तुतः ग्रहण करता है, जैसे, सार्वजनिक उपयोगिता सेवाएं। इसमें भी अधिक राज्य को गरीब, रोगी, बेरोजगार और आर्थिक रूप से पिछड़े हुओं के लिए भी प्रवन्ध करना चाहिए। अंततः, आधुनिक राज्यों के व्यय में उस अत्यधिक वृद्धि का भी उल्लेख करना चाहिए, जिसका जाति की पर्याप्त प्रतिरक्षा और सुरक्षा के लिए प्रबन्ध किया जाता है। जिस आण्विक युग (Atomic age) में हम रहते हैं, उसमें प्रतिरक्षा और सुरक्षा के व्यय में जो वृद्धि हो गई है, वह हमारी कल्पना से परे की वस्तु है। वस्तु-स्थिति तो यह है कि युद्ध की तैयारियों के लिए सभी देशों में अंधाधुंध होड लगी हुई है। इस सब के कारण राज्य के कृत्य अनेक, जटिल और कठिन हो जाते हैं, और तदनुसार सार्वजनिक प्रशासन में सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध महत्वपूर्ण रूप धारण कर लेता है।

सार्वजनिक और निजी अर्थ-प्रबन्ध (Public & Private Finance)—

या अप्रत्यक्षतः राष्ट्र के प्राकृतिक या मानवी साधनों का विकास करता है अथवा उनको कम-से-कम खर्च करता है, उससे यह आशा की जा सकती है कि वह राष्ट्रीय संपत्ति में वृद्धि करने के द्वारा राष्ट्र की समृद्धि को बढ़ाएगा और अंततः आशा की जा सकती है कि उसने "अपना मूल्य चुका दिया है जिससे यह महत्वपूर्ण प्रमाण प्रदान हो सकेगा कि व्यय में वृद्धि के कारण जो लाभ हुआ, वह अपेक्षाकृत भारी करारोपण द्वारा हुई क्षति से कम नहीं है।"[1]

सार्वजनिक व्यय के उद्देश्यों का निम्न विश्लेषण है :

(१) सार्वजनिक व्यय का प्रथम उद्देश्य सेवाओं का प्रवन्ध है, जिनसे अवि-भाजित लाभ की प्राप्ति हो। इस सूची में यह सम्मिलित हैं: कानून और व्यवस्था को स्थिर रखना, प्रतिरक्षा, रोगों और महामारियों के विस्तार के विरुद्ध संरक्षण इत्यादि।

(२) सामूहिक लाभों या सेवाओं के प्रवन्ध, जिन्हें, यदि उचित भी समझा जाय तो, निजी साहसिक व्यवसाय ग्रहण नहीं कर सकता, जैसे, सड़कों का निर्माण तथा रक्षा करना।

(३) रोगी, अनाश्रितों तथा वेरोजगारों के लिए प्रवन्ध करना।

(४) उद्योग के क्षेत्र में ऐसे सब कृत्य, जिनका मुख्य उद्देश्य महान् योग्यता और उत्पत्ति की प्राप्ति करना है। उदाहरणार्थ, रेल, डाक और तार, हवाई यातायात, गैस और विजली की पूर्त्ति जैसी सार्वजनिक उपयोगिता सेवाएं।

(५) आय और सामाजिक स्तरों के क्षेत्र में कृत्य, जिनका मुख्य उद्देश्य नागरिकों के हितों की रक्षा करना है और आय के असमान वितरण के प्रभावों को कम करना है। इन कृत्यों में निम्न समाविष्ट हैं : मुद्राचलन का नियंत्रण और नियमन, विनिमय और साख, सामाजिक वीमा, कारखाना विपयक कानून-निर्माण, न्यूनतम राष्ट्रीय पगारें नियत करना, संरक्षणात्मक आयात-निर्यात कर, राशनिंग और मूल्य नियंत्रण के यंत्र का संचालन आदि।

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage)—यदि सार्वजनिक अर्थ-प्रवन्ध के साथ सार्वजनिक प्रशासन की वैज्ञानिक शाखा के रूप में व्यवहार करना हो, तो उसके मूल में सामान्य कल्याण का सिद्धान्त होना चाहिए। डाल्टन ने जिस सामान्य कल्याण के सिद्धान्त को अधिक-तम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) की संज्ञा दी है, उसका लक्ष्य राज्य के व्यय और राजस्व (Revenue) का न्याय्य नियमन के द्वारा समुदाय के लिए महान् सामाजिक कल्याण की प्राप्ति करना है। डाल्टन के कथना-नुसार समुदाय के कल्याण में वृद्धि के लिए दो मुख्य शर्तें हैं: (१) उत्पादन-शक्ति में उन्नति, (२) जो कुछ उत्पन्न किया जाय, उसके वितरण में उन्नति। इसलिए, सार्वजनिक करा-रोपण और सार्वजनिक व्यय का ऐसे ढंग से प्रवन्ध होना चाहिए कि देश की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो सके, जिससे "जनसंख्या के प्रति-व्यक्ति को थोड़े परिश्रम से अधिक उत्पाद प्राप्त हो जाय।" इसके लिए यह अनिवार्य है : (१) करारोपण की वेहतर विधि, (२) आय की असमानता में कमी, (३) सार्वजनिक व्यय का रूप और संघटन।

1. Robinson, M. E.—Public Finance, p. 7.

उत्पादन और वितरण से संबन्धित सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure in relation to Production & Distribution)—सार्वजनिक व्यय का रूप और सघटन अत्यधिक महत्व रखता है, क्योकि सार्वजनिक द्रव्य जिस ढग से खर्च किया जाता है, वह सपत्ति के उत्पादन और वितरण पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। नि.सदेह, देश की प्रतिरक्षा और कानून तथा व्यवस्था की रक्षा समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है किन्तु राज्य की रक्षा को जोखिम में डाले बिना इस व्यय को अल्पतम घटाना चाहिए और घटाना ही होगा। इस अनुत्पादक व्यय से बचा हुआ द्रव्य उत्पादक और लाभकारी विभागों की उन्नति और विकास के अर्थपूर्ण उपयोग में नियोजित किया जा सकता है। राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं, जैसे, शिक्षा और स्वास्थ्य मे जितना अधिक व्यय किया जायगा, उससे समग्र रूप मे जनता की मानसिक और भौतिक योग्यता में वृद्धि होती है और वह राष्ट्रीय सपत्ति के अधिक उत्पादन में अशदान करती है। राज्य को उद्योगों तथा उनमें नियोजित मजदूरों की समुचित प्रगति के विषय मे अनिवार्यतः चौकस रहना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि राज्य आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कार्य-कलापो के भिन्न क्षेत्रो में संगठन और गवेषणा के प्रबन्ध करे। इसी प्रकार राज्य के व्यय का उचित अनुपात सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं जैसी योजनाओ और उन उद्योगो की दिशा में बदलना चाहिए, जिनमे निजी साहसिक व्यवसाय आगे बढने का साहस नही कर सकता।

प्रस्तुत सक्षिप्त पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जायगा कि सु-नियमित सार्वजनिक व्यय राष्ट्रीय सपत्ति के उदय के लिए महान् अशदान करता है और अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति करता है। इसकी प्रवृत्ति धनी पर करारोपण से राष्ट्रीय सपत्ति के वितरण में असमानताओ को हटाने और समुदाय के गरीब वर्गों की उन्नति मे सहायक होने वाली वस्तुओं, सेवाओं और सुख-सुविधाओ के प्रबन्ध द्वारा लाभ पहुचाने की होती है। यदि राज्य करारोपण की प्रगतिशील नीति को अपनाता है और उच्च मृत्यु-कर लगाता है, और इस प्रकार प्राप्त किये द्रव्य के बडे भाग को गरीबों को रोजगार के बेहतर साधन, कार्य की बेहतर अवस्थाएं, राष्ट्रीय अल्पतम पगारें, बेहतर और साफ मकान, नि शुल्क और उच्च शिक्षा विषयक सुविधाएं, चिकित्सा सहायता के लिए नि शुल्क और उच्च ढग की विकसित सुविधाएं प्रदान करने मे व्यय करता है, तो वह भली भाति पोषित और अधिक सतुष्ट नागरिकों की उत्पत्ति करता है, जो किसी राष्ट्र की वास्तविक सपत्ति है। किंतु यह केवल तब सभव हो सकता है जब सार्वजनिक व्यय का निर्दिष्ट सिद्धान्त अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति हो। डाल्टन के कथनानुसार "आर्थिक कल्याण में वृद्धि के लिए दो मुख्य शर्तें है, प्रथम, उत्पादन शक्तियों मे सुधार, और दूसरी, जो उत्पन्न किया जाय, उसके वितरण में सुधार।"

सार्वजनिक राजस्व (Public Revenue)—आधुनिक राज्य के व्यय की निरतर वृद्धि को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त राजस्व का प्रबन्ध अनिवार्यत. भारी कठिनाई और जटिलता का प्रश्न है। सामान्य कालो मे प्रत्येक प्रगतिशील समुदाय अपनी वार्षिक आय मे से अपने वार्षिक व्यय को पूर्ण करने की चेष्टा करता है। राज्य अपने नागरिकों पर मुख्यतः करारोपण द्वारा अपनी आय

इसमें ऐसे छोटे-छोटे राजस्वों का भी समावेश हो सकता है, जिनके रूप करों के न हों, राज्य के राजस्वों के निम्न स्थायी स्रोत हैं :

१. स्थायी स्रोत—(१) राज्य-स्वामित्व के कारण निम्न से राजस्वों की प्राप्ति : (क) भूमि और भवन, (ख) उत्पादनशील व्यवसाय, जैसे, डाक सेवाओं, रेलों और अन्य सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं से आय।

(२) करारोपण की सब प्रकारों सहित लोगों की निजी आय से राजस्व।

२. अस्थायी राजस्व—ये मिश्रित स्रोत हैं, जिनका रूप कभी-कभी खास अवसरों पर और अस्थायी होता है; जैसे जुर्माना, दंड, उपहार, जब्तियां आदि।

करारोपण का स्वभाव (The Nature of Taxation)—व्यावहारिक रूप में समुदाय के सभी व्यक्तियों पर कर लगाए जाते हैं, जिससे राज्य द्वारा प्रदान की हुई सेवाओं का मूल्य प्राप्त किया जा सके। कर एक प्रकार का अनिवार्य अंशदान है, जो नागरिकों को सार्वजनिक अधिकारी द्वारा दी गई सेवाओं के लिए चुकाना आवश्यक होता है। सरकार के अन्य दातव्यों से सार रूप में कर की भिन्नता यह है कि कर-दाता और सार्वजनिक अधिकारी के बीच प्रत्यक्ष आदान-प्रदान का अभाव होता है। कर लगाते समय सरकार की इच्छा नहीं होती कि कर-दाता जितनी मात्रा में कर देता है, उसी के समान उसे सेवा प्रदान की जाय। दूसरे शब्दों में, आप इस आधार पर कर देने से इंकार नहीं कर सकते कि आप सेवा का उपयोग नहीं करते।

साधारणतया करारोपण के रूप के विषय में भिन्न समयों पर अनेक सिद्धान्त उपस्थित किये गए हैं।

(१) लाभ सिद्धान्त (Benefit Theory)—प्रारम्भिक सिद्धांतों में एक यह था कि राज्य के व्यय को पूर्ण करने के लिये प्रत्येक नागरिक जो अंशदान करता है, उसका अनुपात राज्य से प्राप्त सेवाओं के अनुसार होना चाहिए। तदनुसार, सरकार से प्राप्त लाभों के बदले में प्रत्येक व्यक्ति जो भुगतान करता था, उसे कर माना जाता था। इस प्रकार कर की उस अवस्था में प्रत्यक्ष आदान-प्रदान था।

लाभ सिद्धान्त को अन्यायपूर्ण और अव्यावहारिक समझा गया। यह सर्वथा धारणा-योग्य नहीं है कि समाज के दुर्बलतम सदस्यों को, जिनके विषय में कल्पना की जाय कि राज्य की सेवाओं से उन्हें अधिकतम लाभ हो, सर्वाधिक भारी अंशदान करने के लिए कहा जाय। किन्तु जैसा कि बास्टेबल का कथन है, "यदि सुरक्षा को कठोरतम व्यापारिक सिद्धान्तों के आधार पर एक साधारण जिन्स के समान बेचना हो, तो बड़े परिमाण में क्रय करने वाले को कुछ कमी भी करनी ही चाहिए।"[1]

(२) "वैत्तिक" सिद्धान्त (The "Financial" Theory)—इस सिद्धान्त के समर्थकों का समता के विचार से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका लक्ष्य केवल मात्र यह है कि यथासंभव सरलता और सस्तेपन से आवश्यक राजस्वों की प्राप्ति की जाय। इस प्रकार, अर्थ-प्रबन्ध का उद्देश्य न्यूनतम कष्ट से द्रव्य की अधिकतम राशि उत्पन्न करना है। तदनुसार, हर व्यक्ति को अपनी आय के अनुपात में देना चाहिए, निःसन्देह; गरीब की अपेक्षा धनी को अधिक देना होगा।

1. Op. cit., p. 299.

इसी से निकट-सम्बन्धित करारोपण का निराशील (Cynical) सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की चेष्टा आवश्यक राजस्व ऐसे ढंग से प्राप्त करने की है कि अल्पतम करारोपण का मुकाबिला और कम-से-कम विरोध हो। यह कहा जाता है कि कोई भी ऐसा कर अच्छा है, जिसमें आय की प्राप्ति बड़ी होती है और साथ ही तुलनात्मक दृष्टि से विरोध कम। करारोपण की यह नीति फ्रांसीसी मंत्री, कालबर्ट के रचित सूत्र के अनुसार है, "बत्तख के पंख यथासम्भव कम-से-कम चिल्लाहट के साथ नोचो।"

(३) समाज-राजनीतिक सिद्धान्त (The Socio-Political Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक या सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर को इस प्रकार का साधन माना जाता है जो आय की असमानताओं में कमी करे अथवा कतिपय उद्योगों को चालू करने वाला हो।

इस सिद्धान्त के समर्थक उच्च और अल्प आयों के बीच की खाई को कम करने के लिए राज्यकोषीय यंत्र का उपयोग करते हैं। अथवा आयात-निर्यात करों और ऐसे अन्य उपायों का नियोजन करेंगे, जो उत्पादन की वृद्धि के लिए साधन बनें।

(४) विलासिता सिद्धान्त (The Sumptuary Theory)—इस करारोपण का समर्थन विलासिता या नशीली वस्तुओं के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के करारोपण का उद्देश्य नैतिक है।

निष्कर्ष—करारोपण की ऐसी विधि बनाना असम्भव है, जो करारोपण के रूप विषयक भिन्न दृष्टिकोणों की तुष्टि कर सके। न ही करारोपण की ऐसी एक विधि की रचना करना संभव है, जो कर-दाता और राज्य कोषागार दोनों के दृष्टि-बिंदुओं से संतोषप्रद हो। सभी आधुनिक राज्य करारोपण की मिश्रित प्रणाली को ग्रहण करते हैं, जिसमें संपत्ति, आय और उपयोग पर लगे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर सम्मिलित हैं। अर्थात् संपूर्ण विधि, यथासंभव, पूर्वतः कथित करारोपण की भिन्न रीतियों के अनुरूप है। यह सत्य है कि आधुनिक सरकारों का अत्यधिक व्यय इस बात की आवश्यकता उत्पन्न कर देता है कि सरकार के दृष्टिकोण से करारोपण की प्रणाली उत्पादनशील होनी चाहिए। किंतु समता के सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती, कोई भी कर ऐसे ढंग से नहीं बनना चाहिए, जो करदाता की उत्पादन क्षमता को विपरीत दिशा में प्रभावित करे। न ही वह गरीब के लिए अधिक भारी होना चाहिए और धनी के लिए अधिक हल्का। वह देने की क्षमता के सिद्धान्त के अनुरूप होना चाहिए, जिसका स्वभाविक अर्थ यह है कि अधिक आय वाले लोगों को अधिक कर देने के लिए कहा जाय। जहां तक न्याय प्राप्त कर सकने का संबंध है, वह भिन्न वर्गों के बीच अनिवार्य है और जो करारोपण समता के सामान्य सिद्धान्त के अनुरूप है, उसका समर्थन करना ही होगा चाहे उसमें अधिकतम आर्थिक लाभ की प्राप्ति न भी हो सके।" तिस पर भी, करारोपण की ऐसी विधि बनाना असंभव है, जो "आधुनिक समाज में विद्यमान भिन्न वातावरणों की बहुलता में वर्गों और व्यक्तियों को संतुष्ट करे।" सदैव कुछ ऐसे भी उदाहरण होते हैं, जिनमें अवस्थाएं करारोपण के भार को अन्य वातावरणों की अपेक्षा अधिक भारी बना देती हैं। जो भी हो, प्रत्येक व्यक्तिगत अवस्था की पूर्ति करने की बजाय कतिपय साधारण सिद्धान्तों को ग्रहण करना ही बुद्धिमत्ता एवं अधिक संतोष-प्रद होगा। ऐसा करने से असुविधा

भी कम होगी और बाधाएं भी कम। "उत्तम कर-प्रणालियां किसी एक सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं; वह साधारणतया कई प्रणालियों में समझौता हैं, और वह दीर्घकाल के अनुभव और संबंधित समुदाय की विशेष आवश्यकताओं पर गम्भीर विचार के फल-रूप बनाई गई हैं।"

करारोपण के सिद्धान्त (Canons of Taxation)—एडम स्मिथ[1] द्वारा रचित करारोपण के सिद्धान्त का उल्लेख किये बिना करारोपण के सिद्धान्तों का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। यद्यपि उनके काल की अपेक्षा करारोपण का सिद्धान्त और व्यवहार पर्याप्त रूप में विस्तृत हो गया है, तथापि उनकी समस्याएं अब भी आधार रूप में सत्य और वह सुदृढ़ सार्वजनिक अर्थ-प्रबंध की प्रारम्भ-बिन्दु (starting point) बनी हुई हैं:

(१) "प्रत्येक राज्य की प्रजा को यथासंभव अपनी-अपनी क्षमता के अनुपात में, सरकार के सहयोग की दिशा में अंशदान करना चाहिए; अर्थात् वह अनुपात उस आय का होना चाहिए, जिसे वह राज्य की रक्षा के अन्तर्गत यथाक्रम प्राप्त करती हैं......। इस सूत्र के आचरण और उपेक्षा में करारोपण की समानता या असमानता का समावेश है।"

यहां समानता का संबंध त्याग की समानता से है, और अदा की हुई राशि की समानता से नहीं। धनी और गरीब दोनों जो अदा कर सकते हैं, उन्हें करना चाहिए और न्याय तथा समानता की मांग है कि कोई भी अदा करने की योग्यता से अधिक अदा न करें।

(२) "प्रत्येक व्यक्ति को जिस कर का अनिवार्यतः भुगतान करना हो, वह निश्चित होना चाहिए, और स्वेच्छा पर निर्भर नहीं। भुगतान का समय, भुगतान का रूप, भुगतान का परिमाण, ये सब बातें अंशदाता तथा अन्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्पष्ट होनी चाहिए।"

कोई भी कर स्वेच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिए। हर किसी को पहले से ही ज्ञान होना चाहिए कि उसे क्या देना है, कब देना है और कहां देना है। जब उसे इन सब का ज्ञान होगा, तो करदाता बिना किसी असुविधा के अपने व्यय का समन्वय कर सकता है। सरकार भी, यथासंभव, अपनी प्राप्ति के विषय में निश्चित हो सकती है।

(३) "प्रत्येक कर ऐसे समय और ढंग से लगाना चाहिए कि अंशदाता के लिए उसे देना यथासंभव सुविधाजनक हो।"

कोई कर उस समय एकत्र करना चाहिए जब कर-दाता के पास देने के साधन हों। यदि सार्वजनिक अधिकारी कर-दाता से उस समय भुगतान करने की मांग करते हैं, जब उसके लिए भुगतान करना सुविधाजनक न हो, तो वह बहुत बोझल बन जाता है और इस बात की भी संभावना है कि उसका भुगतान ही न हो सके। सुविधाजनक कर उत्पादन-शीलता और अच्छी सरकार के आधारों पर और साथ ही कर-दाता के दृष्टिकोण से न्याय्य होता है, विशेष रूप से तब, जबकि वह समुदाय के गरीब वर्ग से संबंधित होता है।

---
1. Wealth of Nation, Book V., Chap. II, vol. II.

अदा करने की जितनी अधिक सुविधा होगी उतना ही संग्रह तथा भुगतान से संबंधित समय एवं साधनों का कम विनाश होगा।

(४) "प्रत्येक कर को ऐसे लगाना चाहिए कि राज्य के सार्वजनिक कोष में जितना आता हो, उसके अतिरिक्त यथासंभव कम ही लोगों की जेब से यथासंभव लिया जाय और कम ही बाहर रखा जाय।"

करों का संग्रह करने के आवश्यक साधन सरल और बचतपूर्ण होने चाहिएं, जिनसे संग्रह करने की लागत और व्यक्ति तथा समुदाय की हानि कुल आमदनी के अनुपात में छोटी होनी चाहिए। इसलिए, यह आवश्यक है कि योग्य वित्त-मंत्री को सदा यह देखते रहना चाहिए कि संग्रह करने की लागत प्राप्तियों के प्रधान भाग को खा न जाय। इसी प्रकार करारोपण की सुदृढ़ प्रणाली को ऐसे सब करों की उपेक्षा करनी चाहिए, जो बचत को निरुत्साहित करें और पूंजी की वृद्धि में बाधक हों।

करारोपण की अच्छी प्रणाली के लिए निम्न कुछेक और सिद्धान्त हैं, जिन्हें एडम स्मिथ के उक्त सिद्धान्तों के साथ मिलाया जा सकता है:

(५) सरकार के दृष्टिकोण से कर राजस्व का उत्पादक होना चाहिए। किंतु कोई भी ऐसा कर नहीं लगाना चाहिए, जिसकी प्रवृत्ति समुदाय के आर्थिक साधनों को कम करने की हो। कोई कर बड़े भारी राजस्व के लिए एकाएक उत्पादक हो सकता है, किन्तु किन्हीं दशाओं में अन्ततः उसके कारण राष्ट्रीय आय में कमी भी हो सकती है।

(६) अनेक अल्प उत्पादनशील करों की बजाय कुछ उत्पादनशील कर लगाने बेहतर हैं, विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई छोटी-छोटी रकमों की बहुत बड़ी संख्या की बजाय कुछेक ठोस रकमों के करों का संग्रह करना सदैव सस्ता रहता है।

(७) जिस प्रकार संपत्ति और जनसंख्या की आप से आप उन्नति होती है, इसी तरह कर का भी स्वतः उत्कर्ष होना चाहिए।

(८) कर लोचदार होना चाहिए और वह प्रत्युत्तरदायी भी होना चाहिए। करारोपण प्रणाली में कुछ ऐसे कर होने चाहिएं, जिनकी दर और प्राप्ति में वृद्धि होने की गुंजाइश हो, जिससे प्रशासन या संग्रह के व्यय में वृद्धि किये बिना संकट-काल का सामना किया जा सके।

(९) करारोपण प्रणाली यथासम्भव सरल और समझ में आने वाली होनी चाहिए। यदि उसे समझना जटिल एवं कठिन होगा, तो उससे सरकार और कर-दाता के बीच संदेह एवं संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। सरल और सुबोध करारोपण प्रणाली विश्वास उत्पन्न करती है, सरकार की आवश्यकताओं का बेहतर स्वागत होता है, और उसके साथ ही नागरिक में राजनीतिक चेतना आती है।

तृतीय खण्ड

राज्य के कार्य

अध्याय : : २४

राजनीतिक नियंत्रण की सीमाएं

(The Limits of Political Control)

राज्य का समाज से सम्बन्ध (The State in relation to Society)—हम पूर्व अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं कि "राजनीतिक तत्वों को सामाजिक तत्वों के साथ मिला देना सबसे बड़ी भ्रान्ति है और यह समाज या राज्य दोनों को समझने में पूर्णतया वाधक है।"[1] किन्तु यूनानियों की दृष्टि में राज्य और समाज के बीच कोई भेद नहीं था और उनके लिए राज्य ही सर्वस्व था। राज्य का सदस्य होने के सिवा नागरिक कुछ नहीं था। उसका पूर्ण अस्तित्व राज्य पर निर्भर और अपेक्षित था। इसलिए राज्य के पुरातन विचार में मनुष्य का संपूर्ण जीवन समाविष्ट था और सच्चा राज्य एक नेक जीवन में साझीदार था। प्लेटो का साम्यवाद इस धारणा पर आधारित था कि राज्य का सर्वोच्च अस्तित्व है, जिसके लिए व्यक्ति को जो कुछ भी उसके पास हो, त्याग करना चाहिए, यहां तक कि अपनी जान और घर भी। अरिस्टोटल के मत में राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठ था और "उसका अच्छे जीवन के लिए निरंतर अस्तित्व रहता है।" इस प्रकार प्राचीन यूनानियों ने राज्य की मूर्त रूप में प्रतिष्ठा कर दी थी और स्वतः उसी को लक्ष्य मानते थे।

किन्तु हम समाज के साथ राज्य की समानता नहीं करते। राज्य भी अन्य अनेक संघों के समान है जो किसी समाज को बनाते हैं। यद्यपि राज्य का "अस्तित्व समाज के अन्तर्गत है, किन्तु यह समाज का रूप भी नहीं है।" जब राज्य समाज के समान नहीं है, तिस पर भी, यह सामाजिक व्यवस्था के आकार को प्रदान करता है। समाज को राज्य स्थिरता प्रदान करता है और राज्य सामाजिक संगठन का उच्चतम रूप है। वह लोगों को परस्पर संबद्ध रखता है और उनके सामाजिक नातों को जोड़ता है। समाज में रहने वाले लोगों के लिए परस्पर स्वतः सहयोग की आवश्यकता होती है। यह स्वतः सहयोग केवल राज्य द्वारा ही संभव बनाया जाता है। बारकर के कथनानुसार राज्य "समन्वय करने का महान स्रोत है;" जितना अधिक समन्वय करना होता है, उतनी अधिक राज्य की आवश्यकता होती है।[2] इस दृष्टि से हम राज्य और समाज को अलग नहीं कर सकते। किन्तु राज्य समाज का प्रतिनिधि है। समाज का प्रतिनिधि होने के नाते राज्य के भी कतिपय अधिकार हैं। किन्तु अन्य सब अधिकारों के समान राज्य के अधिकार कृत्यों के सापेक्ष हैं। फलतः जिस प्रकार समाज की सब व्यवस्थाओं पर यह शर्त है "इस सीमा तक और इससे आगे नहीं," इसी तरह राज्य भी उपर्युक्त अंकुश से मुक्त नहीं।

तदनुसार, राज्य मानव-कार्यकलाप के संपूर्ण क्षेत्र को समाविष्ट नहीं करता। राज्य सामाजिक व्यवस्था का आदर्श उपस्थित कर सकता है, किन्तु इससे राज्य और समाज में

1. MacIver, p. 5.
2. Political Thought in England, op. citd., p. 119.

समानता नहीं हो जाती। राज्य को समुचित ढंग से समझने के लिए दोनों के भेद को जान लेना वस्तुतः आधारमूलक है। राज्य की इच्छा पर सरकार की इच्छा है। निःसंदेह, जनता की प्रभुता एक मान्य तथ्य है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में वह इससे अधिक कुछ नहीं कर सकती कि वह अस्पष्ट ढंग से ऐसा सामान्य निर्देशन करे कि जिसमें वह घटनाओं की गति को देखना चाहती है। राज्य की क्रिया का प्रभावपूर्ण स्रोत मनुष्यों की वह अल्पसंख्या है, जिसमें सरकार का संगठन होता है और जिनके निर्णय समुदाय के लिए वैध रूप में बंधन है। यदि राज्य को समाज के समान माना जाय, तो सभी सामाजिक कार्यकलाप अंततः सरकार की दया पर आश्रित हो जायेंगे। राज्य की अखंडता और समृद्धि के नाम पर, सरकार कुछ भी निश्चित कर सकती है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में उसका हस्तक्षेप व्यापक हो जाता है। अधिकारों की रचना के लिए समाज के प्रतिनिधि रूप में कार्य करने की बजाय राज्य अधिकारों की रचना भी आरंभ कर सकता है जैसे यह उपहारों का शाही निर्माता हो। यह व्यक्तिगत अधिकारों की बलि करने के तुल्य हो जाता है।

राज्य के उद्देश्य
(The Purposes of the State)

शक्ति रूप में राज्य बनाम सेवा रूप में राज्य (The State as power versus the State as service)—लास्की के कथनानुसार सरकार "ट्रस्टी है और शासक है और समाज की आवश्यकताओं पर ध्यान रखना और उन्हें क्रियात्मक संविधियों की शर्तों का रूप देना उसका कृत्य है। राज्य का उद्देश्य उनमें अपने मूर्त्तरूप को देखना है।" राज्य का उद्देश्य, और तदनुसार सरकार का व्यक्तिगत कल्याण की वृद्धि और समाज के सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति करना है। इसलिए राज्य स्वतः लक्ष्य होने की बजाय लक्ष्य का साधन है। क्योंकि यह लक्ष्य का साधन है, इसलिए इसे कतिपय कृत्यों को पालन करना पड़ता है। इन कृत्यों का पर्याप्त रूप में पालन करने के लिए राज्य को कतिपय शक्तियों की आवश्यकता होती है और वह उन्हें प्राप्त करता है। किन्तु राज्य की शक्तियां अधिकार-शक्ति में अपरिमेय नहीं होतीं। यह केवल साधन है और हम लक्ष्यों से संबंध किये बिना साधन का विचार नहीं कर सकते। राज्य का लक्ष्य मनुष्य की प्रसन्नता और आध्यात्मिक उन्नति है और उसका अस्तित्व मनुष्यों को इस योग्य बनाना है कि वह अपनी अधिकतम उन्नति कर सकें। वह आदेश जारी करता है "जिनकी पृष्ठभूमि में उन भावनाओं की अभिव्यक्ति को दृढ़तापूर्वक संभव बनाना होता है, जिनके द्वारा सामान्य जीवन की अभिवृद्धि होती है।"[1] फलस्वरूप राज्य शर्तों के बिना शक्ति हस्तगत नहीं करता।

अनेक ऐसे विचारक हैं, जो राज्य को शक्ति का साधन कहते हैं। वह शक्ति के प्रयोग को राज्य की "विशेषता पूर्ण अभिव्यक्ति" का रूप देते हैं, और "उनका अनुमान है कि राज्य की सफलताएं प्रभुत्व द्वारा विजित की जाती हैं और दमन को वह सामाजिक व्यवस्था की मुख्य शर्त मानते हैं।"[2] किन्तु राज्य का यह उच्चतम रूप नैतिक दृष्टि से गलत और राज-

1. Laski, Grammar of Politics, p. 28.
2. MacIver, op. cit., p. 426.

नीतिक दृष्टि से भयंकर है। निःसंदेह दमनकारी शक्ति राज्य की कसौटी है, किन्तु यह राज्य का सार नहीं है। वह केवल मूर्ख और बेवकूफ होते हैं, जो बल-प्रयोग द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहते हैं। बल-प्रयोग कुछ भी संगठित रहने नहीं देता और जब इससे राज्य का आधार बनाया जाता है, तो यह मनुष्यों के व्यक्तित्व को कुचल देता है और सामाजिक व्यवस्था को नष्ट कर देता है। इसलिए, बल-प्रयोग को सामान्य इच्छा का सहायक बनाना चाहिए अन्यथा यह न केवल "भौतिक वस्तुओं का ही, प्रत्युत सांस्कृतिक लाभों, सत्य की भावना, मानसिक कार्य और विचारों की उर्वरता का भी नाश कर देगा।"[1] क्या ये अवस्थाएं मनुष्य में स्वतः प्रेरणा या भावना विस्तार रहने देती हैं?

जब हम बल-प्रयोग को सामान्य इच्छा का सहायक बनाते हैं, तो हम, वस्तुतः राज्य की उच्चता को कम करते हैं। राज्य केवल शक्ति-प्रणाली ही नहीं। यह मनुष्य का सहयोग है, जिसका उद्देश्य सामान्य जीवन को समृद्धिपूर्ण करना है। इसका नैतिक रूप अन्य किसी संघ से भिन्न नहीं है, और यह हम से वफादारी की वैसी ही मांग करता है, "जैसे एक मनुष्य अपने मित्रों से कड़ी शर्त के साथ वफादारी चाहता है।"[2] जिस प्रकार हम किसी मित्र को उसके कार्यों से परखते हैं, इसी भांति राज्य को भी परखते हैं। इसलिए, राज्य पर "नैतिक परीक्षण की शर्त लागू होती है।"[3] उसे अपने नागरिकों को वह अवस्थाएं प्रदान करनी चाहिएं, जो सामान्य हित और सामान्य कल्याण में योग दें। यदि उनकी रक्षा और उनके कल्याण की वृद्धि के लिए राज्य को बल-प्रयोग करना पड़ता है, तो बल-प्रयोग का "शासन के लिए उसके मूल्य की बजाय समाज के लिए उसके मूल्य का परीक्षण करना होगा।"[4] हम राज्य को उसके स्वरूप से नहीं आंकते प्रत्युत जो वह करता है, उससे आंकते हैं। समाज के प्रतिनिधि के रूप में इसका उद्देश्य सेवा है और यदि वह आदेश करता है, तो इसीलिए कि वह सेवा प्रदान करता है।

राज्य के कृत्य
(The Functions of the State)

राज्य को जो काम नहीं करने चाहियें (Things which the State should not do)—राज्य अपना उद्देश्य कैसे पूर्ण कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर राज्य के कृत्यों के स्वरूप से संबंधित है। किन्तु सभी राज्य समान कृत्यों का पालन नहीं करते। प्रत्येक राज्य के कृत्य उसकी जनता के सामाजिक और आर्थिक विकास की मात्रा के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। तब तो उनमें परिवर्तन होना चाहिए और नयी आवश्यकताओं के अनुसार समन्वय होना चाहिए। आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक जीवन की जटिलता और नये महत्वों ने, जिन पर जनतंत्र बल देता है, राज्य के कृत्यों के विषय में नवीन धारणाओं की रचना कर दी है। समग्र रूप में, आधुनिक राज्य व्यक्तिवादी की अपेक्षा समूहवादी अधिक है। प्रत्येक सरकार इस सिद्धांत पर कार्य करती है "कि जहां सरकार पूर्वतः सरकारी कार्यवाही के प्रभाव को जान लेती है, और सरकार के हस्तक्षेप न करने

1. Ibid., p. 223.
2. Grammar of Politics, p. 37.
3. Ibid., p. 28.
4. MacIver, op. citd., p. 149.

की अवस्था के प्रभाव को भी जान लेती हैं, वहां हस्तक्षेप न्यायसंगत होता है।"[1] किन्तु सरकार के हस्तक्षेप की प्रत्येक क्रिया का अर्थ नागरिकों की स्वतन्त्रता को सीमित करना है। इन अवस्थाओं में सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने कार्यकलापों के क्षेत्र को सामाजिक तथा व्यक्तिगत हितों के सजग संतुलन द्वारा विस्तृत करे। यह समन्वय कैसे किया जाय, यह आज की सर्वाधिक कठिन प्रत्युत आधारमूलक समस्या है। तिस पर भी, एक बात तो स्पष्ट ही है। हम मानव जीवन के सब कार्यकलापों को राज्य की अकेली संस्था में केंद्रीभूत नहीं कर सकते। कुछेक कार्यों को "वह कर सकता है, किन्तु बुरे और भद्दे ढंग से —हम कुल्हाड़ी से पेंसिल नहीं बनाते। अन्य कुछ कार्यों को वह बिलकुल नहीं कर सकता और जब उसे उन पर लगाया जाता है, तो वह सामान को नष्ट कर देता है।"[2]

राज्य के अत्यावश्यक कार्य ये हैं: व्यवस्था करना, और व्यक्तित्व का आदर करना, और इनमें उसके निश्चयात्मक और नकारात्मक कृत्यों का समावेश हो जाता है। नकारात्मक कृत्यों पर पहले विचार करते हैं, 'चाहे कोई भी मत क्यों न हो, इसकी चिंता किये बिना', राज्य मत का नियंत्रण नहीं करना चाहेगा बशर्ते कि उसमें कानून भंग करने या उसकी अधिकार शक्ति की अवज्ञा करने की कोई उत्तेजना न हो। कानूनों को भंग करने या अधिकार-शक्ति की अवज्ञा के लिए उत्तेजना पैदा करना मत की अभिव्यक्ति नहीं है, क्योंकि "कानून-भंग की प्रेरणा करना आधारमूलक-व्यवस्था पर आघात करना है। तिस पर व्यवस्था की स्थापना करना राज्य का प्रथम कार्य है, और उसी की रक्षा के लिए उसे दमन की अधिकार शक्ति से संपन्न किया गया है।"[3] एक नागरिक यह सोच सकता है कि वर्तमान कानून बुरा है अथवा सरकार का कोई कार्य विशेष स्वच्छंदतापूर्ण है अथवा संविधान पथ-भ्रष्ट और दोषयुक्त है, किन्तु उसका कानून-विरुद्ध कार्यकलापों को ग्रहण करना न्याय-सिद्ध नहीं है। कोई भी यह मानते हुए कि कानूनों का पालन करना उसका कर्त्तव्य है, दिल खोल कर, राज्य के कानूनों की आलोचना कर सकता है। इसी प्रकार, राज्य लिखित रूप में मत अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण अवसर प्रदान कर सकता है, बशर्ते कि वह लिखित मत अश्लील, निंदात्मक या अपमानजनक नहीं है।

तिस पर राज्य को जनता की स्थापित रीतियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। रीतियां समाज में स्वतः प्रवर्तित रूप में उत्पन्न होती हैं। वह जान-बूझ कर, विशेषतः राज्य की इच्छा से कभी उत्पन्न नहीं की जाती। राज्य की न तो रीतियाँ बनाने की शक्ति है और न ही उन्हें नष्ट करने की।" जब रीतियों पर प्रहार होता है, तो वह प्रत्युत्तर में कानून पर प्रहार करती है, वह दमन करने वाले किसी कानून विशेष पर ही प्रहार नहीं करती, प्रत्युत, अधिक महत्वपूर्ण कानून-आचरण की भावना पर, जो सामान्य इच्छा की एकता है, प्रहार करती है।"[4] राज्य का इससे भी कम नियंत्रण फैशन पर होता है, जो रीति का एक साधारण और परिवर्तनशील रूप है। एक राजा किसी फैशन की स्वतः अनुकरण करने की घोषणा द्वारा स्थापना कर सकता है, किन्तु वह उसे निर्धारित नहीं कर सकता।" लोग पेरिस या लंडन या न्यूयार्क में किसी अपरिचित सामाजिक समूह द्वारा किसी फैशन की

1. Gilchrist, op. citd., pp. 447-48.
2. MacIver, op. citd., p. 149.
3. Ibid., 151
4. Ibid., p. 161.

वीमा, विनिमय अधिपत्र, संविदा अनुवंध, साझेदारी, दिवालियापन, आदि ।

२. अनिवार्य कृत्य (Essential Functions)—द्वितीयतः, वह कार्य-कलाप, जो अपने स्वरूप के कारण राज्य के एकाधिकार में हैं, और जो किसी निश्चित आर्थिक जीवन के लिए अनिवार्य हैं:— मुद्राचलन का प्रवंध, डाक विषयक सेवाएं, आदि ।

३. वैकल्पिक कृत्य (Optional Functions)— तृतीयतः वह कार्यकलाप, जो युक्तियों और अवस्थाओं की भिन्नता के अनुसार या तो राज्य द्वारा किये जाते हैं अथवा निजी साहसिक व्यवसाय के लिए छोड़ दिये जाते हैं। इनका वहुत विस्तृत क्षेत्र है। "राज्य व्यापार की स्वतन्त्र कार्यवाही में वाधा उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार हस्त-क्षेप कर सकता है : कीमतों का नियमन करने से, रार्शनिग करने से, अथवा संघों और प्रन्यासों पर रोक लगाने से; वह उत्पादन के कतिपय रूपों को प्रोत्साहन प्रदान करने और व्यापार को भिन्न दिशाओं में संचालित करने के द्वारा हस्तक्षेप कर सकता है; वह कतिपय कार्य-कलापों को निजी लोगों से हटाकर उन्हें स्वतः भी चला सकता है।"[1] यह हस्तक्षेप या तो स्वतः राज्य का कार्य हो सकता है, अथवा राज्य नियंत्रण के किसी उपाय के अधीन म्युनिसिपैलेटियों जैसी अन्य संस्थाओं द्वारा किया जा सकता है।

राज्य का कार्यभार केवल आर्थिक साधनों के अधिरक्षण और विकास तक ही सीमित नहीं। इसमें मानव क्षमताओं का अधिरक्षण और विकास भी सम्मिलित है। इन कृत्यों में शिक्षा सर्वोच्च है। इन्हीं दो महत्वपूर्ण कारणों से शिक्षा राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत रहनी चाहिए। प्रथमतः, लोकप्रिय शिक्षा, राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता की उन अवस्थाओं के अधिरक्षण के लिए आवश्यक है, जो स्वतन्त्र व्यक्तिगत विकास के लिए अनिवार्य हैं। शिक्षा नागरिक को न केवल नागरिकता की सफलताओं से संपन्न करती है, प्रत्युत उसे पर्याप्त अवसरों को हस्तगत करने के साधन भी प्रदान करती है। द्वितीयतः, सरकार के अतिरिक्त अन्य कोई संस्था नहीं है, जो व्यापक रूप के दायित्वों को ग्रहण कर सके और लोकप्रिय शिक्षा प्राप्त कर सके। राज्य को जो कुछ शिक्षा के लिए करना चाहिए, उन्हीं कारणों से, वही कुछ उसे सांस्कृतिक जीवन की सामान्य उन्नति के लिए करना चाहिए।

निस्संदेह राज्य का क्षेत्र विशाल है, किन्तु वह सर्वशक्तिमान नहीं। जव वह अपनी सीमाओं को लांघता है, तो वह गड़वड़ पैदा कर देता है। यदि राज्य उन वातों के लिए यत्नशील होता है, जो वैध रूप में उसके क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं होतीं, तो उसे निश्चित रूप से उन वातों में असफल होना पड़ता है, जो समुचित रूप से उसके अधिकार के अन्तर्गत होती हैं। राज्य ने भूतकाल में जव भी कभी सर्वशक्तिमत्ता को धारण किया है, उसकी असफलताओं की कथा हमारे सामने है। यदि वह वर्तमान में भी ऐसी चेष्टा करता है, जो चेष्टा उसे नहीं करनी चाहिए, तो वही पुनः भी घट सकता है, क्योंकि वस्तुतः सर्वशक्तिमत्ता का आशय है अयोग्यता। "ज्यों-ज्यों राज्य के कार्यकलापों का दृष्टिपथ स्पष्ट होता जाता है, ज्यों-ज्यों यह अपने अधिकार क्षेत्र से वाहर के कृत्यों का संपादन करने

1. Soltau, Roger H., Economic Functions of the State, p. 59.

के लिए निरर्थक चेष्टाओं से निवृत्त होता जाता है वह अपने अनुरूप कार्यों की महत्ता को समझने लगता है और उनका पालन करने के लिए दृढ़निश्चय और निश्चयता के साथ जुट जाता है।"[1]

Suggested Readings

Gettell, R.G.—Political Science, Chap. XXI, The World Press (1950).
Joad, C.E.M.—Introduction to Modern Political Theory, pp. 24-32, (1924).
Laski, H. J.—Grammar of Politics, pp. 25-43.
Leacock, S.—Elements of Political Science, Part III, Chap. I.
MacIver, R. M.—The Modern State, Chaps. V, IX, XV-XVI.
Sidgwick, H.—The Elements of Politics, Chaps. III-IV.
Soltau, R. H.—The Economic Functions of the State.

1. MacIver, op. cit., p. 192.

अध्याय : : २५

राज्य-कार्य-क्षेत्र के सिद्धांत (१)

(Theories of the Sphere of the State Activity)

सिद्धांत पुराने और नये (Theories : Old and New)—गत अध्याय में हमने राजनीतिक नियंत्रण की सीमाओं पर विचार किया है और राज्य को जो कृत्य करने चाहिएं और जो नहीं करने चाहिएं, उन्हें अलग-अलग कर दिया है। सभी युगों में राज्य का कार्यक्षेत्र अनेक अंशों द्वारा प्रभावित हुआ है, जिनमें ये भी हैं:—वातावरण संबंधी दशाएं और परिस्थितियां, लोगों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताएं और राज्य के प्रति उनका दृष्टिकोण। प्रस्तुत अध्याय में हम पुरातन और नवीन कुछ सिद्धांतों पर विचार करेंगे, जिनका संबंध राज्य के कार्य क्षेत्र से है। ये सब सिद्धांत हमें राज्य के साथ व्यक्तियों के संबंध और उस सीमा का ज्ञान प्रदान करते हैं जहां तक उसे सामान्य कल्याण की उन्नति के लिए व्यक्तिगत कार्य की स्वतन्त्रता पर बंधन लगाना चाहिए। इसके एक छोर पर राज्य का आदर्शवादी या स्वेच्छाचारी (Idealist or Absolutist) सिद्धांत है। मानवी कार्यकलाप का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जिसमें, इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार, राज्य हस्तक्षेप नहीं करता, यहां तक कि मनुष्य के विचारों और चेतना को भी वह अछूता नहीं रहने देता। दूसरे अन्तिम छोर पर अराजकतावाद (Anarchism) का सिद्धांत है, जो राज्यहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। कुछ अन्य विभिन्न सिद्धांत हैं, जिनका उद्देश्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का पुनः निर्माण करना है, किन्तु वह सब समाजवादी विचारों की उत्पत्ति हैं, और इसलिए, राज्य में आर्थिक हितों के महत्व पर बल देते हैं। इन सिद्धांतों में कुछ ऐसे हैं, जो राज्य के रूप को कम करते हैं और विकेंद्रीकरण का समर्थन करते हैं, दूसरी ओर कुछ अन्य हैं, जो राज्य को उच्चता का रूप प्रदान करते हैं और उसे नियंत्रण की अत्यधिक केंद्रीभूत इकाई बना देते हैं।

आदर्शवाद (Idealism) राज्य का आदर्शवादी या स्वेच्छाचारी सिद्धांत परम्परागत दार्शनिक आदर्शवाद का अन्तरंग भाग है और अभी हाल ही तक अंग्रेज राजनीतिक विचारधारा पर इसका बड़ा प्रभाव था। मूलतः, यह सिद्धांत प्लेटो और अरिस्टोटल के प्रवचनों की उत्पत्ति है, किन्तु आधुनिक रूप में जर्मन दार्शनिक हीगल ने इसका समर्थन किया था। इंग्लैंड में, आदर्शवादी सिद्धांत को टी. एच. ग्रीन ने लोकप्रिय किया, जिसने कांट और हीगल के साथ-साथ प्लेटो और अरिस्टोटल से प्रेरणा प्राप्त की थी। तिस पर भी, इसका पूर्ण विवरण डा. बोसनकैट के "फिलासोफिकल थ्यूरी आफ दि स्टेट" नामक ग्रंथ में मिलता है।

स्वेच्छाचारी सिद्धान्त का स्रोत (Origin of the Absolutist Theory)—राज्य का स्वेच्छाचारी सिद्धांत दो भिन्न स्रोतों से उत्पन्न हुआ है जिनका ग्रीक मत प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम अवस्था में, प्लेटो और आरिस्टोटल ने राज्य और समाज के

बीच कभी भेद नहीं किया था। उनकी मान्यता थी कि राज्य का स्व-निर्भर अस्तित्व है, वह सारे समाज के साथ एक है और उसका अस्तित्व अपने लिए और अपने द्वारा है। एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच जो संबंध होना था, वह केवल उपेक्षा या शत्रुता का था। क्योंकि राज्य सब व्यक्तियों की अभिलाषाओं का प्रतिनिधित्व करता था और वे सब उसके अन्दर समाविष्ट थीं तथा व्यक्ति की सब सामाजिक आवश्यकताओं को राज्य ही पूर्ण करता था, इसलिए वह एक नैतिक संस्था थी। सच्चा राज्य "अधिकारपूर्ण जीवन का साझीदार" था। द्वितीयतः, प्लेटो और अरिस्टोटल ने इस धारणा के साथ आरम्भ किया था कि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक या राजनीतिक प्राणी है। वह एकाकी जीवन नहीं बिता सकता, बशर्ते कि वह देवता अथवा हिंसक जीव न हो। यह केवल समाज में ही रहने का परिणाम है कि एक मनुष्य अपने व्यक्तित्व को विकसित कर सकता है और सब भाँति आत्मिक उन्नति कर पाता है। इसलिए राज्य एक ऐसी आवश्यकता है, जिससे नहीं बचा जा सकता क्योंकि वह मनुष्य के नैतिक स्वरूप को ऊंचा उठाती है।

सिद्धांत का विवरण (Statement of the Theory)—मानव-स्वभाव-विषयक नग्न सत्य से और इस सिद्धान्त से कि राज्य का लक्ष्य सामाजिक नैतिकता है, आधुनिक आदर्शवादियों ने एक दार्शनिक विचारधारा का विकास किया, जिसने राज्य को आत्म-निर्भर सत्ता का रूप प्रदान किया। उनके विचार में राज्य एक आवयविक एकता (organic unity) है और उनकी दृष्टि में राज्य सामाजिक नैतिकता की चरम अभिव्यक्ति है। क्योंकि राज्य नैतिक अवयवी (organism) है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति उसका अविभाज्य अंग है और वह अपने अस्तित्व के लिए उस पर निर्भर करता है। व्यक्ति हिंसा के विरुद्ध सुरक्षा और अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार के जिन स्पष्ट लाभों को राज्य से प्राप्त करता है, उनके अतिरिक्त, वह उन सब नैतिक अवस्थाओं के लिए भी राज्य का ऋणी है, जो उसके व्यक्तित्व का विकास करती है और जिनसे वह अपनी योग्यता का पूर्ण विकास कर पाता है। सारांश यह कि राज्य का अस्तित्व उन अवस्थाओं की रचना और रक्षा करता है, जिनमें स्वतन्त्र और नैतिक जीवन सम्भव होता है। फलस्वरूप, यह अन्य सब संघों से उत्तम और सर्वोच्च है। इसलिए, नागरिकों पर इसके अधिकार सर्वप्रथम हैं, और वह पूर्ण अधिकार-शक्ति पर आधारित है।

आदर्शवादी इस ढंग से राज्य को चित्रित करते हैं और उसे ज्ञानोन्नति का कारण बतलाते हैं। वह राज्य को व्यक्ति के सारे विकास और प्रगति का कारण मानते हैं। समाज से बाहर व्यक्ति का कोई अर्थ ही नहीं। उसके कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है। अधिकार उसे इसलिए मिलते हैं क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है और राज्य उन अधिकारों का रचयिता और रक्षक है। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण नैतिक विकास के लिए आवश्यक अवस्थाओं की रचना करके अधिकारों की गारंटी करता है। इस प्रकार, सामाजिक कल्याण का स्रोत और साथ-ही-साथ संरक्षक बनाया गया है। फलस्वरूप, वह साधन की बजाय एक लक्ष्य है। इसकी अधिकार शक्ति अपरिमित है और इसकी क्षमता निर्बाध है। इस रूप में, आदर्शवादी राज्य को "एक मंच पर प्रस्थापित करता है, जिसके चरणों में, उनके सदस्यों से आशा की जाती है कि वह नत-मस्तक होंगे और उसकी पूजा करेंगे।" उनकी शिक्षा है कि राज्य कोई भूल नहीं कर सकता और उसके कानून कभी अन्यायपूर्ण नहीं हो सकते। उसकी

अधिकार-शक्ति को विना किसी ननुनच के मानना चाहिए और उसके आदेशों का मुका-वला करना अथवा उसकी अधिकार-शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करना, भले ही वह कितनी दमनकारी हो, दंभ और अन्याय है।[1]

हेगल की दार्शनिकता (Hegel's Philosophy)—हेगल अपने सिद्धान्त का विकास रूसो की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा से, जो मनुष्य के विशेष और प्रतिष्ठित गुण के रूप में है, आरम्भ करते हैं, और वह पूर्णतया इस स्वतन्त्रता के साथ राज्य के संबंध के आधार पर राज्य का विचार करते हैं। उनकी धारणा है कि स्वतन्त्रता निश्चित और वास्तविक अथवा वाह्य रूप में अभिव्यक्त होनी चाहिए। जो स्वतन्त्रता समाज में विद्य-मान होती है और समाज की उत्पत्ति है, वह सक्रिय और प्रगतिशील है। वह वाहरी घोष-णाओं के क्रम में अपने-आपको अभिव्यक्त करती है—प्रथम कानून में, द्वितीय आन्तरिक नैतिकता के नियमों में, और अन्ततः सामाजिक संस्थाओं और प्रभावों की संपूर्ण प्रणाली में, जो व्यक्तित्व के विकास की रचना करती हैं। हीगल के कथनानुसार राज्य स्वतन्त्रता की अवस्थाओं को संभव वनाता है और मनुष्य उसमें रहते हुए वास्तविक स्वतन्त्रता का आनन्द लेते हैं। उन्हीं के शव्दों में "स्वतन्त्रता की वास्तविकता पूर्ण राज्य है", क्योंकि राज्य में मनुष्य अपने वाह्य जीवन को अपनी आन्तरिक विचारधारा के स्तर तक उन्नत करता है। "संक्षेप में, राज्य एक पूर्णतः विकसित मनुष्य है।" इस प्रकार हीगल राज्य को वास्तविक व्यक्तित्व और वास्तविक इच्छा प्रदान करते हैं। राज्य की इच्छा को वह सामान्य इच्छा का नाम देते हैं।

सामान्य इच्छा व्यक्तिगत इच्छाओं का कुल योग नहीं है। जो लोग इसका संघटन करते हैं, राज्य का अस्तित्व उनके ऊपर और अलग है। यह एक नवीन व्यक्तित्व है और "यह सामान्य इच्छा और राज्य के व्यक्तित्व में ही है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने के योग्य वनाया जाता है।" फलतः परिणाम यह निकलता है कि राज्य के कार्य, जहां तक सामान्य इच्छा से उनके निकलने का संवंध है, गलत और अन्यायपूर्ण नहीं हो सकते। अपना निजी वास्तविक व्यक्तित्व होते हुए, राज्य को स्वतः अपने में लक्ष्य माना जा सकता है, वह ऐसे अधिकारों से संपन्न है, जो किसी प्रकार के संघर्ष की दशा में अनिवार्यतः व्यक्ति के "कथित" अधिकारों का उल्लंघन कर सकता है। वह इस-लिए "कथित" अधिकार हैं, कि व्यक्ति के कोई वास्तविक अधिकार नहीं हैं। उसके सव अधिकारों को रचना राज्य करता है। क्योंकि व्यक्ति अपने अधिकारों को राज्य से प्राप्त करता है, इसलिए उसके ऐसे कोई अधिकार नहीं हो सकते, जिनका राज्य के अधिकारों के साथ संघर्ष हो। इस तरह हीगल राज्य को "एक चैतन्यशील नैतिक सारतत्व और अपने को जानने वाले तथा अपनी शक्तियों को क्रियान्वित करने वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित करते हैं।"

सामान्य इच्छा की इस धारणा से कुछ-कुछ असत्य प्रतीत होने वाले तीन परि-णाम निकलते हैं :

प्रथम, राज्य कभी भी विना प्रतिनिधित्व के कार्य नहीं कर सकता। जो कुछ भी वह करता है, वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है, जो वस्तुतः वास्तविक इच्छा है और

1. Garner, op. citd., p. 231.

व्यक्तिगत इच्छा की सम-स्वरता में है। उदाहरणार्थ, वह पुलिसमन, जो चोर की गिरफ्तार करता है, और वह न्यायाधिकारी जो उसे दंड देता है, वह वस्तुतः, चोर की गिरफ्तार होने और बन्दी किये जाने की वास्तविक इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं। क्योंकि जिस स्वतन्त्रता को मनुष्य राज्य म और राज्य द्वारा प्राप्त करता है, वह वास्तविक स्वतन्त्रता है, इसलिए चोर उस समय स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर रहा है, जबकि वह कारावास की ओर जा रहा होता है। हीगल जिस मत की स्थापना करना चाहते हैं, वह यह है कि राज्य के नियम स्वतन्त्रता की रचना करते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं और वास्तविक स्वतन्त्रता केवल कानून का पालन करने से प्राप्त हो सकती है। इसलिए, राज्य के कानूनों का विरोध अन्यायपूर्ण और समाज-विरोधी है।

दूसरे यह कि, जो सबंध व्यक्ति को अपने साथियों और राज्य के साथ संबद्ध करते हैं, वह उसके व्यक्तित्व का एक अखड भाग बन जाते हैं। "उनके बिना जो वह है, वह, वह नही होगा, किन्तु वह केवल वही है, जो उनके कारण होगा।" फलस्वरूप, ऐसी कोई भी बात करना असभव होगा, जो सामान्य कल्याण के विपरीत हो। इस प्रकार, हीगल नागरिकों को राज्य की अधिकार शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नही देता।

तृतीयतः, राज्य अपने सब नागरिको की सामाजिक नैतिकता को अपने आपमें समाविष्ट करता है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। यह नैतिक आदर्श की प्राप्ति है। जो कुछ नैतिक या अनैतिक है, वह व्यक्ति की निजी चेतना का परिणाम नही है। यह तो वह है, जो राज्य उसे बतलाता है। इस तरह, नैतिकता समाज से प्राप्त होती है। हेगल के मतानुसार, यह कहना गलत है कि राज्य जिस नैतिकता का आदेश करता है, वह नैतिकता नही है। वस्तुतः वास्तविक नैतिकता वह है, जो राज्य की देन है। जो भी हो, इसका यह अर्थ नही कि राज्य स्वतः अपने कार्यों में नैतिक संबधों द्वारा सबद्ध है।

हेगल के निष्कर्ष राज्य के स्वेच्छाचारी सिद्धान्त की भारी दार्शनिकता को पूर्ण कर देते हैं। डा. गार्नर के शब्दों में, हेगल की दृष्टि में राज्य "ईश्वरीय राज्य है, जो भूल करने के अयोग्य है, जो निश्चित है, सर्व-शक्तिमान है, और उसे अपने हितों के लिए आवश्यक व्यक्ति से प्रत्येक त्याग का अधिकार प्राप्त है। जिस त्याग और भक्ति की माग करने का इसे अधिकार है, और अपने श्रेष्ठ चरित्र की विशेषता से, वह उस व्यक्ति को जागरूक और माहसी बनाता है, कि जिसकी प्रवृत्ति स्वार्थी और स्व-केंद्रित बनने की होती है, और वह उसे पुनः व्यापक-तत्त्व के जीवन में ले जाता है।"[1] हेगल ने राज्य को रहस्यवादी सीमा तक ऊचा उठा दिया। सभी अवसरो, विशेषतः, युद्ध-काल मे, राज्य अपने नागरिको पर पूर्ण अधिकार का प्रयोग कर सकता है। आकस्मिक सकेत के समय वह जो चाहे कर सकता है, और आकस्मिक सकट कैसे बनता है, इसका निर्णय भी राज्य को ही करना होगा। वह अपने नागरिको को इतना तक कह सकता है कि वह अपने प्राण उसकी इच्छा पर छोड दें। इस भाति राज्य का स्वेच्छाचारी सिद्धान्त युद्धकाल में राज्य की सर्वशक्तिमत्ता में अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति देखता है। हेगल स्वय कहता है कि "युद्धरत अवस्था एकाकी रूप में राज्य की सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन है।"

1. Garner, op. cit. p 232.

किन्तु हेगल युद्ध को एक दूषण मानते हैं, यद्यपि निरंकुश दूषण नहीं। वह युद्ध को इस आधार पर न्याय्य ठहराते हैं कि यह "इतिहास में परमात्मा की गतिशीलता" और एक से दूसरे राष्ट्र के हाथ में जिस ढंग से सर्वोच्च सत्ता चली जाती है, उसे चित्रित करता है। वस्तुत:, राष्ट्र-राज्य के प्रति भक्ति के कारण ही उनकी युद्ध विषयक न्याय्यता थी। वह राष्ट्रों के भाईचारे में यकीन नहीं करते, क्योंकि उनकी राय में राष्ट्र-राज्य का अत्यावश्यक सिद्धांत संघर्ष है। इस प्रकार हेगल ने "सैनिकवाद और नृशंसता" के प्रचार एवं प्रयोग के लिए जर्मनी और इटली में अपने नव-शिष्यों का मार्ग साफ कर दिया।

हेगल निजी संपत्ति रखने की व्यवस्था का समर्थन करता है। वह उसे ऐसा भौतिक साधन मानता है, जिसके लिए व्यक्तिगत इच्छा यत्नशील हो सकती है, और तदनुसार व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए यह अनिवार्य है।

ग्रीन की दार्शनिकता (Green's Philosophy)—१८७० के बाद, इंग्लैंड में डी. एच. ग्रीन ने अपनी राजनीतिक दार्शनिक विचारधारा का विकास किया। यद्यपि राज्य के स्वेच्छाचारी सिद्धान्त के साथ उनके नाम को घनिष्ठता पूर्वक जोड़ा गया है, तथापि वह हीगल के दृष्टिकोण से अनेक बातों में भिन्न मत रखते हैं। ग्रीन अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में विश्वास करते थे और हेगल ने उसे सर्वथा अस्वीकार किया है। "उनकी शिक्षा थी कि राज्य की शक्ति भीतर और बाहर सीमित होती है, और राष्ट्र के जीवन का सिवा इसके कोई अस्तित्व नहीं है कि व्यक्तियों के जीवन से राष्ट्र का निर्माण होता है।" उनका कहना था कि युद्ध, अपूर्ण राज्य का परिणाम है और वह अधिक से अधिक सापेक्ष रूप में सही हो सकता है और स्वेच्छाचारी रूप में कदापि नहीं। ग्रीन की दृष्टि में राज्य तर्क की उपज है, जो मनुष्य को उसकी अनिवार्य योग्यता के रूप में नैतिक स्वतन्त्रता से परिचित करती है। मानवी चेतना स्वाधीनता की कल्पना करती है, स्वाधीनता में अधिकार सन्निहित हैं और अधिकार राज्य की मांग करते हैं। इस तरह, राज्य उन अवसरों की उत्पत्ति करने का हेतु है, जो व्यक्तियों के पूर्ण नैतिक विकास के लिए अत्यावश्यक हैं। जो सर्वोच्च प्रभु-सत्ता अधिकारों की रक्षा करती है, वह केवल बल-प्रयोग पर आधारित नहीं है। राज्य का आधार इच्छा है, न कि बल-प्रयोग। ग्रीन कहते हैं, क्योंकि वास्तविक प्रभुसत्ता के पीछे सामान्य कल्याण या सामान्य इच्छा की स्वीकृति होती है। फिर भी वस्तुस्थिति यह कि जब व्यक्ति प्रतिरोध के लिए बाध्य हो जाता है तो शक्ति-संपन्न प्रभु-सत्ता व्यक्ति के आदर्श अधिकारों की प्राप्ति को कुचल सकती है किन्तु ऐसे प्रतिरोध को क्रियान्वित करने से पूर्व उसके परिणामों के विषय में गंभीर विचार और सतर्क मनन की आवश्यकता होती है। "जो लगभग संपूर्ण है, हमें उसका एक अंश के लिए बलिदान नहीं करना चाहिए; हमें उस प्रणाली में एक नूतन तत्त्व की वृद्धि के लिए सामाजिक अव्यवस्था और विद्यमान अधिकार प्रणाली की अशांति का जोखिम नहीं उठाना चाहिए।" इस प्रकार, ग्रीन जनता को राज्य की अधिकार शक्ति का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं देते, चाहे वह निरंकुश और अस्थिर ही हो।

इस प्रकार राज्यकए प्राकृतिक और नैतिक आवश्यकता है, जो मनुष्य के नैतिक विकास के लिए जरूरी है। इसका प्रधान उद्देश्य अधिकारों को प्रचलित करना है, और अगर आवश्यकता हो तो बल-प्रयोग से भी। ग्रीन का मत है कि राज्य व्यक्तियों को निष्पक्ष

और व्यापक अधिकारों की प्रणाली प्रदान करके उन्हें निजी लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता कर सकता है। और अधिकारों की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि मनुष्य के अतिरिक विकास के लिए जो बाहरी आवश्यकताएं हैं, वही अधिकार हैं। प्रत्येक नागरिक-व्यक्ति का सर्वोच्च अधिकार यह है कि वह जैसा होना चाहिए वैसा मनुष्य बने। उसके लिए प्राकृतिक अधिकारों का तबतक कोई महत्व नहीं जबतक वह एक उस मनुष्य को नैतिक और आदर्श प्राणी बनने की सहायता नहीं करते, जो अपने लिए और समाज के लिए, कि जिसका वह अंग है, समर्पण कर चुका है।

ग्रीन अपने राज्य को स्वेच्छाचारी और सर्वशक्तिमान नहीं मानते। यह आंतरिक और बाहरी रूप में सीमित है। राज्य और उसके कानून मनुष्य की बाहरी प्रक्रियाओं के साथ ही व्यवहार करते हैं. उसके मुद्दों और उसकी भावनाओं के साथ उसका कोई संबंध नहीं ऐसी दशा में वह प्रत्यक्षतः उसका जीवन कल्याणमय नहीं कर सकता। जहां तक राज्य का अन्य व्यवस्थाओं से संबंध है, वह महाकाय नहीं है। प्रत्येक स्थायी व्यवस्था को अधिकार विषयक एक निजी आतंरिक प्रणाली है और उन पर राज्य-अधिकार तो समन्वय मात्र है, यद्यपि यह समन्वयाधिकार ही एक विधि से राज्य को अंतिम अधिकार-शक्ति प्रदान कर देता है।

ग्रीन के मतानुसार एक राज्य और अन्य के बीच विरोध का नाता नहीं है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा सीमित है। काण्ट और ग्रीन मनुष्यों के विश्व-भ्रातृत्व में विश्वास करते हैं किन्तु हीगल नहीं। वह युद्ध की निन्दा करते हैं, क्योंकि वह मनुष्य के स्वतन्त्र जीवन के अधिकार को भंग करता है। इसे केवल पूर्वत की हुई भूल को ठीक करने के लिए एक अन्य भूल की "निर्दय आवश्यकता के रूप में" न्यायपूर्ण कहा जा सकता है।

राज्य की आन्तरिक क्रिया के विषय में ग्रीन का कथन है कि वह कल्याण के साथ अधिक संबंधित होनी चाहिए। इसके दंड का उद्देश्य ऐसी अवस्थाओं की उत्पत्ति करने के लिए आनुपातिक और सुधार-विषयक होना चाहिए, जिनसे नैतिक जीवन संभव बन सके। राज्य को अज्ञानता, गरीबी और मद्यपान को नष्ट करना चाहिए, क्योंकि वह व्यक्ति की आत्मानुभूति के मार्ग में बाधाएं हैं। "फलतः, उसे शिक्षा को अनिवार्य बनाना चाहिए, शराब की दुकानों की वृद्धि पर रोक लगाकर मद्य-निषेध करना चाहिए, और लोगों को कतिपय लाभपूर्ण कार्यों के प्रबन्ध द्वारा भीख मांगने को बन्द करना चाहिए।" वह पूंजी के अस्तित्व को न्यायसंगत ठहराते हैं, यद्यपि वह भू-संपत्ति का विरोधी है। ग्रीन के मतानुसार संक्षेप में, राज्य का सर्वोच्च कृत्य अपने व्यक्तिगत सदस्यों के लिए उस कल्याण की प्राप्ति संभव बनाना है, जो सामान्य कल्याण है।

इस भांति स्पष्ट हो जाता है कि ग्रीन हेगल की अपेक्षा काण्ट के अधिक निकट हैं। व्यक्तिगत स्वाधीनता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता विषयक विचारों में वह हेगलवादी की अपेक्षा काण्टवादी अधिक हैं। ग्रीन के मत से राज्य न तो स्वेच्छाचारी है और न ही सर्वशक्तिमान। जहां तक वह राज्य को उच्चता के नैतिक मूल्य पर बल प्रदान करता है, वह हेगलवादी है। वह राज्य को स्वाभाविक और आवश्यक तथा व्यक्ति के जीवन को सामुदायिक जीवन के अखंड अंश के रूप में मानता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ग्रीन पर

अरिस्टोटल के प्रवचनों का अधिक प्रभाव था।

सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory)—यथार्थवाद (Realism) के विरोधी रूप में, आदर्शवाद (Idealism) उस राजनीतिक सिद्धान्त का पोषक है, जो व्यक्ति और राज्य के संबंधों के विषय में इस दृष्टि से व्यवहार करता है कि वह कैसे होने चाहिएं और इस दृष्टि से नहीं कि वह कैसे हैं। किन्तु आदर्शवादियों ने यथार्थता को आदर्शात्मक बनाया। उनकी दृष्टि में वर्तमान भविष्य के समान है और राज्य तथा समाज के विद्यमान स्वरूप को उन्होंने इस रूप में स्वीकार किया है कि जैसा वह होना चाहिए। "परिणाम यह हुआ कि सुधार या आमूल सुधारवाद का स्रोत बनने की बजाय आदर्शवाद अनुदारतापूर्ण सिद्धान्त हो गया और सभ्यता की प्रस्तुत दशा का समर्थक बन गया।"[1] उदाहरण के लिए, अरिस्टोटल दासता को आदर्श बतलाते हैं; हेगल युद्ध की उच्चता प्रकट करते हैं; और ग्रीन पूंजी के निजी स्वामित्व के साथ भूमि के राष्ट्रीयकरण का समन्वय करते हैं। इब्सन आदर्शवाद को "अनुदारतावाद की चालों के रूप में" वर्णन करते हैं, क्योंकि वह "ज्यों की त्यों स्थिति के दैवी अधिकार" का समर्थन करता है।

राज्य और समाज की एकात्मकता की कल्पना, जिस पर आदर्शवाद का सिद्धान्त आधारित है, स्पष्टतया असत्य है। हमने सतर्कतापूर्वक समाज से राज्य को भिन्न प्रकट किया है। एक बार, जब इस भेद को स्वीकार कर लिया जाय तो राज्य की हेगलवादी धारणा नष्ट हो जाती है। इसी तरह, यह धारणाएं भी असत्य हैं कि राज्य नैतिकता के सिद्धान्तों से ऊपर है और राज्य ही नैतिकता की स्वीकृति प्रदान करने वाला है। नैतिकता आध्यात्मिक विषय है और मेकाइवर ने यह नग्न सत्य प्रकट किया है कि राज्य द्वारा निर्दिष्ट नैतिकता, नैतिकता नहीं है। मनुष्य को जबतक स्वतः आकर्षण नहीं होगा, राज्य की नैतिक विधियों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता।

आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य के एक निजी व्यक्तित्व की कल्पना करता है, जो उन लोगों के व्यक्तित्व को ऊंचा उठाता है, जिनसे मिल कर राज्य बना है। इस सिद्धान्त को असंबद्ध बतला कर अस्वीकार किया गया है। डुगीट और मेकाइवर इसे काल्पनिक मानते हैं क्योंकि यह राज्य की सर्वशक्तिमत्ता, स्वेच्छाचारिता, और देवत्व की शिक्षा प्रदान करता है। वह व्यक्ति को राज्य की सर्वतोमुखी शक्ति के अधीन कर उसकी स्वतन्त्रता की बलि देता है। राज्य की असीमित शक्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत छोटा बना देती है और उसे तथा समाज को अपेक्षाकृत क्षीण बना देती है। किन्तु इस तथ्य की स्वीकृति का अनिवार्य रूप में यह अर्थ नहीं कि राज्य सर्वशक्तिमान है। राज्य समाज का प्रतिनिधि होने के नाते लक्ष्य का साधन है और स्वतः लक्ष्य नहीं, इसका अस्तित्व मनुष्य के कल्याण के लिए है; मनुष्य का अस्तित्व उसके कल्याण के लिए नहीं है। न ही यथार्थ इच्छा और अयथार्थ इच्छा के भेद में कोई सत्य है। "यह प्रभु-सत्ता, संपन्न राज्य के स्वेच्छाचारी और आतंकपूर्ण कार्यों को न्याय और प्रजातन्त्र का रूप प्रदान करने का एक साधन है।" राज्य की हेगलवादी उच्चता का संकेत करते हुए, प्रो. हॉब्हाउस कहते हैं, "राज्य एक महान संगठन है। किसी एक नागरिक की अपेक्षा इसका कल्याण अंशतः महान और अधिक स्थायी महत्व का

1. Ilyas Ahmad, op. cit., p. 315.

हैं। इसका क्षेत्र विशाल है। इसको सेवा अत्यधिक स्वामी-भक्ति और आत्म-त्याग का आह्वान करती है। यह सब सत्य है। तिस पर भी, जब राज्य को एक ऐसी सत्ता के रूप में उपस्थित किया जाता है जो राज्य को बनाने वाले व्यक्तियों से श्रेष्ठ और उनसे उदासीन हैं, तब वह एक झूठे देवता का रूप धारण कर लेता है, और उसकी पूजा का अभिप्राय होता है निर्जन स्थान से घृणा, जैसा कि वाईप्रस या सोम में देखा जाता है।"

इसलिए अब आदर्शवादी सिद्धान्त को छोड़ दिया गया है क्योंकि "यह सिद्धान्त रूप में निराधार है, तथ्यों के प्रति झूठा साबित हुआ है, और वैदेशिक नीति के क्षेत्र में वर्तमान राज्यों की कार्यवाहियों को ऐसी स्वीकृति दे सकता है जिसके परिणाम भयकर निकलें।" इस सिद्धान्त ने राज्य के विरुद्ध एक ऐसा पक्षपात उत्पन्न कर दिया था कि अनेक क्षेत्रों में इसकी आवश्यकता पर भी आपत्ति की गई थी। हमारे ही युग में, हिटलर और मुसोलिनी ने हेगल का अंधानुकरण किया था, जिसका, निःसदेह मानवता के लिए भीषण परिणाम हुआ है।

व्यक्तिवाद (Individualism)—व्यक्तिवाद सिद्धात, जिसका वैकल्पिक नाम 'राम भरोसे नीति' (Laissez Faire) है, का उद्देश्य राज्य के कार्यक्षेत्र का निश्चय करना है। "राम भरोसे नीति" का अर्थ है कि व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार काम करने दिया जाय, क्योंकि वह अपने निजी हितों का सर्वोत्तम सरक्षक है। उसका सुझाव है कि व्यक्ति को अपनी योग्यताओं और हितों के विकास का पूरा-पूरा मौका मिल सके। इसलिए राज्य को उसके कार्यों मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य के कृत्य निषेधात्मक रूप में नियामक हैं। उसका अस्तित्व सरक्षण और निरोध के लिए है, न कि आरोप और विस्तार के लिए।

सिद्धांत का विकास (Development of the Theory)—अठारहवी सदी के अन्तिम भाग में व्यापारीवाद का सिद्धात (Doctrine of Mercantilism) प्रचलित था, जो सरकार विषयक नियमन और उद्योग तथा वाणिज्य के सरक्षण की नीति का समर्थन करता था। इस व्यापारी सिद्धात को भौतिकवादियों से अन्तिम आघात पहुंचा। क्वेसने के नेतृत्व में फ्रांसीसी मत के अर्थशास्त्री, भौतिकवादियों (Physiocrats) का मत था कि व्यक्तिगत साहसिक उद्योग की तरह राष्ट्रीय सपत्ति के उत्पादन को विधान के हस्तक्षेप के बिना अपने निजी मार्ग पर गतिशील होने देना चाहिए। उनकी मान्यता थी कि निजी सपत्ति और अनुबंध-विषयक स्वतन्त्रता सुव्यवस्थित समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य अग है। सक्षेप में उनकी नीति "राम भरोसे" थी और वह एक व्यक्ति को अपनी रुचि अनुसार कार्य करने देना चाहते थे। फलस्वरूप, भौतिकवादियों का सिद्धात सरकारी नीति को इस सीमा तक अच्छी समझता था कि वह निजी सपत्ति का सम्मान करती है, सर्वत्र स्वतन्त्र प्रतियोगिता की स्वीकृति प्रदान करती है, और कानून के सामने सब व्यक्तियों को बराबर मानती है।

फ्रांस मे यह नवीन सिद्धात खूब पनपा और उस देश से वह समस्त योरोप में फैला किन्तु "राम भरोसे नीति" का मत, एडम स्मिथ तथा अन्य पुरातन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की शिक्षाओं के फलस्वरूप अधिक अधिकृत और स्वीकृत सिद्धात बन गया। एडम स्मिथ को इस सफलता का श्रेय था कि उसने दूसरों के कच्चे माल को लेकर अपनी

नीय रूप में किसी के विवेकानुसार क्रियाशील होने से वंचित करता है, तो शारीरिक या मानसिक गुणों का कुछ भाग विकास से वंचित रह जाता है।"[1]

(२) प्राणिशास्त्र संबंधी तर्क (The Biological Argument)—"रामभरोसे नीति" के समर्थकों का मत है कि व्यक्तिवाद का सिद्धांत ऐंद्रियिक विकास के नियमानुरूप है। हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी प्राणी-विज्ञानीय सादृश्यता से प्रमाणित किया है कि पशु जीवन के समान ही, सामाजिक व्यवस्था में भी, व्यक्ति को अपने लिए संघर्ष करना चाहिए और जीवित रहना या मरना चाहिए, क्योंकि योग्यतम ही जीवित रहेगा, और उसे रहना चाहिए। दुर्बल और अयोग्य को नष्ट हो जाना पड़ेगा। "योग्यतम की विजय" प्रकृति का नियम है और समाज की प्रगति बलवान द्वारा दुर्बल को हटा देने पर निर्भर करती है। अस्तित्व के लिए होने वाले इस शाश्वत संघर्ष में सरकार द्वारा हस्तक्षेप की कोई भी चेष्टा प्रकृति का शोधन करने का यत्न है। सरकार का अनिवार्य लक्ष्य प्रकृति की सहायता करना है—यथासंभव ऐसी अवस्था स्थिर रखना कि जिसके अधीन प्रत्येक वयस्क अपने निजी स्वभाव और आचरण के सद्-परिणामों की प्राप्ति करे और दूषित परिणामों की यातना सहन करे।" स्पेंसर का कथन है कि अनिवार्य एवं सार्वजनिक शिक्षा, क्षीण सहायता और सामाजिक विधान प्राकृतिक अवस्थाओं में परिवर्तन की व्यर्थ चेष्टाएं हैं। वह दुर्बल को स्थिर रखने और उसे बलवान के समान-स्तर पर खड़ा करने और अयोग्य को योग्य के मूल्य पर सुरक्षित रखने की चेष्टा करती है। "सरकार को गरीबी और गंदे मकानों को अकेला छोड़ देना चाहिए, जिससे दुर्बल वर्ग शीघ्र ही नष्ट हो जाय; उसे औद्योगिक प्रतियोगिता को भी, चाहे वह कितनी ही घोर हो, होने देना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की प्रतियोगिता से सर्वोच्च व्यक्ति ऊपर आते हैं।"

(३) आर्थिक तर्क (The Economic Argument)—मिल और स्पेंसर के आचार-विषयक तथा वैज्ञानिक तर्कों के अलावा, व्यक्तिवाद का आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर भी समर्थन किया गया है। वस्तुतः, एडमस्मिथ ने बेंथम, मिल और स्पेंसर की आर्थिक धारणाओं को बहुत प्रभावित किया। एडम स्मिथ की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका बुद्धिमत्ता पूर्ण स्वार्थ-साधन इसका निर्देशन सिद्धान्त है और प्रत्येक आदमी अपनी व्यक्तिगत रुचि के कार्य को भली प्रकार संपन्न करेगा, बशर्ते कि उसे अपने-आप पर छोड़ दिया जाय। अन्ततः, इसके कारण समाज को समग्र रूप में लाभ होगा। एडम स्मिथ का मत था कि वाणिज्य और उद्योग यदि निजी साहसिक उपक्रम पर छोड़े जायं, तो अधिक समृद्ध होते हैं। खुले प्रतियोगी बाजार में उत्पादन के सब अंश में मांग और पूर्ति की शक्तियों के साथ परस्पर समन्वय करते हैं। स्वतन्त्र प्रतियोगिता उत्पादन में वृद्धि करती है, कीमत नियमित करती है, और पूंजी तथा श्रम की स्वतन्त्र गति को प्रोत्साहन देती है। हर-एक के स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार अपनी भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन से काम लेने में सबका सामान्य हित है और यह बेन्थम के महत्तम सुख के सिद्धांत के अनुरूप भी है। फलतः आर्थिक दृष्टिकोण से यह युक्ति दी जाती थी कि "राम भरोसे नीति" समाज के लिए सर्वाधिक हितकारी है, और सरकार द्वारा लगाए कृत्रिम प्रतिबन्ध समूचे आर्थिक ढांचे को तोड़-फोड़ देंगे।

---

1. Mill; Political Economy, Vol. II, p. 561.

अनुभव का तर्क (Argument from Experience)—"राम भरोसे नीति" के समर्थकों ने इतिहास के आधार पर हस्तक्षेप न करने की बुद्धिमत्ता का समर्थन किया था। उनका मत था कि राज्य ने जब भी कभी समुदाय के सामाजिक या आर्थिक जीवन को नियंत्रित और नियमित करने की चेष्टा की, तो वह अपने यत्नों में बुरी तरह असफल रहा। राज्य के सब सहारे और सहायताएं, जैसे उद्योग को राज्य-सहायता, निषेध, संरक्षण आदि, उन उद्देश्यों के लिए दुष्टतापूर्ण एवं विनाशकारी थे, जिन्हें प्राप्त करने की इच्छा की गई थी। बकले ने इस प्रकार के विधानों के लिए उत्तरदायी लोगों का संकेत करते हुए उल्लेख किया है कि "वे वही पुरानी भूलें करते गए, उन्हें विश्वास था कि उनके हस्तक्षेप के बिना कोई व्यापार समृद्ध नहीं हो सकता, वह पुनः पुनः अवरोधात्मक

पार को लाभ पहुंचाए।"[1] भारत सरकार द्वारा ऐसी ही भूलों, और अवरोधों से हम भी परिचित हैं, जो उसकी राशनिंग तथा मूल्य नियंत्रण की अविचारित एवं दुर्बल नीति के परिणामस्वरूप हैं, यद्यपि हम स्वतः इस यांत्रिकता के विरोधी नहीं हैं।

राज्य की अयोग्यता का तर्क (Argument of State Incompetency)—अन्ततः, व्यक्तिवाद के समर्थक यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि राज्य राष्ट्र के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करेगा तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता अयोग्यता का रूप धारण कर लेगी। सरकार साहसिक उपक्रमों के रूप में अवश्यमेव असफल होगी, क्योंकि व्यापार का यह सरल सिद्धांत है कि जो लोग जोखिम उठाते हैं, वह उन राज्य-अधिकारियों की अपेक्षा, जिनका कोई जोखिम नहीं होता, अधिक योग्यता पूर्वक और मितव्ययिता से व्यापार चला सकते हैं। इसके अतिरिक्त, राज्य-प्रबंध का अर्थ नित्य का दैनिक क्रम लालफीता शाही, अनावश्यक देरी, अमितव्ययिता और भ्रष्टाचार है। संक्षेप में, राज्य द्वारा संचालित उद्योग के प्रबंध में नौकरशाही प्रशासन की सभी बुराइयां होती हैं।

"रामभरोसे" सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the "Laissez Faire" Theory)—उन्नीसवीं सदी में "राम भरोसे" सिद्धांत का प्रबल समर्थन हुआ था और क्रियात्मक रूप में प्रत्येक सभ्य सरकार का यह राजनीतिक सिद्धांत बन गया था। किन्तु शीघ्र ही इसके दोष प्रकट हो गए और व्यक्तिवाद के विरुद्ध भारी प्रतिक्रिया हुई। व्यक्तिवाद के आलोचकों का तर्क था कि:—

व्यक्तिवादी सिद्धांत की यह धारणा, कि राज्य एक आवश्यक बुराई है, बिलकुल गलत है। यह कल्पना करना सर्वथा मूर्खता है कि राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए हुआ कि वह मनुष्य की स्वार्थी और दूषित प्रवृत्तियों का अवरोध करेगा। वस्तुतः, राज्य की उत्पत्ति मानव जीवन की आवश्यकताओं में से हुई है और उसका कल्याणकारी जीवन के लिए निरन्तर अस्तित्व रहता है। और यह व्यक्तिगत प्रगति का आवश्यक साधन है, और, जैसा कि बर्क कहता है, राज्य "समूचे विज्ञान में साझेदारी है, सारी कला में साझेदारी है, सारे गुण और सारी पूर्णता में साझेदारी है।" हमारे जैसे जटिल एवं अत्यधिक संगठित समाज में, राज्य के कृत्य केवल दमनात्मक और "नकारात्मक रूप में नियामक" न

1. As cited in Garner, p. 463.

नीय रूप में किसी के विवेकानुसार क्रियाशील होने से वंचित करता है, तो शारीरिक या मानसिक गुणों का कुछ भाग विकास से वंचित रह जाता है।"[1]

(२) प्राणिशास्त्र संबंधी तर्क (The Biological Argument)—"रामभरोसे नीति" के समर्थकों का मत है कि व्यक्तिवाद का सिद्धांत ऐंद्रियिक विकास के नियमानुरूप है। हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी प्राणी-विज्ञानीय सादृश्यता से प्रमाणित किया है कि पशु जीवन के समान ही, सामाजिक व्यवस्था में भी, व्यक्ति को अपने लिए संघर्ष करना चाहिए और जीवित रहना या मरना चाहिए, क्योंकि योग्यतम ही जीवित रहेगा, और उसे रहना चाहिए। दुर्बल और अयोग्य को नष्ट हो जाना पड़ेगा। "योग्यतम की विजय" प्रकृति का नियम है और समाज की प्रगति बलवान द्वारा दुर्बल को हटा देने पर निर्भर करती है। अस्तित्व के लिए होने वाले इस शाश्वत संघर्ष में सरकार द्वारा हस्तक्षेप की कोई भी चेष्टा प्रकृति का शोधन करने का यत्न है। सरकार का अनिवार्य लक्ष्य प्रकृति की सहायता करना है—यथासंभव ऐसी अवस्था स्थिर रखना कि जिसके अधीन प्रत्येक वयस्क अपने निजी स्वभाव और आचरण के सद्-परिणामों की प्राप्ति करे और दूषित परिणामों की यातना सहन करे।" स्पेंसर का कथन है कि अनिवार्य एवं सार्वजनिक शिक्षा, क्षीण सहायता और सामाजिक विधान प्राकृतिक अवस्थाओं में परिवर्तन की व्यर्थ चेष्टाएं हैं। वह दुर्बल को स्थिर रखने और उसे बलवान के समान-स्तर पर खड़ा करने और अयोग्य को योग्य के मूल्य पर सुरक्षित रखने की चेष्टा करती है। "सरकार को गरीबी और गंदे मकानों को अकेला छोड़ देना चाहिए, जिससे दुर्बल वर्ग शीघ्र ही नष्ट हो जाय; उसे औद्योगिक प्रतियोगिता को भी, चाहे वह कितनी ही घोर हो, होने देना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की प्रतियोगिता से सर्वोच्च व्यक्ति ऊपर आते हैं।"

(३) आर्थिक तर्क (The Economic Argument)—मिल और स्पेंसर के आचार-विषयक तथा वैज्ञानिक तर्कों के अलावा, व्यक्तिवाद का आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर भी समर्थन किया गया है। वस्तुतः, एडमस्मिथ ने बेंथम, मिल और स्पेंसर की आर्थिक धारणाओं को बहुत प्रभावित किया। एडम स्मिथ की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका बुद्धिमत्ता पूर्ण स्वार्थ-साधन इसका निर्देशन सिद्धान्त है और प्रत्येक आदमी अपनी व्यक्तिगत रुचि के कार्य को भली प्रकार संपन्न करेगा, बशर्ते कि उसे अपने-आप पर छोड़ दिया जाय। अन्ततः, इसके कारण समाज को समग्र रूप में लाभ होगा। एडम स्मिथ का मत था कि वाणिज्य और उद्योग यदि निजी साहसिक उपक्रम पर छोड़े जायं, तो अधिक समृद्ध होते हैं। खुले प्रतियोगी बाजार में उत्पादन के सब अंश में मांग और पूर्ति की शक्तियों के साथ परस्पर समन्वय करते हैं। स्वतन्त्र प्रतियोगिता उत्पादन में वृद्धि करती है, कीमत नियमित करती है, और पूंजी तथा श्रम की स्वतन्त्र गति को प्रोत्साहन देती है। हर-एक के स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार अपनी भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन से काम लेने में सबका सामान्य हित है और यह बेन्थम के महत्तम सुख के सिद्धांत के अनुरूप भी है। फलतः आर्थिक दृष्टिकोण से यह युक्ति दी जाती थी कि "राम भरोसे नीति" समाज के लिए सर्वाधिक हितकारी है, और सरकार द्वारा लगाए कृत्रिम प्रतिबन्ध समूचे आर्थिक ढांचे को तोड़-फोड़ देंगे।

1. Mill; Political Economy, Vol. II, p. 561.

(४) अनुभव का तर्क (Argument from Experience)—"राम भरोसे नीति" के समर्थकों ने इतिहास के आधार पर हस्तक्षेप न करने की बुद्धिमत्ता का समर्थन किया था। उनका मत था कि राज्य ने जब भी कभी समुदाय के सामाजिक या आर्थिक जीवन को नियंत्रित और नियमित करने की चेष्टा की, तो वह अपने यत्नों में बुरी तरह असफल रहा। राज्य के सब सहारे और सहायताएं, जैसे उद्योग को राज्य-सहायता, निषेध, संरक्षण आदि, उन उद्देश्यों के लिए दुष्टतापूर्ण एवं विनाशकारी थे, जिन्हें प्राप्त करने की इच्छा की गई थी। बकले ने इस प्रकार के विधानों के लिए उत्तरदायी लोगों का संकेत करते हुए उल्लेख किया है कि "वे वही पुरानी भूलें करते गए, उन्हें विश्वास था कि उनके हस्तक्षेप के बिना कोई व्यापार समृद्ध नहीं हो सकता, वह पुनः पुनः अवरोधात्मक नियमनों द्वारा उस व्यापार में बाधा डालते रहे, और उन्हें पूर्ण निश्चय था कि प्रत्येक सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के व्यापार को क्षति पहुंचा कर अपने निजी लोगों के व्यापार को लाभ पहुंचाए।"[1] भारत सरकार द्वारा ऐसी ही भूलों, और अवरोधों से हम भी परिचित हैं, जो उसकी राशनिंग तथा मूल्य नियंत्रण की अविचारित एवं दुर्बल नीति के परिणामस्वरूप है, यद्यपि हम स्वतः इस यांत्रिकता के विरोधी नहीं हैं।

(५) राज्य की अयोग्यता का तर्क (Argument of State Incompetency)—अन्ततः, व्यक्तिवाद के समर्थक यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि राज्य राष्ट्र के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करेगा तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता अयोग्यता का रूप धारण कर लेगी। सरकार साहसिक उपक्रमी के रूप में अवश्यमेव असफल होगी, क्योंकि व्यापार का यह सरल सिद्धांत है कि जो लोग जोखिम उठाते हैं, वह उन राज्य-अधिकारियों की अपेक्षा, जिनका कोई जोखिम नहीं होता, अधिक योग्यता पूर्वक और मितव्ययिता से व्यापार चला सकते हैं। इसके अतिरिक्त, राज्य-प्रबंध का अर्थ नित्य का दैनिक क्रम लालफीता शाही, अनावश्यक देरी, अमितव्ययिता और भ्रष्टाचार है। संक्षेप में, राज्य द्वारा संचालित उद्योग के प्रबंध में नौकरशाही प्रशासन की सभी बुराइयां होती हैं।

"रामभरोसे" सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the "Laissez Faire" Theory)—उन्नीसवीं सदी में "राम भरोसे" सिद्धांत का प्रबल समर्थन हुआ था और क्रियात्मक रूप में प्रत्येक सभ्य सरकार का यह राजनीतिक सिद्धांत बन गया था। किन्तु शीघ्र ही इसके दोष प्रकट हो गए और व्यक्तिवाद के विरुद्ध भारी प्रतिक्रिया हुई। व्यक्तिवाद के आलोचकों का तर्क था कि.—

व्यक्तिवादी सिद्धांत की यह धारणा, कि राज्य एक आवश्यक बुराई है, बिलकुल गलत है। यह कल्पना करना सर्वथा मूर्खता है कि राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए हुआ कि वह मनुष्य की स्वार्थी और दूषित प्रवृत्तियों का अवरोध करेगा। वस्तुतः, राज्य की उत्पत्ति मानव जीवन की आवश्यकताओं में से हुई है और उसका कल्याणकारी जीवन के लिए निरन्तर अस्तित्व रहता है। और यह व्यक्तिगत प्रगति का आवश्यक माध्यम है, और, जैसा कि बर्क कहता है, राज्य "समूचे विज्ञान में साझेदारी है, सारी कला में साझेदारी है, सारे गुण और सारी पूर्णता में साझेदारी है।" हमारे जैसे जटिल एवं अत्यधिक संगठित समाज में, राज्य के कृत्य केवल दमनात्मक और "नकारात्मक रूप में नियामक" नहीं हो

1. As cited in Garner, p. 463.

सकते । उसे तो एक बहुत बड़ा कार्य करना है, "और वह काम है, संरक्षण, प्रोत्साहन, और सामान्य कल्याण की उत्पत्ति करना।" व्यक्तिवादियों ने इस धारणा में भूल की है कि मनुष्य को अपने निजी मामलों में स्वतन्त्र छोड़ने से सभ्यता की वृद्धि होती है प्रत्युत इसके विपरीत, एक उन्नत सभ्यता के लिए अधिकाधिक राज्य-नियमन की आवश्यकता हो जाती है। हक्सले ने उल्लेख किया है, "जितनी ही सभ्यता की ऊंची अवस्था होगी, उतना ही अधिक समाज के एक व्यक्ति की क्रियाएं दूसरों को प्रभावित करेंगी और किसी व्यक्ति के अपने साथी नागरिकों की स्वतन्त्रता में थोड़ा या अधिक हस्तक्षेप किये बिना गलती करने की कम संभावना होगी, इसलिए राज्य के कृत्यों को अत्यन्त संकुचित दृष्टि से देखने पर ही यह मानना पड़ेगा कि इसकी शक्तियां उससे कहीं बहुत अधिक विस्तृत होंगी जितनी की "राम भरोसे नीति" के प्रतिपादक मानते हैं।"

इसी प्रकार व्यक्तिवाद के समर्थकों की यह धारणा भी गलत है कि राज्य के कार्य-कलापों में विस्तार स्वाधीनता का विरोधी है। जैसा कि पूर्वतः कहा जा चुका है, विरोध के बिना स्वाधीनता का अस्तित्व नहीं रह सकता। प्रतिबंधहीन और निरोधहीन स्वाधीनता एक प्रकार की खुली छूट है। सच्ची स्वाधीनता का अर्थ ठीक चुनाव करना और ठीक समय काम करना है। यदि सबको समान रूप में अपने अधिकारों की प्राप्ति का अवसर नहीं है, तो उसे स्वाधीनता नहीं कह सकते। राज्य के कानून स्वाधीनता में कमी नहीं करते, प्रत्युत उसकी वृद्धि और रक्षा करते हैं। स्वाधीनता में कतिपय निरोध सन्निहित हैं और इस दृष्टि से कानून स्वाधीनता की एक शर्त है। स्वाधीनता केवल तभी नष्ट होती है, जब इस प्रकार के प्रतिबन्ध निरंकुश और अन्यायपूर्ण होते हैं। इसलिए मिल की यह धारणा, कि राज्य की शक्ति में जितनी अधिक वृद्धि होती हो उतना ही अधिक व्यक्तिगत स्वेच्छा और तत्परता में कमी आनी ठीक नहीं है।

इसी तरह व्यक्तिवादियों की यह गलत धारणा है कि सामान्य कल्याण में राज्य के हस्तक्षेप का फल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। एक विशुद्ध खाद्य कानून, एक फैक्टरी कानून या अनिवार्यतः टीका लगवाना आदि को हम व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण कैसे कह सकते हैं? वस्तुतः सबके कल्याण में वृद्धि होती है और इस तरह के निरोध द्वारा सबकी स्वतन्त्रता सुरक्षित होती है। "जिस प्रकार एक पेड़ की नलाई और छिलाई आदि करने से कुछेक फलों की हानि तो हो जाती है, लेकिन उस करने का उद्देश्य तो यह है कि बेहतर किस्म और अधिक फल हों, इसी प्रकार, अन्ततः सब को लाभ हो, राज्य का यही आशय होता है।"

मनुष्य अपने निजी हितों का सर्वोत्तम निर्णायक है, यह तर्क अत्यधिक सीमित रूप में सत्य है। समाज स्वतः व्यक्ति की अपेक्षा उसकी आध्यात्मिक, नैतिक, और यहां तक कि भौतिक आवश्यकताओं का भी बेहतर निर्णायक है। वस्तुतः व्यक्तिवादियों ने व्यक्ति पर अत्यधिक भरोसा किया और हर एक से अत्यधिक आशा की, उनकी कल्पना थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को वास्तविक रूप में जानने और करने के विषय में "समान पारदर्शी" और "समान-योग्यता" संपन्न था। उनकी यह भी कल्पना थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा की तुष्टि के लिए "समान-शक्ति" और "समान-स्वतन्त्रता" रखता था। निः-संदेह स्व-हित प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य है, किन्तु उसके हितों और लक्ष्यों का समाज के हितों

से विच्छेद नही किया जा सकता। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उसे अपने हितों का ऐसे ढंग से समन्वय करना चाहिए कि उनकी उसके साथी-प्राणियो के हितो से टक्कर न हो। मनुष्य समाज मे उत्पन्न हुआ है, और वह इसका सदस्य रहते हुए जीता है और मरता है ; इसलिए वह इतना स्वार्थी नही हो सकता कि अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्णतया भूल जाय। यदि वह ऐसा करता है, तो राज्य को, सबके अधिकारों का सरक्षक होने के नाते, व्यक्तिगत कार्यकलापों को नियमित करने का अधिकार है। और तब, सरकार विषयक सब नियमनो का व्यक्तिगत चरित्र के विकास पर पक्षपातपूर्ण प्रभाव नही हो सकता। दूसरी ओर भूत का अनुभव हमें यह बतलाता है कि राज्य उन अवस्थाओ को उत्पन्न करता है और स्थिर रखता है, जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में सहायता करती है।

"राम भरोसे" सिद्धान्त का मुख्य आधार स्वतन्त्र प्रतियोगिता की शक्तियों पर आश्रित है। प्रतियोगिता उन लोगों के लिए अच्छी हो सकती है, जो आर्थिक रूप में बलवान हों, किन्तु दुर्बल के लिए यह निश्चय ही बाधा है। श्रमिकों पर इसका सर्वाधिक प्रहार होता है। उनकी दीनता, भूख, अस्वस्थता और अयोग्यता कथित स्वतन्त्र प्रतियोगिता के ही प्रत्यक्ष परिणाम है। इसके अतिरिक्त, उत्पादन की प्रतियोगिता प्रणालियो में यन्त्रों का उपयोग, श्रम विभाजन, उद्योगो का केन्द्रीकरण और कृत्यो का विभाजन समाविष्ट है। स्वतत्र प्रतियोगिता के कारण संघो, दलों, न्याय समितियो और मूल्य सघो (Trust & Kartels) का निर्माण किया जाता है। पूंजीवादी उत्पादन की यह सब विधिया प्रतिद्वद्विता को रोकती है, उत्पादन आधिक्य की अवस्थाएं उत्पन्न करती है, और माग तथा पूर्ति के बीच असमानता मानी जाती है। निर्माता लापरवाही और पदार्थों के सामाजिक मूल्यों की चिन्ता किये बिना उत्पादन करते है। तदनुसार, व्यक्तिवाद के विरोधियो की धारणा है कि आयोजित उत्पादन की अवस्था मे इस सारे विनाश और असमता से बचा जा सकता है। समुचित योजना से हर कोई अवसर की समानता और पुरस्कार की समानता प्राप्त करता है। सरकार आर्थिक उपक्रम को ग्रहण करने के अयोग्य है, यह तर्क तथ्यो द्वारा अप्रमाणित हो जाता है। "राज्य ने व्यक्तिगत स्वार्थ, उपेक्षा या अयोग्यता से लोहा लेने के लिए ही हस्तक्षेप किया है।"

अन्ततः "योग्यतम की विजय" का व्यक्तिवादी तर्क जितना भ्रांतिपूर्ण है, उतना ही अमानवीय है। योग्यतम की विजय का नियम मानव प्राणियों पर लागू नही हो सकता। यह शारीरिक रूप में योग्यतम की विजय न होकर नैतिक रूप मे सर्वोच्च की विजय है। यदि योग्यतम की विजय को प्राकृतिक नियम के रूप मे स्वीकार किया जाय, तो इसका आशय हिंसक शक्तियों की विजय और जगलीपन को स्थिर रखना होगा इसलिए, हमें इस प्रकार के व्यक्तिवाद को नमस्कार कर देना चाहिए।

संक्षेप में, व्यक्तिवाद ग्रहण करने योग्य सिद्धान्त नही है, क्योंकि यह असत्य कल्पनाओं पर आधारित है और सरकार विषयक आचरण मे विशुद्ध व्यक्तिवाद असभव है। "राजनीतिक न्याय की दृष्टि से यह व्यक्तिगत और सामाजिक अधिकारों के विच्छेद की यात्रिक चेष्टा पर आधारित है। आर्थिक आधार पर यह सहयोग और नियमित यत्नो के शुद्ध लाभों की उपेक्षा करता है। वैज्ञानिक नियम के रूप में यह टिक नही सकेगा।" इस वक्तव्य की सत्यता स्पष्ट हो है और, आज हम कोई भी ऐसा राज्य नहीं देखते, जो

केवल-मात्र पुलिस-राज्य हो।

आधुनिक व्यक्तिवाद (Modern Individualism) :—१८८० तक, उन्नीसवीं सदी के व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया पूर्णतया प्रकट हो गयी थी। उस काल में इसकी अधिकार-शक्ति क्षीण होनी आरम्भ हो गई थी और इस सदी के अन्त तक यह राज्य निरंकुशवादी और सामूहिकवादी सिद्धान्तों द्वारा अधिकांशतः प्रतिस्थापित हो चुका था। "किन्तु व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने वदले में प्रतिक्रिया उत्पन्न की है।" इस चक्र का पूर्ण वृत्त घूम चुका है, और राज्य के प्रति वर्तमान असंतोष ने व्यक्तिवादी विचारधारा के पुनर्जीवन को उन्नीसवीं सदी के व्यक्तिवादी की भावना के समान, यद्यपि उसके रूप में नहीं, उन्नत किया है।"[1] कतिपय ऐसी नवीन प्रवृत्तियों को आधुनिक व्यक्तिवाद का नाम दिया गया है, जो आदर्शवादियों और समूहवादियों द्वारा प्रदान किये राज्य के स्वभाव और चरित्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करती हैं। यह हेगलवादी दर्शन के वुद्धिवाद और राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध विद्रोह प्रकट करती है। यह प्रथम विश्व-युद्ध की नौकरशाही सरकारों की निरंकुशता के प्रति विद्रोह भी है। अन्ततः, आधुनिक व्यक्तिवाद वहुसंख्या के शासन के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया है, जो अत्याचारी एवं अल्प संख्याओं के हितों के सर्वथा विपरीत था। इन सब अंशों ने परस्पर मिल कर राज्य के प्रति रोप उत्पन्न किया और परिणामस्वरूप आधुनिक व्यक्तिवाद की उत्पत्ति हुई।

आधुनिक व्यक्तिवाद को उन्नत करने वाले अंश (Factors Promoting the Growth of Modern Individualism) (१) ऐच्छिक संघों—आर्थिक, नैतिक और सामाजिक—की प्रगतिशील वृद्धि ने राज्य को धीरे धीरे व्यक्ति के निजी जीवन से वाहर कर दिया है। कहा जाता है कि ये संघ स्वतः मनुष्य की प्रेरणा हैं और राज्य की रचना नहीं।[2] दूसरे शब्दों में, नवीन धारणा यह है कि संघों के अन्य अनेक रूपों में राज्य भी एक रूप है, और व्यक्ति की स्वामी-भक्ति के लिए इसका कोई श्रेष्ठ अधिकार नहीं है। संघ रूप में राज्य तथा अन्य संघों में केवल यही अन्तर है कि राज्य की हमारी सदस्यता केवल अनिवार्यता का विषय है, जब कि अन्य संघों की सदस्यता का विषय हमारी रुचि से संवंधित है।

(२) प्रथम विश्व-युद्ध ने विक्षिप्त अवस्थाएं पैदा कर दी थीं। युद्धरत-राज्यों ने युद्ध जीतने के व्यापक यत्नों के लिए जनता और उनके साधनों के पूर्ण योग की मांग की थी। राज्य के गौरव और उसकी प्रभुसत्ता के नाम पर महान वलिदानों की मांग की गई थी। जनता ने शुरू-शुरू में राज्य की मांगों का उत्साहपूर्वक प्रत्युत्तर दिया था। किन्तु युद्ध के कारण जीवन-हानि की महान संख्या और उसके परिणामों की अनिश्चितता के कारण जनता में राज्य के प्रति विरोधी-भावना उत्पन्न हो गई। यहां तक कि जनता उस राज्य की उपयोगिता के वारे में भी शंकित हो उठी, जिसने उसे युद्ध और उसके विनाशकारी परिणामों में घसीटा। राज्य की विदेश-नीति में प्रदर्शित हेगल के परिचित प्रवचनों को वह सर्वशक्तिमत्ता के परिणामों को सहज ही जान गई।

साथ-ही-साथ राज्य ने आंतरिक मामलों में नई शक्तियां भी ग्रहण कर लीं।

1. Joad, op. cit., p. 32.
2. See ante, p. 111

सरकारी कार्यकलापों की अत्यधिक विस्तीर्णता और फलस्वरूप व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के अपहरण का आशय यह था कि अधिकारियों की सख्या और उनकी अधिकार-शक्ति के क्षेत्र में अभिवृद्धि हो। यह नये निरकुशवाद का उदय था और इसके कारण जनता मे राज्य के प्रति क्षोभ की भावना में भी वृद्धि हुई।

(३) लोगो का सरकार की पार्लामेंट्री प्रणाली मे विश्वास उठ गया था। युद्ध और युद्ध-काल के मनोविज्ञान ने बहुसंख्यक शासन के भयों को जन्म दिया। जिस यान्त्रिक ढंग से बहुसंख्यक दल सरकार का समर्थन करता था, जिस अनुत्तरदायी ढग से बहुसख्या अल्प-संख्या के प्रति व्यवहार करती थी, और जिस ढंग से विधान-सभा, समाचार-पत्रों और मच पर समूह मनोवृत्ति (Mob Psychology) का प्रदर्शन किया जाता था, इन सबके कारण व्यक्ति का विचार स्वातन्त्र्य खतरे में पडा हुआ नजर आने लगा। लोग महसूस करने लगे कि सरकार की प्रतिनिधि प्रणाली, क्रियात्मक रूप में, बहुसख्यक शासन के अत्याचारी रूप में बदल गई है। इस प्रकार लोगों ने यह अनुभव किया कि "राज्य के नाम पर तात्कालिक बहुसख्या को वैध-प्रभुसत्ता सौंपना सब लोगो की प्रसन्नता की गारंटी नही है।" फलतः इससे मुक्ति का मार्ग यथासभव क्षेत्र में राज्य की शक्तियो और कृत्यों के विकेंद्रीकरण में ढूढ निकाला गया।

आधुनिक व्यक्तिवाद की पृष्ठ-भूमि की दार्शनिकता (Philosophy underlying Modern Individualism)—आधुनिक व्यक्तिवादियों के अनुसार, राज्य, समूहों के संघ, गणो (Guilds) के एक सघ, या "समुदायों के एक समुदाय" की अपेक्षा कुछ ही अधिक है। वह इस प्रस्ताव को नही मानते कि मनुष्य की किसी विशेष आवश्यकता के प्रत्युत्तर में राज्य का अविर्भाव हुआ। राज्य को केवल इसी दृष्टिकोण मे देखा जाता है कि वह प्रशासन यंत्र का एक अश है, जो सघर्षात्मक समूहों तथा सघो के कार्य-कलापो में सहयोग तथा अधिकारों में समन्वय के लिए हितकारी है। वह राज्य की उस सर्वोच्च नैतिक स्थिति को चुनौती देते है, जो आदर्शवादियो द्वारा उसे प्रदान की गई है। यह कहा जाता है कि अनेक सघो के समान राज्य भी एक है और यह किसी नैतिक आधार पर, जनता से किसी प्रकार की श्रेष्ठ स्वामी-भक्ति का दावा नही कर सकता। जिन व्यक्तियों से राज्य का सघटन होता है, उनके व्यक्तित्वो और इच्छाओ से अधिक न तो राज्य, वास्तविक व्यक्तित्व और वास्तविक इच्छा रखता है और न ही प्राप्त कर सकता है। सभी समूह, राज्य के समान व्यक्तित्व रखते है। समूहों के प्रति लोगों की स्वामी-भक्ति कभी-कभी राज्य के प्रति आवश्यक स्वामी-भक्ति से बढ जाती है। इस दृष्टिकोण से, आधुनिक व्यक्तिवादी राज्य को अपरिहार्य नही समझते, उसके प्रतिस्थापन के लिए ज्यों ही किसी समुचित यंत्र की रचना हो जाती है, त्यो ही उसे हटाया जा सकता है।

आधुनिक व्यक्तिवाद के सिद्धान्त में योगदान (Contribution to the Theory of Modern Individualism)—आधुनिक व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति हाल ही के राजनीतिक विचारको के प्रवचनों में दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि उनकी समाधान सबधी विधियो में बड़ा भारी अन्तर है, तथापि वे "इस तरह के सिद्धात के आधारो की रचना मे समान-यत्नों का ही प्रदर्शन करते है।" इनमे अन्तर्राष्ट्रीयवाद के पुजारी नार्मन एजल सर्वप्रथम है। अन्तर्राष्ट्रीयवाद समाज के साथ राज्य के तादात्म्य को

ानता और वह राज्य-विषयक बहुलवादी दृष्टिकोण का समर्थन करता है।
वाद के समान ही अन्तर्राष्ट्रवाद राज्य की प्रभु-सत्ता के एकात्मक सिद्धांत को
ा करता और राज्य के बाहर संपर्क-बहुलता का पोषण करता है।

नार्मन एंजल ने अपनी पुस्तक (The Great Illusion) में प्रतिपादित किया है
मनुष्य आर्थिक हितों पर आधारित भावनाओं द्वारा संगठित हैं। इसका कारण यह है
क लोग सदा वही करते हैं जिसमें उनका सर्वाधिक हित हो। नार्मन एंजल कहते हैं कि
उनके लिए हितकर क्या है, इस विषय में उन्हें गलत दृष्टिकोण बनाने की प्रेरणा की जाती
है, क्योंकि प्रतिद्वंद्वी राज्य विचारणीय विषयों को मिथ्याकथन द्वारा और राष्ट्रीय भाव-
नाओं को उभार कर उन्हें भ्रांति में डाल देते हैं। किन्तु जब उन्हें भान होता है कि शांति-
गुण से संपन्न विश्व-आर्थिक-समाज के सदस्य रूप में विचार और अनुभव करने में उनका
अधिक हित होगा, तो वह युद्ध गुण से संपन्न प्रदेशीय सीमाओं पर आधारित समाज के
विभाजन का परित्याग कर देंगे। एंजल दृढ़तापूर्वक कहते हैं, "व्यक्तिगत रूप में जो लोग
बुद्धिमत्तापूर्वक क्रियाशील होते हैं, वह नागरिक रूप में मूर्खों के समान क्रियाशील होते
हैं, और परिणामस्वरूप विश्व क्षति-ग्रस्त होता है।" उनकी दृष्टि में केवल प्रशासन राज्य
यांत्रिकता का एक अंश है, जिसे समुचित यंत्र का निर्माण होते ही प्रतिस्थापित किया
जा सकता है। इसलिए, एंजल उस भविष्य पर दृष्टिपात करते हैं जब राष्ट्रीय राज्य को
किसी आर्थिक वर्ग के आधार पर समाज की किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में विलय कर
दिया जायगा। संघ समाजवादी (Guild Socialist) एंजल की सब अच्छाइयों
को स्वीकार करते हैं, किन्तु समाज के स्वरूप की परिभाषा में उससे भिन्न-मत हैं।

ग्राहम वालस, आधुनिक व्यक्तिवाद के एक अन्य व्याख्याता हैं। वालस ने अपने
ग्रंथ (Great Society) में इसी भांति "अति विकसित राज्य की शक्ति में
अविश्वास" प्रदर्शित किया है किन्तु उन्होंने मुख्यतः प्रतिनिधि सरकार की समस्या पर
ही विचार किया है। उनका कहना है कि पार्लामेंट मुख्य अंग के रूप में आधुनिक केंद्रीभूत
राज्य, लोक-इच्छा की अभिव्यक्ति का प्रभावपूर्ण साधन नहीं हो सकता। वह प्रतिनिधित्व
की वर्तमान प्रणाली को अत्यधिक दोषपूर्ण मानते हैं, क्योंकि निर्वाचक मंडल लोकप्रि
समाचार पत्रों द्वारा विमुग्ध (hypnotized) तथा आन्दोलनकर्त्ताओं द्वारा मदहो
कर दिया जाता है। तदनुसार वालस का पहला सुझाव यह है कि प्रतिनिधित्व व्यावसायि
और भौगोलिक, दोनों आधारों पर होना चाहिए, पूर्वकथित द्वितीय भवन के लिए
उत्तरकथित निम्न भवन के लिए । इसके अतिरिक्त, वह बहुसंख्यक दबाव के विप
कतिपय संरक्षणों के सुझाव भी उपस्थित करते हैं।

संघ समाजवादी भी जनतांत्रिक समाज के विचार को ग्रहण करते हैं, जिसमें
विषयक संस्थाओं का जाल-सा फैला हो। वह समाज को एक संघ मानते हैं, जो दो प्र
समूहों से बना है, उत्पादक और उपभोक्ता। वह आधुनिक राज्य के राजनीतिक
पर आक्रमण करते हैं और स्वायत्त संघों की क्रियाशीलता द्वारा समाज के जनतं
पर बल देते हैं।

मिस फालैट अपनी पुस्तक 'दि न्यू स्टेट' में आधुनिक व्यक्तिवाद का
अर्थ प्रकट करती हैं। और पुस्तक के विषय का स्पष्टीकरण करने वाली यह पंक्ति

संगठन द्वारा लोकप्रिय सरकार का हल" इस अर्थ का द्योतक है। मिस फॉलेट बहुलवादियों तथा अन्य उनसे सहमत है, जो समूहों के महत्व को दृष्टि में रखते हुए आधुनिक व्यक्तिवाद के सिद्धांत का पोषण करते हैं। लेकिन वह "समूह को राजनीति का अंग नहीं मानती।" बहुलवादी समूह को गौरवशाली मानते हैं जब कि मिस फॉलेट हमारे अध्ययन के विषय रूप में "सवंधित समूह पर" बल देती हैं, बशर्ते कि राजनीति के लिए वह अध्ययन लाभकारी हो। व्यक्ति, समूह और राज्य सब अपना-अपना कार्य पूरा करते है। मिस फॉलेट अपनी पुस्तक की भूमिका में कहती हैं "... किन्तु व्यक्ति, समूह, राज्य मे से हम किसी की भी उपेक्षा नही कर सकते, सभी का समान महत्व है।" फलतः वह उन बहुलवादियों से सहमत नही कि जो समूह में व्यक्ति को स्थान नहीं देना चाहते अथवा जो समूह के लिए राज्य को तिलाजलि देना चाहते है। उसका दृढ़मत है कि "व्यक्ति के आधार विना न तो कोई सरकार सफल होगी, न ही कोई सरकार जीवित रहेगी, और न ही किसी सरकार ने अभी तक व्यक्ति को प्राप्त किया है।" और मिस फॉलेट के स्वप्न का व्यक्ति अपने सामाजिक अस्तित्व के आधार रूप "स्व और अन्यों" के इस पुरातन एवं मिथ्या विचार में विश्वास नहीं करता। वह अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए "स्व हेतु अन्यों द्वारा" की इच्छा करता है। वास्तविक मनुष्य समूह-सगठन द्वारा ही उपलब्ध होगा, क्योकि "व्यक्ति की सभाव्यताएं समूह-जीवन से मुक्त होने पर ही संभाव्यताओं का रूप धारण करती है। मनुष्य समूह द्वारा ही अपनी वास्तविक प्रकृति को पाता है और वास्तविक स्वतन्त्रता का लाभ उठाता है। समूह-सगठन को राजनीति की नई विधि बनना चाहिए क्योंकि प्रयोगात्मक राजनीति की विधि से ही व्यक्ति को प्रकाशित और प्रभावित किया जा सकता है।"

राज्य के विषय मे मि. फॉलेट का कथन है कि वह बाहरी प्रक्रियाओ से नही बनता, "बल्कि वह उन लोगों के निरन्तर विचार और प्रक्रियाओं से बनता है, जो उसके जीवन-प्राण है।" राज्य का जीवन नैतिक क्रम-बद्धता है और राज्य की शक्ति नैतिक-शक्ति है, जो उसके नागरिकों के आध्यात्मिक क्रियाकलापो द्वारा संचित होती है। नागरिकों का आध्यात्मिक क्रियाकलाप उस मनुष्य की रचनात्मक शक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है कि जो अपने समूह जीवन द्वारा प्रत्यक्षता और वास्तविकता का रूप धारण करता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के बहुमुखी हितों को सूत्रबद्ध करता है। यह "उस अनन्त क्रम को उनके सही संबंधों में व्यवस्थित करना है, जिससे समष्टि के यथासंभव महानतम कल्याण का निर्माण किया जा सके।" राज्य का यह कृत्य है, और इसके सार रूप और पूर्णता में यही नैतिकता है।

आधुनिक व्यक्तिवाद और उन्नीसवीं सदी के व्यक्तिवाद में अन्तर (Difference between Modern Individualism and Individualism of the Nineteenth Century)—आधुनिक व्यक्तिवाद पुरातन व्यक्तिवाद से कतिपय आधारभूत रूपों मे भिन्न है। पूर्वकथित राजनीतिक उद्देश्यो के लिए अपनी इकाई के रूप में यह समूह को मान्यता देता है, व्यक्ति को नही। ऐसा मुख्यतः इस कारण है कि उन्नीसवीं सदी का व्यक्तिवाद पूजीवाद के शोषण और बहुसंख्या शासन के अत्याचार के विरुद्ध व्यक्ति को आवश्यक संरक्षण

प्रदान करने में असफल रहा था।[1] समूह का संगठन दो उद्देश्यों के लिए है। प्रथम यह कि बहुसंख्या के प्रहार के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करना, और दूसरे यह कि कतिपय हितों तथा विचारों को उन्नत करना जो उसके सदस्यों में सामान्य हैं। यह मत प्रकट किया जाता है कि राज्य का विशाल आकार सामान्य इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति और व्यक्तिगत व्यक्तित्व के विकास को रोकता है। इसके विपरीत, किसी समूह की लघुता ऐसे अवसरों को पर्याप्त रूप में प्रदान करती है। इसलिए, समूह को व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व के विकास के लिए सबसे अच्छा माध्यम समझा जाता है, और समूह ही "उस वैयक्तिक स्वतन्त्रता की एकमात्र प्रभावपूर्ण गारंटी हो, जो मिल द्वारा व्याख्या किय गए पुराने व्यक्तिवाद का सर्वाधिक मूल्यवान तत्व है।"[2]

फासिस्टवाद (Fascism) फासिस्टवाद भी प्रथम विश्व-युद्ध की उपज है। मानवी जीवन की यह दुखांत घटना है कि "एक ही मां-बाप के दो सर्वथा विरोधी बच्चे पैदा हों। एक ओर, बहुलवादी सिद्धांतों (Pluralistic Theories) ने स्वेच्छाचारी राज्य के विरुद्ध भंजनवाद (Iconoclasm) का उदय किया; और दूसरी ओर, उसने सर्वहारावादी राज्य के ऐसे बीज बोए कि जो हमारे आज तक के देखे किसी भी राज्य से कहीं अधिक स्वेच्छाचारी थे।"[3] फासिस्टवाद जनतंत्री धारणाओं, आदर्शों और विधियों, उदारवाद और समाजवाद की पूर्ण विपरीत दशा है। उदारवाद और जनतंत्र व्यक्तियों के हितों की रक्षा करते हैं, समाजवाद आर्थिक वर्ग के हितों की रक्षा करता है; किन्तु फासिस्टवाद की दृष्टि में "समाज लक्ष्य है, व्यक्ति साधन हैं, और उसका संपूर्ण जीवन अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों के उपयोग द्वारा निर्मित है।" फासिस्टवाद का आदर्श राज्य के मतों और अप्रतिहत शासन द्वारा अधिकृत होता है। उसे व्यक्ति के सब जीवन-क्षेत्रों में, आर्थिक, नैतिक या धार्मिक, हस्तक्षेप का अधिकार होता है। फासिस्टवादी सिद्धांत के अनुसार, नागरिक जीवन का आरम्भ राज्य के साथ होता है, और, इसलिए, सब राज्य के अन्तर्गत हैं और राज्य के बाहर कोई नहीं। फासिस्टवाद "राज्य के अधिकारों, राज्य की अधिकार शक्ति की पूर्व महत्ता, और राज्य के लक्ष्यों की श्रेष्ठता की घोषणा करता है।" इस प्रकार, सामाजिक जीवन का कोई भी अंग फासिस्टवाद के अनुशासन से अछूता नहीं रहता। वह शांतिवाद का विरोधी है और युद्ध का प्रशंसक। मुसोलिनी का कथन है, "केवल-मात्र युद्ध के कारण ही मानव की संपूर्ण अन्तःशक्ति उच्चतम स्थिति प्राप्त करती है और वह उन लोगों पर वीरता की छाप लगाता है, जिनमें उसका मुकाबला करने का साहस होता है।....इस भांति, जो सिद्धांत शांति की इस हानिकारक कल्पना के आधार पर स्थापित किया गया है वह फासिस्टवाद का विरोधी है।"

फासिस्टवाद का उदय (Rise of Fascism)—१९१४-१८ के विश्व-युद्ध के तत्काल बाद के संकट-काल में सर्वप्रथम इटली में फासिस्टवाद का जन्म हुआ। इटली उन दिनों युद्धोत्तर आर्थिक-अव्यवस्था की भीषणता में से निकल रहा था। समूचे देश में मुनाफाखोरी, मुद्रा स्फीति, अत्यधिक ऊंची कीमतों, बढ़ती हुई जीवन-लागतों

1. Joad, op. cit., p. 38.
2. Ilyas Ahmad, op. cit., p. 359.
3. Coker, op. cit., p. 475.

को पूरा करने के लिए उच्च पगारों के निमित्त हड़तालों, घाटे के बजट तथा युद्ध परिश्रांत सैनिकों की बेरोजगारी की स्थिति थी। यद्यपि, इटली युद्ध में विजयी हुआ था, तथापि कूटनीतिक दृष्टि से उसकी पराजय हुई थी। युद्ध की लूट के माल मे उसे जो लाभ प्राप्त हुए थे, वह उसके बलिदानों के मुकाबिले मे बहुत कम थे, और, इसलिए इटली को पेरिस-शांति-सम्मेलन से अपने प्रतिनिधि मडल को वापिस बुलाना पड़ा था। इन संकटापन्न अवस्थाओ मे, इटली की रक्षा के लिए मुसोलिनी को, अपने फासिस्टवादी सिद्धांत के साथ, हस्तक्षेप करना पडा। फासिस्टवाद के कारण इटली में जो परिवर्तन हुआ, वह निर्विवाद है। १९२२ मे, पार्लमेंट के सदस्य-रूप में मुसोलिनी ने घोषणा की कि फासिस्टवाद का आशय जबरदस्त आर्थिक रूपातर करना है। १९२९ में, सात वर्ष बाद, फासिस्टवादी सरकार के नेता के रूप मे उसने "पदार्थ सबंधी और नैतिक रूपातरो की सफलता का महान विवरण उपस्थित किया था।" फासिस्टवाद ने इटली को सुदृढ़ और केंद्रीभूत सरकार प्रदान की। उसने अपने देशवासियो से राज्य-भक्ति प्राप्त की और प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के समान अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बना ली। मुसोलिनी के शक्ति में आने से पूर्व इटली जिस अशात अवस्था से भयभीत था, फासिस्टवाद ने श्रम और पूजी के उस युद्ध को समाप्त कर दिया। इटली ने औद्योगिक दिशा मे, विशेषतः कृषि-विषयक साधनों में चमत्कारिक उन्नति की। अन्ततः, फासिस्टवाद ने, जो अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विपरीत था, इटलीवासियो को राष्ट्रवाद की शिक्षा दी और उनमे नये आदर्शों के प्रति नवीन विश्वास की जागृति उत्पन्न की।

फासिस्टवादी राज्य का आकार और राजनीति (Structure and Policy of the Fascist State) :—प्रख्यात "रोम पर आक्रमण" के बाद मुसोलिनी ने शाह की भक्ति-शपथ स्वीकार की और प्रधान मन्त्री बन गया। कुछ समय के लिए उसने पार्लामेंटरी सरकार की व्यवस्थाओं तथा रीतियो को स्थिर रखने की थोडी-बहुत चेष्टाएं की। किन्तु, मुसोलिनी ने आरम्भ मे ही स्पष्ट कर दिया था कि सरकार को चलाने के लिए उसने जिन असाधारण शक्तियो की माग की थी, यदि पार्लामेंट ने उन्हे देने से इंकार किया, तो वह उसकी भी उपेक्षा कर देगा। इस बीच, विधान सभा के बाहर के विरोध को दमनकारी सरकारी उपायो तथा फासिस्टवादी सैनिक दलों की हिसात्मक क्रियाओ द्वारा नष्ट किया जा रहा था। जनवरी १९२५ मे, मुसोलिनी ने वैधानिक प्रणाली को तिलांजलि दे दी और वह आज्ञप्तियो (decrees) द्वारा इटली का शासन चलाने लगा। इस प्रकार उसने फासिस्टवादी नीतियो को वैधरूप प्रदान कर दिया। कानूनों तथा आज्ञप्तियों द्वारा पूर्ण राजनीतिक केंद्रीकरण और स्वेच्छाचारिता प्राप्त कर ली गई। नवम्बर, १९२६ मे सब "विरोधी दलों को भग कर दिया गया और उन लोगों को कारावास के दड दिये गए, जिन्होंने दलो को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की अथवा जिन्होंने अपने सिद्धातो के लिए आन्दोलन किया।"[1] अन्य आज्ञप्तियो द्वारा पार्लामेंट के प्रति मन्त्रि-मडल का उत्तरदायित्व निषिद्ध था। शाह राज्य का नियमपूर्वक वैधानिक अध्यक्ष बना रहा, किन्तु प्रधान मन्त्री राज्य का वास्तविक अध्यक्ष था और उसे कानूनी शक्ति के साथ आज्ञप्तियां जारी करने की पूर्ण अधिकार-शक्ति थी।

1. Ibid, p. 49

मंत्रीगण उसके सहयोगी नहीं थे, प्रत्युत सहायक थे। वह प्रधान मंत्री द्वारा नियत किये जाते थे और व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में उसके प्रति उत्तरदायी थे। इस तरह, रूस की भाँति इटली एक-दलीय राज्य बन गया, और रूसी साम्यवादी दल के समान, नेशनल फासिस्ट दल वंश-परम्परा रूप में संगठित हो गया। सदस्यों को केवल फासिस्टवादी चरित्र तथा स्वामी-भक्ति की परीक्षा के बाद, दल में भरती किया जाता था। उन्हें आपत्ति-रहित रूप में "मुसोलिनी के आदेशों का अनुकरण करने की" शपथ उठानी पड़ती थी। मुसोलिनी लिखता है, "फासिस्ट दल की रचना कर मैंने सदैव उसपर प्रभुत्व रखा है।"[1] संक्षेप में, दल और सरकार ने मुसोलिनी को पूर्ण अधिकार दे दिया था। यही उसका दल था और उसकी सरकार। मुसोलिनी ने अपनी आत्मकथा में निरन्तर इन शब्दों का प्रयोग किया है, "मेरा आदेश", "मेरा पथ-निर्देशन," "मेरे विवेक और न्याय की भावना", "मेरा विरोध-रहित प्रभुत्व।"[2]

फासिस्टवादी नीति को साररूप में इस प्रकार कहा जा सकता है; वाह्य रूप में इटैलियन राष्ट्र की शक्ति को पुनः प्रारम्भ करना, और आर्थिक तथा नागरिक मामलों के घरेलू प्रशासन में उत्साह का संचार। मुसोलिनी तथा उसके सहायक सदा यह विश्वास करते थे "राज्य के सम्मान तथा प्रभाव के लिए एक प्रबल विदेशी नीति और घरेलू सरकार का देवाज्ञासम कठोर संगठन आवश्यक है।" इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए फासिस्टवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं की पवित्रता को स्वीकार नहीं करते थे। इसके विपरीत वह नैतिक भय, शारीरिक विवशता और सरकारी आन्दोलन की विधियों में विश्वास रखते थे।" सत्ता हस्तगत करने से पूर्व और बाद की सरकारी नीति, दोनों अवस्थाओं में उन्होंने जिन कानून-विरोधी कार्यों का आश्रय लिया, उन्होंने अपने विरोधियों के साथ बहुत संक्षिप्त कार्यवाही तथा निर्दयता का व्यवहार किया था।"[3] १९२५ और १९२६ के कानूनों और आज्ञप्तियों में अभूतपूर्व दमनात्मक विधियों को ग्रहण एवं समाविष्ट किया गया था। सरकार की आलोचना करना, सरकार द्वारा भंग किये दलों और उनके सिद्धांतों का प्रचार करना, और देश की आन्तरिक अवस्थाओं से संबंधित झूठे या "अतिशयोक्तिपूर्ण समाचार विदेशों में फैलाना दंडनीय अपराध था। सब प्रकार के प्रकाशित मत पर कड़ा नियंत्रण था।" "कानून के अनुसार प्रत्यक समाचार-पत्र या पत्रिका को सरकार द्वारा स्वीकृत डाइरैक्टर के नियंत्रण में कार्य करना होता था और उसके लेखक सरकार द्वारा नियंत्रित पत्रकार संघ के स्वीकृत व्यक्तियों तक सीमित होते थे। सरकार ने समाजवादी तथा उदार पत्रों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की थी और उन्हें दबा दिया था। उसने अधिक नम्रतापूर्वक आलोचना करने वाले पत्रों का "फासिस्टीकरण" कर दिया था। उसने ऐसे पत्रों के स्वतन्त्र प्रबंधकों तथा संपादकों की जगह बलपूर्वक ऐसे व्यक्तियों को नियत कर दिया था जो फासिस्टवादी शासन के मुक्त प्रशंसक थे।"[4]

फासिस्टवादी सिद्धान्त (Fascist Doctrine)—फासिस्टवाद का कोई राजनीतिक सिद्धांत नहीं है। यह पूर्णतया प्रयोग सिद्ध (empirical) और प्रयोगा-

1. Benito Mussolini, My Autobiography, p. 296.
2. Ibid., pp. 98, 144, 162, etc.
3. Coker, op. cit., p. 470
4. Ibid., p. 471

त्मक है। मुसोलिनी को सिद्धांत से चिढ़ थी और उसने बहुधा इन शब्दों को दोहराया है, "मेरा कार्यक्रम बोलना नहीं, प्रयोग है।" उसने अन्य आन्दोलनों के सिद्धांतों की सूक्ष्मताओं के साथ फासिस्टवाद की वास्तविकता और निश्चितता की तुलना द्वारा फासिस्टवाद की श्रेष्ठता प्रकट की थी। मुसोलिनी ने कहा था, "फासिस्टवाद वास्तविकता पर आधारित है, बोल्शेविज्म सिद्धांत पर ....किन्तु हम निश्चित और वास्तविक होना चाहते हैं।" वास्तविकवाद पर इतना बल देने के बावजूद फासिस्टवाद की कतिपय सैद्धांतिक कल्पनाएं हैं और उसने सामान्य सामाजिक आदर्शों का निर्माण कर रखा है। इसका उद्देश्य "इटैलियन जीवन का आधारमूलक पुनः संगठन और साहस-संचार करना था और, अन्त में, इटली सरकार की अधिकार-शक्ति को बल और सम्मान प्राप्त कराना था।" इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए फासिस्टवाद ने वास्तविकवाद और रहस्यवाद के अनोखे सम्मिश्रण का प्रदर्शन किया है। इसका एक-स्वर घोष था, प्रथम कार्यशीलता, और अनन्तर सिद्धांत। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसने जिन विधियों को अपनाया, वह नियत नहीं थी, क्योंकि वह तर्क पर आधारित नहीं थी। वह अत्यधिक लोचपूर्ण थीं और उनका सहज समन्वय हो सकता था, और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्हें क्रियान्वित किया जा सकता था; इस तरह, स्वभावतः ही, वह एक दूसरे के अनुरूप नहीं हो सकती थी।

फासिस्टवादी कल्पना के अनुसार, राज्य या राष्ट्र का अपनी निजी वास्तविक इच्छा के साथ स्वतन्त्र अस्तित्व है। राज्य की यह वास्तविक इच्छा जनतंत्र की लोक-प्रिय इच्छा से सर्वथा भिन्न है। फासिस्टवादी लोकप्रिय प्रभुसत्ता को जनतंत्र की कृत्रिम रचना मानते हैं; और जनतंत्र की वह इसलिए निन्दा करते हैं कि वह जनता को उन असंख्य प्रश्नों के निश्चय का अधिकार प्रदान करती है जिनके विषय में निश्चित निर्णय के प्रयोग का उसे ज्ञान नहीं होता। मनुष्य की समानता के जनतंत्री विचार को गलत माना जाता था, क्योंकि यह "मानव प्राणियों को एक समतल पर समान लाने" की यांत्रिक विधि थी, और ऐसा करने से मानव को प्रकृति की भद्र शिक्षा से वंचित रखा जाता था। यहां यह जान पड़ता है कि मुसोलिनी "योग्यतम की विजय" के कानून पर बल देता है।

फासिस्टवादियों के विचार से समाज का आशय राष्ट्र है और राष्ट्र उनकी दृष्टि में राज्य था। वह व्याख्या करते हैं, कि राष्ट्र "प्राणी विज्ञानीय" समानताओं पर आधारित है। उसके सदस्यों के जीवनों की अपेक्षा उसका जीवन अधिक स्थिर, स्थायी और महत्वपूर्ण है। इसलिए, राज्य राष्ट्र का ऐन्द्रियिक आकार है और यह नैतिक तथा वैध दोनों रूपों में स्वेच्छाचारी प्रभुसत्ता का समर्थक है। राष्ट्र के हितों को व्यक्तिगत या अन्य समूहों के हितों से प्रथम स्थान मिलना चाहिए। "राष्ट्र के संरक्षण, विस्तार, या विजय के लिए युद्ध सर्वोच्च रूप में न्याय्य हो सकता है। भले ही उसके कारण प्रत्येक छोटे दल के विशेष हित व्यर्थ हो जायें और राष्ट्र के सर्वाधिक मूल्यवान नागरिकों का विनाश हो जाय।" इस भांति फासिस्टवाद लोगों को स्वाधीनता, समानता तथा अन्य अधिकारों की स्वीकृति प्रदान नहीं करता। व्यक्ति के केवल उसी सीमा तक अधिकार थे जहां तक राज्य उसको उन्हें सौंपता था। जब राज्य की इच्छा के साथ उसकी इच्छा मेल खाती थी, तभी उसका महत्व था। स्वाधीनता को अधिकार रूप में नहीं माना जाता था,

प्रत्युत कर्त्तव्य रूप में। नागरिक स्वात्मा को राज्य में विलय करने के द्वारा सच्चा व्यक्तित्व और स्वाधीनता लाभ करता था। इसलिए फासिस्टवादी स्वाधीनता, समानता, भ्रातृभाव इन तीन शब्दों की जगह ऊंचे एवं अधिक वीरता प्रकट करने वाले शब्दों का प्रयोग करते थे,—कर्त्तव्य, अनुशासन और बलिदान। इनसे "मनुष्य को राष्ट्रीय जीवन में सफल भागीदार बनने के लिए अपने सब गुणों के नियोजन की प्रेरणा प्राप्त होती है।"

फासिस्टवाद के ये मूल-विचार सरकार-विषयक ढांचे और नीति-संबंधी फासिस्ट सिद्धांतों का निश्चय करते हैं कि राष्ट्र के किसी एक व्यक्ति अथवा सभी सदस्यों से राष्ट्र का महत्व अधिक है और राष्ट्र-हित सब तरह के निजी हितों से हमेशा ही प्रबल होगा। यह समर्थन किया जाता था कि राजनीतिक-अधिकार-शक्ति को कुलीनतंत्री होना चाहिए क्योंकि "राष्ट्र की केवल एक अल्प-संख्या में ही राष्ट्रीय हितों का निर्धारण करने तथा उन्हें क्रियान्वित करने की योग्यता है।" इसके साथ ही उसे स्वेच्छाचारी भी होना चाहिए यदि उसे सम्मान की भावना उत्पन्न करनी है और आज्ञा-पालन कराना है। यह दावा किया जाता था कि प्रभु-सत्ता लोगों में निहित नहीं प्रत्युत राष्ट्र-राज्य में है, और केवल थोड़े-से चुने हुए व्यक्तियों को ही राष्ट्र की ओर से बोलने का अधिकार है। राष्ट्र के वे सर्वोच्च संरक्षक हैं, क्योंकि उनमें राष्ट्रीय-कल्याण के लिए निजी हितों का बलिदान करने की क्षमता है और वे अपने वंशागत चरित्र और सांस्कृतिक प्रशिक्षण के बल पर लक्ष्य तक पहुंचने का सही मार्ग अपना सकते हैं।

फासिस्टवादियों ने राजनीतिक मुद्दों की प्राप्ति के लिए साधन रूप में हिंसा का हमेशा ही समर्थन किया है। मुसोलिनी ने आवश्यकतानुसार क्रियात्मक एवं नैतिक रूप में संपत्ति-नाश और लोगों को अंगहीन करने तथा मार डालने का समर्थन किया। अगस्त १९२२ की आम हड़ताल का दमन कर लेने पर उसने कहा था, "लगातार ४८ घंटे तक विधिपूर्वक हिंसा का प्रयोग करने के बाद हमें वह परिणाम हासिल हुए, जो हमें ४८ वरसों में उपदेशों और प्रचार से प्राप्त नहीं हो सकते थे।" क्रांति काल में जिस हिंसा-नीति को अपनाया गया था, वह घर और बाहर मुसोलिनी की आधार-मूलक नीति बनी रही। उसका मंत्र यह था कि जो आदमी नृशंस अत्याचारी नहीं बन सकता या नहीं बनना चाहता, वह राज्य का मुखिया बनने लायक नहीं है। एक शासक को अपनी सरकार की प्रतिष्ठा और दृढ़ता के लिए आवश्यकतानुसार किसी भी हद तक बल-प्रयोग करना ही चाहिए, जिससे "राष्ट्र के आर्थिक जीवन में व्यवस्था और योग्यतापूर्ण प्रक्रिया स्थिर रहे।"

फासिस्टवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का शत्रु है। यह दावा करता है, "अन्तर्राष्ट्रीय-शांति कायरों का स्वप्न है'" और मुसोलिनी के कथनानुसार साम्राज्यवाद "जीवन का नित्य और अडिग नियम है।" उसने कई बार कहा कि इटली का विस्तार जीवन और मृत्यु का प्रश्न है। "हम चार करोड़ अपने तंग किन्तु पूजा-योग्य जलडमरुमध्य में सिकुड़े पड़े हैं.....। इटली का विस्तार होना चाहिए अथवा उसका अन्त।" यह युद्ध-प्रचार ही तो कहलाएगा। १९२५ में मुसोलिनी ने कहा था, "हम पर यह आरोप लगाया गया है कि हमने अपने राष्ट्र में युद्ध-विपयक अनुशासन प्रचलित किया है। मैं इसे मानता हूं और मुझे इसमें गौरव जान पड़ता है।"

फासिस्टवादी सब आर्थिक प्रश्नो पर राष्ट्रीय उपयोगिता के दृष्टिकोण से विचार करते थे। सपत्ति का उत्पादन और वितरण मुख्यतः राष्ट्र के विषय थे, व्यक्ति के साथ इनका सबंध नही था, क्योंकि राष्ट्र को आर्थिक और राजनीतिक रूप में दृढ़ होना चाहिए। "राष्ट्र की उत्पादनशील शक्तियो की सर्वाधिक सभव विधि से रक्षा होनी चाहिए, जिससे सिह-नागरिको के साधनों की पूर्ति हो सके और राष्ट्रीय बल का सरक्षण हो सके।" इसलिए, फासिस्टवादी देश के आर्थिक जीवन का प्रबध और नियमन करते थे, और दूसरी ओर व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और साहसिक व्यवसाय की स्वतन्त्रता को भी स्थिर रखते थे। फासिस्टवाद ने 'राम भरोसे नीति' और राज्य-स्वामित्व दोनो को अस्वीकार किया। सपत्ति के निजी स्वामित्व की स्वीकृति थी, क्योंकि आर्थिक स्वार्थ को उत्पादनशील कार्यवाही के लिए सबसे शक्तिशाली प्रलोभन माना जाता था। किन्तु इस स्वार्थ को राष्ट्रीय हित के समक्ष सदैव गौण रखना होता था। जब फासिस्टवादी सरकार को यह भान होता था कि राष्ट्रीय सुरक्षा और समृद्धि के कार्य में निजी प्रेरणा असफल रही हैं, तो उसे किसी भी समय और किसी भी रूप मे हस्तक्षेप करने का वैध अधिकार था।

नाज़ीवाद
(Nazism)

नाज़ीवाद का उदय (Rise of Nazism)—प्रथम युद्ध के बारे में कहा जाता था कि वह कुलीनतंत्र के विरुद्ध जनतंत्र की लड़ाई है। यह आशा की जाती थी कि शत्रुता समाप्ति के बाद विश्व जनतंत्री व्यवस्थाओ के उत्कर्ष के लिए सुरक्षित रूप धारण कर लेगा। किन्तु वर्सेलीज की सधि के बाद योरोप के लगभग तीन-चौथाई लोगों ने देखा कि जनतंत्री सरकारें या तो नष्ट हो चुकी हैं अथवा उनके नष्ट हो जाने का खतरा है। १९२२ में मुसोलिनी के प्रख्यात रोम-अधिकार के बाद सबसे पहले इटली ने सर्वहारा-राज्य प्रणाली का प्रयोग किया। १९२३ मे प्राइमो डि रिवरो को स्पेन का पिता घोषित किया गया। इसके बाद पराजित जर्मनी की बारी आई, जिसने विमार सविधान द्वारा ससार में वैधानिक सरकार का सर्वोत्तम नमूना पेश किया था।

लेकिन जर्मनी की अस्थिर आर्थिक और राजनीतिक स्थिति ने वैधानिक व्यवस्थाओं के लिए सतोषप्रद जलवायु की गुजायश नही रहने दी थी। न ही उसकी कोई जनतात्रिक परम्पराएं थी। वह वर्सेलीज की सधि की अपमानजनक शर्तों के कारण खिसिया रहा था। अपने उपनिवेशो के छिन जाने, नि शस्त्रीकरण के भारी कार्यक्रम को स्वीकार करने, संधि-द्वारा सरकारी तौर पर कई बरसों के लिए जर्मन हवाई-सेना के निर्माण पर प्रतिबध लगाए जाने और युद्ध विषयक बड़े बड़े मुआवजे चुकाने की शर्तों के कारण, जिसके लिए वह साधनहीन था, जर्मनी ने हीन-स्तर की अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का रूप धारण कर लिया था। तिस पर, जर्मनी मे पूर्णतया आर्थिक-सकट उत्पन्न हो चुका था। जर्मनी से सुवर्ण की निकासी और मुद्रास्फीति की विनाशकारी नीति के कारण मार्क के मूल्य में आश्चर्यजनक अवमूल्यन हो गया था और कीमतें बेहद चढ़ गई थी। चारो ओर बेरोजगारी फैल गई थी। १९३२ में यह सख्या ६ करोड़ की उच्च सख्या तक जा पहुची थी।

इन अवस्थाओं मे जर्मनी महज जनतत्री सविधान के साथ सतुष्ट नही था। उसे एक ऐसे अजेय नेता की आवश्यकता थी, भले ही वह उदार या प्रतिक्रियावादी हो, जो

अपने-अपने कामों पर चले गए।" यह चरम-सीमा थी। हिटलर जर्मनी का स्वेच्छाचारी शासक बन गया था। सरकार और दल के लिए उसी का प्रथम और अन्तिम वचन था। नाजीवाद का आदर्श था, एक रीश, एक जनता, एक नेता, और इस प्रकार उसने यह प्राप्त कर लिया था।

नाजी-सिद्धान्त (Nazi-Doctrine) —नाजीवाद ऐसा सिद्धान्त नहीं जिसकी कोई सुविचारित व्याख्या हो। न ही यह राज्य या सरकार के सिद्धान्त का दर्शन है। यह तो केवलमात्र एक आन्दोलन था, जो वर्सेलीज की संधि-शर्तों पर नाराजी के कारण उग्र-राष्ट्रवादियों को जंच गया और इसके अलावा वह जर्मनों की वंशागत राजनीतिकता और उनकी मनोदशा के भी अनुकूल ही था। हिटलर इतना शिक्षित व्यक्ति भी नहीं था, जो दर्शन एवं राजनीति के सिद्धान्तों का विश्लेषण कर पाता। उसने हेगल या हौस्टन चेंबरलिन की मौलिक रचनाओं को भी संभवतः नहीं पढ़ा था, किन्तु इतने पर भी "देशजन्य उपहारों से संपन्न था" और भावनाओं एवं उद्रेकों से व्यवहार करने में वह प्रवीण था। उसने महान् राष्ट्रीय परम्पराओं के लिए साहसपूर्वक कार्यवाही का प्रचार किया और उन्हें लोकप्रिय बनाया।

जर्मन-परंपरा के अनुसार नाजीवाद राज्य को श्रेष्ठ बनाता है और उसे सर्वोच्च अस्तित्व का रूप प्रदान करता है। "समुदाय एक प्रकार का कच्चा पदार्थ है, जिसमें से राज्य का निर्माण किया जाता है ; और उस क्रम में समुदाय प्रबल हो सकता है, लेकिन नाजी दल ने निरंतर जिस नारे को देश के सम्मुख रखा, वह यह था कि एक के हितों के पहले सबके हित हैं।" हिटलर के दर्शन के अनुसार " व्यक्ति का कोई महत्व नहीं, समुदाय ही सब कुछ है।" जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं था, जिसमें नाजी-राज्य का प्रवेश न हो। यह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और अभ्रांत राज्य था। राज्य की पूजा की यह भावना स्कूलों में, खेल के मैदानों में, क्लबों और सभाओं में, और वस्तुतः सर्वत्र पुष्ट की जाती थी। जब व्यक्ति का राज्य से अलग जीवन नहीं होता, तो वह पूर्णतया उसके अधिकार में हो जाता है। उसके कोई अधिकार नहीं होते, निजी प्रेरणा और स्वेच्छा की भी उसे कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। "उसे सुव्यवस्थित राज्य के आदेशों के अनुपालन में ही अपना आशय और सुख खोजना होता है। नाजियों के इस प्रचार में हमें Sittilic keit पर हेगल के उपदेशों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।" हिटलर कर्तव्य, अनुशासन और बलिदान की पूजा करता था। यह तो अतिविशिष्ट रूप में मानव-जीवन का सैनिकीकरण है, और इस विषय में उचित ही कहा गया है कि इससे जर्मनी तो महान बना, लेकिन जर्मन लोग छोटे।

जब राष्ट्र को गौरवान्वित किया जाता है, और राज्य का चारित्रिक रूप साहस और शक्ति हो, तो स्पष्ट परिणाम युद्ध होता है। हिटलर और उसके अनुयायियों ने खुले-आम युद्ध का प्रचार किया। उन्होंने शक्ति और हिंसा को बढ़ावा दिया और आक्रांता के प्रति वह सिर झुकाते थे। इस तरह नाजीवाद ने विजयी तलवार का प्रचार एवं प्रयोग किया। हिटलर ने कहा था, "जिसे जीवित रहना है उसे लड़ना होगा। इस संसार में जो लड़ना नहीं चाहता, उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं। भले ही ये शब्द अत्यधिक कठोर लगें, लेकिन वस्तु-स्थिति यही है।" विश्वविद्यालयों का कार्य क्रियात्मक विज्ञान की शिक्षा देना नहीं था, "बल्कि सैनिक, युद्ध-इच्छुक, योद्धा तैयार करना था।" हिटलर ने साहस और

शक्ति के अपने सिद्धान्त को राईनलैंड के सैनिकीकरण, लोकार्नो संधि को अस्वीकार करने, और अन्ततः १९३८ में जेकोस्लोवाकिया पर विजय करके प्रदर्शित किया था। उपरांत सितंबर १९३९ में जर्मनी और रूस द्वारा पोलेंड को अधिकृत करने की घटना हुई।

हिटलर का जर्मनी अतिविशिष्ट राज्य था। इसके दो अर्थ थे। प्रथमतः, यह वंश की पवित्रता, भाषा की पवित्रता और साहित्य की पवित्रता का समर्थन करता था। नाजीवाद के मतानुसार "जर्मनी में जर्मनों के सिवा कोई भी मानव प्राणी नहीं रह सकता।" नाजियों के इस उग्र समाजवाद को धर्म और सिद्धान्त रूप में जर्मन-पूजा की गहन भावना के साथ इस भाव में जोड़ा जा सकता है कि जर्मन-स्त्री ही विशुद्ध वलिष्ठ नस्ल के बच्चों को जन्म दे सकती है और वही विशुद्ध वलिष्ट नस्ल की रक्षिका है।

द्वितीयतः, राज्य की अतिविशिष्टता का अर्थ आर्थिक स्व-निर्भरता की प्राप्ति है। नाजी राष्ट्रीय एकता और संगठन के नाम पर आर्थिक स्व-निर्भरता पर बल देते थे। नाजियों की आर्थिक नीति न तो विशुद्ध पूंजीवादी थी, न ही समाजवादी। क्योंकि दोनों ही मत राष्ट्र को विरोधी दलों में विभाजित करते हैं। सामान्य कल्याण को निजी हितों से ऊपर रखा जाता था। पूंजीपतियों और श्रमिकों का राज्य के नाम पर नियंत्रण किया जाता था। वृहद् उद्योगों को निजी उपक्रम के अधीन रहने दिया गया था। लेकिन उत्पादन का स्तर एवं परिमाण राज्य द्वारा निश्चित होता था। श्रम का कोई अलग संगठन नहीं था और हड़तालें तथा तालाबंदियें कानून द्वारा निषिद्ध थीं। पगारें और कीमतें नियत थीं। सब वस्तुओं का नियंत्रण था और उनका राशन किया गया था। आयात और निर्यात सरकार की अनुमति से होता था।

नाजीवाद लोकतन्त्र का विरोधी रूप है। हिटलर के मतानुसार लोकतन्त्र गंदी-मली लाश है, क्योंकि यह "मूर्ख, भ्रष्ट, और मंद गति है।" यह कहा जाता था कि विधान-सभाएं विवाद की दुकानें हैं, जिनसे कोई नतीजा हासिल नहीं हो सकता और संकटकाल में ये सर्वथा असहाय होती हैं। तदनुसार नाजीवाद राजनीतिक विरोध को सहन नहीं करता था और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी था। व्यक्तिगत स्वाधीनता को भूतकाल का भ्रम माना जाता था। ६ जुलाई १९३३ को हिटलर ने सगर्व घोषणा की थी, "राजनीतिक दलों का अब पूर्णतया लोप हो गया है। यह एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है, जिसके महत्व और सफल प्रभावों को अनेक अवस्थाओं में अभी सब कोई नहीं समझ सकते। अब हमें लोकतंत्र के आखिरी बंधनों से पिंड छुडाना है, खासकर मतदान और बहुमत द्वारा निर्णय करने की विधि। . . . अब (नेशनल समाजवादी) दल ने राज्य का रूप धारण कर लिया है।"

नाजी प्रचार के अनुसार यह दल राज्य और तानाशाही का अधिकृत प्रतिनिधि था। इटली और जर्मनी दोनों में नेतृत्व का सिद्धान्त ऊपर से था। नेशनल समाजवादी दल के विधान का न केवल यह आशय था प्रत्युत यह उसका सिद्धान्त भी था। हिटलर दल का, सरकार का, और सेना का मुखिया था। यह नाजी-नेतृत्व के विचारों के साथ मेल खाता था। कुछ लोग नेता बनने के लिए जन्मते हैं और बाकी अनुसरण के लिए। नेता के आज्ञापालन को पवित्र कर्तव्य माना जाता था और अनुशासन तथा प्रचार की कलाओं द्वारा कठोरतापूर्वक इसे प्रचलित किया जाता था। "एक रीश, एक जनता, एक नेता" के आदर्श के सामने क्यों और कैसे का प्रश्न नहीं था। हिटलर का आदेश था : कर्तव्य, अनुशासन

और बलिदान जर्मन-नागरिकों का मंत्र होना चाहिए। हिटलर की पूजा ही धर्म बन गया। प्रो० अर्स्ट बर्गमन ने लिखा था : "आज हम जर्मन धर्म के लोग उस प्राचीन बलिष्ट आर्य-श्रेष्ठता की ओर मुड़ते हैं, और ईसाई पादरियों तथा गिर्जाघरों द्वारा चित्रित भ्रमपूर्ण एवं मृत ईसा के चित्र से विमुख होते हैं। नव-जर्मन नस्ल का उच्च उपदेष्टा स्वतः हिटलर है। वह वस्तुतः देवदूत है। वह एकाकी है। परमात्मा भी एक है। हिटलर परमात्मा के समान है। हिटलर अभिनव, महान, और शक्तिशाली ईसा है।"

स्कूलों, अभिनय-मंचों, सिनेमाओं, रेडियो, पत्रों में सर्वत्र हिटलर-पूजा का प्रचार किया जाता था। "बच्चे जब स्कूल से लौटते थे, तो मां-बाप बच्चों का "हिटलर जिन्दाबाद" कह कर स्वागत करते थे। प्रत्येक जर्मन दिन में ५० से १५० बार इन शब्दों का प्रयोग करता था।" नाजी स्कूलों की पाठ्य-पुस्तक में बच्चों को यह पाठ अवश्य पढ़ना होता था :

"हमारा नेता, हिटलर है।
हम तुमको प्यार करते हैं।
हम तुम्हारे लिए शुभ-कामना करते हैं।
हम तुम्हारे उपदेश सुनना चाहते हैं।
हम तुम्हारे लिए काम करते हैं।
जिन्दाबाद।"

Suggested Readings

Asirvatham, E.—Political Theory Chap. XIII and pp. 447-472.
Barker, E.—Political Thought in England from 1848-1914 Chaps. I, III.
Bradley, F. H.—Ethical Studies, Chap : My Station and Duties.
Brown, I.—English Political Theory, Chap. XI.
Coker, F. W.—Recent Political Thought Chaps. XV, XVII
Florinsky, M. T.—Fascism and Natural Socialism.
Follet, M. P.—The New State.
Garner, J. W.—Introduction to Political Science, pp. 273-298.
Green, T. H.—Lectures on the Principle of Political Obligation.
Hitler, A.—Mein Kamph.
Joad, C. E. H.—Introduction of Modern Political Theory, Chaps. I, II.
Laski, H. J.—Authority in the Modern State.
Lord, A. R.—Principles of Politics, Chap. XI
Mussolini, B.—The Political and Social Doctrine of Fascism.
Rockow, E.—Contemporary Political Thought in England, Chaps. II, III, IV, X.
Sabine, G. H.—A History of Political Theory, Chaps. XXX, XXXI, XXXIV.

अध्याय : : २६

राज्य-कार्यक्षेत्र के सिद्धांत (२)

(Theories of the Sphere of State Activity) *Contd.*

समाजवाद (Socialism) समाजवाद उन्नीसवी सदी के व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक अवरोध है। यह समाज की उस प्रणाली की कल्पना करता है जो निजी सपत्ति का उन्मूलन करके उसकी जगह सामूहिक या जातीय स्वामित्व की स्थापना करेगी। बर्टरंड रस्सल के कथनानुसार, जातीय-स्वामित्व का आशय किसी भी जनतान्त्रिक-राज्य के स्वामित्व से हो सकता है, "किन्तु इससे यह प्रतिपादित नही हो सकता कि इसमें ऐसे किसी राज्य के स्वामित्व का भी समावेश है कि जो जनतान्त्रिक नही।"[1] अराजकतावादियों (Anarchists) की मान्यता के समान जातीय स्वामित्व का यह भी अर्थ हो सकता है कि समुदाय में ऐसे व्यक्तियों के स्वतत्र सगठनो का स्वामित्व हो, जो ऐसी अनिवार्य शक्तियों से रहित हों, जो राज्य के आयोजन के लिये आवश्यक हो। कतिपय समाजवादी जातीय स्वामित्व से अत्यधिक वेगपूर्ण क्रांति के साथ एकाएक और पूर्णतया लक्ष्य तक पहुंचने की आशा करते है, जबकि अन्य सरकार की वर्तमान पार्लमिंट्री व्यवस्थाओं द्वारा धीरे-धीरे एव क्रमशः उसके आने की आशा करते है।

उत्तर-कथित "सनातन" या क्रांतिकारी समाजवादी कहलाते है, और वे साम्यवादियों, अराजकतावादियों और श्रम-सघवादियो को अपने मे शामिल करते है। जो लोग विकास द्वारा समाज के क्रमशः परिवर्तन मे विश्वास करते है, वह राज्य समाजवादी है। कुछेक ऐसे है, जो मध्य मार्ग अपनाते है। क्रातिकारी या परिवर्तनकारी समाजवादियो में अन्तर मुख्यतः उन विधियों का है, जिनसे वह जातीय-स्वामित्व की अवस्थाओं को उत्पन्न करने की इच्छा करते है और साथ ही जिस प्रकार के जनतत्र को वे स्थापना करना चाहते है। राज्य समाजवादी शासन-क्षेत्र मे वैधानिक जनतत्र से ही सतुष्ट है। वह राज्य को एक आवश्यक दूषण नही मानते। राज्य उनके लिये सर्वोच्च एवं निश्चित कल्याण है, जिसका ध्येय समष्टि रूप मे जनता के सर्वमान्य आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक और बौद्धिक हितों की उन्नति करना है। इस प्रकार यह उस सिद्धात और राजनीतिक आदोलन की संस्था का समर्थन है, जिसके मुद्दे ऐसे राज्य के आकार के अन्तर्गत नई सामा-

रण के सारे साधन

दी वह है, जो राज्य

मानवता के उत्कर्ष मे

सहायक की दृष्टि से देखता है।"

दूसरी ओर, अराजकतावादी और श्रम-सघवादी आदि से अन्त तक राज्य और उसकी वैधानिक व्यवस्थाओ के विरुद्ध है। फलतः वह उससे पिंड छुडाना चाहते है, क्योंकि भविष्य में राज्य का जो भी रूप होगा अथवा हो सकता है, वह अनावश्यक एव अन्यायपूर्ण

1. Roads to Freedom, p. 23.

होगा। साम्यवादी भी समाजवाद की चरम-सीमा में राज्य से पिंड छुड़ा लेंगे। किंतु वे परिवर्तन-काल में इसके जारी रहने को महत्वपूर्ण स्तर मानते हैं। क्रांति के बाद साम्यवादी राज्य अपनी वैधानिक व्यवस्थाओं से वंचित हो जायगा और सर्वाधिकारी ढंग की क्रांतिकारी तानाशाही उसकी जगह ले लेगी और वह तानाशाही पूंजीवाद का अन्त करने के लिए निरंकुश एवं दमनकारी अधिकारों से संपन्न होगी। इस प्रकार, राज्य का तो तब स्वतः ही 'लोप' हो जायगा, जब समाजवाद के विरोधियों का दमन हो जायगा और सारा समाज एक स्तर पर खड़ा होगा। गण-समाजवादी (Guild-Socialists) समाज के वर्तमान राजनीतिक ढांचे की निन्दा करते हैं। उनका उद्देश्य वैधानिक व्यवस्थाओं को वस्तुतः प्रतिनिध्यात्मक बनाने के लिए पुनः निर्मित करना है और उद्योग का नियंत्रण उत्पादकों के जनतंत्र के हाथों में सौंपना है। उनकी योजना जनतांत्रिक और विकेंद्रित राज्य की स्थापना हेतु है।

इस भांति, समाजवादियों के वर्गों में बहुत बड़ी मात्रा में मत-भेद और भ्रम है। वह अनेक मतों में विभाजित हैं और हर मत का अपना निजी दर्शन है, जिसका विशिष्ट नाम है, और वह अपने निजी दृष्टिकोण के प्रसार का समर्थन करते हैं। चूंकि समाजवाद के समर्थकों की बहुत बड़ी संख्या है, और तद् विषयक साहित्य भी बहुत और विरोधात्मक है, इसलिए यह कहना अत्यधिक कठिन है कि समाजवाद सही-सही रूप में किन तत्वों द्वारा संयोजित है। जोड ने ठीक ही कहा है, समाजवाद की "दशा एक ऐसे टोप के समान है, जिसकी शक्ल बिगड़ चुकी है, क्योंकि उसे हर कोई पहनता है।" जो भी हो, सभी समाजवादी इस बारे में एकमत हैं कि पूंजी और पगार-प्रणाली ही वह साधन है, जिससे पूंजीपति नियोजक के हितार्थ श्रमिक का शोषण किया जाता है। इसके अलावा उनका यह भी मत है कि जातीय स्वामित्व का एक या अन्य रूप श्रमिक-वर्ग की अवस्था को उन्नत करने का एकमात्र साधन है। साथ ही उनका यह भी लक्ष्य है कि समाज में सब तरह के विशेषाधिकारों को नष्ट कर दिया जाय और संपत्ति के वितरण और स्वत्व के विषय में सब तरह की कृत्रिम असमानताओं का भी उन्मूलन कर दिया जाय।

इस प्रकार, समाजवाद राजनीतिक सिद्धांत इतना नहीं जितना एक आर्थिक सिद्धांत है। किन्तु आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांत इतनी घनिष्ठतापूर्वक परस्पर जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग करना न तो क्रियात्मक है, और न ही वांछनीय। समाजवाद की कोई भी परिभाषा तब तक पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक वह वर्तमान समाज के आलोचक रूप में इसे ग्रहण नहीं करती। राजनीतिक आन्दोलन की यह एक दार्शनिक विचारधारा है, जिसका उद्देश्य उत्पादन, विभाजन, और विनिमय के साधनों का समाजीकरण करना है, उन्हें समुदाय के हित के लिए नियंत्रित करना होगा। और श्रम को पूंजीवाद तथा जमींदारी प्रथा के प्रभुत्व से पूर्ण मुक्ति दिलानी होगी, और उसके साथ ही यौन-विषयक सामाजिक और आर्थिक समानता की स्थापना करनी होगी।"[1] समाजवादियों का आदर्श गरीबी, दीनता और अपराध तथा अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना है, जिनसे वर्तमान समाज पीड़ित है, और ऐसी नवीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें सबके लिए समान अवसर होगा।

समाजवाद का उदय (Rise of Socialism)—कार्ल मार्क्स को विश्वव्यापी

होगा। साम्यवादी भी समाजवाद की चरम-सीमा में राज्य से पिंड छुड़ा लेंगे। किंतु वे परिवर्तन-काल में इसके जारी रहने को महत्वपूर्ण स्तर मानते हैं। क्रांति के वाद साम्यवादी राज्य अपनी वैधानिक व्यवस्थाओं से वंचित हो जायगा और सर्वाधिकारी ढंग की क्रांतिकारी तानाशाही उसकी जगह ले लेगी और वह तानाशाही पूंजीवाद का अन्त करने के लिए निरंकुश एवं दमनकारी अधिकारों से संपन्न होगी। इस प्रकार, राज्य का तो तव स्वत: ही 'लोप' हो जायगा, जव समाजवाद के विरोधियों का दमन हो जायगा और सारा समाज एक स्तर पर खड़ा होगा। गण-समाजवादी (Guild-Socialists) समाज के वर्तमान राजनीतिक ढांचे की निन्दा करते हैं। उनका उद्देश्य वैधानिक व्यवस्थाओं को वस्तुत: प्रतिनिध्यात्मक वनाने के लिए पुन: निर्मित करना है और उद्योग का नियंत्रण उत्पादकों के जनतंत्र के हाथों में सौंपना है। उनकी योजना जनतांत्रिक और विकेंद्रित राज्य की स्थापना हेतु है।

इस भांति, समाजवादियों के वर्गों में वहुत वड़ी मात्रा में मत-भेद और भ्रम है। वह अनेक मतों में विभाजित हैं और हर मत का अपना निजी दर्शन है, जिसका विशिष्ट नाम है, और वह अपने निजी दृष्टिकोण के प्रसार का समर्थन करते हैं। चूंकि समाजवाद के समर्थकों की वहुत वड़ी संख्या है, और तद् विषयक साहित्य भी वहुत और विरोधात्मक है, इसलिए यह कहना अत्यधिक कठिन है कि समाजवाद सही-सही रूप में किन तत्वों द्वारा संयोजित है। जोड ने ठीक ही कहा है, समाजवाद की "दशा एक ऐसे टोप के समान है, जिसकी शक्ल विगड़ चुकी है, क्योंकि उसे हर कोई पहनता है।" जो भी हो, सभी समाजवादी इस वारे में एकमत हैं कि पूंजी और पगार-प्रणाली ही वह साधन है, जिससे पूंजीपति नियोजक के हितार्थ श्रमिक का शोषण किया जाता है। इसके अलावा उनका यह भी मत है कि जातीय स्वामित्व का एक या अन्य रूप श्रमिक-वर्ग की अवस्था को उन्नत करने का एकमात्र साधन है। साथ ही उनका यह भी लक्ष्य है कि समाज में सव तरह के विशेषाधिकारों को नष्ट कर दिया जाय और संपत्ति के वितरण और स्वत्व के विषय में सव तरह की कृत्रिम असमानताओं का भी उन्मूलन कर दिया जाय।

इस प्रकार, समाजवाद राजनीतिक सिद्धांत इतना नहीं जितना एक आर्थिक सिद्धांत् हैं। किन्तु आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांत इतनी घनिष्ठतापूर्वक परस्पर जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग करना न तो क्रियात्मक है, और न ही वांछनीय। समाजवाद की कोई भी परिभाषा तव तक पूर्ण नहीं हो सकती, जव तक वह वर्तमान समाज के आलोचक रूप में इसे ग्रहण नहीं करती। राजनीतिक आन्दोलन की यह एक दार्शनिक विचारधारा है, जिसका उद्देश्य उत्पादन, विभाजन, और विनिमय के साधनों का समाजीकरण करना है, उन्हें समुदाय के हित के लिए नियंत्रित करना होगा। और श्रम को पूंजीवाद तथा जमींदारी प्रथा के प्रभुत्व से पूर्ण मुक्ति दिलानी होगी, और उसके साथ ही यौन-विषयक सामाजिक और आर्थिक समानता की स्थापना करनी होगी।"[1] समाजवादियों का आदर्श गरीवी, दीनता और अपराध तथा अन्य सामाजिक वुराइयों को दूर करना है, जिनसे वर्तमान समाज पीड़ित है, और ऐसी नवीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें सवके लिए समान अवसर होगा।

समाजवाद का उदय (Rise of Socialism)—कार्ल मार्क्स को विश्वव्यापी

रूप में वैज्ञानिक समाजवाद का पिता माना जाता है और समाजवाद के सभी वर्ग उससे प्रेरणा प्राप्त करते है। मार्क्स से पहले भी कुछ लेखकों ने समाज की विद्यमान व्यवस्था के विरुद्ध विरोध प्रकट किया था। उन्होंने एक ऐसे समाज की रूप-रेखा चित्रित की थी, जिसमें संपत्ति को अन्यों के साथ साझे रूप में ग्रहण करना था। प्लेटो ने सर्वप्रथम साम्यवाद का प्रचार किया था और उनके साम्यवाद के दो मुख्य रूप हो जाते हैं। प्रथम यह, शासकों के लिए निजी संपत्ति का निषेध, चाहे मकान, भूमि या द्रव्य हो। दूसरा यह, कि यथासंभव बच्चों की प्राप्ति के उद्देश्य से स्थायी रूप में एक पत्नी परिवार का उन्मूलन। किन्तु प्लेटो का साम्यवाद केवल प्रभु वर्ग, अर्थात् सैनिकों और शासको पर ही लागू होता है, और दूसरी ओर श्रमिकों को उनके परिवारों तथा संपत्ति के साथ रहने दिया जायगा। इसके अतिरिक्त, दासों के विषय में भी उन्होंने कुछ चर्चा नहीं की। न ही प्लेटो अपनी योजना को अधिक विस्तृत करने का कष्ट उठाता है।

प्राचीन ईसाई गिर्जाघर के सिद्धांतो में अनेक समाजवादी तत्व और भूमि-धारणाधिकार की मध्यकालिक प्रणाली का समावेश है। अलावा इसके उनमें व्यापार-संघों का भी उल्लेख है। प्रोटेस्टेंटों के सुधार के बाद जो किसान-विद्रोह हुआ था, वह स्पष्टतया समाजवादी रूप का था। उन्नीसवी सदी के प्रथम अर्द्ध में रावर्ट ओवेन और संट थामस फाउरिर जैसे समाजवादी लेखकों ने आदर्श समुदायों के निर्माण द्वारा अपने आदर्शों को सक्रिय रूप देने की चेष्टा की थी। किंतु वे सब आदर्श सपनों की ही दुनिया में लीन रहे। ओवेन और फाउरिर के समान ही उनमें से अधिकाश ने सोचा होगा कि उनका तो केवल इतना ही काम है कि वे अपनी योजनाओं की पूर्णता के बारे में मानव-समाज को आश्वस्त कर दें, और उसके बाद तो मानव-समाज उन्हें सक्रिय रूप देने की प्रबल-इच्छा के साथ स्वतः जुट जायगा।

कार्ल मार्क्स का समाज के सिद्धांत में योगदान (Karl Marx's contribution to the Theory of Socialism)—समाजवाद पर कार्ल मार्क्स का निबंध १८४८ में प्रकाशित साम्यवादी घोषणा-पत्र और समाजवादियों द्वारा 'पवित्र उपदेश" या बाईबल के नाम से पुकारे जाने वाले 'कैपिटल' ग्रंथ के तीन संस्करणों में पाया जाता है।

कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंजल्स (१८२०-१८९५) को समाजवादी सिद्धांत और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आदोलन के निर्माण का श्रेय है। समूचे योरोप में इसका विस्तार

घोषणा-पत्र सबसे ज्यादा पढ़ा जाता है, और संसार की प्रायः सभी सभ्य भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। "इसमें भूतकालीन आर्थिक वर्ग-संघर्षों के बारे में मार्क्स की विचारधारा का अत्यन्त स्पष्ट रूप में वर्णन है। वर्तमान बुर्जुआ-सर्वहारा वर्ग के संघर्ष, कम्युनिस्टों के विरुद्ध चलाये जाने वाले वर्तमान आदोलन और घटनाचक्र के साथ-साथ अपने प्रयत्नों को ठीक दशा में मोड़ने के श्रमिक वर्ग के प्रयत्नों का भी वर्णन है।"

मार्क्सवादी सिद्धांतो को अति संक्षेप में तीन रूपों में प्रकट किया जा सकता है : (१) इतिहास की भौतिकवादी धारणा; (२) पूंजी के केंद्रीयकरण का

वर्ग-युद्ध। मार्क्स की 'पूंजी' (Capital) नामक महत्वपूर्ण रचना का पहला खंड १८६७ में प्रकाशित हुआ था, और शेष दो खंड १८८५ और १८९४ में प्रकाशित हुए। इसमें मूल्य-आधिक्य (Surplus Value) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है, जो पूंजीवादी शोषण की वास्तविक यांत्रिकता की व्याख्या करता है। मूल्य आधिक्य के सिद्धांत का शुद्ध सिद्धांत में योगदान न के बराबर है। इस सिद्धांत में तो मार्क्स की घृणा ही प्रतिबिम्बित हो रही है, जो उसे उस प्रणाली के प्रति थी जो कि मनुष्यों को दिन-रात काम की चक्की में पीस कर धन इकट्ठा करती रहती है और इसके प्रशंसक भी इसे इसी रूप में लेते हैं न कि एक नि:स्वार्थ विश्लेषण के रूप में।[1]

मार्क्स के मुख्य सिद्धांत कोई नये नहीं थे। उसने तो पुरातन विचारों को अत्यधिक विस्तृत और विधिवत् रूप प्रदान किया। उसने उन सब विचारों की बिखरी हुई शृंखलाओं को एकत्र किया और उन्हें दार्शनिक, वैज्ञानिक और प्रभावकारी रूप में पेश किया। उसकी मौलिकता अंशत: सर्वहारावर्ग को उसकी अपील में तथा अंशत: इस बात में दृष्टिगोचर होती है, कि उसने कर्मकरों को अपने नियोजकों के विरुद्ध संगठित कार्रवाई के लिए प्रेरित किया। इस दिशा में उसका योगदान है कि उसने आर्थिक घटनाओं के साथ इतिहास को जोड़ने और समाजवादी प्रक्रिया के विकासात्मक क्रांतिकारी चरण के नतीजों को खोजने की चेष्टा की। उसने यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि समाजवादी कार्यक्रम सामाजिक विकास की विधिवत् व्याख्या और उत्पादन तथा विनिमय की विद्यमान प्रणाली की कड़ी आलोचना पर आधारित होना चाहिए।" अति विशिष्ट रूप में उनका आशय यह दिखाना था कि पूंजीवादी नींवों पर एक समाजवादी समुदाय क्योंकर बनाया जायगा।"[2] यद्यपि मार्क्स ने अपने विचार-विमर्शों को ध्येयात्मक और प्रेरणात्मक कहा था तथापि यह मानना ही होगा कि उसकी सारी-की-सारी रचनाओं पर आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की विद्यमान प्रणाली पर पूर्व-निर्धारित प्रहारों का प्रभुत्व दिखाई देता है। अब हम मार्क्स के सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे :

मूल्य-आधिक्य का सिद्धान्त (The Theory of Surplus Value)—मार्क्सवाद में केंद्रीय विचार उनका मूल्य-आधिक्य का सिद्धांत है। यहां वह डेविड रिकार्डो के मूल्य के प्राचीन श्रम सिद्धांत से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। मार्क्स का मत था कि श्रम ही मूल्य का एकमात्र स्रोत है। वह प्राचीन अर्थशास्त्रियों के साथ सहमत थे कि किसी पदार्थ का बाजार-मूल्य मांग और पूर्ति पर निर्भर करता है, किन्तु दीर्घकाल में किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन पर खर्च हुए श्रम काल द्वारा निश्चित होता है। कार्ल मार्क्स ने पदार्थों की श्रम के जमे हुए रूप में व्याख्या की है, और मूल्य को वह "स्फटिक श्रम" मानते थे। किसी पदार्थ में श्रम का समावेश उसे मूल्य प्रदान करता है। किन्तु श्रम को "सामाजिक रूप में अनिवार्य" होना चाहिए। इसका आशय दो बातों से है। प्रथमत:, श्रम को ऐसे साधनों का उपयोग करना होगा, जिनके बिना वह काम नहीं कर सकता। ये साधन हैं:—कारखाने, मशीनें, बिजली और वाष्प शक्ति आदि। द्वितीयत:, वस्तुओं को ऐसे परिमाण में उत्पन्न करना होगा कि उन्हें सहज ही बेचा जा सके। यदि बाजार उत्पादित

1. Bertrand Russell, op. citd., p. 38.
2. Coker, op. cit., p. 41.

सब वस्तुओं को नही खरीदता, तो इस प्रकार की उत्पन्न की हुई वस्तुओं पर खर्च किया श्रम व्यर्थ हो जाता है।

कार्ल मार्क्स का कथन है कि श्रम एक पदार्थ है और इसका भी मूल्य अन्य किसी पदार्थ के समान निश्चित होता है। कहने का आशय यह है कि इसका विनिमय-मूल्य पदार्थ के उत्पादन और उसकी रक्षा के लिए आवश्यक श्रम द्वारा नियत होता है; अथवा दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक पदार्थो पर निर्भर है कि वह कितने मजदूरों को सहारा दे सकेंगे। मजदूर को इतनी पगारें मिलनी ही चाहिएं कि जिनसे वह अपना और अपने परिवार के खर्चो को पूरा कर सके। किन्तु पूजीवादी समाज मे वास्तविक रूप मे यह होता नही है और मजदूरो को अपने जीवन-स्तर से अत्यधिक कम पगारें मिलती है। इसके कारण स्पष्ट हैं। समाज के वर्तमान ढाचे में उत्पादन के साधनों—मशीनों, औजारों, और सामानो, जिन पर श्रम को नियोजित किया जा सकता है—का स्वामित्व सापेक्षतः एक छोटे वर्ग का है, जिसे पूजीवादी वर्ग कहते है, और जो नियोजक या मालिक है। मजदूरो के पास केवल काम करने की योग्यता है, जिसे वह पूंजीवादियों को बेचते हैं और जिसके लिए वह पगारें प्राप्त करते हैं। किन्तु पदार्थो से जो कीमत आती है, उनकी पगारों के साथ उनका कोई अनुपात नही है। पूजीवादी वर्ग जानता है कि श्रम अत्यधिक नाशवान पदार्थ है और उसमे अन्य अनेक अयोग्यताएं भी है। श्रम की अयोग्यताएं मालिक के लिए लाभ हैं, क्योकि उसके लिए जो शहद है, वह श्रमिक के लिए विष है। उसे कम पगारे देकर नियोजक अपने लाभों में वृद्धि करता है। पदार्थ के विनिमय मूल्य और श्रमिक की पगारो के बीच जो अन्तर है, कार्ल मार्क्स उसे मूल्य-आधिक्य (Surplus Value) कहते है। जो मूल्य आधिक्य श्रम को मिलना चाहिए था, उसका भोग पूजीवादी करते हैं। वस्तुतः, यह भुगतान-रहित श्रम का उत्पादन है और मार्क्स इसे विशुद्ध एव सरल शोषण का रूप बतलाते हैं।

श्रम के इसी शोषण को कार्ल मार्क्स दूर करना चाहते थे। उनकी सम्मति मे, आधुनिक राज्य पूजीवादी वर्ग के हाथ मे एक कठपुतली है और वह अपने निहित स्वार्थों की रक्षा और वृद्धि के लिए उसका उपयोग करता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार इन अवस्थाओं के अन्त करने का केवल यही मार्ग है कि निजी साहसिक उद्योग और स्वतन्त्र प्रतियोगिता के सब अवसरो को नष्ट कर दिया जाय। यह परिणाम केवल समाजवादी राज्य के अधीन प्राप्त हो सकता है, "जहा सम्मिलित पूजी निजी पूजी का स्थान ले लेगी, पूजीवादियो और पगार पाने वालों का लोप हो जायगा, और सभी व्यक्ति सहकारिता भाव से निर्माता बन जायेंगे।"

इतिहास की भौतिकवादी धारणा (The Materialist Conception of History)—इसके बाद मार्क्स पूजीवादी समाज कैसे सगठित हुआ, इसकी खोज करते हैं। इसका स्पष्टीकरण उन्हें इतिहास मे मिलता है और वह अपने सिद्धात को इतिहास की भौतिकवादी धारणा का नाम देते है। इस सिद्धात के अनुसार, ऐतिहासिक घटनाओ की, जीवन की भौतिक अवस्थाओं की दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। मार्क्स कहते है, "वैध-संबंधो और साथ-साथ राज्य के रूपों को न तो स्वतः उनके द्वारा समझा जा सकता है, न ही मानव-मस्तिष्क की सामान्य प्रगति द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है, बल्कि वह तो

जीवन की भौतिक अवस्थाओं के मूल में स्थिर होती हैं। .... भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विधियों के सामान्य स्वरूप का निश्चय करती है। यह मनुष्यों की चेतना नहीं है, जो उनके अस्तित्व का निश्चय करती है, प्रत्युत इसके विपरीत, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निश्चय करता है।" प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाएं उसके सामाजिक आकार, व्यापार और उद्योग, कला और दर्शन, और रीतियां, आचरण, परम्पराएं, नियम, धर्म और नैतिकता, मार्क्स के अनुसार, जीवन की भौतिक अवस्थाओं द्वारा प्रभावित और रूप धारण करते हैं। जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उनका आशय वातावरण, उत्पादन, वितरण और विनिमय से है; और उनमें भी उत्पादन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। "इस प्रकार आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक चरण के अनुक्रम में एक समुचित राजनीतिक रूप और समुचित वर्ग का आकार है।" इसलिए मार्क्स की दार्शनिकता इतिहास का सिद्धांत है, जो विकास के स्वाभाविक रूप को उपस्थित करता है।

वह अपने सिद्धांत को विशेषत: दो क्रांतियों पर लागू करते हैं, एक तो भूतकाल की, और दूसरी भविष्य की। भूतकाल की क्रांति सामंतवादियों के विरुद्ध वुर्जुआवादियों की थी, और मार्क्स के अनुसार यह फ्रांस की क्रांति में दिखाई दी। मार्क्स जिस भावी क्रांति की भविष्यवाणी करता है वह वूर्जुओं के विरुद्ध सर्वहारा या पगार-उपार्जकों की होगी। "यह क्रांति समाजवादी कामनवैल्थ की स्थापना करेगी।" जिन शस्त्रों से वूर्जुआवादियों ने सामंतवाद को धराशायी किया था, वही अब वूर्जुओं के विरुद्ध प्रयुक्त होने लग गए हैं। न केवल यह कि वूर्जुआवाद ने उन शस्त्रों का ही निर्माण किया है कि जो उसकी मृत्यु का कारण होंगे, प्रत्युत उसने उन मनुष्यों को भी उत्पन्न किया है, जो उन शस्त्रों का प्रयोग करेंगे—अर्थात आधुनिक श्रमिक-वर्ग या सर्वहारावर्ग का भी वही जन्मदाता है।"

औद्योगिक क्रांति के कारण दो भिन्न वर्गों का आविर्भाव हुआ; एक छोटा विशेषाधिकार वर्ग, जो उत्पादन के साधन का स्वामी है और दूसरा संपत्ति-हीन विशाल सर्वहारा वर्ग। इनसे पूर्व भी मालिक और मजदूर होते थे, और छोटे स्तर के पूंजीवादी भी होते थ, किन्तु आधुनिक समाज के विशेष रूप यह हैं: वर्ग रूप में पूंजीवादियों का प्रभुत्व, राज्य का ऐसे ढंग का संगठन, जो इस प्रभुत्व को अभिव्यक्त करता है, और पूंजीवादियों तथा सर्वहारावादियों में निरन्तर संघर्ष। सब सरकारी बड़े बड़े पदों पर पूंजीवादी वर्ग का अधिकार है और उनके स्वार्थों की रक्षा और वृद्धि के लिए प्रबल यत्न किये जाते हैं। वास्तविक रूप में सरकार की सारी यांत्रिकता पूंजीवादियों के लाभ के लिए कार्य करती है। पूंजीवादियों और सर्वहारावादियों के स्वार्थ क्योंकि एक-दूसरे के विरोधी हैं, जिसके कारण उनके बीच निरन्तर लड़ाई और संघर्ष रहता है और इसी को मार्क्स वर्ग-युद्ध (class-war) कहते हैं।

इस प्रकार कार्ल मार्क्स अत्यधिक कठोरता-पूर्वक कहते हैं, "क्या इस बात को ग्रहण करने के लिए गहरे अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता है कि मनुष्य के विचार और धारणायें उसके सामाजिक संबंधों और उसके सामाजिक जीवन में उसके भौतिक अस्तित्व की दृष्टि से होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ-साथ बदलते रहते हैं?"

पूंजी के केंद्रीयकरण का नियम (The Law of the Concentration

of Capital)—इसके बाद मार्क्स यह दर्शाते हैं कि किस प्रकार पूंजी थोड़े से लोगों के

के प्रतिस्थापन को भाप लिया था, और भविष्यवाणी की कि ज्यों-ज्यों उद्योग के यंत्रीकरण से हर उपक्रम उन्नत होता जायगा त्यों-त्यों पूंजीपति-उपक्रमों की संख्या में न्यूनता होती जायगी। एकाधिकार के फलरूप व्यवसायों में कमी के साथ-साथ पूंजीपतियों की संख्या में भी कमी होती जायगी और इस प्रकार पूंजी चन्द पूंजीपतियों के हाथों में केंद्रीभूत होती जायगी। वस्तुतः मार्क्स ने "सामान्यतः इसलिए यह कहा कि जैसे हर व्यवसाय एक अकेले व्यक्ति का ही स्वामित्व हो।" जिन पूंजीपतियों को व्यवसाय से निकाल बाहर किया जायगा, वे स्वभावतः सर्वहारा-वर्ग में शामिल होंगे। कार्ल मार्क्स कहते हैं, "हमारे युग, बर्जुओं के युग ने वर्ग-संघर्ष को सरल बना दिया है। समाज समष्टि रूप में दो विरोधी दलों में अधिकाधिक बंटता जा रहा है। ये दो महान वर्ग—बूर्जुआ और सर्वहारा—प्रत्यक्षतः एक दूसरे का मुकाबला कर रहे हैं। जब पूंजीपति संख्या में क्षीण हो जाते हैं तो उससे उनके विनाश की घोषणा होती है। मार्क्स के कथनानुसार, "पूर्वकालिक सब ऐतिहासिक आंदोलन अल्पसंख्यकों के आंदोलन थे। सर्वहारा आंदोलन स्व-जागरूकता का एक ऐसा आंदोलन है, जो महान बहुसंख्या के हित के लिये स्वतंत्र आंदोलन है।"

मार्क्स ने पूंजी-केंद्रीयकरण के नियम संबंधी सिद्धांत को उद्योग पर ही लागू नहीं किया बल्कि कृषि पर भी लागू किया। उसने भविष्यवाणी की कि जैसे-जैसे भूमि-पतियों की जमींदारियां बड़ी-से-बड़ी होती जायंगी, भूमिपतियों की संख्या में भी न्यूनता हो जायगी। इस विधि से पूंजीवादी प्रणाली की बुराइयां और अन्याय अधिकाधिक प्रकाशमान होंगे, जिसके परिणामस्वरूप विरोध की शक्ति अधिक पुष्ट होगी।

वर्ग-युद्ध (The Class-war) मार्क्स का कथन है कि प्रत्येक युग में जीवन-साधनों को प्राप्त करने की भिन्न-भिन्न विधियां मनुष्य को विभिन्न समूहों में विभाजित करती हैं, और हर समूह में समूह विषयक चेतना उत्पन्न कर देती हैं। आर्थिक हितों की सादृश्यता द्वारा उत्पन्न हुई समूह संबंधी चेतना वर्ग-संघर्षों की रचना करती है। इसलिए वर्ग-संघर्ष का अस्तित्व कोई नई वस्तु नहीं है। "वर्तमान समाज का अबतक का सारा इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" इतिहास-वेत्ताओं के लिये इतिहास का रूप राष्ट्रों के बीच युद्धों का है, किन्तु मार्क्स इसे वर्गों के बीच क्रांतिकारी-संघर्षों के रूप में देखते हैं। संघर्षों में "प्रत्येक बार युद्ध का अन्त या तो विस्तृत रूप में समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण के साथ हुआ, अथवा विरोधी वर्गों के सामान्य विनाश के साथ हुआ।" फलस्वरूप मार्क्स के विचारानुसार सब सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः आर्थिक वर्ग-संघर्ष द्वारा ही हुए होंगे और मानवता का जो इतिहास बना वह वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास था। वह कहता है कि उत्पादन की प्रत्येक प्रणाली ने दो विरोधी आर्थिक वर्गों को जन्म दिया—शोषक और शोषित, स्वामी और कर्मकर। स्वतंत्र-मनुष्य और दास, कुलीन और साधारण व्यक्ति, सरदार और अर्धदास, संघपति और श्रमिक, एक शब्द में—दमनकारी और दलित निरन्तर एक-दूसरे के विरोध में डटे हुए हैं, उनमें निर्बाध गति से युद्ध जारी है, कभी खुले रूप में और कभी गुप्त।"

किन्तु समाज उग्र शक्तिशाली है, वह बदलता है और विकसित होता है। इस विकास के फलस्वरूप पूंजीपति समाज अन्ततः नष्ट हो जायगा और उसकी जगह दूसरे समाज का उदय होगा। पूंजीपति और पूंजीवादी प्रणाली अपने निजी विनाश के बीज उत्पन्न करती है। कुछ समय तक सर्वहारा-वर्ग क्लांत और हांफता हुआ श्रम करता रहेगा, जबकि अन्ततः वह निराश हो जायगा और पूंजीपति समाज को नष्ट करने के लिए संगठित हो जायगा; पहले स्थानीय रूप में, उपरांत राष्ट्रीय रूप में, और अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय रूप में। सर्वहारा वर्ग की विजय सामाजिक व्यवस्था को बदल देगी और जिस समाज का उदय होगा वह वर्गरहित समाज होगा। सारी भूमि और पूंजी पर साझा स्वामित्व होगा, शोषण का अन्त हो जायगा, संपत्ति-स्वामियों का अत्याचार असम्भव बन जायगा, और सभी मनुष्य स्वतंत्र बन जायंगे। साम्यवादी घोषणापत्र के अन्त में संसार के पगार-जीवियों से अपील की गई है कि वह साम्यवाद के नाम पर उठ खड़े हों। साम्यवादी अपने विचारों और मुद्दों को छिपाना अपमानजनक समझते हैं। वह खुले तौर पर घोषणा करते हैं कि उनके मुद्दे वर्तमान सब सामाजिक अवस्थाओं को बलपूर्वक नष्ट करने के द्वारा ही प्राप्त किये जा सकेंगे। शासक वर्गों को साम्यवादी क्रांति के नाम पर कंपायमान होने दो। सर्वहारा-वर्ग का कुछ नहीं बिगड़ेगा, उसकी तो बेड़ियां ही कटेंगी। सारा संसार उनकी विजय के लिये है। सब देशों के श्रमिक संगठित हों।"

समूहवाद
(Collectivism)

समूहवाद क्या है ? (What is Collectivism?)—समाजवाद के प्रकारों में से एक समूहवाद है और यह राज्य-समाजवाद से मिलता-जुलता है। यह उस मत का प्रतिपादन करता है, जो राज्य को निश्चयात्मक कल्याण मानता है और सरकारी क्रियाशीलता के आधिक्य पर बल देता है। राज्य के एक अनिवार्य बुराई मानने के विषय में समूहवादी व्यक्तिवादियों से सहमत नहीं हैं। न ही वह साम्यवादियों से सहमत हैं कि राज्य अनावश्यक है और अन्ततः उसका लोप करना ही होगा। समूहवाद का केंद्रीय विचार यह है कि यदि जनता का विशाल समूह पगार के स्तर से उन्नत हो जाता है तो समुदाय की प्रतिनिधि रूप सरकार को अधिकाधिक हस्तक्षेप करके और उद्योग के नियमन द्वारा स्वतन्त्र प्रतियोगिता की बुराइयों के विरुद्ध उनकी रक्षा करनी होगी। इस प्रकार सिद्धांत या नीति रूप में समूहवाद की यह व्याख्या की जा सकती है, कि जिसका उद्देश्य "केंद्रीय जनतांत्रिक अधिकार-शक्ति की क्रियाशीलता द्वारा बेहतर वितरण, और उसकी उचित अधीनता में, वर्तमान की अपेक्षा बेहतर उत्पादन की" प्राप्ति करना है।

अवसरवाद (Fabianism)—इंग्लैंड में समूहवाद को अवसरवाद की संज्ञा दी गई है। अवसरवादी (Fabian) समाज की स्थापना बुद्धिजीवियों के एक छोटे से दल ने जनवरी १८८४ में की थी। उसकी सदस्य- सूची में जार्ज बर्नार्ड शॉ, सिडनी और बी ट्राईस बैब, रैम्जे मैकडानल्ड जैसे अन्य अनेक सम्मानित व्यक्ति थे। अवसरवादियों के उद्देश्य यह थे: "समाजवादी सिद्धांत को जिस रूप में वह समझते हैं, उसका शिक्षित मध्य-वर्ग में प्रसार करना, और ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय

और स्थानीय सरकारों को प्रेरणा करना कि यह धीरे-धीरे इस सिद्धांत को सक्रिय रूप दें।" इस प्रकार, उनका उद्देश्य जनतान्त्रिक राज्य और वैधानिक साधनों द्वारा धीरे-धीरे और आनुक्रमिक विधि से समाज के आकार में परिवर्तन करना था। शॉ का कथन है, कि अवसरवादियों ने "क्रांतिकारी सिद्धांतों को आकर्षक सहजता को त्यागना और साधारण वैधानिक आधारों पर क्रियात्मक सुधार के कठिन कार्य को ग्रहण करना स्वीकार किया।"

अवसरवादी कार्ल मार्क्स के अनुयायी नहीं हैं। वे हेनरी जार्ज के सिद्धांतों, मार्क्स के भिन्न अंग्रेज व्याख्याताओं, जान स्टुअर्ट मिल के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में समूहवाद के होने वाले विकास, और टी. एच. ग्रीन की परिभाषाओं द्वारा प्रभावित थे। जनता में गरीबी की विद्यमानता ने उन्हें आश्चर्य-चकित कर दिया था। उन्हें यह भी मालूम हुआ कि चंद ही लोगों के हाथों में भूमि का एकाधिकार है और भूमिपति बिना किसी यत्न के उससे भारी सपत्तियों का अर्जन करते हैं। उन्होंने तर्क किया कि लगान या "अर्जित वृद्धि" पर जमींदार का कोई अधिकार नहीं। भूमि की आवश्यकता का सबब समाज ने है और उसी ने उसे मूल्यवान बनाया है, जिसके नतीजे के रूप में लगान का आविर्भाव हुआ। इसलिए यह लगान जमींदार से हटकर समुदाय को मिलना चाहिए। अधिक उपजाऊ भूमि या अच्छे स्थानों वाली भूमि के स्वत्वाधिकारी केवल स्वत्वाधिकार के बल पर ही बड़ी-बड़ी आय प्राप्त करते हैं और सेवा के बल पर उन्हें ये आय नहीं होती। जो बात भूमि पर लागू होती है, वही समाज द्वारा बनाई गई अन्य बहुमूल्य वस्तुओं पर भी लागू होती है। शॉ ने जिस घोषणापत्र को तैयार किया था और सितम्बर १८८४ में अवसरवादी समाज ने जिसे ग्रहण किया था, उसके आधार पर सभा ने समाजवाद को मान्यता प्रदान की थी। उसने इस बात का समर्थन किया था कि भूमि का किसी एक रूप में राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और "उत्पादन के हर चरण में राज्य को अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता उत्पन्न करनी चाहिए।[1]

इस प्रकार अन्य बातों के साथ-साथ यह इस बात की माग करता है कि आयों का अधिक न्यायपूर्वक वितरण हो और समाज का ऐसे ढंग से पुनर्निर्माण हो, जिससे सामान्य कल्याण और सुख की प्राप्ति हो सके। अवसरवाद के अनुसार पगारों के लिए काम करने वालो यानी नियोजितों, और, पगारों के लिए काम करने वाले स्वामियों यानी नियोजकों के स्वार्थों के संघर्ष का प्रश्न नहीं है। प्रत्युत यह संघर्ष तो एक ओर समुदाय, और दूसरी ओर उन लोगों के बीच है, जो विनियोजन द्वारा धनी बनते हैं। वे व्यक्ति या वर्ग, सभी समयों में जो सामाजिक शक्ति का अधिकार प्राप्त किये रहते हैं, जाने या अनजाने उस शक्ति का ऐसे ढग से उपयोग करते हैं कि अपने देशवासियों की महान बहुसंख्या के लिए वे प्रचलित जीवन-यापन मान के अनुसार महज जीने भर के अतिरिक्त कुछ भी बाकी नहीं छोड़ते।

इस प्रकार, अन्य बातों के अतिरिक्त समाजवाद इस बात की अपेक्षा करता है कि आयों का अधिक न्यायपूर्ण वितरण और समाज का पुनर्निर्माण इस ढग से हो कि सामान्य कल्याण और सुख की प्राप्ति हो सके। अवसरवाद के अनुसार स्वार्थों का संघर्ष उन लोगों के बीच नहीं है कि जो पगारों के लिए कार्य करते हैं, और जो पगार-उपार्जकों को नियोजित करते हैं, अर्थात् नियोजकों और नियोजितों के बीच यह संघर्ष नहीं है। इसके बजाय यह संघर्ष

1. Coker, op. citd., p. 102.

तो एक ओर समुदाय तथा दूसरी ओर उन लोगों के बीच है, जो विनियोग द्वारा धनी बन जाते हैं। "वे व्यक्ति या वर्ग, जिनके पास सामाजिक अधिकार होते हैं, सभी समयों में, जाने या अनजाने उस शक्ति का ऐसे ढंग से उपयोग करते हैं कि उनके साथ के लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या के पास प्रचलित जीवन-मान के अनुसार प्रायः जीने-भर से अधिक कुछ भी नहीं रह जाता। अतिरिक्त उत्पादन, जिसका निश्चय कृषि सीमांत, स्थान, भूमि, पूंजी और कारीगरी के रूपों की भिन्नताओं के कारण उत्पादन योग्यता में अपेक्षा अंतरों द्वारा होता है, उन लोगों के पास चला गया है, जिनका इन बहुमूल्य किंतु दुर्लभ अंशों पर कार्यकारी नियंत्रण है। 'आर्थिक लगान' के अतिरिक्त को प्राप्त करने का यह संघर्ष योरोपीय प्रगति के भ्रमपूर्ण इतिहास तथा सब क्रांतियों के अंतर्निहित अचेतन मुद्दे की कुंजी है।"[1]

इस तरह अवसरवादियों के मतानुसार समाजवाद का मुद्दा समाज द्वारा उत्पादित मूल्यों को समाज के सब सदस्यों के लिए उपलब्ध करना है। यह मुद्दा भूमि और औद्योगिक पूंजी को धीरे-धीरे समुदाय को सौंपने के द्वारा प्राप्त किया जायगा। किंतु इस प्रस्ताव के कारण किसी प्रकार के भीषण सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न नहीं उठता। अत्यधिक वेग-पूर्ण आमूल परिवर्तन अवसरवादियों को अरुचिकर था। उनकी मान्यता थी कि इस प्रकार का परिवर्तन अपना मुद्दा हासल करने में असफल रहेगा "भले ही उसे अनिवार्य अवस्थाओं में उचित समझा जाय; जिस पर राज्य को समुदाय का पूर्ण प्रतिनिधि बनाया जाना चाहिए बशर्ते कि उसे देश के लगान को सौंपा जाना हो, और अंततः भूमि, पूंजी, तथा राष्ट्रीय उद्योग का संगठन भी सौंपा जाना हो।"[2] अवसरवादी राज्य को जनता की ट्रस्टी तथा प्रतिनिधि रूप में पूर्ण यांत्रिकता मानते हैं। वह राज्य को "उसका संरक्षक, उसका कर्ता, उसका अध्यक्ष, उसका सचिव और यहां तक कि उसका स्कंद-संचयी मानते हैं।" विद्यमान राज्य तक को आमूल परिवर्तन के बिना भी बनाया जा सकता है, "भले ही वह नितांत पूर्ण न हो, लेकिन आश्वस्त तो कम-से-कम होगा ही।" अवसरवादियों ने जिन परि-वर्तनों का समर्थन किया, वह थे मताधिकार का विस्तार, अधिक प्रशिक्षित पौर-अधि-सेवा, और सबके लिए शिक्षा के समान अवसर। शक्ति के स्रोत का जनतांत्रीकरण भी आवश्यक था। इसमें अधिकार-शक्ति का विकेंद्रीकरण और स्थानीय संस्थाओं को सर-कारी कार्यकलापों का प्रधान केन्द्र बनाना निहित है। हाउस आफ कामन्स केवल केन्द्रीय समस्याओं का ही निराकरण कर सकता है और स्थानीय प्रश्नों को नगरपालिकाओं के लिए छोड़ सकता है। वस्तुतः, वह संघीय नगरपालिकाओं का केवल शरीर बन जा सकती है।"

अवसरवाद का गुण इन ठोस प्रस्तावों में निहित है कि उसने "पगार-उपार्जकों के आर्थिक तथा नागरिक भाव को उन्नत करने के द्वारा आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के लाभों को अधिक समानता देने और संपत्ति-स्वामियों की समृद्धि को कम करने के उपाय" किये। उन्होंने तत्काल प्रचलित करने के लिए निश्चित एवं आकर्षक इस प्रकार की योजनाएं बनाई : (१) "सामाजिक-विधान" जिसके अनुसार काम के घंटे कम

---

1. "English Progress towards Social Democracy". *Fabian Tract*, as quoted in Coker, op. cit., p. 105.
2. Fabian Essays in Socialism (1920), p. 182.

किए गए, बेकारी के विरुद्ध रक्षा, न्यूनतम राष्ट्रीय पगारें, स्वास्थ्य और रक्षा के लिए न्यूनतम मान, उन्नत शिक्षा-सुविधाएं, आदि (२) राष्ट्रीय या स्थानीय सार्वजनिक उपयोगिताओं तथा प्राकृतिक एकाधिकारों का सार्वजनिक स्वामित्व; और (३) उत्तराधिकार, भूमि-लगान और विनियोजित आयों पर करारोपण।

इग्लैंड में प्रथम विश्व-युद्ध से लेकर अवसरवादी समाज और मजदूर दल में गहरी आत्मीयता रही है। इस समाज के पाच सदस्य १९२५ में ब्रिटिश मजदूर सरकार के सदस्य थे। इनमें दो 'फैबियन एसेज' के रचयिता सिडनी वैब और सिडनी आलिवर थे। सिडनी वैब १९३१ की मजदूर सरकार में उपनिवेश-सचिव भी थे।

समूहवाद का विश्लेषण (Collectivism Analysed)—समूहवादियों के मतानुसार वर्तमान राजनीतिक सगठन के ऐसे अनेक दोष प्रकाश में आते हैं। प्रथम अवस्था में, विद्यमान सामाजिक व्यवस्था थोड़े-से लोगों को सुख और सुविधा का विश्वास प्रदान करती है, और बहुतों को यातना देती है। द्वितीयत:, यह प्रकट रूप में सब के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति करती है, किन्तु वह उनके लिए आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं करती। जनसाधारण की अत्यधिक गरीबी में उसकी कहानी अन्तर्हित है और यही है वह समाज की व्यवस्था, जिसे समूहवादी पलटना चाहते हैं। उनका मत है कि राजनीतिक संस्था एक अवयवी के समान है और यदि विशेषाधिकार-संपन्न एक छोटे वर्ग को अबाध रूप में अपने हितों को प्राप्त करने की स्वीकृति दी जाती है, तो निश्चय ही, संपूर्ण समाज के कल्याण की क्षति होगी। इसलिए, समूहवादी राज्य को सर्वोत्तम माध्यम मानते हैं, जिसके द्वारा जनता के शोषण, पतन और क्षुधा को दूर किया जा सकता है और सबको समान अवसर प्रदान किया जा सकता है। लिंडसे कहते हैं, "किसी भी समाज में राजनीतिक संगठन आवश्यक है, क्योंकि सामान्य क्रिया द्वारा सगठन-हीनता का सुधार करना आवश्यक है। और यह सगठन-हीनता इस तथ्य के कारण होती है कि मनुष्य 'कार्य तो स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं किन्तु ऐसी स्वतन्त्र क्रिया द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं'।" जिस नयी सामाजिक व्यवस्था को समूहवादी स्थापित करना चाहते हैं, वह आपत्तिकारक या क्रांतिकारी विधियों से नहीं लायी जायगी। समाज का रूपातर धीरे-धीरे, क्रमशः और शातिपूर्ण ढग से होगा। उनकी धारणा है कि समाज में शिक्षा और प्रचार द्वारा समाजवादी विचारों को प्रवाहित कर देना चाहिए। जो लोग समाजवादी मत को अपनाएं, उन्हें विधान सभा में भेजना चाहिए और लोक-मत ऐसे विधानीय और प्रशासनीय उपायों को ग्रहण करने की प्रेरणा करे कि जिनमें समाजवादी उद्देश्यों का समावेश हो।

समूहवादी समाजवाद के ये उद्देश्य हैं:—संपत्ति का बेहतर वितरण, और समुदाय के सामाजिक जीवन का समाज द्वारा नियमन। इन उद्देश्यों को निम्न विधियों से प्राप्त किया जा सकता है:—

१. निजी स्वामित्व के उत्पादन-साधनों का लोप किया जाय, और फलस्वरूप महत्वपूर्ण उद्योगों और सेवाओं को सार्वजनिक स्वामित्व और नियंत्रण के अधीन लाया जाय;

२. उद्योग को "समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से चलाया

तो एक ओर समुदाय तथा दूसरी ओर उन लोगों के बीच है, जो विनियोग द्वारा धनी बन जाते हैं। "वे व्यक्ति या वर्ग, जिनके पास सामाजिक अधिकार होते हैं, सभी समयों में, जाने या अनजाने उस शक्ति का ऐसे ढंग से उपयोग करते हैं कि उनके साथ के लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या के पास प्रचलित जीवन-मान के अनुसार प्रायः जीने-भर से अधिक कुछ भी नहीं रह जाता। अतिरिक्त उत्पादन, जिसका निश्चय कृषि सीमांत, स्थान, भूमि, पूंजी और कारीगरी के रूपों की भिन्नताओं के कारण उत्पादन योग्यता में अपेक्षा अंतरों द्वारा होता है, उन लोगों के पास चला गया है, जिनका इन बहुमूल्य किंतु दुर्लभ अंशों पर कार्यकारी नियंत्रण है। 'आर्थिक लगान' के अतिरिक्त को प्राप्त करने का यह संघर्ष योरोपीय प्रगति के भ्रमपूर्ण इतिहास तथा सब क्रांतियों के अंतर्निहित अचेतन मुद्दे की कुंजी है।"[1]

इस तरह अवसरवादियों के मतानुसार समाजवाद का मुद्दा समाज द्वारा उत्पादित मूल्यों को समाज के सब सदस्यों के लिए उपलब्ध करना है। यह मुद्दा भूमि और औद्योगिक पूंजी को धीरे-धीरे समुदाय को सौंपने के द्वारा प्राप्त किया जायगा। किंतु इस प्रस्ताव के कारण किसी प्रकार के भीषण सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न नहीं उठता। अत्यधिक वेग-पूर्ण आमूल परिवर्तन अवसरवादियों को अरुचिकर था। उनकी मान्यता थी कि इस प्रकार का परिवर्तन अपना मुद्दा हासल करने में असफल रहेगा "भले ही उसे अनिवार्य अवस्थाओं में उचित समझा जाय; जिस पर राज्य को समुदाय का पूर्ण प्रतिनिधि बनाया जाना चाहिए बशर्ते कि उसे देश के लगान को सौंपा जाना हो, और अंततः भूमि, पूंजी, तथा राष्ट्रीय उद्योग का संगठन भी सौंपा जाना हो।"[2] अवसरवादी राज्य को जनता की ट्रस्टी तथा प्रतिनिधि रूप में पूर्ण यांत्रिकता मानते हैं। वह राज्य को "उसका संरक्षक, उसका कर्ता, उसका अध्यक्ष, उसका सचिव और यहां तक कि उसका स्कंद-संचयी मानते हैं।" विद्यमान राज्य तक को आमूल परिवर्तन के बिना भी बनाया जा सकता है, "भले ही वह नितांत पूर्ण न हो, लेकिन आश्वस्त तो कम-से-कम होगा ही।" अवसरवादियों ने जिन परिवर्तनों का समर्थन किया, वह थे मताधिकार का विस्तार, अधिक प्रशिक्षित पौर-अधि-सेवा, और सबके लिए शिक्षा के समान अवसर। शक्ति के स्रोत का जनतांत्रीकरण भी आवश्यक था। इसमें अधिकार-शक्ति का विकेंद्रीकरण और स्थानीय संस्थाओं को सरकारी कार्यकलापों का प्रधान केन्द्र बनाना निहित है। हाउस आफ कामन्स केवल केन्द्रीय समस्याओं का ही निराकरण कर सकता है और स्थानीय प्रश्नों को नगरपालिकाओं के लिए छोड़ सकता है। वस्तुतः, वह संघीय नगरपालिकाओं का केवल शरीर बन जा सकता है।"

अवसरवाद का गुण इन ठोस प्रस्तावों में निहित है कि उसने "पगार-उपार्जकों के आर्थिक तथा नागरिक भाव को उन्नत करने के द्वारा आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के लाभों को अधिक समानता देने और संपत्ति-स्वामियों की समृद्धि को कम करने के उपाय" किये। उन्होंने तत्काल प्रचलित करने के लिए निश्चित एवं आकर्षक इस प्रकार की योजनाएं बनाई: (१) "सामाजिक-विधान" जिसके अनुसार काम के घंटे कम

1. "English Progress towards Social Democracy". *Fabian Tract,* as quoted in Coker, op. cit., p. *105*.

2. Fabian Essays in Socialism (1920), p. 182.

किए गए; वेकारी के विरुद्ध रक्षा, न्यूनतम राष्ट्रीय पगारें, स्वास्थ्य और रक्षा के लिए न्यूनतम मान, उन्नत शिक्षा-सुविधाएं, आदि (२) राष्ट्रीय या स्थानीय सार्वजनिक उपयोगिताओं तथा प्राकृतिक एकाधिकारों का सार्वजनिक स्वामित्व ; और (३) उत्तराधिकार, भूमि-लगान और विनियोजित आयों पर करारोपण।

इग्लैंड में प्रथम विश्व-युद्ध से लेकर अवसरवादी समाज और मजदूर दल में गहरी आत्मीयता रही है। इस समाज के पांच सदस्य १९२५ में ब्रिटिश मजदूर सरकार के सदस्य थे। इनमें दो 'फेबियन एसेज' के रचयिता सिडनी वेब और सिडनी आलिवर थे। सिडनी वेब १९३१ की मजदूर सरकार में उपनिवेश-सचिव भी थे।

समूहवाद का विश्लेषण (Collectivism Analysed)—समूहवादियों के मतानुसार वर्तमान राजनीतिक संगठन के ऐसे अनेक दोष प्रकाश में आते हैं। प्रथम अवस्था में, विद्यमान सामाजिक व्यवस्था थोड़े-से लोगों को सुख और सुविधा का विश्वास प्रदान करती है, और बहुतों को यातना देती है। द्वितीयतः, यह प्रकट रूप में सब के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति करती है, किन्तु वह उनके लिए आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं करती। जनसाधारण की अत्यधिक गरीबी में उसकी कहानी अन्तर्हित है और यही है वह समाज की व्यवस्था, जिसे समूहवादी पलटना चाहते हैं। उनका मत है कि राजनीतिक सस्था एक अवयवी के समान है और यदि विशेषाधिकार-संपन्न एक छोटे वर्ग को अबाध रूप में अपने हितों को प्राप्त करने की स्वीकृति दी जाती है, तो निश्चय ही, संपूर्ण समाज के कल्याण की क्षति होगी। इसलिए, समूहवादी राज्य को सर्वोत्तम माध्यम मानते हैं, जिसके द्वारा जनता के शोषण, पतन और क्षुधा को दूर किया जा सकता है और सबको समान अवसर प्रदान किया जा सकता है। लिंडसे कहते हैं, "किसी भी समाज में राजनीतिक संगठन आवश्यक है, क्योंकि सामान्य क्रिया द्वारा संगठन-हीनता का सुधार करना आवश्यक है। और यह संगठन-हीनता इस तथ्य के कारण होती है कि मनुष्य कार्य तो स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं किन्तु ऐसी स्वतन्त्र क्रिया द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।" जिस नयी सामाजिक व्यवस्था को समूहवादी स्थापित करना चाहते हैं, वह आपत्तिकारक या क्रांतिकारी विधियों से नहीं लायी जायगी। समाज का रूपांतर धीरे-धीरे, क्रमशः और शांतिपूर्ण ढंग से होगा। उनकी धारणा है कि समाज में शिक्षा और प्रचार द्वारा समाजवादी विचारों को प्रवाहित कर देना चाहिए। जो लोग समाजवादी मत को अपनाएं, उन्हें विधान सभा में भेजना चाहिए और लोक-मत ऐसे विधानीय और प्रशासनीय उपायों को ग्रहण करने की प्रेरणा करे कि जिनमें समाजवादी उद्देश्यों का समावेश हो।

समूहवादी समाजवाद के ये उद्देश्य हैं:—संपत्ति का बेहतर वितरण, और समुदाय के सामाजिक जीवन का समाज द्वारा नियमन। इन उद्देश्यों को निम्न विधियों से प्राप्त किया जा सकता है :—

१. निजी स्वामित्व के उत्पादन-साधनों का लोप किया जाय, और फलस्वरूप महत्वपूर्ण उद्योगों और सेवाओं को सार्वजनिक स्वामित्व और नियंत्रण के अधीन लाया जाय;

२. उद्योग को "समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से चलाया

जाय, और व्यक्तियों के लाभ-प्राप्ति के उद्देश्यों से नहीं।" इसलिए, उत्पन्न किए जाने वाले पदार्थों का प्रमाण और परिमाण सामाजिक आवश्यकता की दृष्टि से होना चाहिए, और

३. निजी लाभ के प्रलोभन को सामाजिक सेवा द्वारा प्रतिस्थापित करना चाहिए।

समूहवादी निमंत्रण के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Collectivist Control)—यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण समाज की पूंजीवादी प्रणाली को विस्थापित करने की एकमात्र प्रभावशाली विधि है। इससे प्रतियोगिता का अन्त हो जायगा—जो वहुधा गलघोंटू प्रतियोगिता होती है—जिसके कारण अनावश्यक नाश होता है। इसके अतिरिक्त, उद्योगों के समाजीकरण से राज्य मूल्य-आधिक्य और सामाजिक रूप में रचित मूल्यों का उपयोग करने योग्य हो जायगा। समूहवादियों का विचार है कि भूमि तथा खानों जैसे प्रकृति के मुक्त उपहारों पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होना चाहिए। ये परिमाण में सीमित हैं और इन पर क्रमागत ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है। यदि इन्हें व्यक्तिगत साहसिक उद्योग पर छोड़ दिया जाता है तो वह राष्ट्र के भविष्य को क्षति पहुंचाते हुए अपने तात्कालिक लाभ के लिए इन प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग करेगा। इसलिए, इस वात में वितरणशील न्याय नहीं है कि वहुसंख्या के हितों के विपरीत प्रकृति के मुक्त उपहारों का कुछ लोग उपयोग करें।

आगे चलकर राज्य समाज को ऐसी वस्तुएं और सेवाएं दे सकता है, जिनकी सामाजिक दृष्टि से आवश्यकता तो है किन्तु जिनकी पर्याप्त रूप में मांग नहीं है। समाजवाद का लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य के स्थान पर सामाजिक सेवा के उद्देश्य को प्रतिस्थापित करना है। पूंजीवादी समाज में प्रत्येक प्रतिस्पर्द्धी व्यक्ति अन्यों के हितों की उपेक्षा करते हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों द्वारा प्रेरित होता है। और इसी का अर्थ समाज का पतन है। किन्तु समूहवादी समाज में से प्रतियोगिता और निजी स्वामित्व के विलोप से जनता की मनोदशा में परिवर्तन हो जायगा। उस समाज का ध्येय सामाजिक सेवा और सामाजिक कल्याण होगा। उसमें व्यक्ति को धनी वनाने के लिए गुप्त विधियों के उपयोग का प्रलोभन नहीं होगा। इस प्रकार, मानव-स्वभाव की श्रेष्ठ दिशा का विस्तार होगा और मनुष्य का श्रेष्ठ रूप प्रथम स्थान प्राप्त कर लेगा। यही मानव-जीवन का ध्येय है और उस प्राणि-विज्ञान के सिद्धांत की श्रेष्ठ सफलता है जो व्यक्तिवादियों का सिद्धांत वन गया है।

अन्ततः, समाजवाद जनतंत्र का पूरक है। हम सव जनतंत्र और उसके उच्च आदर्शों की चर्चा करते हैं। किन्तु यदि लोकतंत्र में संपत्ति के वितरण और अवसर में समानता नहीं है, तो वह धोखा है। राजनीतिक लोकतंत्र से पूर्व आर्थिक लोकतंत्र होना चाहिए और उसे केवल समूहवादी समाज की अवस्थाओं में प्राप्त किया जा सकता है। जनतांत्रिक राज्य एक साधन है, जिसके द्वारा सामाजिक रूपांतर की प्राप्ति की इच्छा की जाती है। समाजवादी समाज पूंजी के स्वामित्व और उत्पादन, वितरण और विनिमय के नियमन द्वारा समुदाय के कल्याण की प्राप्ति के लिए उसके प्रतिनिधि रूप में राज्य को स्थिर रखता है। इस भांति, राज्य सामुदायिक कल्याण का संरक्षक वन

जाता है और, इसलिए, वह सर्वोच्च एवं श्रेष्ठतम साधन है।

श्रमसंघवाद
(Syndicalism)

श्रम-संघवाद की व्याख्या (Syndicalism explained))—उन्नीसवी सदी के अन्त में, फ्रास में श्रम सघवाद का उदय हुआ। (Syndicalism) श्रम संघवाद शब्द की व्युत्पत्ति (syndicate) सघ से हुई है और फ्रासीसी भाषा में श्रम सघों (Labour union) के लिए इसका उपयोग किया जाता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है, "सामाजिक सिद्धात का वह रूप, जो श्रमिक सघ सगठनो को नये समाज का आधार और ऐसा साधन मानता है, जिसके द्वारा उसकी सृष्टि की जाती है।" श्रम सघवाद के प्रबल समर्थक सोरेल और पेलाऊटियर हैं।

श्रम सघवादी इस समाजवादी प्रस्तावना को स्वीकार करते हैं कि समाज दो विरोधी वर्गों में—मालिक और नौकर—विभाजित है, जिनके हित एक-दूसर के विपरीत हैं। उनका मत है कि आधुनिक राज्य एक वर्ग राज्य है, जो पूजीवादियो के प्रभुत्व में है। वह पूजीवादी समाज की आधारमूलक विशेषता के रूप में वर्ग-सघर्ष के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं और निजी संपत्ति की व्यवस्था को सब सामाजिक बुराइयों का कारण समझते हैं। श्रम संघवादियो का मत है कि राज्य पूजीवादियों के हितो को प्रबल करता है, और इसलिए उसे नष्ट कर देना चाहिए। पूजी के निजी स्वामित्व की जगह समुदाय का सामूहिक पूजी स्वामित्व होना चाहिए। इस तरह, श्रम सघवाद पूजीवाद की प्रथा का अन्त करने के लिए श्रमिक सघ की क्रियाशीलता के कार्यक्रम का समर्थन करता है।

श्रमसघवाद विशुद्ध रूप में श्रमिक वर्ग का आदोलन है, जिसका संचालन और नियन्त्रण श्रमिक सघो द्वारा स्वत. श्रमिक करते हैं। श्रमसघवादियों को मध्य-वर्ग के समाजवाद से गहरी निराशा है। उनका दावा है कि "समाजवादी सिद्धान्त का एकमात्र मत उन्ही का है, जो स्वतः श्रमिको की है; समाजवाद के अन्य सब रूप चतुर मध्य-वर्गी सिद्धान्त-वादियो के मस्तिष्क की उपज है, और वे अपने उत्पत्ति स्थान के साथ भी धोखा करते हैं। वह उन बुद्धिजीवियो को भली लगने वाली समाज की किसी पूर्व-व्यवस्थित प्रणाली के अनुसार मजदूरों को एकत्रित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते है, जो श्रमिको और उनकी आवश्यकताओं से अपरिचित होते हैं। वह श्रमिक ही हैं कि जो अपनी आवश्यकताओ को वास्तविक और पर्याप्त रूप मे प्रकट कर सकते हैं।"वर्ग चेतना को प्रबुद्ध रखने की आवश्यकता मध्य श्रेणी के बुद्धिजीवियो और श्रमिको के बीच मे परस्पर सौहार्द की भावना को, बुद्धि-जीवियों के चाहते हुए भी, उसे क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का विरोधी समझ कर, विकसित होने से रोकती है।"

राज्य के प्रति विरोध(Hostility against the State)—श्रम सघवादी राज्य को अनिवार्यतः बुर्जुआ या मध्य-वर्गीय सस्था मानते है, जिसका मुख्य कार्य इस वर्ग के हितों का समर्थन और सरक्षण करना है। इस प्रकार, वे पूजीवादी शोषण के साधन रूप मे राज्य की मात्रसंवादी निंदा का समर्थन करते है। श्रमसघवादियो का तर्क है

कि सामाजिक संगठन के अस्तित्व का चाहे जो भी रूप हो, राज्य अपने स्वरूप की रक्षा करेगा। जिस प्रकार बाघ अपने धब्बों में परिवर्तन नहीं कर सकता, इसी तरह राज्य अपने बुर्जुआ स्वरूप में परिवर्तन नहीं कर सकता। इससे भी अधिक यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि राज्य की नौकरी मनुष्यों को स्वेच्छाचारी और श्रमिकों की आवश्यकताओं और भावनाओं के प्रति असहिष्णु बना देती है, जो उत्पादन के वास्तविक कार्य में नियोजित होते हैं। "एक केन्द्रीय संगठन की प्रवृत्ति एक-रूपता, नित्यक्रम, कल्पना के अभाव और स्थानीय विकास और साहसिक व्यवसाय में अविश्वास की होती है। यहां तक कि यदि श्रेष्ठतम राज्य को भी उद्योग के नियन्त्रण पर छोड़ दिया जाय, तो वह प्रगति का विरोधी होगा।" वह श्रमिकों की आवश्यकताओं और उनकी भावनाओं को समझ नहीं सकता। इसलिए, वह श्रमिक ही है कि जो ठीक-ठीक रूप से अपनी आवश्यकताओं को जानता है, और मध्य-वर्ग का सरकारी नौकर नहीं।

इसके अतिरिक्त, राज्य केवल श्रम के उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करता है और मूल्य (अर्हा) के निर्माताओं का नहीं। वस्तुतः,राज्य की अधिकार-शक्ति और अधिकार श्रम के उपभोक्ताओं अर्थात् नियोजकों की शक्ति है। जो राज्य उपभोक्ताओं के हितों का संरक्षण करता है,वह उत्पादकों का संरक्षक न तो हो सकता है और न होगा। राज्य के उन्मूलन से, श्रमसंघवादियों का उद्देश्य अधिकार-शक्ति के स्थान पर श्रम को बठाने का है। उनकी मांग है कि प्रत्येक उद्योग का संगठन उस उद्योग के श्रमिकों के आधीन होना चाहिए। अंततः श्रमसंघवादी राज्य के मूल-आधार पर आघात करता है, क्योंकि इसमें सामाजिक एकता के असंभव आदर्श का समावेश है। उनकी धारणा है कि समाज अनिवार्यतः बहुलवादी है और कोई भी राजनीतिक विधान उसे अन्यथा नहीं बना सकता।

श्रमसंघवादियों के समाज का आकार (Syndicalist Structure of Society):—श्रमसंघवादी समाज के स्वरूप का विषय अभी अस्पष्ट है। श्रमसंघवादी समाज के विद्यमान स्वरूप से पिंड छुड़ाने की विधियों के विषय में अधिक चिन्तित हैं, और सफलता प्राप्ति के बाद जो सामाजिक प्रश्न उत्पन्न होंगे, उनके विषय में उन्हें इतनी चिन्ता नहीं। श्रमसंघवादी समाज के भावी संगठन पर विचार करने तक को महत्वहीन समझते हैं। उन्हें इस बात का व्यापक विश्वास है कि जब श्रमिक उत्पादन के अंशों का नियन्त्रण ग्रहण कर लेंगे और निजी पूंजी का सामूहिक पूंजी द्वारा प्रतिस्थापन हो जायगा, तो नया सामाजिक संगठन स्वयमेव ही विकसित हो जायगा। सोरेल और बर्थ का मत है कि "भावी व्यवस्था के विवरणों को अंकित करने की किसी प्रकार की चेष्टा उन स्वप्नदर्शी संस्थाओं को नष्ट कर देगी जिनमें श्रमसंघवाद की मुख्य शक्ति निहित है।" इसलिए, श्रमसंघवाद क्रांति की नीति उपस्थित करता है, प्रशासन की नहीं।

परवड और पाऊगट ने अपनी पुस्तक, "How we Shall Bring about the Revolution",में श्रमसंघवादी समाज के भावी संगठन को उपस्थित करने का एक-मात्र प्रयत्न किया है।[1] इस पुस्तक के लेखकों के अनुसार प्रबंध विषयक साधारण कृत्यों का भार स्थानीय औद्योगिक संघों पर रहेगा। इन संघों का कई उद्योगों की इमारतों, मशीनों और साधनों पर अधिकार होगा, और वह उत्पादन तथा कार्यकारी नीति के तत्काल

1. Coker., op. cit, p. 243

निर्देशन का प्रयोग करेंगे। डाकघरों, रेलों, राजमार्गों आदि जैसी राष्ट्रीय सेवाओं का कार्य श्रमिकों के राष्ट्रीय संघों को सौंपा जायगा। स्थानीय संस्थाओं को टैक्नीकल सूचना और कुशल परामर्श देने के लिए अन्य राष्ट्रीय संघ होंगे। अन्ततः, एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था होगी (जिसका स्वरूप विद्यमान "Confederation Generale du Travail" के समान होगा), जिसे सर्वमान्य व्यवहार के कार्यों का निर्णय करने का भार सौंपा जायगा, जैसे, पगारों का निश्चय, कार्य के घंटों की संख्या, बच्चों, बूढ़ों और बीमारों की देखभाल, आदि।

लेखकों ने श्रमसंघवादी समाज के सदस्यों के मानव-विरोधी और समाज-विरोधी कार्यों के विरुद्ध कतिपय अनुशासनीय दंडों की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है। किन्तु ये दंड राज्य की प्रतिरोधक अधिकार शक्ति की तुलना में सर्वथा भिन्न रूप के होंगे। प्रत्येक संघ अनुशासन भंग करने वाले अपने किसी सदस्य के विषय में निर्णय देगा। वह नैतिक दंड की आज्ञप्ति कर सकता है, जैसे बहिष्कार अथवा उग्र अवस्थाओं में अपराधी व्यक्ति को संघों की साधारण बैठक को सौंपा जा सकता है; जहां निर्वासन का दंड दिया जा सकता है। और अधिक भीषण "अपराधों का संक्षिप्त न्याय की कार्यवाही से प्रत्यक्ष गवाहों द्वारा तात्कालिक निपटारा किया जायगा। जेलों और न्यायालयों का लोप हो जायगा, क्योंकि अपराधों की संख्या में कमी हो जायगी, क्योंकि दरिद्रता, असमानता या पूंजीवाद के दूषित कार्यों के कारण समाज-विरोधी कार्यों के लिए कोई अवसर नहीं रह जायेंगे; और बेहतर सामाजिक वातावरण उन अपराधों के उन्मूलन में प्रवृत्त होगा जो मनोवैज्ञानिक दोषों तथा मानसिक रोग के परिणामस्वरूप होते हैं।"

लेखक किसी प्रकार के विदेशी आक्रमण के विरुद्ध समुचित प्रतिरक्षा की आवश्यकता को भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्पष्टीकरण किया है कि श्रमसंघवादी नीति "टाल्स्टाय द्वारा प्रचारित पद-त्याग और प्रतिरोध-हीनता"[1] की नहीं है। किन्तु प्रतिरक्षा के प्रबंध आधुनिक राज्यों के वर्तमान प्रबंधों से आधारमूलक रूप में भिन्न होंगे। न तो कोई वैतनिक सेना होगी और न ही आक्रमणकारी सशस्त्र सैन्य दल। श्रमसंघवादी समाज के प्रत्येक संघ में एक सशस्त्र सैनिक-दल होगा, जिसके पास विशुद्ध रूप में प्रतिरक्षात्मक शस्त्र होंगे।

जैसा कि पूर्वतः कहा जा चुका है कि श्रमसंघवादी अधिकांश लेखक समाज की भावी संगठन की विस्तृत रूप-रेखा को चित्रित करना व्यर्थ और असामयिक चेष्टा समझते हैं। किन्तु इसका रूप यह होगा। (१) राज्य-हीन समाज; और (२) उत्पादन के सब साधनों का सामाजिक स्वामित्व होगा : श्रमिकों का संघ सारे उत्पादन का नियंत्रण और नियमन करेगा।

श्रम-संघवाद की विधियां (Methods of Syndicalism)—श्रमसंघवादी समाज में इच्छित परिवर्तन उत्पन्न करने के उद्देश्य से श्रमिकों में क्रांतिकारी भावना को फूंकने के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही की विधियों का समर्थन करते हैं। वह वैधानिक विधियों के प्रति निराश है, क्योंकि वह राज्य के विरोधी हैं। अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता के लिए वह वर्ग-जागृति की गहनता पर उस समय तक के लिए बल

1. Ibid., p. 244.

देते हैं कि जब तक आम हड़ताल न हो जाय, अर्थात् जब पूंजीवादी प्रणाली 'ठप्प' हो जायगी। यह कार्य श्रमिक संघों द्वारा किया जायगा। श्रमसंघवादियों का विश्वास है कि राजनीतिक जीवन में प्रदर्शित होने वाली श्रमिकों की एकता की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक एकता की भावना से अधिक संपन्न हैं। उनका कहना है कि राजनीतिक दल "एक दुर्बल क्रांतिकारी शस्त्र हैं; यह बिखर जाती है, इसका अधिवेशन कभी-कभी होता है, और यह इतनी विशाल हो सकती है कि सर्वमान्य इच्छा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का अवसर न दे सके।"[1]

इसलिए, श्रमसंघवादी शिल्पों और उद्योगों द्वारा श्रमिक संघों के योग्य संगठनों का जाल बिछा देना चाहते हैं। श्रमिक संघों को ऊंची पगारों और कार्य के अल्प घंटों के लिए निरन्तर आन्दोलन करना है। इस ढंग से श्रमिकों को अपने शोषण के प्रति जागरूक किया जायगा। इससे अधिक उन्हें आदेश दिया गया है कि वे अपने दल में साहस और अनुशासन को स्थिर रखने के लिए समय-समय पर हड़ताल किया करें और इस तरह श्रमिकों में एकता की भावना को जागृत रखें। यह कहा जाता है कि किसी भी प्रकार की हड़ताल, चाहे वह स्थानीय या राष्ट्रीय हो, सफल या आंशिक सफल हो, श्रमिकों को आम हड़ताल के लिए उद्यत करने के निमित्त महत्वपूर्ण और आवश्यक है। संभव है आम हड़ताल देश भर के सब श्रमिकों की न हो। श्रमसंघवादियों का आम हड़ताल से यह आशय है कि पर्याप्त बड़ी संख्या में ऐसे श्रमिकों द्वारा हड़ताल, जो मूल उद्योगों में नियोजित हों, जिससे देश का आर्थिक जीवन अवरुद्ध हो और इस भांति पूंजीवादी प्रणाली का अन्त हो जाय। आम हड़ताल की तैयारी के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक अन्तर्ध्वंस, बहिष्कार आदि की विधियों को अपना कर निरन्तर आक्रमण को जारी रखें।

श्रमसंघवाद और समाजवाद में भेद (Difference between Syndicalism & Socialism)—श्रमसंघवाद और समाजवाद में मुख्य भेद यह है कि श्रमसंघवादी उद्योग के नियंत्रण को उत्पादकों, अर्थात् श्रमिकों को सौंपने पर बल देते हैं। इसके विपरीत समाजवादी यह नियंत्रण राज्य को सौंपेंगे, क्योंकि वह उत्पादकों और साथ-साथ उपभोक्ताओं के हितों का भंडार है। द्वितीयतः, श्रमसंघवादियों की धारणा है कि उत्पादक रूप में श्रमिकों को न केवल औद्योगिक क्षेत्र पर नियंत्रण का प्रयोग करना चाहिए, प्रत्युत राजनीतिक क्षेत्र पर भी। उनका उद्देश्य राज्यहीन समाज की रचना करना है। राज्य-कृत्यों को शिल्पों के आधार पर संगठित उत्पादकों के संघ ग्रहण करेंगे। समाजवादी राज्य को स्थिर रखेंगे, क्योंकि वह उसे निश्चित कल्याण और "जनता का प्रतिनिधि तथा ट्रस्टी" मानते हैं। तृतीयतः, समाजवादियों का उद्देश्य पूंजीवाद का अन्त करना है, क्योंकि निजी संपत्ति की व्यवस्था और "राम भरोसे" नीति समग्र रूप में समाज के कल्याण के लिए घातक है। इसका उद्देश्य किसी वर्ग-विशेष का कल्याण नहीं है। किन्तु श्रमसंघवाद वर्ग-विशेष, अर्थात् उत्पादकों के पक्ष का समर्थन करता है। निश्चय ही, इस दिशा में श्रमसंघवाद वह कुछ करने की चेष्टा करता है, जिससे समाजवाद बचना चाहता है। श्रमसंघवादी समाज पर श्रमिकों का प्रभुत्व होगा। इस भांति, मैक्स नोडीऊ अंकित करते हैं, कि "यद्यपि श्रमसंघवाद को समाजवाद की उपज कहा जा सकता है, तथापि श्रमसंघ-

1. Joad, op. cit., p. 69.

वाद समाजवाद के सिद्धांत का मूलतः विरोधी है।[1] चतुर्थतः, अपनी निजी दार्शनिकता और विचारों से समाजवाद का आरम्भ होता है और वह उन विचारों की दृष्टि से समाजवादी संगठन का विकास करता है। इसके विपरीत, श्रमसंघवाद श्रमिक संघों के वर्तमान संगठन से आरम्भ करता है और उसके अनुकूल विचारों का विकास करता है। पंचमतः, समाजवाद के प्रति सामान्य लोकमत में आकर्षण है किन्तु श्रमसंघवाद के प्रति केवल श्रमिक मत। अन्ततः, समाजवाद की विधियां वैधानिक हैं। उनको चेष्टा राजनीतिक और औद्योगिक दोनों प्रशासनों को प्रभावित करने की है। तदनुसार, बर्ट्रेण्ड रसल, श्रमसंघवाद को "सगठित अराजकता" का रूप देते हैं।[2]

श्रम-संघवाद की आलोचना (Criticism of Syndicalism)—श्रमसंघवादी समाज के आदर्श को अस्पष्ट छोड़ दिया गया है। नि.सदेह, इसकी पृष्टभूमि में एक कारण है, किन्तु कोई भी राजनीतिक आन्दोलन अपने ध्येय की निश्चित व्याख्या के बिना आकर्षक नहीं हो सकता। श्रमसघवाद का उद्देश्य औद्योगिक और राजनीतिक नियत्रण उत्पादक रूप में श्रमिकों को सौंपना है। तो फिर, उपभोक्ताओं के हितों को कैसे रक्षा होगी ? इस बात की कोई प्रतिज्ञा नही है कि मूल्य (अर्हा) के उत्पादक, जब एक बार अधिकार और शक्ति पर आरूढ़ हो जायेंगे, तो वह उसी ढंग से अपनी अधिकार-शक्ति का दुरुपयोग नही करेंगे कि जैसा उपभोक्ताओं ने किया है।

श्रमसंघवादियों द्वारा अनुमोदित प्रत्यक्ष कार्यवाही की विधिया भी आपत्तिजनक है। हड़ताल, अन्तर्ध्वस और लूटमार की विधिया समाज के व्यवस्थित रूप को अशांत करती हैं और दूषित सामाजिक तथा नैतिक प्रभाव की रचना करती हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि "आम हड़ताल अनावश्यक है, क्योंकि आम चुनाव कभी भी बहुत दूर नही होते।" जिन क्रातिकारी विधियों से विद्यमान समाज की व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने की इच्छा होती है, उनकी बजाय स्थिर प्रभावो से सपन्न वैधानिक विधियों के प्रति अधिक आकर्षण होता है, क्योंकि उनमें लोकमत की भावना की छाप अन्तर्हित होती है। हड़तालों की सफलता के विषय में भी सदेह प्रकट किये जाते हैं। असफल हड़तालें वर्ग चेतनता को प्रवृद्ध करने की बजाय मजदूरो का नैतिक पतन कर देती हैं। इसके अतिरिक्त, हड़ताल की अवधि में श्रमिक वर्ग को, जिस के पास आश्रय के लिए बचत की गुजायश नहीं होती, अपने उद्देश्य की सफलता से पूर्व भूखो रहना होगा।

फ्रांस में "नव श्रम संघवाद" (The New Syndicalism in France)—प्रथम विश्व-युद्ध और युद्धोत्तर की अवस्थाओं ने फ्रास मे सगठित श्रमसघवाद के स्वरूप और नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया। युद्ध के तत्काल बाद ही श्रम-परिसघ (General Confederation of labour) के अधिकाश सदस्यो ने "सैनिकवाद-विरोधी एव राज्यवाद-विरोधी भावनाओ का परित्याग कर दिया और वे समाजवादियों मे सरकार के साथ इस आशय की सधि करने को मिल गए। और उन्होंने सफलतापूर्वक युद्ध करने के लिये भिन्न आर्थिक क्षेत्रों मे तत्परता से उसका

1. Quoted in Socialism, Its Promise and Failure, op. cit., p. 4.
2. Bertrand Russel, Roads to Freedom, p. 72.

साथ दिया।" देश में युद्धोत्तर आर्थिक तथा सामाजिक कष्टों ने उदार राष्ट्रवादी बहुसंख्या और परिसंघ (Confederation) की युद्ध-रत अल्पसंख्या के बीच अधिक मतभेद पैदा कर दिया। ये मतभेद इतने ज्यादा बढ़ गए कि दोनों दल अन्ततः १९२२ में अलग-अलग हो गए और परिसंघ की युद्ध-रत अल्पसंख्या ने एक नया संगठन बना लिया : संयुक्त श्रम परिसंघ (The General Confederation of United Labour)। इस नये संगठन ने साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी सिद्धांतों को ग्रहण कर लिया और पुराने संगठन ने अपनी सारी क्रांतिकारी चालों का परित्याग कर दिया।

नये श्रमसंघवाद की नीतियों और विधियों का जौहाक्स, पैरट तथा अन्यों ने अपने भिन्न लेखों तथा भाषणों में प्रतिपादन किया। इस नये आंदोलन के दर्शन का विस्तृत स्पष्टीकरण मैक्सिम लिरॉय (Maxime Leroy) ने किया है। श्रमिकों को वर्ग-संघर्ष की अपनी संकुचित धारणा का परित्याग करना होता है और उन्हें अन्तर्दलीय उन सब विधियों पर केंद्रीभूत करना होता है, जो युद्धकाल में प्रभावशाली साबित हों।" "श्रमिक अब निःसंकोच स्वीकार कर सकते हैं कि उत्पादन केवल हस्त-श्रम का ही विषय नहीं है, प्रत्युत उत्पादन की संपूर्ण विधि में प्रशासन, अन्वेषण, खोज, कलापूर्ण कारीगरी, वितरण और प्रयोग तथा उपभोग के विषय भी समाविष्ट हैं। किसी भी बुनियादी जिन्स या सेवा का उत्पादन इस बात की मांग करता है कि शारीरिक श्रमिकों, कारीगरों, अध्यक्षों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, भारवाहकों, प्रयोग-कर्ताओं, खाद्य-सामग्री जुटाने वालों के बीच सहयोग होना चाहिये– इन सब का उस उपयोगिता के प्रमाण, परिमाण, और कीमत से निकट संबंध है।" इस प्रकार, नया श्रमसंघवाद उन सब स्वार्थों के सहयोग और सहकारिता का एक दर्शन है, जो प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः उत्पादन तथा उपभोक्ता के कार्य से संबंधित हैं। राज्य को देख-रेख और भिन्न संघों की प्रतिक्रियाओं के सहयोग का कृत्य सौंपा जायगा। लिरॉय के अनुसार राज्य "अपने सब नियमों तथा अपनी सब सेवाओं के द्वारा आरम्भिक की एक प्रेरणा का रूप धारण कर लेगा। वह प्रतिरोध की बजाय पथ-दर्शन के यत्न करेगा, उसके विधान आदेशात्मक होने की जगह अधिकाधिक नवीनता के साधन होंगे।"

नव-श्रमसंघवादी राज्य से इस बात की भी मांग करेंगे कि वह सैनिक प्रतिरक्षा तथा विदेशी आदान-प्रदान का प्रबंध करे। राज्य की दमनात्मक शक्ति उस संशोधन द्वारा न्यूनतम रूप में घटा दी जायगी। नव-श्रमसंघवादी एक निश्चित एवं विस्तृत कार्यक्रम पर स्थिर रहते हुये किसी भी प्रकार की हिंसा की निन्दा करते हैं। उनका कहना है कि, "हिंसा के साथ सर्वहारावादियों का कोई नाता नहीं; यह तो सब युगों की बुराइयों का एक शस्त्र है और सर्वहारावादियों ने इसे १८वीं और १९वीं सदियों के बूर्जुआ राज्य-विद्रोही दलों से प्राप्त किया।" इस प्रकार नव-श्रमसंघवाद "कुछ अवस्थाओं में वाल्डैक राऊ तथा उसके सहयोगियों के लगभग ६० वर्ष पूर्व के विचारों की ओर ले जाता है।"

गण समाजवाद (Guild Socialism)—गण समाजवाद का जन्म इंग्लैंड में हुआ था। इसे "अंगरेजी अवसरवाद" (Fabianism) और फ्रांसीसी श्रमसंघवाद का बुद्धिजीवी शिशु" कहा जाता है।[1] दीर्घसूत्रवाद, जिसमें समूहवाद के सिद्धान्तों का

1. Rockow, Contemporary Political Thoughts in Engla nd, p. 150.

समावेश है, अनेक अगरेजो को आकर्पित करने में असफल रहा है। उनकी धारणा थी कि समूहवाद पूजीवाद के दूषणों का उन्मूलन नहीं करता, और वह पूजीवादी नौकरशाही का राज्य की केन्द्रीभूत नौकरशाही द्वारा प्रतिस्थापन मात्र है। न हो वह श्रमिक को कार्य की अपनी निजी शर्तें निश्चित करने की शक्ति प्रदान करता है। श्रमसंघवाद, यद्यपि कर्मकरों का आदोलन था, तथापि यह अगरेजो के स्वभाव के अनुकूल नही था। यह अत्यधिक क्रातिकारी और अराजकतापूर्ण था। संकटपूर्ण परिवर्तन और राज्य-रहित समाज का विचार जनतात्रिक नीतियों की यांत्रिकता में शिक्षित अगरेज नागरिको की मनोवृत्ति के लिए विदेशी था। इसलिए, अंगरेज राजनीतिक मनोवृत्ति ने पारपरिक समूहवाद और श्रमसंघवाद के बीच मध्य-मार्ग को ग्रहण किया। कुछ तो समूहवादियों से लिया गया और श्रमसघवाद की मौलिकताओ के साथ एक नये सिद्धान्त की रचना की गई, जो गण-समाजवाद (Guild Socialism) के रूप मे ख्यात हुआ। गण समाजवाद का उद्देश्य राज्य के आकाररूप के अन्तर्गत उपभोक्ताओं और उत्पादकों की जनतांत्रिकताओं को अधिकार-शक्ति सौपना है।[1]

सर्वप्रथम, वर्तमान सदी की प्रथम और द्वितीय दशाब्दि में अंगरेज बुद्धिजीवियो ने मौलिक रूप में गण-समाजवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया था। १९०६ मे प्रकाशित, ए०जे० पेंटी लिखित "The Restoration of the Guild System" पुस्तक में इसके आधार-मूलक विचार प्रकट हुए थे। पेंटी इस पुस्तक मे मध्य-युग की दिशा में लौटने का प्रतिपादन करता है, अर्थात्, "उद्योग में स्व-शासन का सिद्धान्त, जिसके अधीन शिल्पी अपने काम के औजारो का स्वामी, और स्वायत्तगण का सदस्य था, और अपने उत्पादन के स्वरूप और सीमा का निश्चय करता था।" पेंटी का तर्क अशतः भावुकता पर आधारित है और अंशतः उसके कलात्मक आधार हे, और उसमें आदि से अत तक आधुनिक वृहद्-स्तर के उत्पादन की विधियो के प्रति विरोध की भावना पाई जाती है। जो भी हो, उसके स्वतंत्र शिल्पी आधार पर उद्योग सगठन के सुझाव क्रियात्मक नही जान पड़ते और "गण-समाजवादी प्रचार का स्वप्नदर्शी युग"[2] कहकर उसको चित्रित किया गया है।

प्रस्तुत आदोलन शीघ्र ही लोक-प्रिय बन गया और इसके अनुयायियो की वृद्धि हो गई। गण समाजवाद ने एस. जी. हाब्सन और ए० आर० ओरेज के हाथों अधिक क्रियात्मक रूप धारण किया। उन्होंने भी मध्ययुगीन गण-प्रणाली के पुनरुद्धार का समर्थन किया, किंतु, उसके साथ ही, उन्होंने स्वीकार किया कि वृहद्-स्तर की प्रणाली के साथ इस सिद्धान्त का समन्वय करने के लिए उत्पादन की आधुनिक अवस्थाओ में कुछ आधारमलक सुधार करने की आवश्यकता है। उनकी धारणा थी कि गण विचार को विद्यमान संघ संगठन के आधार पर आधुनिक अवस्थाओं के अनुरूप ग्रहण किया जाय। "उनका तर्क था कि उद्योग से संबंधित श्रमिको द्वारा उद्योग मे स्व-शासन हो, जिन्हें औद्योगिक गणों की प्रणाली से परस्पर संगठित किया जाय, और वर्तमान श्रमिक सघों का [illegible] रूप हो।"[3] जी० डी० एच० कोल इस नए आदोलन का सक्रिय दार्शनिक प्रच

1. Joad., op. cit., p. 74.
2. Ibid., p. 75.
3. G. D. H., Cole, Self Government in Industries, p. 5.

कोल वस्तुत: अवसरवादी थे, और समिति के अन्वेषण विभाग में वह सक्रिय योग प्रदान करते थे। कोल जिस समय तक अवसरवादी समाज में रहे, वे अपने साथी-सदस्यों को इस बात की प्रेरणा करते रहे कि उन्हें राजनीतिक श्रमवादियों तथा उदारवादियों से संबंध तोड़ ेना चाहिये। किन्तु वह इसमें सफल न हुये और उसके बाद युद्ध छिड़ गया। राज्य की शक्तियों में अपरिमित वृद्धि के कारण उन्हें भीषण धक्का लगा। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि राज्य की सर्वशक्तिमत्ता दीर्घकालिक-मार्ग नहीं बन सकता। इस बीच वह फ्रांसीसी श्रमसंघवाद के समर्थक बन गए थे। उसके तईं उन्हें पर्याप्त आकर्षण हो गया और विलियम मारिस को अपना उपदेष्टा मानकर उन्होंने समाजों की मध्यकालिक-समाज को प्रचलित करने का समर्थन शुरू कर दिया। उन्होंने राज्य के लिये संघीय आकार का प्रतिपादन किया और इस बात पर बल दिया कि राज्य के *अन्तर्गत समूचे समाज का* समावेश नहीं होता। कोल ने एक दर्जन से अधिक पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में *गण*-समाजवाद के गूढ़ एवं रचनात्मक विचारों का स्पष्टीकरण किया और इस प्रकार, वह "इस आंदोलन के अत्यधिक प्रभावशाली व्यक्ति ख्यात हुए।"

गण-समाजवाद का विश्लेषण (Guild Socialism Analysed)—गण समाजवाद का लक्ष्य उद्योग में स्वायत्तता प्राप्त करना है, और इसके परिणाम स्वरूप राज्य की शक्तियों में न्यूनता तो की जायगी, लेकिन उनका सर्वथा उन्मूलन नहीं होगा। "राष्ट्रीय गण-संघ (National Guilds League) की प्रथम पुस्तिका गण-समाजवाद के मुख्य सिद्धांतों को उपस्थित करती है। उद्योग की दिशा में प्रत्येक फैक्टरी निर्वाचित अध्यक्षों द्वारा उत्पादन की निजी विधियों का नियंत्रण करने में स्वतंत्र होगी। किसी प्रदत्त उद्योग में जितनी विभिन्न फैक्ट्रियां होंगी, उनका राष्ट्रीय-गण के अधीन संघ बनाया जायगा, जो समष्टिरूप में समुदाय के सामान्य हितों तथा बाजार-बिक्री का प्रबन्ध करेगा। समुदाय का ट्रस्टी होने के नाते राज्य उत्पादन के साधनों का स्वामी होगा। प्रत्येक गण इस दिशा में स्वतंत्र होगा कि उसे जो-कुछ प्राप्त हो उसे वह अपने सदस्यों में इच्छानुसार बांट दे, उसी उद्योग में काम करने वाले ही उसके सदस्य होंगे।

इस प्रकार, गण-समाजवादी श्रमसंघवादियों के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं कि राज्य को नियोजक बनाकर व्यक्ति की स्वाधीनता प्राप्त नहीं की जा सकती। वे मानते हैं कि राज्य उस समुदाय द्वारा संयोजित है, जिसका स्वरूप उपभोक्ता का है, और दूसरी ओर गण उत्पादक होने के नाते उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार, गण-समाजवादी समाज में दो प्रतिनिधि संस्थायें होंगी, एक पार्लमेंट और *गण-कांग्रेस*, जिनकी साझी-समान शक्तियां होंगी—इनमें प्रथम उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करेगी और दूसरी उत्पादकों का। इन दोनों संस्थाओं के ऊपर पार्लमेंट और गण-कांग्रेस की एक संयुक्त कमेटी होगी, जिसे उपभोक्ताओं और उत्पादकों के हित संबंधी प्रश्नों का समान रूप में निर्णय करने का अधिकार होगा। इस ढंग से गण-समाजवाद समूहवादियों तथा श्रम-संघवादियों के दृष्टिकोण से समझौता करने की चेष्टा करता है। लेकिन यद्यपि गण-समाजवाद समानरूप में दो वैध दृष्टिकोणों में समन्वय करने की चेष्टा करता है तथापि उसकी प्रेरणा और शक्ति तो जो कुछ उसने श्रमसंघवाद से ग्रहण किया है, उसीमें से हासिल की जाती है। श्रमसंघवाद के समान ही इसकी इच्छा मुख्यत: यह नहीं कि श्रम को बेहतर

भुगतान किया जाय, प्रत्युत स्वतः इसके स्वरूप को अधिक रुचिकर एवं अधिक जननात्रिक संगठन बनाकर अन्य बातों के साथ-साथ इस परिणाम को भी हासिल करना है।" "समाजवाद की पकड़ करने में अवसरवादी समूहवादियों और गण-समाजवादियों में जो अन्तर है, वह विशेष उल्लेखनीय है। अवसरवादियों के मतानुसार पूँजीवाद के साथ जनता की गरीबी जुड़ी रहती है, जबकि गण-समाजवादियों के अनुसार पूँजीवाद के साथ जनता की दासता अटकी रहती है।

गण-समाजवाद का सिद्धान्त (The Doctrine of Guild Socialism)—फलस्वरूप गण समाजवादी जन-समूह को दासता मुक्त कर देना चाहते हैं। वे इस बुराई के दो कारण बताते हैं: (१) पगार प्रणाली; और (२) प्रतिनिधित्व संबंधी प्रणाली।

गण समाजवादी पगार प्रणाली की निंदा करते हैं और उसके उन्मूलन पर बल प्रदान करते हैं। यहा वह मूल्य-आधिक्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त से सहमत हैं और पूर्व परिचित तर्क को उपस्थित करते हैं कि मूल्य आधिक्य वस्तुतः श्रमिक का अंश है। पूँजीवादी समाज में पगारों के बदले श्रमिकों से आशा की जाती है और कहा जाता है कि वह उत्पादन के सारे नियंत्रण को अपने मालिकों के हवाले कर दें। उन्हें उत्पादन के कार्य में केवल "साधन" माना जाता है। पगार प्रणाली की ये विशेषताएं श्रम के पतनशील स्तर के चिह्न हैं और गण-समाजवादी इस व्यवस्था को पलटने पर उतारू हैं। उनका उद्देश्य श्रम को उद्योग का निश्चित नियंत्रण सौंपना है, जिससे श्रमिक "मनुष्यों में मनुष्य" बन सके। एक मानव प्राणी के नाते उसके अधिकार और उत्तरदायित्व हों, और स्व-अभिव्यक्ति, स्व-शासन और व्यक्तिगत स्वतत्रता के लिए उसमें भी इच्छा हो।" उनका मत है कि यदि लोकतंत्र वस्तुतः सफल हो सकता है, तो लोकतंत्र के सिद्धान्त को उद्योग और साथ-साथ राजनीति पर लागू करना चाहिए। तदनुसार, गण-समाजवादी उद्योग के नियंत्रण को उत्पादकों के गणों के हवाले करने का प्रस्ताव करते हैं, जो, बदले में, उपभोक्तारूप में जनता के प्रतिनिधि जनतान्त्रिक राज्य के साथ सहयोग करेंगे। प्रत्येक उद्योग का सार्वजनिक सेवा के रूप में पुनः संघटन किया जायगा और उसपर उन लोगों का नियंत्रण होगा, जो हाथ या मस्तिष्क से, वस्तुतः कार्य करते हैं। नौकरशाही और अयोग्यता के खतरों से बचने के लिए, गण-समाजवादियों का सुझाव है कि विस्तृत समिति प्रणाली से पूर्ण औद्योगिक सरकार की स्थापना की जाय। यह प्रकट किया गया है कि उपभोक्ताओं के हितों को पर्याप्त रूप में सुरक्षित किया जायगा और इस उद्देश्य के लिए प्रत्येक उद्योग के स्वामित्व के अन्तिम अधिकार राज्य में निहित होंगे। फलत, गण समाजवादियों के लिए मुख्य आर्थिक समस्या "शिल्प की भावना को प्रचलित करने का मार्ग खोज लेने की है; साथ ही एक ऐसी प्रणाली का निर्माण करने की है कि जो श्रमिकों में न केवल कुशलता का ही विकास करे, प्रत्युत उनके काम में गौरव भी। इसके अतिरिक्त, उनमें एक दिलचस्पी पैदा हो, जिसका संबंध मुख्यतः उनके उपार्जन की मात्रा से ही न हो, प्रत्युत जो वह बनाएं, उनके रूप और गुण में भी उन्हें दिलचस्पी हो।"

कृत्यकारी प्रतिनिधित्व (Functional Representation)—गण-समाजवादी पारिभाषिक रूप में समाज के विद्यमान राजनीतिक स्वरूप की निंदा क

हैं। वह प्रतिनिधित्व की प्रचलित प्रणाली को भ्रष्ट प्रतिनिधित्व और अजनतांत्रिक ठहराते हैं। प्रदेशीय हल्के से निर्वाचित प्रतिनिधि उस क्षेत्र में रहने वाले सब भिन्न हितों का प्रतिनिधि बन जाता है। किन्तु एक प्रतिनिधि अपने उन निजी हितों का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकता है, जो उसके दूसरों के साथ सामान्य होते हैं। एक जूते बनाने वाला अपने साथी जूते बनाने वालों का प्रतिनिधित्व कर सकता है, क्योंकि उनके द्वारा हितों के एक समुदाय का संघटन होता है। इसी प्रकार, एक विशिष्ट उद्योग का श्रमिक अपने उद्योग का सच्चा प्रतिनिधि हो सकता है, और दूसरा कोई नहीं। यदि एक वकील चर्मकारों, श्रमिकों तथा अन्य अनेक हितों का प्रतिनिधित्व करता है, जैसा कि प्रतिनिधि जनतंत्र की विद्यमान अवस्थाओं के अधीन है, तो गण-समाजवादियों की दृष्टि में यह प्रतिनिधित्व सिद्धान्त का दुरुपयोग मात्र है। उनकी धारणा है कि वास्तविक प्रतिनिधित्व कृत्यात्मक आधार पर होना चाहिए और भौगोलिक आधार पर नहीं। एक पूर्ण जनतांत्रिक समाज के लिए आवश्यक है कि उसमें प्रतिनिधियों के इतने अलग-अलग निर्वाचित समूह होने चाहिएं कि जितने संपादित किए जाने वाले कृत्यों के विभिन्न और अनिवार्य समूह हैं.... । मनुष्य को भिन्न रूपों में तथा अलग-अलग उतने मतों का प्रयोग करना चाहिए कि जितने उसके विभिन्न सामाजिक उद्देश्य या हित हों।"[1]

किंतु गण-समाजवादी प्रदेशीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली का पूर्णतया बहिष्कार नहीं करना चाहते। शिल्पात्मक हितों से ऊपर भी विभिन्न हित ह, जो उसी देश के सदस्य होने के नाते मनुष्यों के अन्यों के साथ सामान्य होते हैं। आंतरिक शांति और सुरक्षा, प्रतिरक्षा, शिक्षा, मुद्राचलन और साख आदि सरीखी समस्याएं राष्ट्रीय समस्याएं हैं, और किसी का कोई भी व्यवसाय होने पर सब के लिए समान हैं। यह प्रस्ताव किया गया है कि राष्ट्रीय हितों के प्रतिनिवित्व को प्रक्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की विद्यमान प्रणाली पर ही छोड़ दिया जाय। गण-समाजवादियों के मतानुसार, प्रतिनिधित्व का सच्चा स्वरूप कृत्यात्मक और भौगोलिक प्रतिनिधित्व का योग है।

स्थानीय समस्याओं को, जैसे, पानी, बिजली तथा अन्य जन-उपयोगिता की सेवाएं, गण-समाजवादी स्थानीय प्रादेशिक गणों (Regional Guild) को सौंपेंगे। अन्ततः, उपभोक्ता परिषदें होंगी। इन परिषदों को उत्पादकों की कारखाना और फैक्ट्री-समितियों के साथ मिल कर उत्पादन के स्तर, लागतों और उत्पादित वस्तुओं की कीमतों का निश्चय करना होगा।

इस प्रकार, कृत्यात्मक लोकतंत्र का सिद्धान्त गण-समाजवादियों के सिद्धान्त में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त किये है। इसे औद्योगिक और राजनीतिक संगठन विषयक प्रश्नों का निराकरण करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। जोड ने उचित रूप में अंकन किया है कि कृत्यात्मक लोकतंत्र का सिद्धान्त, "जो केन्द्रीभूत और चहुं-मुखी राज्य के विचार से प्रबल प्रतिक्रिया करता है, वह विभिन्न समितियों को कृत्यों तथा शक्तियों के देने का समर्थन करता है। उनसे यह आशा की जाती है कि वह आधुनिक समाज की जटिलता में मनुष्य के सब भिन्न हितों की अभिव्यक्ति करेंगी।"[2]

---

1. Cole, Self-Government in Industry, pp. 33-34.
2. op. cit., p. 78.

फलतः, गण-समाजवाद के रचयिता राज्य और साथ-साथ गण की गुजायश कर लेते हैं; और ऐसा वह "शक्तियो के अलगाव" से कर पाते हैं। राज्य को वह ऐसे सब प्रश्न सौपेंगे, जिनका राष्ट्रीय जीवन से संबंध होगा; "गण के समक्ष वह ऐसे सब प्रश्न उपस्थित करेंगे, जिनका राष्ट्रीय आय से संबंध होगा।" इस ढग से दो जनतान्त्रिक—आर्थिक और राजनीतिक—राज्य में प्राप्त हो जायेंगे। क्योंकि, यदि आर्थिक लोकतंत्र नही होगा—श्रमिकों द्वारा स्वतः अपने कार्य का नियत्रण—तो राजनीतिक लोकतंत्र भी बेकार रह जायगा।

गण-समाजवादी आगे इस बात पर जोर देते हैं कि फैक्ट्री वह स्थान है, जो सक्रिय स्वशासन के लिये आवश्यक प्रशिक्षण विद्यालय का काम करती है। और जबतक लोकतंत्र औद्योगिक क्षेत्र में सफलतापूर्वक स्थापित नही हो पाता, तबतक राजनीति मे वह वास्तविक लोकतंत्र के रूप में कार्य नही करेगा, भले ही मताधिकार को कितना ही विस्तृत रूप दे दिया जाय। "क्योकि जिन अवस्थाओं में मनुष्य काम करते है, उनका उनके मस्तिष्क और विचारो पर गहरा प्रभाव होता है, और वे राजनीति में उत्पन्न होने वाले विस्तृत प्रश्नों पर तबतक नियत्रण करना नही सीख सकते जबतक उन्हें उनके नित्य-प्रति के जीवन पर प्रभाव डालने वाले अधिक आवश्यक मामलो पर नियत्रण करने का अवसर नही दिया जाता। नि.सन्देह, इस सिद्धात मे न केवल उद्योग में स्व-शासन का ही प्रश्न अन्तर्निहित है, प्रत्युत कृत्यात्मक लोकतंत्र को वह विस्तृत प्रणाली भी समाविष्ट है, जो सामहिक कार्यालय के प्रत्येक क्षेत्र में फैली हुई है।"[1]

गण-समाजवाद की विधियां (Methods of Guild Socialism)—गण-समाजवाद की विधियों की कुजी श्रमिक सघ है। गण-समाजवादियों को अपने ध्येयों की प्राप्ति के लिए वैधानिक विधियो से सतोष नही है। गण-समाजवादियों का तर्क है कि जिन परिवर्तनो को वह करना चाहता है, उसके लिए राज्य का संगठन और उसकी कला, उचित साधन नही है। आधारमूलक आर्थिक रूपातर-केवल आर्थिक साधनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसे विद्यमान श्रमिक संघ आदोलन को विस्तृत और विकसित करने से सफल किया जा सकता है, और उसके बाद श्रमिकों को "नियत्रण अतिक्रमण"-की नीति का अनुकरण करना चाहिए। नियत्रण अतिक्रमण का आशय यह है कि "जिस आर्थिक शक्ति का अधिकृत वर्ग इस समय प्रयोग करते हैं, उसे उनके हाथों से अश-अश कर छीनना। और इसके लिए यह उपाय करना होगा कि उनके मनोनीत व्यक्तियो के अधिकारों तथा कृत्यो को धीरे-धीरे श्रमिक-वर्ग के प्रतिनिधियों को सौप दिया जाय।" इस तरह, गण-समाजवादी अपना ध्येय विकास द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करते है, जो "विद्यमान औद्योगिक स्थिति का स्वाभाविक और क्रमिक विकास है।" यहा श्रम-सघवादियों से उनका मौलिक मतभेद है, जो क्रान्तिकारी विधियो मे विश्वास करते हैं और उनका समर्थन करते हैं।

: आलोचना—प्रकट रूप मे, गण-समाजवाद में श्रमिक और उपभोक्ता दोनो के लिए आकर्षण है। गण-समाजवादी राज्य जुदा-जुदा स्वायत्त इकाइयो के साथ विकेन्द्रित राज्य बनना चाहता है। जो भी हो, राज्य के स्तर के विषय में मतभेद है। उदाहरणार्थ, हाल्ड

1. Cole, A Guide to Modern Politics, pp. 406-07

कहते हैं, राज्य, स्थानीय और राष्ट्रीय सब गणों तथा अन्य सब संघों में सर्वोच्च होगा, क्योंकि भिन्न आर्थिक और राजनीतिक इकाइयों में उत्पन्न होने वाले सभी झगड़ों का वही निर्णय अधिकारी होगा। इसके विपरीत, कोल राज्य को अन्य अनेक संस्थाओं जैसा ही मानता है और हाब्सन की तरह अन्यों पर प्रभुत्वशाली संस्था नहीं।

किन्तु गण-समाजवाद अलग सिद्धान्त के रूप में अब नष्ट हो चुका है। गण-समाजवादी मानव स्वभाव पर अत्यधिक भरोसा करते हैं। यदि मनुष्य में से स्वार्थी मनोवृत्ति को नहीं निकाला जा सकता, तो गण-समाजवादी अपने लक्ष्य में असफल हो जाता है। इसी प्रकार कृत्यात्मक लोकतंत्र भी कार्यान्वित योजना नहीं जान पड़ता। यदि कृत्यात्मक प्रतिनिधित्व सामाजिक एकता को नष्ट करता है, तो उद्योग में कृत्यात्मक लोकतंत्र अपनी निजी विकट समस्याएं उपस्थित कर देता है। कहां से पूंजी आएगी और कौन जोखिम उठाएगा, इन दो प्रश्नों का समुचित उत्तर आवश्यक है।

साम्यवाद (Communism)—साम्यवाद शब्द का प्रयोग अनेक भिन्न अर्थों में प्रकट करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी समाज के सिद्धान्त के लिए इसका उपयोग किया जाता है, जैसे, प्रारंभिक ईसाई समाज के विषय में, जिसमें तेरा और मेरा कुछ नहीं था किन्तु सारी संपत्ति साझी थी। कुछ लोग समाजवाद के पर्यायवाची रूप में इसका उपयोग करते हैं, जो वस्तुतः यह है नहीं। क्योंकि, सब साम्यवादी तो समाजवादी हैं, किन्तु सब समाजवादी साम्यवादी नहीं हैं। एक जन-साधारण यह समझता है कि साम्यवाद समाज की उस प्रणाली का संकेत करता है, जिसके अधीन खाना, कपड़ा, आवास, शिक्षा, चिकित्सा सहायता, तथा जीवन की अन्य अनिवार्यताएं आवश्यकतानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त होती हैं। किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि साम्यवाद का इनमें से कोई भी अर्थ नहीं है। साम्यवादियों का दावा है कि वह कार्ल मार्क्स के सत्य उपदेशों के उत्तराधिकारी हैं, और, इसलिए, उनका संबंध उस विशिष्ट अर्थ से है, जो साम्यवादी घोषणा में, साम्यवाद शब्द को प्रदान किया गया है। "इस दृष्टि से साम्यवाद शब्द अनिवार्यतः एक विधि-सिद्धान्त है; वह उन सिद्धान्तों को स्थापित करना चाहता है, जिनके अनुसार पूंजीवाद से समाजवाद को हस्तांतरण की प्राप्ति होगी; और इसके दो अनिवार्य सिद्धान्त वर्ग-युद्ध और सर्वहारावादियों के क्रान्तिपूर्ण ढंग, अर्थात जबरदस्ती से शक्ति-हस्तांतरण हैं।"

मार्क्सवादी साम्यवाद (Marxian Communism)—यदि हमें साम्यवाद के आधार का पता लगाना है, तो हमें मार्क्स की ओर लौटना होगा। मार्क्सवादी सिद्धांत के प्रमुख अंगों पर हम पूर्वतः संक्षेप से विचार कर चुके हैं। तिस पर भी, उन सिद्धान्तों, जिन पर साम्यवाद का आधार है, की रचना करने के लिए जो कुछ कहा जा चुका है, उसे दोहराना एवं विस्तार देना आवश्यक है। मार्क्स ने सभी ऐतिहासिक आन्दोलनों को, चाहे वे धार्मिकया सांस्कृतिक या राजनीतिक थे, जीवन की भौतिकअवस्थाओं की दृष्टि से देखा था। उनका कथन था, "यह मनुष्य की चेतना नहीं है कि जो उसके अस्तित्व का निश्चय करती है, प्रत्युत इसके सर्वथा विपरीत, उसका वह सामाजिक अस्तित्व है जो उसकी चेतना का निश्चय करता है।" व्यक्तिगत संपत्ति रखने के अधिकार से समाज दो विरोधी वर्गों

में बंट गया है। "ठीक उसी प्रकार, जैसे कि प्राचीन दुनिया में दास-मालिकों का हित दासों के हित के विपरीत था, और मध्ययुगीन योरोप में सामंती सरदारों का हित अर्ध-दासों के विपरीत था, हमारे समय में पूंजीवादी वर्ग का हित, जो संपत्ति के स्वामित्व से अपनी आय प्राप्त करता है, उस सर्वहारा-वर्ग के हित का विरोधी है, जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए मुख्यत: अपनी श्रम शक्ति के विक्रय पर निर्भर करता है।" पूंजीवादी वर्ग सर्वहारा-वर्ग द्वारा उत्पादित समूचे मूल्य-आधिक्य का उपयोग करता है, जो मार्क्स के अनुसार सर्वहारा-वर्ग को वैध रूप में मिलना चाहिए। औद्योगिक कला-कौशल में उन्नतिशील जटिलता के कारण उद्योग का नियंत्रण एकाधिकारपूर्ण बन जाता है और कुछ पूंजीवादियों के हाथों में केन्द्रीभूत हो जाता है, जब कि श्रमिकों की अवस्था अधिक चिन्ताजनक हो जाती है।

यही है वह चरण कि जहां पूंजीवाद अपने निजी विनाश के बीजों की सृष्टि करता है। पूंजीवाद जिन साधनों का "अपने लाभों और किरायों की वृद्धि के लिए उपयोग करता है, जब वह पूर्ण हो जाते हैं, तो वह अनिवार्यत: श्रमिकों के हाथ पड़ते हैं, जिनका वह संपूर्ण पूंजीवादी प्रणाली को नष्ट करने के लिए उपयोग करते हैं।" मार्क्स इस भविष्यवाणी को पूर्ण विस्तार के साथ विकसित करते है। प्रथम अवस्था मे, पूंजीवादी उत्पादन के अधीन वृहद-स्तर उत्पादन, कृत्यों के विशिष्टीकरण की वृद्धि, वस्तुओं के प्रमाणीकरण की दिशा में प्रवृत्ति होती है और उसके बाद एकाधिकारकरण की दिशा में। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप वृहद्-स्तर के निर्माता लघु-स्तर के निर्माताओं को बाजार से बाहर करने मे सफल हो जाते हैं। इस प्रकार, लघु-स्तर निर्माता शोषित बन जाते है और वह शोषित सर्वहारा-वर्ग की श्रेणी में मिल जाते हैं। द्वितीय अवस्था मे उद्योगों के स्थानीकरण और संबद्ध होने की दिशा में प्रवृत्ति है। पूर्वकथित का अर्थ ऐसे क्षेत्रों में उद्योगो का जन्म और उत्कर्ष है कि जिनसे उच्चतम सापेक्ष लाभों की उपलब्धि हो। संबद्ध की प्रवृत्ति का यह आशय है कि सभी विधियों की एक प्रबंध के अधीन परस्पर सबद्धता और सहयोग हो, जिसमें कच्चे माल से लेकर अतिम चरण तक वस्तु के उत्पादन का समावेश होगा। इस सब के कारण हजारो श्रमिकों का परस्पर मेल हो जायगा। इन निरन्तर पारस्परिक संबधो से श्रमिको को अपनी अयोग्यताओं और कठिनाइयो का भान हो जाता है। और उसके कारण उनकी समूह-चेतना दृढ़ होती है। तृतीयत:, वृहद-स्तर उत्पादन का अर्थ दो बातो से है। घरेलू बाजार में इसके फलरुप बेरोजगारी होती है, क्योकि यन्त्रो के उपयोग को विस्तार दिया जाता है और उत्पादन की लागतो को कम करने के लिए श्रम-बचत की विधियो का उपयोग किया जाता है। बेरोजगारी का अर्थ है क्रय-शक्ति की क्षति और फलस्वरूप घरेलू बाजार का [illegible] हो जाती हैं। निर्माता विदेशों में नये बाजारो की खोज करते हैं। वृहद्-स्तर उत्पादन का आशय विस्तृत बाजारों से भी है। विस्तृत बाजार केवल [illegible] और [illegible] के [illegible] विकास की अवस्थाओं के अधीन संभव हो सकते है। इससे [illegible] के [illegible] टूट जाते है, जिससे औद्योगिक विश्व मे फैले हुए श्रमिको में [illegible] धाएं बन जाते है, और इस प्रकार श्रमिको के सांझे हितु को [illegible] है।

चतुर्थत:, समय-समय पर आर्थिक संकटों का होना [illegible] रूप है। संभव है संकट या तो पूंजीकरण के आधिक्य या [illegible] को उद्योग के उत्पादन का अत्यधिक छोटा अंश [illegible] है। [illegible]

उत्पादकों द्वारा रचित मूल्य-आधिक्य का अधिकांश पूंजीवादियों के स्थायी कोष में चला जाता है। श्रमिकों की क्रय-शक्ति में कमी हो जाने के कारण वह कम वस्तुओं का उपभोग करते हैं। इस तरह, उत्पादित वस्तुओं के आधिक्य से बाजार पट जाते हैं और असफलता एवं गतिहीनता का आविर्भाव हो जाता है। अन्ततः, पूंजीवादियों के उत्पादन की लागतों को निरन्तर कम करने के यत्नों के फलरूप दूषित चक्र की रचना हो जाती है। एक उद्योग में बेरोजगारी का अर्थ है अन्य उद्योगों में बेरोजगारी। इससे कार्य-रहित श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती है और सब बुराइयों में सबसे बड़ी बुराई बेकार श्रमिक का असंतोष और विरोध है।

काकर इस संपूर्ण विधि को संक्षेप में इस प्रकार प्रकट करते हैं : "इस प्रकार पूंजीवादी प्रणाली श्रमिकों की संख्या की वृद्धि करती है, उनके ठोस समूह बनाती है, उनमें वर्ग-चेतना उत्पन्न करती है, उन्हें विश्व-स्तर पर अन्तर-संचारण और सहयोग के साधन प्रदान करती है, उनकी क्रय-शक्ति कम करती है, और उनका अधिकाधिक शोषण करने के द्वारा उनमें संगठित प्रतिरोध की भावना उत्पन्न करती है। पूंजीवादी, अपनी निजी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और लाभों को स्थिर रखने वाली प्रणाली पर निरन्तर कार्य करते हुए, सदैव ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न करते हैं, जो श्रमिकों को ऐसी प्रणाली तैयार करने में उनके प्राकृतिक यत्नों को बल प्रदान करती है कि जो श्रमिक के समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल हो।"[१]

इन सब अंशों का संचित प्रभाव अन्ततः पूंजीवाद समाज को उखाड़ फेंकने वाली खुली क्रान्ति है, जब कि सर्वहारावादी उत्पादन के साधनों को निजी स्वामित्व से छीन लेता है। इस तरह, उत्पादन की पूंजीवादी विधियां अपने निजी पतन का कारण हैं। मार्क्स का मत है कि श्रमिक वर्ग की विजय अपने साथ मानवता का उद्धार लाती है। "यद्यपि क्रान्ति स्वतः वर्ग आधार पर की जाती है, तथापि क्रान्ति के बाद जिस समाज की सृष्टि होगी, वह वर्ग-उन्मूलन के आधार पर होगी।" साम्यवादियों का दावा है कि पूंजीवाद के विरुद्ध उनका युद्ध यद्यपि बाह्य रूप में आधिपत्य-वंचित वर्ग की ओर से किया गया है, तथापि यह संपूर्ण मनुष्यजाति का युद्ध है; और "यही है वह धारणा, जिसमें निःस्वार्थ भावना से पैदा हुई तीव्रता मिली होती है, जो ऊपर से कुछ-कुछ शुष्क मालूम देने वाली और सैद्धान्तिक कार्यक्रम में कृत्रिम रूप में अंतर्हित आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान की उत्पत्ति करती है।"[२]

यद्यपि साम्यवादियों का अन्तिम लक्ष्य वर्ग-रहित और राज्य-रहित समाज की रचना द्वारा मानवता का उद्धार करना है, तथापि इसकी सफलता में कुछ समय लगेगा। सर्वहारावादियों की क्रान्ति मार्ग तैयार करती है, किन्तु वह चमत्कृत रूप में उसका आविर्भाव नहीं करती। तदनुसार, क्रान्तिकारी प्रगति को दो भिन्न स्तरों में विभाजित किया गया है : (१) हस्तान्तरण, क्रान्तिकारी चरण, जब राज्य सर्वहारावादियों के प्रभुत्व में कार्य करने लगेगा ; और (२) साम्यवादी वर्ग-रहित चरण, जिसमें अधिकार शक्ति के कोप रूप में राज्य का लोप हो जायगा।

1. *op. cit.* p. 52.
2. Joad, *op. cit.*, p. 90

क्रान्तिकारी चरण (The Revolution State)—यद्यपि पूजीवाद अपने निजी विनाश की दिशा में स्वभावतः अग्रसर होता है, तथापि यह समाजवाद की रचना नही करता। कार्ल मार्क्स के अनुसार, इसकी सफलता के लिए सचेष्ट, विवेकपूर्ण और सुविचारित कार्यवाही की आवश्यकता है। साम्यवादियों को राजनीतिक लोकतन्त्र की साधारण वैधानिक विधियों की कार्यकारिता मे कोई विश्वास नही। वह विद्यमान राज्य के यन्त्र को सर्वहारावादियों की क्रान्तिकारी तानाशाही द्वारा प्रतिस्थापित करेंगे। मार्क्स कहते हैं, "बुर्जुआओं के विरोध को नष्ट करने के लिए, श्रमिक राज्य में क्रान्तिकारी भावना का विनियोजन करेंगे।" इससे यह परिणाम निकलता है कि राज्य परिवर्तन के इस समय में दमनकारी तथा स्वेच्छाचारी शक्तियों द्वारा अभिभूत होगा। वह प्रशासन की जनतात्रिक यान्त्रिकता नहीं होगी। एंजल्स कहते हैं, "क्योंकि राज्य केवल एक अस्थायी संस्था है, जिसका क्रान्ति मे विरोधियों का बलपूर्वक दमन करने के उद्देश्य से उपयोग किया जायगा, इसलिए स्वतन्त्र लोकप्रिय राज्य के विषय मे चर्चा एकदम व्यर्थ है : सर्वहारावादियों को जब तक राज्य की आवश्यकता है, उन्हे स्वतन्त्रता के लिए उसकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत अपन विरोधियों का दमन करने के लिए है; और जब स्वतन्त्रता के विषय में चर्चा करना संभव हो जायगा, तो वैसी अवस्था होने पर राज्य का अस्तित्व जाता रहेगा। साम्यवादियो को आशका है कि बूर्जुआओं को यद्यपि आकस्मिक क्रान्ति द्वारा आधिपत्य वंचित किया जायगा, तथापि वह खोई हुई राजनीतिक और आर्थिक शक्ति को पुनः पाने के लिए यत्न करेंगे।" लेनिन का कथन है, "प्रत्येक भीषण क्रान्ति में शोषकों का, जो कि अभी बहुत लम्बे अरसे तक शोपितों की अपेक्षा अधिक लाभों का आनन्दोपभोग करेंगे, एक लम्बा और जबरदस्त विरोध होता है।"

इसलिए साम्यवाद की प्राप्ति मे प्रथम चरण लेनिन के कथनानुसार श्रमिकों का "अर्धराज्य" होगा। लोक-प्रिय भापा में हम इसे सर्वहारावादी की क्रान्तिकारी तानाशाही का नाम देते है। यह नयी व्यवस्था वर्ग-सगठन है और यह क्रान्तिकारी कार्यकारी वर्ग के प्रतिनिधि रूप मे कार्य करेगी। सर्वहारावादी व्यवस्था-निर्माण और विनाश के कार्य को ग्रहण करेगी। जिस प्रकार पूजीवाद का विनाश एक सगठित आघात में सफल नही हो सकता, इसी प्रकार, पूजीवाद से समाजवाद की दिशा में परिवर्तन धीरे-धीरे किया जायगा। साम्यवादी घोषणा के अनुसार जिन तात्कालिक उपायों को ग्रहण किया जायगा, वह यह है : भूमि के निजी स्वामित्व का उन्मूलन, साख और बैंकिंग को राज्य द्वारा ग्रहण कर लेना, वाणिज्य का नियमन, उत्तराधिकार के अधिकारों को रद्द करना, भारी प्रगतिशील करारोपण, कारखानों मे छोटे बच्चों के श्रम की मनाही, और सभी को काम करने के समान दायित्व का प्रवर्त्तन, जिससे सब प्रकार के विशेषाधिकारो का अन्त हो जाय। इन उपायो का उत्पादन के अन्य क्षेत्रो में भी सार्वजनिक स्वामित्व के क्रमिक विस्तार द्वारा अनुकरण किया जायगा। वस्तुतः पूजीवाद का विनाश ही समाजवाद का निर्माण है और अन्ततः साम्यवादी समाज का निर्माण हो जायगा।

बहुधा यह प्रतिपादित किया जाता है कि सर्वहारा की तानाशाही की उत्पत्ति से राज्य को सर्वशक्तिमान-शक्तियां प्राप्त हो जायगी। किंतु साम्यवादी यह उत्तर देते है कि जब समाजवादी क्राति हो जायगी; तो राज्य का अस्तित्व नहीं रह जायगा। जैसा कि एंजल

कहता है, जब सर्वहारा-वर्ग राज्य की शक्ति को हथिया लेता है, तो "वह सब वर्ग-मत-भेदों और वर्ग-द्वेषों का अन्त कर देता है, और फलस्वरूप राज्य रूप में राज्य का अन्त हो जाता है।" इसलिये मार्क्स और एंजल के मतानुसार सर्वहारा-राज्य निरंकुश राज्य नहीं है, और उसका आशय उसकी शोभा नहीं होता। यह समाजवाद का निर्माण करने के लिये एक जनतांत्रिक राज्य है, और ज्यों ही उसका उद्देश्य-पूर्ण हो जाता है, त्यों ही उसका लोप हो जाता है। इस प्रकार, राज्य लक्ष्य-पूर्ति का एक साधन है और संक्रांतिकाल ही इसका चरण है।

क्रान्ति का उत्तर चरण (The Post-Revolutionary Stage)—बुर्जुआजों को एक बार दबा देने और पूंजीवादी प्रणाली के सब दूषणों तथा अवशेषों का उन्मूलन हो चुकने पर राज्य की आवश्यकता का अन्त हो जायगा। यह निरर्थक बन जाता है और फलतः उसका 'परित्याग' करना ही होगा। जब संपूर्ण समाज एक स्तर पर आ जायगा, तो प्रत्येक समग्र सामाजिक कल्याण के लिए अपनी सर्वोच्च योग्यतानुसार अंशदान कर सकेगा और स्वतंत्रतापूर्वक अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि करेगा। सार्वजनिक व्यापार के कार्य-व्यवहार के लिए स्वेच्छा संघों के स्वतन्त्र समाज राज्य की जगह ले लेंगे। "यही वह समाज होगा, जिसका उदय इस तथ्य को प्रमाणित करेगा कि क्रान्तिकारी युग का अन्त हो गया है, और यही वह पूर्ण स्वतन्त्रता के राज्य की क्रियाशीलता है, जिसके लिए अराजकतावाद कार्य करता है।"

अराजकतावादी धर्म की बुराई के रूप में निन्दा करते हैं, क्योंकि यह दूषित संस्थाओं की स्वीकृति देता है, और यह मनुष्य के अधिक अच्छे स्वभाव के साथ असंगत है। बकुनिन का कथन है कि धर्म का उपयोग जान-बूझकर ऐसे लोगों द्वारा किया जाता है, जिनके आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ होते हैं और जो अपनी श्रेष्ठता की स्थिति को मान्यता देना चाहते हैं।" यह मानवता के वास्तविक विश्व में महत्वपूर्ण प्रश्नों से मनुष्य की रुचि और यत्न को भिन्न दिशा में बदल देता है; अपनी काल्पनिकता, भाग्यवादिता और विश्वास का विकास करता है; और उसके तर्क तथा अन्तर्दृष्टि को नष्ट कर देता है।" बकुनिन सुझाव देते हैं कि धार्मिक विश्वास को विज्ञान और ज्ञान, और "भावी दैवी न्याय की कल्पना को वर्तमान मानवी न्याय की वास्तविकता" द्वारा प्रतिस्थापित करना चाहिए।

मार्क्स के समाजवाद की यह पराकाष्ठा है। एंजल के कथनानुसार जब समाजवाद की प्राप्ति हो जायगी मनुष्य जाति "आवश्यकता के साम्राज्य से स्वतंत्रता के साम्राज्य पर आरूढ़ हो जायगी।" मार्क्स का ऐसे स्वतंत्र और सभ्य व्यक्तियों में रुचि थी, जिनके पास आध्यात्मिक और सामाजिक स्वतंत्र विकास के लिये समय तथा अवसर हो। अतः अधिकांश अन्य राजनीतिक सिद्धांतों के ध्येयों के समान मार्क्स का समाजवाद आमूल सुधारवादी था, जिसका उद्देश्य ऐसा सामाजिक स्वरूप लाना था कि "जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र और पूर्ण विकास ही शासन का सिद्धांत होगा।"

अराजकतावाद
(Anarchism)

अराजकतावाद की उत्पत्ति (Emergence of Anarchism)—अराजकता-

वाद के सिद्धातानुसार किसी भी रूप की अधिकार-शक्ति अनावश्यक एवं अनुचित है। राज्य को समुदाय की सरकार में नियोजित शक्ति को मूर्तिमत्ता माना जाता है। अराजकतावादी मत में स्वाधीनता सर्वोच्च है किंतु स्वाधीनता राज्य और उसकी वह सारी व्यवस्थाएं नष्ट कर देने से प्राप्त होती है, जो व्यक्तियों पर शक्तिपूर्ण नियंत्रण करती है। अतः, अराजकतावादी राज्य और उसके सभी साधनों से मुक्त होना चाहेंगे कि जो शक्ति के प्रतीक है।

इस दृष्टि से अराजकतावाद कोई नया सिद्धात नही है। प्राचीन ग्रीस के कुछ संतों ने राज्य-अधिकार-शक्ति की नैतिक एवं सामाजिक वंधता के बारे में आपत्ति की थी और उनका मत था कि अच्छा जीवन "केवल ऐसी सामाजिक अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें मनुष्य सामाजिकता और न्याय की प्राकृतिक भावनाओं के प्रत्युत्तर में स्वतंत्रता-पूर्वक कार्य कर सके।" मध्य युग मे राज्य ने जो प्रतिवन्ध लगाए थे, उनके बारे में विभिन्न धर्मों ने रोप भी प्रकट किया था। उनकी धारणा थी कि न्यायपूर्ण और व्यवस्थित नागरिक जीवन के लिये धर्म की व्यवस्था पर्याप्त गारंटी है और अपने धार्मिक विश्वास में संयुक्त मनुष्यों को सरकार की ओर से किसी प्रकार के प्रतिवध के बिना केवल उसी विश्वास के नियंत्रण में जीवन विताने देना चाहिये। हर देश के अनेक कवियो और दार्शनिको ने समय-समय पर राज्य की दमनकारी शक्ति के बारे में चर्चा की है और उन्होंने स्वाधीनता के उस स्वतंत्र वातावरण को चाह की है, जो न्याय, सुखद, और स्वतत्र सामाजिक जीवन के लिये सर्वोत्तम बुनियाद है। सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियो में तो राजनीतिक अधिकार-शक्ति का तिरस्कार और भी ज्यादा सामान्य हो गया था। उस काल मे स्वतत्रता और समता के लिये मनुष्य की प्रबल इच्छा ने उसे निरंकुश शासको से संघर्ष करने पर आमादा कर दिया। उन्नीसवीं सदी के व्यक्तिवाद ने भी राज्य को अनिवार्य दूषण मानते हुये उसकी निन्दा की। उसने राजनीतिक अधिकार-शक्ति के न्यूनतम प्रयोग का समर्थन किया, जिससे व्यक्ति को अधिकतम स्वाधीनता प्राप्त हो सके।

कार्ल मार्क्स और उसके अनुयायी समाजवादी राज्य और उसकी यान्त्रिकता को शोषण का साधन मानते हैं, क्योंकि समुदाय का एक भाग अपने साथियों से उनके श्रम के न्यायपूर्ण पुरस्कार को छीन लेने में सफल हुआ। अतः, समाजवाद का सिद्धात राज्य और समाज के उस पूजीवादी आकार के विरुद्ध विद्रोह है, जिसका वह पोषण करता है। आधुनिक अराजकतावाद भी आर्थिक और नैतिक आधारों पर पूजीवाद का कलंक है, और इस प्रकार यह समाजवाद का ही महत्वपूर्ण पहलू है। अराजकतावादी मूलतः कार्ल मार्क्स के अनुयायी थे और उन्होंने पूजीवादी समाज को नष्ट करने तथा भूमि एव पूजी का स्वामित्व समुदाय को सौंपने में उसके साथ मिलकर काम किया था। किन्तु कार्ल मार्क्स और बकुनिन का उन विधियों के बारे में तीव्र मतभेद था, जिनके द्वारा वर्गहीन और राज्य-हीन समाज का निर्माण हो सकता था। कार्ल मार्क्स और उसके अंग्रेज तथा जर्मन अनुयायी उस क्रांतिकारी-चरण में राज्य की विद्यमानता को एक महत्वपूर्ण स्थिति मानते थे, जिसमें पूजीवाद नष्ट किया जा चुका होगा। दूसरी ओर, बकुनिन के नेतृत्व में लेटिन राष्ट्रों का विचार था कि स्वतंत्र संस्थाओं के विकास के लिये किसी भी रूप में, और किसी भी चरण में राज्य की स्थिरता अत्यधिक हानिकारक होगी। दूसरे शब्दों में बकुनिन और उसके

अनुयायियों के लिये न तो संक्रांतिकाल में कोई राज्य का कोई उपयोग था और न ही उस समय जब कि सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी होगी।

तदनुसार, बकुनिन और उसके साथियों को १८७२ में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से निकाल दिया गया और उन्होंने अपना अलग संगठन बना लिया। इसके बाद बकुनिन ने अपने विचारों को निश्चित रूप प्रदान किया और उसके मत ने, जो अराजकतावाद के नाम से विख्यात है, राज्य को सामाजिक क्रांति के साधन रूप में रद्द कर दिया।

बकुनिन का अंशदान (Contribution of Bakunin)—जिस रूप में मार्क्स को आधुनिक समाजवाद का संस्थापक माना जाता है, उसी भाव में बकुनिन को नवीन और अराजकतावादी समाजवाद का संस्थापक माना जा सकता है। जो भी हो, बकुनिन हमें क्रमबद्ध और नियमित सिद्धांत समूह प्रदान नहीं करता। यह कार्य उसके अनुयायी क्रोपाटकिन के लिये छोड़ दिया गया था कि वह नव-अराजकतावाद के सिद्धांत का सब भांति सुधार करे और उसे दार्शनिक रूप में उपस्थित करे।

बकुनिन ने अराजकतावाद के अपने सिद्धांत को वैज्ञानिक आधार पर स्थापित किया। उसका तर्क था कि मनुष्य का संपूर्ण विकास उस अवस्था से हुआ है, जिसमें पाशविक प्रवृत्तियां और शारीरिक निरोध मनुष्य के आचरण का उन अवस्थाओं में नियंत्रण करती हैं, कि जहां पूर्ण स्वाधीनता और आदर्श सुख प्रसारित होता है। किसी भी रूप की राजनीतिक अधिकार-शक्ति, निजी संपत्ति, और धर्म को वह मनुष्य के विकास की निम्नस्तर अवस्थायें मानता था, क्योंकि ये सब किसी-न-किसी रूप में "शारीरिक इच्छाओं और भयों के साथ जुड़ी हुई हैं; निजी संपत्ति मनुष्य में भौतिक पदार्थों की अभिरुचि उत्पन्न करती है, राज्य अपनी भौतिक परिबद्धता द्वारा निजी संपत्ति का समर्थन करता है, धर्म राज्य और संपत्ति दोनों की रक्षा करता है, और यह मनुष्य की भौतिक-सुख की इच्छा और मृत्यु के बाद भौतिक-यातना संबंधी उसके भय को भी आकर्षक जान पड़ता है।"[1] निजी संपत्ति, राज्य और धर्म की ये व्यवस्थायें, जो प्रारम्भिक स्वरूप की विलक्षण अभिव्यक्ति है, बकुनिन के अनुसार मानव-विकास के प्राकृतिक नियमों के कार्यकारी होने के फलस्वरूप अन्ततः लोप हो जायेंगी।

राज्य के प्रति बकुनिन का दृष्टिकोण स्पष्ट एवं दृढ़ है। अपनी पुस्तक "गाड एंड दि स्टेट" में वह कहता है, "राज्य समाज नहीं है, यह केवल उसका ऐतिहासिक रूप है, जितना यह नृशंस है उतना ही अविचारी भी है। सब देशों में ऐतिहासिक रूप में इसका जन्म राष्ट्रों की आध्यात्मिक कल्पना द्वारा रचित देवताओं के साथ हिंसा, लूट-खसोट अर्थात युद्ध और विजय के संयोग से हुआ था। अपने उत्पत्ति-काल से लेकर वर्तमान समय तक यह निर्दय शक्ति और विजयी असाम्यता की दैवी स्वीकृति का रूप धारण किये हुये है।" उसका मत है कि निरंकुशता राज्य का सार है, भले ही वह किसी भी रूप की हो। राज्य की दमनकारिता के दंभ को छिपाने के लिये जनतंत्र और घरेलू विधियां महज एक पर्दा हैं। आर्थिक रूप में शक्तिशाली वर्ग अपनी राजनीतिक चालों के शतरंज पर आर्थिक रूप में दुर्बल वर्गों को नियोजित करके अपने हितों के लिये सरकार की यांत्रिकता मनचाहे ढंग से मोड़ लेते हैं। इस प्रकार, निजी संपत्ति की प्रणाली, "राज्य के अस्तित्व और परिणामों

1. *Coker, op. cit.*, p. 203.

की आधारशिला है . . लाखों श्रमिकों के लिये यह आर्थिक आश्रय, थका देने वाले श्रम, अज्ञान, और सामाजिक तथा आध्यात्मिक स्थिरता का कारण बनती है; कुछ थोड़े से सम्पत्तिवानों को यह भौतिक सुख के लिये अर्थहीन ऐश्वर्य और विशिष्ट अवसर तथा कलात्मक और मानसिक मनोरंजन प्रदान करती है।"

दमनकारी आर्थिक अवस्था की स्थिरता के अतिरिक्त राज्य का अनिवार्य दोष यह है कि इससे मनुष्य नैतिक और बौद्धिक रूप में विकृत हो जाता है। बकुनिन की "परमात्मा और राज्य" (God & State) नामक पुस्तक का एक अंश इससे अधिक स्पष्ट कर देता है। वह कहता है, "राज्य एक अधिकार-शक्ति है; यह शक्ति है; यह शक्ति का आडंबर और मोह है। यह अपने-आपको आत्मसात नहीं करता; यह परिवर्तन का इच्छुक नहीं . . . । यहां तक कि जब यह अच्छाई के विषय में आदेश करता है, यह बाधा उत्पन्न करता है और उसे विकृत कर देता है, इसका कारण केवल यही है कि वह इसका आदेश करता है, और क्योंकि हर आदेश स्वाधीनता के लिये वैध विद्रोह को उत्तेजित करता है; और क्योंकि वह अच्छाई, जिस क्षण से उसका आदेश दिया जाता है, सच्ची नैतिकता, अर्थात मानवी नैतिकता की दृष्टि से, और मानव-सम्मान और स्वाधीनता की दृष्टि से दूषण या बुराई बन जाती है। स्वाधीनता, नैतिकता और मनुष्यों के मानव-सम्मान का समावेश इसमें है कि वह अच्छाई इसलिये नहीं करता कि उसका आदेश किया गया है बल्कि इसलिये कि वह उसकी धारणा करता है, उसकी चाह करता है और उसे प्यार करता है।" बकुनिन के अनुसार राजनीतिक अधिकार-शक्ति उन लोगों को अनैतिक और पतित कर देती है, जिन्हें शक्ति का प्रयोग करना सौंपा जाता है। शक्ति मद उत्पन्न करने वाली है और उत्कृष्ट प्रवृत्ति वालों को भी भ्रष्ट कर देती है और जब एक बार शक्ति हाथ में आ जाती है तो वह उसे किसी भी मूल्य पर स्थिर रखना चाहते है। उनमें उच्चता की भावना भर जाती है। "जो लोग शक्ति का प्रयोग करते है, उनमें बंधुत्व और सहयोग की प्राकृतिक भावनाएं शासनाधिकार की परम्पराओं, वर्ग-मतभेदों और सार्वजनिक पद के हितों के लिये व्यक्तिगत कल्याण की बलि द्वारा उपजती है। इस प्रकार राज्य थोड़ों में से तो अत्याचारी और बहुतों में से दास या आश्रित पैदा करता है।"

बकुनिन धर्म को एक बुराई मानते है, क्योंकि यह दूषित व्यवस्थाओं को स्वीकृति प्रदान करता है और यह मनुष्य की सद्-प्रकृति के भी प्रतिकूल है। जिन लोगों के पास आर्थिक और राजनीतिक विशेषाधिकार है, वह अपने निहित स्वार्थों के विस्तार और अपनी अस्वाभाविक श्रेष्ठता को पवित्र बनाने के लिये उसका प्रयोग करते है। "मानवता के वास्तविक जगत में जो महत्वपूर्ण मामले है, उनसे मनुष्य की अभिरुचि और यत्न को यह विमुख करता है; इसकी मूर्खता, भ्रम, और दृढ़ता का यह विकास करता है; और उसके तर्क तथा अन्तःकरण को आवृत्त कर लेता है।" ऐसी अवस्था में बकुनिन प्रतिपादित करता है कि धार्मिक विश्वास को विज्ञान और ज्ञान द्वारा विस्थापित कर देना चाहिए, भविष्य की दैवी-न्याय की कल्पना का वर्तमान मानव-न्याय की वास्तविकता द्वारा उन्मूलन करना चाहिए।"

क्रापॉटकिन का अंशदान (Contribution of Kropotkin)—पीटर क्रापॉटकिन (१८४२–१९२१) नवीन अराजकतावाद का वैज्ञानिक व्याख्याता है और

उसने अपने सिद्धांतों को विकासात्मक और ऐतिहासिक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है। उसका मत था कि विकास के नियम पशुओं और उनके समूहों पर और मनुष्यों तथा मानव-समाज पर समान-रूप में ही लागू होते हैं। क्रापॉटकिन ने प्राकृतिक विकास के दो चरणों पर स्पष्ट जोर दिया है। प्रथम यह है कि एक व्यक्ति के जीवन संबंधी सामान्य क्रम में महत्वपूर्ण शक्तियां व्यवस्थित ढंग से कार्य करती हैं। लेकिन जव इनमें हस्तक्षेप किया जाता है तो उनमें संघर्ष उत्पन्न हो जायगा। शुरू में यह हस्तक्षेप संचयी भाव ग्रहण कर सकता है, किन्तु अन्ततः धारणाहीन प्रतिरोधी शक्ति का कारण वन जाता है। यह प्रतिरोध स्वाभाविक विधियों को उनके सामान्य क्रम में लौटाने के लिये आवश्यक साधन के तौर पर न्यायपूर्ण ठहराया जाता है। सामाजिक जीवन में भी प्रगति की रफ्तार मंद और क्रमिक है और स्वाभाविक विकास का क्रम सरलतापूर्वक अपने मार्ग पर चलता है। लेकिन सामाजिक विकास के सामान्य क्रम को निजी हितों के लिये "स्वार्थ-निहित विरोध" द्वारा अवरुद्ध किया जा सकता है। ऐसे अवसरों पर ऐसी महान घटनाओं की आवश्यकता होती है, जो इतिहास के तत्कालिक क्रम को भंग करदें और मनुष्य-समाज को पुरातन ऊवड़-खावड़ मार्गों से हटाकर नये मार्ग पर आरूढ़ करें।"

द्वितीय और अधिक महत्वपूर्ण क्रापॉटकिन के विकासात्मक सिद्धांत का मत वह मुख्यतम भाग है, जो पशुओं और मनुष्यों के प्रतियोगात्मक गुणों से भिन्न रूप में सहकाहिता द्वारा विकास-कार्य में योगदान करता है। उसकी धारणा थी कि जीवधारी विकास का नियम मुख्यतः पारस्परिक सहायता का नियम है, संघर्ष का नहीं। उसका तर्क था कि पारस्परिक सहायता का नियम अपने-आपको सामाजिक जीवन में और साम्यता, न्याय और सामाजिक ऐक्यता के सिद्धांत में प्रकट करता है। यह इस भावना को उत्पन्न करता है, दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि तुम उसी दशा में होने पर अपने तईं करते। सामाजिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सामाजिक आचरण का यह सुनहरी नियम आवश्यक शर्त है।

तो फिर, मानव-समाज की प्रगति में कौन-सी बाधाएं हैं ? क्रापॉटकिन तीन वाधाएं वतलाता है : राज्य, संपत्ति और धर्म।

क्रापॉटकिन का मत था कि राज्य में किसी प्रकार की स्वाभाविक या ऐतिहासिक न्यायता नहीं है। इसकी अभी हाल ही में उत्पत्ति हुई है। राज्य और उसके नियमों का केवल तभी आविर्भाव हुआ है, जव समाज दो विरोधी और विरोधी आर्थिक वर्गों में विभाजित हुआ, जिनमें एक अन्य का शोपण करने वाला वना। अव इसकी विद्यमानता उन संपत्ति-स्वामियों की अल्पसंख्या के हितों की रक्षा करने के लिये है, जिनके हाथों में सरकार का प्रवंध है और नियमों के प्रति आज्ञाकारिता उस दमनीय शक्ति द्वारा प्राप्त की जाती है, जिसका प्रयोग शासन करने वाली अल्पसंख्या करती है। मूलतः, राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सहकारिता प्रवृत्ति का विरोधी है। यह मनुष्य के जन्मजात गुणों के विपरीत है, क्योंकि वह अपने गुणों की इच्छानुकूल क्रियाशीलता द्वारा बढ़ता और विकसित होता है। निरोधों और वन्धनों की यदि आवश्यकता ही हो तो वह स्वतः ही लागू करने होंगे। "इच्छानुसार कार्य करने वाले लोग, घरेलू लुटेरों और विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकते हैं; इतिहास वतलाता है कि नागरिक सेनाओं द्वारा आक्रांता

सेनाएं हमेशा पराजित हुई हैं और जन-उद्रेकों ने ऐसे आक्रमण का अधिक प्रभावशाली ढंग से मुकाबला किया है। न ही सरकार घर में दुष्ट-प्रकृति मनुष्यों से हमारी रक्षा करने में सफल हुई है; कारागार बुराइयों को रोकने के बजाय फैलाने के अधिक साधन हैं...... सरकार के सांस्कृतिक और सुधार के कार्य खोखले हैं। जब मनुष्यों को उनकी आर्थिक तथा राजनीतिक निर्भरता से मुक्त कर दिया जायगा, तो शिक्षा और दान दोनों के लिये जो भी चाहिए होगा, उसकी स्वेच्छया कार्यकलाप द्वारा पूर्ति हो जायगी।"

इसी प्रवाह में क्रापॉटकिन ने निजी संपत्ति की भी निन्दा की है। उसका कहना है कि उत्पादन उन सब व्यक्तियों के सामूहिक सहकारिता यत्नों का परिणाम है, जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः उत्पादन-कार्य में नियोजित हैं। इसके अलावा, विद्यमान उद्योग का मूल्य विगत कई सदियों की खोजों, अन्वेषणों तथा श्रम जमा विभिन्न एवं बिखरे हुये वर्तमान मनुष्य-समूहों का संचित परिणाम है।

"विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और प्रयोग, नई खोजों के लिये अन्वेषण और अनुभूत सफलता, मानसिक रूप में और हस्तकौशल में चतुर, मानसिक एवं शारीरिक रूप में श्रमशील—सब मिलकर कार्य करते हैं। हर अन्वेषण, हर अग्र-गति, और मानव-समृद्धि की राशि में हर वृद्धि के अस्तित्व का कारण भूत और वर्तमान का शारीरिक एवं मानसिक अथक-श्रम है। तो फिर कोई किस अधिकार से यह कह सकता है, "यह मेरा है, तेरा नहीं।" न्याय के विरुद्ध यह एक अपराध है कि लोगों की एक लघु अल्पसंख्या वर्तमान और भूतकालीन मनुष्य-समूहों के सामूहिक यत्नों द्वारा उत्पादित संयुक्त पूंजी के प्रधान लाभों को हथिया ले।

उपरांत, क्रापॉटकिन निजी संपत्ति के परिणामों को प्रकट करते हैं। आगे वह स्पष्ट करते हैं, "जनता में अभाव और दरिद्रता, है, लाखों बेरोजगार हैं, बिलखित उत्कर्ष के बच्चे हैं, किसानों के लिये ऋण है; और थोड़े-से धनवानों में फिजूलखर्ची, आडंबर, आलस्य, ऐश्वर्यों के पीछे मारे-मारे फिरने, समाचार-पत्रों को विकृत करने, और युद्ध को उत्तेजना देने की प्रवृत्ति है।" कितनी वास्तविक और सत्य स्थिति है। बहुतों के लिये इस दरिद्रता और थोड़ों के लिये इस समृद्धि को क्रापॉटकिन उस राजनीतिक प्रणाली से जोड़ते हैं, जो निजी संपत्ति की रक्षा के लिये कार्य करती है।

बकुनिन के समान ही क्रापॉटकिन ने वैज्ञानिक और धार्मिक आधारों पर धर्म को अस्वीकार किया है। उसने कहा कि धर्म या तो आदि-युग की कल्पना है, और तदनुसार प्रकृति के विश्लेषण की एक भद्दी चेष्टा है, अथवा, "यह आचार संबंधी एक प्रणाली है, जो जनता के अज्ञान और मूढ़ विश्वास को आकर्षक लगने के द्वारा उसमें उस अन्याय को सहन करने की भावना उत्पन्न करती है, जिनसे वह वर्तमान आर्थिक तथा राजनीतिक प्रबन्धों के अधीन पीड़ित है।" क्रापॉटकिन अनुभव करते हैं कि धर्म का आशय उस सामाजिक नैतिकता से है जो साथ-साथ रहने वाले लोगों में इच्छानुसार विकास करती है।" उसका विश्वास है कि ऐसा स्वाभाविक धर्म इस आशय में किसी भी समाज के लिये अत्यावश्यक है कि कोई भी समाज ऐसी नैतिक आदतों तथा नियमों के बिना जीवित नहीं रह सकता, जो आप-से-आप निर्मित हो जाय, और जिनके फलस्वरूप मनुष्य एक-दूसरे के हितों का मान करें, और एक दूसरे के शब्दों पर भरोसा कर सकें। उसका मत है

कि इस प्रकार की नैतिकता नियमित धार्मिक मंतव्यों से पूर्वकालिक एवं स्वतंत्र है। इस प्रकार की नैतिकता सच्ची नैतिकता है और यही जीवित रहती है जबकि रीत्यागत धर्म और दर्शन की प्रणालियां नष्ट हो जाती हैं।

अराजकतावाद की विधियाँ (Methods of Anarchism)—बकुनिन और क्रापॉटकिन के अनुसार अराजकतावाद का ध्येय विकास और क्रांति दोनों के द्वारा ही प्राप्त किया जायगा। यह धारणा की जाती है कि सामाजिक विकास की प्रवृत्ति अराजकतावादी ध्येय की दिशा में अग्रसर है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। क्रापॉटकिन का कहना है कि इस विकास से क्रांति का उदय होना चाहिए। एक देश की क्रांति सामान्य योरोपीय क्रांति का रूप धारण कर लेगी, जो संभवत: तीन से पांच वर्ष तक रहेगी। यह क्रांति अपने प्रथम चरण में विध्वंसक और हिंसक होगी। इसका आशय उस सारे का विध्वंस होगा, जिसे सामान्यतया सार्वजनिक व्यवस्था के भाव में ग्रहण किया जाता है; विद्यमान गवर्नरों को उनकी राजनीतिक अधिकार-शक्ति के पदों से हटा दिया जायगा, कारागार और किले ढाए जायंगे, सेनायें भंग की जायंगी, पुलिस का खात्मा हो जायगा, अदालतें और दफ्तर नहीं रहेंगे। "इस सारी बेहूदगी का जड़ोन्मूलन करने के लिये एक भयानक तूफान की आवश्यकता ह, जिससे मृतप्राय आत्मा में चेतना का संचार हो सके और जिससे मानवता को फिर से वह निष्ठा, स्व-निरोध और पराक्रम प्राप्त हो सके, जिसके अभाव में समाज सारहीन और अस्त-व्यस्त होकर धराशायी हो जाता है।" बकुनिन रक्तपात को उन लोगों की मूर्खता के परिणामस्वरूप न्याय्य ठहराता है, जो "उन लोगों की प्रतिकार की भावना का, जिसे वे अपने उत्कर्ष के प्रथम क्षण में अपने प्रथम आक्रांताओं के प्रति अनुभव करेंगे, प्रतिरोध करेंगे।"

राजनीतिक अधिकार शक्ति के भंग हो जाने के बाद लोग निजी संपत्ति का नाश करने निकलेंगे, किसान भूमिपतियों को, श्रमिक कारखानेदारों को खदेड़ेंगे, जिन लोगों के पास पर्याप्त आश्रय-स्थल नहीं, वे फालतू पड़े स्थलों में आश्रय लेंगे। यह हो जाने पर विशुद्ध स्वेच्छा से समाज के रचनात्मक पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ हो जायगा। क्रापॉटकिन का कहना है कि किसी प्रकार की सरकार की स्थापना, भले ही वह संक्रांतिकाल में तानाशाही रूप की ही हो, का अर्थ क्रांति की हत्या होगा। "यदि एक बार राज्य को भंग करना शुरू हो गया है, यदि एक बार दमन की यांत्रिकता दुर्बल होना शुरू हो गई है, तो स्वतंत्र व्यवस्थाएं स्वत: ही बनने लगेंगी। जब सहयोग को सरकार द्वारा नहीं ठूंसा जाता तो स्वाभाविक आवश्यकताएं स्वेच्छया सहयोग द्वारा पूरी होने लगेंगी। राज्य की पराजय और स्वतंत्र समाज का उदय अवशेषों पर होगा।"

अराजकतावादी समाज का संगठन (Organisation of the Anarchist Society)—बकुनिन की रचनाओं में हमें समाज का वह स्पष्ट चित्र नहीं दिखाई देता, जिसकी वह कल्पना करते हैं। दूसरी ओर, क्रापॉटकिन अराजकतावादी समाज के संगठन की अस्पष्ट व्याख्या करता है। जब राज्य का लोप हो जायगा तो जाति, रंग, राष्ट्रीयता या विश्वास के भेद बिना उसकी जगह स्वतन्त्र समाज की स्थापना की जायगी। इस प्रकार के समाज में मिलकर रहने वाले मनुष्य सरकार की अधिकार-शक्ति द्वारा मिले हुए नहीं रह पायेंगे। इस समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान शर्तों पर अपने श्रम के परिणामों का आनंद

लेने और श्रम करने की स्वीकृति होगी। समान लक्ष्य के लिए कार्य करने वाले व्यक्ति-समूहों में मिल जायेंगे और ये समूह वृहद् व्यवस्थाओं की रचनाएं करेंगे। "सर्वत्र व्यवस्था के साथ व्यवस्थाओं का जटिल जाल होगा और वाध्यता कही नही होगी—यही वह सामग्री है, जिसके आधार पर अराजकतावादी समाज का निर्माण होगा।" वास्तविक इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न मुद्दों के लिए ये व्यवस्थाएं और समूह होंगे और सभी व्यवस्थाएं (सभाएं) स्वेच्छया अनुबंधों द्वारा बनाई जायेगी। स्थानीय सभाएं बड़े क्षेत्रीय संगठनों मे मिल सकेंगी बशर्तेकि प्रत्येक चरण पर किसी प्रकार की वाध्यता न हो। प्रत्येक समूह के अन्दर स्वेच्छा या स्थापित न्यायालय होंगे, जो मध्यस्थता द्वारा झगड़ो का निर्णय करेंगे। वस्तुत:, अराजकतावादियों का विश्वास है कि समाज-विरोधी प्रक्रियाओं की उत्तेजना का प्रश्न ही नही होगा, क्योंकि नव-सामाजिक व्यवस्था स्वतन्त्रता और न्याय के आधार पर स्थापित होगी। जब और जहां व्यक्ति सभा-विरोधी भावना से कार्य करेंगे, "नैतिक प्रभाव और सहानुभूति द्वारा हस्तक्षेप उनका दमन करने के लिए पर्याप्त होगा। बहुत ही कम अवस्थाओं में, जहा यह तरीका प्रभावकारी नही होगा, विभिन्न समूहों से बहिष्कृत करने का भय अथवा या तो व्यक्तियो द्वारा शक्तिशाली हस्तक्षेप या असंगठित जन-प्रक्रिया द्वारा हस्तक्षेप आवश्यक सुधार को पूर्त्ति कर देगा।

जहा तक अराजकतावादी समाज के आर्थिक सगठन का प्रश्न है, उस दिशा में पूर्णतया साम्यवाद होगा। भूमि और सब पदार्थों और उत्पादन के साधनो पर समाज का स्वामित्व होगा। क्रापॉटकिन इस सिद्धान्त को व्यर्थ और अक्रियात्मक मानते हैं कि उत्पादनशील वस्तुओं—मशीने, कारखाने, भूमि, कच्चे पदार्थ, यातायात के साधन—का स्वामित्व तो समाज का होना चाहिए, जबकि पूर्ण वस्तुओं—मकान, वस्त्र, खाद्य, सामग्री—का स्वामित्व निजी होना चाहिए। उनका कहना है कि "वह मकान, जो हमें आश्रय देते हैं, वह वस्त्र, जो हमारा तन ढकते हैं, कोयला और गैस, जिसे हम जलाते हैं, खाना, जिसे हम खाते है, किताबें, जिनसे हम शिक्षा लेते हैं, वह सब उत्पादन के लिए उतने ही आवश्यक और लाभपूर्ण हैं, जितने मशीने, कारखाने और कच्चे पदार्थ हैं।"

भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधन व्यक्तिगत रूप में या स्वतन्त्रतापूर्वक निर्मित सघों के रूप में कार्य करते हुए उन व्यक्तियो द्वारा अधिकृत होंगे, जो उत्पादक के रूप में उनका उपयोग करने के इच्छुक होंगे। तब प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की सीमा के अनुसार पदार्थों के उपभोग मे स्वतन्त्रतापूर्वक भागीदार होने की स्वीकृति होगी, बशर्ते कि उसने उत्पादन-यत्नो मे पूर्णतया योग प्रदान किया है। इस भांति उपज के वही भागीदार होंगे, जिन्होंने कार्य किया होगा और वितरण सेवा के आधार पर नही, प्रत्युत आवश्यकताओ क आधार पर किया जायगा। प्रत्येक श्रमिक को बाहुल्य में से अपनी आवश्यकता की तुष्टि की स्वतन्त्र स्वीकृति होगी। दुर्लभ वस्तुओं को व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार बाटा जायगा, और उसमें बच्चो, वृद्धों, अशक्तो और दुर्बलों को प्राथमिकता दी जायगी। इस प्रकार की उत्पादन और वितरण की प्रणाली के अधीन, अराजकतावादियों का मत है कि सब सतोष और पर्याप्तता के साथ सुविधापूर्वक रह सकेंगे। जब लोगों को सहकारी जीवन की विधियों में समुचित शिक्षित कर दिया

"जब असंतोष को उत्तेजित करने के लिए धनी और निर्धन मे असमानता नही होगी

उसे प्रज्वलित करने के लिए एकाधिकारिता का राज्य-संरक्षण नहीं होता, तो हितों का संघर्ष अत्यल्प होगा, और कलह तथा अशान्ति के बहुत कम अवसर होंगे।"

Suggested Readings

Coker, F. W.—Recent Political Thought, Chaps II-IV, VI-IX.
Cole, G. D. H.—Guild Socialism Re-stated.
Cole, G. D. H.—Social Theory.
Cole, G. D. H.—Fabian Socialism.
Joad, C.E.M.—Introduction to Modern Political Theory, Chaps.III-V.
Laski, H. J.—Communism.
Macdonald, J. R.—Socialism: Critical and Constructive, Capital, Abridged Popular Edition by S. L. Trask.
Rockow, L.—Contemporary Political Thought in England Chaps. V-VII.
Russell, B.—The Practice and Theory of Bolshevism.
Russell, B.—Roads to Freedom, Chaps. I-III.
Sabine, G. H.—A History of Political Theory Chap. XXXII.
The Communist Manifesto by Marx and Engles.
(1848); English Translation published by W. Reeves.
Fabian Essays in Socialism, with introduction by Sydney Webb (1920).

गांधीवाद

(Gandhism)

गांधीवाद और गांधी मार्ग:—गांधीजी कोई प्रतिष्ठित राजनैतिक दर्शनवेत्ता नहीं थे जो एक नया राजनैतिक दर्शन बनाते और दुनिया को उसी दर्शन के अनुसार आंकते। वह एक साधारण पुरुप थे जिन्हें परिस्थितिया राजनैतिक क्षेत्र में ले आई। परन्तु जब वह एक बार राजनैतिक क्षेत्र में वह आये तो उन्होंने अपनी सात्विक प्रकृति, अपने परिश्रम, अपने कुशल व्यावहारिक ज्ञान और अपनी सहृदयता से अपने उद्देश्य को बहुत ऊँचा उठाया। अपने आत्म-बल और प्रबल शक्ति द्वारा वह स्व विकास के बल पर महा-मानव बन गये और समस्त ससार उन्हें वेत्ता (Knower), कर्मठ (Doer) और प्रवक्ता (Sayer) कहता है। उन्होंने प्राचीन दर्शनो के अनुसार कार्य किया और सच्चाई पर आधारित कुछ मौलिक सिद्धांतों का अनुसरण करके उन्होंने मनुष्य को उस विनाशकारी और कठोर स्थिति की अपेक्षा, जिसमें वह अब तक रहता था, समाज की बेहतर व्यवस्था प्राप्त करने में सहायता की। उनका गुर राजनीति को स्वच्छ करना, मनुष्य के हृदय मे फिर से प्रेम उत्पन्न करना, मनुष्य की स्वतंत्रता को फिर से स्थापित करना और पुरुपार्थ के महत्त्व को सिखाना और उसकी पुन.स्थापना करना था।

गांधीवाद इस प्रकार "सिद्धान्तो का, मतो का, नियमो का, विनियमो का और आदेशों का समूह नहीं है प्रत्युत वह एक जीवन-शैली है। यह एक नई दिशा की ओर संकेत करती है अथवा मनुष्य की जीवन-समस्याओ के विषय में पुरानी दशा का पुनः स्थापन करती है और वर्तमान समस्याओ के लिए प्राचीन साधनो को प्रस्तुत करती है।"[1] गाधीजी किसी वाद (Ism) के समर्थक नही। वाद (Ism) का अर्थ एक विशेप सिद्धान्त है। गाधीजी अपने विचारों को कभी पूर्ण नही कहते थे। उन्होंने अपने कार्यों को सच की खोज अथवा प्रयोग कहा है।[2] गाधीजी ने कहा है परिवद्धता "एक भूत (Hobgoblin) है।" किसी सिद्धान्त ने उनके विचारो और कार्यों का पथ-प्रदर्शन नही किया। उन्होंने सदैव अपने मस्तिष्क को खुला रखने की चेप्टा की और बहुधा उनको स्वात्म से मतभेद रहा। उन में कोई दुप्परिवर्तनशीलता नही थी और वास्तव मे उनका जीवन एक अंत-हीन प्रयोग था। गाधीजी ने स्वयं मार्च १९३६ ई० मे सओली मे गाधी सघ के सदस्यो से कहा था, "गाधीवाद नाम की कोई वस्तु नही है और मे अपने बाद कोई सम्प्रदाय छोड़ना नही चाहता। मैं कभी इस बात का दावा नही करता कि मैंने कोई नया सिद्धान्त चलाया है। मैंने केवल अपने निजी ढंग से केन्द्रीय सच्चाइयों को अपने नित्यप्रति के जीवन और समस्याओं पर लागू करने की चेप्टा की है और वह मत जो मैंने बनाये है और वह परिणाम जो

1. Sitaramayya, B. P.—Gandhi and Gandhism. vol. 1. p. 35.
2. Kripalani, J. B.—The Gandian Way, p. 159.

वाद बड़ी-बड़ी बातों से अपना गौरव प्रकट करते हैं, और विपरीततः इनमें बड़े-बड़े दोष भी हैं।" गांधीजी के विचार हर प्रकार के धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक वादों पर समान रूप से लागू हो सकते हैं।

गांधीवादी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमिः—गांधीजी के दृष्टिकोण के बनाने में 'गीता' का सबसे ऊंचा स्थान है। १८८९ ई० से, जब सर्वप्रथम उन्होंने सर एडविन आर्नोल्ड का गीता का अनुवाद पढ़ा था, गीता सदैव उन के लिए आध्यात्मिक निर्देश की पुस्तक रही है। वास्तव में यह उनकी प्रतिदिन की सच्ची पथ-प्रदर्शक रही है। गांधीजी ने कहा है, "जब संदेह मुझे घेरे रहते हैं, जब हतोत्साह मेरी ओर झांकता है और जब मुझे क्षितिज में प्रकाश की एक किरण भी दिखाई नहीं देती तो मैं भगवत-गीता की ओर मुड़ता हूं और अपने आपको संतोष देने के लिए एक श्लोक पा लेता हूं और अनंत चिंताओं के समय भी मुसकराने लगता हूं। मेरा जीवन बाह्य दुर्घटनाओं (Tragedies) से भरा हुआ है और यदि उन्होंने मेरे ऊपर कोई भी प्रकट चिन्ह नहीं छोड़ा तो यह गीता की ही शिक्षाओं के कारण है।" गांधीजी मुख्यतः एक कर्मठ पुरुष थे। गीता ने ही उन्हें ऐसा बनाया था। वह दक्षिण अफ्रीका में बीस वर्ष तक भारतीय अधिकारों के लिए लड़ते रहे और उन्होंने उन्हें प्राप्त कर लिया। उनका शेष जीवन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अन्याय के विरुद्ध अनवरत युद्ध है। उन्होंने भारत के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की और उन्होंने देश की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया। वह एक कर्मयोगी थे जिन्होंने फल की इच्छा के बिना लगातार परिश्रम किया। वह गीता की शिक्षाओं के अनुसार कर्मयोगी स्वार्थहीन थे और उन्होंने गीता की शिक्षाओं का दृढ़ता से प्रयोग किया। गीता का उपदेश था :—

हे धनंजय (अर्जुन), तू बिना स्वार्थ के योग में लीन सफलता, और विफलता का समान ध्यान रखते हुए कार्य कर। यही संतुलित भावना योग है।

मानसिक सम-भावना केवल समस्त इच्छाओं का हनन और समस्त इच्छाओं का परित्याग करके ही प्राप्त होती है, वस्तुओं के परित्याग से नहीं। परित्याग या संन्यास फल प्राप्ति के लिए आंतरिक शांति और आध्यात्मिक शांति प्रदान करता है। गांधीजी इस बात से सहमत नहीं थे कि परित्याग के साथ युद्ध का भी मेल है। १९२९ ई० में गीता के गुजराती अनुवाद के परिचय में उन्होंने लिखा था :"गीता के शब्दार्थ के अनुसार यह कहा जा सकता है कि फल के परित्याग के साथ-साथ युद्ध भी चल सकता है परन्तु लगातार चालीस वर्ष तक गीता की शिक्षाओं को अपने जीवन में कार्य-रूप में परिणत करने की चेष्टाओं के पश्चात् मैंने यह अनुभव किया है कि अहिंसा को प्रत्येक रूप से माने बिना पूर्ण परित्याग असम्भव है।" इसके पश्चात् क्रांतिकारी गांधी आते हैं, जिन्होंने घोषणा की थी कि उनकी गीता की भक्ति उन्हें यह अधिकार देती है कि वह इस प्रकार के विचार में संशोधन करें। उन्होंने बहुधा असमान संदर्भों, स्थितियों और विचारों का बंदी होने से इंकार किया था।

अहिंसा में गांधीजी का विश्वास पैतृक और वातावरणात्मक था। भारत वर्ष में गुजरात को छोड़ कर, जहां पर गांधीजी का जन्म और पालन हुआ, जैन धर्म का प्रभाव

लोगों के ऊपर और कहीं इतना नहीं था। उनके पिताजी यद्यपि वैष्णव थे, तथापि वह जैन साधुओं से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलते थे। जैन साधु बेचरजी स्वामी ने गांधीजी को शिक्षा के लिए इंग्लैंड जाने में सहायता की थी। लन्दन जाने से पहिले बेचरजी स्वामी ने मोहनदास से शपथ कराई थी। उन्होंने तीन प्रतिज्ञाएं की थीं: मदिरा, स्त्री और मांस को न छूना। इस प्रकार जैन धर्म ने गांधीजी के विचारों और कार्यों को प्रभावित किया। बौद्ध धर्म का भी प्रभाव किसी भी प्रकार कम नहीं था। इन परिस्थितियों में गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास साधारण बात थी कि स्वार्थहीनता के हेतु अहिंसा अत्यन्त आवश्यक है। गीता के अध्ययन के तुरन्त बाद ही और विशेषकर दक्षिण अफ्रीका के निवास के समय में वह कर्मयोगी बनने की चेष्टा कर रहे थे। वास्तव में अहिंसा का युद्ध उन्होंने उसी देश में लड़ा और वहां पर जो उन्होंने सफलता प्राप्त की उसमें उनपर इसकी योग्यता की अमिट छाप पड़ी।

गांधीजी ने अहिंसा की कला और विज्ञान को पूर्ण किया और इसका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग किया और स्वतः गीता के स्थितप्रज्ञ अर्थात् आदर्श-पुरुष का स्थान प्राप्त किया; और गीता का आदर्श पुरुष वह है जिसने अपनी समस्त इच्छाओं को त्याग दिया है, अपने मस्तिष्क को समस्त चिन्ताओं से मुक्त कर दिया है, जिसके लिए दुःख-सुख समान हैं, जो कभी भी क्रोध, भय, घृणा का शिकार नहीं होता, जो अच्छे और बुरे परिणाम से सर्वथा निलिप्त है।

जॉन रस्किन की पुस्तक "Unto This Last" का गांधीजी के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिसमें गांधीजी की विचारधारा बनी। 'ट्रान्सवाल क्रिटिक' नाम के पत्र के उपसम्पादक हेनरी एस० एल० पोलक ने महात्मा गांधी को यह पुस्तक दी थी। १९४६ ई० में उन्होंने कहा था: "उस पुस्तक ने मेरे जीवन को ही बदल दिया।" उन्होंने तुरन्त ही "अपने जीवन को उस पुस्तक के आदर्शों के अनुसार बदलने का निश्चय किया। गांधीजी ने इस पुस्तक से तीन बातें सीखीं।

(१) वही आर्थिक व्यवस्था अच्छी है जिससे सबको लाभ होता है।

(२) वकील के काम का वही मूल्य है जो एक नाई के, क्योंकि प्रत्येक को अपने कार्य के अनुसार अपनी जीविका उपार्जन करने का अधिकार है।

(३) मजदूर का जीवन अर्थात् खेतिहर और हस्त-शिल्पी का जीवन ही वास्तविक जीवन है।[1]

१९०८ ई० में जब गांधीजी वोल्कसरस्ट जेल में थे, उन्होंने हेनरी डेविड थोरू के सविनय-अवज्ञा पर प्रसिद्ध लेख पढ़े थे। यह बहुधा कहा गया है कि गांधीजी ने सत्याग्रह के विषय में थोरू से विचार प्राप्त किये। परन्तु १० सितम्बर १९३५ ई० के भारत सेवा समाज के श्री पी० कोदन्डा राव को लिखे हुए अपने पत्र में उन्होंने इस बात से इंकार किया। गांधीजी ने लिखा "यह कहना कि मैंने सविनय-अवज्ञा के विचारों को थोरू के लेखों से प्राप्त किया है, मिथ्या है। जब मैंने थोरू के सविनय अवज्ञा सम्बंधी लेख प्राप्त किये उससे पहले ही सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध बहुत बढ़ा चुका था।"[1] उन्होंने इसे एक बहुत बड़ी पुस्तक माना है और यह स्वीकार किया है कि "इसने मेरे ऊपर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ा।"

1. Gandhi, M. K., The Story of My Experiments with Truth, Vol. II, pp. 107-08

रिवरैन्ड जे० जे० डोक गांधीजी को टाल्स्टाय का शिष्य कहते हैं।[१] गांधीजी स्वयं अपने आपको "उनका बहुत बड़ा प्रशंसक समझते थे जिन के लिए वह अपने जीवन में बहुत कुछ ऋणी थे।"[२] अपने एक पत्र में, जो उन्होंने ४ अप्रैल १९१० ई० को टॉल्स्टॉय को लिखा था, गांधीजी ने अपने आपको "आपका एक तुच्छ अनुयायी" लिखा था। उन्होंने टॉल्स्टॉय की पुस्तक 'ईश्वर का साम्राज्य आप के अन्दर है' (The Kingdom of God is within you) उस समय पढ़ी थी, जब वह संशय एवं नास्तिकता के भंवर में थे। उस समय तक उन्होंने अहिंसा के सम्मुख पूर्णतया आत्म-समर्पण नहीं किया था और उसे जीवन की समस्त समस्याओं के सुलझाने का साधन नहीं माना था। महात्मा गांधी कहते हैं परन्तु इसके पढ़ने ने "मेरा संशय और नास्तिकता दूर कर दी और अहिंसा ने मुझे पूर्ण विश्वासी बना दिया।"

टॉल्स्टॉय का दर्शन ईसाई अराजकतावाद कहलाता है। यह गिरि-प्रवचनों के उपदेशों का वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं के सुलझाने के लिए प्रयोग है। ईसा की शिक्षाओं का सार और मानवी समस्याओं के सुलझाने का टॉल्स्टॉय के अनुसार एक उचित उपाय प्रेम है; "एक ईसाई अपने पड़ौसी के साथ झगड़ा नहीं करता। न वह आक्रमण करता है और न हिंसा का प्रयोग करता है। इसके विपरीत वह बिना किसी प्रतिरोध के सब सहन करता है और बुराई के प्रति अपने व्यवहार से न केवल वह अपने आपको स्वतंत्र कर लेता है परन्तु समस्त दुनिया को बाह्य सत्ता से स्वतंत्र करने में सहायता करता है।" ईसाई अराजकतावादी टॉल्स्टॉय प्रेम को अपने अप्रतिरोध (Non-Resistance) के सिद्धान्त का आधार बनाते हैं। गीता और गिरि-प्रवचन (Sermon on the Mount) ने गांधीजी को एक ही परिणाम पर पहुंचाया। गांधीजी ने लिखा था,[३] "स्वर्गीय राजचन्द्र के बाद टॉल्स्टॉय तीन आधुनिक मनुष्यों में से एक हैं जिन्होंने मेरे जीवन पर सब से अधिक प्रभाव डाला है और तीसरे रस्किन थे।"[४] टॉल्स्टॉय ने शांतिपूर्ण और दुखपूर्ण प्रकार से बुरी सरकारों की अवज्ञा का पाठ पढ़ाया। गांधीजी ने भी इसी बात का उपदेश दिया। अपने २५ अप्रैल (८ मई) १९१० ई० के पत्र में टॉल्स्टॉय ने गांधीजी को पत्र में लिखा था "मैंने अभी आप का पत्र और आप की पुस्तक Indian Home Rule प्राप्त की। मैंने उन बातों और उन प्रश्नों के कारण, जिनके विषय में आप ने लिखा है, आपकी पुस्तक को बहुत रुचि के साथ पढ़ा। निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) केवल भारत के लिए ही नहीं परन्तु समस्त मानव-समाज के लिए सबसे बड़े महत्त्व का प्रश्न है।"

धर्म और राजनीतिः—गांधीजी के धर्म ने उन्हें राजनैतिक बनाया और उनकी

---

1. M. K. Gandhi, An Indian Patriot, p. 3.
2. Young India, Vol. 1, p. 652.
३. राजचन्द्र एक जौहरी कवि और बम्बई के प्रसिद्ध सुधारक थे। इंग्लैंड से लौटने के पश्चात् गांधीजी उनके बहुत निकट सम्पर्क में आये। उन्होंने गांधीजी को अपनी नैतिक तत्परता और अपनी धार्मिक प्रकृति से न केवल प्रभावित किया परन्तु उन्होंने गांधीजी की हिन्दू धर्म के अध्ययन में सहायता की।
4. Young India, p. 652.

राजनीति धार्मिक थी। यही सार रूप से गांधी दृष्टिकोण है। गांधीजी ने कहा था "धर्म-रहित कोई राजनीति नहीं। धर्म-रहित राजनीति एक मौत का फंदा है क्योंकि वह आत्मा का हनन करती है।" उनकी दृष्टि में धर्म और राजनीति शरीर और आत्मा की तरह अलग नहीं थे। धर्म गांधीजी के जीवन का श्वास था। वह कहते हैं, "जब मैं मुझे सार्वजनिक जीवन का ज्ञान है प्रत्येक शब्द जो मेरे मुंह से निकला है, प्रत्येक कार्य जो मैंने किया है सब के पीछे एक धार्मिक चेतना और धार्मिक उद्देश्य रहा है।"

धर्म से गांधीजी का आशय किसी विशेष मत से नहीं था। वह एक सर्वव्यापी ईश्वर में विश्वास करते थे। उनका ईश्वर सत्य था। उनका सत्य ज्ञान था और जहां सच्चा ज्ञान था वहीं सुख था। वह केवल यही नहीं कहते थे कि "ईश्वर सत्य है" परन्तु यह भी कहते थे कि "सत्य ईश्वर है।" तदनुसार गांधीजी सत्य के अन्वेषक थे और उनका ईश्वर सत्य और प्रेम में अपने आपको प्रकट करता था। प्रेम और अहिंसा उनके लिए पर्यायवाची शब्द थे। उन्होंने कहा था कि बिना अहिंसा के सत्य की खोज और प्राप्ति असम्भव है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक साधन है दूसरा लक्ष्य। जो कोई भी इन सिद्धान्तों पर कार्य करता था उनके लिए वह एक धार्मिक और आध्यात्मिक पुरुष था, चाहे वह ईश्वर में विश्वास करता था या नहीं। चाहे वह एक यहूदी था या एक मूर्तिपूजक (Gentile), चाहे वह एक विधर्मी था या ईसाई, चाहे वह एक मुसलमान था या काफिर। इस प्रकार गांधीजी का ईश्वर और धर्म हृदय की एक चीज थे। यह प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है और प्रत्येक मनुष्य को अपने में से इसका विकास करना होता है क्योंकि यह सदैव हमारे भीतर रहता है। उन्होंने यह सार निकाला था कि "धर्म की अन्तिम परिभाषा ईश्वरीय नियम का पालन कहा जा सकता है। ईश्वर और नियम पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए ईश्वर अपरिवर्तनशील और नित्य है। किसी ने वास्तव में ईश्वर को नहीं पाया। परन्तु अवतारों और पैगम्बरों ने अपनी तपस्या के द्वारा मानव जाति को शाश्वत नियम की हल्की सी झांकी दी और हममें से हर एक को नैतिक शोध करने वाले (Scavenger) का कार्य प्रदान किया जिससे हम अपने हृदय को स्वच्छ और तत्पर बना सकें।" तत्परता से उनका मतलब अन्याय को दूर करके मानव-सेवा और कार्य की तत्परता से है।

संक्षेप में गांधीजी के धर्म का अर्थ है "सृष्टि की क्रमबद्ध नैतिक सरकार में विश्वास"।[1] यह नैतिकता से मिलता है या नैतिकता जैसा है।[2] यह व्यावहारिक है और सर्वव्यापी है और मनुष्यों के सब कार्यों का आधार उत्पन्न करता है। उन्होंने ईसाई यात्रियों को, जो उन्हें वर्धा में मिले थे, अपना उद्देश्य बतलाया था। गांधीजी ने कहा था "मेरा उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक रहा है। मैं यदि अपने आपको मानव-समाज से न मिला देता तो धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता था और मैं ऐसा तब तक नहीं कर सकता था जब तक कि मैं राजनीति में भाग न लेता। मनुष्य के कार्यों का पूर्ण विस्तार (Gamut) आज एक अभाज्य सम्पूर्ण बन जाता है। आप आज सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कार्यों को अलग-अलग भागों में

1 Harijan, February 10, 1940.
2. My Experiments with Truth, Op. Citd. Vol. 1. p. 5. Also refer to Gandhiji's Ethical Religion, pp 23-24.

विभाजित नहीं कर सकते । मैं किसी भी धर्म को मानव कार्य से अलग नहीं जानता । यह दूसरे समस्त कार्यों के लिए एक आधार देता है । यदि जीवन में इस नैतिक आधार की कमी रह जाय तव जीवन एक (अर्थहीन ववंडर) हो जायगा।"[1] गांधीजी का उद्देश्य मनुष्य और समाज को नैतिक वनाना था परन्तु एक नैतिक पुरुष और एक नैतिक समाज केवल तव ही वन सकते हैं जव सत्य समस्त अत्याचारों के विरुद्ध खड़ा हो जाय, चाहे वह राज्य का अत्याचार हो, चाहे समाज का और चाहे व्यक्ति का । तदनुसार राजनीति उनके लिए आवश्यक बुराई थी ।[2] उन्होंने कहा था "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूं, तो इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हम सव को सर्प के घेरे (Coil) की तरह घेरे हुए है और जिससे चाहे कोई कितनी ही चेष्टा करे वाहर नहीं जा सकता । मैं उस सर्प से युद्ध करना चाहता हूं, मैं राजनीति में धर्म को सम्मिलित करने की चेष्टा कर रहा हूं।" वह समझते थे कि अहिंसात्मक राज्य और अहिंसात्मक समाज के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। "वह व्यक्ति जो नहीं जानता कि देश-भक्ति और देश-प्रेम क्या है, सच्चे धर्म और कर्तव्य को नहीं जानता", और "जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं है वह धर्म का अर्थ नहीं जानते।"[3]

गांधीजी के दृष्टिकोण की व्याख्या :—गांधीजी का दृष्टिकोण प्रथम दक्षिण अफ्रीका में और वाद में भारत में व्यावहारिक राजनीति से उत्पन्न हुआ । गांधीजी इस अर्थ में एक दार्शनिक और विचारक नहीं थे कि उन्होंने एक जीवन का दर्शन या जीवन का कार्यक्रम वनाया हो, जिसे उन्होंने दूसरों के अध्ययन के लिए और कार्य रूप में परिणत करने के लिए छोड़ा हो । उन्होंने अपने-आपको सदैव जन-साधारण से मिला कर कार्य और प्रयोग किये । वह जन-साधारण में से एक थे और उनके साथ थे और उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए युक्ति निकालते रहते थे । उनका समस्त सार्वजनिक जीवन बुराई के विरोध में एक युद्ध था । वह बुराई के हर दृष्टिकोण का ध्यान रखते थे और जीवन का कोई अंग नहीं था, विशेष प्रकार से भारत में, जिसे उन्होंने प्रभावित नहीं किया और जिसमें उन्होंने अपना अंशदान न किया हो । डा. सीतारामैया गांधीजी का विस्तृत वर्णन देते हैं । वह कहते हैं "गांधीजी दूसरों के लिए जीवित रहते हैं, समाज गांधीजी का मंदिर है, केवल सेवा उनकी पूजा का ढंग है । मानवता उनका प्रेम है, सत्य उनका एक ईश्वर है और अहिंसा उसके प्राप्त करने का एकमात्र साधन । वह संसार से संवंध रखते हैं, स्थान जिसका आवश्यक अंग है।"[4] इस प्रकार गांधीजी गुणों के एक भंडार थे और कर्मशील पुरुष होने के कारण और निष्काम कर्म में दृढ़ विश्वास रखने के कारण उनका जीवन-उद्देश्य समस्त मनुष्यों के लिए न्याय की चेष्टा करना, समस्त जातियों को अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार अपने साधनों को वढ़ाने की स्वतन्त्रता ; राज्यों के अन्दर व्यक्तियों की, चाहे वह किसी जाति, धर्म, रंग और राजनैतिक विचारधारा के हों, वीमारी, भूख, निर्धनता से स्वतन्त्रता अर्थात पूर्ण स्वतन्त्रता की चेष्टा करना था;

1. Harijan December 24, 1938, p. 393.
2. Ibid.
3. My Experiments with Truth, Vol. 11, p. 591.
4. Gandhi and Gandhism Vol. 1, p. 35.

एक शब्द में कहा जा सकता है कि सबके लिए पूर्ण स्वतन्त्रता होना, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक उन्नति कर सके।

समाज का एक अच्छा स्तर प्राप्त करने के लिए महात्माजी ने एक नई नैतिक विधा का अन्वेषण किया, और यह सामूहिक जीवन को उसके राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अहिंसात्मक ढंग पर चलाना था। सामूहिक समस्याओं को अब तक सुलझाने में जिन साधनों का प्रयोग होता था उनकी वह निन्दा करते थे क्योंकि वर्तमान सामूहिक जीवन ने व्यक्ति और समाज की नैतिकता का बहुत कुछ पतन कर दिया है। व्यक्ति से दोहरा और परस्पर विरोधी कार्य करने को कहा जाता है और दो भिन्न नैतिक-स्तर उसके आचरण का सचालन करते हैं। एक नागरिक के रूप में उसको आदेश दिया जाता है कि वह एक अच्छे पड़ोसी की तरह आचरण करे और अपने सामाजिक आचरण को स्वाभाविक विश्वास, सहयोग, सत्य और अहिंसा के आधार पर चलाये। एक समूह और राष्ट्र का सदस्य होने के नाते उससे यह आशा की जाती है कि वह दूसरे समूहों और राष्ट्रों को वास्तविक और शक्तिशाली शत्रु समझे। तदनुसार उसका आ[illegible] और [illegible] मे बनता है। ये दो भिन्न नैतिक-स्तर पर[illegible]
[illegible]जस्य नही किया जा सकता तो ये आतरिक और बाह्य [illegible] मे "यह दोहरा व्यक्तित्व उत्पन्न करते है। परस्पर विरोधी नैतिक-स्तर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विरोध तथा हिंसा, क्रान्ति और युद्ध उत्पन्न करते हैं।"[1]

वर्तमान अव्यवस्था की दशा के विषय मे गाधीजी का उपाय सामूहिक और राजनैतिक जीवन को नैतिक बनाने की आवश्यकता है "जो वर्तमान परिस्थितियों की जटिलता के कारण हमारे समस्त जीवन को जकड़े हुए हैं।" एक मनुष्य की दो अन्तर-आत्मा नही हो सकती। एक व्यक्तिगत और सामाजिक तथा दूसरी राजनैतिक। मानव-कार्य के हरएक क्षेत्र में एक-सी ही नैतिक सहिता का प्रयोग होना चाहिए। राजनैतिक, आर्थिक और सैद्धान्तिक कारणों के लिए दूसरे कारणो की तरह धोखा देना, झूठ बोलना, शोषण करना और दूसरे मनुष्यों का वध करना अनुचित और अनैतिक समझना चाहिए। गांधीजी ने कहा था "हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत आचरण की वस्तु ही नही बनाना है प्रत्युत समूहों, जातियों और राष्ट्रों के व्यवहार। के लिए भी हर दशा मे यही मेरी इच्छा और मेरा स्वप्न है।"[2]

व्यक्ति और समूह, तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन मे समन्वय उत्पन्न करने के लिए गांधीजी व्यक्ति से प्रारम्भ करते हैं जिसका नैतिक पुनरुद्धार गाधीजी प्रथम आवश्यकता समझते थे। गाधीजी के स्वराज्य का संबध मनुष्य की आन्तरिक और बाहरी स्वतन्त्रता से था। इस प्रकार वह समाज और व्यक्ति का साथ-साथ सुधार करते थे। मनुष्य के हर एक कार्य मे व्यक्ति के रूप में और समाज के सदस्य के रूप मे सच्ची नैतिकता प्रगट होनी चाहिए। व्यक्ति और समाज दोनो एक दूसरे के ऊपर अपना

1. Acharya J. B Kripalani, A paper submitted to the U.N.E.S.C.O Seminar on the Contribution of Gandhian Outlook and Technique, op d., appendix B, p. 352.
2. Harijan, March 1940.

शोषण में प्रसन्नतापूर्वक अथवा अनिच्छुक सहयोग द्वारा ही संभव होते हैं। यदि समस्त मनुष्य पूर्णतया एक अत्याचारी एवं अन्यायपूर्ण प्रणाली के साथ सहयोग करना बन्द कर दें तो अन्त में ये समाप्त हो जायगी। गांधीजी ने कहा है "बड़ी-से-बड़ी स्वेच्छाचारी सरकार भी शासितों की इच्छा और सहयोग के बिना खड़ी नहीं रह सकती परन्तु यह सहयोग स्वेच्छाचारी शासक बल द्वारा प्राप्त करता है। ज्योंही प्रजा उसकी स्वेच्छाचारी शक्ति से डरना बन्द कर देती है त्योंही उसकी शक्ति का अन्त हो जाता है। जो बात सरकार के विषय में सत्य है वही बात दूसरे शोषक समुदायों और समूहों पर लागू होती है। बुराई के साथ असहयोग स्वयं सत्याग्रही की आत्मशुद्धि करता है और बुराई एवं पश्चाताप न करने वाली संस्थाओं से, जोकि स्वयं बुराइयों का पुंज होती हैं, सहयोग वापिस ले लेता है।

अहिंसात्मक ढंग, जो सत्याग्रही असहयोग आंदोलन के बढ़ाने में प्रयोग कर सकते हैं, हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरना हैं।

क–हड़ताल—हड़ताल विरोध स्वरूप कार्य को बन्द कर देने को कहते हैं। इसका उद्देश्य जनता, सरकार एवं संबंधित संस्था के मस्तिष्क को प्रभावित करना है। यहां पर दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम हड़तालें जल्दी-जल्दी नहीं होनी चाहियें वरना उनका प्रभाव समाप्त हो जायेगा; और द्वितीय वे पूर्णतः स्वेच्छापूर्वक प्रेमपूर्वक व्यवहार का परिणाम और अहिंसात्मक ढंग से किये गये प्रचार का परिणाम होनी चाहिये।

ख–सामाजिक बहिष्कार—यह समाज कलंकी (Black legs) लोगों का, जो जनमत की अवहेलना करते हैं और असहयोग नहीं करते, बहिष्कार है। गांधीजी यह अनुभव करते थे कि "सामाजिक जीवन में कुछ सीमा तक बहिष्कार न करना असंभव है परन्तु ये बहुत ही सीमित प्रकार के अतिरिक्त प्रयोग में नहीं लाना चाहिये।" इसका अर्थ यह नहीं है कि एक मनुष्य को आवश्यक समाज सेवाओं से वंचित कर दिया जाय अथवा अनादर और गालियों से उसके जीवन को असह्य बना दिया जाय।" इस सब का अर्थ हिंसा और दबाव होगा।

ग–धरना—धरना आवश्यक रूप से दबाव वाला नहीं होना चाहिये वरन् फुसलाने वाला होना चाहिये। गांधीजी ने बैठकर धरना देने की सदैव निन्दा की है और इसे अत्याचार, जंगलीपन एवं हिंसा का ही एक रूप बतलाया है। इसी प्रकार गांधीजी "पुरुषों की दीवार बना कर" जिससे कि कोई मनुष्य उसके स्थान पर न जा सके, जहां पर धरना दिया जा रहा है, धरने से सहमत नहीं थे। शान्तिपूर्वक धरने का उद्देश्य किसी उस मनुष्य के मार्ग को रोकने से नहीं है, जो एक विशेष कार्य करना चाहता है परन्तु इसका उद्देश्य जन-निन्दा द्वारा समाज कलंकों को लज्जित करना और सचेत करना है। धरना दबाव, धमकी, पुतलों (effigies) के जलाने अथवा गाड़ने और मुख्य हड़ताल से रहित होना चाहिये।

२. सविनय-अदज्ञा (Civil disobedience)—सविनय-अविज्ञा असहयोग की अन्तिम सीढ़ी और सबसे भयावह रूप है। गांधीजी ने इसे सबसे अधिक प्रभावशाली और सशस्त्र क्रांति का रक्तहीन रूप कहा है। उन्होंने सविनय-अविज्ञा को "अनैतिक नियमों" का तोड़ना कहा है। यह "प्रतिरोधी के विद्रोह को असैनिक अर्थात् अहिंसात्मक ढंग से प्रकट करता है।" गांधीजी ने असैनिक (सविनय) शब्द पर असहयोग की अपेक्षा अधिक बल दिया था, जिससे कि आंदोलन हिंसापूर्ण एवं सैनिक न हो जाय। उन्होंने कहा

था "सविनय-अवज्ञा हृदय से आदरपूर्ण, संयत होनी चाहिये और कुछ अच्छे सिद्धांतों पर आधारित होनी चाहिये। यह सनक पर आधारित नहीं होनी चाहिये और इसके पीछे घृणा और शत्रुता नहीं होनी चाहिये।" क्योंकि यं सबसे शक्तिशाली और उग्र उपचार है। इस अत्यन्त सावधानी से और कम-से-कम प्रयोग में लाना चाहिये। इसका प्रयोग प्रत्येक संभव रीति से रक्षित होना चाहिये। हिंसा और सामान्य अन्धेरगर्दी के रोकने की हर प्रकार से चेष्टा करनी चाहिये। इसका क्षेत्र उसी एक विषय तक सीमित रहना चाहिये। गांधीजी ने हर दशा में प्रारम्भ में कुछ चुने हुए लोगों के लिये ही इसे बतलाया है। उनके मतानुसार गुण पर सर्वप्रथम ध्यान देना चाहिये। कौन से नियम तोड़े जायगे, इनका प्रत्येक सत्याग्रही निश्चय नहीं कर सकता। इसको केवल या तो नेता ही निश्चित कर सकता है अथवा योग्य सत्याग्रहियों की एक केन्द्रिय समिति।

३. हिजरत (Hijrat)—स्थायी निवास स्थान से "दूसरी जगह चला जाना हिजरत कहलाता है। गांधीजी ने घर छोड़ने को उन लोगों को सम्मति दी, जो लोग अत्यन्त दुःख अनुभव करते हैं और एक स्थान पर आत्मसम्मान के साथ नहीं रह सकते और उनमे उस शक्ति की कमी है जो सच्ची अहिंसा से प्राप्त होती है अथवा जो हिंसापूर्ण ढग से अपनी रक्षा नहीं कर सकते।"[1] १९२८ ई. में उन्होंने बारदोली के सत्याग्रहियों को और १९३९ ई. में लिम्बड़ी, जूनागढ़ और विट्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को घर छोड़ने की सम्मति दी। १९३५ ई. में उन्होंने कैथा के हरिजनों को अपना घर छोड़ने की सम्मति दी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू उनमे नियमित रूप से आतंक फैला रहे थे और इससे उनमें अत्यन्त भय उत्पन्न हो गया था।"[2]

४. उपवास (Fasting)—सत्याग्रह का सब से शक्तिशाली रूप उपवास है। गांधीजी ने इसे अग्निबाण[3] कहा है और वह कहते थे कि उन्होंने ने इसे विज्ञान[4] के रूप में परिणत कर दिया है। साथ-ही-साथ उन्होंने इसे सबसे भयावह शस्त्र बतलाया है क्योंकि इसका बड़ी सुविधा से अनुचित प्रयोग किया जा सकता है। व्रत प्रायश्चित्त एवं आत्म-शुद्धि के लिये किया जा सकता है और ये अन्याय के विरोध का अथवा बुराई करने वाले का आत्मपरिवर्तन करने का एक साधन हो सकता है। चाहे इसका कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, यह बहुत कम प्रयोग में लाना चाहिये और केवल इसे वही प्रयोग में ला सकता है जो इसमें प्रवीण हो और यह एक प्रवीण पुरुष[5] की देख-रेख मे हो सकता है। गांधीजी के मतानुसार यह पहले से ही मान लिया जाता है कि जो मनुष्य उपवास करता है उसके अन्दर आध्यात्मिक औचित्य और उसका मस्तिष्क श्रेष्ठ है। उपवास के भौतिक रूप की अपेक्षा उसका आध्यात्मिक रूप उसे शक्ति प्रदान करता है। इसके लिये बहुत उच्च परिणाम की पवित्रता, आत्म-संयम, नम्रता और उपवासधारी का अटल विश्वास आवश्यक है।[6] जब यह उचित ढग से संगठित होता है, यह गिरी हुई आत्माओं में भी खलबली मचा देता है और प्रेमी

1. Harijan, February 3, 1940
2. Harijan, October, 1935.
3. Harijan, October 13, 1940.
4. His statement to the press, dated Sept. 21, 1932.
5. Harijan, March 11, 1939.
6. Harijan, Oct. 13, 1940.

शोषण में प्रसन्नतापूर्वक अथवा अनिच्छुक सहयोग द्वारा ही संभव होते हैं। यदि समस्त मनुष्य पूर्णतया एक अत्याचारी एवं अन्यायपूर्ण प्रणाली के साथ सहयोग करना वन्द कर दें तो अन्त में ये समाप्त हो जायगी। गांधीजी ने कहा है "वड़ी-से-वड़ी स्वेच्छाचारी सरकार भी शासितों की इच्छा और सहयोग के विना खड़ी नहीं रह सकती परन्तु यह सहयोग स्वेच्छाचारी शासक वल द्वारा प्राप्त करता है। ज्योंही प्रजा उसकी स्वेच्छाचारी शक्ति से डरना वन्द कर देती है त्योंही उसकी शक्ति का अन्त हो जाता है। जो वात सरकार के विषय में सत्य है वही वात दूसरे शोषक समुदायों और समूहों पर लागू होती है। वुराई के साथ असहयोग स्वयं सत्याग्रही की आत्मशुद्धि करता है और वुराई एवं पश्चाताप न करने वाली संस्थाओं से, जोकि स्वयं वुराइयों का पुंज होती हैं, सहयोग वापिस ले लेता है।

अहिंसात्मक ढंग, जो सत्याग्रही असहयोग आंदोलन के वढ़ाने में प्रयोग कर सकते हैं, हड़ताल, सामाजिक वहिष्कार और धरना हैं।

क–हड़ताल—हड़ताल विरोध स्वरूप कार्य को वन्द कर देने को कहते हैं। इसका उद्देश्य जनता, सरकार एवं संवंधित संस्था के मस्तिष्क को प्रभावित करना है। यहां पर दो वातें आवश्यक हैं। प्रथम हड़तालें जल्दी-जल्दी नहीं होनी चाहियें वरना उनका प्रभाव समाप्त हो जायेगा; और द्वितीय वे पूर्णतः स्वेच्छापूर्वक प्रेमपूर्वक व्यवहार का परिणाम और अहिंसात्मक ढंग से किये गये प्रचार का परिणाम होनी चाहिये।

ख–सामाजिक वहिष्कार—यह समाज कलंकी (Black legs) लोगों का, जो जनमत की अवहेलना करते हैं और असहयोग नहीं करते, वहिष्कार है। गांधीजी यह अनुभव करते थे कि "सामाजिक जीवन में कुछ सीमा तक वहिष्कार न करना असंभव है परन्तु ये वहुत ही सीमित प्रकार के अतिरिक्त प्रयोग में नहीं लाना चाहिये।" इसका अर्थ यह नहीं है कि एक मनुष्य को आवश्यक समाज सेवाओं से वंचित कर दिया जाय अथवा अनादर और गालियों से उसके जीवन को असह्य वना दिया जाय।" इस सव का अर्थ हिंसा और दवाव होगा।

ग–धरना—धरना आवश्यक रूप से दवाव वाला नहीं होना चाहिये वरन् फुसलाने वाला होना चाहिये। गांधीजी ने वैटकर धरना देने की सदैव निन्दा की है और इसे अत्याचार, जंगलीपन एवं हिंसा का ही एक रूप वतलाया है। इसी प्रकार गांधीजी "पुरुषों को दीवार वना कर" जिससे कि कोई मनुष्य उसके स्थान पर न जा सके, जहां पर धरना दिया जा रहा है, धरने से सहमत नहीं थे। शान्तिपूर्वक धरने का उद्देश्य किसी उस मनुष्य के मार्ग को रोकने से नहीं है, जो एक विशेष कार्य करना चाहता है परन्तु इसका उद्देश्य जन-निन्दा द्वारा समाज कलंकों को लज्जित करना और सचेत करना है। धरना दवाव, धमकी, पुतलों (effigies) के जलाने अथवा गाड़ने और मुख्य हड़ताल से रहित होना चाहिये।

२. सविनय-अवज्ञा (Civil disobedience)—सविनय-अविज्ञा असहयोग की अन्तिम सीढ़ी और सबसे भयावह रूप है। गांधीजी ने इसे सवसे अधिक प्रभावशाली और सशस्त्र क्रांति का रक्तहीन रूप कहा ह। उन्होंने सविनय-अविज्ञा को "अनैतिक नियमों" का तोड़ना कहा है। यह "प्रतिरोधी के विद्रोह को असैनिक अर्थात् अहिंसात्मक ढंग से प्रकट करता है।" गांधीजी ने असैनिक (सविनय) शब्द पर असहयोग की अपेक्षा अधिक वल दिया था, जिससे कि आंदोलन हिंसापूर्ण एवं सैनिक न हो जाय। उन्होंने कहा

था "सविनय-अवज्ञा हृदय से आदरपूर्ण, संयत होनी चाहिये और कुछ अच्छे सिद्धांतों पर आधारित होनी चाहिये। यह सनक पर आधारित नहीं होनी चाहिये और इसके पीछे घृणा और शत्रुता नहीं होनी चाहिये।" क्योंकि ये सबसे शक्तिशाली और उग्र उपचार हैं। इन अत्यन्त सावधानी से और कम-से-कम प्रयोग में लाना चाहिये। इसका प्रयोग प्रत्येक सम्भव रीति से रक्षित होना चाहिये। हिंसा और सामान्य अन्धेरगर्दी के रोकने की हर प्रकार से चेष्टा करनी चाहिये। इसका क्षेत्र उसी एक विषय तक सीमित रहना चाहिये। गांधीजी ने हर दशा में प्रारम्भ में कुछ चुने हुए लोगों के लिये ही इसे बतलाया है। उनके मतानुसार गुण पर सर्वप्रथम ध्यान देना चाहिये। कौन से नियम तोड़े जायगे, इनका प्रत्येक सत्याग्रही निश्चय नही कर सकता। इसको केवल या तो नेता ही निश्चित कर सकता है अथवा योग्य सत्याग्रहियों की एक केन्द्रिय समिति।

३. हिजरत (Hijrat)—स्थायी निवास स्थान से "दूसरी जगह चला जाना हिजरत कहलाता है। गांधीजी ने घर छोड़ने की उन लोगों को सम्मति दी, जो लोग अत्यन्त दुःख अनुभव करते हैं और एक स्थान पर आत्मसम्मान के साथ नहीं रह सकते और उनमें उस शक्ति की कमी है जो सच्ची अहिंसा से प्राप्त होती है अथवा जो हिंसापूर्ण ढग से अपनी रक्षा नहीं कर सकते।"[1] १९२८ ई में उन्होंने बारदोली के सत्याग्रहियों को और १९३९ ई. में लिम्बड़ी, जूनागढ और विट्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को घर छोडने की सम्मति दी। १९३५ ई. में उन्होंने कैथा के हरिजनों को अपना घर छोड़ने की सम्मति दी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू उनमें नियमित रूप से आतंक फैला रहे थे और इससे उनमें अत्यन्त भय उत्पन्न हो गया था।"[2]

४. उपवास (Fasting)—सत्याग्रह का सब से शक्तिशाली रूप उपवास है। गांधीजी ने इसे अग्निबाण[3] कहा है और वह कहते थे कि उन्होंने ने इसे विज्ञान[4] के रूप में परिणत कर दिया है। साथ-ही-साथ उन्होंने इसे सबसे भयावह शस्त्र बतलाया है क्योंकि इसका बड़ी सुविधा में अनुचित प्रयोग किया जा सकता है। व्रत प्रायश्चित्त एवं आत्म-शुद्धि के लिये किया जा सकता है और ये अन्याय के विरोध का अथवा बुराई करने वाले का आत्मपरिवर्तन करने का एक साधन हो सकता है। चाहे इसका कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, यह बहुत कम प्रयोग में लाना चाहिये और केवल इसे वही प्रयोग में ला सकता है जो इसमें प्रवीण हो और यह एक प्रवीण पुरुष[5] की देख-रेख में हो सकता है। गांधीजी के मतानुसार यह पहले से ही मान लिया जाता है कि जो मनुष्य उपवास करता है उसके अन्दर आध्यात्मिक औचित्य और उसका मस्तिष्क श्रेष्ठ है। उपवास के भौतिक रूप की अपेक्षा उसका आध्यात्मिक रूप उसे शक्ति प्रदान करता है। इसके लिये बहुत उच्च परिमाण की पवित्रता, आत्म-संयम, नम्रता और उपवासधारी का अटल विश्वास आवश्यक है।[6] जब यह उचित ढंग से संगठित होता है, यह गिरी हुई आत्माओं में भी खलबली मचा देता है और प्रेमी

1. Harijan, February 3, 1940
2. Harijan, October, 1935
3. Harijan, October 13, 1940.
4. His statement to the press, dated Sept 21, 1932
5. Harijan, March 11, 1939.
6. Harijan, Oct 13, 1940.

हृदयों को कार्य करने के लिये उद्यत कर देता है . . . .वह लोग, जो मानव स्थितियों और वातावरण में क्रांति करना चाहते हैं, वह केवल समाज में उथल-पुथल करके ही कर सकते हैं। इसके करने के केवल दो साधन हैं। एक हिंसा तथा दूसरा अहिंसा। अहिंसात्मक दवाव, जोकि आत्मवलिदान और उपवास के द्वारा डाला जाता है, वह उन लोगों के हृदयों को स्पर्श करता है और उनकी नैतिक शक्ति को वढ़ाता है, जिनके विरुद्ध यह किया जाता ह।

५. हड़ताल (Strike)—हड़ताल अपन वैध कष्टों को दूर कराने का श्रमिकों का एक शस्त्र है। गांधीजी अपने हड़ताल के दृष्टिकोण को पश्चिमी देशों के विचारों के विपरीत वनाना चाहते थे। वह इस वात को नहीं मानते थे कि पूंजीवादी समुदाय नष्ट हो जाय और उसके स्थान पर श्रमिक "पूंजीपति समुदाय" आ जाय। वह समझते थे कि समस्त उद्योग पूंजी और श्रम दोनों के सम्मिलित परिश्रम का परिणाम होना चाहिये, जिसमें दोनों वरावर के धरोदारी (Trustee) हों। उद्योगों के धरोहर के रूप में किये गये नियंत्रण के आधार पर गांधीजी ने श्रमिकों में यह विचारधारा उत्पन्न कर दी कि वे उद्योगों को अपना समझें और तदनुसार अन्याय, अयोग्यता, वेईमानी और मालिकों के अदूरदर्शितापूर्ण लालच के विरुद्ध आक्रमण करें। उन्होंने वतलाया कि उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये हड़तालें हों न कि उद्योगों के हस्तगत करने और नियंत्रण के लिये। सत्याग्रहियों की हड़ताल भाव एवं व्यवहार से अहिंसात्मक होनी चाहिये। यह स्वेच्छापूर्वक है, अंतःशुद्धि के लिए आत्मोत्सर्ग है जोकि अनुचित मार्ग पर जाने वाले विरोधी का हृदय परिवर्तन करने वाला होता है। साथ ही साथ हड़तालियों की मांगें साफ मानने योग्य और न्यायपूर्ण होनी चाहियें। गांधीजी हड़तालों को अहिंसात्मक वनाने के लिये इस वात पर वल देते थे कि लोगों को कुछ हस्तकला आनी चाहिये जिससे लम्वी हड़तालों के समय में उन लोगों को अपना और अपने परिवारों का भरण-पोपण करने के लिये हड़ताल के कोप पर निर्भर न रहना पड़े।[1]

विदेशी आक्रमण के रोकने में सत्याग्रह की कला—गांधीजी ने विदेशी सशस्त्र आक्रमण के समय के लिये एक युक्ति वतलाई थी, जिसकी परीक्षा करने का अवसर नहीं मिला। गांधीजी कहते थे एक अहिंसात्मक पुरुष और समाज कभी भी वाह्य आक्रमण के विपय में नहीं सोचता। इसके विपरीत ऐसा मनुष्य और समाज दृढ़ता से विश्वास करता है कि कोई भी उनकी शक्ति को भंग नहीं कर सकता। यदि वुरे से वुरा होता है तव अहिंसा के लिये दो मार्ग खुले हुए हैं: प्रथम, आधिपत्य दे देना परंतु आक्रमणकारी से असहयोग करना। इस प्रकार कल्पना कीजिए कि भारत पर कोई हमला करता है, तव राज्य के प्रतिनिधि उसे अन्दर आ जाने देंगे परन्तु उससे कह देंगे कि उसे जनता से किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिलेगा। आत्म-समर्पण की अपेक्षा वह मृत्यु को अच्छा समझेगा। दूसरा मार्ग जनता द्वारा, जिसे अहिंसात्मक ढंग से कार्य करने की शिक्षा मिली है, अहिंसात्मक प्रतिरोध होगा। निःशस्त्र आक्रमणकारी की तोपों के लिये वे अपने आपको भोजन के रूप में प्रस्तुत करेंगे। दोनों दशाओं में केवल एक ही भावना है कि निर्दयी आक्रमणकारी के भी हृदय होता है। उन स्त्री और पुरुषों की कभी न समाप्त होने वाली पंक्तियों का दृश्य, जो

1. My Experiments with Truth, Vol. II. pp. 412-13.

आक्रमणकारी के सम्मुख आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा आसानी से मर जाते हैं, अन्त में उसके और उसके सैनिकों के हृदय को पिघला देते हैं।"[1]

इस प्रकार गांधीजी ने आक्रमण का विरोध करने के लिये दो उपाय बतलाये। आक्रमण के समय आक्रमणकारी का अन्तिम पुरुष की मृत्यु-पर्यन्त अहिंसात्मक प्रतिरोध करना चाहिये और सब प्रकार से अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा उनके साथ पूर्ण असहयोग होना चाहिये, जिसका विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है। महात्मा गांधीजी ने अबीसीनिया के निवासियों को, चैकों को, पोलों को, अंग्रेजों को और आक्रमण के दूसरे शिकारों को जो परामर्श दिया था, वह उनकी इस सत्याग्रह की कला का अच्छा उदाहरण है। चीन वालों को उन्होंने परामर्श दिया था, "यदि चीनी लोग मेरी विचारधारा की अहिंसा को अपनाते तो जापान के विनाशकारी नवीनतम यन्त्रों का कोई भी उपयोग न रहता। चीनी जापान से कहते, 'अपने समस्त यन्त्रों को ले आओ, हम अपनी आधी जनसंख्या प्रस्तुत करते हैं परन्तु शेष २० करोड़ तुम्हारे सामने अपने घुटने नहीं टेकेंगी"। यदि चीनी ऐसा करते तो जापान चीन का दास हो जाता।"[2]

इसी प्रकार गांधीजी ने आक्रमणकारी सेनाओं की प्रगति को रोकने की सर्वसंहार नीति (Scorched Earth Policy) को भी अस्वीकार कर दिया। वह इसे अहिंसात्मक प्रतिरोध की नीति के विपरीत समझते थे।

गांधीजी कहते थे "मेरा कुएं को विषैला कर देना अथवा उसे भर देना इसलिए कोई वीरता नहीं है क्योंकि मेरा वह भाई, जो मुझसे युद्ध कर रहा है, उसका प्रयोग न कर सके। ....न ही इसमें कोई बलिदान है क्योंकि यह मेरी शुद्धि नहीं करता और बलिदान का मूल आशय होता है पवित्रता।"[3] गांधीजी ने यह भी सुझाव दिया कि उस देश के निवासी, जिस पर आक्रमण होता है, आक्रमणकारी सेना के व्यक्तिगत सदस्यों की कष्ट के समय में सेवा करने के अवसर से भी नहीं चूकें।

राज्य के कार्य का क्षेत्र (Sphere of State-Activity)—गांधीजी ने प्रत्यक्ष रूप से अहिंसात्मक राज्य के विषय में कोई सुझाव नहीं दिया। वह वास्तव में भविष्य की अपेक्षा वर्तमान के विषय में अधिक सोचते थे। उनकी तत्कालीन चिंता भारत को अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा अंग्रेजों की दासता से मुक्त करना था। और सत्याग्रह का विज्ञान अभी तो बन रहा था। वह अब भी इसके प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार भी किया था कि यह प्रयोग अभी तक पूरा नहीं हुआ।[4] वह इस बात को उचित समझते थे कि अहिंसात्मक राज्य के विवरण के विषय में जनता स्वयं अपने नैतिक स्तर और अपने अधिमान के अनुसार निश्चय करे। इस प्रकार आने वाली वस्तुओं के राजकीय रूप का विवरण देना उन्हें सामयिक और अवैज्ञानिक प्रतीत होता था। "मैंने जानबूझकर अहिंसा पर आधारित समाज की सरकार की रूपरेखा के विषय में लिखना उचित नहीं समझा। जब समाज अहिंसा के नियम के अनुसार स्वयं

1. Harijan, April 13, 1940.
2. Harijan, December 24, 1938.
3. Harijan, March 22, 1942.
4. Harijan, May 27, 1939.

बन जायगा तो इसका रूप आज के समाज के रूप से पूर्णतया भिन्न होगा। परन्तु मैं इस बात को पहले से ही नहीं बतला सकता कि अहिंसा पर आधारित सरकार कैसी होगी।"[1]

गांधीजी की सत्याग्रह की कला में दोनों रचनात्मक और विध्वंसकारी रूप सम्मिलित थे। एक ओर तो ये राजनैतिक और दलीय विवादों को तय करने के लिये एक अहिंसात्मक युद्ध था और दूसरी ओर आंतरिक संघर्षों और विवादों को यदि पूर्णतया समाप्त करने के लिये नहीं तो न्यून करने के लिये यह एक रचनात्मक कार्यक्रम था। उनके अहिंसात्मक प्रत्यक्ष संघर्ष का रचनात्मक दृष्टिकोण उनके उस अहिंसात्मक समाज के विषय में, जो वह स्वयं बनाना चाहते थे, सीधा संकेत करता है। 'हिंद स्वराज्य' और उनके व्याख्यानों तथा लेखों के इक्कादुक्का अंश उनके विचार के सामाजिक संगठन के विषय में पर्याप्त सामग्री उपस्थित करते हैं।

गांधीजी को बहुधा 'अराजकतावादी दार्शनिक' कहा गया है। वह राज्य का किसी भी रूप में पूरा खंडन करते हैं। वह कहते थे कि राज्य आज्ञा करता है और जो कोई आज्ञा दी जाती है वह अपने साथ व्यक्ति के कार्यों का नैतिक मूल्य नहीं रख सकती। एक कार्य तभी तक नैतिक है जब तक कि वह स्वेच्छापूर्ण है और "कोई भी कार्य जो स्वेच्छापूर्ण नहीं है नैतिक नहीं कहा जा सकता।······और जब तक हम यन्त्रों की भांति कार्य करते हैं उस समय तक नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता है। यदि हम एक कार्य को नैतिक कहना चाहते हैं तो वह जानबूझकर और कर्त्तव्य समझकर करना चाहिये।"[2] फिर भी राज्य का अधिकार हिंसा पर स्थित है। जहां कहीं हिंसा होती है वहां शोषण होगा भले हो राज्य का कोई भी प्रजातांत्रिक स्वरूप क्यों न हो। उन्होंने कहा था कि राज्य सामूहिक और संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के आत्मा होती है परन्तु राज्य एक आत्माहीन यंत्र है। यह हिंसा से, जिसके द्वारा इसका जन्म हुआ है, कभी पृथक नहीं हो सकता।"[3] गांधीजी के अनुसार आदर्श समाज राज्यहीन समाज है, जहां पर मनुष्य आत्मसंचालित समाज में रहते हैं। "ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक है वह अपने आप इस प्रकार जीवन व्यतीत करता है कि वह अपने पड़ौसी के मार्ग में कभी बाधक नहीं होता। इसलिये आदर्श राज्य में कोई भी राजनैतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि वहां कोई राज्य ही नहीं है।"[4] अहिंसा पर आधारित ऐसे समाज में "केवल ग्रामों में बसे हुए दल हो सकते हैं, जहां स्वेच्छापूर्ण सहयोग के आधार पर शान्तिपूर्ण और गौरवपूर्ण जीवन का अस्तित्व होता है।"[5]

गांधीजी ने यह बात स्वीकार की थी कि एक वर्गहीन और राज्यहीन अहिंसात्मक राज्य का आदर्श कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि "एक सरकार पूर्णतय

1. Harijan, February 11, 1938.
2. Ethical Religion, op. citd. p. 40.
3. Modern Review, October 1935. An Interview with Mahatma Gand by N.K. Bose.
4. Young India, July 2, 1931 as cited in G.N. Dhawan's The Politic Philosophy of Mahatma Gandhi.
5. Harijan. January 13. 1940.

अहिंसात्मक होने से सफल नहीं हो सकती क्योंकि वह सब लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। मैं आज ऐसे सुनहरी युग के विषय में नहीं सोचता परन्तु मैं तो मुख्यतः अहिंसात्मक समाज के विषय में सोचता हूं। और मैं इस के लिये चेष्टा कर रहा हूं।"[1] और प्राप्त करने योग्य आदर्श, जिसके विषय में वह सोचते थे, मुख्यतः एक अहिंसात्मक राज्य था। यह मुख्यतः अहिंसात्मक राज्य कैसा होगा?

शोषण फिर भी रहेगा क्योंकि निर्बल की अहिंसा हिंसा के प्रयोग की आज्ञा देती है। यदि राजनैतिक सत्ता वीर पुरुष की अहिंसा के आधार पर प्राप्त की गई है, जो गांधीजी की सत्याग्रह की कला के लिए एक आवश्यक गुण है, तो इससे उत्पन्न हुआ राज्य एक पवित्र प्रजातन्त्र होता है जहां शोषण और दबाव बहुत कम होगा।

प्रधानतः अहिंसात्मक राज्य आन्तरिक रूप से स्वतन्त्र होगा और बाह्य रूप से दूसरे राज्यों के बराबर। स्वतन्त्रता तभी रह सकती है और फल-फूल सकती है जब राज्य किसी के आधीन न हो और उसकी जनता, जाति, धर्म, रंग, मत और लिंग भेद के बिना उसके शासन में भाग लेते हों। गांधीजी ने कहा था 'मेरे लिये स्वराज्य का अर्थ अपने देश के दरिद्र से दरिद्र पुरुष की स्वतन्त्रता है।" उनके लिये राज्य एक साधन है उद्देश्य नहीं। यह मनुष्य की कमियों को ही वजह से जीवित है। परन्तु जब राज्य अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है तो जनता में सत्याग्रह द्वारा इसका प्रतिरोध करने की शक्ति होनी चाहिये। "वास्तविक स्वराज्य केवल वहीं सम्भव है जहां निष्क्रिय प्रतिरोध ही लोगों का जीवन सञ्चालन करता है इसके अतिरिक्त दूसरा शासन विदेशी शासन है।"[2] तदनुसार गांधीजी ने अहिंसात्मक साधनों द्वारा राज्य के नियमों का विरोध करने का लोगों को अधिकार दिया यदि वे नियम मनुष्यों के नैतिक अन्तःकरण को ठीक मालूम नहीं होते।[3] क्योंकि राज्य केवल एक साधन है। इसलिए वह एक सेवा राज्य होगा और जितना उसका आधिपत्य कम होगा उतनी ही व्यक्ति को नैतिक स्वतन्त्रता होगी।

इस प्रकार गांधीजी राज्य को न्यूनतम कार्य देना चाहते थे। उन्हें राज्य की बढ़ती शक्ति से भय लगता था। स्वशासन से उनका अर्थ सरकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने की अविरल चेष्टा थी। वे कहते थे "मैं स्वीकार करता हूं कि कुछ ऐसी बातें है जो बिना राजनैतिक सत्ता के नहीं की जा सकती और कुछ ऐसी बातें है जो राजनैतिक सत्ता पर किंचिन्मात्र में भी निर्भर नहीं है। इसी कारण थोरू जैसे एक दार्शनिक ने यह कहा था कि 'वह सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है।' इसका अर्थ यह है कि जब लोगों के हाथ में राजनैतिक सत्ता आ जाती है तो लोगों की स्वतन्त्रता में कम से कम हस्तक्षेप होता है। दूसरे शब्दों में एक राष्ट्र जो अपने कार्यों को राज्य के हस्तक्षेप के बिना सुगमता और सफलतापूर्वक चलाता है वही वास्तविक प्रजातन्त्र है। जहां पर ऐसी दशा अनुपस्थित है वह राज्य नाम का ही प्रजातन्त्र है?"[4] यह तभी हो सकता है जब राज्य को [illegible]

1. Harijan, March 9, 1940
2. Hind Swaraj, op. citd., p. 74
3. Ibid., p. 71.
4. Harijan, January 11, 1936.

विकेन्द्रीकरण कर दिया जाये। गांधीजी ऐसे ग्राम-समुदायों में विश्वास करते थे जो मौलिक आवश्यकताओं में करीव-करीव आत्म-निर्भर हों। ये समुदाय साधारण प्रवन्ध करने योग्य इकाइयों द्वारा, जो सहयोग के आधार पर एक दूसरे से वंधे हों, संगठित होने चाहियें। ये अपने समस्त कार्यों के लिये, जिसमें न्याय-संचालन और स्थानीय शान्ति भी होगी, स्वायत्त होंगे। परन्तु ये राज्य की एकता का ध्यान अवश्य रखेंगे। गांधीजी इसीको वास्तविक स्वराज्य कहते थे क्योंकि लोग अपने पड़ौस से ही नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं, जिसे वह समझते हैं और अपने स्वभाव के अनुसार पूर्णतः अपने नियन्त्रण में रख सकते हैं। "कार्य जीवन का प्रतिपक्षी नहीं होगा परन्तु जीवन की पूर्ण आवश्यकताओं को प्राप्त करने का एक साधन होगा।"

गांधीजी पूर्णतया समतावादी (egalitarian) थे। वह यह विश्वास करते थे कि जव तक समाज के पूंजीपति और करोड़ों भूखों के वीच चौड़ी खाई रहेगी तव तक अहिंसा का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता है परन्तु आर्थिक समानता से उनका मतलव पूर्ण समानता नहीं था। उनका आदर्श अधिक से अधिक समानता था। "आर्थिक का यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य संसार की समान वस्तुओं का स्वामी हो। इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक मनुष्य के पास रहने के लिये उचित घर होगा और खाने के लिये पर्याप्त और अच्छा भोजन होगा और पर्याप्त खादी होगी जिससे वह स्वयं को ढक सके। इसका अर्थ यह भी है कि वह निर्दयी असमानता, जो आज विद्यमान है, शुद्ध अहिंसात्मक साधनों से दूर कर दी जावेगी।"[1] गांधीजी यह सव भूमि और उद्योग दोनों की ट्रस्टीशिप की संस्था वनाकर प्राप्त करना चाहते थे।

गांधीजी जमींदार और पूंजीपति की संपत्ति लेने की कोई योजना नहीं सोचते थे, वशर्ते कि उनकी विचारधारा वदल जाती है और वशर्ते कि वे कृपकों और श्रमिकों के धरोहरी की तरह कार्य करते हैं और उनको मस्तिष्क प्रदान करते हैं और वर्तमान उस भयानक अस-मानता को दूर कर देते हैं, जो उनके कृपकों और श्रमिकों के वीच में उपस्थित है।[2] इस प्रकार गांधीजी की योजना के अन्दर कोई वर्गीय शत्रुता नहीं थी और न वह धनी अथवा निर्धनों का अन्त करने के ही विपय में सोचते थे। वास्तव में वह "वर्ग की सहकारिता और वर्ग का एकीकरण करना चाहते थे, जिससे वर्गहीन प्रजातन्त्र वन सके, जिसमें प्रत्येक मनुष्य उत्पादक शारीरिक श्रम करेगा और जिसमें शोपक नहीं होंगे"। धरोहरी के रूप में जमींदार और पूंजीपतियों को अपनी योग्यताओं और अपनी पूंजी को अपने हित में प्रयोग नहीं करना चाहिये परन्तु समाज की भलाई के लिये धरोहर के रूप में प्रयोग करना चाहिये। और उन्हें उपार्जित धन में से एक उचित आधार पर कुछ मिलना चाहिये। परन्तु समाज के विचार-विमर्श के साथ जव वह सम्पत्ति के अपने पूर्ण अधिकार को ट्रस्टीशिप के आधार पर प्रदान करने के लिये सहमत हो जावेंगे तो उपार्जित धन की दर के विपय में कोई कठिनाई नहीं रहेगी। यदि जमींदार और पूंजीपति ऐसा नहीं करते और स्वामित्व के इस नये आधार को स्वीकार नहीं करते तव असहयोग

1. Harijan, August 18, 1940.
2. Harijan, April 23, 1938.

के यन्त्र को काम में लाना चाहिये। "उसे (कृषक को) इस प्रकार कार्य करना चाहिये जिससे कि जमींदार उसका शोषण न कर सके"।

ट्रस्टीशिप की व्याख्या (Trusteeship Explained)—गांधीजी ने ट्रस्टीशिप के विचार का निम्नलिखित सूत्र में साराश दिया है:—[1]

"१. ट्रस्टीशिप समाज की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समता व्यवस्था में परिवर्तित करने का साधन प्रदान करता है; यह पूंजीवाद को कोई आश्रय नही देता परन्तु यह वर्तमान पूंजीवादी वर्ग को अपने सुधारने का एक अवसर प्रदान करता है। यह इस आधार पर कि मनुष्य की प्रकृति का अवश्य नियोजन होता है।

२. यह सम्पत्ति के किसी भी निजी स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार नही करता सिवा इसके कि जहा तक समाज इसे अपने निजी कल्याण के लिये आज्ञा देता है।

३. यह स्वामित्व के नियमित संचालन और सम्पत्ति के प्रयोग का निषेध नहीं करता।

४. इस प्रकार राज्य-सचालित ट्रस्टीशिप में एक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने स्वार्थ के सतोष अथवा समाज के हितो का ध्यान न करके प्रयोग करने अथवा रखने में स्वतन्त्र नही होगा।

५. क्योंकि लोगो के न्यूनतम वेतन को निश्चित्त करने का प्रस्ताव किया जा रहा है, इसलिये लोगो की अधिकतम आय की भी, जो समाज में किसी व्यक्ति को दी जाती है, सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये। न्यूनतम और अधिकतम आयों का भेद उचित न्याय्य होना चाहिये और समय-समय पर बदलते रहना चाहिये जिससे इसका स्वभाव इस भेद-भाव को मिटाने की ओर हो जाय।

६. गांधी जी की आर्थिक व्यवस्था मे उत्पत्ति की मात्रा को समाज की आवश्यकताएं निर्धारित करेगी। व्यक्तिगत इच्छायें और लालच नही। गाधीजी उद्योगो के राजकीय स्वामित्व को चाहते थे। यदि श्रमिक और पूंजीपति एक-दूसरे के और उपभोक्ता के धरोहरी की भाति कार्य नहीं करते तो राजकीय उद्योगो को केवल आकर्षक और आदर्श परिस्थितियों मे ही कार्य करना चाहिये। वह श्रम को अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व का अधिकार और सरकार के साथ प्रशासन में बराबर भाग के अधिकार को भी मानते थे। फिर भी वह केन्द्रीयकरण और बडे ढग से उत्पत्ति के विरुद्ध थे। गाधीजी के अनुसार केन्द्रीयकरण और बडे ढग से उत्पत्ति प्रजातत्र को दूषित करते हैं। राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण गाधीजी के अनुसार मौलिक अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रता का निषेध था और इस प्रकार व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता का भी। अन्ततः इसका परिणाम आक्रमण और साम्राज्यवाद होता है। अहिसा और केन्द्रीयकृत उद्योग, चाहे वह व्यक्तिगत पूंजीवाद में हो, चाहे पूंजीवाद राज्य में हो, उनके अनुसार असंगत हैं। वह राजकीय हिंसा की अपेक्षा व्यक्तिगत हिंसा को उत्तम समझते थे क्योंकि दो बुराइयों में यह एक छोटी बुराई है। "यदि राज्य ने पूंजीवाद का हिंसा से अन्त कर दिया तो यह स्वयं हिंसा के चक्कर में फस जायेगा .....और किसी समय मे भी अहिंसा

1. U. N. E S C O. Seminar op. citd, A paper submitted by Pyarelal, Appendix, F. p. 391.

को न बढ़ा सकेगा। राज्य एक केन्द्रित और संगठित अवस्था में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के आत्मा होती है परन्तु राज्य एक आत्माहीन यंत्र है।....... इसलिये मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को उत्तम समझता हूं।"

Suggested Readings

Dhawan, G. N.,—The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.
Kripalani, J. B.,—The Gandhian Way.
Sitaramayya, B. P.,—*Gandhi and Gandhism*, Vol. I, and Part IV. Vol. II.

UNESCO Seminar on Gandhian Outlook and Technique, Ministry of Education, Government of India.

निर्देशिका

को न बढ़ा सकेगा। राज्य एक केन्द्रित और संगठित अवस्था में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के आत्मा होती है परन्तु राज्य एक आत्माहीन यंत्र है।....... इसलिये मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को उत्तम समझता हूं।"

Suggested Readings

Dhawan, G. N.,—The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.
Kripalani, J. B.,—The Gandhian Way.
Sitaramayya, B. P.,—Gandhi and Gandhism, Vol. I, and Part IV. Vol. II.
UNESCO Seminar on Gandhian Outlook and Technique, Ministry of Education, Government of India.

निर्देशिका

को न बढ़ा सकेगा। राज्य एक केन्द्रित और संगठित अवस्था में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के आत्मा होती है परन्तु राज्य एक आत्माहीन यंत्र है।....... इसलिये मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को उत्तम समझता हूं।"

Suggested Readings

Dhawan, G. N.,—The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.
Kripalani, J. B.,—The Gandhian Way.
Sitaramayya, B. P.,—Gandhi and Gandhism, Vol. I, and Part IV. Vol. II.
UNESCO Seminar on Gandhian Outlook and Technique, Ministry of Education, Government of India.

निर्देशिका